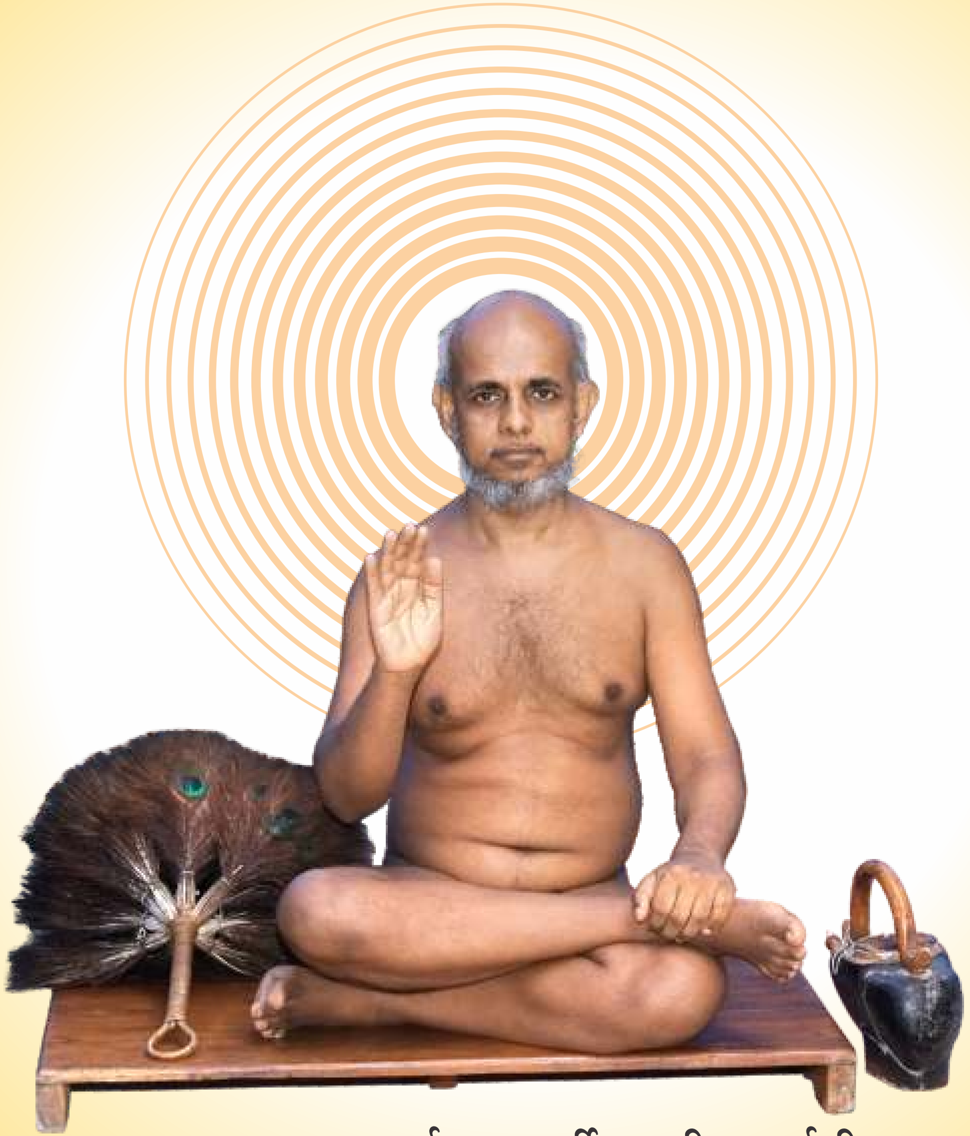

परम पूज्य तपश्चर्या–चक्रवर्ती पट्टाधीशाचार्यश्री

सुविधिसागर जी महाराज

के

50 वें जन्मदिवस के पावन अवसर पर

सुविधि–परिवार के द्वारा आयोजित

जिनवाणी-महोत्सव

सहस्रग्रन्थसंग्रह

* जन्मदिवस 19–03–1971 * मुनिदीक्षा–11–05–1989 * आचार्यपद– 20–06–2004

पट्टाधीशपद– 24–12–2010 (20–06–2004 को की गई उद्घोषणा के अनुसार)

परम पूज्य आचार्यश्री सन्मतिसागर जी महाराज के द्वारा की गई उद्घोषणाः–

हमारी समाधि के पश्चात् आपको इस संघ के संचालकपद पर नियुक्त करते हैं।

(अंकलीकर वाणी–जुलाई 2004) (अक्षयज्योति–अक्तूबर 2004)

ॐ

तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकम्

(तृतीय खण्ड)

हिन्दीभाषानुवादिका

पूज्य गणिनी आर्यिका 105 श्री सुपार्श्वमती माताजी

स्वर्णिम अमृत महोत्सव की भेंट

(परम्परानायक)

परम पूज्य चारित्र–चक्रवर्ती,
आचार्यश्री आदिसागर जी महाराज
(अंकलीकर)

(द्वितीय पट्टाधीश)

परम पूज्य तीर्थभक्त–शिरोमणि,
आचार्यश्री महावीरकीर्ति जी महाराज

(तृतीय पट्टाधीश)

परम पूज्य सिद्धान्त–चक्रवर्ती,
आचार्यश्री सन्मतिसागर जी महाराज

(चतुर्थ पट्टाधीश)

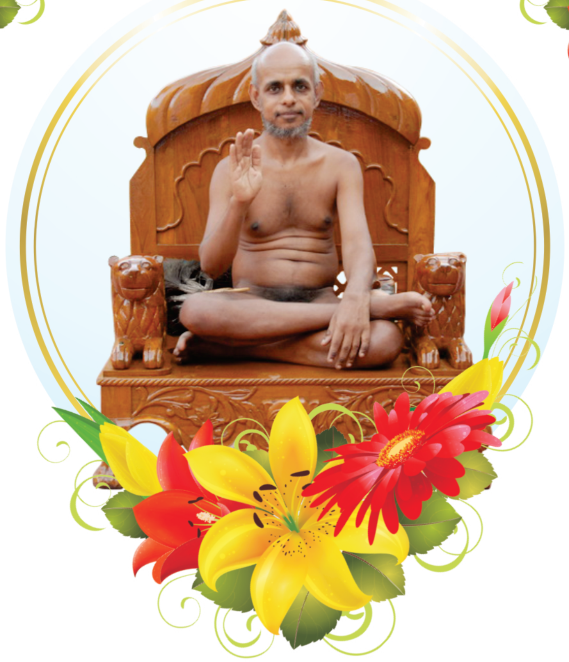

परम पूज्य तपश्चर्या–चक्रवर्ती, आचार्यश्री सुविधिसागर जी महाराज

दिगम्बर साधु निरन्तर पगविहार करते रहते हैं। ग्रन्थभण्डार को साथ में रख कर विहार करना अशक्यप्राय: होता है। फलत: उनको ग्रन्थों के सन्दर्भ देखने में असुविधा होती है। उनकी सुविधा के लिये इस कोश का निर्माण किया गया है। इस कोश के निर्माण में किसी भी प्रकार का व्यापारिक हेतु नहीं है।

आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न श्रावकबन्धुओं से निवेदन है कि वे ग्रन्थ का विक्रय कर अध्ययन करने की परम्परा को कायम रखें।

मुखपृष्ठ पर हमने ग्रन्थकर्त्ता, अनुवादक, सम्पादक, प्रकाशक आदि के नाम दिये हैं। किसी संस्थान का कर्तुत्व हमने लुप्त नहीं किया है।

इस कोश के लिये आवश्यक ग्रन्थ हमें अनेक स्रोतों से प्राप्त हुये हैं। हम उन सभी का आभार मानते हैं।

सुविधि–परिवार

महर्षिविद्यानन्दविरचितः

तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालङ्कारः

卐

तृतीय खण्ड

卐

हिन्दीभाषानुवादिका

गणिनी आर्यिका १०५ श्री सुपार्श्वमती माताजी

श्रीमद्विद्यानन्दस्वामिविरचितः

तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिकालङ्कारः

(तृतीय खण्ड)

卐

हिन्दी भाषानुवादिका

गणिनी आर्यिका १०५ श्री सुपार्श्वमती माताजी

卐

प्रकाशक :

पन्नालाल पाटनी

29-A/3, रामकृष्ण समाधि रोड (तीसरी मंजिल)

कोलकाता - 700054

तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकारः
(तृतीय खण्ड)

रचयिता	:	महर्षि विद्यानन्द
हिन्दी अनुवादकर्त्री	:	गणिनी आर्यिका १०५ श्री सुपार्श्वमती माताजी
सम्पादक	:	डॉ. चेतनप्रकाश पाटनी, जोधपुर
अर्थसहयोग	:	श्रीमान् पन्नालाल एवं श्रीमती सरोज पाटनी 29-A/3, रामकृष्ण समाधि रोड (तीसरी मंजिल) कोलकाता - 700054
प्राप्तिस्थान	:	चूड़ीवाल फार्म हाउस ओमेक्स सिटी के सामने, जयपुर
संस्करण	:	प्रथम, ५०० प्रतियाँ
प्रकाशन तिथि	:	दीपमालिका, वि.सं. २०६६
मूल्य	:	१७५) रुपये
संकल्पना	:	निधि कम्प्यूटर्स, जोधपुर ✆ ०२९१-२४४०५७८
मुद्रक	:	हिन्दुस्तान प्रिन्टिंग हाउस, जोधपुर ✆ ०२९१-२४३३३४५

आर्यिकाश्री के दीक्षागुरु

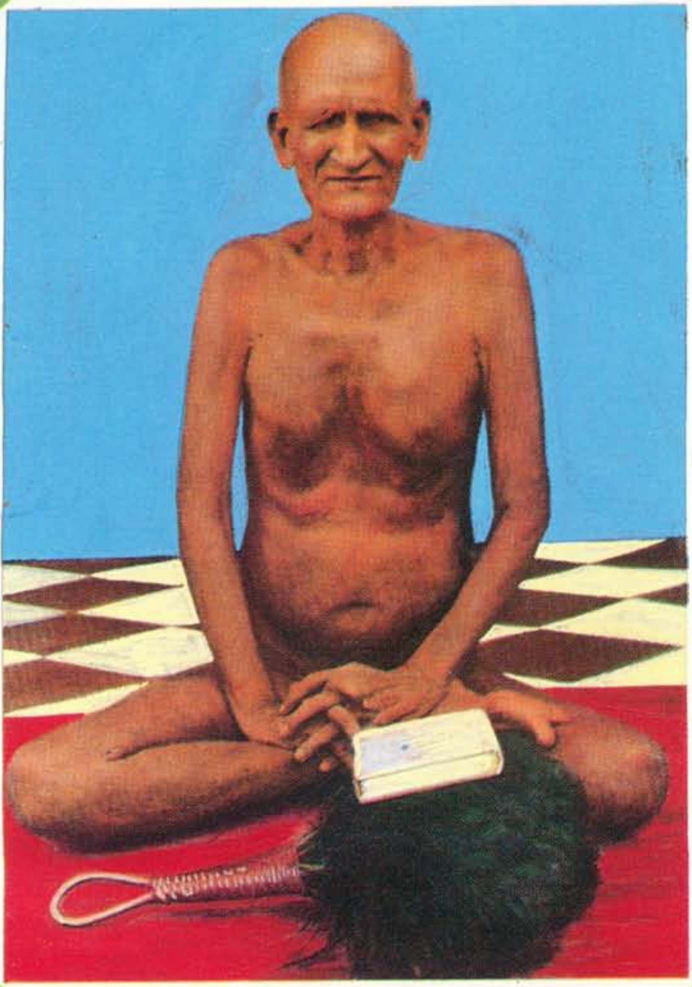

परम पूज्य (स्व.) आचार्यश्री वीरसागर जी महाराज

स्वात्मैकनिष्ठं नृसुरादिपूज्यं, षड्जीवकायेषु दयार्द्रचित्तं।
श्रीवीरसिन्धुं भववार्धिपोतं, तं सूरिवर्यं प्रणमामि भक्त्या॥

जिनशासनप्रभाविका, सिद्धान्तसंरक्षिका, तपोनिधि अध्यात्ममूर्ति

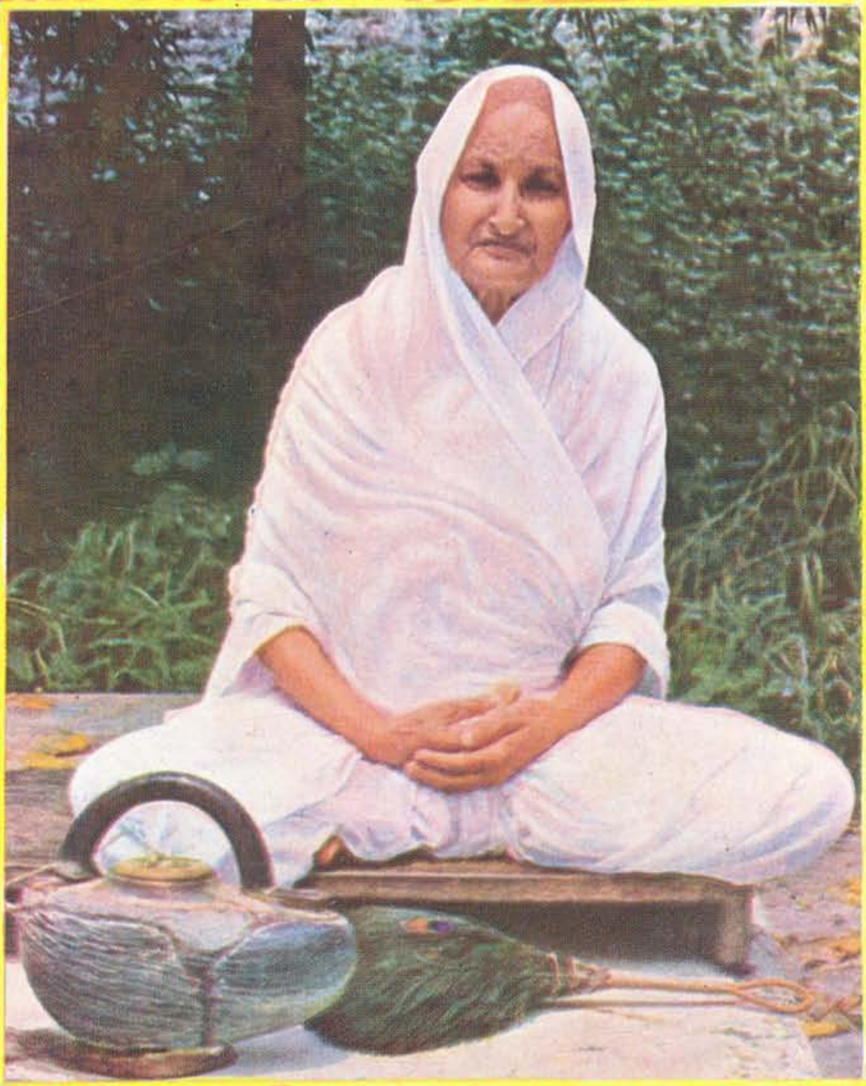

(स्व.) पूज्य आर्यिकाश्री इन्दुमती माताजी

जन्म	आर्यिका दीक्षा	समाधि
वि. सं. १९६२	वि. सं. २००६	वि. सं. २०४२
डेह (नागौर) राज.	नागौर (राज.)	सम्मेदशिखर (बिहार)

प्रस्तुत ग्रन्थ की अनुवादिका

आर्यिकाश्री सुपार्श्वमती माताजी

जन्म	आर्यिका दीक्षा	गणिनी पद
वि. सं. १९८५	वि. सं. २०१४	वि. सं. २०४३
मैनसर-नागौर (राज.)	खानिया-जयपुर	कानकी (बिहार)

卐 प्रस्तुति 卐

पूज्य **आर्यिका १०५ श्री सुपार्श्वमती माताजी** कृत मूलानुगामी हिन्दी अनुवाद सहित **तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिकालङ्कार** का दूसरा खण्ड मार्च २००९ में पाठकों के स्वाध्यायार्थ प्रस्तुत किया था। अब यह **तीसरा खण्ड** पाठकों के कर-कमलों में सौंपते हुए हमें हार्दिक आह्लाद है।

गीता, कुरान और बाइबिल का जो आदरणीय स्थान अपने-अपने सम्प्रदाय में है, उससे भी महत्त्वपूर्ण स्थान **'तत्त्वार्थसूत्र'** का जैन अनुयायियों में है। रचयिता **पूज्य उमास्वामी आचार्य** ने इसमें 'गागर में सागर' भर दिया है और **महर्षि विद्यानन्द स्वामी** ने इस परमागम के गूढ़ विषयों को अपनी गम्भीर शैली में सरल बनाकर, संस्कृत गद्य पद्य में **तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालङ्कार** के रूप में अभिव्यक्त कर, तत्त्वजिज्ञासुओं का महदुपकार किया है।

सिद्धान्त महोदधि **पं. माणिकचन्द्र जी कौंदेय न्यायाचार्य** ने इस ग्रन्थ पर अनेक वर्षों तक अथक परिश्रम कर **'तत्त्वार्थचिन्तामणि'** नामक भाषा टीका लिखी है जिसका स्वाध्याय कर देशभाषाभिज्ञ स्वाध्याय प्रेमियों ने लाभ उठाया है।

पूज्य माताजी ने अति विस्तार एवं स्वतंत्रविवेचन न कर 'अलंकार' का मूलानुगामी सरस अनुवाद प्रस्तुत किया है। **प्रथम खण्ड** में केवल **एक सूत्र** की व्याख्या का अनुवाद हुआ था। दूसरे खण्ड में **दूसरे सूत्र से आठवें सूत्र** तक के विषयों का अर्थात् द्वितीय आह्निक पर्यन्त सूत्रों का गम्भीर विवेचन है। टीकाकार महर्षि ने सम्यग्दर्शन का स्वरूप, भेद, अधिगमोपाय, तत्त्वों का स्वरूप और भेद, निक्षेपों का कथन, निर्देशादि पदार्थ-विज्ञानों का विस्तार, सत्संख्या तत्त्वज्ञान के साधन आदि पर यथेष्ट प्रकाश डाला है। प्रसंगवश सम्यग्दर्शन के सम्बंध में बहुत गहराई से विचार किया गया है।

प्रस्तुत तृतीय खण्ड में नौवें सूत्र से लेकर २० वें सूत्र तक यानी तृतीय आह्निक पर्यन्त सूत्रों का विशद विवेचन है।

सूत्र ९ : इस सूत्र में ज्ञान के भेदों का उल्लेख है। वार्तिककार ने मति आदि के क्रमपूर्वक कथन की उपपत्ति दर्शाकर इनको यथार्थ ज्ञान सिद्ध किया है। प्रसंगवश प्रत्येक पदार्थ का स्वरूप, सामान्य विशेष कथंचित् भेदाभेद के रूप में सिद्ध किया है। दोनों ही पदार्थ के स्वरूप हैं एवं अविनाभावरूप से एकत्र रहते हैं। ज्ञान सामान्यपना होने पर भी सभी ज्ञान अपने-अपने स्वरूप से भिन्न हैं। मनीषी टीकाकार ने प्रत्यक्ष आदि सभी ज्ञानों को स्वांश में परोक्ष मानने वाले मीमांसकों के, ज्ञानान्तरों से ज्ञान का प्रत्यक्ष मानने वाले नैयायिकों के, ज्ञान को अचेतन मानने वाले सांख्यों के मत का सतर्क खण्डन किया है। इस सूत्र की व्याख्या ५८ वार्तिकों से की गई है।

सूत्र १० : इस सूत्र की व्याख्या आचार्यश्री ने १८५ वार्तिकों द्वारा की है। सर्वप्रथम प्रमाण के स्थूल भेद व स्वरूप का निर्देश है। इससे स्वत: ही सर्वविवादों का शमन हो जाता है। जड़ इन्द्रियों को प्रमाण

मानने वालों का निराकरण ज्ञान को प्रमाण मानने से हो जाता है। सन्निकर्ष (वैशेषिक मान्यता) भी प्रमाण नहीं है, सर्वथा भिन्न ऐसे ज्ञान और आत्मा भी प्रमाण नहीं हैं। प्रमिति, प्रमाण और प्रमाता का सर्वथा भेद नहीं है, सर्वथा अभेद भी नहीं है। भेदाभेद है। बौद्धों के द्वारा स्वीकृत तदाकारता भी प्रमाण नहीं है। सन्निकर्ष और तदाकारता में अन्वयव्यभिचार और व्यतिरेक व्यभिचार होते हैं। स्वसंवेदनाद्वैत भी प्रमाण नहीं हो सकता है; मिथ्याज्ञान, संशय आदि भी प्रमाण नहीं हैं। सम्यक् शब्द का अर्थ प्रशस्त है, अविसंवाद है। जितने अंशों में अविसंवादपना है, उतने अंश में प्रमाणता है। मतिश्रुत एकदेश प्रमाण हैं, अवधिज्ञान-मन:पर्ययज्ञान को स्वविषय में पूर्ण रूप से प्रमाणता है। केवलज्ञान को सर्वपदार्थों में सर्वांश में पूर्णरूप से प्रमाणता है। प्रसंगवश स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान आदि भी इन्हीं प्रमाणद्वय में समाहित हैं, उन्हें पृथक् मानने की आवश्यकता नहीं है, इस पर विचार कर "प्रमाण की उत्पत्ति स्वत: है या परत:" इसका भी सयुक्तिक विवेचन किया है।

सूत्र ११-१२ : में क्रमश: २५ और ३९ वार्त्तिक हैं। परोक्ष व प्रत्यक्ष शब्द की निरुक्ति के साथ मतिश्रुतज्ञान को परोक्ष और शेष तीन ज्ञानों को प्रत्यक्ष सिद्ध करते हुए अन्य वादियों के द्वारा माने हुए सर्व लक्षणों में दोषों का उद्घाटन किया गया है।

सूत्र १३ : इस सूत्र की व्याख्या में टीकाकार ने मतिज्ञान का विस्तृत विवेचन किया है जो ३९४ वार्त्तिकों में पूर्ण हुआ है। मतिज्ञानावरण के क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाले स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, संज्ञा, चिन्ता, अभिनिबोध आदि सबका समावेश मतिज्ञान में है। ये सब प्रमाण हैं। स्मृति आदि को प्रमाण नहीं मानने वाले वादियों – बौद्ध, नैयायिक, मीमांसक आदि के सिद्धान्तों को उद्धृत कर उनमें अनर्थपरम्परा का प्रदर्शन किया है।

सूत्र १४ : में मतिज्ञान के निमित्त कारणों का निरूपण है। यहाँ ज्ञान के उत्पादक कारकों का वर्णन है, ज्ञापक हेतुओं का निरूपण नहीं है। धारणा पर्यन्त ज्ञान तो इन्द्रिय अनिन्द्रिय दोनों से उत्पन्न होते हैं, स्मृति आदि में केवल मन ही निमित्त पड़ता है। परम्परा से इन्द्रियाँ भी निमित्त हो जाती हैं। अर्थ और आलोक ज्ञान के कारण नहीं हैं। ज्ञानपना और ज्ञेयपना परस्पर आश्रित हैं किन्तु ज्ञान और ज्ञेय की उत्पत्ति अपने-अपने न्यारे कारणों से अपने नियतकाल में होती है। इस सूत्र की व्याख्या १५ वार्त्तिकों में सम्पन्न हुई है।

सूत्र १५ : मतिज्ञान के भेदों का निरूपण करने के लिए यह सूत्र है। पश्चात् टीकाकार ने अवग्रह आदि का निर्दोष लक्षण कहा है। सभी ज्ञान सामान्य विशेषात्मक वस्तु को विषय करते हैं। अकेले सत् सामान्य का ही निर्बाध ज्ञान नहीं होता है। ये अवग्रह आदि ज्ञान सदा क्रम से ही होते हैं। ये आत्मा की क्रम से उत्पन्न हुई भिन्न-भिन्न पर्यायें हैं किन्तु ये सब पर्यायें एक मतिज्ञानस्वरूप हैं। दर्शनोपयोग से अवग्रहज्ञान भिन्न है। आकांक्षा से कुछ मिला हुआ ईहाज्ञान और संस्कार रूप धारणा ज्ञान स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से प्रमाण रूप है। संशय और विपर्ययज्ञानों का निराकरण करता हुआ स्पष्ट अवायज्ञान है। एकदेश विशद होने से न्यायग्रन्थों में ये ज्ञान सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष माने गये हैं। वस्तुत: ये सभी ज्ञान परोक्ष हैं। यह विवेचन ६८ वार्त्तिकों में पूर्ण हुआ है।

सूत्र १६ : में मतिज्ञान के विशेष प्रभेदों का ४२ वार्त्तिकों में निरूपण है। पूर्व सूत्र में कहे गये ज्ञानों के ये बहु आदिक बारह पदार्थ विषय हैं।

सूत्र १७ : बहु-बहुविध आदि धर्मों के आधारभूत धर्मी को समझाने के लिए यह सूत्र है। इसकी व्याख्या टीकाकार ने ५ वार्त्तिकों में की है। वस्तुभूत अर्थ के बहु आदिक धर्मों में अवग्रहादि ज्ञान प्रवर्तते हैं।

सूत्र १८ : यह सूत्र निर्देश करता है कि अव्यक्त पदार्थ का अवग्रह ही होता है। ईहा, अवाय, धारणा, स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान नाम के मतिज्ञान ये अव्यक्त अर्थ में नहीं प्रवर्तते हैं। इसकी विशद व्याख्या ९ वार्तिकों में हुई है।

सूत्र १९ : चक्षु इन्द्रिय और मन से व्यंजनावग्रह नहीं होता है। शेष चार इन्द्रियों से होता है। विषय के साथ चक्षु की अप्राप्ति से मन इन्द्रिय की अप्राप्ति भिन्न जाति की है। अभिमुख हो रहे अप्राप्त अर्थ को चक्षु जानती है और मन अभिमुख, अनभिमुख, प्राप्त, अप्राप्त अर्थों को भी जान लेता है। अभाव भी भाव कारणों के समान कार्य की उत्पत्ति में सहायक हो जाते हैं। टीकाकार आचार्यश्री ने वैशेषिकों द्वारा मानी गयी स्फटिक की उत्पाद विनाश प्रक्रिया पर अच्छा आघात किया है। मीमांसक और वैशेषिकों ने शब्द को भी पुद्गल नहीं माना है, उनकी इस मान्यता का भी आचार्यश्री ने सतर्क खण्डन किया है। मीमांसकों का शब्द को अमूर्त और सर्वगत कहना प्रमाणों से बाधित है। आचार्यश्री ने श्रोत्र का प्राप्यकारित्व पुष्ट किया है। यह विवेचन ९८ वार्त्तिकों में समाविष्ट हुआ है।

यहाँ तक आचार्यश्री विद्यानन्दजी ने मतिज्ञान के भेद-प्रभेदों का युक्तिसाध्य वर्णन किया है।

सूत्र २० : इस सूत्र के अन्तर्गत १२८ वार्त्तिकों में श्रुतज्ञान व उसके भेद-प्रभेदों के सम्बन्ध में विस्तार से विमर्श किया गया है। श्रुतज्ञान के अंग बाह्य और अंग प्रविष्ट आदि भेदों का प्रतिपादन करते हुए श्रुतज्ञान की प्रामाणिकता को बहुत ही सुन्दर ढंग से सिद्ध किया गया है।

इस प्रकरण के साथ तृतीय आह्निक सम्पूर्ण होता है। इस प्रकार इस खण्ड में अनेक महत्त्वपूर्ण प्रकरणों की व्याख्या है। संक्षेप में कहें तो १०६६ वार्त्तिकों से युक्त इस तृतीय खण्ड में मतिज्ञान और श्रुतज्ञान का ही विचार है। इससे वार्तिककार और टीकाकार की अगाध विद्वत्ता का पता लगता है। सूत्रकार ने तो गागर में सागर भरा ही है।

परिशिष्ट में श्लोकानुक्रमणिका दी गई है।

आभार :

पूज्य गणिनी आर्यिका श्री सुपार्श्वमती माताजी के श्रीचरणों में सविनय वन्दामि निवेदन करता हूँ जिन्होंने अपनी अभीक्ष्ण ज्ञानाराधना और तप:साधना के फलस्वरूप इस गुरुगम्भीर ग्रन्थ का मूलानुगामी अनुवाद किया है और इसके सम्पादन प्रकाशन कर्म से मुझे संयुक्त कर मुझ पर अतीव अनुग्रह किया है। मैं आपका कृतज्ञ हूँ।

यथाशीघ्र प्रकाशन हेतु सतत प्रेरणा करने वाली पूज्य **आर्यिका गौरवमती माताजी** के चरणों में सविनय वन्दामि निवेदन करता हूँ।

पं. मोतीचन्दजी कोठारी की तैयार की हुई पाण्डुलिपि से भी मूल संस्कृत पाठ का मिलान किया है अतएव मैं उनका भी आभारी हूँ।

हिन्दी टीकाकार सिद्धान्तमहोदधि, स्याद्वादवारिधि, न्यायदिवाकर **पं. माणिकचन्दजी कौन्देय, न्यायाचार्य** की अगाध विद्वत्ता एवं अभिनन्दनीय प्रतिभा को सादर नमन करता हूँ जिनकी पाण्डित्यपूर्ण भाषा टीका **'तत्त्वार्थ चिन्तामणि'** से प्रस्तुत संस्करण को सँवारने में अप्रतिम सहायता मिली है।

ग्रन्थ के प्रकाशक **श्रीमान् पन्नालालजी पाटनी, कोलकाता** को हार्दिक धन्यवाद देता हूँ।

कम्प्यूटरकार्य के लिए निधि कम्प्यूटर्स के **डॉ. क्षेमंकर पाटनी** व उनके सहयोगियों को हार्दिक धन्यवाद देता हूँ। शोभन एवं सुरुचिपूर्ण मुद्रण के लिए **हिन्दुस्तान प्रिंटिंग हाउस,** जोधपुर को धन्यवाद देता हूँ।

सम्यग्ज्ञान के इस महदनुष्ठान में यत्किंचित् सहयोग देने वाले सभी भव्यों के प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करता हूँ और सम्पादन-प्रकाशन कार्य में रही भूलों के लिए स्वाध्यायी बन्धुओं से क्षमायाचना करता हूँ।

दीपमालिका २००९

विनीत
डॉ. चेतनप्रकाश पाटनी

५४-५५ इन्द्रा विहार
सेक्शन ७ विस्तार
न्यू पावर हाउस रोड
जोधपुर - ३४२००३

卐 दो शब्द 卐

प्रत्येक दर्शन या धर्म के प्रवर्त्तक की एक आधारभूत विशेष दृष्टि रही है। भगवान बुद्ध की दृष्टि मध्यम प्रतिपदा दृष्टि है जिसमें वे संवेदनाद्वैत, चित्राद्वैत, विज्ञानाद्वैत आदि को सिद्ध करते हैं। शंकराचार्य की अद्वैत दृष्टि है, वे ब्रह्माद्वैत आदि को सिद्ध करते हैं। सांख्यमत पुरुष और प्रकृति को मानता है। ये जितने भी दार्शनिक हैं, वे एकान्तवादी हैं। उनका मत प्रत्यक्ष प्रमाण, आगम प्रमाण एवं युक्ति (अनुमान) प्रमाण से बाधित होता है अत: वह अवास्तविक है, परमार्थभूत नहीं है।

जैनदर्शन के प्रवर्त्तक महापुरुषों की भी वस्तु को सिद्ध करने के लिए एक विशेष दृष्टि रही है वह है अनेकान्तवाद। जैन धर्म का सारा आचार-विचार उसी के आधार पर है इसीलिए जैन दर्शन अनेकान्तवादी दर्शन कहलाता है और अनेकान्तवाद तथा जैनदर्शन परस्पर पर्यायवाची जैसे होगये हैं। वस्तु सत् ही है वा असत् ही है, नित्य ही है अथवा अनित्य ही है, इस प्रकार की मान्यता को एकान्त कहते हैं और वस्तु को अपेक्षा के भेद से सत्-असत्, नित्य-अनित्य आदि मानना अनेकान्तवाद है।

यह अनेकान्तवाद प्रत्येक प्राणी के अनुभवगोचर है क्योंकि सर्वथा नित्य, सर्वथा अनित्य, सर्वथा सत् अथवा सर्वथा असत् में कोई क्रिया नहीं होती। अनादिकालीन इस वस्तुस्थिति को समझाने के लिए तथा वस्तु का यथार्थ ज्ञान कराने के लिए पूर्वज गणधर देव, कुन्दकुन्दाचार्य, पूज्यपादस्वामी, अकलंक देव, समन्तभद्राचार्य, माणिक्यनन्दी आदि अनेक आचार्यों ने अनेक ग्रन्थों की रचना की है।

वास्तव में, अनेकात्मक अर्थ का प्ररूपक स्याद्वाद है। उसी को फलितवाद, सप्तभंगीवाद और नयवाद कहते हैं। ये तीनों वाद जैन न्याय की विशेष देन हैं क्योंकि जैन दर्शन अनेकान्तवादी है और अनेकान्त का प्ररूपण स्याद्वाद के बिना नहीं हो सकता है। किन्तु स्याद्वाद के द्वारा प्ररूपित अनेकान्त वस्तु की जब कोई वक्ता या ज्ञाता किसी एक धर्म की मुख्यता से चर्चा करता है तो अनेकात्मक धर्म का कथन एक साथ एक समय में नहीं हो सकता अत: उस समय एक धर्म की मुख्यता और दूसरे धर्मों की गौणता होती है। इनमें एक दृष्टि के मुख्य और अन्य दृष्टियों के गौण होते हुए भी वे धर्मनिरपेक्ष नहीं हैं अपितु सापेक्ष हैं। यदि निरपेक्ष हैं तो मिथ्या हैं। अत: सापेक्ष कथन सम्यक् है और निरपेक्ष कथन मिथ्या है। इस सापेक्ष कथन को ही नय विवक्षा कहते हैं। यह नय विवक्षा जैन दर्शन की विशेषता है जो इतर दर्शनों में नहीं है। अत: अन्यान्य दार्शनिक वस्तु के स्वरूप का वास्तविक निर्णय नहीं कर पाते। बौद्ध वस्तु को क्षणिक मानते हैं, सांख्य वस्तु को नित्य मानता है अत: इनके मत में वस्तु के वास्तविक स्वरूप का भान नहीं होता।

जैन दर्शन एक द्रव्य पदार्थ को ही मानता है। उसके मानने पर दूसरे पदार्थ के मानने की आवश्यकता नहीं होती। गुण और पर्याय के आधार को द्रव्य कहते हैं। ये गुण और पर्यायें इस द्रव्य के ही आत्मस्वरूप हैं अत: ये द्रव्य से पृथक् नहीं हो सकते हैं। लक्षण, संज्ञा, प्रयोजन आदि की अपेक्षा इनमें भेद होते हुए भी द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा भेद नहीं है। जैसे आत्मा के ज्ञान, दर्शन आदि गुण हैं और

मतिज्ञान आदि पर्याय हैं। इसमें ज्ञान का लक्षण जानना है और दर्शन का लक्षण देखना है। यह इनका लक्षण भिन्न-भिन्न है तथा इनकी संज्ञा (नाम) आदि भी भिन्न-भिन्न है। ज्ञान का प्रयोजन स्व-पर प्रकाशत्व है और दर्शन का अन्त:चित्प्रकाशत्व है, आदि। द्रव्य का लक्षण उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यात्मक है। क्योंकि वस्तु का स्वरूप त्रयात्मक है। जैन शास्त्र में वस्तु को त्रयात्मक कहते हैं, यह तो ठीक ही है परन्तु हमारे अनुभव में भी वस्तु का त्रयात्मक रूप आता है। क्योंकि त्रयात्मक वस्तु के बिना कोई भी अर्थक्रिया नहीं हो सकती।

द्रव्य, गुण और पर्याय ये तीनों ही सत्स्वरूप हैं और तीनों ही उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यात्मक हैं। जैसे मिट्टी पुद्गल द्रव्य की पर्याय है। उसमें हमने गेहूँ का एक बीज बोया। उस बीज का संयोग पाकर मिट्टी के कण गेहूँ के अंकुर रूप से उत्पन्न हो गये। उसमें जो मिट्टी रूप पर्याय थी वह तो नष्ट हो गई अर्थात् उसका व्यय हो गया और गेहूँ अंकुर रूप से उत्पन्न होगये तथा स्पर्श, रस, गंध और वर्णात्मक पुद्गल ध्रौव्य रूप रहा। गेहूँ के अंकुर गेहूँ के वृक्ष रूप एवं गेहूँ रूप से परिणत हुए तो अंकुर रूप से व्यय और गेहूँ रूपसे उत्पाद हुआ परन्तु पुद्गलात्मक वस्तु न नष्ट हुई और न उत्पन्न हुई अपितु ध्रौव्य रूप है क्योंकि सत्स्वरूप का नाश नहीं होता और न असत् का उत्पाद होता है।

इस प्रकार कुन्दकुन्दादि आचार्यों ने अनेक दृष्टान्तों और युक्तियों के द्वारा वस्तु के स्वरूप का कथन किया है। उन्हीं आचार्यों का अनुसरण करते हुए पूज्यपाद, समन्तभद्र, अकलंकदेव आदि ने अनेक ग्रन्थ रचे। इसी शृंखला में विद्यानन्दाचार्य हुए हैं।

अकलंकदेव के पश्चात् उनके चार प्रमुख टीकाकार हुए हैं। उनमें भी प्रमुख हैं आचार्य विद्यानन्द। उन्होंने अकलंकदेव की गूढ़ार्थ अष्टशती को आत्मसात् करते हुए उसकी व्याख्या के रूप में जो **अष्टसहस्री** रची, वह भारतीय दर्शनशास्त्र के मुकुटमणि ग्रन्थों में से एक है।

उसकी पाण्डित्यपूर्ण तार्किक शैली, प्रमेयबहुलता और प्राञ्जल भाषा विद्वन्मनोमुग्धकारी है। अकलंकदेव की गूढ़ार्थ पंक्तियों के अभिप्राय को यथार्थ रूप से उद्घाटित करने में विद्यानन्दाचार्य की प्रतिभा का चमत्कार अपूर्व है। ये भी भट्ट अकलंक के समान षड्दर्शनों के पण्डित थे।

आचार्य विद्यानन्द के छह ग्रन्थ उपलब्ध हैं - तत्त्वार्थ श्लोकवार्त्तिकालंकार, अष्टसहस्री, प्रमाणपरीक्षा, आप्तपरीक्षा, सत्यशासनपरीक्षा और पत्रपरीक्षा। एक ग्रन्थ **विद्यानन्द महोदय** उपलब्ध नहीं है। जैसे समन्त भद्राचार्य का गन्धहस्ति महाभाष्य और कुन्दकुन्द की षट्खण्डागम के प्रथम तीन खण्डों पर लिखित १२००० श्लोक प्रमाण परिकर्म नामकी टीका उपलब्ध नहीं हैं।

पहले शास्त्रार्थों में जो पत्र दिये जाते थे उनमें क्रियापद आदि गूढ़ रहते थे अत: उनका आशय समझना बहुत कठिन होता था। उसी के विवेचन के लिए विद्यानन्दाचार्य ने पत्रपरीक्षा नामक एक छोटे से प्रकरण की रचना की थी। जैन परम्परा में इस विषय की सम्भवतया यह प्रथम और अन्तिम स्वतन्त्र रचना है। विद्यानन्दाचार्य ने समन्तभद्र के 'युक्त्यनुशासन' पर भी टीका रची है। अकलंकदेवाचार्य न्याय के प्रस्थापक थे तो विद्यानन्द उसके सम्पोषक और संवर्धक थे।

विद्यानन्दाचार्य ने परमाणु से लेकर महास्थूलकाय तक पुद्गल तथा अनन्तानन्त जीव तथा धर्मादि द्रव्यों में छह द्रव्य और सात तत्त्वों की जो सिद्धि की है वह भव्यप्राणी के अन्तस्तल का स्पर्श करने वाली है। इनके गुणों का मन के द्वारा चिन्तन कर अपने परिणामों की विशुद्धि कर सकते हैं, अन्य कोई उपाय नहीं है। उनके चरणों में शत-शत वन्दन, शत-शत नमन, शत-शत अर्चन।

इस कठिन ग्रन्थ के अथक परिश्रम पूर्वक सम्पादन और संशोधनकर्त्ता श्रीमान् पण्डित महोदय **चेतनप्रकाश जी पाटनी** को शुभाशीर्वाद है कि उनके आत्मचिन्तन रूप धर्म्यध्यान और ज्ञान की वृद्धि हो और अन्त में समाधिमरण हो, यही मेरी कामना और भावना है।

गत् ४० वर्षों से मेरे प्रत्येक कार्य में जो सहयोगी रही हैं, अहर्निश मन-वचन काय से सेवा में तत्पर रही हैं, शारीरिक शक्ति क्षीण होने पर भी आर्यिका पद को स्वीकार कर जो अपने धर्म्यध्यान में लीन रहती हैं ऐसी **आर्यिका श्री गौरवमती जी** के संयम, ध्यान, ज्ञान की उत्तरोत्तर वृद्धि हो। वे यथाशक्ति तपश्चरण करके स्त्रीपर्याय का छेद करके स्वर्ग में उत्पन्न हों और वहाँ से च्युत होकर मनुष्यभव प्राप्त कर मोक्ष को प्राप्त करें, यही मेरी कामना, भावना और आशीर्वाद है।

ग्रन्थप्रकाशन में सहयोगी **श्री पन्नालालजी एवं श्रीमती सरोज पाटनी** को तथा उनके परिवार को शुभाशीर्वाद। उनके जीवन में धार्मिक कार्यों की वृद्धि हो, अन्त में समाधिमरण हो, यही आशीर्वाद है।

- आर्यिका सुपार्श्वमती

॥ श्रीवीतरागाय नमः ॥

卐 शास्त्रस्वाध्याय का प्रारम्भिक मंगलाचरण 卐

ॐ नमः सिद्धेभ्यः! ॐ नमः सिद्धेभ्यः! ॐ नमः सिद्धेभ्यः!

ओंकारं बिन्दुसंयुक्तं, नित्यं ध्यायन्ति योगिनः।
कामदं मोक्षदं चैव, ॐकाराय नमोनमः॥

अविरलशब्दघनौघ-प्रक्षालितसकल-भूतलकलङ्का।
मुनिभिरुपासिततीर्था, सरस्वती हरतु नो दुरितम्॥

अज्ञानतिमिरान्धानां, ज्ञानाञ्जनशलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन, तस्मै श्रीगुरवे नमः॥

❋

श्रीपरमगुरवे नमः, परम्पराचार्यगुरुभ्यो नमः। सकलकलुषविध्वंसकं, श्रेयसां परिवर्धकं, धर्मसम्बन्धकं, भव्यजीवमनःप्रतिबोधकारकं, पुण्यप्रकाशकं, पापप्रणाशकमिदं शास्त्रं **'श्रीतत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालङ्कार'** नामधेयं अस्य मूलग्रन्थकर्तारः श्रीसर्वज्ञदेवास्तदुत्तर-ग्रन्थकर्तारः श्रीगणधरदेवाः प्रतिगणधरदेवास्तेषां वचोऽनुसारतामासाद्य पूज्य **श्रीविद्यानन्दाचार्येण** विरचितं इदं शास्त्रं। श्रोतारः सावधानतया शृण्वन्तु।

❋

मङ्गलं भगवान् **वीरो**, मङ्गलं **गौतमो** गणी।
मङ्गलं **कुन्दकुन्दाद्यो, जैनधर्मोऽस्तु** मङ्गलम्॥

सर्वमङ्गलमाङ्गल्यं, सर्वकल्याणकारणम्।
प्रधानं सर्वधर्माणां, जैनं जयति शासनम्॥

मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम् ॥९॥

किमर्थमिदं सूत्रमाहेत्युच्यते —

अथ स्वभेदनिष्ठस्य ज्ञानस्येह प्रसिद्धये। प्राह प्रवादिमिथ्याभिनिवेशविनिवृत्तये ॥१॥

न हि ज्ञानमन्वयमेवेति मिथ्याभिनिवेशः कस्यचिन्निवर्तयितुं शक्यो विना मत्यादिभेदनिष्ठसम्यग्ज्ञाननिर्णयात् तदन्यमिथ्याभिनिवेशवत्। न चैतस्मात्सूत्रादृते तन्निर्णय इति सूक्तमिदं संपश्यामः॥

किं पुनरिह लक्षणीयमित्युच्यते —

सम्यग्दर्शन के निरूपण के अनन्तर सम्यग्ज्ञान का प्रकरण है। अतः प्रथम ही **सम्यग्ज्ञान के भेदों का प्रतिपादक सूत्र** कहा जाता है।

मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान ये पाँच समीचीन ज्ञान हैं॥९॥

इस सूत्र को किस प्रयोजन के लिए कहा है? ऐसी जिज्ञासा होने पर **श्री विद्यानन्द स्वामी** कहते हैं-

सम्यग्दर्शन के प्रकरण के अनन्तर अपने भेदों में स्थित ज्ञान की प्रसिद्धि के लिए और अनेक प्रवादियों के झूठे अभिमान से उत्पन्न कदाग्रह की निवृत्ति करने के लिए यहाँ इस सूत्र का निरूपण किया गया है॥१॥

मति, श्रुत आदि भेद वाले सम्यग्ज्ञान का निर्णय किये बिना किसी वादी का ज्ञान अन्वयरूप ही है ऐसे झूठे आभिमानिक आग्रह का किसी भी प्रकार से निराकरण करना संभव नहीं है, जैसे कि उससे अन्य दूसरे चार्वाक, बौद्ध आदि के मिथ्या श्रद्धान नहीं हटाये जा सकते हैं, तथा इस सूत्र के बिना मति आदि भेद वाले उस सम्यग्ज्ञान का निर्णय भी नहीं होता है अतः यह सूत्र कहा है, ऐसा हम भले प्रकार समझ रहे हैं।

भावार्थ : अनेक मीमांसक आदि प्रवादियों के यहाँ **ज्ञान के विषय में भिन्न-भिन्न प्रकार के मन्तव्य** हैं। कोई ज्ञान को अन्वय स्वरूप ही मानते हैं, बौद्ध प्रमाणज्ञान के प्रत्यक्ष और परोक्ष दो भेद मानते हैं। श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान उनको इष्ट नहीं है। चार्वाक केवल इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष को ही मानते हैं। वैशेषिक प्रत्यक्ष और अनुमान दो प्रमाण मानते हुए ज्ञान को स्वसंवेदी नहीं मानते हैं। सांख्यमती प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम प्रमाण इन तीन ही प्रकार के ज्ञान को मानते हैं। नैयायिक प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शाब्द इन चार प्रमाणों को मानकर दूसरे ज्ञान से ज्ञान का प्रत्यक्ष होना अभीष्ट करते हैं। अर्थापत्ति और अभाव से सहित पाँच, छह प्रमाणों को मानने वाले प्रभाकर जैमिनीय मत के अनुयायी सर्वज्ञप्रत्यक्ष का निषेध करते हैं। इन सब मिथ्याश्रद्धानों की निवृत्ति के लिए भेदयुक्त ज्ञान का सूत्र के द्वारा कथन करना अत्यावश्क है।

फिर इस प्रकरण में किसका लक्षण करने योग्य है ? ऐसी आकांक्षा होने पर कहते हैं कि-

ज्ञानं संलक्षितं तावदादिसूत्रे निरुक्तितः। मत्यादीन्यत्र तद्भेदाल्लक्षणीयानि तत्त्वतः ॥२॥

न हि सम्यग्ज्ञानमत्र लक्षणीयं तस्यादिसूत्रे ज्ञानशब्दनिरुक्त्यैवाव्यभिचारिण्या लक्षितत्वात् तद्भेदमासृत्य मत्यादीनि तु लक्ष्यंते तन्निरुक्तिसामर्थ्यादिति बुध्यामहे। कथं?

मत्यावरणविच्छेदविशेषान्मन्यते यया। मननं मन्यते यावत्स्वार्थे मतिरसौ मता ॥३॥

श्रुतावरणविश्लेषविशेषाच्छ्रवणं श्रुतम्। शृणोति स्वार्थमिति वा श्रूयतेस्मेति वागमः ॥४॥

अवध्यावृतिविध्वंसविशेषादवधीयते। येन स्वार्थोवधानं वा सोवधिर्नियतः स्थितिः ॥५॥

आदि के "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः" इस सूत्र में ज्ञान तो ज्ञान शब्द की निरुक्ति से लक्षणयुक्त कर दिया गया है। वहाँ से उसका अवधारण कर लेना। यहाँ उस ज्ञान के प्रकार होने से मति,श्रुत आदि का वस्तुतः लक्षण करना चाहिए॥२॥

इस अवसर पर सम्यग्ज्ञान का लक्षण करना आवश्यक नहीं है, क्योंकि उसका आदिसूत्र में ही 'ज्ञान' शब्द की व्यभिचार दोष रहित निरुक्ति करके लक्षण किया जा चुका है। उस ज्ञान के भेदों का आश्रयकर मति, श्रुत आदि ज्ञान तो उनकी शब्द निरुक्ति की सामर्थ्य से लक्षणयुक्त हो जाते हैं, इस प्रकार हम जानते हैं। मति आदि का शब्द निरुक्ति से ही लक्षण कैसे निकलता है ? ऐसी जिज्ञासा होने पर कहते हैं-

मति ज्ञान को आवरण करने वाले कर्म के क्षयोपशम रूप विशेषविच्छेद हो जाने से जिसके द्वारा अवबोध किया जाता है वह मति है। "मन-ज्ञाने" इस दिवादिगण की धातु से करण में क्तिन् प्रत्यय करके मति शब्द सिद्ध किया गया है) अथवा आत्मा का स्व और अर्थ की ज्ञप्ति का साधकतम रूप परिणाम विशेष मतिज्ञान है अथवा मननं मतिः। (इस प्रकार मन धातु से भाव में क्ति प्रत्यय कर मति शब्द बनाया गया है) ॥३॥ इस मति शब्द की उत्पत्ति तीन प्रकार से है "मन्यते मननं मात्रं वा मतिः अर्थात् आत्मा जानता है। यह कर्तृ वाच्य है। जिसके द्वारा जानता है यह कर्मवाच्य है और मनन करना ही जिसका कार्य है यह पर्याय और पर्यायी में भेद अभेद की विवक्षा से कथन है।

श्रुतज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से जो स्वार्थ को सुनता है, वा सुना जाता है, अथवा सुनना मात्र जिसका स्वभाव है वह श्रुत कहलाता है। अथवा आगम को श्रुत कहते हैं॥ ४ ॥ अर्थात् मति और श्रुत कर्तृ-वाच्य, कर्म-वाच्य और भाव-वाच्य से तीन प्रकार हैं। मन धातु से 'क्ति' प्रत्यय और 'श्रु' धातु से 'क्त' प्रत्यय से मति और श्रुत शब्द की निष्पत्ति हुई है। कर्तृ, कर्म और भाव इन तीन निरुक्तियों में पर्याय और पर्यायी में भेद और अभेद विवक्षा में तीनों परिणतियाँ घटित हो जाती हैं।

अवधिज्ञान को रोकने वाले अवधिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशमरूप विध्वंसविशेष से स्व और अर्थ का जिसके द्वारा प्रत्यक्षज्ञान किया जाता है, वह अवधिज्ञान है। अथवा मर्यादा को लिये प्रत्यक्षज्ञान करना वह भी अवधिज्ञान है॥५॥ अर्थात् अव उपसर्गपूर्वक 'डुधाञ्' धातु से भाव में क्ति प्रत्यय करके अवधि शब्द निष्पन्न किया गया है।

यन्मन:पर्ययावारपरिक्षयविशेषत:। मन:पर्ययणं येन,मन:पर्येति योपि वा ॥६॥

स मन:पर्ययो ज्ञेयो मनोत्रार्था मनोगता:। परेषां स्वमनो वापि तदालंबनमात्रकम् ॥७॥

क्षायोपशमिकज्ञानासहायं केवलं मतम्। यदर्थमर्थिनो मार्गं केवंते वा तदिष्यते ॥८॥

मत्यादीनां निरुक्त्यैव लक्षणं सूचितं पृथक्। तत्प्रकाशकसूत्राणामभावादुत्तरत्र हि ॥९॥

यथादिसूत्रे ज्ञानस्य चारित्रस्य च लक्षणम्। निरुक्तेर्व्यभिचारे हि लक्षणांतरसूचनम् ॥१०॥

न मत्यादीनां निरुक्तिस्तल्लक्षणं व्यभिचरति ज्ञानादिवत् न च तदव्यभिचारेपि तल्लक्षणप्रणयनं युक्तमतिप्रसंगात् सूत्रातिविस्तरप्रसक्तिरिति संक्षेपत: सकललक्षणप्रकाशनावहितमना: सूत्रकारो न निरुक्तिलभ्ये लक्षणे यत्नांतरमकरोत् ॥

जो ज्ञान मन:पर्ययज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशमरूप विशेष परिक्षय से अपने या दूसरे के मन में स्थित पदार्थों को जान लेता है या मनोगत पदार्थों का जिसके द्वारा प्रत्यक्ष ज्ञान कर लिया जाता है वह मन:पर्यय है।

अथवा जो ज्ञान मन में स्थित पदार्थों को चारों ओर से स्वतंत्रतापूर्वक प्रत्यक्ष जानता है उसको भी मन:पर्ययज्ञान समझना चाहिए। अन्य जीवों का मन व अपना मन भी उस मन:पर्ययज्ञान का केवल आलंबन मात्र है ॥ ६-७ ॥ मन:उपपद के साथ परि उपसर्ग पूर्वक ''इण गतौ'' धातु से कर्म, करण और कर्त्ता में 'अञ्' प्रत्यय करने से मन:पर्यय शब्द निष्पन्न हुआ है।

केवल शब्द का अर्थ किसी की भी सहायता नहीं लेने वाला पदार्थ है। यह केवलज्ञान अन्य चार क्षायोपशमिक ज्ञानों की सहायता के बिना आवरण रहित केवल आत्मा से प्रकट होने वाला माना गया है। अथवा स्वात्मोपलब्धि के अभिलाषी जीव जिस सर्वज्ञता के लिए मार्ग को सेवते हैं, ग्रहण करते हैं, स्वीकार करते हैं वह केवलज्ञान इष्ट किया गया है ॥८॥

मति आदि ज्ञानों का पृथक्-पृथक् लक्षण शब्द की निरुक्ति करके ही सूचित कर दिया गया है। इसलिए ही तो उन मति आदि के लक्षण के प्रकाशक सूत्रों का उत्तर ग्रन्थ में अभाव है। जैसे कि आदि के सूत्र में ज्ञान और चारित्र का लक्षण शब्द निरुक्ति से ही सूचित कर दिया गया है। यदि प्रकृति, प्रत्यय द्वारा शब्द की निरुक्ति करने से वाच्य अर्थ में व्यभिचार दोष आता है तब तो लक्षणों को सूचन करने वाले अन्य सूत्रों को बनाना आवश्यक है, जैसे कि सम्यग्दर्शन का लक्षणसूत्र पृथक् बनाया गया है; अन्यथा नहीं ॥ ९-१०॥

मति, श्रुत आदि शब्दों की निरुक्ति अपने-अपने लक्षणों का व्यभिचार नहीं करती है, जैसे कि ज्ञान, चारित्र, प्रमाण आदि का शब्दार्थ स्वकीय अपने लक्षण का व्यभिचार नहीं करता है अत: उनमें व्यभिचार दोष न होने से उनके लक्षणों की पुन: सूत्रों द्वारा रचना करना उपयुक्त नहीं है, क्योंकि उससे अतिप्रसंग दोष आता है। यानी प्रसिद्ध शब्द और लक्षण घटित सरल शब्दों के भी पुन: लक्षण सूत्र बनाना अनिवार्य होगा, और ऐसा होने से सूत्रग्रन्थ के अधिक विस्तृत हो जाने का प्रसंग आवेगा। अत: संक्षेप से सम्पूर्ण पदार्थों के लक्षण के प्रकाशन में जिनका मन संलग्न है, ऐसे सूत्रकार निरुक्ति से प्राप्त लक्षण में पुन: अन्यार्थ के लिए दूसरा प्रयत्न नहीं करते हैं।

स्वंतत्वाल्पाक्षरत्वाभ्यां विषयाल्पत्वतोपि च। मतेरादौ वचो युक्तं श्रुतात्तस्य तदुत्तरम् ॥११॥

मतिसंपूर्वतः साहचर्यात् मत्या कथंचन। प्रत्यक्षत्रितयस्यादाववधिः प्रतिपाद्यते ॥१२॥

सर्वस्तोकविशुद्धित्वात्तुच्छत्वाच्चावधिध्वनेः। ततः परं पुनर्वाच्यं मनःपर्ययवेदनम् ॥१३॥

विशुद्धतरतायोगात्तस्य सर्वावधेरपि। अंते केवलमाख्यातं प्रकर्षातिशयस्थितेः ॥१४॥

तस्य निर्वृत्त्यवस्थायामपि सद्भावनिश्चयात्। तेनैव पञ्चमं ज्ञानं विधेयं मोक्षकारणं ॥१५॥

मति, श्रुत आदि ज्ञानों के कथन करने का क्रम

मति शब्द 'घि' संज्ञक है, अल्पाक्षर है, अल्प विषयक है, अतः उसको सर्वप्रथम ग्रहण किया गया है। अर्थात् मति यह शब्द स्वन्त (घि) संज्ञक है, अल्पाक्षर है, अवधि आदि की अपेक्षा मतिज्ञान का विषय अल्प है तथा चक्षु इन्द्रियादि के प्रति नियत विषयत्व है, अतः मतिज्ञान का सर्वप्रथम ग्रहण हुआ है। मतिज्ञान के अनन्तर श्रुतज्ञान कहा गया है; क्योंकि मतिज्ञानपूर्वक ही श्रुतज्ञान होता है इसलिए मतिज्ञान के बाद तथा उसके समीप श्रुतज्ञान को ग्रहण किया गया है॥११॥

किसी अपेक्षा मतिज्ञान के साथ श्रुतज्ञान का साहचर्य भी है। जहाँ मति है, वहाँ श्रुत है और जहाँ श्रुतज्ञान है, वहाँ मतिज्ञान है अतः आधारत्व और अविशेषत्व होने से दोनों में सहचरत्व है। सहचर सम्बन्ध से भी मति के उत्तरकाल में श्रुत का वचन युक्त है।

तीनों प्रत्यक्षों में अवधिज्ञान सबसे कम विशुद्धि वाला है, तुच्छ है, अतः इसका सर्वप्रथम निर्देश है। (यद्यपि प्रत्यक्ष ज्ञान की अपेक्षा अवधिज्ञान अविशुद्ध है, परन्तु प्रत्यक्ष होने से और मतिश्रुतज्ञान की अपेक्षा विशुद्ध होने से अवधिज्ञान को मतिश्रुतज्ञान के बाद और प्रत्यक्षज्ञान के आदि में अवस्थान दिया गया है।) इससे, सर्वावधि से भी विशुद्धतर होने से अवधिज्ञान के बाद मनःपर्यय का निर्देश किया है। मनःपर्ययज्ञान के विशुद्धतर होने का कारण संयम है। मनःपर्ययज्ञान संयमीजनों के ही होता है अतः मनःपर्यय का ग्रहण अवधि के बाद किया गया है। सर्वावधि से भी विशुद्धतर होने से तथा अतीव उत्कृष्ट होन से सम्पूर्ण ज्ञानों के अन्त में केवलज्ञान को ग्रहण किया है, क्योंकि उससे उत्कृष्ट ज्ञान का अभाव है, और सर्वज्ञानों के परिच्छेदन में केवलज्ञान का ही सामर्थ्य है केवलज्ञान सर्वज्ञानों को जानता है, परन्तु केवलज्ञान को जानने का सामर्थ्य किसी ज्ञान में नहीं है, क्योंकि इससे अधिक प्रकर्षज्ञान का अभाव है। केवलज्ञान पूर्वक ही निर्वाण होता है, न कि क्षायोपशमिक मति आदि ज्ञानों के साथ। तथा उस केवलज्ञान का मोक्ष अवस्था में भी अनन्त काल तक विद्यमान रहना निश्चित है, अतः मोक्ष के कारणभूत पाँचवें ज्ञान का अनुष्ठान अन्त में करना योग्य है॥१२-१३-१४-१५॥

इस सूत्र में मति आदि शब्दों के पाठक्रम में शब्द सम्बन्धी और अर्थ सम्बन्धी न्याय के आश्रय अनुसार होने वाले उक्त हेतुओं से अन्य भी हेतु क्यों नहीं कहे? - इस प्रकार का प्रश्न उठाना श्रेष्ठ नहीं है। क्योंकि, उन अन्य हेतुओं के कहने पर भी उनसे अन्य हेतु क्यों नहीं कहे, इस प्रकार की शंका भी निवृत्त

न हि सूत्रेस्मिन्मत्यादिशब्दानां पाठक्रमे यथोक्तहेतुभ्य: शब्दार्थन्यायाश्रयेभ्योऽन्येपि हेतव: किं नोक्ता इति पर्यनुयोग: *श्रेयांस्तदुक्तावप्यन्ये किन्नोक्ता इति पर्यनुयोगस्यानिवृत्ते: कुतश्चित्कस्यचित्क्वचित्संप्रतिपत्तौ* तदर्थहेत्वंतरावचनमिति समाधानमपि समानमन्यत्र॥

ज्ञानशब्दस्य संबंध: प्रत्येकं भुजिवन्मत:। समूहो ज्ञानमित्यस्यानिष्टार्थस्य निवृत्तये॥१६॥

मत्यादीनि ज्ञानमित्यनिष्टार्थो न शंकनीय:, प्रत्येकं ज्ञानशब्दस्याभिसंबंधाद्भुजिवत्। न चायमयुक्तिक:, सामान्यस्य स्वविशेषव्यापित्वात् सुवर्णत्वादिवत्। यथैव सुवर्णविशेषेषु कटकादिषु सुवर्णसामान्यं प्रत्येकमभिसंबध्यते कटकं सुवर्णं कुंडलं सुवर्णमिति। तथा मतिर्ज्ञानं श्रुतं ज्ञानं अवधिर्ज्ञानं मन:पर्ययो ज्ञानं

नहीं हो सकती। किसी भी हेतु से किसी भी श्रोता को कहीं भी भले प्रकार प्रतिपत्ति (ज्ञान) के हो जाने पर पुन: उसके लिए अन्य हेतुओं का व्यर्थ वचन नहीं कहा जाता है। इस प्रकार समाधान करने पर तो अन्यत्र भी यही समाधान समान रूप से लागू हो जाएगा।

भावार्थ : मति आदि शब्दों के पहले-पीछे प्रयोग करने पर वार्तिककार ने दो-दो, तीन-तीन हेतु बता दिये हैं। इनसे अतिरिक्त भी हेतु कहे जा सकते हैं, जैसे कि विशेष रूप से संयम की वृद्धि होने पर ही मति आदि ज्ञानों की क्रम से पूर्णता होती है या उत्तरोत्तर ज्ञानों में बहिरंग कारणों की अपेक्षा से ह्रास भी होता है, किन्तु पदों के पूर्वापर प्रयोग करने पर जिस किसी शिष्य को जिस किसी भी उपाय से संतोषजनक प्रतिपत्ति हो जाय तो फिर इस अल्पसार कार्य के लिए शास्त्रार्थ की, या सभी हेतुओं के बताने की आवश्यकता नहीं समझी जाती है।

मति आदि प्रत्येक में 'ज्ञान' का अन्वय कर लेना चाहिए, 'भुजि' के समान। जैसे देवदत्त, जिनदत्त और गुरुदत्त को भोजन कराओ। इसमें भोजन शब्द का सबके साथ प्रयोग किया गया है।

देवदत्त को भोजन कराओ, जिनदत्त को भोजन कराओ इत्यादि। इसी प्रकार यहाँ पर 'ज्ञान' शब्द प्रत्येक के साथ लगाना चाहिए। जैसे मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन:पर्ययज्ञान और केवलज्ञान इति। इस प्रकार पाँचों का समुदाय एक ज्ञान है, इस अनिष्ट अर्थ की निवृत्ति हो जाना सिद्ध है, ये पाँचों स्वतन्त्र पाँच ज्ञान हैं॥१६॥

मति आदि पाँचों का मिला हुआ एक पिण्ड होकर एक ज्ञान है। इस प्रकार के अनिष्ट अर्थ हो जाने की शंका नहीं करना चाहिए, क्योंकि पाँचों में से प्रत्येक में ज्ञान शब्द का भोजन क्रिया कराने के समान चारों ओर से सम्बन्ध है। यह कहना युक्तियों से रहित नहीं है, क्योंकि सुवर्णत्व, मृत्तिकात्व आदि के समान सामान्य पदार्थ अपने विशेषों में व्याप्त हैं। जिस प्रकार सुवर्ण के विशेष परिणाम कड़े, कुंडल आदि में सामान्य रूप से सुवर्णपना प्रत्येक में सब ओर से संबद्ध है अर्थात् कड़े में सोना है, कुंडल में सोना है इत्यादि। उसी प्रकार **मति ज्ञान है, श्रुत भी ज्ञान है, अवधि भी एक ज्ञान विशेष है एवं मन:पर्ययरूप ज्ञान है, केवल भी ज्ञान है। इन विशेष-विशेष ज्ञानों में भी सामान्य ज्ञानपने का सम्बन्ध हैं। इसमें कोई अन्तर नहीं है।**

केवलं ज्ञानमित्यपि विशेषाभावात्। सामान्यबहुत्वमेवं स्यादिति चेत्, कथंचिन्नानिष्टं सर्वथा सामान्यैकत्वे अनेकत्वस्वाश्रये सकृद्वृत्तिविरोधादेकपरमाणुवत्। क्रमशस्तत्र तद्वृत्तौ सामान्याभावप्रसंगात् सकृदनेकाश्रयवर्तिनः सामान्यस्योपगमात्। न चैकस्य सामान्यस्य कथंचिद्बहुत्वमुपपत्तिविरुद्धं बहुव्यक्तितादात्म्यात्। यमात्मानं पुरोधाय तस्य व्यक्तिस्तादात्म्यं यं च तादात्म्यं तौ चेद्भिन्नौ भेद एव, नो चेदभेद एवेत्यपि ब्रुवाणो अनभिज्ञ एव। यमात्मानमासृत्य भेदः संव्यवह्रियते स एव हि भेदो नान्यः, यं चात्मानमवलंब्याभेदव्यवहारः स एवाभेद इति तत्प्रतिपत्तौ कथंचिद्भेदाभेदौ प्रतिपन्नावेव तदप्रतिपत्तौ किमाश्रयोऽयमुपालंभः स्यात् प्रतिपत्तिविषयः। पराभ्युपगमाश्रय इति चेत् स यदि तवात्रासिद्धः कथमाश्रयितव्यः। अथ सिद्धः कथमुपालंभो विवादाभावात्।

"प्रत्येक विशेष में पूर्णरूप से व्यापक सामान्य भी बहुत हो जाएंगे। ऐसा कहने पर जैन कहते हैं कि इस प्रकार सामान्य का कथंचित् बाहुल्य हमको अनिष्ट नहीं है।

सभी प्रकार सामान्य (जाति) का एकत्व मानने पर एक निरंश सामान्य का अनेक अपने आश्रयों में एक ही समय पूर्ण रूप से वर्तन का विरोध होता है, जैसे एक परमाणु का एक समय अनेक स्थानों पर रहने का विरोध है। यदि उन अनेक आश्रयों में रहने वाले उस सामान्य की क्रमवार वृत्ति मानी जाती है, तो सामान्य के अभाव का प्रसंग आता है। क्योंकि, वैशेषिकों ने एक ही समय अनेक आश्रयों में ठहरने वाला सामान्य पदार्थ स्वीकार किया है।(जो नित्य है, एक है और सकृत् अनेक में अनुगतरूप से रहता है, वह सामान्य है किन्तु, जैन सिद्धान्त में सदृश परिणाम और ऊर्ध्वअंश परिणाम को सामान्य माना गया है) वह सामान्य व्यक्तियों से (विशेष) कथंचित् अभिन्न है। एक सामान्य का बहुत व्यक्तियों के साथ तादात्म्य हो जाने के कारण कथंचित् बहुतपना विरुद्ध नहीं है।

जिस स्वरूप को आगे करके उस सामान्य का व्यक्ति से विशेष से तादात्म्य नहीं है, और जिस स्वरूप की अपेक्षा सामान्य का व्यक्तियों के साथ तादात्म्य है, यदि सामान्य और विशेष दोनों परस्पर भिन्न है, तब तो सामान्य और व्यक्तियों में भेद ही रहेगा। यदि वे दोनों स्वरूप परस्पर अभिन्न हैं तो सामान्य और विशेष व्यक्तियों में सर्वथा अभेद ही होगा-इस प्रकार कहने वाला भी जैन सिद्धान्त को समझने वाला नहीं है क्योंकि जिस स्वरूप का आश्रय लेकर भेद का व्यवहार किया जाता है वह स्वरूप ही भेदरूप है।

अन्य धर्म और धर्मी भेद रूप नहीं है, तथा जिस आत्मस्वरूप का अवलम्ब लेकर व्यक्ति और सदृशपरिणामों का अभेद व्यवहार किया जाता है वही अभेद है उनका अन्य शरीर अभेद रूप नहीं है अर्थात्-भेद अभेद तो आपेक्षिक धर्म हैं। इस प्रकार उनकी प्रतीति होने पर कथंचित् भेद और कथंचित् अभेद समझना चाहिए। यदि उन स्वरूपों की प्रतिपत्ति नहीं हुई तो किसका आश्रय लेकर यह उलाहना देना प्रतिपत्ति का विषय हो सकेगा ?

यदि सर्वथा भेदवादी या अभेदवादी यों कहें कि हमने जैनों के माने हुए कथंचित् भेद-अभेद का आश्रय लेकर भेद-अभेद को जानकर ही उलाहना दिया है तो हम कहेंगे कि जैनों का वह मत स्वीकार करना यदि तुमको इस प्रकरण में असिद्ध है, तब तो वह कैसे आश्रयणीय हो सकेगा ? जैनों के वहाँ इष्ट किये गये कथंचित् भेद अभेद की स्वीकृति को यदि सिद्ध मानोगे, तो वह उलाहना कैसे हुआ? क्योंकि प्रमाणसिद्ध

अथ परस्य वचनादभ्युपगमः सिद्धः स तु सम्यग्मिथ्या चेति विवादसद्भावादुपालंभः श्रेयान् दोषदर्शनात्। गुणदर्शनात् क्वचित्समाधानवदिति चेत्, कस्य पुनर्दोषस्यात्र दर्शनं? अनवस्थानस्येति चेन्न, तस्य परिहृतत्वात्। विरोधस्येति चेन्न, प्रतीतौ सत्यां विरोधस्यानवतारात्। संशयस्येति चेन्न, चलनाभावात्। वैयधिकरणस्यापि न दर्शनं, सामान्यविशेषात्मनोरेकाधिकरणतयावसायात्। संकरव्यतिकरयोरपि न तत्र दर्शनं तद्व्यतिरेकेणैव प्रतीतेः। मिथ्याप्रतीतिरियमिति चेन्न, सकलबाधकाभावात्। विशेषमात्रस्य सामान्यमात्रस्य वा परिच्छेदकप्रत्ययः बाधकमिति चेन्न, तस्य जातुचित्तदपरिच्छेदित्वात् सर्वजात्यंतरस्य सामान्यविशेषात्मनो वस्तुनस्तत्र प्रतिभासनात्। प्रत्यक्षपृष्ठभाविनि विकल्पे तथा प्रतिभासनं न प्रत्यक्षे निर्विकल्पात्मनीति चेन्न, तस्यासिद्धत्वात् सर्वथा निर्विकल्पस्य निराकरिष्यमाणत्वात्। अनुमानं बाधकमिति चेन्न, तस्य विशेषमात्रग्राहिणोऽभावात्

पदार्थ में किसी को विवाद नहीं हुआ करता है। अथवा दूसरे जैनों के कथन मात्र से उनके स्वीकार करने से सिद्ध मान लिया है, तो भी वह समीचीन या मिथ्या है? इसमें विवाद का सद्भाव है अतः दोषों के दृष्टिगोचर होने से उलाहना देना ठीक ही है। जैसे गुणों के दिखजाने से कहीं समाधान करना श्रेष्ठ हो जाता है तो इस प्रकार किसी के कहने पर जैनाचार्य कहते हैं कि फिर कौन से दोष इस कथंचित् भेद अभेद में दृष्टिगोचर होते हैं ? अनवस्था दोष का सद्भाव है-यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि उस अनवस्था दोष का परिहार पहिले प्रकरणों में किया जा चुका है।

सामान्य और विशेष में कथंचित् एकत्व और अनेकत्व की सिद्धि

कथंचित् भेद अभेद में विरोधदोष का सद्भाव है, यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि दोनों धर्मों की एक स्थान में प्रतीति होने पर विरोध दोषों का अवतार नहीं होता है। भेद अभेद के अनेकान्त में संशय दोष का सद्भाव है-यह भी कथन ठीक नहीं है, क्योंकि एक धर्मी में चलायमान दो आदि वस्तुओं की प्रतिपत्ति कर लेना संशयज्ञान है किन्तु यहाँ कथंचित् भेद अभेद में प्रतिपत्तियों का चलितपना नहीं है। इसमें वैयधिकरण दोष का भी दर्शन नहीं है। क्योंकि सामान्यरूप विशेषरूप का एक अधिकरण में रहनेपने करके निर्णय हो रहा है, उन भेद-अभेदों में दोनों धर्मों की युगपत् प्राप्ति हो जाना रूप संकर और परस्पर में धर्मों का विषय गमनरूप व्यतिकर दोष भी दृष्टिगोचर नहीं होते हैं, क्योंकि उन संकीर्ण और व्यतिकीर्णरूप से अतिरिक्तस्वरूप से कथंचित् भेद अभेद की प्रतीति होती है। यह प्रतीति मिथ्या है ऐसा भी नहीं कहना चाहिए, क्योंकि इसमें सम्पूर्ण बाधक प्रमाणों का अभाव है। कथंचित् सामान्य विशेष में एकत्व है, सर्वथा नहीं।

केवल विशेष का और अकेले सामान्य का परिच्छेद करने वाला ज्ञान बाधक है। ऐसा भी नहीं कहना क्योंकि वह समीचीन ज्ञान कभी भी उन अकेले सामान्य वा विशेष का परिच्छेद करने वाला नहीं है। उस प्रतीति में तो सम्पूर्ण एकान्तों से निराली ही जाति वाली सामान्य, विशेष आत्मक वस्तु का प्रतिभास होता है। बौद्ध यदि कहें कि सर्वथा भेद अभेद से विलक्षण कथंचित् भेद अभेद आत्मक सामान्य विशेष रूप पदार्थ का प्रतिभास प्रत्यक्ष प्रमाण के पीछे होने वाले झूठे विकल्प ज्ञान में होता है। अर्थात् ठीक वस्तु को जानने वाले निर्विकल्पस्वरूप प्रत्यक्ष ज्ञान में तो सामान्य विशेष आत्मक वस्तु प्रतिभासित नहीं होती है। - ऐसा कहना संगत नहीं। क्योंकि, वह निर्विकल्पक प्रत्यक्ष असिद्ध है। सभी प्रकार के ज्ञानों के निर्विकल्पक होने का भविष्य ग्रन्थ में हम निराकरण करने वाले हैं। सभी ज्ञान साकार होने से ही सविकल्प हैं।

सामान्यमात्रग्राहिवत्। सामान्यविशेषात्मन एव जात्यंतरस्यानुमानेन व्यवस्थितेः। यथा हि। सामान्यविशेषात्मकमखिलं वस्तु, वस्त्वन्यथानुपपत्तेः। वस्तुत्वं हि तावदर्थक्रियाव्याप्तं सा च क्रमयौगपद्याभ्यां, ते च स्थितिपूर्वापरभावत्यागोपादानाभ्यां, ते च सामान्यविशेषात्मकत्वेन सामान्यात्मनोपाये स्थित्यसंभवात्। विशेषात्मनोसंभवे पूर्वापरस्वभावत्यागोपादानस्यानुपपत्तेः। तदभावे क्रमयौगपद्यायोगादनयोरर्थक्रियानवस्थितेः न कस्यचित्सामान्यैकांतस्य विशेषैकांतस्य वा वस्तुत्वं नाम खरविषाणवत्। न हि सामान्यं विशेषनिरपेक्षं कांचिदप्यर्थक्रियां संपादयति, नापि विशेषः सामान्यनिरपेक्षः, सुवर्णसामान्यस्य कंटकादिविशेषाश्रयस्यैवार्थक्रियायामुपयुज्यमानत्वात् कटकादिविशेषस्य च सुवर्णसामान्यानुगतस्यैवेति सकलाविकलजनसाक्षिकमवसीयते। तद्वदिह ज्ञानसामान्यस्य मत्यादिविशेषाक्रांतस्य स्वार्थक्रियायामुपयोगो मत्यादिविशेषस्य च ज्ञानसामान्यान्वितस्येति युक्ता ज्ञानस्य मत्यादिषु प्रत्येकं परिसमाप्तिः। ततश्च मत्यादिसमूहो

सामान्य, विशेष आत्मक वस्तु को जानने वाले ज्ञान का बाधक प्रमाण अनुमान है-ऐसा नहीं कहना। क्योंकि केवल विशेषों को ग्रहण करने वाले अनुमान ज्ञान का अभाव है, जैसे कि केवल सामान्य को ही ग्रहण करने वाले अनुमान का अभाव है प्रत्युत सर्वथाभेद अभेदों से भिन्न तीसरी जाति वाले सामान्य विशेष आत्मक ही वस्तु की अनुमान प्रमाण करके ग्रहण व्यवस्था है। जैसे सम्पूर्ण वस्तुएँ सामान्य और विशेष अंशों के साथ तदात्मक हैं, अन्यथा वस्तुपना नहीं बन सकता है।

वस्तुपना अर्थकियारूप साध्य से व्याप्त है, और वह अर्थक्रिया अर्थ में क्रम से होती है और युगपत् होती है अतः वे अर्थक्रियायें क्रम और यौगपद्य से व्याप्त हैं तथा वे दोनों क्रमयौगपद्य भी ध्रौव्य के साथ रहने वाले पूर्वस्वभावों का त्याग और उत्तरस्वभावों का ग्रहण करने रूप परिणाम से व्याप्त हैं और वे स्थिति सहित हान उपादानत्रय भी सामान्य, विशेष, आत्मकपने के साथ व्याप्ति रखते हैं क्योंकि, वस्तु के सामान्य स्वरूप का निषेध करने पर स्थिति होना अंसभव है और वस्तु के विशेष स्वरूप को सम्भव न मानने पर पूर्व स्वभावों का त्याग और उत्तरस्वभावों की ग्राह्यता नहीं बनती है, तथा उस परिणाम के न होने पर क्रमयौगपद्य का अयोग हो जाने से केवल सामान्य और केवल विशेष में अर्थक्रिया होने की व्यवस्था नहीं होती है। इसलिए, किसी भी सामान्य एकान्त को अथवा केवल विशेष एकान्त को वस्तुपना नाम मात्र को भी नहीं है। जैसे दोनों से रहित खरविषाण अवस्तु है, उसी के समान विशेषरहित सामान्य या सामान्य रहित विशेष भी अवस्तु है (निर्विशेषं हि सामान्यं भवेत्खरविषाणवत् सामान्य रहितत्वाच्च विशेषस्तद्वदेव हि)।

विशेष निरपेक्ष सामान्य किसी भी अर्थक्रिया का संपादन नहीं कर सकता है। तथा सामान्य निरपेक्ष विशेष से भी अर्थक्रिया नहीं बन सकती है।

कड़ा आदि विशेष परिणतियों के आश्रय होते हुए ही सुवर्ण सामान्य अर्थक्रिया को करने में उपयुक्त होता है तथा कड़े, बाजू आदि विशेष भी सुवर्णपन सामान्य से अन्वित होते ही अर्थक्रिया करने में उपयोगी बनते हैं। यह अविकलरूप से सम्पूर्ण मनुष्यों की साक्षी पूर्वक निश्चित किया जाता है। उसी के समान इस प्रकरण में मति आदि का विशेषों से घिरे हुए ही ज्ञान सामान्य का प्रमितिरूप अपनी अर्थक्रिया करने में उपयोग होता है और ज्ञान सामान्य से अन्वित मति आदि विशेषों का अपनी-अपनी अर्थक्रिया करने में लक्ष्य लगता है। इस कारण कारिका के अनुसार मति, श्रुत,आदि प्रत्येक में ज्ञान शब्द का सम्बन्ध-करना चाहिए। और इससे मति, श्रुत आदि सबका समूह एक ज्ञान है यह अनिष्ट अर्थ निवृत्त हो जाता है।

ज्ञानमित्यनिष्टोर्थो निवर्तितः स्यात्। कुतोयमर्थोनिष्टः? केवलस्य मत्यादिक्षयोपशमिकज्ञानचतुष्टयासंपृक्तस्य ज्ञानत्वविरोधात्। मत्यादीनां चैकशः सोपयोगानामुक्तज्ञानांतरासंपृक्तानां ज्ञानत्वव्याघातात् तस्य प्रतीतिविरोधाच्चेति निश्चीयते। किं मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलान्येव ज्ञानमिति पूर्वावधारणं द्रष्टव्यं तानि ज्ञानमेवेति परावधारणं वा तदुभयमविरोधादित्याह —

मत्यादीन्येव संज्ञानमिति पूर्वावधारणात्। मत्यज्ञानादिषु ध्वस्तसम्यग्ज्ञानत्वमूह्यते ॥१७॥

संज्ञानमेव तानीति परस्मादवधारणात्। तेषामज्ञानतापास्ता मिथ्यात्वोदयसंसृता ॥१८॥

न ह्यत्र पूर्वापरावधारणयोरन्योन्यं विरोधोस्त्येकतरव्यवच्छेद्यस्यान्यतरेणानपहरणात्। नापि तयोरन्यतरस्य वैयर्थ्यमेकतरसाध्यव्यवच्छेद्यस्यान्यतरेणासाध्यत्वादित्यविरोध एव॥

प्रश्न : पाँचों को मिला करके एक ज्ञानपना हो जाना यह अर्थ किस कारण से अनिष्ट है ?

उत्तर : ऐसा मानने पर प्रतिपक्षी कर्मों के क्षयोपशम से उत्पन्न मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय इन चारों ज्ञानों के साथ सम्पर्क नहीं रखने वाले केवलज्ञान के ज्ञानपने का विरोध आता है अर्थात् छठे से लेकर बारहवें गुणस्थान तक किसी एक मुनिमहाराज को चारों ज्ञान लब्धिरूप से एक समय में हो सकते हैं। किन्तु ज्ञानावरण के क्षय होने पर उत्पन्न केवलज्ञान का उक्त चारों ज्ञान से साहचर्य नहीं है।

मति, श्रुत आदि एक-एक ज्ञान के उपयोग सहित अन्य श्रुत आदि ज्ञानान्तर से असंयुक्त मतिज्ञानादि एक-एक ज्ञान के ज्ञानपने का व्याघात हो जाता है। परन्तु मति आदिक एक-एक के ज्ञानपना प्रतीत हो रहा है अतः समुदित को एक ज्ञानपना प्रतीति से विरोध है, ऐसा निश्चय किया जाता है।

प्रश्न : इस सूत्र में मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल ये ही ज्ञान हैं। ऐसी पूर्व अवधारणा करना चाहिए अथवा वे मति आदि ज्ञान ही हैं? इस प्रकार एवं लगाकर अवधारणा करना आवश्यक है?

उत्तर : आचार्य कहते हैं कि ये दोनों ही अवधारणाएँ विरुद्ध न होने के कारण हमको अभीष्ट हैं। इसी को वार्तिक द्वारा कहते हैं -

मति, श्रुत आदि पाँचों ही समीचीन ज्ञान हैं। इस प्रकार पूर्व अवधारणा से कुमति, कुश्रुत और विभंग में सम्यग्ज्ञानपना नष्ट कर दिया गया है, ऐसा जानना चाहिए। तथा वे मति आदि ज्ञान सम्यग्ज्ञान ही हैं। इस प्रकार पिछली अवधारणा में मिथ्यात्व कर्म के उदय से संसरण करने वाली अज्ञानता दूर कर दी गई है, ऐसा समझ लेना चाहिए॥१७-१८॥

इस सूत्र की पूर्व अवधारणा और उत्तर अवधारणाओं का परस्पर विरोध नहीं है। क्योंकि दोनों में से एक द्वारा व्यवच्छेद को प्राप्त शेष दूसरे के द्वारा दूरीकरण नहीं होता है।

इस प्रकार इन दोनों में से किसी एक अवधारणा का व्यर्थपना भी नहीं है क्योंकि दोनों में से किसी एक के द्वारा सिद्ध किया गया व्यवच्छेद होने रूप कार्य शेष दूसरे एक के द्वारा असाध्य है। इस प्रकार दोनों एवकारों में परस्पर विरोध नहीं है अपितु अविरोध है।

किं पुनरत्र मतिग्रहणात् सूत्रकारेण कृतमित्याह;—

मतिमात्रग्रहादत्र स्मृत्यादेर्ज्ञानता गतिः। तेनाक्षमतिरेवैका ज्ञानमित्यपसारितम् ॥१९॥

सानुमानोपमाना च सार्थापत्त्यादिकेत्यपि। संवादकत्वतस्तस्याः संज्ञानत्वाविरोधतः ॥२०॥

अक्षमतिरेवैका सम्यग्ज्ञानमगौणत्वात् प्रमाणस्य नानुमानादि ततोर्थनिश्चयस्य दुर्लभत्वादिति केषांचिद्दर्शनं। सानुमानसहिता सम्यग्ज्ञानं स्वसामान्यलक्षणयोः प्रत्यक्षपरोक्षयोरर्थयोः प्रत्यक्षानुमानाभ्यामवगमात् ताभ्यां तत्परिच्छित्तौ प्रवृत्तौ प्राप्तौ च विसंवादाभावादित्यन्येषां। सैवानुमानोपमानसहिता सम्यग्ज्ञानं, उपमानाभावे तथा चात्र धूम इत्युपनयस्यानुपपत्तेरिति परेषां।

फिर इस सूत्र में मति शब्द को ग्रहण करने के लिए सूत्रकार ने क्या किया है? इस प्रकार की जिज्ञासा होने पर कहते हैं -

सूत्र में मतिज्ञान के ग्रहण से ही स्मृति, तर्क, प्रत्यभिज्ञान आदि का ज्ञानपना जान लिया जाता है इसलिए इन्द्रियों से उत्पन्न हुआ ज्ञान ही एक मतिज्ञान है; ऐसे चार्वाक के सिद्धान्त का निराकरण कर दिया गया है, तथा अनुमान सहित इन्द्रियजन्य ज्ञान (प्रत्यक्ष) ये दो ही मतिज्ञान हैं, यहाँ वैशेषिक या बौद्ध का मत भी दूर हो जाता है। अनुमान और उपमान सहित इन्द्रियजन्य मति ही प्रमाण है। अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति, शाब्द, अभाव, संभव, ऐतिह्य आदि से सहित इन्द्रियमति प्रमाण है। इस प्रकार तीन, चार, पाँच आदि प्रमाणों के मानने वाले कपिल, नैयायिक आदि का मन्तव्य भी निवारित हो जाता है। क्योंकि इनमें से किसी ने भी स्मृति या तर्कज्ञान को प्रमाण नहीं माना है किन्तु सफल प्रवृत्ति के जनकपने रूप संवादकपने से उन स्मृति आदि के भी समीचीन ज्ञानपने का कोई विरोध नहीं है। इन्द्रियजन्य मतिज्ञान में बुद्धि, स्मृति, व्याप्तिज्ञान, उपमान, वैसादृश्य ज्ञान, अर्थापत्ति आदि सब समा जाते हैं॥१९-२०॥

स्पर्शन आदि इन्द्रियों से उत्पन्न हुआ मतिज्ञान ही एक सम्यग्ज्ञान है, क्योंकि प्रमाण की मुख्यता होती है। अर्थात् संसार में प्रमाण ही तो न्यायाधीश के समान प्रधान है। अनुमान, स्मृति आदि तो प्रत्यक्ष की सहायता चाहते हैं अतः गौण होने से प्रमाण नहीं हैं तथा उन अनुमान आदि से अर्थ का निश्चय होना दुर्लभ है। ऐसा बृहस्पति मत के अनुयायियों का (चार्वाक का) दर्शन है। तथा वह इन्द्रिय प्रत्यक्ष तो अनुमान सहित होता हुआ सम्यग्ज्ञान है। स्वलक्षण रूप प्रत्यक्षयोग्य विषय की तो प्रत्यक्ष प्रमाण से ज्ञप्ति हो जाती है और सामान्यरूप परोक्ष विषय की अनुमान प्रमाण से ज्ञप्ति हो जाती है।

उन प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणों से उन स्वलक्षण और सामान्य विषयों की ज्ञप्ति, प्रवृत्ति और प्राप्ति करने में विसंवाद नहीं है। ऐसा बौद्ध का मत है। अनुमान प्रमाण और उपमान प्रमाण से सहित वह इन्द्रिय मति ही सम्यग्ज्ञान है। क्योंकि बौद्धों के सदृश यदि हम भी उपमान को न मानेंगे तो उस प्रकार "वह्नि के साथ व्याप्ति रखने वाला वैसा ही धूम यहाँ है" इस उपनय वाक्य की सिद्धि न हो सकेगी। अतः अनुमान के पाँच अवयवों में से उपनय के बिगड़ जाने पर अनुमान प्रमाण कैसे स्थित रह सकेगा?

सैवानुमानोपमानार्थापत्त्यभावसहितागमसहिता च सम्यग्ज्ञानं तदन्यतमापायेर्थापरिसमाप्तेरितीतरेषां। तन्मतिमात्रग्रहणादपसारितं। ततः स्मृत्यादीनां सम्यग्ज्ञानतावगमात् तथावधारणाविरोधात्। न च तासां प्रमाणत्वं विरुद्धं संवादकत्वाद्। दृष्टप्रमाणाद्गृहीतग्रहणादप्रमाणत्वमितिचेन्न, इष्टप्रमाणस्याप्यप्रमाणत्वप्रसंगादिति चेतयिष्यमाणत्वात्॥

श्रुता वाचात्र किं कृतमित्याह;—

श्रुतस्याज्ञानतामिच्छंस्तद्वाचैव निराकृतः। स्वार्थेक्षमतिवत्तस्य संविदित्वेन निर्णयात्॥२१॥

न हि श्रुतज्ञानमप्रमाणं क्वचिद्विसंवादादिति ब्रुवाणः स्वस्थः प्रत्यक्षादेरप्यप्रमाणत्वापत्तेः। संवादकत्वात्तस्य प्रमाणत्वे तत एव श्रुतं प्रमाणमस्तु। न हि ततोर्थं परिच्छिद्य प्रवर्तमानोर्थक्रियायां विसंवाद्यते प्रत्यक्षानुमानत इव श्रुतस्याप्रमाणतामिच्छन्नेव श्रुतवचनेन निराकृतो द्रष्टव्यः॥

अतः तीनों को प्रमाण मानना चाहिए, यह अन्य लोगों का मत है तथा अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति, अभाव और आगम सहित अक्षमति (प्रत्यक्ष) ही सम्यग्ज्ञान है, क्योंकि इन उक्त प्रमाणों में से एक के भी अभाव से ज्ञान होने रूप प्रयोजन की परिपूर्णता नहीं हो पाती है। इस प्रकार का इतर मीमांसकों का सिद्धान्त है। इस प्रकार के सब अन्य मतियों के दर्शन सम्पूर्ण (उन) मतिज्ञानों के ग्रहण करने से दूर कर दिये जाते हैं। इस प्रकार स्मृति, तर्क आदि को सम्यग्ज्ञानपने का निर्णय हो जाने से दोनों ओर के अवधारणों का कोई विरोध नहीं आता है। उन स्मृति, आदि को प्रमाणपना विरुद्ध नहीं है क्योंकि स्मृति आदि ज्ञान संवाद कराने वाले हैं। कोई कहे कि प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा गृहीत किये गये विषय का ग्रहण करने वाले होने से स्मृति, तर्क आदि को प्रमाणपना नहीं है। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार कहना उचित नहीं है क्योंकि इससे अपने-अपने इष्ट प्रमाणों को भी अप्रमाणपने का प्रसंग आता है, जो आगे स्पष्ट किया जायेगा।

श्रुत शब्द को इस सूत्र में क्यों ग्रहण किया गया है ? ऐसी जिज्ञासा होने पर आचार्य कहते हैं-

जो चार्वाक, बौद्ध, नास्तिक आदि श्रुतज्ञान का प्रमाणपना स्वीकार नहीं करते हैं, उन वादियों का उस सूत्रोक्त श्रुत शब्द से खण्डन कर दिया गया है।

इन्द्रियों से उत्पन्न हुआ प्रत्यक्षज्ञान जैसे अपने और अपने विषय के जानने में संवादी होने के कारण प्रमाणरूप माना गया है, उसी प्रकार स्व और पर पदार्थ के जानने में संवादीपन होने के कारण श्रुतज्ञान का भी प्रमाणरूप से निर्णय होता है॥२१॥

विसंवादी होने से श्रुतज्ञान अप्रमाण है। इस प्रकार कहने वाला वादी स्वस्थ नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर कहीं-कहीं विसंवाद हो जाने से प्रत्यक्षादि सभी ज्ञानों में अप्रमाणत्व का प्रंसग आयेगा और संवादकत्व होने से प्रत्यक्ष ज्ञान को प्रमाण मानने से श्रुतज्ञान को भी प्रमाण मानना पड़ेगा, क्योंकि उस श्रुतज्ञान से अर्थ को जानकर प्रवर्तने वाला पुरुष अर्थक्रिया में विसंवादी नहीं होता है, जैसे प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण से अर्थ को जानकर प्रवृत्ति करने वाले पुरुष के विसंवाद नहीं होता है। यहाँ सूत्र में श्रुतवचन से श्रुतज्ञान की अप्रमाणता को चाहने वाले पुरुष का निराकरण कर दिया है-ऐसा विचार कर लेना चाहिए, या इस विषय को स्पष्ट देख लेना चाहिए। अर्थात् श्रुतज्ञान की प्रमाणता का आगे विस्तार से कथन करेंगे उससे वा अन्य ग्रन्थों से इसे जान लेना चाहिए।

अत्रावध्यादिवचनात् किं कृतमित्याह —

जिघ्रत्यतींद्रियज्ञानमवध्यादिवचोबलात्। प्रत्याख्यातसुनिर्णीतबाधकत्वेन तद्गतेः ॥२२॥

सिद्धे हि केवलज्ञाने सर्वार्थेषु स्फुटात्मनि। कात्स्न्र्येन रूपिषु ज्ञानेष्ववधिः केन बाध्यते ॥२३॥

परचित्तागतेष्वर्थेष्वेवं संभाव्यते न किम्। मनःपर्ययविज्ञानं कस्यचित्प्रस्फुटाकृतिः ॥२४॥

स्वल्पज्ञानं समारभ्य प्रकृष्टज्ञानमंतिमम्। कृत्वा तन्मध्यतो ज्ञानतारतम्यं न हन्यते ॥२५॥

न ह्येवं संभाव्यमानमपि युक्त्यागमाभ्यामवध्यादिज्ञानत्रयमतींद्रियं प्रत्यक्षेण बाध्यते तस्य तदविषयत्वाच्च। नाप्यनुमानेनार्थापत्त्यादिभिर्वा तत एवेत्यविरोधः सिद्धः ॥

अतीन्द्रिय ज्ञान के प्रमाणपने की सिद्धि : इस सूत्र में अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान का कथन क्यों किया गया है ? -ऐसी जिज्ञासा होने पर आचार्य कहते हैं -

जो चार्वाक जड़वादी इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानते हैं, वे अतीन्द्रियप्रत्यक्ष को स्वीकार नहीं करते हैं। इस सूत्र में अवधि आदि के वचन की सामर्थ्य से अतीन्द्रिय ज्ञानों के उपादान करने की गन्ध आ रही है (सिद्ध हो जाता है) क्योंकि प्रत्याख्यात सुनिर्णीत बाधकत्व होने से अतीन्द्रिय ज्ञान की गति (ज्ञान) होती है।अर्थात् अतीन्द्रिय ज्ञान में प्रमाणपने के बाधक प्रमाण का अभाव है ॥२२॥

त्रिकाल त्रिलोकवर्ती सम्पूर्ण पदार्थों में अत्यन्त विशदस्वरूप ज्ञान करने वाले केवलज्ञान के सिद्ध हो जाने पर यथायोग्य संसारी जीव और पौद्गलिकरूपी पदार्थों में पूर्णरूप से विशद ज्ञानों में अवधिज्ञान किसके द्वारा बाधित हो सकता है ? अर्थात् सबको स्पष्ट जानने वाले केवलज्ञान के सिद्ध हो जाने पर केवल रूपीपदार्थों को स्पष्ट रूप से जानने वाला अवधिज्ञान तो सुलभता से सिद्ध हो जाता है ॥२३॥

इस प्रकार केवलज्ञान के सिद्ध हो जाने पर दूसरे के मनोगत अर्थ को जानने वाला तथा निर्मल साकार मनःपर्यय ज्ञान किसी संयमी को संभव क्यों नहीं है? ॥२४॥ अर्थात् मनःपर्यय ज्ञान भी हो सकता है।

सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीव के छह हजार बारह बार जन्म-मरण कर अन्त में तीन मोड़ा की गति से मरने का प्रकरण प्राप्त होने पर विग्रह गति के पहले समय में सबसे छोटा जघन्य ज्ञान होता है। संक्लेश की कुछ हीनता हो जाने से दूसरे समय में ज्ञान बढ़ जाता है। अक्षर के अनन्तवें भाग स्वल्पज्ञान का प्रारम्भ कर अनन्त बार छह वृद्धियों के अनुसार अन्तिम प्रकर्षता को प्राप्त केवलज्ञान तक अतिशय से उनके मध्यरूप से होने वाले ज्ञानों का तारतम्य किसी के द्वारा बाधित नहीं होता है ॥२५॥

इस प्रकार युक्ति और आगमों के द्वारा संभावित या सिद्ध अवधि आदि तीन अतीन्द्रिय ज्ञान बाह्य इन्द्रियजन्य प्रत्यक्षों के द्वारा बाधित नहीं होते हैं, क्योंकि वह इन्द्रिय प्रत्यक्ष अतींद्रिय ज्ञानों को विषय नहीं करता है। जो ज्ञान जिसको विषय नहीं करता है, वह उसका साधक या बाधक नहीं होता है तथा अनुमान प्रमाण के द्वारा अथवा अर्थापत्ति, उपमान आदि प्रमाणों के द्वारा भी अवधि आदि तीन प्रत्यक्षों को बाधा प्राप्त नहीं होती है, क्योंकि अवधि आदि ज्ञान अनुमानादि ज्ञान का विषय नहीं, इस प्रकार अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष के साथ अनुमान आदि प्रमाणों का अविरोध सिद्ध है।

कश्चिदाह, मतिश्रुतयोरेकत्वं साहचर्यादेकत्रावस्थानादविशेषाच्चेति तद्विरुद्धं साधनं तावदाह —

न मतिश्रुतयोरैक्यं साहचर्यात्सहस्थितेः। विशेषाभावतो नापि ततो नानात्वसिद्धितः ॥२६॥

साहचर्यादिसाधनं कथंचिन्नानात्वेन व्याप्तं सर्वथैकत्वे तदनुपपत्तेरिति तदेव साधयेन्मतिश्रुतयोर्न पुनः सर्वथैकत्वं तयोः कथंचिदेकत्वस्य साध्यत्वे सिद्धसाध्यतानेनैवोक्ता ॥

साहचर्यमसिद्धं च सर्वदा तत्सहस्थितिः। नैतयोरविशेषश्च पर्यायार्थनयार्पणात् ॥२७॥

सामान्यार्पणायां हि मतिश्रुतयोः साहचर्यादयो न विशेषार्पणायां पौर्वापर्यादिसिद्धेः। कार्यकारणभावादेकत्वमनयोरेवं स्यादितिचेत् न, ततोपि कथंचिद्भेदसिद्धेस्तदाह —

कार्यकारणभावात्स्यात्तयोरेकत्वमित्यपि। विरुद्धं साधनं तस्य कथंचिद्भेदसाधनात् ॥२८॥

कोई कहता है कि मतिज्ञान और श्रुतज्ञान दोनों साथ-साथ रहते हैं और एक आत्मा में दोनों *अवस्थान* करते हैं तथा दोनों में कोई विशेषता भी नहीं है अतः मति और श्रुत ज्ञान में एकपना है; नानापना सिद्ध नहीं होता है। इस प्रकार कहने पर सबसे पहले आचार्य इसे स्पष्ट करते हैं कि मति और श्रुत के अभेद को साधने वाला हेतु विरुद्ध है।

मतिज्ञान और श्रुतज्ञान में कथञ्चित् भेद है- मतिज्ञान और श्रुतज्ञान के साहचर्य से अथवा एक आत्मा में साथ-साथ स्थिति होने से एकपना भी नहीं है, तथा परस्पर में विशेषता न होने से दोनों में सिद्ध किया गया एकपना ठीक नहीं है, क्योंकि इन हेतुओं से तो अभेदपना सिद्ध नहीं होता प्रत्युत् नानापन की सिद्धि होती है ॥२६॥

मतिज्ञान और श्रुतज्ञान का ऐक्य सिद्ध करने के लिए दिये गये साहचर्य आदि हेतु तो विरुद्ध हैं। कथंचित् नानापन के साथ व्याप्त होने से उनका सर्वथा एकपना मानने पर वे सहचरपना आदि हेतु नहीं बन सकते हैं अतः वे हेतु उस कथंचित् नानापन को ही सिद्ध करते हैं, सर्वथा एकपने को नहीं, तथा उन दोनों ज्ञानों में कथंचित् एकपने को साध्य करने पर सिद्धसाध्यता है। इस कथन से कथंचित् अनेकत्व के साथ हेतुओं की व्याप्ति का समर्थन हो जाता है।

पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से विचारा जाय तो इन दोनों में सहचरता और सहस्थिति असिद्ध है (क्योंकि मतिज्ञान और श्रुतज्ञानरूप पर्यायें आत्मा में क्रम से ही होती हैं। एक समय में छद्मस्थ जीवों के दो उपयोग नहीं होते हैं) तथा मति और श्रुत में पर्यायदृष्टि से अविशेषपना भी नहीं है किन्तु अन्तर (विशेषपना) है। अर्थात् पर्याय दृष्टि से दोनों में अन्तर है ॥२६॥

सामान्य की अपेक्षा मतिश्रुत ज्ञानों में सहचरपना आदि धर्म ठहर जाते हैं, किन्तु विशेष परिणामों की विवक्षा करने पर इन दोनों में पूर्व पीछे, आदि की सिद्धि है। मतिज्ञानपूर्वक श्रुतज्ञान उत्पन्न होता है, इस प्रकार पूर्वापर पदार्थों में कार्यकारण भाव होने से इनमें एकपना है, ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि कार्यकारण भाव से भी उनमें कथंचित् भेद ही सिद्ध होता है। इसी को आचार्य स्पष्ट करते हैं -

कार्यकारण भाव होने से श्रुतज्ञान और मतिज्ञान में एकत्व है, यह हेतु भी विरुद्ध हेत्वाभास है, क्योंकि वह कार्यकारण भाव तो कथंचित् भेद को सिद्ध करता है ॥२८॥

न ह्युपादानोपादेयभाव: कथंचिद्भेदमंतरेण मतिश्रुतपर्याययोर्घटते यतोस्य विरुद्धसाधनत्वं न भवेत् कथंचिदेकत्वस्य साधने तु न किंचिदनिष्टम्॥

गोचराभेदतश्चेन्न सर्वथा तदसिद्धित:। श्रुतस्यासर्वपर्यायद्रव्यग्राहित्ववाच्यपि॥२९॥

केवलज्ञानवत्सर्वतत्त्वार्थग्राहितास्थिते:। मतेस्तथात्वशून्यत्वादन्यथा स्वमतक्षते:॥३०॥

''मतिश्रुतयोर्निबंधो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु'' इति वचनाद्गोचराभेदस्ततस्तयोरेकत्वमिति न प्रतिपत्तव्यं सर्वथा तदसिद्धे:। श्रुतस्यासर्वपर्यायद्रव्यग्राहित्ववचनेपि केवलज्ञानवत्सर्वतत्त्वार्थग्राहित्ववचनात्। ''स्याद्वादकेवलज्ञाने सर्वतत्त्वप्रकाशने'' इति तद्व्याख्यानात्। न मतिस्तस्यार्थित्वात्मिकाया: स्वार्थानुमानात्मिकायाश्च तथाभावरहितत्वात्। न हि यथा श्रुतमनंतव्यंजनपर्यायसमाक्रांतानि सर्वद्रव्याणि गृह्णाति तथाभावरहितत्वात्। स्वमतसिद्धांतेऽस्या: वर्णसंस्थानादिस्तोकपर्यायविशिष्टद्रव्यविषयतया प्रतीते:।

मतिज्ञान और श्रुतज्ञानरूप पर्यायों में कारण-कार्यरूप से उपादान-उपादेयपना कथंचित् भेद माने बिना घटित नहीं होता है जिससे कार्यकारणभाव हेतु के विरुद्ध हेत्वाभासपना न हो सके तथा कथंचित् एकपने को दोनों में सिद्ध करने पर स्याद्वादियों के यहाँ कोई अनिष्ट नहीं है।

विषय एक होने से मति और श्रुतज्ञान को एक कहना उचित नहीं है, क्योंकि उसमें सभी प्रकार के विषयों का अभेद पाया जाना असिद्ध है। अत: विषय अभेद भी हेतुस्वरूपासिद्ध नामक हेत्वाभास है। श्रुतज्ञान को असर्व पर्याय और सर्व द्रव्यों के ग्राहकपन होते हुए भी केवलज्ञान के समान सम्पूर्ण तत्त्वार्थों की ग्राहकता सिद्ध है और इस प्रकार मतिज्ञान में परोक्षरूप से सम्पूर्ण अर्थों के ग्राहकपन का अभाव है। अन्यथा ऐसा नहीं मानने पर बौद्ध, नैयायिक, मीमांसक आदि वादियों को भी जैनों के समान अपने सिद्धान्तों की क्षति प्राप्त होती है॥२९-३०॥

मतिज्ञान और श्रुतज्ञान का विषयनिबन्ध सर्वद्रव्य और द्रव्य की असर्व पर्यायों में है। इस कथन द्वारा विषय को अभेद मानकर मतिज्ञान और श्रुतज्ञान में एकपना नहीं समझना चाहिए, क्योंकि सभी प्रकार से उनमें विषयों का अभेद असिद्ध है। श्रुतज्ञान के असर्वपर्याय और सम्पूर्ण द्रव्यों के ग्राहकपन का वचन होते हुए भी केवलज्ञान के समान सम्पूर्ण तत्त्वार्थों की ग्राह्यता का वचन (कथन) है। श्री **समन्तभद्राचाय** ने **आप्तमीमांसा** में उस सूत्र की इस प्रकार व्याख्या की है कि स्याद्वाद यानी श्रुतज्ञान और केवलज्ञान दोनों ही सम्पूर्ण तत्त्वों को प्रकाशित करने वाले हैं। भेद इतना ही है कि श्रुतज्ञान परोक्ष रूप से सम्पूर्ण पदार्थों को जानता है और केवलज्ञान सम्पूर्ण पदार्थों को प्रत्यक्ष रूप से जानता है किन्तु मतिज्ञान श्रुत के सदृश नहीं है, तर्क स्वरूप अथवा स्वार्थानुमानस्वरूप उस मतिज्ञान के भी श्रुतज्ञान के समान सर्वतत्त्वों का ग्राहकपना नहीं है जिस प्रकार अनन्त व्यंजनपर्यायों से चारों ओर घिरे हुए सम्पूर्ण द्रव्यों को श्रुतज्ञान ग्रहण करता है। पर मतिज्ञान में सर्व पदार्थों को जानने के सामर्थ्य का अभाव है। अपने जैनमत के सिद्धान्त में वर्ण, रस, संस्थान आदि मोटी-मोटी थोड़ी सी पर्यायों से विशिष्ट द्रव्य के विषय से इस मतिज्ञान की प्रतीति होती है

स्वमतविरोधोपि तस्यान्यथैवावतारात् तयोरसर्वपर्यायद्रव्यविषयत्वमात्रमेव हि स्वसिद्धांते प्रसिद्धं न पुनरनंतव्यंजनपर्यायाशेषद्रव्यविषयत्वमिति तद्व्याख्यानमप्यविरुद्धमेव बाधकाभावादिति न विषयाभेदस्तदेकत्वस्य साधकः॥

इंद्रियानिंद्रियायत्तवृत्तित्वमपि साधनम्। न साधीयोप्रसिद्धत्वाच्छ्रुतस्याक्षानपेक्षणात्॥३१॥

मतिश्रुतयोरेकत्वमिंद्रियानिंद्रियायत्तवृत्तित्वादित्यपि न श्रेयः साधनमसिद्धत्वात् साक्षादक्षानपेक्षत्वाच्छ्रुतस्य, परंपरया तु तस्याक्षापेक्षत्वं भेदसाधनमेव साक्षादक्षापेक्षयोर्विरुद्धधर्माध्याससिद्धेः॥

नानिंद्रियनिमित्तत्वादीहनश्रुतयोरिह। तादात्म्यं बहुवेदित्वाच्छ्रुतस्येहाव्यपेक्षया॥३२॥

अवग्रहगृहीतस्य वस्तुनो भेदमीहते। व्यक्तमीहा श्रुतं त्वर्थान् परोक्षान् विविधानपि॥३३॥

अतः अपने मत से विरोध भी आता है परन्तु यह विरोध नहीं है क्योंकि उसका दूसरे प्रकार ही व्याख्यान द्वारा कथन है। उन मति और श्रुत दोनों के केवल असर्व पर्याय और द्रव्यों को विषय करनापन ही अपने (जैन) सिद्धान्त में प्रसिद्ध है, किन्तु फिर दोनों में अनन्त व्यंजनपर्याय और सम्पूर्ण द्रव्यों को विषय कर लेनापन नहीं माना गया है। इस प्रकार इस सूत्र का व्याख्यान करना भी अविरुद्ध ही पड़ता है। अर्थात् सर्व द्रव्य और कुछ पर्य्यायों को जानना मतिज्ञान और श्रुतज्ञान में समान है फिर भी श्रुतज्ञान के समान मतिज्ञान सूक्ष्म व्यञ्जनादि पर्यायों को जानने में समर्थ नहीं है।

बाधक प्रमाण का अभाव होने से विषय का अभेद भी उन मति, श्रुतज्ञानों के एकपन का साधक नहीं है।

मतिज्ञान और श्रुतज्ञान में अभेद सिद्ध करने के लिए दिया गया बहिरंग इन्द्रिय और अन्तरंग इन्द्रिय के आधीन होकर प्रवर्त्तना रूप हेतु भी उपयुक्त नहीं है। क्योंकि उसका पक्ष में अस्तित्व न होने से वह हेतु असिद्ध हेत्वाभास है, श्रुतज्ञान के स्पर्शन आदि बहिरंग इन्द्रियों की अपेक्षा नहीं है॥३१॥

मतिज्ञान और श्रुतज्ञान में एकपना है। इन्द्रिय और मन के आधीन होकर प्रवृत्ति करने वाला होने से, यह हेतु भी श्रेष्ठ नहीं है क्योंकि इसमें स्वरूपासिद्ध दोष है। साक्षात् अव्यवहित रूप से श्रुतज्ञान इन्द्रियों की अपेक्षा नहीं करता है। परम्परा से उस श्रुतज्ञान को बहिरंग इन्द्रियों की अपेक्षा है किन्तु इससे भेद की ही सिद्धि होती है। मतिज्ञान को साक्षात् रूप से बहिरंग इन्द्रियों की अपेक्षा है और श्रुतज्ञान को व्यवहितरूप से बहिरंग इन्द्रियों की अपेक्षा है। इस प्रकार विरुद्ध धर्मों से आरूढ़पने की सिद्धि होने से मति और श्रुत में भेद सिद्ध होता है। अतः उक्त हेतु विरुद्ध हेत्वाभास है।

इस प्रकरण में ईहामतिज्ञान और शब्दजन्य वाच्य अर्थ ज्ञान रूप श्रुतज्ञान का निमित्त कारण मन है अतः मति और श्रुत में मन के निमित्तपना होने से दोनों का तादात्म्य है-ऐसा कहना उचित नहीं है। ईहा मतिज्ञान की अपेक्षा श्रुतज्ञान बहुत अधिक विषय को जानने वाला है॥३२॥

अवग्रह से ग्रहण की गई वस्तु के विशेष अंशों में भेद को ग्रहण करने वाला ईहा ज्ञान वस्तु के केवल थोड़े भेद अंश का प्रकटरूप से ईहन करता है और श्रुतज्ञान नाना प्रकार के परोक्ष अर्थों को भी जानता है। अर्थात् एक तरफ तो बिन्दुमात्र ईहा ज्ञान का विषय और दूसरी ओर श्रुतज्ञान का समुद्र समान अपरिमित विषय। ऐसी दशा में दोनों एक हो सकते हैं ? अर्थात् नहीं॥३३॥

न हि यादृशमनिंद्रियनिमित्तत्वमीहायास्तादृशं श्रुतस्यापि। तन्निमित्तत्वमात्रं तु न तयोस्तादात्म्यगमकमविनाभावाभावात् सत्त्वादिवत्। केचिदाहुर्मतिश्रुतयोरेकत्वं श्रवणनिमित्तत्वादिति, तेपि न युक्तिवादिनः। श्रुतस्य साक्षाच्छ्रवणनिमित्तत्वासिद्धेः तस्यानिंद्रियवत्त्वादृष्टार्थसजातीयविजातीयनानार्थपरामर्शनस्वभावतया प्रसिद्धत्वात्। श्रुत्वावधारणाद्ये तु श्रुतं व्याचक्षते न ते तस्य श्रोत्रमतेर्भेदं प्रख्यापयितुमीशते। श्रुत्वावधारणाच्छ्रुतमित्याचक्षाणाः शब्दं श्रुत्वा तस्यैवावधारणं श्रुतं सप्रतिपन्नास्तदर्थस्यावधारणं तदिति प्रष्टव्याः। प्रथमकल्पनायां श्रुतस्य श्रवणमतेरभेदप्रसंगोऽशक्यप्रतिषेधः, द्वितीयकल्पनायां तु श्रोत्रमतिपूर्वमेव श्रुतं स्यान्नेंद्रियांतरमतिपूर्वं॥ तथाहि—

यद्यपि ईहा मतिज्ञान और श्रुतज्ञान दोनों ही मन से होते हैं किन्तु जिस प्रकार ईहाज्ञान का निमित्त मन को प्राप्त है, वैसा श्रुतज्ञान का निमित्तत्व मन में नहीं है। अत: केवल सामान्यरूप से उस मन का निमित्तपना मति और श्रुत के तादात्म्यकपन का गमक हेतु नहीं है। प्रकरण प्राप्त हेतु और साध्य की अविनाभावरूप व्याप्ति नहीं बनती है जैसे कि सामान्य सत्ता या द्रव्यत्व आदि हेतुओं से जड़ चेतन, आकाश, पुद्गल, मुक्त, संसारी आदि में एकपना सिद्ध नहीं होता है।

कोई वादी कहता है कि कर्ण इन्द्रिय को निमित्त पाकर मतिज्ञान और श्रुतज्ञान होते हैं, अत: इन दोनों में ऐक्यता है। ग्रन्थकार कहते हैं कि ऐसा कहने वाले वादी भी युक्तिपूर्वक कहने वाले नहीं है, क्योंकि कर्णइन्द्रियको साक्षात् निमित्त मानकर श्रुतज्ञान का उत्पन्न होना असिद्ध है।

भावार्थ : कर्ण इन्द्रियजन्य मतिज्ञान में अव्यवहित रूप से निमित्तकारण कर्ण इन्द्रिय है। बहुत से श्रुतज्ञान शब्द को सुनकर वाच्य अर्थ की ज्ञप्ति के लिए उत्पन्न होते हैं, उनमें परम्परा से कर्णइन्द्रिय कारण है। कान से शब्दों को सुनकर कर्णजन्य मतिज्ञान होता है, पश्चात् संकेत ग्रहण का स्मरण होता है, पुन: वाच्य अर्थ से होने वाला श्रुतज्ञान समझा जाता है॥ ''श्रुतमनिन्द्रियस्य''-इस सूत्रानुसार उस श्रुतज्ञान की अनिन्द्रियत्व से (यानी मन को निमित्त मानकर) उत्पन्न होना और प्रत्यक्ष से देखे नहीं गये सजातीय और विजातीय अनेक अर्थों का विचार करना रूप स्वभाव से प्रसिद्धि है।

शब्द को सुनकर निर्णय करने से श्रुतज्ञान होता है। इस प्रकार जो श्रुत का व्याख्यान करते हैं वे वादी उस श्रुतज्ञान का कर्णइन्द्रियजन्य मतिज्ञान से भेद को प्रसिद्ध कराने के लिए समर्थ नहीं हैं। उनसे पूछना चाहिए कि क्या सुनकर अवधारण करने से श्रुतज्ञान होता है ? अथवा व्यक्त करने वाले वादी शब्द को सुनकर उसी शब्द के निर्णय को श्रुतज्ञान समझ लेते हैं ? अथवा इस शब्द द्वारा कहे गये वाच्य अर्थ के निर्णय से श्रुतज्ञान का विश्वास कर रहे हैं ? प्रथम कल्पना में तो श्रुतज्ञान का कर्ण इन्द्रियजन्य मतिज्ञान से अभेद हो जाने के प्रसंग का कोई निषेध नहीं कर सकता है क्योंकि शब्दश्रवण प्रत्यक्ष मतिज्ञान है और उसी को उन्होंने श्रुतज्ञान कह दिया है। द्वितीय कल्पना स्वीकार करने पर अकेले कर्ण इन्द्रियजन्य मतिज्ञान को ही कारण मानकर श्रुतज्ञान उत्पन्न हो सकेगा। अन्य रसना घ्राण, स्पर्शन, नेत्र और मन इन्द्रिय से उत्पन्न हुए मतिज्ञानरूप कारणों से श्रुतज्ञान नहीं हो सकेगा। इसी बात को स्पष्ट किया गया है। जिनके द्वारा शब्द को सुन करके उसके वाच्य अर्थों का निश्चय ही श्रुतज्ञान माना जाता है, उनके द्वारा नेत्र आदि इन्द्रियों द्वारा उत्पन्न हुए मतिज्ञान से श्रुतज्ञान का लाभ नहीं किया जायेगा।

शब्दं श्रुत्वा तदर्थानामवधारणमिष्यते। यैः श्रुतं तैर्न लभ्येत नेत्रादिमतिजं श्रुतम्॥३४॥

यदि पुना रूपादीनुपलभ्य तदविनाभाविनामर्थानामवधारणं श्रुतमित्यपीष्यते श्रुत्वावधारणात् श्रुतमित्यस्य दृष्ट्वावधारणात् श्रुतमित्याद्युपलक्षणत्वादिति मतं तदा न विरोधः प्रतिपत्तिगौरवं न स्यात्। न चैवमपि मतेः श्रुतस्याभेदः सिद्ध्येत् तल्लक्षणभेदाच्चेत्युपसंहर्तव्यम्॥

तस्मान्मतिः श्रुताद्भिन्ना भिन्नलक्षणयोगतः। अवध्यादिवदर्थादिभेदाच्चेति सुनिश्चितम्॥३५॥

यथैव ह्यवधिमनःपर्ययकेवलानां परस्परं मतेः स्वलक्षणभेदोर्थभेदः कारणादिभेदश्च सिद्धस्तथा श्रुतस्यापीति युक्तं तस्य मतेर्नानात्वमवध्यादिवत्। ततः सूक्तं मत्यादिज्ञानपंचकम्॥

भावार्थ : देखा जाता है कि स्पर्शन इन्द्रिय से रूखे, चिकने, ठण्डे आदि को जानकर उनसे दूसरे अर्थ, ईंट, मलाई, मखमल आदि अर्थों का अंधेरे में श्रुतज्ञान हो जाता है। रसना इन्द्रिय से मीठापन आदि रस या रसवान् स्कन्धों को चखकर रसों के तारतम्यरूप अन्य पदार्थों का, पहले आम से यह अधिक मीठा आम है और अमुक आम न्यून रस वाला था आदि ज्ञान हो जाता है। इसी प्रकार प्रथम दर्शन, पुनः ईहा मतिज्ञान, पश्चात् मन से ज्ञान होता है। प्रकरण में छहों इन्द्रियों से उत्पन्न हुए मतिज्ञान के पश्चात् अर्थान्तरों का ज्ञान होना रूप श्रुतज्ञान माना गया है॥३४॥

पुनः रूप आदि को जानकर रूप, रस, स्पर्श आदि के साथ अविनाभाव रखनेवाले अन्य अर्थों का अवधारण करना भी श्रुतज्ञान इष्ट है। सुन करके अवधारण करने से श्रुतज्ञान होता है यह तो उपलक्षण है। किन्तु देख करके, स्पर्श करके, सूंघ करके, चखकरके और मानस मतिज्ञान करके भी श्रुतज्ञान होता है। इस प्रकार मन्तव्य होने से हम जैनों को कोई विरोध नहीं है। उपलक्षण मानने से प्रतिपत्ति करने में कठिनाई नहीं होती है। अन्यथा एक-एक का नाम लेने से शिष्य को समझाने में अधिक परिश्रम होता है इस प्रकार मतिज्ञान से श्रुतज्ञान का अभेद सिद्ध नहीं हो सकता, उन दोनों के लक्षण पृथक्-पृथक् हैं। इस प्रकार यहाँ चलाये गये प्रकरण का अब संकोच करना चाहिए।

भावार्थ : सुनना आदि इन्द्रियजन्य ज्ञान मतिज्ञान है और इन मतिज्ञानों से पीछे होने वाला अर्थ-निर्णय श्रुतज्ञान है। अर्थ से अर्थान्तर के ज्ञान को श्रुतज्ञान कहते हैं। जहाँ कार्यकारण की अभेद विवक्षा है वहाँ धूम से अग्नि का ज्ञान होना अभिनिबोध मतिज्ञान है और भेद विवक्षा होने पर धूम से अग्नि का ज्ञान श्रुतज्ञान है। इस प्रकार लक्षण के भेद से मतिज्ञान और श्रुतज्ञान में भेद है।

इसलिए भिन्न-भिन्न लक्षणों का सम्बन्ध होने के कारण श्रुतज्ञान से मतिज्ञान भिन्न है जैसे कि अवधि आदि ज्ञान श्रुतज्ञान से भिन्न है अथवा जैसे अवधि आदि से मतिज्ञान भिन्न है वैसे श्रुत से भी भिन्न है तथा विषयरूप अर्थ, कारण आदि के भेदों से भी मतिज्ञान से श्रुतज्ञानों का भेद है, यह बात निश्चित कर दी गई है॥३५॥

जैसे अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान का परस्पर में तथा मतिज्ञान की अपेक्षा से स्वलक्षण अर्थ भेद है अर्थात् जानने योग्य विषय का भेद है, कारण भेद अर्थात् क्षयोपशम, उत्पत्तिक्रम आदि का भेद सिद्ध है, इसी प्रकार श्रुतज्ञान का भी मतिज्ञान से स्वलक्षण आदि की अपेक्षा भेद है। अतः वह श्रुतज्ञान भी अवधि आदि के समान मतिज्ञान से भिन्न है। इसलिए उमास्वामी ने मति आदि पृथक्-पृथक् पाँच ज्ञान कहे हैं, वे युक्तिसंगत हैं।

सर्वज्ञानमनध्यक्षं प्रत्यक्षोर्थः परिस्फुटः। इति केचिदनात्मज्ञाः प्रमाणव्याहतं विदुः ॥३६॥

परोक्षा नो बुद्धिः प्रत्यक्षोर्थः स हि बहिर्देशसंबंधः प्रत्यक्षमनुभूयत इति केचित् संप्रतिपन्नास्तेप्यनात्मज्ञा प्रमाणव्याहताभिधायित्वात् ॥

प्रत्यक्षमात्मनि ज्ञानमपरत्रानुमानिकम्। प्रत्यात्मवेद्यमाहंति तत्परोक्षत्वकल्पनाम् ॥३७॥

साक्षात्प्रतिभासमानं हि प्रत्यक्षं स्वस्मिन् विज्ञानमनुमेयमपरत्र व्याहारादेरिति प्रत्यात्मवेद्यं सर्वस्य ज्ञानपरोक्षत्वकल्पनामाहंत्येव ॥ किंच—

विज्ञानस्य परोक्षत्वे प्रत्यक्षोर्थः स्वतः कथम्। सर्वदा सर्वथा सर्वः सर्वस्य न तथा भवेत् ॥३८॥

ग्राहकपरोक्षत्वेपि सर्वदा सर्वथा सर्वस्य पुंसः कस्यचिदेव स्वतः प्रत्यक्षोर्थःकश्चित्कदाचित्कथंचिदिति व्याहततरां ॥

प्रत्यक्ष अर्थ का परिस्फुट करने वाला (विशद रूप से जानने वाला) प्रत्यक्ष, अनुमान आदि सब ही ज्ञान परोक्षरूप है। अर्थात् जैनों के सिद्धांत के अनुसार सभी प्रत्यक्ष, अनुमान, संशय, विपर्यय आदि ज्ञानों का स्वांश में स्वसंवेदन प्रत्यक्ष होना हम मीमांसकों को इष्ट नहीं है-इस प्रकार कोई मीमांसक कहता है। आचार्य कहते हैं कि ज्ञानस्वरूप अपनी आत्मा को नहीं जानने वाले भी प्रमाणों से व्याघात दोष को प्राप्त होते हैं ॥३६॥

सर्व ही ज्ञान अपना संवेदन करने के लिए प्रत्यक्ष हैं इसकी सिद्धि : हमारी परोक्ष बुद्धि बहिर्देश सम्बन्धी प्रत्यक्ष अर्थ का प्रत्यक्ष अनुभव करती है, ऐसा कोई (मीमांसक) कहता है-वह भी आत्मतत्त्व को जानने वाला नहीं है क्योंकि वह प्रमाणों से व्याहत पदार्थों का कथन कर रहा है। अर्थात् इन्द्रिय प्रत्यक्ष (सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष) के द्वारा बाह्य पदार्थों को तो प्रत्यक्ष स्वीकार करते हैं और स्वसंवेदन के द्वारा आत्मा का प्रत्यक्ष अनुभव नहीं करता है, ऐसा किस प्रकार सिद्ध कर सकता है अर्थात् नहीं कर सकता है ? अपितु अपनी आत्मा का प्रत्यक्ष स्वसंवेदन होना सिद्ध है।

अपनी आत्मा में तो वह ज्ञान स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से प्रतिभासित है और दूसरे आत्माओं में उत्पन्न हुआ ज्ञान प्रत्यक्ष है, इस बात को हम अनुमान द्वारा जान लेते हैं। अतः प्रत्येक आत्मा में स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से ज्ञान का प्रत्यक्षपना ज्ञान की परोक्षपने की कल्पना को नष्ट कर देता है अतः सम्पूर्ण ज्ञान स्वांश को जानने में प्रत्यक्ष प्रमाण रूप है ॥३७॥

अपने में तो साक्षात् रूप से प्रत्यक्ष प्रतिभासमान ज्ञान है ही और दूसरों की आत्मा में अपने-अपने ज्ञान की प्रत्यक्षता हम वचनकुशलता, चेष्टा, प्रवृत्ति, स्मरण होना आदि व्यवहार से अनुमान कर लेते हैं। अतः प्रत्येक आत्मा में अपने-अपने स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से जाना गया ज्ञान सभी ज्ञानों के स्वांश में परोक्षपने की कल्पना को समूल नष्ट कर ही देता है।

अथवा, विज्ञान को सर्वथा परोक्ष मानने पर सभी जीवों के सदा,सभी प्रकार से, सम्पूर्ण पदार्थ उस प्रकार स्वतः ही प्रत्यक्ष क्यों नहीं हो जाते ?॥३८॥ पदार्थों को ग्रहण करने वाले ज्ञान का परोक्षपना होते हुए भी सदा सभी प्रकार सभी जीवों में से किसी एक जीव के किसी समय किसी प्रकार कोई एक अर्थ का ही स्वतः प्रत्यक्ष होता है, यह कहना तो पूर्वापर वचनों का प्रकृष्ट रूप से अत्यधिक व्याघात करना है।

ततः परं च विज्ञानं किमर्थमुपकल्प्यते। कादाचित्कत्वसिद्ध्यर्थमर्थज्ञप्तेर्न सा परा॥ ३९ ॥

विज्ञानादित्यनध्यक्षात् कुतो विज्ञायते परैः। लिंगाच्चेत्तत्परिच्छित्तिरपि लिंगांतरादिति॥ ४० ॥

क्वावस्थानमनेनैव तत्रार्थापत्तिराहता। अविज्ञातस्य सर्वस्य ज्ञापकत्वविरोधतः॥ ४१ ॥

स्वतः प्रत्यक्षादर्थात्परं विज्ञानं किमर्थं चोपकल्पित इति च वक्तव्यं परैः कादाचित्कत्वसिद्ध्यर्थमर्थज्ञप्तेरिति चेत्, उच्यते। न सा परा विज्ञानात् ततो नाध्यक्षा सती कुतो विज्ञातव्या? लिंगाच्चेत्तत्परिच्छित्तिरपि लिंगांतरादेव इत्येतदुपस्थापनविरोधाविशेषात्। अर्थापत्त्यंतरात्तस्य ज्ञानेनवस्थानात्।

मीमांसक के कथन में अर्थ की ज्ञप्ति यदि प्रत्यक्षरूप ज्ञान से होती है तो उससे पृथक् करणज्ञान पुनः किस प्रयोजन के लिये कल्पित किया जाता है ? यदि अर्थज्ञप्ति के कभी-कभी होने की सिद्धि के लिए प्रमाणात्मक करणज्ञान एक द्वार माना गया है तो वह अर्थज्ञप्ति तो ज्ञान से भिन्न कोई अलग वस्तु नहीं है। यदि परोक्ष करणज्ञान से प्रत्यक्षज्ञप्ति को भिन्न माना जाएगा तो वह दूसरों के द्वारा कैसे जानी जा सकेगी ? यदि किसी अविनाभावी हेतु से उस अर्थज्ञप्ति का ज्ञान करोगे तो उस हेतु का ज्ञान भी अन्य हेतुओं से जाना जा सकेगा और उन तीसरे हेतुओं का ज्ञान भी चौथे आदि हेतुओं से ज्ञात होगा। इस प्रकार कहाँ अवस्थिति होगी ? ऐसे तो अनवस्था दोष हो जायेगा। इस कथन से अर्थापत्ति के द्वारा हेतुओं का ज्ञान मानने पर अनवस्था हो जाने के कारण वहाँ अर्थापत्ति भी नहीं हो सकती। नहीं जाने हुए सब ज्ञापकों को ज्ञापकपन का विरोध है॥३९-४०-४१॥

भावार्थ : 'नाज्ञातं ज्ञापकं'। अर्थज्ञप्ति और उसको जताने वाले हेतु ज्ञापक हैं। अतः उनका ज्ञान होना आवश्यक है। कारक हेतु तो अज्ञात होकर भी कार्य को कर देता है, किन्तु ज्ञापक हेतु तो ज्ञात होकर ही अन्य पदार्थ को समझाता है, अन्यथा नहीं।

जब अर्थ अपने आप ही प्रत्यक्ष होता है, तो उससे भिन्न परोक्षविज्ञान किसलिए कल्पित किया गया है ? इसका प्रतिपक्षी मीमांसकों द्वारा स्पष्टीकरण होना चाहिए। यदि अर्थ की ज्ञप्ति की सिद्धि के लिए कदाचित् परोक्षज्ञान की कल्पना करते हो तो वह अर्थ से अपृथक्भूत अर्थज्ञप्ति परोक्षरूप विज्ञान से अभिन्न अनध्यक्ष होती हुई वह अर्थज्ञप्ति फिर किससे जानने योग्य है ? यदि हेतु से उस अर्थज्ञप्ति का ज्ञान करोगे तो उस ज्ञापक हेतु की ज्ञप्ति भी अन्य लिंग से ही होगी और उस लिंग की भी अन्य हेतुओं से ज्ञप्ति होगी। इस प्रकार यह अनेक हेतुमालाओं के उठाने से विरोध उपस्थित होगा क्योंकि, नहीं जाना गया पना सब हेतुओं में विशेषता रहित है। यदि अन्य अर्थापत्तियों से उसका ज्ञान करोगे तो अनवस्था दोष आयेगा अतः ज्ञान का स्वतः प्रत्यक्ष होना माना जाना चाहिए। ज्ञान जब घट, पट आदि को जानता है, तभी अपनी उन्मुखता से स्वयं को भी जानता है।

एतेनोपमानादेस्तद्विज्ञानेप्यनवस्थानमुक्तं सादृश्यादेरज्ञातस्योपमानाद्युपजनकत्वासंभवात् ज्ञानेप्युपमानांतरादिपरिकल्पनस्यावश्यंभावित्वात्। तदेवं प्रमाणविरुद्धं संविदंतोऽनात्मज्ञा एव॥

ज्ञाताहं बहिरर्थस्य सुखादेश्चेति निर्णयात्। स्वसंवेद्यत्वतः पुंसो न दोष इति चेन्मतम्॥४२॥

स्वसंवेद्यांतरादन्यद्विज्ञानं किं करिष्यते। करणेन विना कर्तुः कर्मणि व्यावृतिर्न चेत्॥४३॥

स्वसंवित्तिक्रिया न स्यात् स्वतः पुंसोर्थवित्तिवत्। यदि स्वात्मा स्वसंवित्तावात्मनः करणं मतम्॥४४॥

स्वार्थवित्तौ तदेवास्तु ततो ज्ञानं स एव नः। प्रत्यक्षं वा परोक्षं तज् ज्ञानं द्वैविध्यमस्तु ते॥४५॥

न सर्वथा प्रतिभासरहितत्वात् परोक्षं ज्ञानं करणत्वेन प्रतिभासनात्। केवलं कर्मत्वेनाप्रतिभासमानत्वात् परोक्षं तदुच्यत इति कश्चित् तं प्रत्युच्यते —

इस कथन से उपमान, व्याप्तिज्ञान आदि से उन लिंगो का ज्ञान करने पर भी अनवस्था दोष कह दिया गया समझ लेना चाहिए क्योंकि उपमान ज्ञान का जनक सादृश्य प्रत्यभिज्ञान है। व्याप्तिज्ञान के जनक उपलम्भ अनुपलम्भ है। संकेत ग्रहण किया गया शब्द आगम का जनक है। इन सबको जानने की आवश्यकता है तभी उपमान आदि ज्ञान प्रवृत्त होते हैं। सादृश्य आदि को बिना जाने उपमान आदि की जानकारी असम्भव है। इस कारण उन सादृश्य आदि को जानने में भी अन्य उपमान आदि की कल्पना अवश्य होगी और अनवस्था दोष आयेगा। अतः इस प्रकार प्रमाण से विरुद्ध पदार्थों की सम्प्रतिपत्ति करने वाले मीमांसक अनात्मज्ञ ही हैं अर्थात् स्वयं अपने को भी नहीं जानते हैं।

"बहिरंग घट, पट आदि अर्थ और सुख, इच्छा, ज्ञान आदि अंतरंग अर्थों का मैं ज्ञाता हूँ" इस प्रकार निर्णय हो जाने से आत्मा का स्वसंवेदन प्रत्यक्ष ज्ञान से अनुभव में आता है, इसमें कोई दोष नहीं है अर्थात् प्रत्यक्ष आत्मा से घट,पट आदि अर्थों की प्रत्यक्ष ज्ञप्ति हो जाना निर्दोष है॥४२॥

ऐसा मानने पर तो स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से जाने गये अन्तरंग प्रत्यक्षस्वरूप आत्मा से पृथक् विज्ञान क्या करेगा ? यानी जब आत्मा प्रत्यक्षरूप से निरन्तर प्रतिभासित है तो करणज्ञान मानना व्यर्थ है॥४३॥

यदि कहें कि कर्त्ता आत्मा करण के बिना कर्म करने में व्यापार नहीं करता है तो आत्मा की अर्थवेदन के समान स्वयं स्व को जानने की क्रिया न हो सकेगी। यानी, अर्थ के वेदन में आत्मा को जैसे करण ज्ञान की अपेक्षा है वैसे ही स्वयं अपने को जानने के लिए भी पृथक् करणज्ञान की अपेक्षा होगी और फिर उस करणज्ञान वाले कर्त्ता आत्मा को भी स्व के जानने के लिए अन्य करणज्ञान की आकांक्षा होगी। इस प्रकार एक शरीर में अनेक प्रमाता मानने पड़ेंगे और अनवस्था भी हो जायेगी। यदि आत्मा का स्व की संवित्ति करने में स्वयं आत्मा ही करण है, ऐसा माना जाता है तब तो स्व और अर्थ की ज्ञप्ति में भी वही आत्मा करण हो जायेगी। वही आत्मा तो हम स्याद्वादियों के यहाँ ज्ञान स्वरूप है और वह ज्ञान प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से दो प्रकार का है॥४४-४५॥

सर्वथा प्रतिभासों से रहित होने के कारण ज्ञान परोक्ष है, ऐसा नहीं कहना चाहिए। क्योंकि करण रूप से प्रमाणज्ञान का प्रतिभास होता है। केवल कर्म रूप से प्रतिभासमान नहीं होने के कारण वह करणज्ञान परोक्ष कहा जाता है, इस प्रकार कोई मीमांसक कहता है। उसके प्रति आचार्य कहते हैं –

कर्मत्वेनापरिच्छित्तिरप्रत्यक्षं यदीष्यते। ज्ञानं तदा परो न स्यादध्यक्षस्तत एव ते॥४६॥

यदि पुनरात्मा कर्तृत्वेनेव कर्मत्वेनापि प्रतिभासतां विरोधाभावादेव। ततः प्रत्यक्षमस्तु अर्थो अनंशत्वान्न ज्ञानं कारणं कर्म च विरोधादित्याकूतं, तत एवात्मा कर्ता कर्म च माभूदित्यप्रत्यक्ष एव स्यात्॥

तथास्त्विति मतं ध्वस्तप्रायं न पुनरस्य ते। स्वविज्ञानं ततोध्यक्षमात्मवदवतिष्ठते॥४७॥

अप्रत्यक्षः पुरुष इति मतं प्रायेणोपयोगात्मकात्मप्रकरणे निरस्तमिति नेह पुनर्निरस्यते। ततः प्रत्यक्ष एव कथंचिदात्माभ्युपगंतव्यः। तद्विज्ञानं प्रत्यक्षमिति व्यवस्थाश्रेयसी प्रतीत्यनतिक्रमात्॥

प्रत्यक्षं स्वफलज्ञानं करणं ज्ञानमन्यथा। इति प्राभाकरी दृष्टिः स्वेष्टव्याघातकारिणी॥४८॥

प्रमिति के कर्मपने से ज्ञान पदार्थ की परिच्छित्ति न होने से ही यदि ज्ञान को अप्रत्यक्ष माना जाता है,तब तो तुम्हारे मत में कर्मपने से भिन्न कर्त्ता आत्मा का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं हो सकेगा॥४६॥

यदि फिर कर्त्तापन के समान कर्मपने से भी आत्मा का प्रतिभास हो जाता है तो उसमें कोई विरोध नहीं है। विरोधाभाव से आत्मा का प्रत्यक्ष अर्थ हो जाता है। किन्तु ज्ञान तो निरंश पदार्थ है,अतः विरोध होने के कारण वह ज्ञान करण और कर्म दोनों नहीं हो सकता है। जो अर्थ कर्म है वह करण नहीं है और जो ज्ञान करण है वह कर्म नहीं हो सकता है। मीमांसकों ऐसी चेष्टा होने पर जैन कहते हैं कि इस प्रकार से आत्मा भी कर्त्ता और कर्म न हो सकेंगे क्योंकि निरंश आत्मा में कर्त्तापन और कर्मपन दो विरुद्ध धर्म नहीं ठहर सकते हैं अतः आत्मा का भी प्रत्यक्षज्ञान नहीं हो सकेगा, अप्रत्यक्ष ही रहेगा।

प्रभाकर मीमांसक को आत्मा का प्रत्यक्ष न होना इष्ट है अतः वे कहते हैं कि आत्मा अप्रत्यक्ष ही बनी रहो। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह मत भी प्रायः पूर्व प्रकरणों में खण्डित कर दिया गया है। यहाँ फिर इसका निराकरण नहीं किया गया है। अतः आत्मा के समान उस आत्मा का विज्ञान भी प्रत्यक्षरूप से अवस्थित है अर्थात् सभी ज्ञान स्व को जानने में प्रत्यक्षरूप हैं॥४७॥

आत्मा प्रत्यक्ष नहीं है। इस प्रकार के मत को उपयोग स्वरूप आत्मा की सिद्धि करने वाले आद्य प्रकरण में निरस्त कर चुके हैं अतः फिर उस आत्मा के अप्रत्यक्षपने का निरास नहीं करते हैं।

भावार्थ : पहिले सूत्र के प्रकरण में "कर्तृरूपतयावित्तेः" से लेकर "कथंचिदुपयोगात्मा" इस वार्त्तिक तक मीमांसकों के प्रति आत्मा का प्रत्यक्ष होना सिद्ध कर दिया गया है अतः कथंचित् प्रत्यक्षरूप ही आत्मा स्वीकार करना चाहिए। उसका विज्ञानरूप परिणाम भी प्रत्यक्ष है। इस प्रकार व्यवस्था करना श्रेष्ठ है क्योंकि इसमें प्रतीतियों का अतिक्रमण नहीं है।

प्रमिति के जनक ज्ञान को करणज्ञान कहते हैं और उस करणज्ञान से उत्पन्न हुए अधिगम को फलज्ञान मानते हैं। आत्मा में उत्पन्न फलज्ञान का स्वयं प्रत्यक्ष हो जाता है किन्तु करणज्ञान दूसरे प्रकार का है अर्थात् करणज्ञान का प्रत्यक्ष नहीं होता है। इस प्रकार प्रभाकरों का दर्शन तो अपने ही इष्टतत्त्वों का व्याघात करने वाला है क्योंकि जैसे आत्मा में कर्मपने से परिच्छित्ति होने का अभाव है, अतः आत्मा का प्रत्यक्ष होना नहीं माना है वैसे ही आत्मा के फलज्ञान की भी यदि कर्मपने से ज्ञप्ति नहीं होती है, ऐसा माना

कर्मत्वेन परिच्छित्तेरभावो ह्यात्मनो यथा। फलज्ञानस्य तद्वच्चेत्कुतस्तस्य समक्षता ॥४९॥

तत्कर्मत्वपरिच्छित्तौ फलज्ञानांतरं भवेत्। तत्राप्येवमतो न स्यादवस्थानं क्वचित्सदा ॥५०॥

फलत्वेन फलज्ञाने प्रतीते चेत्समक्षता। करणत्वेन तद्ज्ञाने कर्तृत्वेनात्मनीष्यताम् ॥५१॥

तथा च न परोक्षत्वमात्मनो न परोक्षता। करणात्मनि विज्ञाने फलज्ञानत्ववेदिनः ॥५२॥

साक्षात्करणज्ञानस्य करणत्वेनात्मनि स्वकर्तृत्वेन प्रतीतावपि न प्रत्यक्षता, फलज्ञानस्य फलत्वेन प्रतीतौ प्रत्यक्षमिति मतं व्याहतं। ततः स्वरूपेण स्पष्टप्रतिभासमानत्वात् करणज्ञानमात्मा वा प्रत्यक्षः स्याद्वादिनां सिद्धः फलज्ञानवत् ॥

जाएगा तब उस फलज्ञान का प्रत्यक्षपना कैसे सिद्ध होगा? यदि फलज्ञान प्रत्यक्ष होता है इसलिए उस फलज्ञान में भी कर्मपने की परिच्छिति हो जाती है तब तो अर्थ के समान कर्मस्वरूप फलज्ञान का अधिगम होने रूप दूसरा फलज्ञान मानना पड़ेगा और वह फलज्ञान भी प्रत्यक्ष तभी हो सकेगा जबकि उस फलज्ञान को प्रमिति का कर्म बनाया जायेगा। इस प्रकार वहाँ भी आकांक्षा शान्त न होने से कहीं दूर चलकर भी सदा अवस्थान नहीं होगा अतः अनवस्था दोष आयेगा ॥४८-४९-५०॥

यदि अनवस्था के निवारण करने के लिए फलज्ञान की कर्मत्व से प्रतीति को न मानकर फलज्ञान के फलपने से ही प्रतीति हो जाने पर प्रत्यक्षता मान ली जाती है तो करणज्ञान की करणपने से प्रतीति हो जाने पर उसका प्रत्यक्ष होना मान लेना चाहिए तथा कर्त्तापन से आत्मा की प्रतीति हो जाने पर आत्मा का भी प्रत्यक्ष होना प्रभाकरों को इष्ट कर लेना चाहिए अर्थात् जो कर्म है, उसका ही प्रत्यक्ष होता है, ऐसा एकान्त नहीं है ॥५१॥

तथा आत्मा में परोक्षपना घटित नहीं होता है और करणस्वरूप प्रमाणज्ञान में भी परोक्षपना नहीं आता है। फलज्ञान का प्रत्यक्षवेदन मानने वाले प्रभाकर को आत्मा और करणज्ञान का स्वसंवेदन प्रत्यक्ष होना अभीष्ट करना चाहिए, कोरा आग्रह करना व्यर्थ है ॥५२॥

करणज्ञान की करणपने से और आत्मा की कर्त्तापन से साक्षात् विशद प्रतीति होने पर भी उन करणज्ञान और आत्मा का प्रत्यक्ष होना नहीं माना जाता है किन्तु फलज्ञान की फलपने से प्रतीति होने पर भी उसका प्रत्यक्ष होना पक्षपातवश मान लिया जाता है। इस प्रकार प्रभाकरों का मत व्याघात दोषयुक्त है अर्थात् प्रमिति क्रिया का कर्मपना न होने से यदि प्रमाणात्मक करणज्ञान और आत्मा प्रमाता का प्रत्यक्ष नहीं माना जाता तो फलज्ञान को भी प्रत्यक्ष होना नहीं माना जाना चाहिए, यदि फलज्ञान को प्रत्यक्ष मानते हो तो करणज्ञान और आत्मा को भी प्रत्यक्ष मानना चाहिए अन्यथा व्याघात दोष आता है। फलज्ञान के समान अपने स्वरूप का ही स्पष्ट प्रतिभास होने के कारण करणज्ञान अथवा आत्मा स्याद्वादियों के यहाँ प्रत्यक्षस्वरूप सिद्ध है (वही प्रभाकर मीमांसकों को अनुकरणीय है)

ज्ञानं ज्ञानांतराद्वेद्यं स्वात्मज्ञप्तिविरोधतः। प्रमेयत्वाद्यथा कुंभ इत्यप्यश्लीलभाषितम् ।।५३।।

ज्ञानांतरं यदा ज्ञानादन्यस्मात्तेन विद्यते। तदानवस्थितिप्राप्तेरन्यथा ह्यविनिश्चयात् ।।५४।।

अर्थज्ञानस्य विज्ञानं नाज्ञातमवबोधकम्। ज्ञापकत्वाद्यथा लिंगं लिंगिनो नान्यथा स्थितिः ।।५५।।

न ह्यर्थज्ञानस्य विज्ञानं परिच्छेदकं कारकं येनाज्ञातमपि ज्ञानांतरेण तस्य ज्ञापकं स्यात् अनवस्थापरिहारादिति चिंतितप्रायम् ।।

प्रधानपरिणामत्वात् सर्वं ज्ञानमचेतनम्। सुखक्ष्मादिवदित्येके प्रतीतेरपलापिनः ।।५६।।

चेतनात्मतया वित्तेरात्मवत्सर्वदा धियः। प्रधानपरिणामत्वासिद्धेश्चेति निरूपणात् ।।५७।।

तत्स्वार्थव्यवसायात्मज्ञानं चेतनमंजसा। सम्यगित्यधिकाराच्च संमत्यादिकभेदभृत् ।।५८।।

ज्ञान स्व और पर दोनों का जानता है। नैयायिकों का कहना है कि ज्ञान दूसरे ज्ञान से जानने योग्य है क्योंकि स्व के द्वारा स्व की ज्ञप्ति का विरोध है तथा ज्ञान प्रमेय है, जो प्रमेय होता है वह दूसरे ज्ञान के द्वारा जाना जाता है। जैसे-घट।

आचार्य कहते हैं कि यह भी कहना ठीक नहीं है क्योंकि जब दूसरे ज्ञान से प्रथम ज्ञान का संवेदन होना माना जाएगा तब तो दूसरे ज्ञान का भी तीसरे ज्ञान से वेदन माना जायेगा। इस प्रकार, संवेदन ज्ञानों की आकांक्षा बढ़ने से अनवस्था दोष की प्राप्ति होती है अन्यथा यानी अनवस्था दोष के निवारणार्थ तीसरे, चौथे आदि ज्ञानों से विशेष रूप से निश्चय भी नहीं हो सकता ।।५३-५४।।

अज्ञात विज्ञान अर्थज्ञान का बोधक नहीं होता है, क्योंकि वह ज्ञापक हेतु है, अर्थात् ज्ञात धूम हेतु अग्निसाध्य का ज्ञापक है। सभी ज्ञापक ज्ञात होते हुए ही अन्य ज्ञेयों के ज्ञापक होते हैं जैसे लिंगी के लिंग। अन्य प्रकार से व्यवस्था नहीं है अतः अनवस्था दोष हो जाने से ज्ञान दूसरे ज्ञानों से वेद्य नहीं है, किन्तु स्वसंवेद्य है, ऐसा जानना चाहिए ।।५५।।

अर्थज्ञान को जानने वाला दूसरा विज्ञान कोई कारक हेतु तो नहीं है, जिससे कि तीसरे आदि ज्ञानों से ज्ञात नहीं होता हुआ भी पहिले अर्थज्ञान का ज्ञापक हो जाता और नैयायिकों के यहाँ आने वाली अनवस्था का परिहार हो जाता किन्तु ज्ञान, शब्द, लिंग आदि तो ज्ञापक हेतु हैं। कारक हेतुओं को जानने की आवश्यकता नहीं है। अर्थात् कारक हेतु अज्ञात होकर भी कार्य निमग्न रहते हैं। किन्तु ज्ञापक हेतु ज्ञानान्तर से ज्ञात हुए ही ज्ञापक हो सकते हैं । इनको हम पूर्व प्रकरणों में कह चुके हैं।

सम्पूर्णज्ञान अचेतन है, सत्वगुण, रजोगुण और तमोगुण की साम्य अवस्थारूप प्रकृति का परिणामपना होने से। सुख, दुःख, मोह, पृथ्वी, जल आदि के समान ऐसा कहने वाले भी प्रतीति का अपलाप कर रहे हैं, क्योंकि आत्मा के समान ज्ञान का सदा चेतनपने से संवेदन हो रहा है अतः प्रधान का परिणामपना ज्ञान में असिद्ध है (और असिद्ध हेत्वाभास साध्य को सिद्ध नहीं कर पाता है। वस्तुतः ज्ञान तो आत्मा का परिणाम है ज्ञान और चैतन्य एक ही है) इन बातों का हम पहिले सूत्र के प्रकरण में निरूपण कर चुके हैं। **अपने और पर अर्थ को निश्चय स्वरूप से जानने वाला ज्ञान साक्षात् चेतनस्वरूप है।** तथा सम्यक् (उस पद) का अधिकार चले आने के कारण सम्यक् मति, सम्यक् श्रुत आदि भेदों को धारण करने वाला ज्ञान है। अर्थात् अपने और अर्थ को एक ही समय में जानने वाले मति आदि पाँच चैतन्य रूप ज्ञान हैं ।।५६-५७-५८।।

तत्प्रमाणे ॥१०॥

कुत: पुनरिदमभिधीयते —

स्वरूपसंख्ययो: केचित्प्रमाणस्य विवादिन:। तत्प्रत्याह समासेन विदधत्तद्विनिश्चयम् ॥१॥

तदेव ज्ञानमास्थेयं प्रमाणं नेंद्रियादिकम्। प्रमाणे एव तद् ज्ञानं नैकत्र्यादिप्रमाणवित् ॥२॥

प्रमाणं हि संख्यावन्निर्दिष्टमत्र तत्त्वसंख्यावद्द्विवचनान्त प्रयोगात्। तत्र तदेव मत्यादिपंचभेदं सम्यग्ज्ञानं प्रमाणमित्येकं वाक्यमिंद्रियाद्यचेतनव्यवच्छेदेन प्रमाणस्वरूपनिरूपणपरं। तन्मत्यादिज्ञानं पंचविधं प्रमाणे एवेति द्वितीयमेकत्र्यादिसंख्यांतरव्यवच्छेदेन संख्याविशेषव्यवस्थापनप्रधानमित्यत: सूत्रात्प्रमाणस्य स्वरूपसंख्याविवादनिराकरणपुर:सरनिश्चयविधानात् इदमभिधीयत एव ॥

इस प्रकार श्री उमा स्वामी आचार्य उन ज्ञानों के विधेय अंश को दिखलाने के लिए सूत्र कहते हैं-

वे पाँच प्रकार के ज्ञान ही प्रमाण हैं ॥१०॥

यह सूत्र किस कारण कहा जा रहा है? ऐसी जिज्ञासा होने पर **श्री विद्यानन्द आचार्य** कहते हैं।

प्रमाण के स्वरूप और संख्या में कोई प्रतिवादी विवाद कर रहे हैं, उनके प्रति उस प्रमाण के स्वरूप और संख्या का संक्षेप से विशेष निश्चय कराने के लिए आचार्य उमा स्वामी ने 'तत्प्रमाणे' सूत्र का कथन किया है अर्थात् तत् शब्द से पाँच समीचीन ज्ञान ही प्रमाण हैं। यह तो प्रमाण का लक्षण है और 'प्रमाणे' इस द्विवचन से प्रमाण प्रत्यक्ष और परोक्षरूप है, यह प्रमाण की संख्या का निर्णय है।

इस प्रकार एवकार लगाने से इन्द्रिय सन्निकर्ष आदि प्रमाण नहीं हैं, यह विश्वास कर लेना चाहिए तथा यह भी कि वे ज्ञान दो ही प्रमाणरूप हैं। एक, तीन, चार आदि प्रमाणों के न होने की संवित्ति कर लेना चाहिए ॥१-२॥ अर्थात् इस सूत्र में यह सूचित किया है कि ज्ञान ही प्रमाण है, सन्निकर्ष आदि प्रमाण नहीं है और उस ज्ञान के दो भेद हैं प्रत्यक्ष और परोक्ष।

इस सूत्र में तत्त्वों की संख्या के समान संख्या वाले प्रमाण का कथन किया है। (क्योंकि नपुंसक लिंग में प्रमाणशब्द का प्रथमा के द्विवचन 'औ' विभक्ति को अन्त में लगाए हुए प्रमाण पद का प्रयोग किया गया है) वही मति आदि पाँच भेद वाले सम्यग्ज्ञान प्रमाण हैं। इस प्रकार पूर्व पद में एव लगाकर एक वाक्य बनाना चाहिए जो इन्द्रिय-सन्निकर्ष, ज्ञातृव्यापार आदि अचेतन पदार्थों का व्यवच्छेद करके प्रमाण के स्वरूप को निरूपण करने में तत्पर है। तथा वे मति आदि पाँच प्रकार के ज्ञान दो भेद रूप ही हैं। इस प्रकार, उत्तर पद में एव लगाकर दूसरा वाक्य बनाना जो कि चार्वाक, सांख्य आदि के द्वारा मानी गयी एक, तीन, चार, पाँच आदि अन्य संख्याओं का निराकरण करके विशेष संख्या की व्यवस्था कराने का प्रधान कार्य कर रहा है अत: इस सूत्र द्वारा प्रमाण के स्वरूप और संख्या में पड़े हुए विवादों के निराकरणपूर्वक प्रमाण के स्वरूप का निश्चय और संख्या का विधान कर दिया गया है। अर्थात् उक्त दोनों कार्य इस सूत्र से ही हो सकते हैं, अन्यथा नहीं।

ननु प्रमीयते येन प्रमाणं तदितीरणम्। प्रमाणलक्षणस्य स्यादिंद्रियादेः प्रमाणता ॥३॥

तत्साधकतमत्वस्याविशेषात्तावता स्थितिः। प्रामाण्यस्यान्यथा ज्ञानं प्रमाणं सकलं न किम् ॥४॥

इंद्रियादिप्रमाणमिति साधकतमत्वात्सुप्रतीतौ विशेषण ज्ञानवत् यत्पुनरप्रमाणं तन्न साधकतमं यथा प्रमेयमचेतनं चेतनं वा शशधरद्वयविज्ञानमिति प्रमाणत्वेन साधकतमत्वं व्याप्तं न पुनर्ज्ञानत्वमज्ञानत्वं वा तयोः सद्भावेपि प्रमाणत्वानिश्चयादिति कश्चित् ॥

तत्रेदं चिंत्यते तावदिंद्रियं किमु भौतिकम्। चेतनं वा प्रमेयस्य परिच्छित्तौ प्रवर्तते ॥५॥

न तावद्भौतिकं तस्याचेतनत्वाद् घटादिवत्। मृतद्रव्येंद्रियस्यापि तत्र वृत्तिप्रसंगतः ॥६॥

प्रमिति प्रमाण है, ऐसे सर्वथा एकान्त का खण्डन एवं कथंचित् प्रमाण, प्रमेय, प्रमिति और प्रमाता के एकपने की सिद्धि :

शंका : जिससे प्रमा की जाय वह प्रमाण है, जिसके द्वारा पदार्थ जाने जाते हैं उसको प्रमाण कहते हैं, ऐसा लक्षण करना उपयुक्त है, जिससे इन्द्रिय, सन्निकर्ष आदि का प्रमाणपना सिद्ध हो जाता है।

ज्ञान के समान इन्द्रिय आदि के भी उस ज्ञप्तिक्रिया का प्रकृष्ट उपकारक रूप साधकतमपना अविशेष रूप से अवस्थित है। प्रमिति के साधकतमपने से ही प्रमाणपने की स्थिति है; उस से ही प्रमाण लक्षण की परिपूर्णता हो जाती है। अन्यथा प्रमाण के लक्षण में यदि ज्ञान को रख दिया जायेगा तो सभी संशय आदि ज्ञान भी क्यों नहीं प्रमाण होंगे ? अर्थात्-सकलज्ञान प्रमाण हो जायेंगे ॥३-४॥

इन्द्रिय, सन्निकर्ष आदि प्रमाण हैं। समीचीन प्रतीति करने में प्रकृष्ट उपकारक होने से, जैसे कि विशेषण का ज्ञान विशेष्य की प्रमिति कराने में साधकतम हो जाने से प्रमाण माना गया है। जो प्रमाण नहीं है, वह प्रमा का साधकतम भी नहीं है। जैसे घट आदि जड़ प्रमेय है। अथवा एक चन्द्रमा में चन्द्रद्वय का ज्ञान चेतन होता हुआ भी प्रमाण नहीं है। इस प्रकार प्रमाणपने से प्रमिति का साधकतमपना व्याप्त है, किन्तु ज्ञानपना अथवा अज्ञानपना व्याप्त नहीं है क्योंकि उनके विद्यमान होने पर भी प्रमाणपने का निश्चय नहीं होता है अर्थात् संशय, विपर्यय ये ज्ञान तो हैं, किन्तु प्रमाण नहीं हैं और जड़ घट, पट आदि अज्ञानरूप भी किसी के द्वारा प्रमाण नहीं माने गये हैं। ऐसा कोई प्रतिवादी कह रहा है।

समाधान : यहाँ पर जैनाचार्य इसका विचार करते हैं कि पौद्गलिक इन्द्रियाँ प्रमेय की परिच्छित्ति करने में प्रवर्त्त होती हैं अथवा आत्मा का परिणामरूप चेतन इन्द्रियाँ प्रमेय की परिच्छित्ति में साधकतम हैं? प्रथमपक्ष के अनुसार पौद्गलिक चक्षु आदि इन्द्रियाँ तो प्रमा की करण नहीं हैं। क्योंकि वे पट आदि जड़ पदार्थों के समान अचेतन हैं। (अचेतन पदार्थ तो परिच्छित्ति का करण नहीं हो सकता है।) अन्यथा मृतपुरुष की जड़द्रव्यस्वरूप इन्द्रियों को भी परिच्छित्ति के कराने में प्रवृत्त होने का प्रसंग आयेगा ॥५-६॥

प्रमात्राधिष्ठितं तच्चेत्तत्र वर्तेत नान्यथा। किं न स्वापाद्यवस्थायां तदधिष्ठानसिद्धितः ॥७॥

आत्मा प्रयत्नवांस्तस्याधिष्ठानान्नाप्रयत्नकः। स्वापादाविति चेत्कोयं प्रयत्नो नाम देहिनः ॥८॥

प्रमेये प्रमितावाभिमुख्यं चैतदचेतनम्। यद्यकिंचित्करं तत्र पटवत् किमपेक्षते ॥९॥

चेतनं चैतदेवास्तु भावेंद्रियमबाधितम्। यत्साधकतमं वित्तौ प्रमाणं स्वार्थयोरिह ॥१०॥

एतेनैवोत्तरः पक्षः चिंतितः संप्रतीयते। ततो नाचेतनं किंचित्प्रमाणमिति संस्थितम् ॥११॥

प्रमीयतेऽनेनेति प्रमाणमिति करणसाधनत्वविवक्षायां साधकतमं प्रमाणमित्यभिमतमेव अन्यथा तस्य करणत्वायोगात्। केवलमर्थप्रमितौ साधकतमत्वमेवाचेतनस्य कस्यचिन्न संभावयाम इति भावेंद्रियं चेतनात्मकं साधकतमत्वात् प्रमाणमुपगच्छामः। न चैवमागमविरोधः प्रसज्यते, "लब्ध्युपयोगौ भावेंद्रियं" इति वचनात् उपयोगस्यार्थग्रहणस्य प्रमाणत्वोपपत्तेः॥

प्रमिति के कर्त्ता आत्मा से अधिष्ठित होकर वे इन्द्रियाँ उस प्रमाणरूप कार्य की करने की प्रवृत्ति करती हैं अन्यथा (यानी प्रमाता के अधिकार में प्राप्त हुए बिना) वे पदार्थों को जानने को प्रवृत्त नहीं होतीं। जैसे मृत शरीर में रहने वाली इन्द्रियों की अधिष्ठाता आत्मा नहीं है अतः वे परिच्छित्तिरूप कार्य को नहीं करती हैं।

ऐसा है, तो स्वप्न, मूर्च्छा आदि अवस्थाओं में उस आत्मा के अधिष्ठातापन की सिद्धि है फिर भी उस अवस्था में इन्द्रियाँ परिच्छित्ति को क्यों नहीं करती हैं? यदि कहो कि बुद्धिपूर्वक प्रयत्न करने वाली आत्मा उनका अधिष्ठापक है, स्वप्न आदि में प्रयत्न रहित आत्मा अधिष्ठाता नहीं बनती है,अतः मूर्च्छा आदि अवस्था में इन्द्रियाँ अधिष्ठाता के पुरुषार्थ बिना प्रमिति कार्य को नहीं करती हैं तो शरीरधारी आत्मा का यह प्रयत्न क्या है ? वस्तु, प्रमेय विषय में प्रमिति को उत्पन्न करने में आत्मा का अभिमुखपना यदि प्रयत्न है, तब तो यह अभिमुखपना अचेतन है। पट के समान अचेतन पदार्थ उस परिच्छित्ति क्रिया में कुछ भी न करने से अकिंचित्कर है वह अकिंचित्कर अचेतन क्यों अपेक्षणीय होगा?

यदि आत्मा में प्रमिति के निमित्त अभिमुखपना चेतन है तब तो यह चेतन पदार्थ ही बाधारहित भाव इन्द्रिय है, जो कि चेतन स्वरूप, भाव इन्द्रियाँ यहाँ स्व और अर्थ की प्रमा करने में साधकतम हुई हैं अतः प्रमाण हैं। (इससे चेतन को ही प्रमाण मानने वाला जैन सिद्धान्त पुष्ट होता है) ॥७-८-९-१०॥

उक्त कथन से ही (यानी चेतन परिणाम को ही प्रमाणपन की पुष्टि कर देने से) दूसरा पक्ष भी विचारित कर दिया गया है, ऐसा जानना चाहिए अतः कोई भी अचेतन पदार्थ प्रमाण नहीं है, यह सिद्धान्त सिद्ध होता है॥११॥

जिसके द्वारा प्रमिति की जाती है वह प्रमाण है। इस प्रकार करण में अनट् प्रत्यय कर सिद्ध किये गये करण साधनत्व की विवक्षा होने पर वह प्रमिति क्रिया का प्रकृष्ट उपकारक साधकतम प्रमाण अभिमत ही है। अन्यथा प्रमिति का साधकतम न मानने पर उसका करणपना करना युक्त नहीं होता है। केवल यह विशेष है कि पदार्थों की प्रमिति करने में किसी भी अचेतन पदार्थ को साधकतमपना ही हमारी संभावना

अर्थग्रहणयोग्यत्वमात्मनश्चेतनात्मकम्। सन्निकर्षः प्रमाणं नः कथंचित्केन वार्यते ॥१२॥

तथापरिणतो ह्यात्मा प्रमिणोति स्वयं स्वभुः। यदा तदापि युज्येत प्रमाणं कर्तृसाधनम् ॥१३॥

संनिकर्षः प्रमाणमित्येतदपि न स्याद्वादिना वार्यते कथंचित्तस्य प्रमाणत्वोपगमे विरोधाभावात्। पुंसोऽर्थग्रहणयोग्यत्वं सन्निकर्षो न पुनः संयोगादिरिष्टः। न ह्यर्थग्रहणयोग्यतापरिणतस्यात्मनः प्रमाणत्वे कश्चिद्विरोधः कर्तृसाधनस्य प्रमाणस्य तथैव च घटनात्। प्रमात्रात्मकं च स एव प्रमाणमिति चेत्, प्रमातृप्रमाणयोः कथंचित्तादात्म्यात् ॥

प्रमाता भिन्न एवात्मप्रमाणाद्यस्य दर्शने। तस्यान्यात्मा प्रमाता स्यात् किन्न भेदाविशेषतः ॥१४॥

में नहीं आ रहा है अतः प्रमा का साधकतमपना होने के कारण चेतनस्वरूप भाव इन्द्रियों को हम प्रमाण स्वीकार करते हैं। इस प्रकार मानने पर आगम से विरोध आने का कोई प्रसंग नहीं आता है क्योंकि क्षयोपशम से उत्पन्न हुई विशुद्धिरूप लब्धि और उससे उत्पन्न हुआ निराकार दर्शन और साकार ज्ञानस्वरूप उपयोग ये भाव इन्द्रियाँ हैं, ऐसा उमास्वामी महाराज का वचन है। अर्थों को विकल्पसहित ग्रहण करने रूप ज्ञान उपयोग को प्रमाणपना सिद्ध है।

आत्मा की चेतनस्वरूप अर्थग्रहण योग्यता यदि सन्निकर्ष है तो यह सन्निकर्ष हम जैनों के यहाँ प्रमाण है। इस सन्निकर्ष का किसी भी प्रकार से किसी के द्वारा क्या निवारण किया जा सकता है? नहीं किया जा सकता तथा जब अर्थ को ग्रहण करने की योग्यतारूप परिणति से परिणमन करती हुई आत्मा स्वयं स्वतंत्र समर्थ होकर जान रही है, तब भी कर्त्ता में अनट् प्रत्यय कर साधा गया प्रमाण चेतनस्वरूप हो जाता है, अर्थात् स्वतंत्र विवक्षा में कर्तृ साधन होता है ॥१२-१३॥

सन्निकर्ष प्रत्यक्ष प्रमाण है यह मत भी स्याद्वादियों के द्वारा खण्डन नहीं किया जाता है। किसी अपेक्षा उस सन्निकर्ष को प्रमाणपन स्वीकार करने में हमें विरोध नहीं आता है। आत्मा की अर्थ को ग्रहण करने की योग्यता ही तो सन्निकर्ष है, परन्तु वैशेषिकों के द्वारा माने गये संयोग, समवाय आदि सन्निकर्ष अभीष्ट नहीं हैं। जिस समय आत्मा अर्थ के ग्रहण करने की योग्यतारूप परिणाम करता है, ऐसी आत्मा के प्रमाणपन हो जाने में कोई विरोध नहीं है। कर्तृ साधन प्रमाण भी इसी प्रकार घटित होता है।

शंका : प्रमाता आत्मा है, वही प्रमाण है ऐसा कहा गया है। अर्थात् पदार्थों को जानने वाला आत्मा ही प्रमाण है ऐसा कहने पर ज्ञान प्रमाण कैसे हो सकता है ?

समाधान : आचार्य कहते हैं कि प्रमाता और प्रमाण में किसी अपेक्षा से तादात्म्य सम्बन्ध है। अर्थात् अर्थग्रहण योग्यता परिणति से परिणाम करने वाली आत्मा स्वंतत्र प्रमाता है और उसका लब्धि और उपयोगरूप परिणाम करण रूप से प्रमाण है तथा अज्ञाननिवृत्तिरूप परिणति प्रमिति है। अपने को जानते समय स्वयं प्रमेयरूप भी है।

जिस वैशेषिक या नैयायिक के मत में प्रमाण से प्रमाता आत्मा सभी प्रकार भिन्न ही मानी जाती है उसके दर्शन में दूसरी आत्मा प्रमाता क्यों न होगी, क्योंकि भेद में कोई विशेषता नहीं है ॥१४॥

प्रमाणं यत्र संबद्धं स प्रमातेति चेन्न किम्। कायः संबद्धसद्भावात्तस्य तेन कथंचन ॥१५॥

प्रमाणफलसंबंधी प्रमातैतेन दूषितः। संयुक्तसमवायस्य सिद्धेः प्रमितिकाययोः ॥१६॥

ज्ञानात्मकप्रमाणेन प्रमित्या चात्मनः परः। समवायो न युज्येत तादात्म्यपरिणामतः ॥१७॥

ततो नात्यंतिको भेदः प्रमातुः स्वप्रमाणतः। स्वार्थनिर्णीतिरूपायाः प्रमितेश्च फलात्मनः ॥१८॥

तथा च युक्तिमत्प्रोक्तं प्रमाणं भावसाधनम्। सतोपि शक्तिभेदस्य पर्यायार्थादनाश्रयात् ॥१९॥

सर्वथा प्रमातुः प्रमितिप्रमाणाभ्यामभेदादेवं तद्विभागः कल्पितः स्यान्न पुनर्वास्तव इति न मंतव्यं, कथंचिद्भेदोपगमात्। सर्वथा तस्य ताभ्यां भेदादुपचरितं प्रमातुः प्रमितिप्रमाणत्वं न तात्त्विकमित्यपि न मंतव्यं कथंचित्तदभेदस्यापीष्टेः। तथाहि —

जिस आत्मा में समवाय सम्बन्ध से प्रमाण कहा गया है, वह प्रमाता है अन्य जिनदत्त या मनुष्य आदि प्रमाता नहीं हैं, इस प्रकार कहना उचित नहीं है क्योंकि उस ज्ञान का शरीर के साथ भी किसी अपेक्षा स्वाश्रयसंयोगसम्बन्ध विद्यमान है ऐसी दशा में वह शरीर ही प्रमाता क्यों नहीं होगा? अर्थात् अवश्य होगा ॥१५॥

इस उक्त कथन से प्रमाण और फल दोनों का सम्बन्धी आत्मा प्रमाता है।

यह भी पक्ष दूषित है क्योंकि प्रमिति और काय के भी संयुक्त-समवाय सम्बन्ध सिद्ध है। अर्थात् - काय द्रव्य का आत्मद्रव्य के साथ संयोग है और कायसंयुक्त आत्मा में प्रमिति का समवाय है अतः प्रमिति का सम्बन्ध मानने पर शरीर के प्रमाता बन जाने का निवारण वैशेषिक नहीं कर सकते हैं ॥१६॥

अथवा ज्ञानात्मक प्रमाण और प्रमिति के साथ आत्मा का तादात्म्य परिणामरूप सम्बन्ध से भिन्न कोई समवायसम्बन्ध युक्त नहीं है अर्थात् तदात्मक परिणति के अतिरिक्त कोई समवाय सिद्ध नहीं है ॥१७॥

प्रमाता का अपने प्रमाण से सर्वथा भेद नहीं है। अपना और अर्थ का निर्णय करना रूप फलस्वरूप प्रमिति का भी प्रमाता के साथ अत्यन्तरूप से भेद नहीं है तथा इसी कथन से भावसाधन प्रमाण को भी युक्ति सहित सिद्ध कर दिया गया है। विद्यमान भी भिन्न-भिन्न शक्तियों का पर्यायार्थिक नय से आश्रय नहीं करने के कारण शुद्धप्रमिति ही प्रमाण हो जाती है। इस प्रकार विवक्षा के वश प्रमाण, प्रमाता, प्रमिति और प्रमेय सब एक हो जाते हैं ॥१८-१९॥

शंका : प्रमिति और प्रमाण के साथ प्रमाता का सर्वथा अभेद मानने पर उनका प्रमिति, प्रमाण और प्रमातारूप से विभाग करना भी कल्पित ही होगा, वास्तविक नहीं ?

समाधान : ऐसा कहना भी उचित नहीं है क्योंकि स्याद्वाद में सर्वथा अभेद नहीं माना गया है, अपितु कथंचित् भेद स्वीकार किया गया है अतः प्रमिति, प्रमाण और प्रमाता तीन पृथक्-पृथक् विभाग हैं।

शंका : आत्मा का उन प्रमिति और प्रमाण के साथ सर्वथा भेद हो जाने से प्रमाता को ही प्रमितिपना और प्रमाणपना उपचरित है, प्रमाता को प्रमिति या प्रमाण से तदात्मकपना वास्तविक नहीं है।

स्यात्प्रमाता प्रमाणं स्यात्प्रमितिः स्वप्रमेयवत्। एकांताभेदभेदौ तु प्रमात्रादिगतौ क्व नः ॥२०॥

एकस्यानेकरूपत्वे विरोधोपि न युज्यते। मेचकज्ञानवत्प्रायश्चिंतितं चैतदंजसा ॥२१॥

यथैव हि मेचकज्ञानस्यैकस्यानेकरूपमविरुद्धमबाधितप्रतीत्या रूढत्वात् तथात्मनोपि तदविशेषात्। न ह्ययमात्मार्थग्रहणयोग्यतापरिणतः सन्निकर्षाख्यं प्रतिपद्यमानोप्रबाधप्रतीत्यारूढो न भवति येन कथंचित्प्रमाणं न स्यात्। नाप्ययमव्यापृतावस्थोऽर्थग्रहणव्यापारांतरस्वार्थविदात्मको न प्रतिभाति येन कथंचित्प्रमितिर्न भवेत्। न चायं प्रमितिप्रमाणाभ्यां कथंचिदर्थांतरभूतः स्वतंत्रो न चकास्ति येन प्रमाता न स्यात्॥

समाधान : यह भी नहीं कहना चाहिए, क्योंकि किसी अपेक्षा उनमें अभेद भी हमको इष्ट है। सो ही कहते हैं-

प्रमाता अपने को जानते समय जैसे स्वयं अपना प्रमेय बन जाता है, वैसे ही वह प्रमाता कथंचित् प्रमाणरूप भी है और कथंचित् प्रमितिस्वरूप भी है। प्रमाता, प्रमिति, प्रमाण और प्रमेय में एकान्तरूप से सर्वथा भेद अभेदों को हमने कहाँ माना है अर्थात् कहीं भी नहीं माना है। एक पदार्थ को अनेक रूप मानने में विरोध दोष देना भी युक्त नहीं है, क्योंकि जैसे बौद्ध या नैयायिकों द्वारा माने गये एक चित्र-ज्ञान में अनेक नील, पीत आदि आकार प्रतिभास होते हैं; उसी प्रकार एक आत्मा में वास्तविक परिणति के अनुसार प्रमेयपन, प्रमितिपन आदि स्वभाव बन जाते हैं। इस तत्त्व की हम पूर्व प्रकरण में विस्तार के साथ विचारणा या विवेचन कर चुके हैं ॥२०-२१॥

बाधा रहित प्रतीति से अनेक स्वभाव एक में आरूढ़ होने से जिस प्रकार एक चित्रज्ञान का अनेक स्वरूप होना अविरुद्ध है, उसी प्रकार एक आत्मा के भी वह अनेक रूपपना अविरुद्ध है। इन दोनों में कोई अन्तर नहीं है। तथा अर्थग्रहण योग्यतारूप परिणाम से परिणमन करती हुई यह आत्मा सन्निकर्ष इस संज्ञा को प्राप्त करती हुई निर्बाध प्रतीति से आरूढ़ नहीं हो रही है। ऐसा नहीं है जिससे कि वह विलक्षण संनिकर्ष रूप आत्मा कथंचित् प्रमाण न हो। अर्थात् आत्मा कथंचित् प्रमाण रूप भी है-क्योंकि ऐसी निर्बाध प्रतीति हो रही है। अत: कथंचित् सन्निकर्ष इस संज्ञा को आत्मा प्राप्त हो रही है।

अर्थ ग्रहण के सम्मुख होने से सन्निकर्ष प्रमाणरूप आत्मा है। तथा यह आत्मा क्रियात्मक व्यापार रूप अवस्था से रहित होकर अन्य अर्थग्रहणरूप व्यापार में स्व और अर्थ की ज्ञप्ति स्वरूप नहीं देख रही है, यह भी नहीं समझना जिससे कि वह आत्मा कथंचित् प्रमिति रूप न हो सके। अर्थात् प्रमाणात्मा ही विशेष अवस्था में प्रमितिरूप है। यह आत्मा प्रमिति और प्रमाण से कथंचित् भिन्न स्वतंत्र प्रतिभासित नहीं हो रही है। यह भी नहीं समझना जिससे कि प्रमाता न हो सके।

भावार्थ : आत्मा स्वतंत्र कर्त्ता, स्वतंत्र प्रमाता भी है।

संयोगादि पुनर्येन सन्निकर्षोऽभिधीयते। तत्साधकतमत्वस्याभावात्तस्याप्रमाणता ॥२२॥
सतींद्रियार्थयोस्तावत्संयोगे नोपजायते। स्वार्थप्रमितिरेकांतव्यभिचारस्य दर्शनात् ॥२३॥
क्षितिद्रव्येण संयोगो नयनादेर्यथैव हि। तस्य व्योमादिनाप्यस्ति न च तज्ज्ञानकारणम् ॥२४॥
संयुक्तसमवायश्च शब्देन सह चक्षुषः। शब्दज्ञानमकुर्वाणो रूपचिच्चक्षुरेव किम् ॥२५॥
संयुक्तसमवेतार्थसमवायोप्यभावयन्। शब्दत्वस्य न नेत्रेण बुद्धिं रूपत्ववित्करः ॥२६॥
श्रोत्रस्याद्येन शब्देन समवायश्च तद्विदम्। अकुर्वन्नन्त्यशब्दस्य ज्ञानं कुर्यात्कथं तु वः ॥२७॥
तस्यैवादिमशब्देषु शब्दत्वेन समं भवेत्। समवेतसमवायं सद्विज्ञानमनादिवत् ॥२८॥

सन्निकर्ष को प्रमाण मानने वाले वैशेषिक का खण्डन - जैसे वैशेषिक ने संयोग, संयुक्तसमवाय, संयुक्त-समवेतसमवाय, समवाय, समवेतसमवाय और विशेषण-विशेष्यभाव-ये छह लौकिक सन्निकर्ष कहे हैं, तथा सामान्य लक्षण, ज्ञान लक्षण और योगज लक्षण नामक इन तीन अलौकिक संनिकर्षों का कथन किया है, उन संनिकर्षों को उस प्रमा का साधकतमपना न होने के कारण प्रमाणपना नहीं है। क्योंकि इन्द्रिय और अर्थ का संयोग होते हुए भी स्व और अर्थ की प्रमा उत्पन्न नहीं होती है। अत: एकान्तरूप से सन्निकर्ष के प्रमाण कारण में व्यभिचार देखा जाता है। पृथ्वी द्रव्य के साथ चक्षु, स्पर्शन आदि इन्द्रियों का जैसा संयोग है, वैसा उन चक्षु आदिकों का आकाश, आत्मा आदि के साथ भी संयोग सम्बन्ध है किन्तु वह संयोग उन आकाश आदि के ज्ञान का कारण नहीं माना गया है। यह अन्वयव्यभिचार है॥२२-२३-२४॥

यह सन्निकर्ष साधकतम न होने से प्रमाण नहीं है क्योंकि जहाँ-जहाँ सन्निकर्ष हो वह-वह प्रमाण ऐसा सन्निकर्ष के साथ अन्वय नहीं है। चक्षु का शब्द के साथ संयुक्त समवाय सम्बन्ध है परन्तु वह संयुक्त समवाय सम्बन्ध शब्द का ज्ञान नहीं-करता हुआ चक्षु के द्वारा रूप का ही ज्ञान क्यों कर रहा है?

अर्थात् जिस प्रकार चक्षु इन्द्रिय का रूप के साथ संयुक्तसमवाय नामका परम्परा-सम्बन्ध सन्निकर्ष प्रमाण होता हुआ, रूपज्ञान का कारण है, उसी प्रकार चक्षु का शब्द के साथ भी संयुक्तसमवाय सम्बन्ध है किन्तु वह संयुक्तसमवाय जब शब्द के चाक्षुष ज्ञान को नहीं कर रहा है, तो संयुक्तसमवाय द्वारा चक्षु इन्द्रिय रूप ज्ञान क्यों कराता है? इसी प्रकार चक्षु का रूपत्व जाति के साथ संयुक्तसमवेतसमवाय है। चक्षु से संयुक्त घट है, घट में समवाय सम्बन्ध से रूप रहता है और रूप में रूपत्व जाति का समवाय है अत: चक्षु का रूपत्व के साथ संयुक्तसमवेतसमवाय सन्निकर्ष है। उसी के समान शब्दत्व के साथ भी यही सन्निकर्ष है। चक्षु से संयुक्त आकाश है आकाश में समवेत शब्द है और शब्दगुण में शब्दत्व जाति का समवाय है, फिर नेत्र के द्वारा रूपत्व की वित्ति (ज्ञान) के समान शब्दत्व की बुद्धि को वह सन्निकर्ष क्यों नहीं कराता है? ॥२५-२६॥

चौथा सन्निकर्ष कर्णविवर में रहने वाले आकाश-द्रव्यरूप श्रोत्र का शब्द गुण के साथ समवाय सम्बन्ध है, आदि में उच्चारण किये गये शब्द के साथ होने वाला समवाय उस प्रथम उच्चरित शब्द के ज्ञान को न करता हुआ, आप वैशेषिकों के यहाँ अन्तिम शब्द के ज्ञान को कैसे करा सकेगा ? जब वैशेषिकों

अंत्यशब्देषु शब्दत्वे ज्ञानमेकांततः कथम्। विदधीत विशेषस्याभावे यौगस्य दर्शने ॥२९॥

तथागतस्य संयुक्तविशेषणतया दृशा। ज्ञानेनाधीयमानेपि समवायादिवित्कुतः ॥३०॥

योग्यतां कांचिदासाद्य संयोगादिरयं यदि। क्षित्यादिवित्तदेव स्यात्तदा सैवास्तु संमता ॥३१॥

स्वात्मा स्वावृतिविच्छेदविशेषसहितः क्वचित्। संविदं जनयन्निष्टः प्रमाणमविगानतः ॥३२॥

शक्तिरिंद्रियमित्येतदनेनैव निरूपितं। योग्यताव्यतिरेकेण सर्वथा तदसंभवात् ॥३३॥

के दर्शन में ऐसी कोई विशेषता नहीं है तो फिर अन्तिम शब्दों में रहने वाले शब्दत्व का ही एकान्तरूप से ज्ञान वह सन्निकर्ष कैसे करा देगा? यहाँ चौथे पाँचवें सन्निकर्ष का अन्वयव्यभिचार है ॥२७-२८-२९॥

इस प्रकार के संयुक्त समवायादिका नेत्र के साथ संयुक्तविशेषणता सम्बन्ध करके ज्ञान द्वारा जान लेने पर भी समवाय, स्वरूप, विशेषणता आदि उत्तरोत्तर वृद्धिंगत सम्बन्धों का ज्ञान कैसे करोगे? अर्थात् जैसे कि संयोग और समवाय को सन्निकर्ष द्वारा जानना आवश्यक है, वैसे ही स्वरूपसम्बन्ध, विशेषणता सम्बन्ध आदि का जानना भी वैशेषिकों को आवश्यक हो जाएगा ॥३०॥

भावार्थ : इस कारिका में तथाभाव और तथागत दो शब्द हैं। जब तथागत शब्द का अर्थ किया जाता है तब घटगंत (घट में रहने वाले) समवाय के साथ चक्षु का संयुक्त विशेषण सम्बन्ध, रूप में रहने वाले समवाय के साथ संयुक्त समवेत विशेषण और रूपत्व जाति में रहने वाले समवाय के साथ चक्षु का संयुक्त समवेत-समवेत विशेषण का द्रव्य होने से चक्षु और घट का संयोग सम्बन्ध है। अर्थात् चक्षु संयुक्त घट में रूपगुण समवाय से है। उस रूप गुण में रूपत्व का समवाय है, रूपत्व में प्रतियोगिता सम्बन्ध से समवाय है उसको चक्षु इन्द्रिय कैसे ग्रहण करती है? उसमें स्थित रस को चक्षु इन्द्रिय ग्रहण क्यों नहीं करती है? यदि तथाभाव शब्द का अर्थ अभाव और समवाय के प्रत्यक्ष कराने में संयुक्त विशेषणता, संयुक्त समवेत विशेषणता आदि सन्निकर्ष माना जाता है तो चक्षु के साथ भूतल संयुक्त है और भूतल में घट का अभाव है। आम के रस का समवाय है रस में रूपत्व का अभाव है अतः चक्षु के द्वारा रस में संयुक्त समवेत विशेषणता सन्निकर्ष द्वारा रूपत्व का अभाव जान लिया जाता है तथा रूपत्व, रसत्व आदि में घट आदि का अभाव संयुक्त समवेत-समवेत विशेषणता सन्निकर्ष से जान लिया जाता है। इस प्रकार पदार्थों का अभाव समवाय चक्षु के द्वारा कैसे जाना जाता है? अर्थात् नहीं जाना जा सकता।

यदि सन्निकर्ष संयोग आदि किसी विशेष योग्यता को प्राप्त करके पृथ्वी, जल आदि का ज्ञान कराते हैं परन्तु वह योग्यता आकाश, रसत्व, शब्दत्व, आदि में न होने से चक्षु इन्द्रिय के द्वारा उनकी प्रमा नहीं हो पाती है। ऐसा कहते हो तब तो हम जैन कहेंगे कि वह योग्यता ही सबको स्वीकार करनी चाहिए। अपनी आत्मा ही अपने ज्ञानावरण कर्मों के क्षयोपशम विशेष से युक्त होकर किसी योग्य पदार्थ में ज्ञान को उत्पन्न कराती है उसी को निर्दोष प्रमाणभूत इष्ट किया गया है। मीमांसकों की शक्तिरूप इन्द्रियों का भी इस उक्त कथन से ही निरूपण कर दिया गया समझ लेना चाहिए क्योंकि, योग्यता से अतिरिक्त उन शक्तिरूप इन्द्रियों की सभी प्रकार से असम्भवता है वह योग्यता आत्मा की लब्धिरूप परिणति है। अतः आत्मा ही भाव इन्द्रिय सहित चक्षु आदिकों के द्वारा नियत पदार्थों को जानता है ॥३१-३२-३३॥

सन्निकर्षस्य योग्यताख्यस्य प्रमितौ साधकतमस्य प्रमाणव्यपदेश्यं प्रतिपाद्यमानस्य स्वावरणक्षयोपशमविशिष्टात्मरूपतानिरूपणेनैव शक्तेः। इंद्रियतयोपगतायास्सा निरूपिता बोद्धव्या तस्या योग्यतारूपत्वात्। ततो व्यतिरेकेण सर्वथाप्यसंभवात् सन्निकर्षवत्। न हि तद्व्यतिरेकः सन्निकर्षः संयोगादिः स्वार्थप्रमितौ साधकतमः संभवति व्यभिचारात्। तत्र करणत्वात्सन्निकर्षस्य साधकतमत्वं तद्वदिंद्रियशक्तेरपीतिचेत्, कुतस्तत्करणत्वं? साधकतमत्वादिति चेत् परस्पराश्रयदोषः। तद्भावाभावयोस्तद्वत्तासिद्धेः साधकतमत्वमित्यपि न साधीयोऽसिद्धत्वात्। स्वार्थप्रमितेः सन्निकर्षादिसद्भावेप्यभावात्, तदभावेपि च भावात् सर्वविदः। कथं वा प्रमातुरेवं साधकतमत्वं न स्यात्। न हि तस्य भावाभावयोः प्रमितेर्भावाभाववत्त्वं नास्ति? साधारणस्यात्मनो नास्त्येवेति चेत् संयोगादेरिंद्रियस्य च

प्रमिति में प्रकृष्ट साधकतम योग्यता नामक सन्निकर्ष को प्रमाण के व्यवहार को समझने वाले वादी के द्वारा स्वावरण के क्षयोपशम से विशिष्ट आत्मस्वरूप निरूपण के द्वारा इन्द्रियपन से वह शक्ति स्वीकार कर ली गई है, यह स्वयमेव निरूपण कर दिया है ऐसा समझ लेना चाहिए क्योंकि, वह शक्ति योग्यता रूप ही है। उस योग्यता से भिन्न इन्द्रिय शक्ति की सर्वथा असम्भवता है जैसे कि योग्यता के सिवाय सन्निकर्ष कोई वस्तु नहीं है। उस योग्यतारूप सन्निकर्ष से अतिरिक्त वैशेषिकों द्वारा माने गए संयोग संयुक्तसमवाय आदि सन्निकर्ष तो स्व और अर्थ की प्रमा कराने में साधकतम सम्भव नहीं है क्योंकि इसमें व्यभिचार दोष आता है अर्थात् जो-जो सन्निकर्ष होता है वह वस्तु के ज्ञान कराने में साधकतम हो, ऐसा नियम नहीं है।

जैसे उस प्रमिति में करण होने के कारण सन्निकर्ष को साधकतमपना है। उसी के समान इन्द्रिय शक्तियों को भी साधकतमपना है इस प्रकार प्रतिवादियों के कहने पर जैनाचार्य कहते हैं कि उन दोनों में करणपना कैसे है? यदि क्रियासिद्धि में प्रकृष्ट साधकतम होने से करणपना कहोगे तो अन्योन्याश्रय दोष आता है क्योंकि साधकतम होने से करणपना और करणपने से क्रिया का साधकतमपना सिद्ध होता है। अन्योन्याश्रय के निवारणार्थ उस करण के होने पर उस कार्य का होना और न होने पर उत्पन्न नहीं होने की सिद्धि से साधकतमपना कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि संयोग आदि सन्निकर्ष और इन्द्रिय शक्ति का स्व और अर्थ की प्रमिति के साथ अन्वय और व्यतिरेक सिद्ध नहीं है।

आत्मा, रस, रसत्व आदि के साथ चक्षु का संयोग, संयुक्तसमवाय, संयुक्तसमवेतसमवाय, सन्निकर्षादि होने पर भी अथवा इन्द्रिय शक्ति के विद्यमान होने पर भी स्व और अर्थ की प्रमिति हो जाने का अभाव है। तथा भूत, भविष्य, दूरवर्त्ती आदि पदार्थों के साथ सर्वज्ञ की इन्द्रियों का उन संयोग आदि सन्निकर्षों के नहीं होते हुए भी सर्वज्ञ के स्व और अर्थ की प्रमिति का सद्भाव पाया जाता है। (इसलिए सन्निकर्ष प्रमाण में अन्वय व्यभिचार और व्यतिरेक व्यभिचार दोष आते हैं।)

अथवा करण के भाव और अभाव से कार्य के भाव अभाव हो जाने से ही यदि करणपना व्यवस्थित है तो प्रमाता आत्मा को साधकतमपना क्यों नहीं होता है? अर्थात् स्वतंत्रकर्त्ता होने से आत्मास्वरूप कारण के साथ भी स्वार्थप्रमिति का अन्वय व्यतिरेक बन जाता है। उस आत्मा स्वरूप कारण के होने पर प्रमिति

साधारणस्य सा किमस्ति? तस्यासाधारणस्यास्त्येवेति चेत्, आत्मनोप्यसाधारणस्यास्तु। प्रमातुः किमसाधारणत्वमिति चेत्, सन्निकर्षादेः किम्? विशिष्टप्रमितिहेतुत्वमेवेति चेत्, प्रमातुरपि तदेव। तस्य सततावस्थायित्वात्। सर्वप्रमितिसाधारणकारणत्वसिद्धेर्न संभवतीति चेत्, तर्हि कालांतरस्थायित्वात्संयोगादेरिंद्रियस्य च तत्साधारणकारणत्वं कथं न सिद्ध्येत्? तदसंभवनिमित्तं यदा प्रमित्युत्पत्तौ व्याप्रियते तदैव सन्निकर्षादि तत्कारणं नान्यदा इत्यसाधारणमिति चेत् तर्हि यदात्मा तत्र व्याप्रियते तदैव तत्कारणं नान्यदा इत्यसाधारणो हेतुरस्तु। तथा सति तस्या नित्यत्वापत्तिरिति चेत् नो दोषोयं, कथंचित्तस्या नित्यत्वसिद्धेः सन्निकर्षादिवत्। सर्वथा कस्यचिन्नित्यत्वेऽर्थक्रियाविरोधादित्युक्तप्रायं॥

का सद्भाव, उस आत्मा के अभाव होने पर प्रमिति का अभाव नहीं है? ऐसा भी नहीं है। किन्तु आत्मा के भाव अभाव होने पर प्रमिति का भाव अभावपना है। यदि कहो कि साधारणरूप से आत्मा के भाव अभाव होने पर प्रमिति का भाव अभाव नहीं है तो क्या जिस संयोग समवाय, आदि सन्निकर्ष और कोई भी इन्द्रिय इन साधारण कारणों का ज्ञान के साथ वह भाव अभावरूप अन्वय व्यतिरेक भाव है? यदि कहो कि विशिष्ट सन्निकर्ष और असाधारण इन्द्रियों का अर्थप्रमिति के साथ भाव अभावपना है तो विशिष्ट असाधारण आत्मा के साथ भी प्रमिति का भाव अभावपना हो सकता है, तो पुनः आत्मा भी प्रमिति का असाधारण करण क्यों नहीं होगी? अर्थात् अवश्य होगी।

प्रमाता आत्मा के असाधारणपना क्या है? इस प्रकार पूछने पर हम भी प्रश्न कर सकते हैं कि सन्निकर्ष, इन्द्रियवृत्ति आदि के भी असाधारणपना क्या है? यदि वैशेषिक कहे कि प्रमिति का विशेषों से सहित हेतुपना ही सन्निकर्ष आदि की असाधारणता है, तब तो प्रमितिकर्त्ता आत्मा का भी असाधारणपना वही (यानी प्रमिति का विशिष्ट हेतुपना ही) है। यदि वैशेषिक या मीमांसक कहें कि वह नित्य आत्मा सर्वदा अवस्थित रहती है। अतः उसके सम्पूर्ण अनुमिति, उपमिति, शब्दबोधरूप प्रमितियों का साधारणरूप से कारणपना सिद्ध होने से प्रमाता को असाधारण कारणपना संभव नहीं है (विशिष्ट क्रिया को करने वाला विशेष समयवर्ती पदार्थ ही करण होता है) क्योंकि, क्रिया के अतिरिक्त अधिक देर तक रहने वाला साधारण कारण हो जाता है, तब तो बहुत देर तक ठहरने वाले होने से संयोग आदि सन्निकर्ष और इन्द्रिय को भी उस प्रमा का साधारणकारणपना क्यों नहीं सिद्ध होगा? जो उस असाधारण कारणपने के असम्भव साधारणपने का निमित्त है। यदि वैशेषिक कहे कि जब प्रमिति की उत्पत्ति में सन्निकर्ष आदि व्यापार करते हैं तभी वे उसके कारण माने जाते हैं। अन्य समयों में रहने वाले कालान्तर स्थायी सन्निकर्ष आदि कारण नहीं हैं अतः सन्निकर्ष और इन्द्रियों में असाधारणकारणपना है तो हम जैन भी कह सकते हैं कि नित्य आत्मा जिस समय उस प्रमिति को उत्पन्न करने में व्यापार कर रही है, तब वह प्रमा का कारण है। अन्य समयों में वह नित्य आत्मा कारण नहीं है। अतः सन्निकर्ष आदि के समान आत्मा भी असाधारण कारण होता है। यदि कहो कि ऐसा मान लेने पर आत्मा के अनित्यपने का प्रसंग होगा तो हम जैन कहते हैं कि यह आत्मा के अनित्य हो जाने का प्रसंग कोई दोषयुक्त नहीं है। क्योंकि, परिणामी आत्मा को सन्निकर्ष आदि के समान कथंचित्

प्रमाणं येन सारूप्यं कथ्यतेऽधिगतिः फलम्। सन्निकर्षः कुतस्तस्य न प्रमाणत्वसंमतः ॥३४॥

सारूप्यं प्रमाणमस्याधिगतिः फलं संवेदनस्यार्थरूपतां मुक्त्वार्थेन घटयितुमशक्तेः। नीलस्येदं संवेदनमिति निराकारसंविदः केनचित्प्रत्यासत्तिविप्रकर्षासिद्धेः सर्वार्थेन घटनप्रसक्तेः सर्वैकवेदनापत्तेः। करणादेः सर्वार्थसाधारणत्वेन तत्प्रतिनियमनिमित्ततानुपपत्तेरित्यपि येनोच्यते तस्य सन्निकर्षः प्रमाणमधिगतिः फलं तस्मादंतरेणार्थघटनासंभवात्। साकारस्य समानार्थसकलवेदनसाधारणत्वात् केनचित्प्रत्यासत्तिविप्रकर्षेऽसिद्धे सकलसमानार्थेन घटनप्रसक्तेः सर्वसमानार्थैकवेदनापत्तेः, तदुत्पत्तेरिंद्रियादिना व्यभिचारान्नियामकत्वायोगात्।

अनित्यपना सिद्ध है। सर्वथा आत्मा आदि किसी को भी नित्यपना मानने पर अर्थक्रिया होने का विरोध आता है। इस बात को पूर्व में हम कई बार कह चुके हैं।

जिस बौद्ध के द्वारा ज्ञान का अर्थ के आकार हो जाना प्रमाण कहा गया है और अर्थ की अधिगति प्रमाण का फल माना गया है, उसके द्वारा सन्निकर्ष भी प्रमाण क्यों नहीं माना जाता है? अर्थात् सन्निकर्ष को भी प्रमाण मानना चाहिए॥३४॥

बौद्ध कहते हैं कि ज्ञान में अर्थ का सदृश आकारसहितपना प्रमाण है। अर्थात् प्रमाणस्वरूप उस तदाकारता से ही ज्ञान नियत पदार्थों को जानता है और पदार्थ की ज्ञप्ति हो जाना प्रमाण का फल है। ज्ञान का अर्थ के साथ सम्बन्ध कराने के लिए अर्थरूपता को छोड़कर अन्य कोई समर्थ नहीं है (यानी सविकल्पक ज्ञान अर्थ के साथ निर्विकल्पक बुद्धि को तदाकारता के द्वारा जोड़ देता है) उस तदाकारता से अर्थ की ज्ञप्ति हो जाती है अतः ज्ञान में ज्ञेय अर्थ का पड़ा हुआ आकार ही प्रमाण है। यह नील का संवेदन है इत्यादि ज्ञानों में आकार पड़ जाने से ही सम्बन्धयोजक व्यवहार होता है। निराकार ज्ञान का किसी पदार्थ के साथ निकटपन और दूरपन के असिद्ध हो जाने पर सभी पदार्थों के साथ उस ज्ञान की योजना होने के कारण सभी पदार्थों का एक ज्ञान हो जाने की आपत्ति होगी अर्थात् आकार रहित ज्ञान सभी विषयों के जानने का अधिकारी हो जायेगा क्योंकि निराकार ज्ञान के लिए दूरवर्त्ती, निकटवर्त्ती और भूत, भविष्यत् के सभी पदार्थ एक से हैं, किसी के साथ कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है। ऐसी दशा में एक ही ज्ञान के द्वारा सभी पदार्थों की ज्ञप्ति हो जाने पर इन्द्रिय,मन आदि के ज्ञान में साधारण कारण हो जाने से वे उस ज्ञान का प्रतिनियम कराने के निमित्त नहीं बन सकते हैं (अतः घटज्ञान का घट ही और पटज्ञान का पट ही विषय है इसका नियम करने वाली ज्ञान में पड़ी हुई तदाकारता ही है।) आचार्य कहते हैं कि जिस बौद्ध ने यह कहा है, उसके यहाँ सन्निकर्ष प्रमाण और अधिगति उसका फल है क्योंकि उस सन्निकर्ष के बिना अर्थ के साथ ज्ञान का जुड़ना असम्भव है। (परन्तु बौद्ध सन्निकर्ष को प्रमाण नहीं मानता है।)

तथा तदाकारता को सम्पूर्ण समान अर्थों के ज्ञान कराने में साधारणपना होने के कारण किसी एक ही विवक्षित पदार्थ के साथ निकटपना और दूरपना जब सिद्ध नहीं है तो सम्पूर्ण ही ज्ञान अर्थों के साथ सम्बन्धित हो जाने का प्रसंग हो जाने से सभी समान अर्थों का एक ज्ञान हो जाने की आपत्ति आयेगी।

तदध्यवसायस्य मिथ्यात्वसमनंतरप्रत्ययेन कुतश्चित् सिते शंखे पीताकारज्ञानजनिताकारज्ञानस्य तज्जन्मादिरूपसद्भावेपि तत्र प्रमाणत्वाभावादिति कुतो न संमतं। सत्यपि सन्निकर्षेऽर्थाधिगतेरभावान्न प्रमाणमिति चेत् —

सन्निकर्षे यथा सत्यप्यर्थाधिगतिशून्यता। सारूप्येपि तथा सेष्टा क्षणभंगादिषु स्वयम्॥३५॥

यथा चक्षुरादेराकाशादिभिः सत्यपि संयोगादौ सन्निकर्षे तदधिगतेरभावस्तथा क्षणक्षयस्वर्गप्रापणशक्त्यादिभिर्दानादिसंवेदनस्य सत्यपि सारूप्ये तदधिगतेः शून्यता स्वयमिष्टैव

भावार्थ : बौद्ध यदि कहे कि हम तदुत्पत्ति को ज्ञान द्वारा नियत व्यवस्था करने में नियामक मानते हैं। अर्थात् जो ज्ञान जिस पदार्थ से उत्पन्न होगा उसी को जानेगा, अन्य को नहीं क्योंकि ज्ञान अपने उत्पादक कारणरूप विषय को जानता है। ''नाकारणं विषयः'' जो ज्ञान का कारण नहीं है वह ज्ञान का विषय नहीं है। परन्तु इस कथन में तदुत्पत्ति से इन्द्रियों के साथ व्यभिचार आता है। क्योंकि इन्द्रिय आदि से व्यभिचार हो जाने के कारण तदुत्पत्ति को नियम कराने का अयोग है।

तदध्यवसाय ज्ञान के भी नियत पदार्थों की व्यवस्था करने में नियामकपना नहीं है क्योंकि शुक्ल शंख में किसी कारणवश कामलरोग वाले पुरुष को प्रथम ही 'पीला शंख है' ऐसा मिथ्याज्ञान हुआ, उसके अनन्तर ही ज्ञान से उत्पन्न हुआ दूसरा ज्ञान हुआ, जो कि पहले ज्ञान से उत्पन्न है। पहिले ज्ञान का आकार भी उसमें है तथा पहिले ज्ञान का अध्यवसाय करने वाला भी है। अतः पहिले पीत आकार को जानने वाले ज्ञान से उत्पन्न हुए दूसरे पीत आकार वाले ज्ञान के तदुत्पत्ति, तदाकारता और तदध्यवसाय स्वरूप के विद्यमान होने पर भी उसमें प्रमाणता का अभाव है। अतः तदध्यवसाय का मिथ्याज्ञान के पीछे होने वाले ज्ञान से व्यभिचार है। इसलिए वह सम्मत कैसे नहीं है। अर्थात् सन्निकर्ष प्रमाण क्यों नहीं है?

शंका : सन्निकर्ष प्रमाण नहीं है, क्योंकि सन्निकर्ष के होने पर भी अर्थ के ज्ञान का अभाव पाया जाता है।

समाधान : जिस प्रकार सन्निकर्ष के होते हुए भी अर्थज्ञप्ति की शून्यता देखी जाती है, उसी प्रकार क्षणिकत्व आदि में तदाकारता होते हुए भी अर्थज्ञप्ति का अभाव स्वयं बौद्धों ने अभीष्ट किया है। अर्थात्- जैसे वैशेषिकों द्वारा माने गये सन्निकर्ष अन्वयव्यभिचार सहित होने से प्रमा का कारण नहीं हैं वैसे ही सारूप्य में भी अन्वयव्यभिचार आता है क्योंकि स्वलक्षण वस्तु का क्षणिकपना तदात्मक स्वरूप है अतः स्वलक्षण से उत्पन्न हुए ज्ञान में जब स्वलक्षण का आकार पड़ गया है, तो उससे अभिन्न क्षणिकपने का भी आकार पड़ चुका हैं। ऐसी दशा में क्षणिकपन का आकार होते हुए भी निर्विकल्पक ज्ञान द्वारा क्षणिकत्व की अधिगति होना बौद्धों ने स्वयं नहीं माना है॥३५॥

जिस प्रकार चक्षु आदि इन्द्रियों का आकाश, आत्मा आदि द्रव्यों के साथ संयोग सन्निकर्ष विद्यमान होने पर भी उन आकाश, आदि की अधिगति होने का अभाव है। अर्थात् चक्षु आदि से उनका ज्ञान नहीं होता है। उसी प्रकार स्वलक्षण या दाता के दान आदि को जानने वाले ज्ञान का क्षणिकत्व, स्वर्गप्रापणशक्ति,

तदालंबनप्रत्ययत्वेपि तस्य तच्छून्यतावत्। ''यत्रैव जनयेदेनां तत्रैवास्य प्रमाणता'' इति वचनात्। ततो नायं सन्निकर्षवादिनमतिशेते॥ किं च—

स्वसंविदः प्रमाणत्वं सारूप्येण विना यदि। किं नार्थवेदनस्येष्टं पारंपर्यस्य वर्जनात्॥३६॥

सारूप्यकल्पने तत्राप्यनवस्थोदिता न किम्। प्रमाणं ज्ञानमेवास्तु ततो नान्यदिति स्थितम्॥३७॥

स्वसंविदः स्वरूपे प्रमाणत्वं नास्त्येवान्यत्रोपचारादित्ययुक्तं सर्वथा मुख्यप्रमाणाभावप्रसंगात् स्वमतविरोधात्। प्रामाण्यं व्यवहारेण शास्त्रं मोहनिवर्तनमिति वचनात् मुख्यप्रमाणाभावे न स्वमतविरोधः सौगतस्येति चेत्, स्यादेवं। यदि मुख्यं प्रमाणमयं न वदेत् ''अज्ञातार्थप्रकाशो वा स्वरूपाधिगतेः परं'' इति।

नरकगमनयोग्यता आदि के साथ तदाकारपना होते हुए भी उन क्षणिकत्व आदि की अधिगति का अभाव स्वयं बौद्धों ने इष्ट ही किया है।

भावार्थ : दाता को विषय करने वाले निर्विकल्पक ज्ञान में दान का आकार पड़ जाने से उसकी तदात्मक स्वर्गप्रापणशक्ति का भी आकार उस ज्ञान में पड़ चुका है। फिर इनको जानने के लिए दूसरे अनुमान ज्ञान क्यों उठाये जाते हैं? अर्थात् तदाकारता के होने पर भी अधिगति की शून्यता देखी जाती है। जैसे उनको उस ज्ञान का आलम्बन कारण मानते हुए भी उस अधिगति की शून्यता है ''जिस विषय में निर्विकल्प बुद्धि उत्पन्न होती है उस ज्ञान में प्रमाणता है,'' यह बौद्ध का वचन है अतः यह बौद्ध सन्निकर्ष को प्रमाण कहने वाले वैशेषिकों का उल्लंघन नहीं करता है अर्थात् बौद्ध और वैशेषिकों के कथन में कोई अन्तर नहीं है। अथवा, तदाकारता के बिना भी यदि स्वसंवेदन को प्रमाण मानते हो तो अर्थज्ञान को भी तदाकारता के बिना ही प्रमाणपना क्यों न मान लिया जाता है ? इसमें परम्परा परिश्रम करना भी छूटता है, क्योंकि इसमें ज्ञान और अर्थ के बीच में तदाकारता का प्रवेश नहीं होता है। यदि स्वसंवेदन प्रत्यक्ष में भी ज्ञान का आकार पड़ना मानोगे तो उसको जानने वाले उसके स्वसंवेदन में भी तदाकारता माननी पड़ेगी और उसको भी जानने वाले तीसरे स्वसंवेदन में ज्ञान का प्रतिबिम्ब मानना पड़ेगा। इस प्रकार अनवस्था का उदय क्यों नहीं होगा? अवश्य होगा अतः ज्ञान ही प्रमाण है उससे भिन्न सन्निकर्ष, तदाकारता, इन्द्रिय आदि प्रमाण नहीं हैं, यह निश्चित स्थित है॥३६-३७॥ **बौद्ध के द्वारा स्वीकृत संवेदनाद्वैत का खण्डन -**

स्वसंवेदन प्रत्यक्ष को ज्ञान का स्वरूप जानने में प्रमाणता नहीं है अन्यत्र उपचार होने से अर्थात् उपचार से ही स्वसंवेदन प्रत्यक्ष प्रमाण है। तदाकारता न होने से वह मुख्य प्रमाण नहीं माना गया है। इस प्रकार बौद्धों का कहना भी युक्तिरहित है, क्योंकि ऐसा मानने पर मुख्य प्रमाणों के अभाव का प्रसंग आयेगा और ऐसा होने पर बौद्धों को अपने मत से विरोध आता है।

प्रमाणपना कोई वास्तविक पदार्थ नहीं है। केवल व्यवहार से प्रमाणपना मान लिया गया है तथा शास्त्र भी कोई नियत प्रमाण नहीं है। शास्त्र केवल मोह की निवृत्ति कर देता है, ऐसा हमारे ग्रन्थ में कहा है अतः मुख्य प्रमाणों के न मानने पर हमको अपने मत से कोई विरोध नहीं आता है। ऐसा कहने वाले सौगत के प्रति स्याद्वादी कहते हैं कि इस प्रकार तब हो सकता था यदि यह बौद्ध प्रमाण को न कहता किन्तु

संवेदनाद्वैताश्रयणात्। तदपि न च। तदित्येवेति चेत् न तस्य निरस्तत्वात्। किं चेदं संवेदनं सत्यं प्रमाणमेव मृषासत्यमप्रमाणं। न हि न प्रमाणं नाप्यसत्यं। सर्वविकल्पातीतत्वात् संवेदनमेवेति चेत् सुव्यवस्थितं तत्त्वं। को हि सर्वथानवस्थितात्खरविषाणादस्य विशेषः। स्वयं प्रकाशमानत्वमितिचेत् तद्यदि परमार्थसत् प्रमाणत्वमन्वाकर्षति। ततो द्वयं संवेदनं यथास्वरूपे केनचित्तदतत्स्वरूपमपि प्रमाणं तथा हि बहिरर्थे किं न भवेत् तस्य तद्व्यभिचारिणो निराकर्तुमशक्तेः। पारंपर्यं च परिहृतमेव स्यात्। संविदर्थयोरंतराले सारूप्यस्याप्रवेशात्। यदि पुनः संवेदनस्य स्वरूपसारूप्यं प्रमाणं सारूप्याधिगतिः फलमिति परिकल्प्यते तदानवस्थोदितैव। ततो ज्ञानादन्यदिंद्रियादिसारूप्यं न प्रमाणमन्यत्रोपचारादिति स्थितं ज्ञानं प्रमाणमिति॥

बौद्धों ने तो "अज्ञात अर्थ का प्रकाश करने वाला और स्वरूप की अधिगति का उत्कृष्ट कारण प्रमाण तत्त्व माना है।"

संवेदनाद्वैत का आश्रय करने से वह मुख्य प्रमाण नहीं है और न उस स्वसंवेदन को प्रमाणता है केवल वह शुद्ध संवेदन ही है। ऐसा कहना भी उचित नहीं है। क्योंकि उस संवेदन अद्वैत का पूर्व प्रकरणों में खण्डन किया जा चुका है। अथवा यह आपका माना हुआ संवेदन यदि सत्य है तब तो प्रमाण ही होगा और यदि मिथ्या होकर असत्य है तो अप्रमाण ही है (ऐसी दशा में प्रमाणपना और अप्रमाणपना कैसे मिट सकता है?)। प्रमाणपना, अप्रमाणपना, सत्यपना आदि सम्पूर्ण विकल्पों से रहित होने के कारण संवेदन तो संवेदन ही है और कुछ नहीं, इस प्रकार अद्वैतवादियों के कहने पर क्या तत्त्व सुव्यवस्थित हो जाता है? वस्तुरूप से सर्वथा अव्यवस्थित खरविषाण से इस अद्वैत संवेदन का कौनसा अन्तर है? अर्थात्-सभी विकल्पों से रहित संवेदन तो खर विषाण के समान असत् ही है। यदि कहो कि संवेदन का स्वयं प्रकाशमानपना खरविषाण से अन्तर डालने वाला है, तो वह संवेदन यदि वास्तविक सत् है, तब तो प्रमाणपने को खींच लेता है अतः अद्वैतवादियों का वह अनाकार संवेदन जैसे स्वरूप में प्रमाण है, उसी प्रकार अनाकार संवेदन बहिरंग अर्थ को जानने में भी प्रमाण क्यों नहीं हो जाता है? उससे अपने आकार का समान अर्थों से व्यभिचार रखने वाले संवेदन का निराकरण नहीं किया जा सकता है। दूसरी बात यह है कि इस परम्परा द्वारा ज्ञान होने का भी परिहार हो ही जावेगा क्योंकि ज्ञान और अर्थ के अन्तराल (मध्य) में तदाकारता का प्रवेश नहीं किया गया है।

यदि फिर संवेदन के स्वरूप में ज्ञान स्वरूप का आकार प्रमाण है और उस सारूप्य की अधिगति होना फल है, ऐसी कल्पना करते हैं तो अनवस्था दोष आता है। (अर्थात् तदाकारता की अधिगति भी साकारज्ञान द्वारा होगी और उस साकारज्ञान की तदाकारता का अधिगम भी तदाकार ज्ञान से होगा। इस प्रकार नियतव्यवस्था नहीं हो सकती है)। तथा, ज्ञान से भिन्न इन्द्रिय, सन्निकर्ष, तदाकारता आदि वास्तविक प्रमाण नहीं हैं,अपितु उपचार मात्र से प्रमाण हैं अर्थात् ज्ञान द्वारा ज्ञप्ति कराने में कुछ सहकारी हो जाने से इन्द्रिय और सन्निकर्ष को व्यवहार से प्रमाण कह दिया जाता है, अन्यथा नहीं। तब तो यह बात सिद्ध है, कि ज्ञान ही प्रमाण है। अर्थात् ज्ञान ही हित प्राप्ति और अहित परिहार कराने में समर्थ हो सकता है।

मिथ्याज्ञानं प्रमाणं न सम्यगित्यधिकारतः। यथा यत्राविसंवादस्तथा तत्र प्रमाणता ॥३८॥

यदि सम्यगेव ज्ञानं प्रमाणं तदा चंद्रद्वयादिवेदनं वावल्यादौ प्रमाणं कथमुक्तमिति न चोद्यं, तत्र तस्याविसंवादात् सम्यगेतदिति स्वयमिष्टेः। कथमियमिष्टिरविरुद्धेति चेत्, सिद्धांताविरोधात्तथा प्रतीतेश्च ॥

स्वार्थे मतिश्रुतज्ञानं प्रमाणं देशतः स्थितं। अवध्यादि तु कार्त्स्न्येन केवलं सर्ववस्तुषु ॥३९॥

स्वस्मिन्नर्थे च देशतो ग्रहणयोग्यतासद्भावात् मतिश्रुतयोर्न सर्वथा प्रामाण्यं, नाप्यवधिमनःपर्ययोः सर्ववस्तुषु केवलस्यैव तत्र प्रामाण्यादिति सिद्धांताविरोध एव ''यथा यत्राविसंवादस्तथा तत्र प्रमाणता'' इति वचनस्य प्रत्येयः। प्रतीत्यविरोधस्तूच्यते —

इस सूत्र में सम्यक् का अधिकार चला आ रहा है अतः संशय आदि मिथ्याज्ञान प्रमाण नहीं हैं क्योंकि जिस प्रकार जहाँ पर अविसंवाद है, वहाँ उस प्रकार प्रमाणपना व्यवस्थित है ॥३८॥

समीचीन ज्ञान ही यदि प्रमाण है तो बावड़ी आदि में प्रतिबिम्ब के वश हुए दो चन्द्रमा आदि का ज्ञान प्रमाण कैसे कह दिया गया है? यह समीचीन ज्ञान तो नहीं है इस प्रकार का आक्षेप नहीं करना चाहिए क्योंकि वहाँ उस ज्ञान का अविसंवाद है और अन्य वादियों ने भी 'यह ज्ञान समीचीन है', इस प्रकार विवाद किये बिना स्वयं इष्ट कर लिया है। इसमें कोई विरोध नहीं है।

शंका : इस प्रकार इष्ट करना अविरुद्ध कैसे है?

समाधान : एक पदार्थ के अनेक निमित्त मिलने पर नाना प्रतिबिम्बों के पड़ जाने में कोई सिद्धान्त से विरोध नहीं आता है इस प्रकार की प्रतीति भी होती है। दो चन्द्रमा का ज्ञान भी कथंचित् प्रमाण है, सर्वथा नहीं।

मतिज्ञान और श्रुतज्ञान अपने विषय स्व और अर्थ में एकदेश से, अवधि और मनःपर्यय अपने नियत विषयों में पूर्णपने से तथा केवलज्ञान सम्पूर्ण वस्तुओं में पूर्णरूप से विशद है, अतः पाँचों ज्ञान प्रमाणभूत हैं ॥३९॥

मतिज्ञान और श्रुतज्ञान में अपने को और अर्थ को एकदेश से ग्रहण करने की योग्यता विद्यमान हैअतः सर्वथा उनमें प्रामाण्यपना नहीं है तथा अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान में भी सभी प्रकारों से प्रमाणता नहीं है। सम्पूर्ण वस्तुओं में केवलज्ञान को ही स्व और अर्थ को जानने में प्रमाणता है अर्थात् सर्व द्रव्यों और उनकी सर्व पर्यायों को जानने की योग्यता केवलज्ञान में ही है, अन्य ज्ञानों में नहीं है अतः जैन सिद्धान्त से कोई विरोध नहीं आता है, क्योंकि जहाँ जिस प्रकार अविसंवाद है, वहाँ उस प्रकार प्रमाणता मानी जाती है, यह वचन विश्वास करने योग्य है। अर्थात् संक्षेप में यही कहना है कि मति और श्रुतज्ञान पूर्ण अंशों में प्रमाण नहीं हैं, एकदेश से प्रमाण हैं। तथा अवधि और मनःपर्यय अपने नियत विषयों में पूर्णता से प्रमाण हैं क्योंकि इनकी परतंत्रता बहुत घट गई है तथा केवलज्ञान तो कथमपि पराधीन नहीं है, अतः यह सर्वांगरूप से प्रमाण है।

जिस प्रकार जितने अंशों में ज्ञान का अविसंवाद हो, उस प्रकार उतने अंशों में प्रमाणता है। इस प्रकार की प्रतीति के अविरोध को अग्रिमकारिकाओं द्वारा कहते हैं -

अनुपप्लुतदृष्टीनां चंद्रादिपरिवेदनम्। तत्संख्यादिषु संवादि न प्रत्यासन्नतादिषु ॥४०॥

तथा ग्रहोपरागादिमात्रे श्रुतमबाधितम्। नांगुलिद्वितयादौ तन्मानभेदेऽन्यथा स्थिते ॥४१॥

एवं हि प्रतीतिः सकलजनसाक्षिका सर्वथा मतिश्रुतयोः स्वार्थे प्रमाणतां हंतीति तया तदेतत्प्रमाण-मबाधम् ॥

मनूपप्लुतविज्ञानं प्रमाणं किं न देशतः। स्वप्नादाविति नानिष्टं तथैव प्रतिभासनात् ॥४२॥

स्वप्नाद्युपप्लुतविज्ञानस्य क्वचिदविसंवादिनः प्रामाण्यस्येष्टौ तद्व्यवहारः स्यादितिचेत् —

प्रमाणव्यवहारस्तु भूयः संवादमाश्रितः। गंधद्रव्यादिवद्भूयो विसंवादं तदन्यथा ॥४३॥

जिनकी दृष्टि च्युत नहीं हुई है, ऐसे पुरुषों को चन्द्रमा आदि का परिज्ञान उनकी संख्या आदि विषयों में तो संवादयुक्त है परन्तु निकटपना आदि में संवादी नहीं है। तथा ज्योतिष शास्त्र के द्वारा सूर्यग्रहण, चन्द्रग्रहण का सामान्यरूप से ज्ञान हो जाता है उतना श्रुतज्ञान बाधारहित है किन्तु दो अंगुल तथा तीन अंगुल ग्रहण पड़ने में अथवा भिन्न-भिन्न अनेक देशों में उसके परिणाम का ठीक विधान करने में वह श्रुतज्ञान बाधारहित नहीं है क्योंकि, अनेक देशों और ग्रामों में ग्रहण की विशेषतायें दूसरे प्रकारों से स्थित होती हैं। (अतः मति और श्रुत सम्पूर्ण रूप से प्रमाण नहीं कहा जा सकता है। जिन जीवों की दृष्टि च्युत हो रही है, उनके मतिज्ञान या श्रुतज्ञान तो संवाद रहित प्रसिद्ध ही है।) ॥४०-४१॥

इस प्रकार की प्रतीतियाँ सम्पूर्ण मनुष्यों की साक्षी से प्रसिद्ध हैं,अतः वे प्रतीतियाँ ही मति और श्रुतज्ञान के द्वारा जाने गये स्व और अर्थ रूप विषय में सभी प्रकारों से प्रमाणपन को नष्ट कर देती हैं। केवल एकदेश से प्रमाणपन को रक्षित रखती हैं। इस प्रकार उन प्रतीतियों से जितना अंश संवादरूप है, उतने अंश में बाधारहित होने से मति और श्रुत प्रमाण हैं।

शंका : यदि थोड़े-थोड़े अंश से ही ज्ञान में प्रमाणता आती है तो स्वप्न आदि अवस्थाओं में होने वाले झूठे ज्ञानों को भी एकदेश से प्रमाणपना क्यों नहीं होगा?

समाधान : आचार्य कहते हैं यह कथन ठीक है, हमको अनिष्ट नहीं है, क्योंकि, उस प्रकार ही प्रतिभास होता है ॥४२॥

प्रश्न : किसी अंश में अविसंवाद रखने वाले स्वप्न आदि में हुए चलायमान ज्ञानों को यदि प्रमाणपना जैनों को इष्ट है, तब तो उन मिथ्याज्ञानों में उस प्रमाणपने का व्यवहार हो जाएगा ? ऐसा कहने पर आचार्य उत्तर देते हैं कि प्रमाणत्व का व्यवहार तो अनेक बार हुए संवाद का आश्रय लेकर होता है। जैसे गंध द्रव्य, रस द्रव्य आदि हैं तथा भूरिभूरि विसंवाद के आश्रित अप्रमाण व्यवहार होता है अर्थात् जिन ज्ञानों में अति अधिक संवाद है, वे प्रमाण हैं तथा जिन ज्ञानों में बहुत विसंवाद हैं, वे अप्रमाण हैं ॥४३॥

भावार्थ : जैसे बहुत बार 'यह चन्दन की गन्ध है या कपूर की' इसका आश्रय लेकर गन्ध के विषय में विसंवाद होता है वैसे ही प्रमाण में जानना चाहिए।

सत्यज्ञानस्यैव प्रमाणत्वव्यवहारो युक्तिमान् भूयः संवादात्। वितथज्ञानस्यैव वाऽप्रमाणत्वव्यवहारो भूयो विसंवादात् तदाश्रितत्वात्तद्व्यवहारस्य । दृष्टो हि लोके भूयसि व्यपदेशो यथा गंधादिना गंधद्रव्यादेः सत्यपि स्पर्शवत्त्वादौ।

येषामेकांततो ज्ञानं प्रमाणमितरच्च न। तेषां विप्लुतविज्ञानप्रमाणेतरता कुतः ॥४४॥

अथायमेकांतः सर्वथा वितथज्ञानमप्रमाणं सत्यं तु प्रमाणमिति चेत् तदा कुतो वितथवेदनस्य स्वरूपे प्रमाणता बहिरर्थे त्वप्रमाणतेति व्यवतिष्ठेत्॥

स्वरूपे सर्वविज्ञानाप्रमाणत्वे मतक्षतिः। बहिर्विकल्पविज्ञानप्रमाणत्वे प्रमांतरम्॥४५॥

न हि सत्यज्ञानमेव स्वरूपे प्रमाणं न पुनर्मिथ्याज्ञानमिति युक्तं। नापि सर्वं तत्राप्रमाणमिति सर्वचित्तचैत्तानामात्मसंवेदनं प्रत्यक्षमिति स्वमतक्षतेः। सर्वं मिथ्याज्ञानं विकल्पविज्ञानमेव बहिरर्थे प्रमाणं

सत्यज्ञान में ही प्रमाण का व्यवहार युक्ति सहित है और बहुलता से विसंवाद हो जाने के कारण मिथ्या ज्ञानों को ही अप्रमाण का व्यवहार है, क्योंकि उन संवाद और विसंवाद के आधीन होकर वह प्रमाणपना और अप्रमाणपना व्यवस्थित होता है। लोक में भी बहुभाग से स्वभावों में वैसा व्यवहार होना देखा जाता है जैसे कि स्पर्श, रस आदि के होने पर भी गन्ध द्रव्य, रस द्रव्य आदि को अविभाग प्रतिच्छेदों की प्रचुरता से गन्ध आदि करके गन्धवान रसवान रूपवानपने का व्यवहार होता है।

जिन वादियों के यहाँ एकान्त से समीचीन ज्ञान प्रमाण ही है और उससे भिन्न मिथ्याज्ञान सर्वथा प्रमाण नहीं है, ऐसा आग्रह है, उनके यहाँ मिथ्याज्ञानों की प्रमाणता और अप्रमाणता कैसे व्यवस्थित होगी? अर्थात् नहीं हो सकती ॥४४॥

यदि किसी का यह एकान्त है कि झूठा ज्ञान तो सभी अंशों में अप्रमाण है और सत्य ज्ञान सर्व अंशों में प्रमाण है, तब तो मिथ्याज्ञान को स्वरूप में प्रमाणपना और बहिरंग विषय को जानने में अप्रमाणपना यह कैसे व्यवस्थित होगा ? यानी मिथ्याज्ञान अपने को जानने में अप्रमाण है तब तो अव्यवस्था हो जाएगी।

अर्थात् सभी ज्ञानों को अपना स्वरूप जानने में प्रमाणपन अनिवार्य होना चाहिए।

सम्पूर्ण विज्ञानों को यदि स्वरूप में प्रमाणपना माना जाएगा तो बौद्धों को अपने सिद्धान्त की क्षति प्राप्त होगी और यदि विकल्पज्ञानों को बहिरंग अर्थ को विषय करने में प्रमाणपना माना जाएगा तो प्रत्यक्ष और अनुमान इन दो प्रमाणों से अलग एक तीसरा प्रमाण मानने का प्रसंग आयेगा ॥४५॥

समीचीन ज्ञान ही अपने स्वरूप में प्रमाण है। मिथ्याज्ञान अपने स्वरूप में प्रमाण नहीं है। यह कहना युक्त नहीं है तथा सभी ज्ञान उस अपने स्वरूप को जानने में अप्रमाण हैं, यह भी कहना युक्तिपूर्ण नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर बौद्धों के मत की क्षति होती है। सम्पूर्ण आत्माओं के ज्ञानों का स्वसंवेदन प्रत्यक्ष होता है, ऐसा बौद्धों ने माना है। यानी सभी सम्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञानों का स्वसंवेदन प्रत्यक्ष होना अभीष्ट कर ज्ञानों को स्वांश में अप्रमाणपना कहने पर बौद्धों को अपने मत की हानि उठानी पड़ती है।

स्वरूपवदित्यप्ययुक्तं, प्रकृतप्रमाणात्प्रमाणांतरसिद्धिप्रसंगात्। तिमिराश्वभ्रमणनौयातसंक्षोभाद्याहितविभ्रमस्य वेदनस्य प्रत्यक्षत्वे प्रत्यक्षमभ्रांतमिति विशेषणानर्थक्यं। तस्याप्यभ्रांततोपगमे कुतो विसंवादित्वं विकल्पज्ञानस्य च प्रत्यक्षत्वे कल्पनापोढं प्रत्यक्षमिति विरुध्यते तस्यानुमानत्वे अक्षादिविकल्पस्यानुमानत्वप्रसंगस्तस्यालिंगजत्वादननुमानत्वे प्रमाणांतरत्वमनिवार्यमिति मिथ्याज्ञानं स्वरूपे प्रमाणं बहिरर्थे त्वप्रमाणमित्यभ्युपगंतव्यं। तथा च सिद्धं देशतः प्रामाण्यं। तद्वदवितथवेदनस्यापीति सर्वमनवद्यं एकत्र प्रमाणत्वाप्रमाणत्वयोः सिद्धिः। कथमेकमेव ज्ञानं प्रमाणं वाप्रमाणं च विरोधादिति चेत् नो, असिद्धत्वाद्विरोधस्य। तथाहि —

सभी मिथ्याज्ञान विकल्पज्ञानरूप ही हैं अतः स्वरूप में वे जैसे प्रमाण हैं, वैसे बहिरंग अर्थ में भी प्रमाण हैं, यह कहना भी अयुक्त है। क्योंकि ऐसा कहने पर अभीष्ट प्रकरण प्राप्त प्रत्यक्ष और अनुमान इन दो प्रमाणों से अतिरिक्त तीसरे प्रमाण की सिद्धि होने का प्रसंग आता है (परन्तु बौद्धों ने विकल्पज्ञान को प्रमाण नहीं माना है)। अधिक ऊष्म के कारण तमारा आ जाने पर तिमिर दोष से अनेक भ्रान्तज्ञान होते हैं। शीघ्र-शीघ्र भ्रमण चक्कर करने से भी घुंमारी आकर अनेक पदार्थ घूमते हुए देखते हैं। नाव में बैठकर चलने में भी दिग्भ्रम हो जाता है।

विशेष क्षोभ का कारण उपस्थित होने पर विपरीत ज्ञान हो जाते हैं। अत्यन्त प्रिय पदार्थ के वियोग आदि कारणों से उत्पन्न हुए विभ्रम ज्ञानों को यदि प्रत्यक्ष प्रमाण मान लिया जायेगा तो प्रत्यक्ष के लक्षण में दिया गया अभ्रान्त यह विशेषण व्यर्थ होगा। अर्थात् 'कल्पनापोढमभ्रान्तं प्रत्यक्षं' इस प्रत्यक्ष के लक्षण में भ्रमभिन्नपना विशेषण जो मिथ्याज्ञानों के निवारणार्थ दिया है, मिथ्याज्ञानों को प्रमाण मानने पर व्यर्थ पड़ता है।

यदि बौद्ध उस मिथ्याज्ञान रूप विकल्पज्ञान को भी अभ्रान्तपना स्वीकार कर लेंगे तो विकल्पज्ञान को विसंवादीपना कैसे हो सकेगा? और विकल्पज्ञान को प्रत्यक्षपना यदि इष्ट कर लिया जाएगा तो "कल्पनाओं से रहित प्रत्यक्ष प्रमाण होता है।" यह अभीष्ट लक्षण वाक्य विरुद्ध होगा अतः विकल्पज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण हो नहीं सकता। यदि उस विकल्पज्ञान को अनुमान प्रमाण मानोगे तो इन्द्रिय, मन आदि से उत्पन्न हुए विकल्पज्ञान को अनुमानपने का प्रसंग आयेगा। यदि अविनाभावी हेतु से उत्पन्न नहीं होने से अक्ष आदि विकल्प को अनुमान प्रमाण नहीं मानोगे तो प्रत्यक्ष और अनुमान से भिन्न तीसरा प्रमाण मानना अनिवार्य होगा अतः अपने स्वरूप को जानने में मिथ्याज्ञान प्रमाण है और बहिरंग विषयों के जानने में अप्रमाण है यह स्वीकार कर लेना चाहिए। ऐसा मानने पर तो मिथ्याज्ञान में भी एकदेश प्रमाणपना सिद्ध हो जाता है। उसी मिथ्याज्ञान के समान समीचीन ज्ञान को भी एकदेश से प्रमाणपना है।

इस प्रकार हमारा पूर्वोक्त मन्तव्य सबका सब निर्दोष है, **एक ज्ञान में प्रमाणपने और अप्रमाणपने की सिद्धि हो जाती है।**

एक ही ज्ञान प्रमाण और अप्रमाण कैसे हो सकता है? क्योंकि इसमें विरोध दोष आता है। इस प्रकार नहीं कहना क्योंकि प्रमाणपन और अप्रमाणपन के एकस्थान पर होने में विरोध होना असिद्ध है अर्थात्

न चैकत्र प्रमाणत्वाप्रमाणत्वे विरोधिनी। प्रत्यक्षत्वपरोक्षत्वे यथैकत्रापि संविदि ॥४६॥

ययोरेकसद्भावेऽन्यतरानिवृत्तिस्तयोर्न विरोधो यथा प्रत्यक्षत्वपरोक्षत्वयोरेकस्यां संविदि। तथा च प्रमाणत्वाप्रमाणत्वयोरेकत्र ज्ञाने ततो न विरोध:॥

स्वसंविन्मात्रतोध्यक्षा यथा बुद्धिस्तथा यदि। वेद्याकारविनिर्मुक्ता तदा सर्वस्य बुद्धता ॥४७॥

तया यथा परोक्षत्वं हृत्संवित्तेरतोपि चेत्। बुद्धादेरपि जायेत जाड्यं मानविवर्जितम् ॥४८॥

न हि सर्वस्य बुद्धता बुद्धादेरपि च जाड्यं सर्वथेत्यत्र प्रमाणमपरस्यास्ति यत: संविदाकारेणेव वेद्याकारविवेकेनापि संवेदनस्य प्रत्यक्षता युज्येत तद्वदेव वा संविदाकारेण परोक्षता तदयोगे च कथं दृष्टांत: साध्यसाधनविकल: हेतुर्वा न सिद्ध: स्यात्॥

किसी अपेक्षा वह ज्ञान प्रमाण है परिपूर्ण वस्तु को जानता है और किसी अपेक्षा अप्रमाण है। केवलज्ञान के पहले कोई भी सर्व रूप से वस्तु को नहीं जानता है। यहाँ पर अप्रमाण का अर्थ मिथ्याज्ञान नहीं है अपितु ईषद् ज्ञान है। सो ही कहते हैं-

एक ज्ञान में प्रमाणपना और अप्रमाणपना विरोध दोष वाले नहीं हैं जैसे कि बौद्धों के यहाँ एक ज्ञान में भी प्रत्यक्षपना और परोक्षपना विरोधयुक्त नहीं है॥४६॥

जिन दोनों में से एक के विद्यमान होने पर दूसरे एक की निवृत्ति नहीं होती है, उनका विरोध नहीं माना जाता है। जैसे एक संवेदन में प्रत्यक्षपन और परोक्षपन का विरोध नहीं है, उसी प्रकार प्रमाणपन और अप्रमाणपन का एक ज्ञान में उस हेतु से विरोध नहीं है अर्थात् व्याप्ति एवं अनुमान द्वारा प्रमाणत्व और अप्रमाणत्व का अविरोध सिद्ध कर दिया है।

जिस प्रकार केवल स्वसंवेदन की अपेक्षा से बुद्धि प्रत्यक्ष है, उसी प्रकार वेद्य, वेदक आकार से रहितपना भी यदि प्रत्यक्षरूप होता तो सब जीवों को सुगतपना प्राप्त हो जाता । यानी सब सर्वज्ञ हो जाते।

तथा उस वेद्याकार रहितपने से जैसे बुद्धि का परोक्षपना है, वैसा इस स्वसंवित्ति की अपेक्षा से भी यदि परोक्षपना माना जायेगा तो बुद्ध या अन्य मुक्त आत्मा आदि को भी प्रमाण रहित होने से जड़त्व हो जावेगा अर्थात् सर्वांगरूप से ज्ञान में परोक्षपना कहना जड़पन कहने के समान है। यानी जिसको स्व का भी प्रत्यक्ष नहीं है जो अपने आपको नहीं जानता है, वह जड़ है॥४७-४८॥

सर्वथा सब जीवों को बुद्धपना हो जाए और बुद्ध आदि को जड़पना प्राप्त हो जाए, इस विषय में दूसरे बौद्ध आदि वादियों के यहाँ कोई प्रमाण नहीं है, जिससे कि सम्वित्ति आकार के द्वारा जैसे संवेदन को प्रत्यक्षपना है, वैसे ही सम्वेद्य आकार के पृथक् रूप से भी सम्वेदन को प्रत्यक्षपना युक्त हो। तथा वेद्य आकार के विवेक जैसे परोक्षपना है, उसी प्रकार ज्ञान में सम्वित्ति आकार के भी परोक्षपना हो जायेगा। जब वह व्यवस्था ही नहीं है तो हमारे द्वारा दिया हुआ एक संवेदन में प्रत्यक्षपरोक्षपने का दृष्टान्त साध्य और साधन से रहित कैसे हो सकता है? और हेतु भी सिद्ध क्यों नहीं होगा?

यैव बुद्धेः स्वयं वित्तिर्वेद्याकारविमुक्तता। सैवेत्यध्यक्षतैवेष्टा तस्यां किन्न परोक्षता ॥४९॥

बुद्धेः स्वसंवित्तिरेव वेद्याकारविमुक्तता तस्याः प्रत्यक्षतायां वेद्याकारविमुक्ततापि प्रत्यक्षतैव यदीष्यते तदा तस्याः परोक्षतायां स्वसंवित्तेरपि परोक्षता किं नेष्टा? स्वसंवित्तिवेद्याकारविमुक्तयोस्तादात्म्याविशेषात्॥ ननु च केवलभूतलोपलब्धिरेव घटानुपलब्धिरिति घटानुपलब्धितादात्म्येपि न केवलभूतलोपलब्धेरनुपलब्धिरूपतास्ति तद्वद्वेद्याकारविमुक्त्यनुपलब्धितादात्म्येपि न स्वरूपोपलब्धेरनुपलब्धिस्वभावता व्यापकस्य व्याप्याव्यभिचारात् व्याप्यस्यैव व्यापकव्यभिचारसिद्धेः पादपत्वशिंशिपात्ववत्। स्वरूपोपलब्धिमात्रं हि व्याप्यं व्यापिका च वेद्याकारविमुक्त्यनुपलब्धिरिति चेत् नैतदेवं तयोः समव्याप्तिकत्वेन परस्पराव्यभिचारसिद्धेः कृतकत्वानित्यवत्। न हि वेद्याकारविवेकानुपलब्धावपि

जो ज्ञान की स्वयं सम्वित्ति होती है, वह तो वेद्याकार से रहितपना है अतः वेद्याकार से रहितपना भी प्रत्यक्ष इष्ट किया जाता है तो उस वेद्य आकाररहितपने के परोक्ष होने पर स्वसंवेदन को भी स्वांश में परोक्षपना क्यों नहीं होगा? अर्थात् अवश्य होगा॥४९॥

बुद्धि की स्वसंवित्ति होना ही वेद्याकारों से रहितपना है अतः उस बुद्धि को प्रत्यक्षपना होने पर वेद्याकार रहितपना भी प्रत्यक्ष ही है; परोक्ष नहीं है। यदि सौत्रान्तिक इस प्रकार इष्ट करेंगे तब तो उस वेद्याकार रहितपने के परोक्षपना होने पर स्वसंवित्ति अंश को भी परोक्षपना क्यों नहीं इष्ट कर लिया जाता है? क्योंकि ज्ञान की स्व संवित्ति और ज्ञान के वेद्याकार रहितपन का तादात्म्यसम्बन्ध विशेषताओं से रहित है अर्थात् स्वसंवित्ति और वेद्याकार रहितपने में कोई विशेषता नहीं है।

केवल रीते भूतल की उपलब्धि ही घट की अनुपलब्धि है, इस प्रकार भूतल की उपलब्धि और घट की अनुपलब्धि का तादात्म्य होने पर भी केवल भूतल की उपलब्धि को अनुपलब्धि स्वरूपपना नहीं है। उसी के समान वेद्याकार की विमुक्ति रूप अनुपलब्धि के साथ ज्ञान की स्वरूप संवित्ति का तादात्म्य सम्बन्ध होने पर भी बुद्धि की स्वसंवित्ति को विमुक्तिरूप अनुपलब्धि का परोक्षता रूप स्वभावपना नहीं है क्योंकि व्यापक का व्याप्य के साथ व्यभिचार नहीं होता है अपितु व्याप्य के ही व्यापक के साथ व्यभिचार की सिद्धि है, वृक्ष और शिंशिपात्व के समान।

भावार्थ : व्यापक सर्वत्र रहता है, व्याप्य एक में रहता है इसलिए जहाँ व्याप्य (शीशम) होगा वहाँ व्यापक (वृक्ष) अवश्य होगा परन्तु व्यापक के होने पर व्याप्य का होना आवश्यक नहीं है। इस प्रकरण में ज्ञान के केवल स्वरूप की उपलब्धि होना व्याप्य है और वेद्याकार रहितपना रूप अनुपलब्धि व्यापिका है (इसलिए स्वसंवित्ति के प्रत्यक्ष होने पर वेद्याकार रहितता का प्रत्यक्ष होना कहा जा सकता है किन्तु वेद्याकार रहित के परोक्ष होने पर स्वसंवित्ति को परोक्ष नहीं कहा जा सकता)।

बौद्ध के इस प्रकार कहने पर जैनाचार्य कहते हैं कि बौद्धों को वेद्याकारविमुक्तिरूप अनुपलब्धि के होने पर भी किसी एक संवेदन में कभी अपने स्वरूप की उपलब्धि नहीं होती है, यह नहीं कहना। अर्थात्- वेद्याकार विमुक्तता को व्यापक और स्वरूप उपलब्धि को व्याप्य नहीं कह सकते। क्योंकि ये दोनों ही

क्वचित्संवेदने कदाचित्स्वरूपोपलब्धिर्नास्ति ततः प्रत्यक्षत्वात् स्वसंवेदनादभिन्नो ग्राह्याकारविवेकः प्रत्यक्षो न पुनः परोक्षाद्ग्राह्याकारविवेकादभिन्नं स्वसंवेदनं बुद्धेः परोक्षमित्याचक्षाणो न परीक्षाक्षमः। प्रत्यक्षत्वपरोक्षत्वयोर्भिन्नाश्रयत्वान्न तादात्म्यमिति चेन्न एकज्ञानाश्रयत्वात्तदसिद्धेः। संविन्मात्रविषया प्रत्यक्षता वेद्याकारविवेकविषया परोक्षतेति तयोर्भिन्नविषयत्वे कथं स्वसंवित्प्रत्यक्षतैव वेद्याकारविवेकपरोक्षता। स्वसंवेदनस्यैव वेद्याकारविवेकरूपत्वादिति चेत्, कथमेवं प्रत्यक्षपरोक्षत्वयोर्भिन्नाश्रयत्वं। धर्मिधर्मविभेदविषयत्वकल्पनादिति चेत् तर्हि न परमार्थतस्तयोर्भिन्नाश्रयत्वमिति संविन्मात्रप्रत्यक्षत्वे वेद्याकारविवेकस्य प्रत्यक्षत्वमायातं तथा तस्य परोक्षत्वे संविन्मात्रस्य परोक्षतापि किं न स्यात्। तत्र निश्चयोत्पत्तेः प्रत्यक्षतेति चेत्, वेद्याकारविवेकनिश्चयानुपपत्तेः परोक्षतैवास्तु। तथा चैकत्र संविदि सिद्धे प्रत्यक्षेतरते प्रमाणेतरयोः प्रसारिके स्त इति न विरोधः॥

परस्पर में कृतकत्व और अनित्य के समान एक दूसरे के साथ अविनाभावी है (इनका अविनाभाव सिद्ध है।) अतः प्रत्यक्षरूप स्वसंवेदन से अभिन्न ग्राह्याकार का पृथग्भाव प्रत्यक्ष हो जाए, किन्तु फिर परोक्षस्वरूप ग्राह्याकार विवेक से अभिन्न बुद्धि का स्वसंवेदन परोक्ष न बने, इस प्रकार कहने वाला बौद्ध परीक्षा को सहन नहीं कर सकता है अर्थात् ऐसा कहने वाला बौद्ध परीक्षक नहीं है।

प्रत्यक्ष और परोक्ष का भिन्न-भिन्न आश्रय होने से उनके तदात्मकपना नहीं है ऐसा कहना उचित नहीं है, क्योंकि उन दोनों का आश्रय एक ज्ञान है अतः उनमें भिन्न आश्रय असिद्ध है या कि केवल संवेदन में प्रत्यक्षत्व है और वेद्याकार के पृथक्पने से परोक्षत्व है अतः प्रत्यक्ष और परोक्ष का विषय भिन्न है। इस प्रकार कहते हैं तो स्वसंवित्ति का प्रत्यक्षपना ही वेद्याकार विमुक्तता का परोक्षपना क्यों है? अर्थात् भिन्न-भिन्न विषय होने पर तो स्वसंवित्ति का प्रत्यक्षपना और वेद्याकार का परोक्षपना अलग-अलग होना चाहिए था।

यदि स्वसंवेदन को ही वेद्याकार विवेकस्वरूप होने के कारण उन दोनों को एक कह दिया जाता है तो फिर प्रत्यक्ष और परोक्ष को भिन्न आश्रयत्व कैसे सिद्ध होता है? धर्मी और धर्म के पृथक्-पृथक् भेद का विषय करने वाली कल्पना से भिन्न आश्रयपना यदि स्वीकार करेंगे तो वास्तविक रूप से उन ज्ञान रूप धर्मी के प्रत्यक्षपन और वेद्याकाररहिततारूप धर्म के परोक्षपन का आश्रय भिन्न-भिन्न नहीं होने से केवल संवेदन को प्रत्यक्षपना मानने पर उसके धर्म वेद्याकार पृथग्भाव का भी प्रत्यक्षपना प्राप्त हो जाता है। वैसे उस वेद्याकार विवेक को परोक्षपना प्राप्त होने पर अद्वैत संवेदन को भी परोक्षपना क्यों नहीं प्राप्त होगा? यदि उस संवेदन में पीछे विकल्पज्ञान द्वारा निश्चय उत्पन्न होने से प्रत्यक्षपना है, तो वेद्याकार विवेक में निश्चय नहीं होने से परोक्षपना होता है तथा (इस प्रकार) एक ज्ञान में प्रत्यक्षपना और परोक्षपना सिद्ध होते हुए एक मतिज्ञान या श्रुतज्ञान में भी प्रमाणपन और अप्रमाणपन को फैलाने वाले हो जाते हैं। इस प्रकार एक ज्ञान में प्रमाणत्व और अप्रमाणत्व का कोई विरोध नहीं।

सर्वेषामपि विज्ञानं स्ववेद्यात्मनि वेदकम्। नान्यवेद्यात्मनीति स्याद्विरुद्धाकारमंजसा ॥५०॥

सर्वप्रवादिनां ज्ञानं स्वविषयस्य स्वरूपमात्रस्योभयस्य वा परिच्छेदकं तदेव नान्यविषयस्येति सिद्धं विरुद्धाकारमन्यथा सर्ववेदनस्य निर्विषयत्वं सर्वविषयत्वं वा दुर्निवारं स्वविषयस्याप्यन्यविषयवदपरिच्छेदात् स्वविषयवद्वान्यविषयावसायात्। स्वान्यविषयपरिच्छेदनापरिच्छेदनस्वभावयोरन्यतरस्यां परमार्थतायामपीदमेव दूषणमुन्नेयमिति। परमार्थतस्तदुभयस्वभावविरुद्धमेकत्र प्रमाणेतरत्वयोरविरोधं साधयति ॥

किं च —

स्वव्यापारसमासक्तोन्यव्यापारनिरुत्सुकः। सर्वो भावः स्वयं वक्ति स्याद्वादन्यायनिष्ठताम् ॥५१॥

सर्वोग्निसुखादिभावः स्वामर्थक्रियां कुर्वन् तदैवान्यामकुर्वन्ननेकांतं वक्तीति किं नश्चिंतया। स एव च प्रमाणेतरभावाविरोधमेकत्र व्यवस्थापयिष्यतीति सूक्तं "यथा यत्राविसंवादस्तथा तत्र प्रमाणता" इति ॥

सम्पूर्ण वादियों के यहाँ विज्ञान अपने और अपने द्वारा जानने योग्य विषयस्वरूप में ज्ञान करने वाला माना गया है। अन्य दूसरे वेद्यस्वरूप में जानने वाला प्रकृत विज्ञान नहीं है। इस प्रकार वेदकपना और अवेदकपना होने से ज्ञान के विरुद्ध आकारों को शीघ्र जान लेते हैं ॥५०॥

सम्पूर्ण प्रवादियों के यहाँ माना गया ज्ञान अपने विषय या केवल अपने स्वरूप अथवा दोनों का जानने वाला है, वही ज्ञान अन्य विषयों का ज्ञायक नहीं है। इस प्रकार एक ज्ञान में ज्ञायकत्व और अज्ञायकत्व ये विरुद्ध आकार सिद्ध होते हैं। अन्यथा यानी जैसे ज्ञान अन्य विषयों का वेदक नहीं है, उसी प्रकार स्व या अन्य विषय अथवा उभय का भी वेदक न होता तो सभी ज्ञान निर्विषय हो जाते। कोई भी ज्ञान किसी भी विषय को नहीं जान सकता है क्योंकि अन्य विषयों के समान अपने विषय की भी ज्ञप्ति नहीं होती है तथा स्व और वेद्य को जानने के समान यदि अन्य उदासीन अज्ञेय विषयों का वेदक ज्ञान हो जाता तो सभी ज्ञानों को सर्व पदार्थों का विषय कर लेना दुर्निवार हो जाता। यदि स्व और अन्य विषय का परिच्छेद करना और स्व या अन्य अथवा उभय विषयों का परिच्छेद नहीं करना, इन दोनों स्वभावों में से किसी एक को ही वास्तविक स्वभाव माना जाए, और शेष को वस्तुभूत धर्म न माना जाए तो भी ये ही दूषण पृथक्-पृथक् लागू हो जाएँगे। इस बात को पूर्व कथित कथन से समझ लेना चाहिए। इस प्रकार परमार्थरूप से वे वेदकत्व और अवेदकत्व दोनों विरुद्ध से होकर एक ज्ञान में पाये जाते हैं। क्योंकि ऐसा ज्ञान का स्वभाव है और वह स्वभाव (कर्त्ता) एक ज्ञान में प्रमाणपन और अप्रमाणपन के अविरोध की सिद्धि को करता है।

जब सम्पूर्ण पदार्थ अपने-अपने योग्य व्यापार करने में लवलीन हैं और अन्य पदार्थ के करने योग्य व्यापार में उत्सुक नहीं है, ऐसी दशा में वे सभी भाव स्याद्वादनीति के अनुसार प्रतिष्ठित रहने को स्वयं कह रहे हैं ॥५१॥

सभी अग्नि आदि बहिरंग पदार्थ और सुख आदि अन्तरंग पदार्थ अपनी-अपनी अर्थक्रियाओं को करते हुए और अन्य क्रियाओं को उस समय नहीं करते हुए अनेकान्त को कह रहे हैं, तो फिर हमको व्यर्थ चिन्ता करने से क्या प्रयोजन है? वह अर्थक्रिया का करना और न करना ही प्रमाणत्व और अप्रमाणत्व के

चंद्रे चंद्रत्वविज्ञानमन्यत्संख्याप्रवेदनम्। प्रत्यासन्नत्वविच्चान्यत्वेकाद्याकारविन्न चेत् ॥५२॥

हतं मेचकविज्ञानं तथा सर्वज्ञता कुत:। प्रसिद्ध्येदीश्वरस्येति नानाकारैकवित्स्थिति: ॥५३॥

एक एवेश्वरज्ञानस्याकार: सर्ववेदक:। तादृशो यदि संभाव्य: किं ब्रह्मैवं न ते मतम् ॥५४॥

तच्चेतनेतराकारकरंबितवपु: स्वयम्। भावैकमेव सर्वस्य संवित्तिभवनं परम् ॥५५॥

यद्येकस्य विरुद्ध्येत नानाकारावभासिता। तदा नानार्थबोधोपि नैकाकारोवतिष्ठते ॥५६॥

नाना ज्ञानानि नेशस्य कल्पनीयानि धीमता। क्रमात्सर्वज्ञताहानेरन्यथाऽननुसंधित: ॥५७॥

तस्मादेकमनेकात्मविरुद्धमपि तत्त्वत:। सिद्धं विज्ञानमन्यच्च वस्तुसामर्थ्यत: स्वयम् ॥५८॥

अविरोध की एक ज्ञान में व्यवस्था कराता है। कहा है कि ''जिस प्रकार जिस ज्ञान में जितना अविसंवाद है, उस प्रकार उस ज्ञान में उतना प्रमाणपना है और जितना उसमें विसंवाद है उतना अप्रमाणत्व है।''

चन्द्रमा में चन्द्रपने का ज्ञान पृथक् है और उसकी संख्या को जानने वाला ज्ञान भिन्न है, तथा चन्द्रमा के निकटवर्त्तीपन का वेदन अन्य है। एक दो आदि आकारों को जानने वाली परिच्छित्ति अन्य है। (अत: एक-एक आकार वाले ज्ञान पृथक्-पृथक् हैं। एक ज्ञान में अनेक आकार नहीं हैं।) ऐसा नहीं कहना चाहिए। क्योंकि ऐसा मानने पर बौद्धों का माना हुआ चित्रज्ञान नष्ट हो जाता है। तथा अलग-अलग आकार वाले भिन्न-भिन्न ज्ञानों को मानने वाले वादी के यहाँ सर्वज्ञपना कैसे सिद्ध हो सकता है? एक ज्ञान से अनेक पदार्थों का युगपत् प्रत्यक्ष कर लेना ही सर्वज्ञता है। इस प्रकार अनेक आकार वाले एक ज्ञान की सिद्धि हो जाती है ॥५२-५३॥

यदि सम्पूर्ण पदार्थों को जानने वाले ईश्वरज्ञान का सबको जानने वाला एक ही आकार सम्भव है अर्थात् परस्पर एक दूसरे से विशिष्ट अनेक पदार्थ एक हैं; उस एक का एक समुदित आकार एक ज्ञान में पड़ता है। ऐसी सम्भावना की जाती है तब तो इस प्रकार एक परम ब्रह्मतत्त्व ही तुम्हारे यहाँ क्यों नहीं मान लिया जाता है? ज्ञान और ज्ञेय सबमें एक होकर वह परमब्रह्म स्वयं सभी चेतन-अचेतन आकारों के सहारे अपने शरीर को धारता हुआ एक भावरूप है। वही सम्पूर्ण पदार्थों की उत्कृष्ट संवित्ति होना है। यदि एक अद्वैत ब्रह्म को नाना आकारों का प्रकाशकपना विरुद्ध पड़ेगा तब तो हम जैन कहते हैं कि ईश्वर सर्वज्ञ के अनेक अर्थों का ज्ञान भी एक आकार वाला अवस्थित नहीं हो सकता। क्योंकि एक ज्ञान में अनेक आकार मानने पर ही व्यवस्था हो सकती है ॥५४-५५-५६॥

बुद्धिमान पुरुष को ईश्वर के अनेक ज्ञान कल्पित नहीं करने चाहिए, क्योंकि एक-एक ज्ञान द्वारा एक-एक पदार्थ क्रम से जानने पर सर्वज्ञपने की हानि हो जाती है। अन्यथा दूसरे प्रमाण से सर्वज्ञता मानने पर पहिले पीछे के ज्ञानों द्वारा जान लिये गये पदार्थों का अनुसन्धान नहीं हो सकता है ॥५७॥

अत: एक भी विज्ञान अनेक आत्मक विरुद्ध सदृश होता हुआ भी वास्तविक रूप से सिद्ध हो जाता है। तथा अन्य भी अग्नि, सुख आदिक पदार्थ वस्तु परिणति की सामर्थ्य से स्वयं अनेक धर्मात्मक सिद्ध हैं ॥५८॥

नन्वेकमनेकात्मकं तत्त्वतः सिद्धं चेत् कथं विरुद्धमिति स्याद्वादविद्विषामुपालंभः क्वचित्तद्विरुद्धमुपलभ्य सर्वत्र विरोधमुद्भावयतां न पुनरबाध्यप्रतीत्यनुसारिणाम्॥

प्रमाणमविसंवादि ज्ञानमित्युपवर्ण्यते। कैश्चित्तत्राविसंवादो यद्याकांक्षानिवर्तनम्॥५९॥

तदा स्वप्नादिविज्ञानं प्रमाणमनुषज्यते। ततः कस्यचिदर्थेषु परितोषस्य भावतः॥६०॥

न हि स्वप्नौ वेदनेनार्थं परिच्छिद्य प्रवर्तमानोर्थक्रियायामाकांक्षातो न निवर्तते प्रत्यक्षतोनुमानतो वा दहनाद्यवभासस्य दाहाद्यर्थक्रियोपजननसमर्थस्याकांक्षितदहनाद्यर्थप्रापणयोग्यतास्वभावस्य जाग्रद्दशायामिवानुभवात्। तादृशस्यैवाकांक्षानिवर्तनस्य प्रमाणे प्रेक्षावद्भिरर्थ्यमानत्वात्। ततोतिव्यापि प्रमाणसामान्यलक्षणमिति आयातम्॥

शंका : जब एक पदार्थ वास्तविकरूप से अनेक धर्म आत्मक सिद्ध है तो एकपना और अनेकपना विरुद्ध कैसे कहा जाता है?

समाधान : इस प्रकार स्याद्वाद से विशेष द्वेष करने वालों का उलाहना उनही के ऊपर लागू होता है। जो किसी एक स्थान पर उस एकपन और अनेकपन को विरुद्ध देखकर सभी स्थानों पर विरोध दोष को उठा देते हैं किन्तु निर्बाध प्रतीति के अनुसार वस्तु को जानने वाले स्याद्वादियों पर कोई उलाहना नहीं आता है।

जो ज्ञान विसंवादों से रहित है, वह प्रमाण है। इस प्रकार किन्हीं (बौद्ध) के द्वारा कहा जाता है। उसमें अविसंवाद का अर्थ क्या है? यदि ज्ञात पदार्थ में आकांक्षा का निवृत्त हो जाना अविसंवाद है, तब तो स्वप्न आदि अवस्थाओं में हुए विज्ञानों को भी प्रमाणपने का प्रसंग आएगा, क्योंकि उन स्वप्नादि के निमित्त से हुए ज्ञान द्वारा जाने गये पदार्थों में भी किसी जीव के परितोष का सद्भाव देखा जाता है॥५९-६०॥

स्वप्नावस्था में उत्पन्न हुए ज्ञान द्वारा पदार्थ की ज्ञप्ति का प्रवर्तक मनुष्य अर्थक्रिया को करने में आकांक्षाओं से निवृत्त नहीं होता है, यह नहीं समझना चाहिए।

क्योंकि, प्रत्यक्ष अथवा अनुमान प्रमाण से जागती हुई दशा में जैसे दाह, पाक, सिंचन, पिपासानिवृत्ति आदि अर्थक्रियाओं को पैदा करने में समर्थ और आकांक्षा किये गए अग्नि आदि अर्थों को प्राप्त कराने की योग्यता स्वभाव वाले अग्नि, जल आदि अर्थों का प्रतिभास होता है, वैसे ही स्वप्न में भी अग्नि, जल आदि का प्रतिभास हो जाता है और उस ही प्रकार की आकांक्षानिवृत्ति का हिताहित विचारने वाले पुरुषों द्वारा प्रमाण में अभिलाषा की जाती है (जागृत अवस्था में पदार्थों को देखकर जिस प्रकार की आकांक्षा निवृत्ति हो जाती है, वैसी ही स्वप्न में भी पदार्थों का ज्ञान कर आकांक्षानिवृत्ति हो जाती है)। विचारशील पुरुष प्रमाणज्ञानों से भी यही अभिलाषा रखते हैं। अतः बौद्धों के द्वारा माना गया आकांक्षानिवृत्तिरूप अविसंवाद यह प्रमाण का सामान्य लक्षण अतिव्याप्ति दोषवाला है। ऐसा समझना चाहिए। संवाद का अर्थ वास्तविक अर्थक्रिया की स्थिति होना कहा गया है, और उस अर्थक्रिया का ठहरना, किसी प्रकार भी अर्थक्रिया की विमुक्ति नहीं होना है। ऐसी अर्थक्रिया की स्थिति उन स्वप्न, मत्त आदि अवस्थाओं के ज्ञान में नहीं है अतः

अर्थक्रिया स्थितिः प्रोक्ता विमुक्तिःसा न तत्र चेत्। शाब्दादाविव तद्भावोस्त्वभिप्रायनिवेदनात् ।।६१।।

नाकांक्षानिवर्तनमपि संवादनं। किं तर्हि? अर्थक्रिया स्थितिः। सा चाविमुक्तिरविचलनमर्थक्रियायां। न च तत्स्वप्नादौ दहनाद्यवभासस्यास्तीति केचित्। तेषां गीतादिशब्दज्ञानं चित्रादिरूपज्ञानं वा कथं प्रमाणं। तथा विमुक्तेरभावात् तदनंतरं कस्यचित्साध्यस्य फलस्यानुभवनात्। तत्रापि प्रतिपत्तुरभिप्रायनिवेदनात् साध्याविमुक्तिरितिचेत्, तर्हि निराकांक्षतैव स्वार्थक्रियास्थितिः स्वप्नादौ कथं न स्यात्। प्रबोधावस्थायां प्रतिपत्तुरभिप्रायचलनादितिचेत्, किमिदं तच्चलनं नाम ? धिङ् मिथ्या प्रतर्कितं मया इति प्रत्ययोपजननमिति चेत्, तत्स्वप्नादावप्यस्ति। न हि स्वप्नोपलब्धार्थक्रियायाश्चलनं जाग्रद्दशायां बाधकानुभवनमनुमन्यते, न

लक्षण में अतिव्याप्ति दोष नहीं है। बौद्ध के ऐसा कहने पर आचार्य कहते हैं कि मनोहर वादित्र या संगीत आदि के शब्दजन्य ज्ञानों में जैसी थोड़ी देर ठहरने वाली अर्थक्रिया है, वैसी स्वप्न आदिक में भी होती है। वहाँ भी ज्ञाता को इष्ट अर्थ के अभिप्राय का निवेदन करने से साध्य की विमुक्ति न होना विद्यमान है।।६१।।

प्रश्न : आकांक्षाओं की निवृत्ति होना भी अविसंवाद नहीं है, तो क्या है?

उत्तर : अर्थक्रिया का स्थित रहना ही अविसंवाद है। वह अर्थक्रिया स्थित रहना विमुक्त नहीं होना है। वह है अर्थक्रिया में विचलित नहीं होना और वह अविचलनपन स्वप्न आदि में देखी गई अग्नि आदि के ज्ञानों में नहीं है। अर्थात्-स्वप्न में देखी गई अग्नि से शीतबाधा की निवृत्ति नहीं होती है (अतः संवाद का लक्षण अर्थक्रिया की स्थिति करने पर प्रमाण का लक्षण अतिव्याप्त नहीं होगा)। इस प्रकार कोई (सौत्रान्तिक बौद्ध) कहता है। जैनाचार्य कहते हैं कि ऐसा कहने पर उनके यहाँ संगीत आदि शब्दों का ज्ञान अथवा चित्र आदि का रूपज्ञान कैसे प्रमाण हो सकेगा क्योंकि इस प्रकार अर्थक्रिया की अविमुक्ति होना तो वहाँ नहीं है (गीत को सुनकर या विजुली को देखकर उनसे होने वाली अर्थक्रिया अधिक देर तक नहीं ठहरती है; शीघ्र ही विलीन हो जाती है)। यदि कहो कि उस संगीत आदि के ज्ञानों के अव्यवहित उत्तर काल में उनके द्वारा साधे गये किसी सुख सम्वित्ति, प्रतिकूलवेदन आदि फल का अनुभव हो जाता है। अतः वहाँ भी ज्ञाता पुरुष को अभिप्रेत अर्थ का निवेदन हो जाने से स्वप्न काल के लिए साध्य की अविमुक्ति है। जैनाचार्य कहते हैं तब तो इससे आकांक्षारहितपना ही ज्ञान की अपनी अर्थक्रिया सिद्ध हुई । वह स्वप्न, मत्त (पागल) आदि अवस्थाओं में सिद्ध क्यों नहीं होगी? अवश्य होगी।

यदि कहो कि जागृत अवस्था में प्रतिपत्ता (ज्ञाता) के अभिप्राय का चलन हो जाता है सो स्वप्न ज्ञान द्वारा अर्थक्रिया की स्थिति होना नहीं माना जाता है। तो उस अभिप्राय का चलन क्या पदार्थ है? यदि कहो कि धिक्कार है कि 'मैंने स्वप्न अवस्था में झूठी ही प्रतर्कणाएँ की थीं।' इस प्रकार जागृत अवस्था में प्रतीतियों का उत्पन्न हो जाना ही स्वप्न ज्ञानों के अभिप्रायों का चलायमानपना है, तो वह चलन स्वप्न आदिक में भी विद्यमान है। अर्थात्-जागृत अवस्था में पदार्थों को देखकर पुनः स्वप्न में अन्य प्रकार जागने पर स्वप्न में ऐसा प्रत्यय उत्पन्न होता है कि 'धिक्कार है, मैंने जागृत अवस्था में झूठी ही तर्कणाएँ कर ली थीं' यहाँ यह कहना युक्त नहीं हो सकता है कि स्वप्न में देखे गये अर्थ क्रिया का चलायमान होना तो जागृत

पुनर्जाग्रद्दशोपलब्धार्थक्रियाया: स्वप्नादाविति युक्तं वक्तुं, सर्वथा विशेषाभावात्। स्वप्नादिषु बाधकप्रत्ययस्य सबाधत्वान्न तदनुभवनं तच्चलनमितिचेत्, कुतस्तस्य सबाधत्वसिद्धिः। कस्यचित्तादृशस्य सबाधकत्वदर्शनादिचेत्, नन्वेवं जागद्बाधकप्रत्ययस्य कस्यचित्सबाधत्वदर्शनात् सर्वस्य सबाधत्वं सिद्ध्येत्। तस्य निर्बाधस्यापि दर्शनान्नैवमिति चेत्, सत्यस्वप्नजप्रत्ययस्य निर्बाधस्यावलोकनात्सर्वस्य तस्य सबाधत्वं मा भूत्। तस्मादविचारितरमणीयत्वमेवाविचलनमर्थक्रियाया: संवादनमभिप्रायनिवेदनात् क्वचिदभ्युपगंतव्यं। ते च स्वप्नादावपि दृश्यंत इति तत्प्रत्ययस्य प्रामाण्यं दुर्निवारम्॥

प्रामाण्यं व्यवहारेण शास्त्रं मोहनिवर्तनम्। ततोपर्यनुयोज्याश्चेत्तत्रैते व्यवहारिण: ॥६२॥

शास्त्रेण क्रियतां तेषां कथं मोहनिवर्तनम्। तदनिष्टौ तु शास्त्राणां प्रतीतिर्व्याहता न किम्॥६३॥

अवस्था में बाधक का अनुभव होना मान लिया जाये और फिर जागृत अवस्था में देखे गये पदार्थ की अर्थक्रिया का चलायमानपना स्वप्न आदि में बाधकज्ञान का अनुभव होना न माना जाये। क्योंकि सभी प्रकार से इन दोनों में कोई अन्तर नहीं है।

यदि बौद्ध कहे कि जागृत दशा के बाधक प्रत्यय जो स्वप्न आदि अवस्था में हो रहे हैं, वे स्वयं बाधा सहित हैं अत: स्वप्न अवस्थाओं में उन बाधक ज्ञानों का अनुभव करना जागृत दशा की अर्थक्रिया का चलायमानपना नहीं है तो स्वप्न आदि अवस्थाओं में हुए उन बाधकज्ञानों के स्वयं बाधासहितपने की सिद्धि कैसे होती है? यदि उस प्रकार के किसी एक ज्ञान को बाधकों से सहितपना देखने से स्वप्न के बाधकज्ञानों का बाध्यपना समझा जायेगा, तब तो हम भी अवधारण पूर्वक कहते हैं कि इस प्रकार तो किसी-किसी जागृत दशा के बाधकज्ञानों में बाधक सहितपना देखा जाता है अत: सभी जागृत दशा के ज्ञानों का बाधासहितपना सिद्ध होगा।

यदि कहो कि इस प्रकार जागृत दशाओं के ज्ञान ही बाधाओं से रहित देखे जाते हैं अत: इस प्रकार सबको बाध्य कहना ठीक नहीं है, तो स्वप्न में उत्पन्न हुए सत्यज्ञानों का बाधारहितपना भी देखा जाता है अत: उन सभी स्वप्नज्ञानों को बाधासहितपना नहीं होगा। अत: अर्थक्रिया का चलायमानपनारूप संवादन नहीं मानना बिना विचार किये ही मनोहर है (विचार करने पर जीर्ण वस्त्र के समान सैकड़ों खण्ड हो जाते हैं)। यह मान लेना चाहिए। तथा आकांक्षानिवृत्ति, परितोष, अर्थक्रियास्थिति, अभिप्राय निवेदन रूप अविसंवाद तो स्वप्न आदि में भी देखे जाते हैं अत: उन स्वप्न आदि के ज्ञानों को भी प्रमाणपना दुर्निवार हो जाएगा।

लौकिक व्यवहार से शास्त्रज्ञान में प्रमाणपना है और शास्त्र ही मोह की निवृत्ति करने वाले हैं। अत: उस प्रमाणपने में ये व्यवहारीजन प्रश्नोत्तर करने योग्य नहीं हैं। इस प्रकार बौद्ध के कहने पर जैनाचार्य कहते हैं कि जिस किसी शास्त्र के द्वारा उन व्यवहारियों के मोह की निवृत्ति कैसे की जायेगी? यदि उस मोह की निवृत्ति को वास्तविक इष्ट न करोगे तो शास्त्रों का प्रणयन करना व्याघात दोषयुक्त क्यों न होगा? ॥६२-६३॥

व्यवहारेण प्रामाण्यस्योपगमात्तत्रापर्यनुयोज्या एव व्यवहारिण:। किं न भवंत: स्वप्नादिप्रत्ययस्य जाग्रत्प्रत्ययवत् प्रमाणत्वं व्यवहरंति तद्वद्वादो जाग्रद्बोधस्याप्रमाणत्वमिति केवलं तदनुसारिभिस्तदनुरोधादेव क्वचित्प्रमाणत्वमप्रमाणत्वं चानुमंतव्यमिति ब्रुवाण: कथं शास्त्रं मोहनिवर्तनमाचक्षीत न चेद्व्याक्षिप्त:। ये हि यस्यापर्यनुयोज्यास्तच्छास्त्रेण कथं तेषां मोहनिवर्तनं क्रियते। व्यवहारे मोहवत् क्रियत इति चेत् कुतस्तेषां विनिश्चय:? प्रसिद्धव्यवहारातिक्रमादितिचेत् कोसौ प्रसिद्धो व्यवहार:? सुगतशास्त्रोपदर्शित इति चेत् कपिलादिशास्त्रोपदर्शित: कस्मान्न स्यात्? तत्र व्यवहारिणामननुरोधादिति चेत्, तर्हि यत एव व्यवहारिजनानां सुगतशास्त्रोक्तो व्यवहार: प्रसिद्धात्मा व्यवस्थित एवमतिक्रामतां तत्र मोहनिवर्तनं सिद्धमिति किं शास्त्रेण तदर्थेन तेन। तन्निवर्तनस्यानिष्टौ तु व्याहता शास्त्रप्रणीति: किं न भवेत्?॥

व्यवहार से शास्त्र का प्रमाणपना माना गया है। अत: व्यवहार करने वाले लौकिकजन उस प्रमाणव्यवस्था में तर्कणा करने योग्य नहीं हैं कि ज्ञान ही प्रमाण है। इस प्रकार बौद्ध के द्वारा प्रमाण मानने पर जैनाचार्य कहते हैं कि ऐसे स्वप्न, मदमत्त आदि के ज्ञानों को जगते हुए जीवों के ज्ञान के समान प्रमाणपने का व्यवहार क्यों नहीं करते हैं? अथवा स्वप्न आदि ज्ञानों को अप्रमाणपने के व्यवहार समान जागती अवस्था के ज्ञान को भी वह अप्रमाणपना क्यों नहीं व्यवहृत होता है? केवल उस व्यवहार के अनुसार चलने वाले लौकिकजनों के द्वारा उस व्यवहार के अनुरोध से ही किसी में प्रमाणपन और किसी में अप्रमाणपन मान लेना चाहिए। इस प्रकार कहने वाला बौद्ध शास्त्रों को मोह की निवृत्ति कराने वाला कैसे कह सकेगा? अथवा मत्त के समान घबड़ाया हुआ क्यों नहीं समझा जाएगा?

अथवा, जो संसारी जीव जिसके विषय में तर्कणा करने योग्य ही नहीं है, उस शास्त्र के द्वारा मोह की निवृत्ति कैसे की जा सकेगी? यदि बौद्ध कहे कि व्यवहार में जैसे मोह कर लिया जाता है, वैसे ही शास्त्रों द्वारा मोह की निवृत्ति कर ली जाती है। ऐसा कहने पर जैन उनसे पूछते हैं कि उन व्यवहारियों को विशेषरूप से निश्चय कैसे होगा कि हमारा मोह निवृत्त हो गया है? यदि लोक में प्रसिद्ध व्यवहार का अतिक्रमण हो जाने से निश्चय होना माना जाएगा, तो फिर वह प्रसिद्ध व्यवहार कौन है? यदि बुद्ध के शास्त्रों द्वारा दिखलाया गया व्यवहार प्रसिद्ध कहा जाएगा, तब तो कपिल, कणाद, गौतम आदि के शास्त्रों द्वारा दिखलाया गया व्यवहार प्रसिद्ध क्यों नहीं माना जाता है? यदि उन कपिल आदि के शास्त्र द्वारा प्रदर्शित किये गये व्यवहार में व्यवहारी जीवों की अनुकूल वर्तना नहीं है, अत: व्यवहार प्रसिद्ध नहीं है, ऐसा कहोगे तो जैसे व्यवहारी मनुष्यों का सुगत-शास्त्रों में कहा गया व्यवहार प्रसिद्धस्वरूप होकर व्यवस्थित है, उसका भी अतिक्रमण हो जाएगा। और वहाँ तो मोह की निवृत्ति पहले से ही सिद्ध है। ऐसी दशा में उसके लिए बनाये गये उन शास्त्रों द्वारा क्या लाभ हुआ? यदि शास्त्र से उस मोह की निवृत्ति करना इष्ट नहीं है तब तो तुम्हारे यहाँ शास्त्रों का बनाना व्याघातयुक्त क्यों न हो जावेगा? (शास्त्रों को मानकर भी तदनुसार प्रमेय को नहीं मानना व्याघात दोष है)।

युक्त्या यन्न घटामेति दृष्ट्वापि श्रद्दधे न तत्। इति ब्रुवन् प्रमाणत्वं युक्त्या श्रद्धातुमर्हति ।। ६४।।

न केवलं व्यवहारी दृष्टं दृष्टमपि तत्त्वं युक्त्या श्रद्धातव्यं। सा च युक्तिः शास्त्रेण व्युत्पाद्यते। ततो शास्त्रप्रणीतिर्व्याहतेति ब्रुवन् कस्यचित्प्रमाणत्वं युक्त्यैव श्रद्धातुमर्हति ।।

तथासति प्रमाणस्य लक्षणं नावतिष्ठते। परिहर्तुमतिव्याप्तेरशक्यत्वात्कथंचन ।।६५।।

प्रमाणस्य हि लक्षणमविसंवादनं तच्च यथा सौगतैरुपगम्यते तथा युक्त्या न घटत एवातिव्याप्तेर्दुः-परिहरत्वादित्युक्तं स्वप्नादिज्ञानस्य प्रमाणत्वापादनात् ।।

क्षणक्षयादिबोधेऽविमुक्त्यभावाच्च दूष्यते। प्रत्यक्षेपि किमव्याप्त्या तदुक्तं नैव लक्षणम् ।।६६।।

क्षणिकेषु विभिन्नेषु परमाणुषु सर्वतः। संभवोप्यविमोक्षस्य न प्रत्यक्षानुमानयोः ।।६७।।

न हि वस्तुनः क्षणक्षये सर्वतो व्यावृत्तिर्न स परमाणुस्वभावे वा प्रत्यक्षमपि

जो कोई पदार्थ युक्ति (हेतुवाद) से घटना को प्राप्त नहीं होता है, उसको देखकर भी मैं श्रद्धान नहीं करता हूँ। इस प्रकार कहने वाला प्रमाण भी युक्ति से श्रद्धान करने के लिए योग्य होगा। अर्थात् प्रमाण केवल व्यवहार से ही नहीं माना जाता है, अपितु उसे युक्तिसिद्ध भी होना चाहिए।।६४।।

व्यवहारी मानव को लौकिक जनों के देखे हुए पदार्थ का श्रद्धान नहीं कर लेना चाहिए, किन्तु उसको देखे हुए तत्त्व का भी युक्ति से निश्चय करके श्रद्धान करना चाहिए और वह युक्तिशास्त्र द्वारा समझी जाती है। अतः शास्त्रों को बनाना व्याघात युक्त नहीं है। इस प्रकार कहने वाला बौद्ध किसी के प्रमाण का भी युक्तियों से ही श्रद्धान करने के लिए योग्य होता है।

उसी प्रकार बौद्धों द्वारा माना गया प्रमाण का लक्षण ठीक व्यवस्थित नहीं है, क्योंकि स्वप्न आदि अवस्था के ज्ञानों में लक्षण के चले जाने से अतिव्याप्ति दोष का परिहार कैसे भी नहीं किया जा सकता है। ("अतः अविसंवादिज्ञानं प्रमाणं" -यह लक्षण ठीक नहीं है) ।।६५।।

प्रमाण का वह अविसंवादीपना लक्षण जिस प्रकार बौद्धों ने स्वीकार किया, उस प्रकार युक्तियों से घटित नहीं होता है, क्योंकि स्वप्न, भ्रान्त आदि के ज्ञानों को प्रमाणपने का आपादन करने से अतिव्याप्ति दोष का परिहार करना अतीव दुःसाध्य है। इस बात को हम पूर्व में कह चुके हैं।

तथा अर्थक्रिया का अभाव नहीं होने से क्षणिकत्व, संगीत आदि के ज्ञान में वह लक्षण नहीं जाता है अतः प्रत्यक्ष में भी लक्षण के न घटने से अव्याप्ति दोष से वह लक्षण दूषित हो जाता है अतः बौद्धों का कहा गया वह लक्षण ठीक नहीं है। तथा प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण के विषयभूत माने गये क्षणिक और विशेष रूप से भिन्न-भिन्न पड़े हुए परमाणुओं में अविमोक्ष रूप, अर्थक्रियास्थितिका सब ओर से सम्भव नहीं है अतः प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणों में लक्षण के नहीं घटने से असम्भव दोष भी है।।६६-६७।।

वस्तु के क्षणिकत्व में सभी ओर से व्यावृत्ति यानी अविचलपना नहीं है अतः अनुमान में लक्षण नहीं जाता है और परमाणुस्वरूप स्वलक्षण में अविसंवाद के न होने से प्रत्यक्ष भी संवादस्वरूप नहीं है

संवादलक्षणमविमोक्षाभावादित्युक्तं प्राक्। प्रत्यक्षानुमानयोर्वा विमोक्षस्यासंभवादव्याप्त्या वासंभवेन च तल्लक्षणं दूष्यत एव, ततोतिव्याप्त्यव्याप्त्यसंभवदोषोपद्रुतं न युक्तिमल्लक्षणमविसंवादनम्॥

अज्ञातार्थप्रकाशश्चेल्लक्षणं परमार्थतः। गृहीतग्रहणान्न स्यादनुमानस्य मानता॥६८॥

प्रत्यक्षेण गृहीतेपि क्षणिकत्वादिवस्तुनि। समारोपव्यवच्छेदात्प्रामाण्यं लैंगिकस्य चेत्॥६९॥

स्मृत्यादिवेदनस्यातः प्रमाणत्वमपीष्यताम्। मानद्वैविध्यविध्वंसनिबंधनमबाधितम्॥७०॥

मुख्यं प्रामाण्यमध्यक्षेऽनुमाने व्यावहारिकम्। इति ब्रुवन्न बौद्धः स्यात् प्रमाणे लक्षणद्वयम्॥७१॥

चार्वाकोपि ह्येवं प्रमाणद्वयमिच्छत्येव प्रत्यक्षमेकमेव प्रमाणमगौणत्वात् प्रमाणस्येति वचनादनुमानस्य गौणप्रामाण्यानिराकरणात्॥

तत्रापूर्वार्थविज्ञानं निश्चितं बाधवर्जितम्। प्रमाणमिति योप्याह सोप्येतेन निराकृतः॥७२॥

गृहीतग्रहणाभेदादनुमानादि संविदः। प्रत्यभिज्ञाननिर्णीतनित्यशब्दादिवस्तुषु॥७३॥

इसको हम पहले कह चुके हैं। अथवा प्रत्यक्ष और अनुमान में से एक में या दोनों में अविमोक्षरूप अविसंवाद के असम्भव होने से अव्याप्ति और असम्भव दोष द्वारा वह प्रमाण का लक्षण अविसंवाद दूषित हो ही जाता है अतः बौद्धों के यहाँ प्रमाण का लक्षण अतिव्याप्ति, अव्याप्ति और असम्भव दोषों से युक्त होने से अविसंवादस्वरूप लक्षण युक्तिसहित नहीं है।

''अज्ञातार्थ (अपूर्व अर्थ) का प्रकाश करना यदि परमार्थ रूप से प्रमाण का लक्षण माना जाएगा तो अनुमान को प्रमाणपना नहीं प्राप्त होगा (क्योंकि वस्तुभूत जिस क्षणिकत्व को निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ने जान लिया था उसी ग्रहण किये हुए अर्थ का अनुमान द्वारा ग्रहण हुआ है अतः अनुमान ज्ञान के भी प्रमाणता नहीं हो सकती) यदि कहो कि क्षणिकत्व, स्वर्गप्रापण शक्ति आदि वस्तुभूत पदार्थों का प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा ग्रहण हो जाने पर भी किसी कारणवश उत्पन्न संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय और अज्ञानरूप समारोप के निराकरण करने वाला होने से अनुमान ज्ञान को प्रमाणपना है। तब तो स्मृति, व्याप्तिज्ञान आदि को भी समारोप का व्यवच्छेदक होने से प्रमाणपना स्वीकार करना चाहिए जो कि तुम बौद्धों द्वारा माने हुए प्रत्यक्ष अनुमान प्रमाणों की द्विविधपन के विनाश का कारण है। प्रत्यक्ष में प्रमाणपना मुख्यरूप से घटता है और अनुमान में प्रमाणपना केवल व्यवहार को साधने के लिए मान लिया गया है। इस प्रकार प्रमाण में दो लक्षणों को कहने वाला बौद्ध तो बुद्ध नहीं है (अर्थात् ज्ञानी नहीं है)॥६८-७१॥

चार्वाक, मीमांसक आदि अन्य मत का खण्डन :

इस प्रकार चार्वाक भी दो प्रमाणों को ही मानता है।

चार्वाक का कहना है कि प्रत्यक्ष ही एक प्रमाण है, क्योंकि वह प्रत्यक्ष प्रमाण अगौण (प्रधान) होता है। प्रत्यक्ष की सहायता से होने वाले अनुमान प्रमाण गौण है। इस कथन से चार्वाक ने अनुमान के गौण प्रमाणपन का निराकरण नहीं किया है। अर्थात् मुख्य रूप से तो प्रत्यक्ष ही प्रमाण है; परन्तु गौण रूप से अनुमान को भी प्रमाण माना है। जो कहता है कि पहले निश्चित नहीं किये हुए अपूर्व अर्थ का बाधाओं

नं प्रत्यभिज्ञाननिर्णीतेषु नित्येषु शब्दात्मादिष्वर्थेष्वनुमानादिसंविद: प्रवर्तते पिष्टपेषणवद्वैयर्थ्यादनवस्थाप्रसंगाच्च। ततो न गृहीतग्रहणमित्ययुक्तं, दर्शनस्य परार्थत्वादित्यादि शब्दानित्यत्वसाधनस्याभ्युपगमात्। तत एव तत्साधनं न पुन: प्रत्यभिज्ञानादित्यसारं, नित्य: शब्द: प्रत्यभिज्ञायमानत्वादित्यत्र हेत्वसिद्धिप्रसंगात्। प्रत्यभिज्ञायमानत्वं हि हेतु: तदा सिद्ध: स्याद्यदा सर्वेषु प्रत्यभिज्ञानं प्रवर्तेत तच्च प्रवर्तमानं शब्दनित्यत्वे प्रवर्तते न शब्दरूपमात्रे प्रत्यक्षत्ववदनेकांतार्थप्रसंगात्। यदि पुन:

से रहित और निश्चयात्मक विज्ञान होना प्रमाण है, उसे भी इस कथन से निराकृत कर दिया गया समझ लेना चाहिए (अर्थात्-बौद्धों के अज्ञात अर्थ को प्रकाश करने वाले प्रमाण के समान मीमांसकों का सर्वथा अपूर्व अर्थ को जानने वाला ज्ञान प्रमाण है, यह सिद्धान्त भी अनुमान को प्रमाणपना न बन सकने के कारण खण्डनीय है)। अनुमान, प्रत्यभिज्ञान, तर्क आदि संवित्तियों को गृहीत का ग्रहण करनापने की अपेक्षा अभेद होने से यह वही शब्द है यह वही आत्मा है। इस प्रकार के प्रत्यभिज्ञान द्वारा निर्णीत किये गये शब्द, आत्मा आदि नित्य वस्तुओं में अनुमान आदि की प्रवृत्ति होती है (अत: कथंचित् गृहीतग्राही को भी प्रमाण मानने में कोई क्षति नहीं है)॥७२-७३॥

प्रत्यभिज्ञान से निश्चित किये गये शब्द, आत्मा आदि नित्य अर्थों में अनुमान आदि ज्ञान प्रवृत्ति नहीं करते हैं क्योंकि पिसे हुए को पीसने के समान जाने हुए को जानना व्यर्थ है। तथा जाने हुए को जानना और फिर जाने हुए को तीसरी बार जानना इत्यादि अनवस्था दोष का भी प्रसंग आता है अत: अनुमान आदि संवित्तियों को गृहीत का ग्राहकपना नहीं है। उस प्रकार कहना भी अयुक्त है क्योंकि स्वयं मीमांसकों ने दर्शन यानी शब्द को परार्थ माना है। ''दर्शनस्य परार्थत्वात्'' इत्यादि ग्रन्थ में शब्द के नित्यपन की सिद्धि होना भी स्वीकार किया है।

उस अनुमान से ही शब्द की नित्यता सिद्ध हो जाती है तो फिर प्रत्यभिज्ञान से शब्द की नित्यता को सिद्ध नहीं करेंगे। अर्थात् किसी शब्द में प्रत्यभिज्ञान से और अन्य शब्द में अनुमान से नित्यता सिद्ध हो जाती है। एक ही शब्द में दो प्रमाणों से नित्यता को साधने का व्यर्थ परिश्रम नहीं करना चाहिए। इस प्रकार मीमांसकों का कहना भी नि:सार है क्योंकि इसमें शब्द नित्य है, प्रत्यभिज्ञान का विषय होने से इस अनुमान में दिये गये हेतु की असिद्धि का प्रसंग आता है। प्रत्यभिज्ञायमान हेतु तब सिद्ध हो सकेगा जब सम्पूर्ण शब्दों में प्रत्यभिज्ञान प्रवृत्ति करेगा तथा सर्व शब्दों में प्रवर्तता हुआ शब्द के नित्यपने में प्रवृत्ति करेगा। केवल शब्द के स्वरूप में प्रत्यक्षपन के समान यदि प्रत्यभिज्ञान का विषयपना रहता है तब तो अनेक धर्म वाले अर्थ की सिद्धि का प्रसंग आता है। (अर्थात् प्रत्यभिज्ञान से जान लिये गये नित्यत्व को अनुमान द्वारा जाना है, अत: सर्वथा अपूर्व अर्थ का विज्ञान करना यह प्रमाण का निर्दोष लक्षण नहीं बन सकता है। इसमें अव्याप्ति दोष आता है)।

मीमांसक कहे कि यद्यपि प्रत्यभिज्ञान से शब्द, आत्मा आदि के नित्यत्व की सिद्धि हो जाती है, किन्तु फिर भी किसी कारण से अज्ञान, संशय आदि समारोप की उत्पत्ति हो जाती है, अत: उस समारोप के निवारणार्थ प्रवृत्त हुआ अनुमान प्रमाण अपूर्वार्थ ही है, पूर्वार्थग्राही नहीं है। अर्थात् जान लिया गया भी

प्रत्यभिज्ञानान्नित्यशब्दादिसिद्धावपि कुतश्चित्समारोपस्य प्रसूतेस्तद्व्यवच्छेदार्थमनुमानं न पूर्वार्थमिति मतं तदा स्मृतितर्कादेरपि पूर्वार्थत्वं मा भूत् तत एव। तथा च स्वाभिमतप्रमाणसंख्याव्याघातः। कथं वा प्रत्यभिज्ञानं गृहीतग्राहि प्रमाणमिष्टं तद्धि प्रत्यक्षमेव वा ततोऽन्यदेव वा प्रमाणं स्यात्॥

प्रत्यक्षं प्रत्यभिज्ञा चेद्गृहीतग्रहणं भवेत्। ततोन्यच्चेत्तथाप्येवं प्रमाणांतरता च ते ॥७४॥

न ह्यननुभूतार्थे प्रत्यभिज्ञा सर्वथातिप्रसंगात्। नाप्यस्मर्यमाणे यतो ग्रहीतग्राहिणी न भवेत्॥

प्रत्यक्षेणाग्रहीतेर्थे प्रत्यभिज्ञा प्रवर्तते। पूर्वोत्तरविवर्तैकग्राह्याच्चेन्नाक्षजत्वतः ॥७५॥

पूर्वोत्तरावस्थयोर्यद्व्यापकमेकत्वं तत्र प्रत्यभिज्ञा प्रवर्तते न प्रत्यक्षेण परिच्छिन्नेवस्थामात्रे

पदार्थ समारोप हो जाने से अपूर्वार्थ के सदृश है। इस प्रकार यदि मीमांसकों का मन्तव्य है तब तो स्मृति, व्याप्तिज्ञान, स्वार्थानुमान आदि के द्वारा भी पूर्वगृहीत अर्थ का ग्राहकपना नहीं हो सकता क्योंकि स्मृति आदिक भी तो अस्मरण आदि समारोप को दूर करने के लिए अवतीर्ण होते हैं। तथा इससे (स्मृति आदि को प्रमाण मान लेने पर) मीमांसकों के द्वारा पाँच या छह प्रमाणों की संख्या का व्याघात हो जाता है (अर्थात्-प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शाब्द, अर्थापत्ति और अभाव इन छह प्रमाणों में अन्तर्भाव नहीं हो सकने के कारण स्मृति, व्याप्तिज्ञान आदि को भिन्न प्रमाण मानने पर प्रमाणों की अभीष्ट संख्या का व्याघात हो जाता है) , तथा मीमांसकों के गृहीत का ग्रहण करने वाला प्रत्यभिज्ञान प्रमाण कैसे हो सकता है? वा मीमांसकों के द्वारा माने गये पाँच या छह प्रमाणों में से वह प्रत्यभिज्ञान प्रत्यक्षप्रमाण रूप होगा अथवा उस प्रत्यक्ष से भिन्न ही कोई दूसरा प्रमाण होगा?

यदि प्रत्यभिज्ञान को प्रत्यक्षप्रमाण माना जायेगा तो वह गृहीत का ग्राही ही होगा। यदि उस प्रत्यक्ष से अन्यज्ञान को प्रत्यभिज्ञान मानोगे तो भी तुम्हारे मत में इष्ट प्रमाणों से अतिरिक्त अन्य प्रमाण को मानने का प्रसंग आयेगा ॥७४॥

पूर्व में ह्यननुभूत अर्थ में तो प्रत्यभिज्ञान नहीं हो सकता है क्योंकि सर्वथा ऐसा मानने पर अति-प्रसंग दोष आता है। अर्थात् नवीन पदार्थों को देखकर सदा प्रत्यभिज्ञान होता रहेगा, तथा स्मरण नहीं किये गये अर्थ में भी प्रत्यभिज्ञान प्रवृत्त नहीं होता है जिससे कि प्रत्यभिज्ञान गृहीतग्राही नहीं होता है।

भावार्थ : अनुभव और स्मरण से जान लिये गये अर्थ में प्रत्यभिज्ञान की प्रवृत्ति होती है। अतः वह गृहीतग्राही ही है। पूर्वपर्याय और उत्तरपर्याय में रहने वाले एकपन का ग्रहण प्रत्यभिज्ञान करता है (उस एकपन का ग्रहण प्रत्यक्ष और स्मरण नहीं कर सकता है।) अतः प्रत्यक्ष से अगृहीत अर्थ में प्रत्यभिज्ञा प्रवर्त्त होती है। ऐसा कहना भी उचित नहीं है क्योंकि, उनके मत में प्रत्यभिज्ञान को इन्द्रियों से उत्पन्न माना गया है (जो इन्द्रियों के साथ अन्वयव्यतिरेक रखता है, वह इन्द्रियजन्य ही होता है किन्तु इन्द्रियों की उस एकत्व में प्रवृत्ति नहीं है) ॥७५॥

पूर्व अवस्था और उत्तर अवस्था में जो व्यापक एकत्व है, उस एकत्व में प्रत्यभिज्ञान प्रवर्त होता है किन्तु प्रत्यक्ष से ज्ञात, अनुभव में, आगत वर्तमान अवस्था में अथवा स्मृति में आगत पूर्व अवस्था में

स्मर्यमाणेनुभूयमाने वा ततो न ग्रहीतग्राहिणी चेत् तत् नेन्द्रियजत्वात्तस्या: कथमन्यथा प्रत्यक्षेंतर्भाव:। न चेंद्रियं पूर्वोत्तरावस्थयोरतीतवर्तमानयो: वर्तमाने तदेकत्वे प्रवर्तितुं समर्थं वर्तमानार्थग्राहित्वात् संबंधं वर्तमानं च गृह्यंते चक्षुरादिभिरिति वचनात्॥

पूर्वोत्तरविवर्ताक्षज्ञानाभ्यां सोपजन्यते। तन्मात्रमितिचेत्क्वेयं तद्भिन्नैकत्ववेदिनी॥७६॥

न हि पूर्वोत्तरावस्थाभ्यां भिन्ने च सर्वथैकत्वे तत्परिच्छेदिभ्यामक्षज्ञानाभ्यां जन्यमानं प्रत्यभिज्ञानं प्रवर्तते स्मरणवत् संतानांतरैकत्ववद्वा॥

विवर्ताभ्यामभेदश्चेदेकत्वस्य कथंचन। तद्ग्राहिण्या: कथं न स्यात्पूर्वार्थत्वं स्मृतेरिव॥७७॥

यद्यवस्थाभ्यामेकत्वस्य कथंचिदभेदात्तद्ग्राहींद्रियज्ञानाभ्यां जनिताया: प्रत्यभिज्ञाया ग्रहणं न विरुध्यते

प्रत्यभिज्ञान प्रवृत्ति नहीं करता है अत: वह प्रत्यभिज्ञान गृहीत विषय को ग्रहण करने वाला नहीं है। ऐसा कहना उचित नहीं है, क्योंकि वह प्रत्यभिज्ञान इन्द्रियजन्य है। अन्यथा (प्रत्यभिज्ञान को इन्द्रियों से जन्य नहीं माना जायेगा तो) प्रत्यक्ष में उसका अन्तर्भाव कैसे किया जा सकेगा?

इन्द्रियाँ तो व्यतीत पूर्व अवस्था और वर्तमान में स्थित उत्तर अवस्था में वर्तमान एकत्व में प्रवृत्ति करने के लिए समर्थ नहीं है क्योंकि इन्द्रियों का स्वभाव वर्तमान काल के अर्थ को ग्रहण करने का है। तुम्हारे ग्रन्थों में ऐसा कथन है कि सम्बद्ध हुए और वर्तमान काल के स्थित अर्थों को चक्षु आदि इन्द्रियों द्वारा ग्रहण किया जाता है (ऐसी दशा में एकत्व को जानने वाला प्रत्यभिज्ञानइन्द्रियों से कैसे उत्पन्न हो सकेगा?)।

पूर्व के विवर्त पर्यायों को जानने वाला इन्द्रियजन्य ज्ञान और उत्तर अवस्था को जानने वाला इन्द्रियजन्य ज्ञान इन दो ज्ञानों से वह प्रत्यभिज्ञान उत्पन्न होता है और केवल उस एकत्व को विषय करता है, तब वह प्रत्यभिज्ञा उन दोनों विवर्तों से (पर्यायों से) भिन्न एकत्व को जानने वाला कहाँ हुआ? (दो विवर्तों से एकत्व को अभिन्न मानने पर तो प्रत्यभिज्ञान गृहीतग्राही हो जायेगा)॥७६॥

पूर्व और उत्तर अवस्था से सर्वथा भिन्न एकत्व में उन दोनों अवस्थाओं को जानने वाले दो इन्द्रिय ज्ञान से उत्पन्न हुआ प्रत्यभिज्ञान प्रवृत्ति नहीं करता है जैसे कि स्मरणज्ञान अनुभूत से सर्वथा भिन्न अर्थ में प्रवृत्त नहीं करता है। अथवा सन्तानों का एकपना बाल्य अवस्था, कुमार अवस्थाओं में रहने वाले एकत्व से सर्वथा भिन्न है। उसमें एकपन को जानने वाला प्रत्यभिज्ञान जैसे प्रवृत्ति नहीं करता है।

पूर्व और उत्तर दोनों पर्यायों से एकत्व का कथंचित् अभेद माना जायेगा तो उस एकत्व को ग्रहण करने वाला प्रत्यभिज्ञान स्मृति के समान पूर्वगृहीत अर्थ का ग्राहीपना क्यों नहीं होगा? अर्थात् स्मृति जैसे पूर्व अर्थ को ग्रहण करती है, वैसे ही पूर्व, उत्तर की पर्यायों से अभिन्न एकत्व को जानने वाला प्रत्यभिज्ञान भी पूर्व अर्थ का ग्राही है, सर्वथा अपूर्व अर्थ का नहीं॥७७॥

यदि दो अवस्थाओं से एकत्व का कथंचित् अभेद होने के कारण उन पूर्व अपर अवस्थाओं के ग्रहण करने वाले दो इन्द्रियजन्य ज्ञानों से उत्पन्न हुई प्रत्यभिज्ञा का ग्रहण करना विरुद्ध नहीं होता है अपितु

सर्वथाभेदे तद्विरोधादिति मतिस्तदास्या: कथं पूर्वार्थत्वं न स्यात् स्मृतिवत्। कथंचित्पूर्वार्थत्वे वा सर्वं प्रमाणं नैकांतेनापूर्वार्थं। तद्वदेवं च तत्रापूर्वार्थविज्ञानं प्रमाणमित्यसंबंधं। एतेनानुमानमेव प्रत्यभिज्ञानप्रमाणांतरमेव चेति प्रत्याख्यातं, सर्वथाप्यपूर्वार्थत्वनिराकृते: सर्वप्रमाणानां प्रमाणांतरासिद्धिप्रसंगाच्च ॥

तत्स्वार्थव्यवसायात्मज्ञानं मानमितीयता। लक्षणेन गतार्थत्वाद्व्यर्थमन्यद्विशेषणम् ॥७८॥

गृहीतमगृहीतं वा स्वार्थं यदि व्यवस्यति। तन्न लोके न शास्त्रेषु विजहाति प्रमाणताम् ॥७९॥

बाधवर्जितताप्येषा नापरा स्वार्थनिश्चयात्। स च प्रबाध्यते चेति व्याघातान्मुग्धभाषितम् ॥८०॥

दोनों अवस्थाओं से एकत्व का सर्वथा भेद होने पर विरोध होता है। ऐसा मानते हैं तब तो इस प्रत्यभिज्ञा को स्मृतिज्ञान के समान पूर्वगृहीत अर्थ का ग्राहीपना क्यों नहीं होगा? अर्थात् पूर्वविवर्त और उत्तर विवर्त दो ज्ञानों से जानी जा चुकी दोनों विवर्तों से अभिन्न एकत्व को प्रत्यभिज्ञा जान रही है, तब तो प्रत्यभिज्ञान ने गृहीत अर्थ को ही जाना है। यदि कथंचित् पूर्व में गृहीत अर्थ को ग्रहण करना माना जाता है तो सभी प्रमाण एकान्त से अपूर्व अर्थ को ही जानने वाले हैं ऐसा सिद्ध होता है अत: उसी के समान प्रत्यभिज्ञान या स्मरण अपूर्व अर्थ के ग्राही नहीं है। तथा इस प्रकार "तत्रापूर्वार्थविज्ञानं" इस कारिका द्वारा जो सर्वथा अपूर्व अर्थ के ग्राहक ज्ञान को प्रमाण कहा गया है, उसका यह कहना असम्बद्ध है (पूर्वापरविरुद्ध सहित है)।

प्रत्यभिज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है, यह उक्त कथन से सिद्ध कर दिया गया है। इस कथन से अनुमान प्रमाणरूप ही प्रत्यभिज्ञान है।

अथवा आगम, अर्थापत्तिस्वरूप दूसरे प्रमाणरूप प्रत्यभिज्ञान है, यह भी खण्डित हो गया है, ऐसा समझ लेना चाहिए। क्योंकि सभी प्रमाणों को सभी प्रकारों से अपूर्व अर्थ के ग्राहकपन का निराकरण कर दिया है ऐसा मानने पर अन्य प्रमाणों की असिद्धि होने का प्रसंग आता है। अर्थात्-प्रत्यक्ष के अतिरिक्त प्राय: सभी प्रमाण कथंचित् ज्ञात हुए पूर्व अर्थ को जानते हैं अत: सर्वथा अपूर्व अर्थ के ग्राहक ही ज्ञान को प्रमाण मानने पर अन्य प्रमाणों की सिद्धि नहीं हो सकेगी।

स्व और अर्थ का निश्चय करने वाला ज्ञान ही प्रमाण है। इतने लक्षण से सर्व प्रयोजन सिद्ध हो जाते हैं। अत: अन्य सर्वथा अपूर्व अर्थ का ग्राहकपन, बाधवर्जितपना, लोकसम्मतपना आदि विशेषण व्यर्थ हैं ॥७८॥

जो ज्ञान ग्रहण किये जा चुके अथवा गृहीत नहीं हुए भी अपने और अर्थ को यदि निश्चय करता है, तो वह ज्ञान लोक में और शास्त्रों में भी प्रमाणपने को नहीं छोड़ता है ॥७९॥

इस प्रमाण लक्षण में मीमांसकों ने जो बाधवर्जितपना प्रमाण के लक्षण में लिखा है, सो वह बाधवर्जितपना भी स्व और अर्थ के निश्चय से कोई भिन्न नहीं है। जब स्व और अर्थ का निश्चय हो गया है, तो वह फिर किसी भी प्रमाण से बाधित नहीं हो सकता। जो बाधित है, वह स्वार्थ निश्चय नहीं है और जो स्वार्थ निश्चय आत्मक ज्ञान है, वह बाधित नहीं है अत: स्वार्थनिश्चय में भी व्यभिचारनिवारणार्थ

बाधकोदयत: पूर्वं वर्तते स्वार्थनिश्चय:। तस्योदये तु बाध्येतेत्येतदप्यविचारितम् ॥८१॥

अप्रमाणादपि ज्ञानात्प्रवृत्तेरनुषंगत:। बाधकोद्भूतित: पूर्वं प्रमाणं विफलं तत: ॥८२॥

बाधकाभावविज्ञानात्प्रमाणत्वस्य निश्चये। प्रवृत्त्यंगे तदेव स्यात्प्रतिपत्तु: प्रवर्तकम् ॥८३॥

तस्यापि च प्रमाणत्वं बाधकाभाववेदनात्। परस्मादित्यवस्थानं क्व नामैवं लभेमहि ॥८४॥

बाधकाभावबोधस्य स्वार्थनिर्णीतिरेव चेत्। बाधकांतरशून्यत्वनिर्णीति: प्रथमेत्र सा ॥८५॥

संप्रत्ययो यथा यत्र तथा तत्रास्त्वितीरणे। बाधकाभावविज्ञानपरित्याग: समागत: ॥८६॥

यच्चार्थवेदने बाधाभावज्ञानं तदेव न:। स्यादर्थसाधनं बाधसद्भावज्ञानमन्यथा ॥८७॥

बाधारहितपना लगाना मुग्धमानव का कथन है। बाधक प्रमाण के उदय से पहले स्व और अर्थ का निश्चय है पीछे उस बाधक का उदय होने पर स्वार्थनिश्चय बाधित हो जाता है यह कहना भी अविचारित है। इस प्रकार तो अप्रमाणज्ञान से भी प्रवृत्ति होने का प्रसंग आता है, क्योंकि, प्रवृत्ति हो चुकने पर बाधक के उदय होने से पहिला ज्ञान बाध्य होगा अत: बाधक के उत्पन्न होने से पहिले प्रमाण विफल हो जाता है॥८०-८१-८२॥

अर्थात् पदार्थों का निर्णय करके भी जो ज्ञान अनुमान आदि के द्वारा बाधित हो जाता है वा उसका प्रत्यक्षादि ज्ञान के द्वारा खण्डन हो जाता है वह ज्ञान अप्रमाण ही है उसको प्रमाणित स्वीकार करना निष्फल है।

यदि मीमांसक कहे कि बाधकाभाव के विज्ञान से प्रमाणपन का निश्चय करने को प्रवृत्ति का अंग माना है, तब तो हम स्याद्वादी कह सकते हैं कि वह बाधकाभाव का ज्ञान ही प्रतिपत्ता का प्रवर्तक है। अथवा उस बाधकाभाव के विज्ञान का प्रमाणपना दूसरे बाधकाभाव ज्ञान से निश्चित होगा और दूसरे का प्रमाणपना तीसरे बाधकाभाव ज्ञान से ज्ञात होगा। इस प्रकार हम कहाँ अवस्थिति को प्राप्त कर सकेंगे? अर्थात् कहीं भी अवस्थिति नहीं होने से अनवस्था दोष हो जाएगा॥८३-८४॥

यदि मीमांसक कहें कि बाधकाभाव ज्ञान का स्वार्थ निर्णय करना ही अन्य बाधकों की शून्यता का निर्णय करना है, अत: तीसरे चौथे आदि बाधकाभावों के ज्ञानों की आकांक्षा नहीं होगी और अनवस्था दोष भी नहीं होगा। इसका समाधान करते हुए जैनाचार्य कहते हैं कि पहिले ज्ञान में भी स्वतंत्र बाधकाभाव ज्ञान क्यों माना जाता है (प्रथम ज्ञान द्वारा स्व और अर्थ का निर्णय करना ही बाधकाभावों का निर्णय करना है अत: प्रमाण के लक्षण में बाधकाभाव विशेषण का लगाना व्यर्थ है)?॥८५॥

जिस प्रकार जहाँ वास्तविक निर्णय हो जाता है, वहाँ वैसी व्यवस्था कर ली जाती है। इस प्रकार कहने पर तो बाधकाभाव के विज्ञान का परित्याग हो जाता है (यानी स्व और अर्थ का निर्णय हो जाना ही बाधकाभाव है। जहाँ स्वार्थ का निश्चय है, वहाँ कोई भी बाधक फटकने नहीं पाता है)॥८६॥

जैसे अर्थ को जानने में मीमांसकों ने बाधकों के अभाव को ज्ञान माना है, वहीं हम स्याद्वादियों के यहाँ स्व अर्थ को साधने वाला ज्ञान माना गया है। और दूसरे प्रकार का (यानी स्वार्थ को नहीं साधने वाला) ज्ञान तो बाधकों के सद्भाव का ज्ञान है॥८७॥ अर्थात् स्वार्थ का निर्णय नहीं करने वाला ज्ञान बाधा-

तत्र देशांतरादीनि वापेक्ष्य यदि जायते। तदा सुनिश्चितं बाधाभावज्ञानं न चान्यथा ॥८८॥
अदुष्टकारणारब्धमित्येतच्च विशेषणम्। प्रमाणस्य न साफल्यं प्रयात्यव्यभिचारतः ॥८९॥
दुष्टकारणजन्यस्य स्वार्थनिर्णीत्यसंभवात्। सर्वस्य वेदनस्योत्थं तत एवानुमानतः ॥९०॥
स्वार्थनिश्चायकत्वेनादुष्टकारणजन्यता। तथा च तत्त्वमित्येतत्परस्परसमाश्रितम् ॥९१॥
यदि कारणदोषस्याभावज्ञानं च गम्यते। ज्ञानस्यादुष्टहेतूत्था तदा स्यादनवस्थितिः ॥९२॥
हेतुदोषविहीनत्वज्ञानस्यापि प्रमाणता। स्वहेतुदोषशून्यत्वज्ञानात्तस्यापि सा ततः ॥९३॥
गत्वा सुदूरमेकस्य तदभावेपि मानता। यदीष्टा तद्वदेव स्यादाद्यज्ञानस्य सा न किम् ॥९४॥

एवं न बाधवर्जितत्वमदुष्टकारणारब्धत्वं लोकसंमतत्वं वा प्रमाणस्य विशेषणं सफलपूर्वार्थवत्। स्वार्थव्यवसायात्मकत्वमात्रेण सुनिश्चितासंभवद्बाधकत्वात्मना प्रमाणत्वस्य वा व्यवस्थितेरपि परीक्षकैः प्रतिपत्तव्यम् ॥

वर्जित नहीं है। इस प्रकरण में देशान्तर, कालान्तर आदि की अपेक्षा से यदि वह ज्ञान उत्पन्न होता है, तब तो बाधकों के अभाव का ज्ञान निश्चित हो सकता है, अन्यथा निश्चित नहीं है।

सभी देश और सभी कालों में बाधकों के नहीं होने का यदि निर्णय हो जाता है तो बाधकाभाव ज्ञान प्रमाणता का हेतु हो सकता है केवल कभी, कहीं और किसी एक व्यक्ति को बाधकों का अभाव तो मिथ्याज्ञानों के होने पर भी हो सकता है परन्तु वह प्रमाण नहीं हो सकता ॥८८॥

प्रमाण के सामान्य लक्षण में दिया गया निर्दोष कारणों से जन्यपना यह प्रमाण का विशेषण भी व्यभिचार रहितपने से सफलता को प्राप्त नहीं हो सकता है तथा जो ज्ञान दुष्ट कारणों से जन्य है, उसके द्वारा स्व और अर्थ का निर्णय होना ही असम्भव है अतः प्रमाण का लक्षण स्वार्थ निश्चय ही पर्याप्त है तथा अनुमान से भी इस प्रकार सम्पूर्ण ज्ञानों की निर्दोष कारणों से उत्पत्ति होने का निर्णय होना असम्भव है क्योंकि उस अनुमान की भी निर्दोष कारणों से उत्पत्ति को जानना कठिन है। व्याप्तिज्ञान की निर्दोषता का परिज्ञान उससे भी कठिन है।

यदि स्व और अर्थ का निश्चय कारकपन से ज्ञान की निर्दोष कारणों से उत्पन्नता जानी जाएगी और निर्दोष कारणों से उत्पत्ति होने का कारण वह स्वार्थनिश्चायकपना माना जाए तो इसमें अन्योन्याश्रय दोष आता है॥८९-९१॥ यदि कारण दोष के अभाव का ज्ञान अदुष्ट हेतु के उत्पन्न ज्ञान से होता है तो अनवस्था दोष आता है ॥९२॥ हेतु दोष विहीनत्व ज्ञान की प्रमाणता अपने हेतु के दोष शून्यत्व ज्ञान से होती है तथा उसकी प्रमाणता दूसरे ज्ञान से होती है ॥९३॥

बहुत दूर भी जाकर अनवस्था के निवारणार्थ यदि किसी एक ज्ञान को उस निर्दोष कारणों से जन्यपने का ज्ञान न होते हुए भी प्रमाणपना इष्ट कर लोगे तो उस दूरवर्ती ज्ञान के समान ही सबसे पहिले हुए ज्ञान को भी निर्दोष कारणों से जन्यपन के ज्ञान बिना ही वह प्रमाणता क्यों नहीं है? ॥९४॥ इसलिए प्रमाण के स्वरूप में अदुष्ट कारणों से आरब्धत्व वह विशेषण अव्यभिचारी नहीं है।

स्वतः सर्वप्रमाणानां प्रामाण्यमिति केचन। यतः स्वतोऽसती शक्तिः कर्तुं नान्येन शक्यते ॥९५॥

तेषां स्वतोप्रमाणत्वमज्ञानानां भवेन्न किम्। तत एव विशेषस्याभावात्सर्वत्र सर्वथा ॥९६॥

यथार्थबोधकत्वेन प्रमाणत्वं व्यवस्थितम्। अर्थान्यथात्वहेतूत्थदोषज्ञानादपोह्यते ॥९७॥

तथा मिथ्यावभासित्वादप्रमाणत्वमादितः। अर्थयाथात्म्यहेतूत्थगुणज्ञानादपोह्यते ॥९८॥

यद्यथार्थान्यथाभावाभावज्ञानं निगद्यते। अर्थयाथात्म्यविज्ञानमप्रमाणत्वबाधकम् ॥९९॥

इस प्रकार बाधवर्जितपना, निर्दोष कारणों से उत्पन्नपना, लोक में अच्छी प्रकार प्रतिष्ठितत्व, ये प्रमाण के लक्षण में मीमांसकों द्वारा कहे गये विशेषण सफल नहीं हैं जैसे कि अपूर्वार्थ विशेषण व्यर्थ है (नैयायिकों ने भी क्वचित् लोकसम्मतपना प्रमाण का विशेषण अभीष्ट किया है, किन्तु लोक में कई प्रमाण विरुद्ध रीति से भी प्रचलित हैं, अतः वे विशेषण व्यर्थ हैं। केवल स्व और अर्थ का निश्चय करा देना स्वरूप अथवा बाधक प्रमाणों के असम्भव का अच्छी प्रकार निश्चित हो जाना स्वरूप ही प्रमाणपने की व्यवस्था है यह परीक्षकों को श्रद्धान करने योग्य है।

कोई (मीमांसक) कहते हैं कि सम्पूर्ण प्रमाणों को प्रमाणपना स्वतः ही प्राप्त हो जाता है। अर्थात् सामान्यज्ञान के कारणों से ही प्रमाणपना बन जाता है, दूसरे हेतुओं की आवश्यकता नहीं पड़ती है, क्योंकि स्वरूप से अविद्यमान शक्ति अन्य कारणों से उत्पन्न नहीं की जा सकती (मिट्टी में भी जलधारण शक्ति है और वह घट अवस्था में व्यक्त हो जाती है ऐसे ही ज्ञान में प्रमाणपने की शक्ति विद्यमान है ऐसा नहीं है कि पहले सामान्यज्ञान उत्पन्न होता है और पीछे किसी कारण/कारणों से उस ज्ञान में प्रमाणपना आता है)। जैन आचार्य कहते हैं कि उन मीमांसकों के कथनानुसार संशय आदि अज्ञानों का अप्रमाणपना भी स्वतः क्यों न होगा ? क्योंकि सर्वज्ञानों में सभी प्रकार से कोई विशेषता नहीं है अर्थात्-क्या अप्रमाणपने की शक्ति पीछे की जा सकती है? नहीं। जैसे प्रमाणपना स्वतः पूर्व से विद्यमान है, वैसे ही अप्रमाणपना भी पहिले से ही विद्यमान रहना चाहिए था। फिर मीमांसक अप्रमाणपने को पर से उत्पन्न हुआ या जाना गया क्यों कहते हैं? ॥९५-९६॥

जिस प्रकार मीमांसकों के यहाँ यथार्थ बोधकत्व से प्रमाणपना व्यवस्थित है, और अर्थ के अन्यथापन तथा ज्ञान के कारणों में दोषों का ज्ञान उत्पन्न हो जाने से उस प्रमाणपने का अपवाद हो जाता है॥९७॥ वह ज्ञान अप्रमाण हो जाता है।

जिस प्रकार मीमांसकों ने प्रमाणपना व्यवस्थित किया था उसी प्रकार सभी ज्ञान मिथ्याप्रकाशक होने के कारण प्रथम से अप्रमाणरूप ही व्यवस्थित हैं, यह कहा जा सकता है। अर्थ के यथात्मकपने से और हेतुओं में उत्पन्न हुए गुणों के ज्ञान से उस अप्रमाणपन का अपवाद हो जाता है अतः अर्थ का यथार्थपन और गुणयुक्त कारणों के ज्ञान होने के कारण प्रमाणपना परतः है ॥९८॥

जैसे मीमांसक लोग अर्थ के अन्यथापनके अभाव के ज्ञान को ही अर्थ के यथार्थपन का विज्ञानरूप कहते हैं और वही अप्रमाणपन का बाधक है ॥९९॥

तथैवास्त्वर्थयाथात्म्याभावज्ञानं स्वतः सताम्। अर्थान्यथात्वविज्ञानं प्रमाणत्वापवादकम् ।।१००।।

विज्ञानकारणे दोषाभावः प्रज्ञायते गुणः। यथा तथा गुणाभावो दोषः किं नात्र मन्यते।। १०१।।

यथा च जातमात्रस्यादुष्टा नेत्रादयः स्वतः। जात्यंधादेस्तथा दुष्टाः शिष्टैस्ते किं न लक्षिताः ।।१०२।।

धूमादयो यथाग्न्यादीन् विना न स्युः स्वभावतः। धूमाभासादयस्तद्वत्तैर्विना संत्यबाधिताः ।।१०३।।

भावार्थ : अर्थ का विपरीतपन अप्रमाणपने को उत्पन्न कराता है और उसका अभाव स्वतः प्रामाण्य उत्पन्न हो जाने का प्रयोजक हो जाता है; अन्यथापन के अभाव का ज्ञान कोई पृथक् स्वतंत्र हेतु नहीं है, जिसे उत्पन्न प्रमाणपना कहा जाए, किन्तु अर्थ के विपरीतपन का अभाव जानना ही तो अर्थ के यथार्थपन का जानना है अतः वह अर्थ के अन्यथापन से उत्पन्न होने वाले अप्रमाणपन का बाधक होकर ज्ञान में स्वतः प्रमाणपना करा देता है। अप्रमाणपन को टालने के लिए ही अन्य कारण की आवश्यकता है। प्रमाणपना तो स्वतः प्राप्त हो जाता है। आचार्य कहते हैं, इसमें यह भी कहा जा सकता है कि अर्थ के यथार्थपन के अभाव का ज्ञान ही अर्थ के अन्यथापन का विज्ञान है।

वह प्रमाणपने का अपवाद करने वाला होकर विद्यमान सब ज्ञानों के स्वतः अप्रमाणपन का व्यवस्थापक हो जाता है। अतः प्रमाण और अप्रमाण दोनों को परतः मानना चाहिए। एक को स्वतः और दूसरे को परतः मानना उचित नहीं है ।।१००।। जैसे विज्ञान के कारण में दोषों का अभाव ही गुण कहा जाता है, वैसे ही प्रमाण में गुणों के अभाव को दोष क्यों नहीं माना जाता है? ।।१०१।।

भावार्थ : जैसे गुण कोई स्वतंत्र होकर पृथक् हेतु नहीं है; दोष का अभाव ही गुण है। उसी प्रकार दोष कोई भिन्न स्वतंत्र हेतु नहीं है। किन्तु गुणों का अभाव ही दोष है। ऐसी दशा में परतः प्रमाणता को उत्पन्न कराने वाले गुणों का अन्य कारणों द्वारा निराकरण हो जाने से स्वतः ही अप्रमाणपन आ जाता है। यहाँ ऐसा क्यों नहीं माना जाता है?

जिस प्रकार तत्काल उत्पन्न हुए बच्चे के भी नेत्र, कान आदिक स्वतः ही अदुष्ट जाने जा रहे हैं, उसी प्रकार जन्म से अन्धे पुरुष के नेत्र भी स्वतः ही दुष्ट या निर्गुण हो रहे हैं। इस प्रकार शिष्टों के द्वारा क्यों नहीं देखे गये हैं? अतः अदुष्टपना या निर्गुणपना किसी का भी निज गाँठ का स्वरूप नहीं कहा जा सकता है।।१०२।।

यदि कहो कि अग्नि आदिक साध्यों के बिना धूम आदिक हेतु स्वभाव से ही नहीं होते हैं (अतः अविनाभावसहितपना धूमहेतु का स्वात्मलाभ है) तो उसी प्रकार धूमसदृश दिखने वाले धूमाभास आदिक हेत्वाभास भी तो उन अग्निसदृश दिखने वाले अग्न्याभास आदि के बिना नहीं हो सकते हैं अतः धूमाभास आदिक भी अबाधित होकर स्वभाव से स्वतः अप्रमाणपन के व्यवस्थापक हो जायेंगे, यानी प्रमाणपन के समान अनुमान में अप्रमाणपन की भी स्वतः व्यवस्था हो जाएगी उसे कौन रोक सकता है ?।।१०३।।

यथा शब्दाः स्वतस्तत्त्वप्रत्यायनपरास्तथा। शब्दाभासास्तथा मिथ्यापदार्थप्रतिपादकाः ॥१०४॥

दुष्टे वक्तरि शब्दस्य दोषस्तत्संप्रतीयते। गुणो गुणवतीति स्याद्वक्त्रधीनमिदं द्वयम् ॥१०५॥

यथा वक्तृगुणैर्दोषः शब्दानां विनिवर्त्यते। तथा गुणोपि तद्दोषैरिति स्पृष्टमभीक्ष्यते ॥१०६॥

यथा च वक्त्रभावेन न स्युर्दोषास्तदाश्रयाः। तद्वदेव गुणा न स्युर्मेघध्वानादिवद्ध्रुवम् ॥१०७॥

ततश्च चोदनाबुद्धिर्न प्रमाणं न वा प्रमा। आप्तानाप्तोपदेशोत्थबुद्धेस्तत्त्वप्रसिद्धितः ॥१०८॥

एवं समत्वसंसिद्धौ प्रमाणत्वेतरत्वयोः। स्वत एव द्वयं सिद्धं सर्वज्ञानेष्वितीतरे ॥१०९॥

यथा प्रमाणानां स्वतः प्रामाण्यं तथा अप्रमाणानां स्वतोऽप्रामाण्यं सर्वथा विशेषाभावात् तयोरुत्पत्तौ स्वकार्ये च साम्ग्र्यंतरस्वग्रहणनिरपेक्षत्वोपपत्तेः प्रकारांतरासंभवादित्यपरे॥

मीमांसकों के दर्शन में जिस प्रकार शब्द स्वतः ही अपने वाच्यार्थ तत्त्वों के समझाने में तत्पर माने गये हैं, उसी प्रकार शब्दाभास भी मिथ्यापदार्थों के स्वतः ही प्रतिपादक माने जा सकते हैं, क्योंकि इन दोनों में कोई अन्तर नहीं है। अर्थात् आगम में प्रमाणपन के समान कुशास्त्रों में अप्रमाणपन भी स्वतः उत्पन्न हो सकता है। दोषयुक्त वक्ता के होने पर जैसे शब्द के दोष प्रतीत होते हैं, वैसे ही गुणवान वक्ता के होने पर शब्द के गुण भी स्वतंत्र दिखते हैं क्योंकि गुण-दोष दोनों ही वक्ता के आधीन हैं अतः दोनों स्वतंत्र हैं तथा जिस प्रकार समीचीन सत्यवक्ता पुरुष के गुणों के द्वारा शब्दों के दोष निवृत्त हो जाते हैं और अप्रामाण्य के कारण दोषों के टल जाने से आगमज्ञान में स्वतः प्रामाण्य आ जाता है, उसी प्रकार झूठ कहने वाले वक्ता के दोषों के द्वारा शब्दों के गुण भी निवृत्त हो जाते हैं ऐसा स्पष्ट देखने में आता है। अर्थात्, प्रामाण्य के कारणभूत गुणों के न होने से वाच्यार्थ ज्ञान में स्वतः अप्रमाणपना भी आ जाता है फिर प्रमाणपन की ही स्वतः उत्पत्ति का आग्रह क्यों किया जा रहा है ? जैसे वक्ता के अभाव में उसके आधार पर होने वाले दोष नहीं हो सकते हैं (अतः अप्रमाणपन के कारणों के टल जाने से स्वतः ही वेद में प्रमाणपना आ जाता है)। उसी प्रकार हम भी कह सकते हैं कि मेघशब्द, वात्या (आँधी) के शब्द आदि में वक्ता के न होने के कारण ही गुण भी नहीं हैं अतः निश्चय से उनमें अप्रमाणपना स्वतः उत्पन्न हो जाएगा॥१०४-१०५-१०६-१०७॥

तथा विधिलिङन्त वेद वाक्यों से उत्पन्न हुई कर्मकाण्ड की प्रेरिका बुद्धि प्रमाण भी नहीं है और अप्रमाण भी नहीं है, क्योंकि आप्त और अनाप्त के उपदेशों से उत्पन्न हुई बुद्धि को उस प्रमाणपन और अप्रमाणपन की व्यवस्था सिद्ध है। इस प्रकार मीमांसकों के यहाँ प्रमाणपन और अप्रमाणपन दोनों की समान रूप से सिद्धि हो जाने पर सम्पूर्ण ज्ञानों में प्रमाणपन और अप्रमाणपन स्वतः ही सिद्ध हो जाता है॥१०८-१०९॥

जिस प्रकार प्रमाणज्ञानों को स्वतः प्रमाणपना इष्ट है, उसी प्रकार अप्रमाणभूत कुज्ञानों को स्वतः अप्रमाणपना हो जाने में कोई विरोध नहीं है क्योंकि सभी प्रकारों से कोई अन्तर नहीं है।

स्वत: प्रमाणेतरैकांतवादिनं प्रत्याह —

तन्नानभ्यासकालेपि तथा भावानुषंगत:। न च प्रतीयते तादृक् परतस्तत्त्वनिर्णयात्॥११०॥

स्वत: प्रामाण्येतरैकांतवादिनामभ्यासावस्थायामिवानभ्यासदशायामपि स्वत एव प्रमाणत्वमितरच्च स्यादन्यथा तदेकांतहानिप्रसंगात्। न चेदृक् प्रतीयतेऽनभ्यासे परत: प्रमाणत्वस्येतरस्य च निर्णयात्। न हि तत्तदा कस्यचित्तथ्यार्थावबोधकत्वं मिथ्यावभासित्वं वा नेतुं शक्यं स्वत एव तस्यार्थान्यथात्वहेतूत्थदोषज्ञानादर्थयाथात्म्यहेतूत्थगुणज्ञानाद्वा अनपवादप्रसंगात्। तथा च नाप्रमाणत्वस्यार्थान्यथाभावाभावज्ञानं बाधकं प्रमाणत्वस्य वार्थान्यथात्वविज्ञानं सिद्ध्येत्। न चानभ्यासे

उन दोनों की उत्पत्ति में और स्वकीय कार्य में अन्य सामग्रियों की तथा अपने ग्रहण की कोई अपेक्षा नहीं है। ऐसी दशा में दूसरों से प्रमाणपन या अप्रमाणपन उत्पन्न कराना अन्य किसी प्रकार सम्भव नहीं है। इस प्रकार कोई अन्य कह रहे हैं।

स्वत: प्रमाणता और परत: प्रमाणता का खण्डन करके स्वत: और परत: दोनों से होता है, इसकी सिद्धि : नैयायिक तो प्रमाणपने की ज्ञप्ति का होना परत: ही मानते हैं और मीमांसक सभी ज्ञानों में प्रमाणपना स्वत: मानते हैं। प्रथम ही जो प्रमाणपन और अप्रमाणपन को स्वत: मानते हैं, उन एकान्तवादियों के प्रति आचार्य स्पष्ट उत्तर देते हैं-

प्रमाणपन और अप्रमाणपन की स्वत: ज्ञप्ति हो जाने का एकान्त करना ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर अनभ्यास काल में भी स्वत: ही प्रमाणपन या अप्रमाणपन हो जाने का प्रसंग आएगा किन्तु वैसी स्वत: ज्ञप्ति होना प्रतीत नहीं हो रहा है। अनभ्यास दशा में तो अन्य ज्ञापकों से तत्त्व (यानी उस प्रमाणपन या अप्रमाणपन) का निर्णय होता है। अर्थात्- अपनी परिचित नदी, सरोवर आदि के जल की गहराई के ज्ञान में प्रमाणता स्वत: जानी जाती है किन्तु देशान्तर में जल की गहराई के ज्ञान में परोपदेश आदि अन्य ज्ञापकों से प्रामाण्य जाना जाता है॥११०॥

प्रमाणपन और उससे भिन्न अप्रमाणपन का स्वत: ही ज्ञान होना मानने वाले एकान्तवादियों के यहाँ अभ्यासदशा के समान अनभ्यास दशा में भी स्वत: ही प्रमाणपन और इससे भिन्न अप्रमाणपन हो जाएगा।

अन्यथा अनभ्यास दशा में दोनों की परत: ज्ञप्ति मानने पर उनके अपने एकान्त की हानि हो जाने का (अपने पक्ष के परित्याग करने का) प्रसंग आएगा। किन्तु ऐसा प्रतीत नहीं होता है। अनभ्यासदशा में प्रमाणपना और अप्रमाणपना दूसरे कारणों से निर्णीत किया जाता है। क्योंकि उस समय (अनभ्यास दशा में) वह प्रमाणपन किसी के सत्य अर्थ के अवबोधकपन को प्राप्त नहीं किया जा सकता है जिससे कि अर्थ के विपरीतपन या कारणों में उत्पन्न हुए दोषों के ज्ञान से शंका प्राप्त अप्रमाणपन का निराकरण होकर अपवाद-रहित हो जाने के प्रसंग से उस ज्ञान को स्वत: ही प्रमाणपना ज्ञात हो सकता हो तथा अनभ्यास दशा में वह अप्रमाणपन किसी अर्थ के मिथ्याप्रकाशकपन को भी प्राप्त नहीं कराया जा सकता है, जिससे कि अर्थके यथार्थ आत्मकपन या कारणों में उत्पन्न हुए गुणों के ज्ञान से शंकाप्राप्त प्रमाणपन का निवारण कर अपवादरहित हो जाने से उस ज्ञान को अप्रमाणपना स्वत: ही औत्सर्गिक जाना जा सके।

ज्ञानकारणेषु दोषाभावो गुणाभावो वा गुणदोषस्वभाव: स्वतो विभाव्यते यतो जातमात्रस्यादुष्टा दुष्टा वा नेत्रादय: प्रत्यक्षहेतव: सिद्धेयु: धूमादितदाभासा वानुमानहेतव: शब्दतदाभासा वा शाब्दज्ञानहेतव: प्रमाणांतरहेतवो वा यथोपवर्णिता इति। कथं वानभ्यासे दुष्टो वक्ता गुणवान् वा स्वत: शक्योवसातुं यत: शब्दस्य दोषवत्त्वं गुणवत्त्वं वा वक्त्रधीनमनुरुध्यते। तथा वक्तुर्गुणै: शब्दानां दोष उपनीयते दोषैर्वा गुण इत्येतदपि नानभ्यासे स्वतो निर्णेयं, वक्तृरहितत्वं वा गुणदोषाभावनिबंधनतया चोदनाबुद्धे: प्रमाणेतरत्वाभावनिबंधनमिति न प्रमाणेतरत्वयो समत्वं सिद्ध्येत् स्वतस्तन्निबंधनं सर्वथानभ्यासे ज्ञानानामुत्पत्तौ स्वकार्ये च साम्रग्यंतरस्वग्रहणनिरपेक्षत्वासिद्धेश्च। ततो न स्वत एवेति युक्तमुत्पश्याम:॥

अनभ्यास दशा में अपवाद विषयों को टालकर स्वत: ही दोनों नहीं जाने जा सकते हैं और ऐसा होने पर विषय अर्थके विपरीतपन का अभावज्ञान तो अप्रमाणपने का बाधक नहीं सिद्ध हो सकता और ज्ञेय अर्थके विपरीतपन का ज्ञान प्रमाणपन का बाधक नहीं सिद्ध हो सकता। अर्थ का यथार्थपन और विपरीतपन उन अप्रमाणपन और प्रमाणपन के वहाँ बाधक हो जाता है। उनको दूर करने के लिए अन्य ज्ञापकों की आवश्यकता होती है तथा अनभ्यास दशा में ज्ञान के कारणों में दोषों का अभाव अथवा गुणों का अभाव वा गुण या दोषस्वरूप है, यह स्वत: तो विचार नहीं किया जा सकता है जिससे कि उसी समय उत्पन्न हुए बच्चे तक के भी नेत्र आदि दोष रहित अथवा दोष सहित होते हुए वे प्रत्यक्ष के प्रमाणपन और अप्रमाणपन के कारण सिद्ध हो सकें अथवा निर्दोष धूम आदिक हेतु और सदोष हेत्वाभास ये अनुमान के प्रमाणपन और अप्रमाणपन के कारण सिद्ध हो सकें। अथवा निर्दोष शब्द और सदोष शब्दाभास ये आगमज्ञान के प्रमाणपन एवं अप्रमाणपन के कारण सिद्ध हो जाएँ। अथवा आपने जिस प्रकार अन्य प्रत्यभिज्ञान, अर्थापत्ति आदि प्रमाणों के हेतु वर्णन किये हैं, वे निर्दोष और सदोष होते हुए उनके प्रमाणपन और अप्रमाणपन के हेतु सिद्ध हो जाएँ। अर्थात् अनभ्यास दशा में सदोष एवं निर्दोष कारणों का जानना कठिन है। अथवा अनभ्यास दशा में दोषवान वक्ता अथवा गुणवान वक्ता का स्वत: ही निर्णय कैसे किया जा सकता है जिससे कि मीमांसकों का यह अनुरोध हो सके कि शब्द को दोषयुक्तपना और गुणयुक्तपना तो वक्ता के आधीन है।

तथा वक्ता के गुणों के द्वारा शब्द के दोषों का निवारण हो जाता है और वक्ता के दोषों से शब्द के गुण दूर कर दिये जाते हैं। इस प्रकार यह भी अनभ्यासदशामें अपने आप निर्णय करने योग्य नहीं है। अथवा वेद का वक्तारहितपना ही गुण और दोष के अभाव का कारण हो जाने से वेदवाक्यजन्य ज्ञान के प्रमाणपन और अप्रमाणपन के अभाव का कारण हो जाता है, यह भी निर्णय नहीं किया जा सकता है, जिससे अभ्यास और अनभ्यास दशा में प्रमाणपन और अप्रमाणपन का एक साधन सिद्ध हो सके। अर्थात्-दोनों एक से हैं। स्वत: होने के अथवा परत: ज्ञप्ति होने के उनके कारण एक से हैं और सर्वथा अनभ्यास दशा में ज्ञानों की उत्पत्ति और स्वकार्य में भी अन्य सामग्री और स्वग्रहण का निरपेक्षपना असिद्ध है। यानी प्रमाण के कार्य यथार्थ परिच्छेद अथवा "यह प्रमाण है"-ऐसा निर्णय होना रूप कार्य में अन्य सामग्री की और स्व के ग्रहण की ज्ञान को अपेक्षा है। प्रामाण्य की उत्पत्ति में ज्ञान के सामान्य कारणों से अतिरिक्त अन्य कारणों की अपेक्षा पहले बतला दी गयी है अत: उत्पत्ति, ज्ञप्ति और स्वकार्य करने में प्रामाण्य स्वत: ही है, यह एकान्तवादियों का कहना युक्त नहीं है।

द्वयं परत एवेति केचित्तदपि साकुलम्। स्वभ्यस्तविषये तस्य परापेक्षानभीक्षणात्॥१११॥

स्वभ्यस्तेपि विषये प्रमाणाप्रमाणयोस्तद्भावसिद्धौ परापेक्षायामनवस्थानापत्तेः कुतः कस्यचित्प्रवृत्तिनिवृत्ती च स्यातामिति न परत एव तदुभयमभ्युपगंतव्यं॥

तत्र प्रवृत्तिसामर्थ्यात्प्रमाणत्वं प्रतीयते। प्रमाणस्यार्थवत्त्वं चेन्नानवस्थानुषंगतः॥११२॥

प्रमाणेन प्रतीतेर्थे यत्तद्देशोपसर्पणम्। सा प्रवृत्तिः फलस्याप्तिस्तस्याः सामर्थ्यमिष्यते॥११३॥

प्रसूतिर्वा सजातीयविज्ञानस्य यदा तदा। फलप्राप्तिरपि ज्ञाता सामर्थ्यं नान्यथा स्थितिः॥११४॥

तद्विज्ञानस्य चान्यस्मात् प्रवृत्तिबलतो यदि। तदानवस्थितिस्तावत्केनात्र प्रतिहन्यते॥११५॥

स्वतस्तद्बलतो ज्ञानं प्रमाणं चेत्तथा न किम्। प्रथमं कथ्यते ज्ञानं प्रद्वेषो निर्निबंधनम्॥११६॥

प्रामाण्य और अप्रामाण्य की ज्ञप्ति अभ्यास दशा में अथवा अनभ्यास दशा में दूसरे कारणों से ही होती है, यह किसी नैयायिक का कथन भी आकुलता सहित है, क्योंकि भली भाँति अभ्यास को प्राप्त हुए विषय में उस प्रामाण्य अप्रामाण्य के द्वय को अन्य कारणों की अपेक्षा रखना नहीं देखा जाता है॥१११॥

सम्यक् रूप से अभ्यास को प्राप्त किये गये भी विषय में प्रमाण और अप्रमाण के उस प्रमाणपन और अप्रमाणपन के अधिगम की सिद्धि करने में यदि अन्यों की अपेक्षा मानी जायेगी तो अनवस्था दोष का प्रसंग आएगा। अत: किसकी किससे प्रवृत्ति और निवृत्ति हो सकेगी? अत: वह प्रमाणपन और अप्रमाणपन दोनों की ज्ञप्ति का पर से ही होना नहीं स्वीकार करना चाहिए।

वहाँ नैयायिक या वैशेषिक प्रवृत्ति की सामर्थ्य से प्रमाणपना प्रतीत होता है, यह मानते हैं। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार प्रमाण को अर्थ सहितपना मानना ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर अनवस्था दोष का प्रसंग आता है। जैसे प्रमाण के द्वारा अर्थ के प्रतीत हो जाने पर जो उस प्रमेय के देश में झटपट गमन करता है, वह प्रवृत्ति है या जलज्ञान से जल को जानकर स्नान, पान, अवगाहनरूप फल की प्राप्ति हो जाना उस प्रवृत्ति का सामर्थ्य है? अथवा जलज्ञान की दृढ़ता को सम्पादन करने के लिए जलज्ञान के समान जाति वाले दूसरे विज्ञान की उत्पत्ति हो जाना सामर्थ्य है? वा यदि प्रथम पक्ष ग्रहण करोगे तो स्नान, पान आदि फल की प्राप्ति भी अन्यज्ञान से होना सिद्ध होगी। अन्यथा (दूसरे प्रकारों से) व्यवस्था नहीं हो सकेगी। उस फलप्राप्ति को जानने वाले विज्ञान की प्रमाणता अन्य किसी प्रवृत्ति सामर्थ्य से यदि जानी जावेगी तो वह दूसरा प्रवृत्ति सामर्थ्य भी फलप्राप्ति रूप होगा। वह फलप्राप्ति भी किसी ज्ञान से जानी गई होकर ही सामर्थ्य बन सकती है नहीं जानी गयी हुई फल प्राप्ति तो प्रवृत्ति सामर्थ्य बन नहीं सकती है अत: अतिप्रसंग दोष आएगा। फलप्राप्ति को पुन: जानने के लिए अन्य ज्ञानों की आवश्यकता पड़ेगी और उन ज्ञानों को प्रमाणपना अन्य प्रवृत्ति सामर्थ्यों से होगा। तब तो यहाँ अनवस्था दोष का प्रतिघात किसके द्वारा हो सकता है? ॥११२-११५॥

अनवस्था दोष के निवारण के लिए यदि उस प्रवृत्ति की सामर्थ्य से हुए दूसरे ज्ञान को प्रमाणपना स्वत: माना जाता है तब तो उस प्रकार पहला ज्ञान भी स्वत: प्रमाणरूप क्यों नहीं माना जाए? कारण के बिना ही दोनों में से किसी एक के साथ विशेष द्वेष करना समुचित नहीं है॥११६॥

एतेनैव सजातीयज्ञानोत्पत्तौ निवेदिता। अनवस्थान्यतस्तस्य प्रमाणत्वव्यवस्थिते: ॥११७॥

न च सामर्थ्यविज्ञाने प्रामाण्यानवधारणे। तन्निबंधनमाद्यस्य ज्ञानस्यैतत् प्रसिद्ध्यति ॥११८॥

न ह्यनवधारितप्रामाण्याद्विज्ञानात् प्रवृत्तिसामर्थ्यं सिद्ध्यति यतोनवस्थापरिहार:। प्रमाणतोर्थप्रतिपत्तौ प्रवृत्तिसामर्थ्यादर्थवत्प्रमाणमित्येतद्वा भाष्यं सुघटं स्यात् प्रवृत्तिसामर्थ्यादसिद्धात् प्रमाणस्यार्थवत्त्वाघटनात्।

किं च प्रमाणत: प्रवृत्तिरपि ज्ञातप्रामाण्यादज्ञातप्रामाण्याद्वा स्यात्।

ज्ञातप्रामाण्यतो मानात्प्रवृत्तौ केन वार्यते। परस्पराश्रयो दोषो वृत्तिप्रामाण्यसंविदो: ॥११९॥

अविज्ञातप्रमाणत्वात् प्रवृत्तिश्चेद्वृथा भवेत्। प्रामाण्यवेदनं वृत्ते: क्षौरे नक्षत्रपृष्टिवत् ॥१२०॥

इस उक्त कथन से सजातीय ज्ञान की उत्पत्ति रूप प्रवृत्तिसामर्थ्य का भी निवारण कर दिया गया है। द्वितीय पक्ष के अनुसार मानी गयी सजातीय ज्ञान की उत्पत्ति में भी अनवस्था दोष आता है यह निवेदन किया है क्योंकि उस दूसरे सजातीय ज्ञान को प्रमाणपना अन्य सजातीय ज्ञान से व्यवस्थित होता है। जब तक प्रवृत्ति सामर्थ्य के विज्ञान में प्रामाण्य का निर्णय नहीं होगा तब तक उस प्रवृत्ति के सामर्थ्य को कारण मानकर उत्पन्न होने वाली आदि के ज्ञान की यह प्रमाणता प्रसिद्ध नहीं हो सकती अत: अन्य ज्ञानों के द्वारा प्रवृत्ति के सामर्थ्य से विज्ञान में प्रामाण्य का निर्णय करने पर अनवस्था हो जाती है॥११७-११८॥

जिस प्रमाण का निर्णय नहीं है, उस विज्ञान से प्रवृत्ति का सामर्थ्य सिद्ध नहीं होता है जिससे कि अनवस्था का परिहार हो सके। अनिर्णीत ज्ञान में प्रमाणता सिद्ध नहीं हो सकती अत: जो ज्ञान प्रमाणभूत नहीं है उससे अनवस्था का परिहार नहीं हो सकता। प्रमाण से अर्थ की प्रतिपत्ति हो जाने पर प्रवृत्ति की सामर्थ्य से प्रमाण अर्थवान् है इस प्रकार यह न्यायभाष्य घटित होता है। अर्थात्-नैयायिकों के ऊपर अनवस्था दोष लागू रहेगा और न्याय भाष्यकार का वचन घटित नहीं होगा क्योंकि प्रमाणों से नहीं सिद्ध किये गये प्रवृत्ति सामर्थ्य से तो प्रमाण का अर्थवानपना घटित नहीं होता अर्थात् अप्रमाणभूत ज्ञान से अर्थ की सिद्धि नहीं होती।

किं च, जान लिया गया है प्रमाणपना जिसका, ऐसे प्रमाण से प्रवृत्ति करना मानते हैं? अथवा नहीं जाना गया है प्रामाण्य जिसका ऐसे प्रमाण से प्रवृत्ति होना मानते हैं? इस प्रकार प्रश्न उठते हैं -

जान लिया गया है प्रामाण्य जिसका ऐसे प्रमाण से यदि प्रमेय में प्रवृत्ति होना माना जायेगा तो प्रवृत्ति और प्रामाण्य ज्ञान में अन्योन्याश्रय दोष कैसे निवारित किया जा सकता है? (प्रवृत्ति कराने वाले ज्ञान का प्रमाणपना निश्चय हो जाने पर उस प्रामाण्यग्रस्त ज्ञान से प्रमेय की प्रतिपत्ति और प्रमेय की प्रतिपत्ति हो जाने पर उसमें प्रवृत्ति होने की सामर्थ्य से प्रमाणपने का निश्चय होना यह अन्योन्याश्रय दोष है)। नहीं जाना गया है प्रामाण्य जिसका ऐसे ज्ञान से यदि प्रवृत्ति होना माना जायेगा तो सर्वत्र प्रामाण्य का निश्चय करना व्यर्थ होगा। जैसे कि बालों के काटे जाने पर फिर नक्षत्र का पूछना व्यर्थ है। अर्थात् अनिर्णीत प्रमाण से यदि पदार्थ की जानकारी हो जाती है तो फिर प्रमाण में प्रमाणता की आवश्यकता ही क्या है? जैसे शिर मुंडाने के बाद नक्षत्र पूछना व्यर्थ है, उसी प्रकार प्रमाण में प्रमाणता के बिना वस्तु की सिद्धि हो जाती है, तो फिर उसमें प्रमाणता स्वीकार करना व्यर्थ है॥११९-१२०॥

अर्थसंशयतो वृत्तिरनेनैव निवारिता। अनर्थसंशयाद्वापि निवृत्तिर्विदुषामिव ॥१२१॥

परलोकप्रसिद्ध्यर्थमनुष्ठानं प्रमाणतः। सिद्धं तस्य बहुक्लेशवित्तत्यागात्मकत्वतः ॥१२२॥

इति ब्रुवन् महायात्राविवाहादिषु वर्तनम्। संदेहादभिमन्येत जाड्यादेव महत्तमात् ॥१२३॥

परलोकार्थानुष्ठाने महायात्राविवाहादौ च बहुक्लेशवित्तत्यागाविशेषेपि निश्चितप्रामाण्याद्वेदनादेकत्रान्यत्र वर्तनं संदेहाच्च स्वयमाचक्षाणस्य किमन्यत्कारणमन्यत्र महात्तमाज्जाड्यात्। एकत्र परस्पराश्रयस्यान्यत्र प्रामाण्यव्यवस्थापनवैयर्थ्यस्य च तदवस्थत्वात्॥

तस्मात्प्रेक्षावतां युक्ता प्रमाणादेव निश्चितात्। सर्वप्रवृत्तिरन्येषां संशयादेरपि क्वचित् ॥१२४॥

इसी हेतु से अर्थ के संशय से होने वाली वृत्ति का निवारण कर दिया है अर्थात् संशय ज्ञान से अर्थ की सिद्धि नहीं होती।

अनर्थ के संशय से भी विद्वानों की अनुचित कार्यों से जैसे निवृत्ति हो जाती है, वैसे ही इष्ट अर्थ के संशय से पदार्थों में प्रवृत्ति हो जाती है, यह पक्ष भी इस उक्त कथन से निवारित कर दिया गया है। ऐसा समझ लेना चाहिए। (प्रेक्षापूर्वकारी पुरुष संशय से प्रवृत्ति नहीं करते हैं) ॥१२१॥

परलोक की प्रसिद्धि के लिए दीक्षा, उपवास, परीषहसहन, ब्रह्मचर्य आदि अनुष्ठान करना प्रमाणों से सिद्ध है, क्योंकि वह अनुष्ठान अधिकक्लेश, धनत्याग, स्त्रीपुत्रनिवारण आत्मक है। अत्यन्त परोक्ष परलोक की सिद्धि के लिए परिग्रह का त्याग, पुत्र-घर आदि का त्याग, कायक्लेश आत्मक अनुष्ठानों को संशय रहित होकर स्वीकार करते हैं। ऐसा कहने वाले जब अत्यन्त परोक्ष परलोक के लिए प्रमाणों से सिद्ध किये गये अनुष्ठानों में प्रवृत्ति होना मानते हैं और बड़ी यात्रा, विवाह, आदिक में संदेह से प्रवृत्ति करना अभिमान पूर्वक अभीष्ट करते हैं, तब आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार कथन करने वाले एकान्ती पुरुष महामूर्ख हैं इसमें जड़ता ही कारण कही जा सकती है ॥१२२-१२३॥

परलोक के अर्थ दीक्षा आदि कर्मों के अनुष्ठान करने में और महायात्रा, विवाह प्रतिष्ठा कर्म आदि में बहुत क्लेश और धन त्याग विशेषतारहित होने पर भी एक स्थल पर (परलोक के लिए) तो प्रामाण्यनिश्चय वाले वेदन से प्रवृत्ति होना कह रहे हैं तथा दूसरे स्थल पर विवाह आदि में नैयायिक लोग स्वयं संदेह से प्रवृत्ति कर रहे हैं। उनके इस कथन से अधिक जड़ता के अतिरिक्त दूसरा क्या कारण कहा जा सकता है? एक स्थान पर अन्योन्याश्रय दोष और दूसरे स्थान पर प्रमाणपने की व्यवस्था कराने का व्यर्थपना दोष वैसे का वैसा ही अवस्थित रहता है और संदेह से प्रवृत्ति होना मानने से ज्ञानों में प्रमाणपन व्यर्थ होता है अतः हिताहित विचारने की बुद्धि को धारण करने वाले पुरुषों का सभी क्रियाओं में निश्चित प्रमाण से ही प्रवृत्ति करना युक्त है। विचार कर कार्य को नहीं करने वाले दूसरों के किसी-किसी कार्य में संशय, विपर्यय आदि से भी प्रवृत्ति का होना मान लिया गया है॥१२४॥

द्विविधा हि प्रवर्तितारो दृश्यंते विचार्य प्रवर्तमानाः केचिदविचार्य चान्ये। तत्रैकेषां निश्चितप्रामाण्यादेव वेदनात् क्वचित्प्रवृत्तिरन्यथा प्रेक्षावत्त्वविरोधात्। परेषां संशयाद्विपर्ययाद्वा अन्यथाऽप्रेक्षाकारित्वव्याघातादिति युक्तं वक्तुं, लोकवृत्तानुवादस्येवं घटनात्। सोयमुद्योतकरः स्वयं लोकप्रवृत्तानुवादमुपयत्प्रामाण्यपरीक्षायां तद्विरुद्धमभिदधातीति किमन्यदनात्मज्ञतायाः। ननु च लोकव्यवहारं प्रति बालपंडितयोः सदृशत्वादप्रेक्षावत्तयैव सर्वस्य प्रवृत्तेः क्वचित्संशयात् प्रवृत्तिर्युक्तैवान्यथाऽप्रेक्षावतः प्रवृत्त्यभावप्रसंगादिति चेत् न, तस्य क्वचित्कदाचित्प्रेक्षावत्तयापि प्रवृत्त्यविरोधात्॥

प्रेक्षावता पुनर्ज्ञेया कदाचित्कस्यचित्क्वचित्। अप्रेक्षकारिताप्येवमन्यत्राशेषवेदिनः ॥१२५॥

कार्यों में प्रवृत्ति करने वाले जीव दो प्रकार के देखे जाते हैं-विचार कर प्रवृत्ति करने वाले तथा बिना विचारे प्रवृत्ति करने वाले। उन दोनों में प्रथम श्रेणी के जीवों की किसी भी कार्य में प्रामाण्य के निश्चय वाले ज्ञान से ही प्रवृत्ति होती है। अन्यथा (यदि प्रामाण्य से निश्चय नहीं करने वाले ज्ञान से प्रवृत्ति करना मान लिया जायेगा तो) उन जीवों के विचारशालिनी बुद्धियुक्तता का विरोध आता है। तथा दूसरी श्रेणी वाले जीवों के संशयज्ञान और विपर्ययज्ञान से भी कहीं प्रवृत्ति होती है। अन्यथा उनके विचारकर कार्य नहीं करने वाली बुद्धि से सहितपने का व्याघात होगा, इस प्रकार कहना युक्त है। लोक में ऐसा ही बर्ताव देखा गया है अतः यह नैयायिकों के चिन्तामणि ग्रन्थ की उद्योत नामक टीका को करने वाला विद्वान स्वयं लोक में आचरित अनुवाद को स्वीकार करता हुआ फिर प्रमाणपन की परीक्षा करते समय उससे विरुद्ध कह रहा है। उसमें अपनी आत्मा को नहीं पहिचानने के अतिरिक्त और क्या कारण कहा जा सकता है-अर्थात् उनका यह कथन उनकी मूर्खता को प्रकट कर रहा है।

प्रश्न : लौकिक व्यवहार के प्रति बालक और पंडित दोनों समान हैं अतः दोनों की ही विचार रहित बुद्धि से युक्त प्रवृत्ति होनी चाहिए अतः संशयज्ञान से प्रवृत्ति हो जाना युक्त ही है। अगर ऐसा न मानकर अन्यथा मानोगे तो जैन मतानुसार विचार नहीं करने वाले अज्ञजनों की प्रवृत्ति होने के अभाव का प्रसंग आयेगा।

उत्तर : इस प्रकार नहीं कहना चाहिए। क्योंकि उन सब जीवों की कहीं-कहीं कभी विचारयुक्त बुद्धिसहितपने से भी प्रवृत्ति हो जाने का कोई विरोध नहीं है। अर्थात् मूर्ख भी विचार कर इष्टकार्य में प्रवृत्ति करता है।

सर्व जीवों में से किसी जीव की बुद्धियुक्त किसी विषय में किसी भी समय किसी कारण से प्रवृत्ति होती है और फिर इसी प्रकार किसी जीव के कहीं किसी समय बिना विचारे कार्य करने वाली बुद्धि से सहितपना भी अंतरंग बहिरंग कारणों से बन जाता है। सम्पूर्ण पदार्थों को युगपत् जानने वाले सर्वज्ञ भगवान के मनपूर्वक विचार करना माना नहीं गया है अतः सर्वज्ञ के अतिरिक्त अन्य जीवों के बुद्धियुक्त और बुद्धि रहित होकर कार्य करना स्वकीय कारणों से बन जाता है॥१२५॥

प्रेक्षावरणक्षयोपशमविशेषस्य सर्वत्र सर्वदा सर्वेषामसंभवात् कस्यचिदेव क्वचित्कदाचिच्च प्रेक्षावत्तेतरयोः सिद्धिरन्यत्र प्रक्षीणाशेषावरणादशेषज्ञादिति निश्चितप्रामाण्यात्प्रमाणात्प्रेक्षावतः प्रवृत्तिः कदाचिदन्यदा तस्यैवाप्रेक्षावतः यतः संशयादेरपीति न सर्वदा लोकव्यवहारं प्रति बालपंडितसदृशौ। कथमेवं प्रेक्षावतः प्रामाण्यनिश्चयेऽनवस्थादिदोषपरिहार इति चेत् —

तन्नाभ्यासात्प्रमाणत्वं निश्चितः स्वत एव नः। अनभ्यासे तु परत इत्याहुः केचिदंजसा ॥१२६॥

तच्च स्याद्वादिनामेव स्वार्थनिश्चयनात् स्थितम्। न तु स्वनिश्चयोन्मुक्तनिःशेषज्ञानवादिनाम् ॥१२७॥

हिताहित विचार करने रूप विशिष्ट मतिज्ञानावरण कर्म के विशेष क्षयोपशम का होना सभी विषयों में सब जीवों के सदा सम्भव नहीं है। अतः किसी जीव के किसी-किसी विषय में कभी-कभी बुद्धियुक्तपना और बुद्धिरहितपने की सिद्धि हो जाती है। नष्ट हो गये हैं सम्पूर्ण ज्ञानावरण, दर्शनावरण कर्म जिसके ऐसे सर्वज्ञ के अतिरिक्त दूसरे संसारी जीवों में बुद्धि (प्रेक्षा) और बुद्धि रहितपना व्यवस्थित है।

इस प्रकार प्रमाणपन का निश्चय रखने वाले प्रमाण से बुद्धिमान पुरुष की प्रवृत्ति होना कभी-कभी बनता है और दूसरे समय उसी जीव की बुद्धि को आवरण करने वाले कर्म का उदय है, तब बुद्धि रहित जीव की भी प्रामाण्यग्रस्त ज्ञान से ही प्रवृत्ति हो सकेगी अथवा कभी अज्ञानियों को संशयादिक से भी प्रवृत्ति हो सकती है सर्वदा नहीं इसलिए सर्वदा लौकिक व्यवहार के प्रति बालक और पण्डित समान नहीं हैं।

इस प्रकार बुद्धिमान पुरुष के भी ज्ञान में प्रमाणपन का निश्चय करने में अनवस्था, अन्योन्याश्रय आदि दोषों का परिहार कैसे होगा? इस प्रकार **शंका** होने पर आचार्य कहते हैं-

जैन दर्शन में अभ्यास दशा में स्वतः प्रमाण का निश्चय हो जाता है। तथा इस कारिका में तत्र पाठ होने से हमारे सिद्धान्त में अभ्यास दशा में स्वतः निश्चय होता है।

अनभ्यास दशा में अन्य कारणों से प्रमाणपना जाना जाता है (जैसे अपरिचित स्थल में शीतल वायु कमल गन्ध आदि से जलज्ञान में प्रमाणपन का निर्णय होता है) जैन मतानुसार कोई विद्वान भी इस निर्दोष सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं, किन्तु किन्हीं विद्वानों का इस प्रकार स्वीकार करना स्याद्वादियों के ही सिद्धान्त अनुसार मानने पर घटित होता है।

क्योंकि **स्याद्वादियों ने स्व और अर्थ का निश्चय करने वाले ज्ञान में ही प्रमाणपना व्यवस्थित किया है**। अपना निश्चय न करन वाले सर्व अस्वसंवेदियों के यह व्यवस्था नहीं बन सकती है॥१२६-१२७॥

क्वचिदत्यंताभ्यासात् स्वतः प्रमाणत्वस्य निश्चयान्नानवस्थादिदोषः, क्वचिदनभ्यासात् परतस्तस्य व्यवस्थितेर्नाव्याप्तिरित्येतदपि स्याद्वादिनामेव परमार्थतः सिद्ध्येत् स्वार्थनिश्चयोपगमात्। न पुनः स्वरूपनिश्चयरहितसकलसंवेदनवादिनामनवस्थाद्यनुषंगस्य तदवस्थत्वात्। तथाहि। वस्तुव्यवस्थानिबंधनस्य स्वरूपनिश्चयरहितस्यास्वसंवेदितस्यैवानुपयोगात्। तत्र निश्चयं जनयत एव प्रमाणत्वमभ्युपगंतव्यम्। तन्निश्चयस्य स्वरूपे स्वयमनिश्चितस्यानुत्पादिताविशेषान्निश्चयांतरजननानुषंगादनवस्था, पूर्वनिश्चयस्योत्तरनिश्चयात्सिद्धौ तस्य पूर्वनिश्चयादन्योन्याश्रयणं। यदि पुनर्निश्चयः स्वरूपे निश्चयमजनयन्नपि सिद्ध्यति निश्चयत्वादेव न प्रत्यक्षमनिश्चयत्वादिति मतं तदार्थज्ञानज्ञानं ज्ञानांतरापरिच्छिन्नमपि सिद्ध्येत् तद्ज्ञानत्वात् न पुनरर्थज्ञानं

कहीं अधिक परिचित स्थल में अत्यन्त अभ्यास हो जाने से प्रमाणपने का स्वतः निश्चय हो जाता है अतः अनवस्था आदिक दोष नहीं आते हैं।

कहीं अपरिचित दशा में अनभ्यास होने से उस प्रमाणपने की अन्य कारणों से ज्ञप्ति व्यवस्था कर दी जाती है अतः अव्याप्ति दोष नहीं है। इस प्रकार कहना भी स्याद्वादियों के यहाँ ही वास्तविकरूप से सिद्ध हो सकता है क्योंकि उन्होंने ज्ञान के द्वारा स्व और अर्थ का निश्चय हो जाना स्वीकार किया है किन्तु स्वरूप का निश्चय नहीं करने वाले सर्वज्ञ ज्ञान को मानने वाले नैयायिकों के सिद्धान्त में अनवस्था आदि दोषों का प्रसंग आता है। जिनके मत में ईश्वर एक ज्ञान से सम्पूर्ण पदार्थों को जानता है और दूसरे से उस सर्वज्ञातृ ज्ञान को जानता है, उनके यहाँ अनवस्था, अन्योन्याश्रय आदि दोषों का प्रसंग होना वैसे का वैसे ही अवस्थित रहता है। तथाहि सम्पूर्ण वस्तुओं की यथार्थ व्यवस्था करने का कारणभूत ज्ञान माना गया है। यदि ज्ञान को स्व का संवेदन करने वाला नहीं माना जाता है तो स्वरूप का निश्चय करने से रहित उस ज्ञान की वस्तु व्यवस्था करने में कोई उपयोग नहीं है। अतः उस स्वरूप में निश्चय को उत्पन्न करने वाले ज्ञान को ही प्रमाणपन स्वीकार करना चाहिए और वह प्रमाणपन का निश्चय भी यदि स्वरूप में स्वयं अनिश्चित है, तब तो ऐसे अज्ञात स्वनिश्चय वाले ज्ञान का, उत्पन्न नहीं होने वाले ज्ञान से कोई अन्तर नहीं है (जैसे कि जिसे सुख दुःख का ज्ञान नहीं हुआ वह उत्पन्न हुआ भी उत्पन्न नहीं हुआ सरीखा है) अतः स्व का निश्चय करने के लिए फिर दूसरे निश्चय की उत्पत्ति करने का प्रसंग आयेगा और आगे भी यही क्रम चलेगा अतः **अनवस्था** होगी। पहिले निश्चय की उत्तरकाल में होने वाले निश्चय से सिद्धि मानने पर और उस उत्तर काल के निश्चय की पूर्वकाल के निश्चय से सिद्धि मानी जाये तो **परस्पराश्रय** दोष आयेगा।

यदि पुनः सर्वाङ्गनिश्चय स्वरूप होने के कारण निश्चयात्मकज्ञान स्वरूप में निश्चय नहीं कराता हुआ भी स्वयं निश्चयरूप सिद्ध हो जाता है परन्तु प्रत्यक्ष स्वयं निश्चयरूप सिद्ध नहीं होता है क्योंकि प्रत्यक्षज्ञान स्वयं निश्चयरूप नहीं है ऐसा मानते हो तो अर्थज्ञान को जानने वाला दूसरा ज्ञान तीसरे अन्य ज्ञान से नहीं जाना गया भी सिद्ध हो जायेगा क्योंकि वह अर्थ को जानने वाले पहिले ज्ञान का ज्ञान है किन्तु यदि पहला

तस्यातत्त्वादिति ज्ञानांतरवेद्यज्ञानवादिनोपि नार्थचिन्तनमुत्सीदेत्। ज्ञानं ज्ञानं च स्याज्ज्ञानांतरपरिच्छेद्यं च विरोधाभावादिति चेत्, तर्हि निश्चयो निश्चयश्च स्यात्स्वरूपे निश्चयं च जनयेत्तत एव सोपि तथैवेति स एव दोषः। स्वसंविदितत्वान्निश्चयस्य स्वयं निश्चयान्तरानपेक्षत्वेनुभवस्यापि तदपेक्षा मा भूत्। शक्यनिश्चयमजनयन्नेवार्थानुभवः प्रमाणमभ्यासपाटवादित्यपरः। तस्यापि "यत्रैव जनयेदेनां तत्रैवास्य प्रमाणता" इति ग्रंथो विरुध्यते। कश्चायमभ्यासो नाम? पुनः पुनरनुभवस्य भाव इति चेत्, क्षणक्षयादौ तत्प्रमाणत्वापत्तिस्तत्र सर्वदा सर्वार्थेषु दर्शनस्य भावात् परमाभ्याससिद्धेः। पुनः पुनर्विकल्पस्य भावः स इति चेत्, ततोनुभवस्य

अर्थ का ज्ञान दूसरे ज्ञान से नहीं जाना गया है तो सिद्ध नहीं होगा क्योंकि वह पूर्व ज्ञान का ज्ञान नहीं कर रहा है। इस प्रकार अन्य ज्ञानों से जानने योग्य प्रकृतज्ञान को कहनेवाले नैयायिकों के यहाँ भी अर्थ का संवेदन होना उद्‌घाटित नहीं हो सकेगा। यदि पहिला अर्थज्ञान भी बना रहे और दूसरे ज्ञानों से जानने योग्य भी होता रहे, इसमें कोई विरोध नहीं है।

ऐसा कहने पर जैन भी कह सकते हैं कि अर्थ का निश्चय भी बना रहे और स्वरूप में निश्चय को भी उत्पन्न कराता रहे, इसमें भी कोई विरोध नहीं है। यदि वह निश्चय भी उसी प्रकार माना जायेगा, तब तो वही दोष आयेगा जो कि पूर्व में कहा जा चुका है।

यदि निश्चय ज्ञान को स्वसंवेदन होने के कारण स्वयं निश्चय स्वरूपपना है, स्वयं को अन्य निश्चयों की अपेक्षा नहीं होती है, तो प्रत्यक्षरूप अनुभव को भी उन अन्य ज्ञानों की अपेक्षा नहीं होनी चाहिए (अतः सभी ज्ञान अपने-अपने स्वरूप का स्वयं निश्चय कर लेंगे)।

कोई कहता है कि निश्चय करने की सामर्थ्य को उत्पन्न नहीं करने वाला भी ज्ञान अर्थ का अनुभव करके प्रमाण हो जाता है क्योंकि निर्विकल्पकज्ञान को अभ्यास की दक्षता है। उस (बौद्ध) के भी माने गये इस ग्रन्थ का उक्त कथन से विरोध होता है कि निर्विकल्पक ज्ञान जिस ही विषय में इस निश्चयरूप सविकल्पक बुद्धि को उत्पन्न करा देता है, उसी विषय में इस प्रत्यक्ष को प्रमाणपना है। अर्थात्-जैसे घट का प्रत्यक्ष हो जाने पर पीछे से उसके रूप, स्पर्श आदि में निश्चय ज्ञान उत्पन्न हो जाता है अतः रूप और स्पर्श को जानने में निर्विकल्पकज्ञान प्रमाण माना जाता है। यह कथन भी उपरि कथन से विरूद्ध पड़ता है।

किंच-अभ्यास क्या पदार्थ है? यदि पुनः-पुनः प्रत्यक्षरूप अनुभव की उत्पत्ति हो जाना अभ्यास कहा जायेगा तब तो क्षणिकपन आदि में उस निर्विकल्पक को भी प्रमाणपने का प्रसंग आयेगा, क्योंकि सम्पूर्ण अर्थों में तदात्मकहो रहे उस क्षणिकपनरूप विषय में दर्शन (निर्विकल्पकज्ञान) का सदा सद्भाव पाया जाता है अतः निर्विकल्प ज्ञान में परम अभ्यास सिद्ध होता है। (स्वलक्षणों से क्षणिकपना अभिन्न है अतः क्षणिकत्व में तो अभ्यास सिद्ध हो रहा है, बार-बार अनुभव में आ रहा है)।

यदि पुनः-पुनः विकल्पज्ञानों की उत्पत्ति होना वह अभ्यास है, ऐसा कहते हो तो उस अभ्यास से अनुभव को प्रमाणपना होनेपर निश्चय की उत्पत्ति से ही वह प्रमाणपना होगा ऐसा मानने पर अनवस्था और

प्रमाणत्वे निश्चयजननादेव तदुपगतं स्यादिति पक्षांतरं पाटवमेतेनैव निरूपितं। अविद्यावासनाप्रहाणादात्मलाभोनुभवस्य पाटवं न तु पौन:पुन्येनानुभवो विकल्पोत्पत्तिर्वा, यतोभ्यासेनैवास्य व्याख्येति चेत्; कथमेवमप्रहाणाविद्यावासनानां जनानामनुभवात्क्वचित्प्रवर्तनं सिद्ध्येत् , तस्य पाटवाभावात् प्रमाणत्वायोगात्। प्राणिमात्रस्याविद्यावासनाप्रहाणादन्यत्र क्षणक्षयाद्यनुभवादिति दोषापाकरणे कथमेकस्यानुभवस्य पाटवापाटवे परस्परविरुद्धे वास्तवेन स्यातां। तयोरन्यतरस्याप्यवास्तवत्वे क्वचिदेव प्रमाणत्वाप्रमाणत्वयोरेकत्रानुभवेनुपपत्ते:। प्रकरणाप्रकरणयोरनुत्पत्तिरनेनोक्ता। अर्थित्वानर्थित्वे पुनरर्थज्ञानात्प्रमाणात्मकादुत्तरकालभाविनी कथमर्थानुभवस्य प्रामाण्येतरहेतुतां प्रतिपद्येते स्वमतविरोधात्। ततः स्वार्थव्यवसायात्मकज्ञानाभिधायिनामेवाभ्यासे स्वतोऽनभ्यासे परत: प्रामाण्यसिद्धि:॥

अन्योन्याश्रय दोष पहिले कहे जा चुके हैं। इस कथन से अनुभव की दक्षता का दूसरा पक्ष भी निरूपण कर दिया गया समझ लेना चाहिए॥

बौद्ध कहते हैं कि अनादिकालीन अविद्यारूप वासना के नाश हो जाने से अनुभव का आत्मलाभ होना ही पटुता है। पुन:-पुन: अनुभव होना अथवा बहुत बार विकल्पज्ञानों की उत्पत्ति होना पटुता नहीं है जिससे कि अभ्यास से ही इस पटुत्व की व्याख्या हो सके। इस प्रकार बौद्ध के कहने पर जैनाचार्य कहते हैं कि इस प्रकार से अविद्या का सर्वथा नाशकर सम्यग्ज्ञान को धारने वाले जीवों की विषयों में प्रवृत्ति चाहे हो जाए, किन्तु जिन मनुष्यों की अविद्यावासना नष्ट नहीं हुई है, उन जीवों की किसी विषय में अनुभव ज्ञान से प्रवृत्ति होना कैसे सिद्ध होगा? क्योंकि आपकी मानी हुई इस पटुता के न होने के कारण उनके उस अनुभव में प्रमाणपना प्राप्त नहीं हो सकता है। यदि बौद्ध इस दोष का निवारण यों करें कि सम्पूर्ण प्राणियों की अविद्यावासना के नाश हुए बिना भी क्षणिकत्व, स्वर्गप्रापणशक्ति आदि का अनुभव हो जाता है तब तो एक अनुभव के स्वलक्षण विषय में पाटव और क्षणिकत्व विषय में अपाटवत्व ये परस्पर विरुद्ध धर्म वास्तविक कैसे होंगे? उन दोनों पाटव अपाटवों में से किसी एक को भी वस्तुभूत नहीं माना जायेगा तो एक अनुभव में किसी विषय की अपेक्षा प्रमाणपन और किसी दूसरे विषय की अपेक्षा अप्रमाणपन की सिद्धि नहीं हो सकेगी। अर्थात् जब वस्तुभूत किसी वस्तु का अस्तित्व ही नहीं है तो कौन प्रामाणिक और कौन अप्रामाणिक ऐसा कैसे जाना जा सकता है।

इस कथन से प्रकरण और अप्रकरण की उपपत्ति न हो सकना भी कह दिया गया है, तथा ज्ञेय विषय का अर्थीपन और क्षणिक विषय का अनभिलाषुकपन तो प्रमाणरूप अर्थज्ञान से उत्तरकाल में होने वाले हैं। वे अर्थ के अनुभव की प्रमाणता और अप्रमाणता के हेतुपन को कैसे प्राप्त हो सकेंगे? अर्थात् अन्योन्याश्रय दोष आता है। अर्थीपन या अनर्थीपन से अर्थज्ञान में प्रमाणता या अप्रमाणता होवे और ज्ञान में प्रमाणता और अप्रमाणता के हो जाने पर अभिलाषा होवे तो बौद्धों को अपने मत से विरोध आता है अत: स्व और अर्थ को निश्चय करना स्वरूप ज्ञान को कहने वाले स्याद्वादियों के यहाँ अभ्यास दशा में ज्ञान की प्रमाणता स्वत: जानने और अनभ्यास दशा में ज्ञान की प्रमाणता परत: जानने की सिद्धि होती है। एकान्तवादी नैयायिक बौद्ध आदि के यहाँ अनेक दोष आते हैं।

स्वतः प्रमाणता यस्य तस्यैव परतः कथम्। तदैवैकत्र नैवातः स्याद्वादोस्ति विरोधतः ॥१२८॥

नैतत्साधु प्रमाणस्यानेकरूपत्वनिश्चयात्। प्रमेयस्य च निर्भागतत्त्ववादस्तु बाध्यते ॥१२९॥

तत्र यत्परतो ज्ञानमनभ्यासे प्रमाणताम्। याति स्वतः स्वरूपे तत्तामिति क्वैकरूपता ॥१३०॥

स्वार्थयोरपि यस्य स्यादनभ्यासात्प्रमाणता। प्रतिक्षणविवर्तादौ तस्यापि परतो न किम् ॥१३१॥

स्याद्वादो न विरुद्धोतः स्यात्प्रमाणप्रमेययोः। स्वद्रव्यादिवशाद्वापि तस्य सर्वत्र निश्चयः ॥१३२॥

केवलज्ञानमपि स्वद्रव्यादिवशात्प्रमाणं न परद्रव्यादिवशादिति सर्वं कथंचित्प्रमाणं, तथा तदेव स्वात्मनः स्वतः प्रमाणं छद्मस्थानां तु परत इति सर्वं स्यात् स्वतः, स्यात्परतः, प्रमाणमुपगम्यते विरोधाभावात्। न पुनर्यत्स्वतः तत्स्वत एव यत्परतस्तत्परत एवेति सर्वथैकांतप्रसक्तेरुभयपक्षप्रक्षिप्तदोषानुषंगात् ॥

जिस ज्ञान को स्वांश में स्वतः प्रमाणपना है, उसी ज्ञान को अनभ्यास दशा में परतः प्रमाणपना कैसे होगा? एक स्थान पर एक ही समय में दो विरुद्ध धर्म नहीं ठहर सकते हैं अतः विरोध हो जाने से स्याद्वाद मत ठीक नहीं है यह कहना प्रशस्त नहीं है, क्योंकि प्रमाणज्ञान का अनेक स्वरूपों से सहितपने का निश्चय होता है, तथा प्रमाण से जानने योग्य प्रमेय पदार्थ भी अनेक स्वरूपों को लिये हुए हैं। जो (बौद्ध)प्रमाण और प्रमेयों को अंशों से रहित मानते हैं, उनका तत्त्वों के स्वरूपरहित मानने का पक्ष बाधित हो जाता है।(अर्थात् जिस पदार्थ में निःस्वरूपत्व या अनेक धर्मों से रहितपना है वह किसी भी प्रमाण से जाना नहीं जाता है) ॥१२८-१२९॥

उन ज्ञानों में जो ज्ञान अनभ्यास दशा में दूसरे ज्ञापक हेतुओं से प्रमाणपने को प्राप्त होता है, वह ज्ञानस्वरूप अंश में स्वतः ही उस प्रमाणपन को प्राप्त कर लेता है अतः एकरूपपना ज्ञान में कहाँ रह सकता है ? ॥१३०॥

भावार्थ : ज्ञान में अनेक स्वभाव विद्यमान हैं। प्रमेय के भी अनेक स्वभाव हैं। अतः अनभ्यासदशा में ज्ञान के विषय अंश में परतः प्रामाण्य जाना जाता है, किन्तु ज्ञान अंश में वह स्वतः प्रमाणरूप है।

जिसके यहाँ अनभ्यास दशा होने से स्व और अर्थ में भी प्रमाणपना परतः माना जाता है, उसके यहाँ भी प्रतिक्षण नवीन-नवीन पर्याय आदि में दूसरों से प्रमाणपना क्यों नहीं माना जावेगा? इसलिए प्रमाणतत्त्व और प्रमेय तत्त्वों में कथंचित् अनेक स्वरूपों को कहने वाला स्याद्वाद सिद्धान्त विरुद्ध नहीं हो सकता अथवा स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अधीनता से अस्तिपना और परकीय द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से नास्तिपना भी स्याद्वाद मत में सभी स्थलों पर निश्चित है ॥ १३१-१३२॥

केवलज्ञान भी अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा प्रमाण है। दूसरे जड़ या मतिज्ञान के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अधीनता से प्रमाण नहीं है। इस प्रकार सभी सम्यग्ज्ञान कथंचित् प्रमाण हैं, और किसी अपेक्षा से प्रमाण नहीं भी हैं तथा वह केवलज्ञान ही स्वकीय आत्मा को स्वतः प्रमाणरूप है और क्षायोपशमिक ज्ञानी छद्मस्थों को अन्य कारणों से प्रमाणरूप जानने योग्य है। इस कारण सभी ज्ञान कथंचित् स्वतः प्रमाणरूप हैं और कथंचित् परतः प्रमाणरूप स्वीकार किये जाते हैं। इसमें कोई विरोध नहीं आता है फिर

नन्वसिद्धं प्रमाणं किं स्वरूपेण निरूप्यते। शशशृंगवदित्येके तदप्युन्मत्तभाषितम् ॥१३३॥

स्वेष्टानिष्टार्थयोर्ज्ञातुर्विधानप्रतिषेधयो:। सिद्धि: प्रमाणसंसिद्ध्यभावेस्ति न हि कस्यचित् ॥१३४॥

इष्टार्थस्य विधेरनिष्टार्थस्य वा प्रतिषेधस्य प्रमाणानां तत्त्वतोऽसंभवे कदाचिदनुपपत्तेर्न स्वरूपेणासिद्धं प्रमाणमनिरूपणात् शशशृंगवन्नास्ति प्रमाणं विचार्यमाणस्यायोगादिति स्वयमिष्टमर्थं साधयन्ननिष्टं च निराकुर्वन् प्रमाणत एव कथमनुन्मत्त:। तत: प्रमाणसिद्धिरर्थादायाता॥

ननु प्रमाणसंसिद्धि: प्रमाणांतरतो यदि। तदानवस्थितिर्नो चेत् प्रमाणान्वेषणं वृथा ॥१३५॥

आद्यप्रमाणत: स्याच्चेत्प्रमाणांतरसाधनम्। ततश्चाद्यप्रमाणस्य सिद्धेरन्योन्यसंश्रय: ॥ १३६॥

ऐसा नहीं है जो स्वत: प्रमाण है वह स्वत: ही प्रमाण रहे तथा जो पर से प्रमाण होता है वह पर से ही प्रमाण होता है, इस प्रकार सर्वथा एक ही धर्म मानने का प्रसंग आता है जो कि प्रतीतसिद्ध नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर स्वत: और परत: इन दोनों पक्षों में दिये गये दोषों का प्रसंग आता है।

शंका : कोई कहता है कि जब प्रमाण अपने स्वरूप से सिद्ध नहीं है, तो शश के सींग समान उसका निरूपण क्यों किया जाता है?

उत्तर : आचार्य कहते हैं कि ऐसा कहना भी उन्मत्तों का भाषण है क्योंकि किसी नास्तिक ज्ञाता को अपने इष्ट अर्थ के अस्तित्व की और अपने अनिष्ट अर्थ के निषेध की सिद्धि प्रमाण की सिद्धि के अभाव में किसी के भी नहीं होती है (इष्ट साधन और अनिष्टबाधन ये दोनों प्रमाण की सिद्धि होने पर ही सम्भव हैं) अन्यथा नहीं॥१३३-१३४॥

वास्तविक रूप से प्रमाणों की असम्भवता होने पर इष्ट अर्थ की विधि और अनिष्ट अर्थ के निषेध की कभी भी सिद्धि नहीं हो सकती है अत: प्रमाणतत्त्व स्वरूप से असिद्ध नहीं है जिसका शशशृङ्ग के समान निरूपण नहीं किया जा सके। यदि शून्यवादी कहे कि प्रमाण नहीं है, विचार करने पर प्रमाणतत्त्व का योग नहीं बन पाता है। इस प्रकार स्वयं इष्ट अर्थ को दूसरों के प्रति प्रमाण में सिद्ध करने वाला और प्रमाण प्रमेय आदि अनिष्ट तत्त्वों को प्रमाण से ही निराकरण करने वाला शून्यवादी स्वस्थ कैसे कहा जा सकता है? (पूर्वापरविरुद्ध बातों को कहने वाला होने से वह उन्मत्त है)। अत: बिना कहे ही अर्थापत्ति से प्रमाण की सिद्धि हो जाती है।

प्रश्न : (वैभाषिक बौद्ध कहते हैं कि) प्रमाण की सिद्धि यदि दूसरे प्रमाणों से होना मानोगे तो अनवस्था दोष आयेगा (क्योंकि उन दूसरे आदि प्रमाणों की सिद्धि अन्य तीसरे, चौथे आदि प्रमाणों से होते-होते कहीं विश्राम प्राप्त नहीं होगा)। यदि दूसरे प्रमाणों से प्रकृत प्रमाण की सिद्धि होना नहीं मानोगे तो प्रमाणों का अन्वेषण करना व्यर्थ होगा। तथा आदि में होने वाले प्रमाण से यदि दूसरे प्रमाण की सिद्धि होना माना जायेगा, और उस दूसरे प्रमाण से प्रथम होने वाले प्रमाण की सिद्धि मानी जायेगी तो अन्योन्याश्रय दोष आता है॥१३५-१३६॥

प्रसिद्धेनाप्रसिद्धस्य विधानमिति नोत्तरम्। प्रसिद्धस्याव्यवस्थानात् प्रमाणविरहे क्वचित् ॥१३७॥

परानुरोधमात्रेण प्रसिद्धोर्थो यदीष्यते। प्रमाणसाधनस्तद्वत्प्रमाणं किं न साधनम् ॥१३८॥

पराभ्युपगमः केन सिद्ध्यतीत्यपि च द्वयोः। समः पर्यनुयोगः स्यात्समाधानं च नाधिकम् ॥१३९॥

तत्प्रमाणप्रमेयादिव्यवहारः प्रवर्तते। सर्वस्याप्यविचारेण स्वप्नादिवदितीतरे ॥१४०॥

तेषां संवित्तिमात्रं स्यादन्यद्वा तत्त्वमंजसा। सिद्धं स्वतो यथा तद्वत्प्रमाणमपरे विदुः ॥१४१॥

यथा स्वातंत्र्यमभ्यस्तविषयेऽस्य प्रतीयते। प्रमेयस्य तथा नेति न प्रमान्वेषणं वृथा ॥१४२॥

परतोपि प्रमाणत्वेऽनभ्यस्तविषये क्वचित्। नानवस्थानुषज्येत तत एव व्यवस्थितेः ॥१४३॥

प्रसिद्ध पदार्थ से अप्रसिद्ध प्रमाण या प्रमेय की व्यवस्था कर ली जाती है, उस प्रकार का उत्तर भी ठीक नहीं है क्योंकि कहीं भी निर्णीत रूप से प्रमाणतत्त्व को माने बिना प्रसिद्धतत्त्व की व्यवस्था नहीं हो सकती है ॥१३७॥

यदि कोई कहे कि दूसरों के अनुरोध मात्र से पदार्थ को प्रसिद्ध मान लिया जाता है, जो कि प्रसिद्ध पदार्थ प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों को साधने वाला है, तो उसी प्रकार प्रमाण का साधन भी क्यों न कर लिया जाय?(तात्त्विकरूप से प्रमाण को मानने की आवश्यकता नहीं है) ॥१३८॥

दूसरे वादियों का स्वीकार करना किस प्रमाण से सिद्ध है? इस प्रकार का प्रश्न उठाना और समाधान करना प्रमाण को मानने वाले और नहीं मानने वाले दोनों के एकसा है। कोई अधिक नहीं है अत: प्रमाण, प्रमेय, प्रमाता आदिक व्यवहार सभी के यहाँ बिना विचार करके ही प्रवर्त्त रहे हैं, जैसे कि स्वप्न, मूर्च्छित, आदि के व्यवहार बिना विचारे ही प्रचलित हैं। इस प्रकार यहाँ तक अन्य बौद्ध या शून्यवादी का कथन है॥१३९-१४०॥ **शून्यवादियों के कथन का प्रत्युत्तर**-जैसे उन बौद्धों के यहाँ केवल संवित्ति अथवा अन्य कोई शून्य पदार्थ या तत्त्वोपप्लव तत्त्व का वास्तव में अपने आप सिद्ध होना माना गया है, उसी के समान दूसरे जैन, मीमांसक, नैयायिक आदि विद्वान् प्रमाणतत्त्व को स्वत: सिद्ध होना मानते हैं तथा जिस प्रकार अभ्यास किये गये परिचित विषय में इस प्रमाण को स्वतंत्ररूप से प्रमाणपना प्रतीत होता है उसी प्रकार प्रमेय पदार्थ को स्वतंत्रपना नहीं जाना जा रहा है।

अत: प्रमेय की सिद्धि को कराने के लिए प्रमाण का अन्वेषण करना व्यर्थ नहीं है। यद्यपि कहीं अपरिचित स्थल पर अभ्यस्त नहीं किये गए विषय में प्रमाणज्ञान की प्रमाणता दूसरे ज्ञापकों से भी जानी जाती है तो भी अनवस्था दोष का प्रसंग नहीं आता है। क्योंकि उसी अभ्यास दशावाले दूसरे प्रमाण से अनभ्यस्त दशा के प्रमाण में प्रमाणपन की व्यवस्था हो जाती है (अत: सम्पूर्ण प्रमाण, प्रमेय आदि पदार्थों का आद्य चिकित्सक प्रमाणतत्त्व अवश्य मानना चाहिए)॥१४१-१४२-१४३॥

स्वरूपस्य स्वतो गतिरिति संविदद्वैतं ब्रह्म वा स्वतः, सिद्धमुपयन्नभ्यस्तविषये सर्वं प्रमाणं तथाभ्युपगंतुमर्हति। नोचेदनवधेयवचनो न प्रेक्षापूर्ववादी। न च यथा प्रमाणं स्वतः सिद्धं तथा प्रमेयमपि तस्य तद्वत्स्वातंत्र्याप्रतीतेः तथा प्रतीतौ वा प्रमेयस्य प्रमाणत्वापत्तेः, स्वार्थप्रमितौ साधकतमस्य स्वतंत्रस्य प्रमाणत्वात्मकत्वात्। ततो न प्रमाणान्वेषणमफलं, तेन विना स्वयं प्रमेयस्याव्यवस्थानात्। यदा पुनरनभ्यस्तेर्थे परतः प्रमाणानां प्रामाण्यं तदापि नानवस्था परस्पराश्रयो वा स्वतः सिद्धप्रामाण्यात् कुतश्चित्क्वचित्प्रमाणादवस्थोपपत्तेः। ननु च क्वचित्कस्यचिदभ्यासे सर्वत्र सर्वस्याभ्यासोस्तु विशेषाभावादनभ्यास एव प्रतिप्राणि तद्वैचित्र्यकारणाभावात्। तथा च कुतोभ्यासानभ्यासयोः स्वतः परतो वा प्रामाण्यव्यवस्था भवेदिति चेत्। नैवं, तद्वैचित्र्यसिद्धेः॥

ज्ञानाद्वैतवादी या ब्रह्माद्वैतवादी विद्वान् सम्पण पदार्थों के स्वरूप का ज्ञान होना स्वतः ही मानते हैं। ज्ञान और आत्मा का स्वयं अपने आप से ज्ञान होना प्रसिद्ध ही है तो अभ्यस्तविषय में सम्पूर्ण प्रमाणों को उस प्रकार स्वतः सिद्ध स्वीकार करने के लिए भी वह अवश्य योग्य हो जाता है। यदि ऐसा नहीं मानेंगे तो विश्वास नहीं करने योग्य कथन करने वाला होने से विचारपूर्वक कहने वाले नहीं कहे जा सकते (अतः अभ्यासदशा में प्रमाण की स्वतः सिद्धि होना मान लेना चाहिए)।

जिस प्रकार प्रमाणतत्त्व स्वतः सिद्ध है उस प्रकार घट, पट आदि प्रमेय स्वतः सिद्ध नहीं होते हैं। क्योंकि उन प्रमेयों को प्रमाण के समान सिद्धि होने में स्वतंत्रता प्रतीत नहीं हो रही है। यदि प्रमेय की भी उस प्रकार स्वतंत्रता से स्वयं प्रतीति होना मानी जायेगी तो प्रमेय को प्रमाणपने का प्रसंग आयेगा। क्योंकि स्व और अर्थ की प्रमिति स्वतंत्र साधकतम के ही प्रमाणपना व्यवस्थित है। इसलिए प्रमाण का अन्वेषण करना व्यर्थ वा निष्फल नहीं है क्योंकि उस प्रमाण के बिना प्रमेय तत्त्व की व्यवस्था नहीं हो पाती है। जब अनभ्यस्त विषय में प्रमाणों की प्रमाणता अन्य ज्ञापक कारणों से मानी जायेगी तो भी अनवस्था अथवा अन्योन्याश्रय दोष नहीं आते हैं क्योंकि किसी भी अनभ्यास दशा के प्रमाण में अभ्यास दशा के स्वतः सिद्ध प्रमाणता वाले किसी भी स्वतंत्र प्रमाण से प्रमाणता अवस्थित हो जाती है।

शंका : कहीं भी विशेष अभ्यस्तस्थल पर किसी व्यक्ति का यदि अभ्यास माना जायेगा तो सभी स्थलों पर सब जीवों का अभ्यास होना निश्चित होगा क्योंकि दोनों में विशेषता का अभाव है (तथा यदि किसी जीव का किसी अपरिचित स्थल पर अनभ्यास माना जायेगा तो सभी जीवों का सभी स्थानों पर अनभ्यास ही होगा), क्योंकि प्रत्येक प्राणी में उस अभ्यास या अनभ्यास की विचित्रता का कोई कारण नहीं है अतः अभ्यासदशा में स्वतः प्रमाणपने की व्यवस्था और अनभ्यासदशा में दूसरों से प्रमाणपने की व्यवस्था कैसे होगी?

समाधान : ग्रन्थकार कहते हैं कि इस प्रकार शंका नही करना क्योंकि संसारी जीवों के उस अभ्यास और अनभ्यास की विचित्रता के कारण सिद्ध हैं।

दृष्टादृष्टनिमित्तानां वैचित्र्यादिह देहिनाम्। जायते क्वचिदभ्यासोऽनभ्यासो वा कथंचन ॥१४४॥

दृष्टानि निमित्तान्यभ्यासस्य क्वचित्पौनःपुन्येनानुभवादीनि तद् ज्ञानावरणवीर्यांतरायक्षयोपशमादीन्यदृष्टानि विचित्राण्यभ्यास एव स्वहेतुवैचित्र्यात् जायंते, अनभ्यासस्य च सकृदनुभवादीन्यनभ्यासज्ञानावरणक्षयोपशमादीनि च। तद्वैचित्र्याद्वैचित्र्येऽभ्यासोऽनभ्यासश्च जायते। ततः युक्ता स्वतः परतश्च प्रामाण्यव्यवस्था ॥

तत्प्रसिद्धेन मानेन स्वतोसिद्धस्य साधनम्। प्रमेयस्य यथा तद्वत्प्रमाणस्येति धीधनाः ॥१४५॥

न हि स्वसंवेदनवदभ्यासदशायां स्वतः सिद्धेन प्रमाणेन प्रमेयस्य स्वयमसिद्धस्य साधनमनुरुध्यमानैरनभ्यासदशायां स्वयमपि सिद्धस्य प्रमाणस्य तदपाकर्तुं युक्तं, सिद्धेनासिद्धस्य साधनोपपत्तेः। ततः सूक्तं संति प्रमाणानीष्टसाधनादिति ॥

तथाहि-इस संसार में कुछ देखे हुए कारण और कतिपय नहीं देख सकने योग्य परोक्ष निमित्त कारणों की विचित्रता से प्राणियों के किसी परिचित विषय में अभ्यास और किसी अपरिचित विषय में अनभ्यास कैसे न कैसे हो ही जाता है ॥१४४॥

किसी विषय में अभ्यास के दृष्ट कारण पुनः पुनः अनुभव होना आदि है तथा उस विषय संबंधी ज्ञानावरण और वीर्यान्तराय कर्मों का क्षयोपशम होना आदि अंतरंग कारण, बहिरंग इन्द्रियों द्वारा नहीं दिखते हैं, अर्थात् अदृष्ट हैं। ये दृष्ट-अदृष्ट विचित्र कारण भी अभ्यास होने पर अपने कारणों की विचित्रता से बन जाते हैं । तथा अनभ्यास के भी दृष्ट निमित्तकारण तो एक बार अनुभव करना (उपेक्षा रखना, अन्यमनस्क होना) आदि हैं, और अनभ्यास के अदृष्ट कारण ज्ञानावरण और अन्तराय कर्मों का क्षयोपशम, (उद्धतपना, कषाय का सद्भाव) आदि है। उनके भी कारणों की विचित्रता से उन कारणों में विचित्रता होने पर किसी जीव का किसी विषय में अभ्यास और अनभ्यास होना बन जाता है अतः अभ्यास दशा में स्वतः और अनभ्यास दशा में परतः प्रामाणिक ज्ञान की व्यवस्था होना युक्त है।

तथा स्वतः असिद्ध प्रमेय की स्वतंत्र प्रसिद्ध प्रमाण के द्वारा जिस प्रकार सिद्धि की जाती है, उसी क समान अनभ्यास दशा में प्रमाण की सिद्धि भी अभ्यास के प्रसिद्ध प्रमाण से कर ली जाती है। इस प्रकार बुद्धिधन आचार्य कहते हैं ॥१४५॥

स्वसंवेदन प्रत्यक्ष के समान अभ्यास दशा में स्वतः प्रसिद्ध प्रमाण के द्वारा स्वयं असिद्ध प्रमेय की सिद्धि को अनुरोध कर कहने वाले वादियों के द्वारा अनभ्यास दशा में स्वयं असिद्ध प्रमाण की सिद्धि भी प्रसिद्ध प्रमाण से हो जाती है। उसका खण्डन करना उचित नहीं है।क्योंकि असिद्ध पदार्थ की सिद्धि प्रसिद्ध तत्त्व से होती है अतः यह अनुमान बहुत अच्छा कहा कि प्रमाण है, क्योंकि इष्ट पदार्थों की सिद्धि हो रही है। **(यहाँ तक अद्वैतवादी या शून्यवादी के सम्मुख प्रमाणतत्त्व की सिद्धि का प्रकरण समाप्त हुआ)**

एवं विचारतो मानस्वरूपे तु व्यवस्थिते। तत्संख्यानप्रसिद्ध्यर्थं सूत्रे द्वित्वस्य सूचनात् ॥१४६॥

तत्प्रमाणे, इति हि द्वित्वनिर्देशः संख्यांतरावधारणनिराकरणाय युक्तः कर्तुं तत्र विप्रतिपत्तेः॥

प्रमाणमेकमेवेति केचित्तावत् कुदृष्टयः। प्रत्यक्षमुख्यमन्यस्मादर्थनिर्णीत्यसंभवात् ॥१४७॥

प्रत्यक्षमेव मुख्यं स्वार्थनिर्णीतावन्यानपेक्षत्वादन्यस्य प्रमाणस्य जन्मनिमित्तत्वात् न पुनरनुमानादि तस्य प्रत्यक्षापेक्षत्वात् प्रत्यक्षजननानिमित्तत्वाच्च गौणतोपपत्तेः। न च गौणं प्रमाणमतिप्रसंगात्। ततः प्रत्यक्षमेकमेव प्रमाणमगौणत्वात् प्रमाणस्येति केचित्॥

तेषां तत्किं स्वतः सिद्धं प्रत्यक्षांतरतोपि वा। स्वस्य सर्वस्य चेत्येतद्भवेत् पर्यनुयोजनम् ॥१४८॥

इस प्रकार उक्त विचार करने से प्रमाण का स्वरूप व्यवस्थित हो जाने पर उस प्रमाण की संख्या की प्रसिद्धि के लिए **"तत्प्रमाणे"** इस सूत्र में द्विवचन "औ" विभक्ति के द्वारा प्रमाण के दो पने का सूचन किया गया है॥१४६॥

प्रत्यक्ष और परोक्ष स्वरूप दो प्रमाणों में सारे प्रमाण गर्भित हैं, इसका कथन-

"तत्प्रमाणे" सूत्र में नियम से द्विवचनपने का कथन करना अन्य नैयायिक, मीमांसक आदि द्वारा मानी गयी प्रमाणों की संख्याओं के नियम को निवारण करने के लिए किया गया है, क्योंकि उस प्रमाण की संख्या में अनेक वादियों का विवाद पड़ा हुआ है।

प्रमाण में विवाद करने वालों में कोई (चार्वाक) मिथ्यादृष्टि कहते हैं कि प्रमाण एक ही है। सम्पूर्ण ज्ञानों में मुख्य प्रत्यक्ष प्रमाण है, क्योंकि अन्य अनुमान, आगम आदि से अर्थ का निर्णय होना असम्भव है॥१४७॥

प्रत्यक्ष ही मुख्य प्रमाण है क्योंकि अपने और अर्थ के निर्णय करने में उसको अन्य की अपेक्षा नहीं है। तथा प्रत्यक्ष ही अन्य अनुमान आदि प्रमाणों के जन्म का निमित्त है। (अतः, प्रत्यक्ष ही मुख्य प्रमाण है।) तथा अनुमान, उपमान आदिक मुख्य ज्ञान नहीं हैं, क्योंकि उनको प्रत्यक्ष की अपेक्षा होने के कारण तथा प्रत्यक्ष के जन्म का निमित्तपना नहीं होने के कारण गौणपना प्रसिद्ध है; गौण पदार्थ प्रमाण नहीं होता है, यदि गौण को प्रमाण मानेंगे तो अतिप्रसंग दोष आता है। अतः एक प्रत्यक्ष ही प्रमाण है। अगौण (मुख्य) होने से सम्पूर्ण विषयों की व्यवस्था करने वाला प्रमाण पदार्थ तो अगौण होना चाहिए। इस प्रकार किसी (चार्वाक) के कहने पर आचार्य कहते हैं-

उन चार्वाकों के यहाँ स्वयं अपने पूर्वापरकालभावी अनेक प्रत्यक्ष और अन्य सम्पूर्ण प्राणियों के प्रत्यक्षप्रमाण क्या स्वतः ही सिद्ध हैं? अथवा अन्य प्रत्यक्षों से भी वे सिद्ध किये जाते हैं? इस प्रकार प्रश्न करना उनके ऊपर लागू होता है॥१४८॥

स्वस्याध्यक्षं सर्वस्य वा स्वतो वा सिद्ध्येत् प्रत्यक्षांतराद्वेति पर्यनुयोगोऽवश्यंभावी ॥

स्वस्यैव चेत् स्वतः सिद्धं नष्टं गुर्वादिकीर्तनम्। तदव्यक्तप्रमाणत्वसिद्ध्यभावात्कथंचन ॥१४९॥

प्रत्यक्षांतरतो वास्य सिद्धौ स्यादनवस्थितिः। क्वचित्स्वतोऽन्यतो वेति स्याद्वादाश्रयणं परम् ॥१५०॥

सर्वस्यापि स्वतोध्यक्षप्रमाणमिति चेन्मतिः। केनावगम्यतामेतदध्यक्षाद्योगिविद्विषाम् ॥१५१॥

प्रमाणांतरतो ज्ञाने नैकमानव्यवस्थितिः। अप्रमाणाद्गतावेव प्रत्यक्षं किमु पोष्यते ॥१५२॥

प्रत्यक्ष ही एक प्रमाण मानने वाले चावाकों के ऊपर इस प्रकार का प्रश्न अवश्य होता है कि अपना प्रत्यक्ष अथवा सम्पूर्ण प्राणियों के प्रत्यक्ष क्या स्वतः ही सिद्ध हो जाते हैं? अथवा अन्य प्रत्यक्ष प्रमाणों से सिद्ध किया जाता है? (अर्थात्-एक प्रत्यक्ष को प्रमाण मानने पर स्वकीय सिद्धि और दूसरों के प्रत्यक्ष प्रमाण कैसे जाने जाते हैं?)

यदि अपने ही प्रत्यक्षों की अपने आपसे सिद्धि होना इष्ट करोगे तो उस अव्यक्त प्रमाण को प्रत्यक्ष प्रमाण का अभाव होने से, गुरु आदि का कीर्त्तन-स्तुति करना नष्ट हो जाता है। किसी प्रकार से भी प्रत्यक्ष प्रमाण से गुरु आदि की सिद्धि नहीं हो सकती। अर्थात् प्रत्यक्ष वा अव्यक्त प्रमाण से गुरु आदि के गुणों को जानना शक्य नहीं है और गुणों के जाने बिना स्तुति कैसे कर सकते हैं? ॥१४९॥

(अथवा बहुत वर्ष पूर्व हो चुके गुरुओं का या उनके प्रत्यक्ष ज्ञानों को तुम प्रत्यक्ष नहीं कर सकते हो। फिर स्तुति किसकी की जाय?) गुरु आदि के इस प्रत्यक्ष की यदि आप अन्य प्रत्यक्षों से सिद्धि होना मानोगे तो उन प्रत्यक्षों की सिद्धि भी अन्य प्रत्यक्षों से होगी और उनकी भी अन्यों से होगी। इस प्रकार अनवस्था दोष होगा (क्योंकि अज्ञात पदार्थ तो किसी का ज्ञापक नहीं होता है) कहीं स्वतः प्रत्यक्षों से यदि प्रत्यक्ष ज्ञानों की सिद्धि होना मानोगे तो स्याद्वादसिद्धान्त का आश्रय लेना ही पड़ेगा ॥१५०॥

यदि सम्पूर्ण जीवों के सभी प्रत्यक्षों का स्वयं अपने आप ही प्रत्यक्ष होकर प्रमाणपना प्रसिद्ध हो तब तो सम्पूर्ण प्राणियों को अपने-अपने प्रत्यक्षों का स्वयं प्रत्यक्ष प्रमाण होता है यह किसके द्वारा जाना जाता है? इस बात का निर्णय कैसे हो सकता है? प्रत्यक्ष प्रमाण से सम्पूर्ण पदार्थों का एक ही समय में अवलोकन करने वाले केवलज्ञानी योगियों से विशेष द्वेष करने वाले चार्वाकों के यहाँ यह निर्णय किसी भी प्रकार नहीं हो सकता है कि सबके प्रत्यक्ष अपने-अपने स्वरूप में व्यवस्थित हैं ॥१५१॥

अन्य प्रमाणों से यदि सम्पूर्ण प्राणियों के प्रत्यक्षों का ज्ञान होना इष्ट करोगे तो चार्वाकों के यहाँ एक ही प्रत्यक्ष प्रमाण मानने की व्यवस्था नहीं हो सकेगी। अर्थात् दूसरों के प्रत्यक्षप्रमाणों को जानने के लिए अनुमान, आगम की भी शरण लेनी पड़ती है। यदि अप्रमाणज्ञान से ही उन प्राणियों के प्रत्यक्षों को जान लेना मानोगे तो फिर एक प्रत्यक्ष को भी प्रमाणपना क्यों पुष्ट किया है ॥१५२॥

सर्वस्य प्रत्यक्षं स्वत एव प्रमाणमिति प्रमाणमंतरेणाधिगच्छन् प्रमेयमपि तथाधिगच्छतु विशेषाभावात्। ततस्तैः प्रत्यक्षं किमु पोष्यत इति चिंत्यम्॥

प्रत्यक्षमनुमानं च प्रमाणे इति केचन। तेषामपि कुतो व्याप्तिः सिद्ध्येन्मानांतराद्विना॥१५३॥

योप्याह-प्रत्यक्षं मुख्यं प्रमाणं स्वार्थानिर्णीतावन्यानपेक्षत्वादिति तस्यानुमानं मुख्यमस्तु तत एव। न हि तत्तस्यामन्यानपेक्षं। स्वोत्पत्तौ तदन्यापेक्षमिति चेत् , प्रत्यक्षमपि तत्स्वनिमित्तमक्षादिकमपेक्षते न पुनः प्रमाणमन्यदितिचेत्, तथानुमानमपि। न हि तत्त्रिरूपलिंगनिश्चयं स्वहेतुमपेक्ष्य जायमानमन्यत्प्रमाणमपेक्षते।

सभी प्राणियों के सभी प्रत्यक्ष स्वयं अपने आप ही से प्रत्यक्ष होकर प्रमाण रूप निर्णीत हो रहे हैं। इस सिद्धान्त को प्रमाण के बिना ही अधिगम करने वाले चार्वाक घट, पट आदि प्रमेयों को भी उसी प्रकार प्रमाण के बिना ही जान लेवे। दोनों प्रकार के ज्ञेयों में कोई विशेषता नहीं है, तो फिर उन चार्वाकों के द्वारा प्रत्यक्ष प्रमाण ही क्यों पुष्ट किया जा रहा है? इस बात का आप स्वयं चिन्तन करें।

बौद्ध और चार्वाक का प्रमाण के विषय में कथन-

कोई कहते हैं कि सूत्र में ''प्रमाणे'' यह द्विवचन ठीक है। प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो प्रमाण हैं। उनके प्रति आचार्य कहते हैं कि उन बौद्ध या वैशेषिकों के यहाँ भी अन्य तर्क प्रमाण को माने बिना साध्य और साधन की व्याप्ति कैसे सिद्ध होगी?

भावार्थ : अनुमान में व्याप्ति की आवश्यकता है। उसको जानने के लिए तर्कज्ञान मानना आवश्यक होगा। मिथ्याज्ञानस्वरूप तर्क से समीचीन अनुमान उत्पन्न नहीं हो सकता है॥१५३॥

चार्वाक कहता है कि प्रत्यक्ष ज्ञान ही अकेला मुख्य प्रमाण है, क्योंकि प्रत्यक्ष के स्व और अर्थ के निर्णय करने में अन्य ज्ञानों की अपेक्षा नहीं होती है।

उसके मत में अनुमान प्रमाण भी स्व और अर्थ के निर्णय करने में अन्य की अपेक्षा न रखने के कारण मुख्य प्रमाण हो जायेगा क्योंकि उस अनुमान के भी स्व और अर्थ के निर्णय करने में दूसरे ज्ञान की अपेक्षा नहीं है। यदि कोई कहे कि वह अनुमान अपनी उत्पत्ति में अन्य हेतु (व्याप्ति ज्ञान) आदि की अपेक्षा रखता है तो वह प्रत्यक्ष भी अपने निमित्त कारण इन्द्रिय, आलोक आदि की अपेक्षा रखता ही है, दूसरे प्रमाणों की अपेक्षा नहीं रखता है (क्योंकि सभी कार्य अपनी उत्पत्ति में कारणों की अपेक्षा रखते हैं)। इस प्रकार अनुमान भी अपने उत्पादक निमित्तों की अपेक्षा रखता है। यदि कहो कि प्रत्यक्ष ज्ञान स्वविषय की ज्ञप्ति कराने में अन्य प्रमाणों को नहीं चाहता है सो पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व, विपक्षव्यावृत्तिस्वरूप अथवा कार्य, स्वभाव, अनुपलब्धिस्वरूप या पूर्ववत् शेषवत् सामान्य तो दृष्टरूप तीन रूप वाले लिंग के निश्चय करने रूप अपने हेतु की अपेक्षा से उत्पन्न अनुमान भी किसी अन्य प्रमाण की अपेक्षा नही करता है किन्तु जो तीन स्वरूप वाले हेतु को जानने वाला प्रमाण है, वह तो अनुमान की उत्पत्ति का कारण ही नहीं होता है क्योंकि व्याप्तियुक्त हेतु के जानने में ही वह लिंगज्ञान कृतकृत्य हो जाता है (अतः स्वार्थों को जानने में प्रत्यक्ष के समान अनुमान भी स्वतंत्र है)।

यत्तु त्रिरूपलिंगग्राहि प्रमाणं तदनुमानोत्पत्तिकारणमेव न भवति, लिंगपरिच्छित्तावेव चरितार्थत्वात्। यदप्यभ्यधायि, प्रत्यक्षं मुख्यं प्रमाणांतरजन्मनो निमित्तत्वादिति तत्त्रिरूपलिंगादिनानैकांतिकं। यदि पुनरर्थस्यासंभवेऽभावात् प्रत्यक्षं मुख्यं तदानुमानमपि तत एव विशेषाभावात्। तदुक्तं—"अर्थस्यासंभवे भावात् प्रत्यक्षेपि प्रमाणता। प्रतिबंधस्वभावस्य तद्धेतुत्वे समं द्वयम्" इति। संवादकत्वात्तन्मुख्यमिति चेत् तत एवानुमानं न पुनर्द्वाभ्यामर्थं परिच्छिद्य प्रवर्तमानोर्थक्रियायां विसंवाद्यते। वस्तुविषयत्वान्मुख्यं प्रत्यक्षमिति चेत् तत एवानुमानं तथास्तु प्राप्यवस्तुविषयत्वादनुमानस्य वस्तुविषयं प्रामाण्यं द्वयोः इति वचनात्। ततो मुख्ये द्वे एव प्रमाणे प्रत्यक्षमनुमानं चेति केचित् ,तेषामपि यावत्कश्चिद्धूमः स सर्वोप्यग्निजन्मानग्निजन्मा वा न भवतीति व्याप्तिः साध्यसाधनयोः कुतः प्रमाणांतराद्विनेति चिंत्यम्॥

चार्वाका ने जो यह कहा था कि प्रत्यक्ष प्रमाण ही मुख्य है, क्योंकि वह अन्य प्रमाणों के जन्म देने का निमित्त है, इस पर **बौद्ध** कहते हैं कि इस प्रकार वह हेतु त्रिरूपलिंग, सादृश्यज्ञान, संकेतज्ञान, व्याप्ति ज्ञान आदिक से व्यभिचारी हो जाता है (ये लिंग आदिक अनुमान आदि प्रमाणों की उत्पत्ति के कारण हैं, किन्तु चार्वाकों ने अनुमान को मुख्य प्रमाण नहीं माना है)। यदि फिर चार्वाक कहे कि वस्तुभूत अर्थ के न होने पर प्रत्यक्षप्रमाण उत्पन्न नहीं होता है अतः प्रत्यक्ष प्रमाण मुख्य है। तब तो अनुमान भी अर्थ के न होने पर मुख्य प्रमाण हो जायेगा। इन दोनों में कोई विशेषता नहीं है। वहीं बौद्धों के यहाँ कहा है कि अर्थ के विद्यमान नहीं होने पर प्रत्यक्ष में भी प्रमाणता का अभाव है और ज्ञान का अर्थ के साथ अविनाभाव संबंध रखने वाले स्वभाव को यदि प्रमाणपने का हेतु माना जायेगा तब तो दोनों प्रत्यक्ष और अनुमान समान कोटि के प्रमाण हैं। अर्थात्-स्वलक्षण क्षणिकपन आदि वस्तुभूत अर्थों के होने पर ही उत्पन्न होने से प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों का प्रमाणपना एक सा है।

सफल प्रवृत्ति का जनक होने से तथा संवादक से यदि उस प्रत्यक्ष को मुख्य कहते हो तो उसी प्रकार संवादक होने से अनुमान भी मुख्य हो जायेगा। दोनों प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणों से अर्थ की परिच्छित्ति करके प्रवृत्त होने से ज्ञान अर्थक्रिया में विसंवाद को प्राप्त नहीं कराता है अर्थात्-अनुमान से अग्नि, जल का निर्णय कर सफल अर्थक्रियायें ठीक-ठीक हो जाती हैं।

बौद्ध कहते हैं कि यदि चार्वाक यथार्थवस्तु को विषय करने वाला होने के कारण प्रत्यक्ष को मुख्य प्रमाण कहते हैं तो प्राप्य वस्तु का विषय करने वाला होने से अनुमान भी मुख्य प्रमाण हो जायेगा अतः प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो ही मुख्य प्रमाण हैं। जैनों के "तत्प्रमाणे" सूत्र का अर्थ प्रत्यक्ष और परोक्ष नहीं, अपितु प्रत्यक्ष और अनुमान करना हमें अभीष्ट है। इस प्रकार "योऽप्याह" से लेकर "अनुमानं च" तक किसी बौद्ध ने कथन किया है। अब जैन आचार्य कहते हैं कि उन बौद्धों के यहाँ जितने भी कोई धूम हैं, वे सभी अग्नि से जन्म लेने वाले हैं। अग्नि से भिन्न पदार्थों से वे उत्पन्न होने वाले नहीं हैं इस प्रकार सम्पूर्ण देश और काल को व्यापकर होने वाली साध्य और साधन की व्याप्ति को तीसरे तर्क प्रमाण के बिना किससे जान सकोगे? इस प्रश्न के उत्तर का विचार करना चाहिए।

प्रत्यक्षानुपलंभाभ्यां न तावत्तत्प्रसाधनम्। तयोः सन्निहितार्थत्वात् त्रिकालागोचरत्वतः ॥१५४॥
कारणानुपलंभाच्चेत्कार्यकारणतानुमा। व्यापकानुपलंभाच्च व्याप्यव्यापकतानुमा ॥१५५॥
तद्व्याप्तिसिद्धिरप्यन्यानुमानादिति न स्थितिः। परस्परमपि व्याप्तिसिद्धावन्योन्यमाश्रयः ॥१५६॥
योगिप्रत्यक्षतो व्याप्तिसिद्धिरित्यपि दुर्घटम्। सर्वत्रानुमितिज्ञानाभावात् सकलयोगिनः ॥१५७॥
परार्थानुमितौ तस्य व्यापारोपि न युज्यते। अयोगिनः स्वयं व्याप्तिमजानानः जनान् प्रति ॥१५८॥
योगिनोपि प्रति व्यर्थः स्वस्वार्थानुमिताविव। समारोपविशेषस्याभावात् सर्वत्र योगिनाम् ॥१५९॥

प्रत्यक्ष और अनुपलम्भ से तो व्याप्ति का निर्दोष साधन करना नहीं बन सकता क्योंकि बौद्धों ने उन प्रत्यक्ष और अनुपलम्भों को अत्यन्त निकटवर्ती अर्थों को विषय करने वाला माना है। वे प्रत्यक्ष और अनुपलम्भ तीनों काल के साध्य या साधनों को विषय नहीं करते हैं। किन्तु व्याप्ति ज्ञान तो सर्वदेश और सर्वकाल के साध्य-साधनों को जानता है। यदि कारण के अनुपलम्भ से (कार्य के न दिखने पर) कार्यकारणभावसम्बन्ध का अनुमान किया जायेगा, और व्यापक के अनुपलम्भ से व्याप्य के नहीं दीखने पर व्याप्यव्यापकभाव सम्बन्ध का अनुमान कर लिया जायेगा, तब तो उस व्याप्ति को साधने वाले अनुमान की जनक व्याप्ति का साधन भी अन्य अनुमान से किया जायेगा।

इस प्रकार कहीं भी स्थिति नहीं होगी। (अनुमान से व्याप्ति को जानने में अनवस्था दोष प्रगट है)। प्रकृत अनुमान से उस व्याप्ति को जानने वाले अनुमान की व्याप्ति सध जायेगी और उस अनुमान से प्रकृत अनुमान की व्याप्ति सिद्ध होगी। इस प्रकार परस्पर में भी व्याप्ति को सिद्ध करने में अन्योन्याश्रय दोष भी आता है ॥१५४-१५५-१५६॥

सबको जानने वाले योगियों के प्रत्यक्ष से व्याप्ति की सिद्धि होना कठिन है क्योंकि सकल भूत, भविष्यत्, वर्तमान के त्रिलोकवर्त्ती पदार्थों को युगपत् जानने वाले सकल योगी के सभी विषयों में प्रत्यक्षज्ञान होता है। उनके अनुमान ज्ञान का अभाव है। इसलिए स्वयं व्याप्ति को नहीं जानने वाले, अयोगी अल्प ज्ञानी, मनुष्यों के प्रति परार्थानुमान कराने में भी उस योगिप्रत्यक्ष का व्याप्ति को जानने वाला व्यापार उपयोगी नहीं होता है, और सर्वज्ञ योगियों के प्रति तो स्वयं अपने प्रत्यक्ष से जानी हुई व्याप्ति के ज्ञान का व्यापार करना व्यर्थ ही है। जैसे कि स्वार्थानुमान करने में निकटवर्त्ती साध्य और साधन की प्रत्यक्ष से जानी हुई व्याप्ति का ज्ञान व्यर्थ होगा। योगियों को सम्पूर्ण त्रिलोक त्रिकालवर्त्ती पदार्थों में अज्ञान, संशय आदि विशेष समारोपों का अभाव है। (किसी कारण से उत्पन्न समारोप को दूर करने के लिए अनुमान ज्ञान सर्वत्र नहीं हो सकता) ॥१५७-१५८-१५९॥

एतेनैव हता देशयोगिप्रत्यक्षतो गतिः। संबंधस्यास्फुटं दृष्टेत्यनुमानं निरर्थकम् ॥१६०॥

तस्याविशदरूपत्वे प्रत्यक्षत्वं विरुध्यते। प्रमाणांतरतायां तु द्वे प्रमाणे न तिष्ठतः ॥१६१॥

न चाप्रमाणतो ज्ञानाद्युक्तो व्याप्तिविनिश्चयः। प्रत्यक्षादिप्रमेयस्याप्येवं निर्णीतसंगतः ॥१६२॥

प्रत्यक्षं मानसं येषां संबंधं लिंगलिंगिनोः। व्याप्त्या जानाति तेप्यर्थेतींद्रिये किमु कुर्वते ॥१६३॥

यत्राक्षाणि प्रवर्तंते मानसं तत्र वर्तते। नोन्यत्राक्षादिवैधुर्यप्रसंगात् सर्वदेहिनाम् ॥१६४॥

संबंधोतींद्रियार्थेषु निश्चीयेतानुमानतः। तद्व्याप्तिश्चानुमानेनान्येन यावत्प्रवर्तते ॥१६५॥

प्रत्यक्षनिश्चितव्याप्तिरनुमानेऽनवस्थितिः। निवर्त्यते तथान्योन्यसंश्रयश्चेति केचन ॥१६६॥

तेषां तन्मानसं ज्ञानं स्पष्टं न प्रतिभासते। अस्पष्टं च कथं नाम प्रत्यक्षमनुमानवत् ॥१६७॥

इस उक्त कथन से योगियों के देशप्रत्यक्ष से व्याप्ति को जान लेने के सिद्धान्त का व्याघात कर दिया गया है। क्योंकि उन देशयोगियों को भी साध्य-साधन के सम्बन्ध का व्याप्तिज्ञान चारों ओर से प्रगट प्रत्यक्षरूप दृष्टिगोचर हो रहा है अतः उन प्रत्यक्षज्ञानियों को अनुमान का करना व्यर्थ है। यदि व्याप्ति को जानने वाले उस देशप्रत्यक्ष को अविशदरूप मानोगे तो उसको प्रत्यक्षपना विरुद्ध पड़ेगा। यदि व्याप्ति को जानने वाले प्रमाण को अन्य प्रमाण माना जायेगा तो प्रत्यक्ष और अनुमान दो ही प्रमाण हैं, यह व्यवस्थित नहीं होता है (तीसरा व्याप्ति ज्ञान भी प्रमाणरूप मानना होगा) ॥१६०-१६१॥

अप्रमाणज्ञान से व्याप्ति का निश्चय करना युक्त नहीं है क्योंकि ऐसा मानने पर प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणों के प्रमेय तत्त्वों का भी अप्रमाण ज्ञान से निर्णय होना संगत हो जायेगा ॥१६२॥

जिन वादियों के यहाँ मन-इन्द्रियों से उत्पन्न हुआ प्रत्यक्षज्ञान व्याप्ति से साध्य और साधन के सम्बन्ध को जान लेता है, वे भी वादी इन्द्रियों के अगोचर अतीन्द्रिय विषय में ज्ञान कैसे करते हैं? जिस विषय में बहिरंग इन्द्रियाँ प्रवृत्ति करती हैं उसी विषय में अन्तरंग मन प्रवर्तता है, अन्य विषयों में नहीं प्रवर्तता है तब तो सम्पूर्ण प्राणियों के बहिरंग इन्द्रिय और मन आदि से रहितपने का प्रसंग आयेगा।

भावार्थ : उन प्राणियों के अतीन्द्रिय, इन्द्रिय, मन आदि को अल्पज्ञ जीव अपनी इन्द्रियों से नहीं जान सकेगा। अतः अनुमान भी नहीं कर सकेगा। अतः जीव की इन्द्रियाँ सिद्ध नहीं होंगी ॥१६३-१६४॥

अतीन्द्रिय अर्थों में अनुमान से सम्बन्ध का निश्चय कर लिया जाता है, और उस अनुमान की व्याप्ति का भी निश्चय अन्य अनुमान से कर लिया जाता है। यह धारा तब तक चलती रहेगी जब तक कि किसी प्रत्यक्ष से व्याप्ति का निश्चय कर लिया जाय। अतः अनुमान में अनवस्था और अन्योन्याश्रय दोष निवृत्त हो जाते हैं। ऐसा कोई कहते हैं। आचार्य कहते हैं कि उनके वह प्रत्यक्ष से व्याप्ति को निश्चय करने वाला अन्तिम मानस ज्ञान स्पष्ट प्रतिभासित नहीं है अतः अस्पष्टज्ञान प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है? जिस प्रकार अविशद अनुमान प्रत्यक्ष नहीं कहा जाता है ॥१६५-१६६-१६७॥

तर्कश्चैवं प्रमाणं स्यात्स्मृतिसंज्ञा च किं न वः। मानसत्वाविसंवादाविशेषान्नानुमान्यथा ॥१६८॥

मानसं ज्ञानमस्पष्टं व्याप्तौ प्रमाणमविसंवादकत्वादिति वदन् कथमयं तर्कमेव नेच्छेत्? स्मरणं प्रत्यभिज्ञानं वा कुतः प्रतिक्षिपेत्। तदविशेषात् मनोज्ञानत्वान्न तत्प्रमाणमितिचेत्, नानुमानस्याप्रमाणत्वप्रसंगात्। संवादकत्वादनुमानं प्रमाणमिति चेत्, तत एव स्मरणादि प्रमाणमस्तु। न हि ततोर्थं परिच्छिद्य वर्तमानोर्थक्रियायां विसंवाद्यते प्रत्यक्षादिवत्॥

तर्कादिर्मानसेध्यक्षे यदि लिंगानपेक्षिणः। स्यादंतर्भवनं सिद्धिस्ततोध्यक्षानुमानयोः ॥१६९॥

यदि तर्कादिर्मानसेध्यक्षेंतर्भावः स्याल्लिंगानपेक्षत्वात्ततोऽध्यक्षानुमानयोः सिद्धिः प्रमाणांतराभाववादिनः संभाव्यते नान्यथा॥

तदा मतेः प्रमाणत्वं नामांतरधृतोस्तु नः। तद्वदेवाविसंवादाच्छ्रुतस्येति प्रमात्रयम्॥१७०॥

इस प्रकार यदि अविसंवादी होने से प्रत्यक्ष ज्ञान को प्रमाण मानते हो तो तुम्हारे दर्शन में तर्क, स्मृति, संज्ञा, ज्ञान प्रमाण क्यों नहीं होगा? और अविसंवादीपन की अपेक्षा प्रत्यक्ष और तर्क स्मृति, संज्ञा, ज्ञान में कोई विशेषता नहीं है अन्यथा अनुमान ज्ञान भी प्रमाण नहीं हो सकता ॥१६८॥

अविसंवादी होने से मन से उत्पन्न हुआ अविशद ज्ञान भी व्याप्ति को जानने में प्रमाण है। इस प्रकार कहने वाला बौद्ध तर्क को प्रमाण क्यों नहीं मानता है? तथा स्मरण और प्रत्यभिज्ञान का किस प्रमाण से खण्डन करता है? क्योंकि वह अविशद होकर सम्वादीपना, तर्क, स्मरण और प्रत्यभिज्ञान तीनों में कोई विशेषता नहीं है। मन से उत्पन्न होने के कारण वे तर्क आदिक तीन ज्ञान प्रमाण नहीं हैं ऐसा कहना उचित नहीं है, क्योंकि ऐसा कहने से अनुमान को भी अप्रमाणपने का प्रसंग आयेगा। यदि सम्वादी होने के कारण अनुमान को प्रमाण मानोगे तो सम्वादी होने से स्मरण आदिक को भी प्रमाण मानना पड़ेगा क्योंकि प्रत्यक्षज्ञान के समान उन स्मरण आदिक से भी अर्थ की परिच्छित्ति कर प्रवर्त्तने वाला पुरुष अर्थक्रिया में विसंवाद नहीं करता है।

लिंग की अपेक्षा नहीं करने वाले तर्क, स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, प्रमाणों को यदि मानस प्रत्यक्ष में गर्भित करोगे तब तो प्रत्यक्ष और अनुमान इन दो प्रमाणों की सिद्धि हो सकेगी, अन्यथा नहीं॥१६९॥

यदि तर्क आदि को ज्ञापक हेतु की अपेक्षा नहीं करने से मानस प्रत्यक्ष में गर्भित किया जायेगा तो तीसरे आदि अन्य प्रमाणों को नहीं मानने वाले बौद्ध या वैशेषिकों के यहाँ प्रत्यक्ष और अनुमान दो प्रमाणों की सिद्धि हो सकती है, अन्यथा नहीं। तब तो स्मृति, संज्ञा, चिन्ता आदि या अवग्रह ईहा प्रभृति दूसरे नामों को धारण करने वाले मतिज्ञान का प्रमाणपना व्यवस्थित हो जाने से हमारे और तुम्हारे माने हुए इस ज्ञान में केवल पृथक् नाम निर्देश का भेद है, अर्थ का भेद नहीं है। तथा मतिज्ञान के समान श्रुतज्ञान को भी अविसंवाद होने के कारण प्रमाणपना हो जायेगा। इस प्रकार प्रत्यक्ष, अनुमान और श्रुतज्ञान ये तीन प्रमाण सिद्ध हो जाते हैं।

यदि कोई कहे कि इन्द्रियों से उत्पन्न होने के कारण अवग्रह, ईहा आदि ज्ञान इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष हैं और इन्द्रियों की अपेक्षा नहीं रखने वाले स्मरण, प्रत्यभिज्ञान आदिक मानस प्रत्यक्ष हैं, हेतु की अपेक्षा

यो ह्यवग्रहाद्यात्मकमिंद्रियजं प्रत्यक्षमक्षैर्जनितत्वात् तदनपेक्षं तु स्मरणादि मानसं लिंगानपेक्षणादिति ब्रूयात् तेन मतिज्ञानमेवास्माकमिष्टं नामांतरेणोक्तं स्यात्। तद्विशेषस्तु लिंगापेक्षोनुमानमिति च प्रमाणद्वयं मतिज्ञानव्यक्त्यपेक्षयोपगतं भवेत्। तथा च शब्दापेक्षत्वात्कुतो ज्ञानं ततः प्रमाणान्तरं न सिद्ध्येत् संवादकत्वाविशेषादिति प्रमाणत्रयसिद्धेः। **''यत्प्रत्यक्षपरामर्शिवचः प्रत्यक्षमेव तत्। लैंगिकं तत्परामर्शि तत्प्रमाणांतरं न चेत्''** सर्वः प्रत्यक्षेणानुमानेन वा परिच्छिद्यार्थं स्वयमुपदिशेत् परस्मै नान्यथा तस्यानाप्तत्वप्रसंगात्। तत्र प्रत्यक्षपरामर्श्युपदेशः प्रत्यक्षमेव यथा लैंगिकमिति न श्रुतं ततः प्रमाणांतरं येन प्रमाणद्वयनियमो न स्यादिति चेत्॥

नाक्षलिंगविभिन्नायाः सामग्र्या वचनात्मनः। समुद्भूतस्य बोधस्य मानांतरतया स्थितेः॥१७१॥

अक्षलिंगाभ्यां विभिन्ना हि वचनात्मा सामग्री तस्याः समुद्भूतं श्रुतं प्रमाणांतरं युक्तमिति न तदध्यक्षमेवानुमानमेव वा सामग्रीभेदात् प्रमाणभेदव्यवस्थापनात्॥

नहीं होने के कारण स्मरण आदिक इन्द्रिय प्रत्यक्ष और मानस प्रत्यक्ष में गर्भित है। इस पर आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार उस वादी ने हमारा माना गया मतिज्ञान दूसरे नाम से स्वीकार किया है। उसी मतिज्ञान का एक भेद तो लिंग की अपेक्षा रखने वाला अनुमान है। इस प्रकार एक सामान्य मतिज्ञान के व्यक्ति की अपेक्षा से भेद को प्राप्त हुए दो प्रमाण प्रत्यक्ष और अनुमान स्वीकृत करने चाहिए और इसी प्रकार शब्द की अपेक्षा से उत्पन्न हुआ श्रुतज्ञान उससे भिन्न तीसरा प्रमाण क्यों नहीं सिद्ध होगा? अर्थात् अवश्य होगा क्योंकि प्रत्यक्ष या अनुमान के समान संवादकपना श्रुतज्ञान में भी एकसा है, कोई अन्तर नहीं है। इस प्रकार तीन प्रमाण प्रसिद्ध हो जाते हैं॥१७०॥

प्रश्न : प्रत्यक्ष का विचार करने वाला वचन प्रत्यक्ष रूप ही है और अनुमान का परामर्श करने वाला वचन अनुमान प्रमाण रूप है अतः श्रुतज्ञान प्रमाणान्तर नहीं है? अपितु प्रत्यक्ष का ही भेद है।

(बौद्ध) सभी उपदेशक विद्वान प्रत्यक्ष अथवा अनुमान से स्वयं, अर्थ को जानकर दूसरों के लिए उपदेश देते हैं, अन्यथा (प्रत्यक्ष और अनुमान से स्वयं नहीं जानकर) उपदेश नहीं दे सकते हैं क्योंकि अर्थ को बिना जाने उपदेश देने से अनाप्तपने का प्रसंग आता है तथा प्रत्यक्ष ज्ञान से अर्थ को जानकर परामर्श करने वाला उपदेश प्रत्यक्ष ही है, जैसे कि अनुमान से अर्थ को जानकर उपदेश देने वाले का वचन अनुमानरूप है अतः श्रुतज्ञान उन प्रत्यक्ष और अनुमान से पृथक् प्रमाण नहीं है, जिससे कि हमारे प्रत्यक्ष और अनुमान इन दो प्रमाणों का नियम नहीं हो सके?

उत्तर : ऐसा कहना उचित नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्ष की सामग्री इन्द्रिय और अनुमान की सामग्री अविनाभावी हेतु से सर्वथा भिन्न हो रही वचनरूप सामग्री से उत्पन्न श्रुतज्ञान की तीसरी पृथक् प्रमाण व्यवस्था मानना उपयुक्त है॥१७१॥

प्रत्यक्ष और अनुमान के कारण इन्द्रियाँ और ज्ञापक हेतुओं से वचनस्वरूप सामग्री सर्वथा भिन्न है। तथा उससे समुत्पन्न हुआ श्रुतज्ञान भी भिन्न प्रमाण है यह सिद्धान्त युक्तिपूर्ण है अतः वह श्रुतज्ञान प्रत्यक्षरूप अथवा अनुमान स्वरूप नहीं है, अपितु इनसे भिन्न प्रमाण है, क्योंकि सामग्री के भिन्न-भिन्न होने से प्रमाण के भेद की व्यवस्था हो जाती है।

यत्रेंद्रियमनोध्यक्षं योगिप्रत्यक्षमेव वा। लैंगिकं वा श्रुतं तत्र वृत्तेर्मानांतरं भवेत्।।१७२।।

प्रत्यक्षादनुमानस्य मा भूत्तर्हि विभिन्नता। तदर्थे वर्तमानत्वात् सामग्रीभित्समा श्रुतिः।।१७३।।

न हि विषयस्य भेदात् प्रमाणभेदः प्रत्यक्षादनुमानस्याभेदप्रसंगात्। न च तत्तो भिन्नविषयं सामान्यविशेषात्मकवस्तुविषयत्वात् प्रत्यक्षमेव सामान्यविशेषात्मकवस्तुविषयं न पुनरनुमानं तस्य सामान्यविषयत्वादितिचेत् ततः कस्यचित्क्वचित्प्रवृत्त्यभावप्रसंगात्। सर्वोर्थक्रियार्थी हि प्रवर्तते न च सामान्यमशेषविशेषरहितं कांचिदर्थक्रियां संपादयितुं समर्थं तत्तु ज्ञानमात्रस्याप्यभावात्। सामान्यादनुमिता-द्विशेषानुमानात् प्रवर्तकमनुमानमिति चेत्, न अनवस्थानुषंगात्। विशेषेपि ह्यनुमानं तत्सामान्यविषयमेव परं विशेषमनुमाय यदेव प्रवर्तकं तत्राप्यनुमानं तत्सामान्यविषयमिति सुदूरमपि गत्वा

जिस बौद्ध के यहाँ इन्द्रियप्रत्यक्ष, मानस प्रत्यक्ष, योगिप्रत्यक्ष और स्वसंवेदनप्रत्यक्ष ये चार प्रत्यक्ष माने गये हैं, अथवा तीन प्रकार से हेतुओं से उत्पन्न हुआ अनुमान माना गया है, उसके उनमें प्रवृत्ति कराने वाला होने से श्रुतज्ञान भी तीसरा भिन्न प्रमाण हो जाता है। यदि सामग्री के भेद से प्रमाण के भेद को न मानकर प्रमेय के भेद से प्रमाण का भेद मानोगे तब तो बौद्धों के यहाँ प्रत्यक्ष प्रमाण से अनुमान प्रमाण का भेद नहीं होगा, क्योंकि प्रत्यक्ष के द्वारा ही जाने गये वस्तुभूत क्षणिकपनरूप विषयों में अनुमान प्रमाण प्रवृत्ति करता है। यदि सामग्री के भेद से प्रत्यक्ष और अनुमान का भेद माना जायेगा तो श्रुतज्ञान भी अनुमान के समान सामग्री भेद होने से भिन्न प्रमाण हो जायेगा अर्थात्-प्रत्यक्ष ज्ञान की इन्द्रिय आदिक सामग्री है और अनुमान की हेतु, व्याप्ति, स्मरण आदि भिन्न सामग्री है। उसी के समान शब्दसंकेत स्मरण आदिक सामग्री भी श्रुतज्ञान की पृथक् ही है।।१७२-१७३।।

विषय के अभेद से प्रमाण का भेद मानना ठीक नहीं है।

अन्यथा प्रत्यक्ष प्रमाण से अनुमान के भेद हो जाने का प्रसंग आयेगा। अथवा विषय के भेद से प्रमाण में भेद मानना ठीक नहीं है क्योंकि ऐसा मानने पर प्रत्यक्ष से अनुमान के अभेद का प्रसंग आता है। वह अनुमान प्रमाण उस प्रत्यक्ष से भिन्न विषय वाला नहीं है, क्योंकि सामान्य विशेषरूप वस्तु को दोनों ही प्रमाण विषय करते हैं। प्रत्यक्ष ही सामान्य विशेषरूप वस्तु को विषय करता है, और अनुमान सामान्यविशेषस्वरूप वस्तु को विषय नहीं करता है वह अनुमान केवल सामान्य को ही विषय करता है, ऐसा कहने पर तो उस अनुमान से किसी की कहीं भी प्रवृत्ति नहीं हो सकने का प्रसंग आवेगा अर्थात्-अभिलाषुक जीवों की प्रवृत्ति केवल सामान्य में नहीं हो सकती है विशेषों के बिना कोरा सामान्य असत् है, (जैसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्यों के अतिरिक्त सामान्य मनुष्य कोई वस्तु नहीं है)। अर्थक्रिया को चाहने वाले सभी मनुष्य अर्थों में प्रवृत्ति करते हैं किन्तु सम्पूर्ण विशेषों से रहित होता हुआ सामान्य किसी भी अर्थक्रिया को बनाने के लिए समर्थ नहीं है। उसमें ज्ञान मात्र का भी अभाव है अर्थात् वह विशेषरहित सामान्य सुलभता से स्वकीय ज्ञान करा देने रूप अर्थक्रिया को भी नहीं कर सकता है।

सामान्यविशेषविषयमनुमानमुपगंतव्यं ततः प्रवृत्तौ तस्य प्राप्तिप्रसिद्धेः। सामग्रीभेदाद्भिन्नमनुमानमध्यक्षादिति चेत् तत एव श्रुतं ताभ्यां भिन्नमस्तु विशेषाभावात्॥

शब्दलिंगाक्षसामग्रीभेदाद्येषां प्रमात्रयं। तेषामशब्दलिंगाक्षजन्मज्ञानं प्रमांतरम्॥१७४॥

योगिप्रत्यक्षमप्यक्षसामग्रीजनितं न हि। सर्वार्थागोचरत्वस्य प्रसंगादस्मदादिवत्॥१७५॥

न हि योगिज्ञानमिंद्रियजं सर्वार्थग्राहित्वाभावप्रसंगादस्मदादिवत्। न हींद्रियैः साक्षात्परंपरया वा सर्वेर्थाः सकृत् संनिकृष्यंते न चासंनिकृष्टेषु तज्ज्ञानं संभवति। योगजधर्मानुग्रहीतेन मनसा सर्वार्थज्ञानसिद्धेरदोष इति

अनुमान से जान लिये गये सामान्य से पुनः दूसरे विशेष को जानने के लिए अनुमान किया जाता है और उस दूसरे अनुमान से विशेष व्यक्ति में प्रवृत्ति होती है अतः अनुमान प्रमाण प्रवर्तक है ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि इसमें अनवस्था दोष का प्रसंग आता है। विशेष में भी जो पीछे से अनुमान होगा वह सामान्य को विषय करने वाला ही होगा कारण कि सामान्यरूप से व्याप्ति का ग्रहण होता है, उसी प्रकार विशेष का अनुमान भी सामान्य रूप से होगा। पुनः उस अन्य विशेष को अनुमान करके जो ही अनुमान प्रवर्त्तक कहा जावेगा, वहाँ भी विशेष को जानने वाला वह अनुमान पुनः सामान्य को ही विषय करेगा और फिर सामान्य के द्वारा विशेष की सामान्यपने करके ही अनुमिति होगी। बहुत दूर जाकर भी सामान्य और विशेष दोनों को विषय करने वाला अनुमान स्वीकार करना पड़ेगा। उस अनुमान से प्रवृत्ति होना मानने पर उस सामान्य विशेष आत्मक वस्तु की ही प्राप्ति होना प्रसिद्ध हो जाता है।

सामग्री के भेद से यदि अनुमान को प्रत्यक्ष से भिन्न मानोगे तो भिन्न-भिन्न उत्पादक सामग्री होने से ही श्रुतज्ञान भी उन प्रत्यक्ष और अनुमानों से भिन्न हो जायेंगे, भिन्न-भिन्न सामग्री होने का कोई अन्तर नहीं है।

(शब्द, संकेतग्रहण आदि सामग्री आगमज्ञान की है और हेतु, व्याप्तिग्रहण, पक्षता यह अनुमान की सामग्री है। तथा इन्द्रिय, योग्य देश, विशद क्षयोपशम, प्रत्यक्ष की सामग्री है)। इस प्रकार शब्द, लिंग और इन्द्रिय आदि सामग्रियों के भेद से जिन वादियों के यहाँ प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम ये तीन प्रमाण माने गये हैं उन कापिलों के यहाँ जो ज्ञान शब्द, लिंग और अक्ष (इन्द्रिय) जन्य नहीं है, वह चौथा पृथक् प्रमाण मानना पड़ेगा।

योगियों का सम्पूर्ण पदार्थों को युगपत् जानने वाला प्रत्यक्ष तो इन्द्रिय सामग्री से उत्पन्न नहीं हुआ है। योगी के प्रत्यक्ष को भी यदि इन्द्रियों से उत्पन्न हुआ माना जायेगा तो (अस्मदादिकों) अल्पज्ञानी हम लोगों के अल्पज्ञान समान सर्वज्ञ के प्रत्यक्ष को भी सम्पूर्ण अर्थों को विषय नहीं करनेपन का प्रसंग आयेगा। (इन्द्रियाँ तो सम्पूर्ण भूत, भविष्यत्, देशांतरवर्ती, सूक्ष्म आदि अर्थों को नहीं जान सकती हैं। केवल सम्बन्धित और वर्तमान को ही जान पाती हैं)॥१७४-१७५॥

योगी (केवलज्ञानियों) का ज्ञान इन्द्रियजन्य नहीं है अन्यथा सम्पूर्ण अर्थों के ग्राहकपने के अभाव का प्रसंग आता है, जैसे कि हम सारिखे छद्मस्थों का इन्द्रियजन्य ज्ञान सम्पूर्ण अर्थों को नहीं जान सकता

चेत् , कुत: पुनस्तेन मनसोऽनुग्रह:? सकृत्सर्वार्थसन्निकर्षकरणमिति चेत् तद्वदसौ योगजो धर्म: स्वयं सकृत्सर्वार्थज्ञानं परिस्फुटं किं न कुर्वीत परंपरापरिहारश्चैवं स्यान्नान्यथा योगजधर्मात् मनसोनुग्रहस्ततोऽशेषार्थज्ञानमिति परंपराया निष्प्रयोजनत्वात्। करणाद्विना ज्ञानमित्यदृष्टकल्पनत्याग: प्रयोजनमिति चेत्। नन्वेवं सकृत्सर्वार्थसन्निकर्षो मनस इत्यदृष्टकल्पनं तदवस्थानं, सकृत्सर्वार्थज्ञानान्यथानुपपत्तेस्तस्य सिद्धेर्नादृष्टकल्पनेति चेत् न, अन्यथापि तत्सिद्धे: आत्मार्थसन्निकर्षमात्रादेव

है। इन्द्रियों के साथ सम्पूर्ण अर्थों का अव्यवहित रूप से अथवा परम्परा से भी युगपत् सन्निकर्ष नहीं हो सकता और इन्द्रियों से संनिकृष्ट नहीं हुए अर्थों में इन्द्रियजन्य प्रत्यक्षज्ञान होना सम्भव नहीं है। यदि नैयायिक या सांख्य कहें कि सयोगकेवली के चित्त की वृत्तियों को रोककर एक अर्थ में शुभध्यानरूप योग से उत्पन्न हुए धर्म से अनुग्रह को प्राप्त मन इन्द्रिय से सम्पूर्ण अर्थों का ज्ञान होना सिद्ध होता है अत: कोई दोष नहीं है, तो उस समाधिजन्य धर्म से मन का अनुग्रह कैसे होता है?

यदि कहो कि एक ही बार में संपूर्ण अर्थों के साथ मन का संनिकर्ष कर देना ही धर्म का मन के ऊपर उपकार है, तब तो सम्पूर्ण अर्थों के साथ मन का संनिकर्ष कर देने के समान वह योगज धर्म युगपत् स्वयं अतीव विशद सम्पूर्ण अर्थों के ज्ञान को ही सीधा क्यों नहीं कर लेता है ? इस प्रकार करने से बीच में परम्परा लेने का परिहार भी हो जाता है। अन्यथा परम्परा का निवारण नहीं हो सकता है। योगज धर्म से मन के ऊपर अनुग्रह पहले किया जाए और पीछे उससे सम्पूर्ण अर्थों का ज्ञान किया जाए, इस परम्परा को मानना निष्प्रयोजन है।

सांख्य या वैशेषिकों ने प्रत्यक्षज्ञान का करण संनिकर्ष माना है अत: सांख्य कहता है कि करण के बिना ज्ञान हो जाए, ऐसा देखा नहीं गया है अत: केवलज्ञानी के प्रत्यक्ष करने में अशेष अर्थों के साथ संनिकर्ष मानने का यह प्रयोजन है कि करण बिना ज्ञान हो गया, ऐसी अदृष्ट कल्पना को त्याग दिया जाय। इसके उत्तर में जैनाचार्य कहते हैं कि इस प्रकार एक ही बार में सम्पूर्ण अर्थों के साथ मन का संनिकर्ष होना यह अद्यपि देखते नहीं गये अर्थ की कल्पना करना तो वैसी की वैसी अवस्थित है। अर्थात्-अणु मन के साथ संपूर्ण अर्थों का संनिकर्ष होना यह अदृष्ट अर्थ की कल्पना है, क्योंकि सनिकर्ष के बिना तो असंख्य पदार्थों की चक्षु मन और तर्क से ज्ञप्तियाँ हो रही है।

एक ही समय में सम्पूर्ण अर्थों का ज्ञान मन के साथ सम्पूर्ण अर्थों का संनिकर्ष हुए बिना नहीं बन सकता है, अत: उस सर्व अर्थ के संनिकर्ष की सिद्धि हो रही है। यह अदृष्ट की कल्पना नहीं है, ऐसा कहना भी उचित नहीं है, क्योंकि अन्य प्रकारों से भी एक ही बार सम्पूर्ण अर्थों का ज्ञान हो जाने की सिद्धि हो जाती है। अर्थात्-नैयायिकों के मतानुसार त्रिलोक त्रिकालवर्ती, व्यापक, नित्य आत्मा के साथ अर्थ का संनिकर्ष मात्र हो जाने से ही उन सम्पूर्ण अर्थों का ज्ञान हो जाने की उपपत्ति है। अथवा जैन मतानुसार आत्मा, मन, इन्द्रिय और अर्थ का संनिकर्ष हुए बिना भी केवल आत्मा से ज्ञानावरण का क्षय हो जाने पर

तदुपपत्तेः। तथाहि। योगिज्ञानं करणक्रमातिवर्ति साक्षात्सर्वार्थज्ञानवत्वात् यन्नैवं तन्न तथा यथास्मदादिज्ञानमिति युक्तमुत्पश्यामः। अत एव करणाद्विना ज्ञानमिति दृष्टपरिकल्पनं प्रक्षीणकरणावरणस्य सर्वार्थपरिच्छित्तिः स्वात्मन एव करणत्वोपपत्तेश्च भास्करवत्। न हि भानोः सकलजगन्मंडलप्रकाशनेर्थांतरं करणमस्ति। प्रकाशस्तस्य तत्र करणमिति चेत्, स ततो नार्थांतरं। निःप्रकाशत्वापत्तेरनर्थांतरमिति चेत्, सिद्धं स्वात्मनः करणत्वं समर्थितं च कर्तुरनन्यदविभक्तकर्तृकं करणमग्नेरौष्ण्यादिवदिति नार्थांतरकरणपूर्वकं योगिज्ञानं। नाप्यकरणं येन तदिंद्रियजमदृष्टं वा कल्पितं संभवेत्। ये त्वाहुः, इंद्रियानिंद्रियप्रत्यक्षमतींद्रियप्रत्यक्षं चाक्षाश्रितं

सम्पूर्ण अर्थों का ज्ञान होना बन जाता है। उसी को स्पष्ट कर अनुमान द्वारा कहते हैं) योगी का ज्ञान इन्द्रियों के क्रम का उल्लंघन करता है साक्षात् सम्पूर्ण अर्थों को जानने वाला ज्ञान होने से। जो ज्ञान क्रमवर्ती इन्द्रियों के उपक्रम का उल्लंघन नहीं करता है, वह ज्ञान सम्पूर्ण अर्थों को जानने वाला नहीं है, जैसे कि हम सभी अल्पज्ञ जीवों का ज्ञान। इस सिद्धान्त को हम युक्तिपूर्ण (यथार्थ) देख रहे हैं।

अतएव करण के बिना भी ज्ञान हो जाता है, यह स्वसंवेदन प्रत्यक्ष में देखे हुए तत्त्व की ही कल्पना है। जिस आत्मा के करणज्ञान को रोकने वाले ज्ञान के आवरणों का प्रकृष्ट रूप से क्षय हो गया है, उसको संनिकर्ष के बिना भी सम्पूर्ण अर्थों की परिच्छित्ति (ज्ञान) हो जाती है। अथवा अर्थों की परिच्छित्ति करने में स्वकीय आत्मा को ही करणपना है, जैसे कि सम्पूर्ण अर्थों के प्रकाशित करने में स्वयं सूर्य ही करण है।

सर्वथा स्वाधीन केवलज्ञानरूप करण को आवरण करने वाले ज्ञानावरण पटल का नाश होने पर सर्व पदार्थों की परिच्छित्ति करने में आत्मा को अपने से पृथक् करणों की आवश्यकता नहीं है। जैसे-सूर्य को सम्पूर्ण जगत् मण्डल को प्रकाशित करने में कोई दूसरा भिन्न पदार्थ करण आकांक्षणीय नहीं है, यदि सूर्य को उस मण्डल को प्रकाशित करने में प्रकाश को करण माना जायेगा तो वह प्रकाश उस सूर्य से भिन्न अर्थान्तर नहीं है अन्यथा सूर्य को स्वयं प्रकाश रहितपने का प्रसंग आयेगा। यदि सूर्य से प्रकाश अभिन्न है तो स्वयं अपने को करणपना सिद्ध हो जाता है। पूर्व प्रकरणों में आत्मा का ही करणत्व रूप से समर्थन कर चुके हैं। जैसे अग्नि की उष्णता, ऊर्ध्वगमनस्वभाव आदिक करण उस कर्त्तारूप अग्नि से अभिन्न हैं अतः सर्वथा अपने से भिन्न करण को कारण मानकर योगी का ज्ञान उत्पन्न नहीं होता है और योगी का ज्ञान करण के बिना ही उत्पन्न हो जाय, यह भी नहीं है, जिससे कि वह इन्द्रियजन्य माना जाय या पूर्व उक्त अदृष्ट की कल्पना संभव हो सके।

भावार्थ : कर्त्ता से अभिन्न करणवाले केवलज्ञान द्वारा इन्द्रिय, संनिकर्ष आदि के बिना ही सम्पूर्ण अर्थों का ज्ञान हो जाता है।

जो वादी ऐसा कहते हैं कि इन्द्रिय प्रत्यक्ष, मानस प्रत्यक्ष तथा योगियों का अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष ये सभी प्रत्यक्ष ज्ञान अक्ष का आश्रय लेकर उत्पन्न होते हैं, क्योंकि ज्ञानावरण के क्षयोपशम और क्षय वाले आत्मा को अक्ष शब्द का वाच्य अर्थपना है। यहाँ अक्ष का अर्थ आत्मा लिया गया है अतः अक्ष की अपेक्षा रखने वाला प्रत्यक्ष और लिंग की अपेक्षा रखने वाला अनुमान और शब्दसामग्री की अपेक्षा रखने वाला

क्षीणोपशांतावरणस्य क्षीणावरणस्य चात्मनोऽक्षशब्दवाच्यत्वादनुमानं लिंगापेक्षं शब्दापेक्षं श्रुतमिति प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि व्यवतिष्ठंते अक्षादिसामग्रीभेदादिति तेषां स्मृतिसंज्ञाचिंतानां प्रत्यक्षत्वप्रसंगः क्षीणोपशांतावरणात्मलक्षणमक्षमाश्रित्योत्पत्तिलिंगशब्दानपेक्षत्वाच्च ॥

प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानं योगीतरजनेषु चेत्। स्मरणादेरवैशद्यादप्रत्यक्षत्वमागतम् ॥१७६॥

विशदं ज्ञानं प्रत्यक्षमिति वचने स्मृत्यादेरप्रत्यक्षत्वमित्यायातं। तथा च प्रमाणांतरत्वं लैंगिके शाब्दे वानंतर्भावादप्रमाणत्वानुपपत्तेः। कथम्—

लिंगशब्दानपेक्षत्वादनुमागमता च न। संवादान्नाप्रमाणत्वमिति संख्या प्रतिष्ठिता ॥१७७॥

श्रुतज्ञान इस प्रकार प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम ये तीन प्रमाण व्यवस्थित हो जाते हैं, क्योंकि इनमें अक्ष, लिंग आदि सामग्री भिन्न-भिन्न है। ऐसा कहने वालों के सिद्धान्त में स्मरण, प्रत्यभिज्ञान और व्याप्तिज्ञान को भी प्रत्यक्षपने का प्रसंग आएगा, क्योंकि मतिज्ञानावरण कर्मों के क्षयोपशमस्वरूप आत्मा नाम के अक्ष को लेकर इनकी उत्पत्ति होती है। लिंग तथा शब्द की अपेक्षा न होने से अनुमान और श्रुतज्ञान में स्मृति आदि गर्भित नहीं हो सकते।

सर्वज्ञ के प्रत्यक्षों में और अन्य संसारी जीवों के प्रत्यक्षों में विशद प्रत्यक्ष ज्ञान घटित हो जाता है, तब तो स्मरण, प्रत्यभिज्ञान आदि को अविशद होने के कारण अप्रत्यक्षपना स्वयमेव घटित हो जाता है॥१७६॥ विशद ज्ञान को प्रत्यक्ष कहने पर स्मृति आदिक ज्ञानों को प्रत्यक्षरहित पना प्राप्त होता है और इस प्रकार होने पर स्मृति आदिक को प्रत्यक्ष से भिन्न प्रमाणपना सिद्ध ही है।

हेतु से उत्पन्न हुए अनुमान प्रमाण में अथवा शब्दजन्य आगम ज्ञान में स्मृति आदिकों का अन्तर्भाव नहीं होता है तथा स्मृति ज्ञान अप्रमाण भी नहीं है अतः वैशेषिक या बौद्धों तथा कापिलों को स्मृति आदिक भिन्न परोक्ष प्रमाण मानने पड़ेंगे। वे स्मृति आदिक अनुमान, आगमरूप कैसे नहीं हैं? या अप्रमाण भी क्यों नहीं हैं? ऐसी जिज्ञासा होने पर उत्तर दिया गया है-

स्मरण आदि को लिंग की अपेक्षा नहीं होने के कारण अनुमानपना नहीं है, शब्द की संकेतस्मरण द्वारा सहकारिता नहीं होने से आगमप्रमाणपना भी नहीं है तथा सफल प्रवृत्ति को करने वाले संवादीज्ञान होने के कारण स्मरण आदि अप्रमाण भी नहीं हैं अतः प्रमाणों की संख्या प्रतिष्ठित होती है, अथवा स्मृति, चिन्ता, संज्ञा आदि को पृथक् प्रमाण मानकर गिनने से प्रमाणों की संख्या प्रतिष्ठित हो जाती है ॥१७७॥

जिस प्रकार स्मरण आदि को अविशद होने से प्रत्यक्षपना नहीं है, उसी प्रकार लिंग और शब्द सामग्री का सहकृतपना न होने से अनुमान और आगमपन भी नहीं है। साथ ही में सम्वादक होने के कारण अप्रमाणपना भी नहीं है अतः स्मृति, प्रत्यभिज्ञान और तर्क को तीन प्रमाणों से अतिरिक्त चौथा आदि प्रमाणपना सुलभतापूर्वक प्राप्त हो जाता है अतः तीन ही प्रमाण ज्ञान हैं। यह संख्या प्रतिष्ठित हो सकती है अर्थात् उपहास पूर्वक व्यंग्य करके प्रमाण की तीन संख्या का सिद्ध न होना कह दिया है।

यथा हि स्मरणादेरविसंवादत्वान्न प्रत्यक्षत्वं तथा लिंगशब्दानपेक्षत्वान्नानुमानागमत्वं संवादकत्वान्नाप्रमाणत्वमिति प्रमाणांतरतोपपत्तेः सुप्रतिष्ठिता संख्या त्रीण्येव प्रमाणानीति ॥

एतेनैव चतुः पंचषट्प्रमाणाभिधायिनां। स्वेष्टसंख्याक्षतिर्ज्ञेया स्मृत्यादेस्तद्विभेदतः ॥१७८॥

येप्यभिदधते प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि चत्वार्येवेति सहार्थापत्त्या पंचैवेति वा सहाभावेन षडेवेति वा, तेषामपि स्वेष्टसंख्याक्षतिः प्रमाणत्रयवादीष्टसंख्यानिराकरणेनैव प्रत्येतव्या। स्मृत्यादीनां ततो विशेषापेक्षयार्थांतरत्वसिद्धेः। न ह्युपमानेर्थापत्त्यामभावे वा स्मृत्यादयोंतर्भावयितुं शक्याः सादृश्यादिसामग्र्यनपेक्षत्वात् उपमानार्थापत्तिरूपत्वेनवस्थाप्रसंगात्। अभावरूपत्वे सदंशे प्रवर्तकत्वविरोधात्।

इस कथन से (स्मृति आदि का भिन्न प्रमाणपना सिद्ध हो जाने से) और स्वीकृत प्रमाणों में अन्तर्भाव न होने से ही चार, पाँच, छह, सात, आठ प्रमाणों को कहने वाले वादियों की मानी हुई अपनी अभीष्ट संख्या की क्षति हो गयी है, ऐसा समझ लेना चाहिए क्योंकि स्मृति आदि उन माने हुए नियत प्रमाणों से विभिन्न सिद्ध होते हैं॥१७८॥

जो भी नैयायिक आदि कहते हैं कि प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द-ये चार ही प्रमाण हैं।[१] अथवा अर्थापत्ति के मिलाने पर पाँच ही प्रमाण हैं और अभाव को मिलाने से छह ही प्रमाण हैं। आचार्य कहते हैं कि उन सबकी भी अपने अभीष्ट संख्या की क्षति इस तीन प्रमाण (प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम) को मानने वाले वादी की इष्ट संख्या के निराकरण कर देने से ही समझ लेना चाहिए, क्योंकि स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्कों को विशिष्ट अर्थों के ग्रहण करने की अपेक्षा से उन प्रमाणों से भिन्न प्रमाणपना सिद्ध है। नैयायिक आदि के द्वारा माने गए उपमान प्रमाण या अर्थापत्ति अथवा अभाव में तो स्मृति आदि का अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता है, क्योंकि उपमान की सामग्री सादृश्य और अर्थापत्ति की सामग्री अनन्यथाभवन तथा अभाव की सामग्री आधार ''वस्तुग्रहण'' मनइन्द्रिय, प्रतियोगिस्मरण आदि हैं। उनकी अपेक्षा तो स्मरण आदि ज्ञानों में नहीं है। स्मरण आदि को उपमान या अर्थापत्तिरूप मानने पर अनवस्था दोष का भी प्रसंग आता है।

स्मरण आदि को अभाव प्रमाणरूप मानने पर भाव अंश में प्रवर्त्तकपने का विरोध आता है, (क्योंकि मीमांसकों के यहाँ असत् अंश को जानने के कारण अभाव प्रमाण को निवृत्ति करने वाला माना है) जहाँ पाँच प्रमाण की प्रवृत्ति नहीं होती है, वहाँ अभाव प्रमाण माना गया है। सदृशपन की स्मृति और प्रत्यभिज्ञान, तर्क आदि को यदि नैयायिक उपमानस्वरूप मानेंगे तब तो उस उपमान के उत्पन्न करने वाले सादृश्य आदि को जानने के लिए पुनः स्मृति, प्रत्यभिज्ञान आदि होने चाहिए अन्यथा (यानी ज्ञात हुए बिना) उस सादृश्य आदि को उस उपमान प्रमाण के उत्थान कराने की सामर्थ्य की असम्भवता है। यदि स्मृति आदि

---

१. नैयायिक प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और आगम ये चार प्रमाण मानते हैं। प्रभाकर, मीमांसक अर्थापत्ति अधिक मानता है और जैमिनी अभाव के साथ छह प्रमाण मानते हैं। चार्वाक प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानता है और बौद्ध प्रत्यक्ष और अनुमान इन दो प्रमाणों को मानते हैं।

सादृश्यस्मृत्यादयो हि यद्युपमानरूपास्तदा तदुत्थापकसादृश्यादिस्मृत्यादिभिर्भवितव्यं अन्यथा तस्य तदुत्थापनसामर्थ्यासम्भवात् स्मृत्याद्यगोचरस्यापि तदुत्थापनसामर्थ्येतिप्रसंगात्। प्रत्यक्षगोचरचारि सादृश्यमुपमानस्योत्थापकमिति चेन्न, तस्य दृष्टदृश्यमानगोगवयव्यक्तिगतस्य प्रत्यक्षागोचरत्वात्। गोसदृशो गवय इत्यतिदेशवाक्याहितसंस्कारो हि गवयं पश्यत्प्रत्येति गोसदृशोऽयं गवय इति। तत्र गोदर्शनकाले यदि गवयेन सादृश्यं दृष्टं श्रुतं गवयदर्शनसमये स्मर्यते प्रत्यभिज्ञायते च गवयप्रत्ययनिमित्तः सोयं गवयशब्दवाच्य इति संज्ञासंज्ञिसंबंधप्रतिपत्तिनिमित्तं वा तदा सिद्धमेव स्मृत्यादिविषयत्वमुपमानजननस्य सादृश्यस्येति कुतः प्रत्यक्षगोचरत्वं? यतस्तत्सादृश्यस्मृत्यादेरुपमानत्वे अनवस्था न स्यात्। तथार्थापत्त्युत्थापकस्यानन्यथा भवनस्य परिच्छेदकस्मृत्यादयो यद्यर्थापत्तिरूपास्तदा तदुत्थापका परानन्यथा भवनप्रमाणरूपत्वपरिच्छेदिरपरैः

से विषय नहीं किये गए सादृश्य की भी उस उपमान के उत्थित कराने में शक्ति मानी जाएगी तो अतिप्रसंग दोष आएगा। अर्थात् गौ और गवय के सादृश्य को बिना जाने भी वन में रोझ को देखकर इस गवय के सदृश गौ होती है, ऐसा उपमान प्रमाण उस सादृश्य के विद्यमान होने मात्र से उत्पन्न होने का प्रसंग आएगा किन्तु ऐसा होता नहीं है। प्रत्यक्ष का विषय करने वाला सादृश्य उपमान का उत्पादक है, ऐसा कहना उचित नहीं है क्योंकि पूर्वकाल में देखी गई गौ के सदृश गवय होता है। इस प्रकार, वृद्धवाक्य को सुनकर धारणा नामक संस्कार को धारने वाला पुरुष वन में गवय को देखता हुआ अवश्य ऐसा निर्णय कर लेता है कि यह गवय गौ के सदृश है। प्रत्यक्ष और अनुमान इन प्रमाणों को मानता है। वहाँ प्रथम गौ का दर्शन करते समय यदि गवय के साथ गाय का सदृशपना देखा या सुना है, पीछे गवय का दर्शन करते समय उस देखे या सुने हुए सादृश्य का स्मरण हो जाता है और वैसे सादृश्य का स्मरण हो जाने से सादृश्य का प्रत्यभिज्ञान होता है, तब वह अरण्य में देखे गये विशिष्ट पशु में गवयज्ञान का निमित्तकारण होता है कि यह व्यक्ति गवयशब्द का वाच्य है। अथवा संज्ञा और संज्ञा वाले संबंध की प्रतिपत्तिरूप उपमान का निमित्त वह स्मृत या प्रत्यभिज्ञात सादृश्य है, तब तो उपमान को उत्पन्न करने वाले सादृश्य को स्मृति या प्रत्यभिज्ञान का विषयपना सिद्ध ही है। इस प्रकार वह सादृश्य प्रत्यक्ष का विषय कैसे हो सकता है ? जिससे कि फिर उस सादृश्य को जानने वाले स्मृति आदि को उपमान प्रमाण मानने पर अनवस्था दोष नहीं होता है? अर्थात् अवश्य होता है।

तथा अर्थापत्ति प्रमाण को उत्थापन कराने वाले अन्यथा नहीं होने रूप हेतु के जानने वाले स्मृति आदि पुनः यदि अर्थापत्ति रूप होंगे तब तो उन अर्थापत्तियों के उत्थापक दूसरे अनन्यथा भवन को प्रमाण रूप होते हुए जानने वाले दूसरे स्मृति आदि को होना चाहिए और वे स्मृति आदि भी पुनः अर्थापत्तिरूप होंगे, इस अर्थापत्ति में स्मरण की और तर्क की आवश्यकता पड़ती है अन्यथा अर्थापत्ति के उत्थापक अनन्यथा भवन की प्रतिपत्ति नहीं होगी। इस प्रकार अनेक अर्थापत्तिरूप स्मृति आदि की आकांक्षा बढ़ती रहने के कारण अनवस्था होती है जैसे कि उन स्मृति आदिकों को अनुमानस्वरूप कहने से अनवस्था होती है वैसे यहाँ समझना चाहिए। (क्योंकि उस अनुमान के उत्थापक व्याप्तिस्मरण और लिंग के प्रत्यभिज्ञान को भी पुनः अनुमानरूप कहना आवश्यक होगा)

स्मृत्यादिभिर्भवितव्यमित्यनवस्था तासामनुमानरूपत्ववत्प्रतिपत्तव्याः। कथमभावप्रमाणरूपत्वे स्मृत्यादीनां सदंशे प्रवर्तकत्वं विरुध्यत इति चेत् , अभावप्रमाणस्यासदंशनियतत्वादिति ब्रूमः। न हि तद्वादिभिस्तस्य सदंशविषयत्वमभ्युपगम्यते। सामर्थ्यादभ्युपगम्यत इति चेत् , प्रत्यक्षादेरसदंशविषयत्वं तथाभ्युपगम्यतां विशेषाभावात्। एवं चाभावप्रमाणवैयर्थ्यमसदंशस्यापि प्रत्यक्षादिसमधिगम्यत्वसिद्धेः। साक्षादपरभावपरिच्छेदित्वान्नाभावप्रमाणस्य वैयर्थ्यमिति चेत् , तर्हि स्मृत्यादीनामभावप्रमाणरूपाणां साक्षादभावविषयत्वात्सदंशे प्रवर्तकत्वं कथं न विरुद्धं। ततो नोपमानादिषु स्मृत्यादीनामंतर्भाव इति प्रमाणांतरत्वसिद्धेः सिद्धा स्वेष्टसंख्याक्षतिः चतुःपंचषट्प्रमाणाभिधायिनाम्॥

तद्वक्ष्यमाणकान् सूत्रद्वयसामर्थ्यतः स्थितः। द्वित्वसंख्याविशेषोत्राकलंकैरभ्यधायि यः॥१७९॥

शंका : स्मृति आदि को अभाव प्रमाणरूप मानने पर सद्रूप भाव अंश में प्रवृत्ति करा देना कैसे विरुद्ध पड़ता है ?

समाधान : अभाव प्रमाण असद्रूप अंश में नियत है, ऐसा मीमांसक कहते हैं। उस अभाव प्रमाण को मानने वाले मीमांसकों के द्वारा उस अभाव प्रमाण का विषय भाव अंश स्वीकार नहीं किया गया है (ऐसी दशा में अभावप्रमाणरूप स्मृति आदिक से धूम आदि को जानकर भाव में प्रवृत्ति कैसे हो सकेगी? यदि मीमांसक कहें कि अभाव प्रमाण मुख्यरूप से वस्तु के असत् अंश को जानता है और सत् अंश के बिना असत् अंश ठहर नहीं सकता है)। इस सामर्थ्य से अभाव प्रमाण द्वारा भाव अंश का जानना भी हमें स्वीकृत है। आचार्य कहते हैं तब तो हम स्याद्वादी कहेंगे कि इस प्रकार सामर्थ्य होने से प्रत्यक्ष अनुमान आदि पाँच भावग्राही प्रमाणों को भी असत् अंश का विषय करना मानना चाहिए।

क्योंकि, इन दोनों में कोई अन्तर नहीं है और इस प्रकार व्यवस्था होने पर तो छठे अभाव प्रमाण का मानना व्यर्थ सिद्ध होता है क्योंकि, प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से ही असत् अंश का भी अधिगम हो जाना सिद्ध हो जाता है। यदि अभाव प्रमाण साक्षात् अव्यवहितरूप से अन्य भावों का परिच्छेदी न होकर अभाव का परिच्छेदक है और प्रत्यक्ष आदि प्रमाण तो भाव को जानकर पीछे परम्परा से अभाव को जानते हैं अतः साक्षात् अभाव का ज्ञायक होने से अभाव प्रमाण व्यर्थ नहीं है, तब तो अभाव प्रमाणस्वरूप स्मृति आदि ज्ञान भी अव्यवहित रूप से अभाव को ही विषय करेगा, अतः स्मृति आदि को भाव अंश में प्रवर्त्तकपना क्यों विरुद्ध नहीं पड़ेगा? अर्थात् अवश्य पड़ेगा। उपमान, अनुमान, अर्थापत्ति, अभाव, आगम, प्रमाणों में स्मृति, प्रत्यभिज्ञान और तर्क का अन्तर्भाव नहीं हो पाता है। अतः स्मृति आदि को भिन्न प्रमाणपने की सिद्धि हो जाती है इसलिए चार, पाँच, छह अथवा और भी अधिक प्रमाणों को कहने वाले नैयायिक, मीमांसक आदि के यहाँ अपने अभीष्ट प्रमाणों की संख्या का विघात हो जाना सिद्ध होता है।

इस ग्रन्थ में आगे कहे जाने वाले "आद्ये परोक्षं," "प्रत्यक्षमन्यत्" -इन दो सूत्रों के सामर्थ्य से जो दो संख्या विशेष प्रमाण कहा है, उसी को अकलंक देव ने भी प्रमाण के दो भेद कहे हैं॥१७९॥

प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानं त्रिधा श्रुतमविप्लुतम्। परोक्षं प्रत्यभिज्ञादी प्रमाणे इति संग्रहः ॥१८०॥

त्रिधा प्रत्यक्षमित्येतत्सूत्रव्याहतमीक्ष्यते। प्रत्यक्षातींद्रियत्वस्य नियमादित्यपेशलम् ॥१८१॥

अत्यक्षस्य स्वसंवित्तिः प्रत्यक्षस्याविरोधतः। वैशद्यांशस्य सद्भावात् व्यवहारप्रसिद्धितः ॥१८२॥

प्रत्यक्षमेकमेवोक्तं मुख्यं पूर्णेतरात्मकम्। अक्षमात्मानमाश्रित्य वर्तमानमतींद्रियम् ॥१८३॥

परासहतयाख्यातं परोक्षं तु मतिश्रुतम्। शब्दार्थश्रयणादेवं न दोषः कश्चिदीक्ष्यते ॥१८४॥

प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानं त्रिधेति ब्रुवाणेनापि मुख्यमतींद्रियं पूर्णं केवलमपूर्णमवधिज्ञानं मनःपर्ययज्ञानं चेति निवेदितमेव, तस्याक्षमात्मानमाश्रित्य वर्तमानत्वात्। व्यवहारतः पुनरिंद्रियप्रत्यक्षमनिंद्रियप्रत्यक्षमिति वैशद्यांशसद्भावात्। ततो न तस्य सूत्रव्याहतिः। श्रुतं प्रत्यभिज्ञादि च परोक्षमित्येतदपि न सूत्रविरुद्धं, आद्ये

श्री अकलंक देव का यह अभिप्राय है कि विशदज्ञान प्रत्यक्ष है। वह अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान के भेद से तीन प्रकार का है तथा अनेक बाधाओं के विप्लव से रहित श्रुतज्ञान, प्रत्यभिज्ञान तर्क आदि परोक्ष प्रमाण हैं। इस प्रकार प्रत्यक्ष और परोक्ष दो प्रमाणों में सभी प्रमाणों का संग्रह हो जाता है ॥१८०॥

कोई कहता है कि जैन ग्रन्थों में जो तीन प्रकार का प्रत्यक्ष ज्ञान माना गया है, वह तो सूत्र से व्याघातयुक्त दिख रहा है क्योंकि अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान इन तीन अतीन्द्रिय प्रत्यक्षों का ही आपने नियम किया है। आचार्य कहते हैं कि यह कथन प्रशंसनीय नहीं है, क्योंकि इन्द्रियों से अतिक्रान्त प्रत्यक्ष का स्वसंवेदन हो रहा है। इसमें कोई विरोध नहीं है। तथा एकदेश से विशदपना इन्द्रिय प्रत्यक्षों में भी विद्यमान है, अतः, व्यवहार की प्रसिद्धि से अवग्रह आदि भी प्रत्यक्षरूप हैं। अर्थात्-यद्यपि मुख्यरूप से तो अवधि आदि तीन ही प्रत्यक्ष हैं, परन्तु विशदपना होने से इन्द्रिय प्रत्यक्ष को भी परीक्षामुख आदि न्याय के अन्य ग्रन्थों में सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष माना है वस्तुतः वे परोक्ष हैं ॥१८१-१८२॥

पूर्ण प्रत्यक्ष केवलज्ञान तथा अपरिपूर्ण प्रत्यक्ष अवधि और मनःपर्यय स्वरूप ये सब एक ही मुख्य प्रत्यक्ष प्रमाण कहे गये हैं, क्योंकि अक्ष यानी आत्मा को ही आश्रय लेकर के उत्पन्न होते हैं अतः इन्द्रियों से अतिक्रान्त अवधि आदि तीन ज्ञान तो इन्द्रिय, आलोक, हेतु, शब्द आदि की सहकारिता से नहीं होते हैं अतः वे मुख्य प्रत्यक्ष कहे गये हैं तथा मति और श्रुत इन्द्रियादि की सहायता से होते हैं अतः वे परोक्ष माने गये हैं। इस प्रकार शब्द सम्बन्धी न्याय और अर्थ सम्बन्धी न्याय का आश्रय लेने से कोई भी दोष दृष्टिगोचर नहीं होता है ॥१८३-१८४॥

विशद ज्ञान प्रत्यक्ष है, वह तीन प्रकार का है, इस प्रकार कहने वाले स्याद्वादी के मुख्य रूप से अतीन्द्रिय और पूर्ण विषयों को जानने वाला केवलज्ञान प्रत्यक्ष है तथा अपूर्ण विषयों को जानने वाला अवधिज्ञान और मनःपर्यय ज्ञान भी विकल अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष है, ऐसा निवेदन कर दिया है क्योंकि ये तीनों प्रत्यक्ष ज्ञान आत्मा का आश्रय लेकर उत्पन्न होते हैं। व्यवहार से फिर पाँच इन्द्रियों से उत्पन्न हुए प्रत्यक्ष और मन से उत्पन्न हुए प्रत्यक्ष भी हैं, क्योंकि एकदेश से विशदपना उनमें भी विद्यमान है अतः द्विवचनान्त

परोक्षमित्यनेन तस्य परोक्षप्रतिपादनात्। अवग्रहेहावायधारणानां स्मृतेश्च परोक्षत्ववचनात् तद्विरोध इति चेन्न, प्रत्यभिज्ञादीत्यत्र वृत्तिद्वयेन सर्वसंग्रहात्। कथं प्रत्यभिज्ञाया आदि: पूर्वं प्रत्यभिज्ञादीति स्मृतिपर्यंतस्य ज्ञानस्य संग्रहात् प्राधान्येनावग्रहादेरपि परोक्षत्ववचनात् प्रत्यभिज्ञा आदिर्यस्येति वृत्त्या पुनरभिनिबोधपर्यंतसंगृहीतेर्न काचित्परोक्षव्यक्तिरसंग्रहीता स्यात्। तत एव प्रत्यभिज्ञादीति युक्तं व्यवहारतो मुख्यत: स्वेष्टस्य परोक्षव्यक्तिसमूहस्य प्रत्यायनात् अन्यथा स्मरणादि परोक्षं तु प्रमाणे इति संग्रह इत्येवं स्पष्टमभिधानं स्यात्। तत: शब्दार्थाश्रयणान्न कश्चिद्दोषोत्रोपलभ्यते॥

आद्ये परोक्षम्॥ ११ ॥

पद से एक परोक्ष और एक ही विशद प्रत्यक्ष को कहने वाले उस सूत्र का व्याघात नहीं होता है तथा श्रुतज्ञान और प्रत्यभिज्ञान आदि परोक्ष हैं। इस प्रकार यह भी सूत्र से विरुद्ध नहीं है, क्योंकि आगे ''आद्ये परोक्षम्''-इस सूत्र से उनके परोक्षपने का प्रतिपादन किया गया है। अर्थात् प्रत्यक्ष और परोक्ष इन दो ज्ञानों में सभी ज्ञान गर्भित हो जाते हैं।

अवग्रहा ईहा, अवाय, धारणा और स्मृति को भी परोक्षपना कहा गया है अत: केवल श्रुत और प्रत्यभिज्ञान आदि के परोक्षपना कहने ही से उस सूत्र का विरोध आता है, ऐसा नहीं कहना, क्योंकि, प्रत्यभिज्ञादि-इस शब्द में षष्ठी तत्पुरुष और बहुव्रीहि समास इन दो वृत्तियों से सभी परोक्ष प्रमाणों का संग्रह हो जाता है। **शंका :** सर्वसंग्रह कैसे हो जाता है ?

समाधान : जो ज्ञान प्रत्यभिज्ञान के आदि (पूर्ववर्त्ती) है, वे प्रत्यभिज्ञादि हैं। इस प्रकार षष्ठी तत्पुरुष समास से अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा, स्मृतिपर्यन्त ज्ञानों का संग्रह हो जाता है, क्योंकि अवग्रह आदि के भी प्रधानता से परोक्षपन का कथन किया गया है और जिसके आदि में प्रत्यभिज्ञा है, ऐसी बहुव्रीहि नामक समासवृत्ति से चिन्ता, अभिनिबोध पर्यन्त ज्ञानों का संग्रह हो जाता है अत: कोई भी परोक्ष प्रमाण असंग्रहीत नहीं है अत: प्रत्यभिज्ञादि इस प्रकार वार्तिक में कहना युक्तिपूर्ण है क्योंकि व्यवहार और मुख्यरूप से स्वयं को अभीष्ट परोक्ष व्यक्तियों के समुदाय का निर्णय करा दिया गया है। अवग्रह आदि मुख्य रूप से परोक्ष हैं व्यवहार से प्रत्यक्ष भी हैं। अन्यथा सभी परोक्षों का संग्रह करना यदि इष्ट नहीं है और अवग्रह आदि की परोक्ष में गणना नहीं चाहते होते तो स्मरण आदि तो परोक्ष हैं और अवधि आदि प्रत्यक्ष हैं, इस प्रकार प्रत्यक्ष और परोक्ष दो प्रमाण हैं-ऐसा यह स्पष्ट कथन किया गया है अत: शब्द और अर्थ सम्बन्धी न्याय का आश्रय लेने से कोई भी दोष यहाँ उपलब्ध नहीं है। (अत: स्वकीय प्रभेदों से युक्त प्रत्यक्ष और अपने भेद-प्रभेदों से युक्त परोक्ष ये दो मुख्य प्रमाण हैं। शेष प्रमाणज्ञान इन्हीं दो के परिवार हैं)।

सूत्रकार स्वयं इन पाँच ज्ञानों को इष्ट भेदों में विभक्त करने के लिए सूत्र कहते हैं –

आदि में होने वाले या सूत्र में पहले उच्चारण किये गये मतिज्ञान और श्रुतज्ञान-ये दो परोक्ष प्रमाण हैं॥११॥

अक्षादात्मनः परावृत्तं परोक्षं ततः परैरिंद्रियादिभिरूक्ष्यते सिंच्यतेभिवर्ध्यत इति परोक्षं। किं पुनस्तत्, आद्ये ज्ञाने मतिश्रुते॥

कुतस्तयोराद्यता प्रत्येयेत्युच्यते,—

आद्ये परोक्षमित्याह सूत्रपाठक्रमादिह। ज्ञेयाद्यता मतिर्मुख्या श्रुतस्य गुणभावतः॥१॥

यस्मादाद्ये परोक्षमित्याह सूत्रकारस्तस्मान्मत्यादिसूत्रपाठक्रमादिहाद्यता ज्ञेया। सा च मतेर्मुख्या कथमप्यनाद्यतायास्तत्राभावात् श्रुतस्याद्यता गुणाभावात् निरुपचरिताद्यसामीप्यादाद्यत्वोपचारात्। अवध्याद्यपेक्षयास्तु तस्य मुख्याद्यतेति चेत् न, मनःपर्ययाद्यपेक्षयावधेरप्याद्यत्वसिद्धेर्मत्यवध्योर्ग्रहणप्रसंगात्

जो ज्ञान अक्ष यानी आत्मा से परावृत्त है, वह परोक्ष है। आत्मा से भिन्न इन्द्रिय, मन आदि कारणों से ऊक्षित होता है, सींचा जाता है, पुष्टिकर होता है, वृद्धि को प्राप्त होता है, उसको परोक्ष कहते हैं। वह परोक्ष शब्द का वाच्य फिर क्या पदार्थ है? इस प्रकार जिज्ञासा होने पर आदि के दो ज्ञान-मति और श्रुत हैं अर्थात् इन्द्रियाधीन होने से मतिज्ञान और श्रुतज्ञान परोक्ष हैं।

उन मति और श्रुत दोनों का आदिपन कैसे संभव है? ऐसा प्रश्न होने पर कहते हैं-आद्ये शब्द द्विवचनान्त है। **मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम्।** इस सूत्र के पढ़े जाने के क्रम में यहाँ आदि के दो ज्ञान परोक्ष हैं, ऐसा ग्रन्थकार कहते हैं अतः मतिज्ञान को मुख्य आद्यपना है और उसके निकट होने के कारण श्रुतज्ञान को गौणरूप से आद्यपना है, ऐसा समझना चाहिए॥१॥

जिस कारण सूत्रकार श्री उमास्वामी ने आदि के दो ज्ञान परोक्ष हैं, ऐसा सूत्र कहा है, उस कारण "मतिश्रुत" आदि सूत्र के पठनक्रम से यहाँ प्रथम दो का आदिपना जानना चाहिए और वह आदिपना मतिज्ञान को तो मुख्य है क्योंकि, उस मतिज्ञान में तो कैसे भी आदि में नहीं होनेपन का अभाव है। मति के निकट वाले श्रुतज्ञान को आद्यपना गौणरूप से है।

निरुपचार से यानी मुख्यरूप से, आदि में पड़े हुए मतिज्ञान की समीपता से श्रुत को आद्यपने का उपचार कर लिया गया है। अवधि आदि की अपेक्षा से तो उस श्रुतज्ञान का मुख्यरूप से आद्यपना बन जाता है ऐसा नही कहना चाहिए, क्योंकि इस प्रकार तो मनःपर्यय आदि की अपेक्षा अवधि को भी आद्यपना सिद्ध हो जाएगा और ऐसा होने पर मति और अवधि इन दो के ग्रहण करने का प्रसंग होगा। आद्ये शब्द को द्विवचनरूप से कथन करने का भी इस प्रकार कोई विरोध नहीं आता है। अर्थात् "आद्ये" यह द्विवचनान्त होने से आदि मति और श्रुत इन दो भागों को ग्रहण करना चाहिए।

केवलज्ञान की अपेक्षा से तो सब (चारों मति आदि) ज्ञानों को आद्यपना होते हुए भी मति आदि में से मति और श्रुत का ही यहाँ समीचीन ज्ञान होता है-क्योंकि पाँच ज्ञानों में से मति और श्रुत ये दो ही ज्ञान साथ रहते हैं (अन्य दो ज्ञानों के साहचर्य का नियम नहीं है)-ऐसा नहीं कहना उचित है क्योंकि-मति अपेक्षा से श्रुत आदि के आद्य से रहितपना भी विद्यमान है अतः श्रुत आदि को मुख्यरूप से आद्यपने की असिद्धि होना बना रहता है। अर्थात्-आदि में होनेपन का निर्णय करने के लिए सहचरपना हेतु प्रयोजक नहीं है।

द्वित्वनिर्देशस्याप्येवमविरोधात्। केवलापेक्षया सर्वेषामाद्यत्वेपि मत्यादीनां मतिश्रुतयोरिह संप्रत्ययः साहचर्यादिति चेन्न, मत्यपेक्षया श्रुतादीनामनाद्यताया अपि सद्भावान्मुख्याद्यतानुपपत्तेस्तदवस्थत्वात्। आद्यशब्दो हि यदाद्यमेव तत्प्रवर्तमानो मुख्यः, यत्पुनराद्यमनाद्यं च कथंचित्तत्र प्रवर्तमानो गौण इति न्यायात्तस्य गुणभावादाद्यता क्रमार्पणायाम्॥

बुद्धौ तिर्यगवस्थानान्मुख्यं वाद्यत्वमेतयोः। अवध्यादित्रयापेक्षं कथंचिन्न विरुध्यते॥२॥

परोक्ष इति वक्तव्यमाद्ये इत्यनेन सामानाधिकरण्यादिति चेत्। अत्रोच्यते—

परोक्षमिति निर्देशो ज्ञानमित्यनुवर्तनात्। ततो मतिश्रुते ज्ञानं परोक्षमिति निर्णयः॥३॥

द्वयोरेकेन नायुक्ता समानाश्रयता यथा। गोदौ ग्राम इति प्रायः प्रयोगस्योपलक्षणात्॥४॥

प्रमाणे इति वा द्वित्वे प्रतिज्ञाते प्रमाणयोः। प्रमाणमिति वर्तेत परोक्षमिति संगतौ॥५॥

जो आदि में है, उसी में प्रवर्त्त आद्य शब्द मुख्य है। और जो पदार्थ फिर किसी अपेक्षा से आद्य और अनाद्य भी है, उसमें प्रवर्तमान आद्य शब्द गौण है। इस न्याय से उस श्रुतज्ञान को गौणभाव से आद्यपना है, क्योंकि सूत्र में पढ़े गये पाठ के क्रम की विवक्षा है।

अत: द्विवचनान्त प्रयोग से आद्ये शब्द से मतिज्ञान और श्रुतज्ञान का ग्रहण होता है। अथवा बुद्धि में तिरछा अवस्थित कर देने से इन मतिश्रुत दोनों को अवधि आदि तीन की अपेक्षा कथंचित् मुख्य आद्यपना विरुद्ध नहीं पड़ता है॥२॥

शंका : जब ''आद्ये'' ऐसा द्विवचनान्त प्रयोग है, तो इसके साथ समान अधिकरणपना होने से ''परोक्षे'' इस प्रकार द्विवचनान्त प्रयोग सूत्र में कहना चाहिए (लिंग, संख्या और वचन के समान होने पर ही समानाधिकरण अच्छा बनता है)।

समाधान : यहाँ मति आदि सूत्र में पड़े हुए 'ज्ञान' इस पद की अनुवृत्ति है, वह एक वचन है। नपुंसक लिंग है इसलिए ज्ञान के समान अधिकरण होने से परोक्षं-ऐसा एक वचन निर्देश सूत्र में कहा है अत: मति और श्रुत दो ज्ञान परोक्ष हैं। इस प्रकार निर्णय हो जाता है। दो उद्देश्यों का भी एक विधेय के साथ समानाधिकरणपना अयुक्त नहीं है, जैसे कि ''गोदौ ग्रामः''। गोदौ नाम के दो ह्रद हैं; उन दोनों के निकट होने वाला ग्राम है वह एक ग्राम गोदौ है (यहाँ ग्राम शब्द जातिवाचक है। गोदौ के समान द्विवचन नहीं हुआ। यदि जातिवाचक न होता तो उसके लिंग और संख्या अवश्य प्राप्त होते जैसे कि गोदौ रमणीयौ। अत: ग्राम एक वचन है) इस प्रकार के बाहुल्यपने से प्रयोगों का उपलक्षण होता है यदि ''प्रमाणे'' ऐसे द्विवचनान्त प्रयोग की प्रतिज्ञा की जाएगी तो फिर भी दो मति श्रुत प्रमाणों में एकवचन प्रमाण की अनुवृत्ति करनी पड़ेगी। तभी परोक्ष प्रमाण के साथ मति और श्रुत संगत हो सकते हैं॥३-४-५॥

भावार्थ : आद्ये परोक्षे कहना, फिर परोक्षे प्रमाणे कहना, इसकी अपेक्षा प्रथम से ही ''आद्ये परोक्षम्'' कहना अच्छा है। इसमें लाघव है तथा सूत्र में लघुपना बहुत प्रशंसनीय गुण है।

किं पुनस्तदनुवर्तनात्सिद्धमित्याह;—

ज्ञानानुवर्तनात्तत्र नाज्ञानस्य परोक्षता। प्रमाणस्यानुवृत्तेर्न परोक्षस्याप्रमाणता ॥६॥

अक्षेभ्यो हि परावृत्तं परोक्षं श्रुतमिष्यते। यथा तथा स्मृतिः संज्ञा चिंता चाभिनिबोधिकम् ॥७॥

अवग्रहादिविज्ञानमक्षादात्मा विधानतः। परावृत्ततयाम्नातं प्रत्यक्षमपि देशतः ॥८॥

श्रुतं स्मृत्याद्यवग्रहादि च ज्ञानमेव परोक्षं यस्मादाम्नातं तस्मान्नाज्ञानं शब्दादिपरोक्षमनधिगममात्रं वा प्रतीतिविरोधात् ॥

अस्पष्टं वेदनं केचिदर्थानालंबनं विदुः। मनोराज्यादि विज्ञानं यथैवेत्येव दुर्घटम् ॥९॥

स्पष्टस्याप्यवबोधस्य निरालंबनताप्तितः। यथा चंद्रद्वयज्ञानस्येति क्वार्थस्य निष्ठितः ॥१०॥

फिर उस ज्ञान की अनुवृत्ति से क्या सिद्ध करना है? ऐसी आकांक्षा होने पर उत्तर है-इस सूत्र में (आदि के दो ज्ञान परोक्ष हैं) ज्ञान की अनुवृत्ति करने से अज्ञान, इन्द्रिय, संनिकर्ष आदि जड़ पदार्थों को परोक्षप्रमाणपना और प्रमाण की अनुवृत्ति करने से परोक्ष को अप्रमाणपना सिद्ध नहीं होता है क्योंकि इन्द्रियों से परावृत्त श्रुतज्ञान को परोक्ष इष्ट किया गया है अतः स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, तर्क और अनुमान भी परोक्ष हैं। अक्ष शब्द का अर्थ आत्मा करने से आत्मा से परावृत्त होने के कारण अवग्रह आदि विज्ञान यद्यपि पूर्वाचार्यों के सम्प्रदाय के अनुसार परोक्ष कहे गये हैं, फिर भी एकदेश विशद होने से प्रत्यक्ष भी हैं। अक्ष का अर्थ इन्द्रिय और अनिन्द्रिय भी ले लिया जाता है, किन्तु विशदपना रहना प्रत्यक्ष के लिए आवश्यक है ॥६-७-८॥

जैसे श्रुतज्ञान, स्मृति आदि और अवग्रह आदि ज्ञान ही परोक्ष हैं, ऐसा पूर्व आम्नाय से प्राप्त है, उसी प्रकार शब्द, इन्द्रिय, संनिकर्ष आदि अज्ञान पदार्थ परोक्ष नहीं हैं। अथवा किसी स्वपर प्रमेय का अधिगम नहीं होना भी परोक्ष नहीं है क्योंकि जड़ या ज्ञानशून्य तुच्छ को परोक्ष प्रमाण मानने पर प्रतीति से विरोध आता है।

प्रश्न : अविशद परोक्षज्ञान वास्तविक अर्थ को विषय करने वाला नहीं है-जैसे अपने मन के अनुसार कल्पित राजा, मंत्री आदि के अविशद ज्ञान उन वस्तुभूत राजा आदि को विषय नहीं करते हैं, उसी प्रकार सभी अविशदज्ञान अर्थ को विषय नहीं करते हैं, अतः निरालंब हैं। (बौद्ध)

उत्तर : आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार बौद्धों का कहना दुर्घट है यानी यह युक्तियों से घटित नहीं होता है क्योंकि ऐसा मानने पर विशदप्रत्यक्षज्ञान को भी आलम्बनरहितपने का प्रसंग आता है। जैसे एक चन्द्रमा में चन्द्रद्वय का ज्ञान आलम्बनरहित है इसमें अर्थ की प्रतिष्ठापना किस ज्ञान के द्वारा जानी जा सकती है। अर्थात् झूठे मनोराज्य को विषय करने वाले परोक्षज्ञान का दृष्टान्त देकर यदि सभी परोक्षज्ञान को निरालम्ब कह दिया जाएगा तो आँख में अंगुली लगाकर अविद्यमान दो चन्द्रों को देखने वाले चाक्षुष प्रत्यक्ष का दृष्टान्त देकर सम्पूर्ण प्रत्यक्ष ज्ञानों को भी निर्विषय कहा जा सकता है ॥९-१०॥

परोक्षं ज्ञानमनालंबनमस्पष्टत्वान्मनोराज्यादिज्ञानवत् अतो न प्रमाणमित्येतदपि दुर्घटमेव। प्रत्यक्षमनालंबनं स्पष्टत्वाच्चंद्रद्वयज्ञानादिति तस्याप्यप्रमाणत्वप्रसंगात्। तथा च क्वेष्टस्य व्यवस्था उपायासत्त्वात्॥

अनालंबनता व्याप्तिर्न स्पष्टत्वस्य ते यथा। अस्पष्टत्वस्य तद्विद्धि लैंगिकस्यार्थवत्त्वत: ॥११॥

तस्यानर्थाश्रयत्वेर्थे स्यात्प्रवर्तकता कुत:। संबंधाच्चेन्न तस्यापि तथात्वेनुपपत्तित: ॥१२॥

लिंगलिंगिधियोरेवं पारंपर्येण वस्तुनि। प्रतिबंधात्तदाभासशून्ययोरप्यवंचनम्॥१३॥

मणिप्रभामणिज्ञाने प्रमाणत्वप्रसंगत:। पारंपर्यान्मणौ तस्य प्रतिबंधाविशेषत: ॥१४॥

सम्पूर्ण परोक्ष ज्ञान जानने योग्य विषयों से रहित है क्योंकि वे अविशद रूप से जानने वाले हैं। जैसे मानसिक काल्पनिक राज्य के ज्ञानादि विषय से रहित होते हैं (वह ज्ञान वास्तविक राज्य आदि वस्तुओं को स्पर्श करने वाला नहीं है) अत: कोई भी परोक्ष ज्ञान प्रमाण नहीं है। यह कहना भी युक्तियों से घटित नहीं होता है क्योंकि स्पष्ट ज्ञान होने से प्रत्यक्ष ज्ञान अपने ग्राह्य विषय को स्पर्श नहीं करता है, जैसे चन्द्रद्वय का ज्ञान स्पष्ट होता हुआ भी निर्विषय है। इस प्रकार प्रत्यक्ष के भी अप्रमाणपने का प्रसंग आता है और इससे अपने अभीष्ट तत्त्व की व्यवस्था कहाँ किस प्रमाण से हो सकेगी ? क्योंकि उपाय तत्त्व (प्रत्यक्ष या परोक्ष प्रमाण, कोई भी) विद्यमान नहीं है अत: उपायतत्त्व का असत्त्व है।

जैसे स्पष्टत्व की निर्विषयता के साथ व्याप्ति नहीं है अर्थात्-प्रत्यक्ष को निर्विषय सिद्ध करने वाला अनुमान ठीक नहीं है। उसी के समान अस्पष्टपने की भी निर्विषयता के साथ व्याप्ति नहीं बन पाती है क्योंकि, इसमें अनुमान से व्यभिचार आता है। सम्यक् अनुमान अस्पष्ट होते हुए भी अपने ग्राह्य अर्थ से सहित माना गया है। यदि उस अनुमान को अर्थवान् नहीं माना जाएगा तो अर्थ में उसको प्रवर्तकपना कैसे हो सकेगा? अनुमान द्वारा अवस्तुभूत सामान्य को जानकर फिर सामान्य का विशेष अर्थ के साथ सम्बन्ध हो जाने से अनुमान की अर्थ में प्रवर्त्तकता होती है, ऐसा कहना उचित नहीं है क्योंकि सामान्य के सम्बन्धी विशेष को जानने वाला वह ज्ञान भी निर्विषय है ऐसी दशा में अर्थ में प्रवृत्ति नहीं बनती॥११-१२॥

बौद्ध के अनुसार लिंग और लिंगी को जानने वाले ज्ञानों का भी परम्परा से यथार्थ वस्तु में अविनाभाव संबंध है (समीचीन हेतु की साध्य सामान्य के साथ व्याप्ति है और साध्यसामान्य का स्वलक्षणस्वरूप यथार्थ वस्तु विशेष के साथ संबंध है)। अत: परम्परा से अनुमान प्रमाण वस्तुभूत अर्थ का स्पर्शी है। अनुमान प्रमाण से जानकर वस्तु की अर्थक्रिया में वंचना नहीं है। अर्थात् तदाभास से शून्य प्रत्यक्ष और अनुमान से ज्ञान वस्तु में वंचना नहीं है। इस प्रकार बौद्धों के कहने पर जैनाचार्य कहते हैं कि तब तो मणि की प्रभा में हुए मणि के जानने वाले ज्ञान को भी प्रमाणपने का प्रसंग आएगा, क्योंकि उस मणिज्ञान का परम्परा से यथार्थ मणि में अविनाभावरूप से संबंध है। इन दोनों में कोई विशेषता नहीं है॥१३-१४॥ अर्थात् किसी छेद से आने वाला मणि के प्रकाश का ज्ञान भी समीचीन हो जाएगा, क्योंकि वह मणि के साथ सम्बन्ध रखता है।

यथैव न स्पष्टत्वस्यानालंबनतया व्याप्तित्वे स्वसंवेदनेन व्यभिचारात्तथैवास्पष्टत्वस्यानुमानेनानेकांतात् तस्याप्यनालंबनत्वे कुतोर्थे प्रवर्तकत्वं? संबंधादिति चेन्न, तस्याप्यनुपपत्तेः। यद्धि ज्ञानं यमर्थमालंबते तत्र तस्य कथं संबंधो नामातिप्रसंगात्। तदनेन यदुक्तं ''लिंगलिंगिधियोरेवं पारंपर्येण वस्तुनि। प्रतिबंधात्तदाभासशून्ययोरप्यवंचनं'' इति तन्निषिद्धं, स्वविषये परंपरयापीष्टस्य संबंधस्यानुपपत्तेः सत्यपि संबंधे मणिप्रभायां मणिज्ञानस्य प्रमाणत्वप्रसंगाच्च तदविशेषात्॥

तच्चानुमानमिष्टं चेन्न दृष्टांतः प्रसिद्ध्यति। प्रमाणत्वव्यवस्थानेनुमानस्यार्थलब्धितः॥१५॥

न हि स्वयमनुमानं मणिप्रभायां मणिज्ञानमर्थप्राप्तितोनुमानस्य प्रमाणत्वव्यवस्थितौ दृष्टांतो नाम साध्यवैकल्यात्तथा॥

जिस प्रकार स्पष्टपने की विषयरहितपने के साथ व्याप्ति मानने पर स्वसंवेदन प्रत्यक्ष के साथ व्यभिचार आता है, उसी प्रकार अस्पष्टपने की निर्विषयपने के साथ व्याप्ति होना मानने पर अनुमान से व्यभिचार आता है। यदि व्यभिचार निवृत्ति के लिए उस अनुमान को भी विषय रहित मानोगे तो उस अनुमान को अर्थ में प्रवर्तकपना कैसे बनेगा?

सामान्य और विशेष का संबंध हो जाने से विशेषरूप अर्थ में अनुमान को प्रवर्तकपना है, ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि बौद्ध मतानुसार उस संबंध की भी सिद्धि नहीं होती है। कारण कि जो भी कोई ज्ञान जिस किसी अर्थ को विषय करता है, उस ज्ञान में उस अर्थ का संबंध कैसे कहा जा सकता है? (ज्ञान और अर्थ का कल्पना से किया गया विषयविषयिभाव संबंध है वह वृत्तिपने का नियामक नहीं है)। परन्तु चाहे जिसका संबंध मानने पर अतिप्रसंग दोष आता है अत: कल्पित संबंध से अनुमान को अर्थ में प्रवर्त्तकपना किसी भी प्रकार से नहीं हो सकता है। बौद्ध ने जो यह कहा था कि लिंग ज्ञान और साध्यज्ञान का इस प्रकार परम्परा से परमार्थभूत वस्तु में संबंध होने से अनुमान को अर्थ में प्रवर्त्तकपना है अत: हेत्वाभास या साध्याभासों से शून्य हेतु साध्यों के ज्ञान द्वारा कोई भी नहीं ठगाया जाता है। इस प्रकार का कथन भी इस कथन से निषेध कर दिया गया समझ लेना चाहिए, क्योंकि ज्ञान का अपने विषय में परम्परा से भी इष्ट किया गया संबंध नहीं बनता है अत: सम्बन्ध के होने पर भी यदि प्रमाणता मान ली जाएगी तो मणिप्रभा में हुए मणिज्ञान के प्रमाणपने का प्रसंग आता है। यहाँ उस परम्परा से अर्थ के साथ सम्बन्ध होने का कोई अन्तर नहीं है।

वह मणिप्रभा में हुआ मणिज्ञान यदि अनुमान प्रमाण इष्ट है तो अर्थ की प्राप्ति से अनुमान को प्रमाणपन की व्यवस्था करने में कोई दृष्टान्त प्रसिद्ध नहीं है। अर्थात्-अर्थ की प्राप्ति होने से अनुमान प्रमाण है जैसे कि मणिप्रभा में मणिज्ञान। इस अनुमान का दृष्टान्त प्रसिद्ध नहीं है॥१५॥

अर्थ की प्राप्ति से अनुमान को प्रमाणपन की व्यवस्था करने में मणिज्ञान दृष्टान्त नहीं हो सकता क्योंकि मणिप्रभा में हुआ मणिज्ञान स्वयं अनुमान प्रमाण माना गया है और यह दृष्टान्त साध्य से विकल

मणिप्रदीपप्रभयोर्मणिबुद्ध्याभिधावतः। मिथ्याज्ञानविशेषेपि विशेषोर्थक्रियां प्रति॥१६॥

यथा तथा यथार्थत्वेप्यनुमानं तदोभयोः। नार्थक्रियानुरोधेन प्रमाणत्वं व्यवस्थितम्॥१७॥

ततो नास्यानुमानतदाभासव्यवस्था।

दृष्टं यदेव तत्प्राप्तमित्येकत्वाविरोधतः। प्रत्यक्षं कस्यचित् तच्चेन्न स्याद्भ्रान्तं विरोधतः॥१८॥

प्रत्यक्षमभ्रांतमिति स्वयमुपयन् कथं भ्रांतं ज्ञानं प्रत्यक्षं सन्निदर्शनं ब्रूयात् ?

अप्रमाणत्वपक्षेपि तस्य दृष्टांतता क्षतिः। प्रमाणांतरतायां तु संख्या न व्यवतिष्ठते॥१९॥

ततः सालंबनं सिद्धमनुमानं प्रमात्वतः। प्रत्यक्षवद्विपर्यासो वान्यथा स्याद्दुरात्मनाम्॥२०॥

कथं सालंबनत्वेन व्याप्तं प्रमाणत्वमिति चेत्—

है अर्थात् झूठे मणिज्ञान में प्रमाणपना नहीं है। तथाहि-यहाँ मणि की प्रभा में मणिबुद्धि से और दीपक की प्रभा में मणि की बुद्धि से अर्थप्राप्ति के लिए उस ओर दौड़नेवाले दो पुरुषों को मिथ्याज्ञान का अविशेष होते हुए भी अर्थक्रिया के प्रति जैसी विशेषता मानी जाती है, उसी प्रकार यथार्थपना होते हुए भी अनुमान ज्ञान प्रमाण है। उस समय विषय सहित होने के कारण प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों का प्रमाणपना होने पर भी अर्थक्रिया के अनुसार अनुरोध से प्रमाणपना व्यवस्थित नहीं है॥१६-१७॥

इस प्रकार बौद्धों के यहाँ अनुमान और अनुमानाभास की व्यवस्था नहीं हो सकती है। अर्थात् मिथ्या अनुमान और सम्यक् अनुमान दोनों एक से हो जाते हैं-जो पदार्थ देखा गया वही पदार्थ प्राप्त किया जाए, इस प्रकार यदि एकपने के अविरोध से किसी का भी प्रत्यक्ष होना मानोगे तो वह भ्रान्तज्ञान न हो सकेगा क्योंकि इसमें विरोध है। अर्थात् अर्थ की प्राप्ति करा देने से ज्ञान में प्रमाणपना नहीं है अपितु ज्ञान में हेय, उपादेय अर्थ की प्रदर्शकता ही प्रमाणपना है॥१८॥

प्रत्यक्ष भ्रांतिरहित होता है, इस बात को स्वयं स्वीकार करने वाला (बौद्ध) मणिप्रभा के भ्रान्त ज्ञान को प्रत्यक्ष प्रमाण का समीचीन दृष्टान्त कैसे कह सकेगा? अर्थात् नहीं कह सकता।

उस मणिप्रभा में हुए मणिज्ञान को यदि अप्रमाण माना जायेगा तो उसको दृष्टान्तपने की क्षति होगी। यदि उसको प्रत्यक्ष आदि से अन्य निराला प्रमाण मानें तो संख्या व्यवस्थित नहीं होती। अतः अनुमान प्रमाण आलंबन सहित सिद्ध होता है; वह प्रमाणज्ञान है, जैसे कि प्रत्यक्षज्ञान अपने ग्राह्य विषय से सहित है। अन्यथा दुराग्रही जीवों के यहाँ यदि परोक्ष अनुमान ज्ञान को निर्विषय माना जाएगा तो प्रत्यक्ष भी निर्विषय हो जाएगा। अथवा प्रत्यक्ष ज्ञान भी दुष्ट जीवों के विपर्यय ज्ञान हो जायेगा॥१९-२०॥

विषयसहितपने के साथ प्रमाणपना हेतु व्याप्तियुक्त कैसे है? इस प्रकार **शंका** करने पर जैनाचार्य **समाधान** करते हैं-

अर्थ के असम्भव होने पर प्रत्यक्ष में भी प्रमाणपने का अभाव होता है अतः अर्थसहितपने के साथ प्रमाणपना व्याप्त मानना चाहिए। यदि प्राप्ति करने योग्य अर्थ की अपेक्षा से अनुमान में अर्थसहितपना इष्ट

अर्थस्यासंभवे भावात्प्रत्यक्षेपि प्रमाणताम्। तदव्याप्तं प्रमाणत्वमर्थवत्त्वेन मन्यताम् ॥२१॥

प्राप्यार्थापेक्षयेष्टं चेत्तथाध्यक्षेपि तेस्तु तत्। तथा वाध्यक्षमप्यर्थानालंबनमुपस्थितम् ॥२२॥

प्रत्यक्षं यद्यवस्त्वालंबनं स्यात्तदा नार्थं प्रापयेदितिचेत्—

अनुमानमवस्त्वेव सामान्यमवलंबते। प्रापयत्यर्थमित्येतत्सचेतानाप्य मोक्षते ॥२३॥

तस्माद्वस्त्वेव सामान्यविशेषात्मकमंजसा। विषयीकुरुतेध्यक्षं यथा तद्वच्च लैंगिकम् ॥२४॥

सर्वं हि वस्तु सामान्यविशेषात्मकं सिद्धं तद्व्यवस्थापयत्प्रत्यक्षं यथा तदेव विषयीकुरुते तयानुमानमपि विशेषाभावात्। तथा सति—

स्मृत्यादिश्रुतपर्यंतमस्पष्टमपि तत्त्वत:। स्वार्थालंबनमित्यर्थशून्यं तन्निभमेव न: ॥२५॥

करोगे तो प्रत्यक्ष में भी अर्थ की अपेक्षा से वह प्रमाणपना इष्ट किया जाएगा। किन्तु अवलम्ब कारण की अपेक्षा अर्थसहितपना प्रत्यक्ष में नहीं माना जाए तो प्रत्यक्षप्रमाण भी अर्थ को आलम्बन नहीं करने वाला उपस्थित होता है। अर्थात् जिस प्रकार अनुमान ज्ञान में पदार्थ ग्रहण किए जाते हैं उसी प्रकार प्रत्यक्ष ज्ञान में भी अर्थ का ग्रहण होना चाहिए परन्तु बौद्धों ने प्रत्यक्ष में अर्थग्रहण स्वीकार नहीं किया है।

प्रत्यक्ष प्रमाण यदि वस्तुभूत स्वलक्षण का आलंबन नहीं करेगा तो वह अर्थ को प्राप्त नहीं कर सकेगा (अत: प्रत्यक्ष तो वस्तु को आलंबन कारण मानकर उत्पन्न होता है। अन्य ज्ञान नहीं)। इस प्रकार बौद्ध के कहने पर आचार्य कहते हैं-

अनुमान प्रमाण अवस्तुभूत सामान्य को ही अवलम्ब करता है, किन्तु अर्थ को प्राप्त करा देता है। इस प्रकार कहने वाला सहृदय (बौद्ध) आज नहीं छूट सकेगा। अर्थात् अनुमान के समान प्रत्यक्ष भी अवस्तु को आलंबन करता हुआ अर्थ को प्राप्त करा देगा। फिर प्रत्यक्ष को सावलम्बन क्यों माना जाता है? अत: परिशेष में यही सिद्ध होगा कि सामान्य विशेष आत्मक वस्तु को ही निर्दोष रूप से जैसे प्रत्यक्ष विषय करता है, उसी के समान लिंगजन्य अनुमान प्रमाण भी सामान्य विशेष आत्मक वस्तु को ही विषय करता है ॥२३-२४॥

सम्पूर्ण वस्तुएँ सामान्य विशेष उभय आत्मक सिद्ध हैं। अनुगत आकार और व्यावृत्त आकार पदार्थों में पाये जाते हैं अत: उन वस्तुओं की व्यवस्था करता हुआ प्रत्यक्ष जिस प्रकार उस वस्तु को ही विषय करता है, उसी प्रकार अनुमान भी सामान्य विशेषात्मक वस्तु को जानता है। उन दोनों ज्ञानों में विशेषगुण की अपेक्षा कोई अन्तर नहीं है और इस प्रकार सिद्ध हो जाने पर –

स्मृति को आदि लेकर श्रुतज्ञानपर्यंत परोक्ष ज्ञान वस्तुत: अस्पष्ट ही है, तो भी स्वयं अपने को और अर्थ को आलंबन करने वाले सिद्ध हैं जो ज्ञान अपने ग्राह्य विषय से रहित है, वह हम स्याद्वादियों के यहाँ तदाभास ही माना गया है ॥२५॥

यदार्थालंबनं परोक्षं तत्प्रमाणमितरत्प्रमाणाभासमिति प्रमाणस्यानुवर्तनात्सिद्धं॥

प्रत्यक्षमन्यत्॥ १२ ॥

ननु च प्रत्यक्षाण्यन्यानीति वक्तव्यमवध्यादीनां त्रयाणां प्रत्यक्षविधानादिति न शंकनीयं। यस्मात्—

प्रत्यक्षमन्यदित्याह परोक्षादुदितात्परं। अवध्यादित्रयं ज्ञानं प्रमाणं चानुवृत्तितः ॥१॥

उक्तात्परोक्षादवशिष्टमन्यत्प्रत्यक्षमवधिज्ञानं मनःपर्ययज्ञानं केवलज्ञानमिति संबध्यते ज्ञानमित्यनुवर्तनात्। प्रमाणमिति च तस्यानुवृत्तेः। ततो न प्रत्यक्षाण्यन्यानीति वक्तव्यं विशेषानाश्रयात् सामान्याश्रयणादेवेष्टविशेषसिद्धेर्ग्रंथगौरवपरिहाराच्च॥

जो परोक्ष ज्ञान वास्तविक अर्थ को विषय करता है, वह प्रमाण है और जो उससे भिन्न ज्ञान ठीक अर्थ को आलंबन नही करता है, वह प्रमाणाभास है। यह पूर्वसूत्र से (प्रकृत सूत्र में) प्रमाणपद की अनुवृत्ति करने से सिद्ध हो जाता है।

भावार्थ : प्रमाणस्वरूप मतिज्ञान और श्रुतज्ञान दोनों परोक्ष प्रमाण हैं। जो अप्रमाण हैं वे तदाभास हैं। आचार्य उमा स्वामी अग्रिम सूत्र द्वारा प्रत्यक्ष प्रमाण का कथन करते हैं-

मति और श्रुतज्ञान से बचे हुए अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण हैं ॥१२॥

शंका : सूत्रकार को बहुवचन का प्रयोग करते हुए 'तीन प्रमाण प्रत्यक्ष हैं' ऐसा 'जस्' विभक्तिवाले प्रत्यक्षाणि, अन्यानि ऐसे पद बोलने चाहिए थे क्योंकि अवधि आदि तीन प्रत्यक्ष ज्ञानों का विधान किया है।

समाधान : इस प्रकार शंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि ज्ञानं और प्रमाणं ऐसे एक वचनान्त दो पदों की पूर्वसूत्रों से अनुवृत्ति है। उक्त परोक्ष से अन्य बचा हुआ अवधि आदि तीन अवयवों का समुदाय ज्ञान प्रत्यक्ष है। अतः ज्ञान जाति की अपेक्षा एक वचन है॥१॥

पूर्वकथित परोक्षज्ञान से जो भिन्न सम्यग्ज्ञान अवशिष्ट रह गया है, वह प्रत्यक्ष है। इस प्रकार ज्ञान की अनुवृत्ति करने से अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान इनका यहाँ सम्बन्ध हो जाता है और मति, श्रुत आदि सूत्र से या ''तत्प्रमाणे'' सूत्र में से तत्पदवाच्य ज्ञान से अनुमान एक वचन 'प्रमाणं' -इस प्रकार उसकी अनुवृत्ति हो रही है (अतः इस सूत्र का एक वचनान्त प्रयोग करना युक्त है), इसलिए विशेष व्यक्तियों का (पर्यायों का) आश्रय नहीं करने से बहुवचन वाले ''प्रत्यक्षाणि अन्यानि'' -इस प्रकार नहीं कहना चाहिए, क्योंकि प्रकरण में एक सामान्य का आश्रय लेने से ही हमारे अभीष्ट विशेष की सिद्धि हो जाती है तथा बहुवचन प्रयोग से होने वाले ग्रन्थ के गौरव का भी परिहार हो जाता है।

ज्ञानग्रहणसंबंधात्केवलावधिदर्शने। व्युदस्येते प्रमाणाभिसंबंधादप्रमाणता ॥२॥

सम्यगित्यधिकाराच्च विभंगज्ञानवर्जनं। प्रत्यक्षमिति शब्दाच्च परापेक्षान्निवर्तनम् ॥३॥

न ह्यक्षमात्मानमेवाश्रितं परमिंद्रियमनिंद्रियं वापेक्षते यतः प्रत्यक्षशब्दादेव परापेक्षान्निवृत्तिर्न भवेत्। तेनेंद्रियानिंद्रियानपेक्षमतीतव्यभिचारं साकारग्रहणमित्येतत्सूत्रोपात्तमुक्तं भवति। ततः।

प्रत्यक्षलक्षणं प्राहुः स्पष्टं साकारमंजसा। द्रव्यपर्यायसामान्यविशेषार्थात्मवेदनम् ॥४॥

सूत्रकारा इति ज्ञेयमाकलंकावबोधने। प्रधानगुणभावेन लक्षणस्याभिधानतः ॥५॥

यदा प्रधानभावेन द्रव्यार्थात्मवेदनं प्रत्यक्षलक्षणं तदा स्पष्टमित्यनेन मतिश्रुतमिंद्रियानिंद्रियापेक्षं व्युदस्यते, तस्य साकल्येनास्पष्टत्वात्। यदा तु गुणभावेन तदा प्रादेशिकप्रत्यक्षवर्जनं तदपाक्रियते,

---

ज्ञान के ग्रहण का सम्बन्ध होने से निराकार केवलदर्शन और अवधिदर्शन का निवारण हो जाता है क्योंकि वे दर्शन हैं, ज्ञान नहीं। तथा प्रमाणपद का सम्बन्ध होने से अवधि आदि का अप्रमाणपना खण्डित हो जाता है एवं सम्यक्पद का अधिकार होने से विभंगावधि का निवारण हो जाता है तथा सूत्र में पड़े हुए प्रत्यक्ष इस शब्द से दूसरों की अपेक्षा रखने वाले परोक्ष ज्ञान की भी व्यावृत्ति हो जाती है। अथवा प्रत्यक्षपद से आत्ममात्रापेक्ष से उत्पन्न होने से दूसरे इन्द्रिय आदि की अपेक्षा रखने वाले प्रत्यक्ष की व्यावृत्ति हो जाती है अर्थात् सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष का भी निराकरण हो जाता है ॥२-३॥

प्रत्यक्षप्रमाण अक्ष यानी आत्मा का ही आश्रय लेकर उत्पन्न होता है; उससे भिन्न इन्द्रिय और मन की वह अपेक्षा नहीं करता है, जिससे कि प्रत्यक्ष शब्द से पर की अपेक्षा रखने वाले ज्ञान की निवृत्ति न हो, ऐसा नहीं है। अर्थात् प्रत्यक्ष शब्द से पर की अपेक्षा रखने वाले ज्ञान की निवृत्ति हो जाती है अतः इन्द्रिय और अनिन्द्रिय की अपेक्षा नहीं रखने वाला तथा व्यभिचार दोष से रहित-ऐसा सविकल्पक ग्रहण करना प्रत्यक्ष है। इस प्रकार इस सूत्र से ही ग्रहण किये गये अर्थ को श्री अकलंकदेव ने कहा है।

इस हेतु से सूत्रकार श्री उमास्वामी आचार्य ने स्पष्ट और सविकल्प तथा व्यभिचार आदि दोषरहित सामान्यरूप द्रव्य और विशेष रूप पर्याय अर्थों को तथा अपने स्वरूप को जानना ही प्रत्यक्ष का लक्षण कहा है। इस प्रकार अकलंक देव के ज्ञान को भी जानना चाहिए। अथवा इस ज्ञान को अकलंक (निर्दोष) जानना चाहिए क्योंकि प्रधान और गौणपने से लक्षण का कथन किया गया है ॥४-५॥

जिस समय प्रधान रूप से द्रव्यस्वरूप अर्थ और स्वयं अपना वेदन करना प्रत्यक्ष का लक्षण है, तब 'स्पष्ट' विशेषण से इन्द्रिय और अनिन्द्रिय की अपेक्षा रखने वाले मतिज्ञान और श्रुतज्ञान का निराकरण किया जाता है क्योंकि वे स्मृति आदि सभी मतिज्ञान और श्रुतज्ञान सम्पूर्ण अंशों से अस्पष्ट हैं (अर्थात् प्रत्यक्ष के लक्षण में स्पष्ट पद देने से ही उनका निराकरण होता है)। किन्तु जब गौणरूप से द्रव्य अर्थ और आत्मा का वेदन करना प्रत्यक्ष का लक्षण कहा जाता है, तब एकदेश से विशद (अर्थावग्रह, ईहा, अवाय, धारणारूप इन्द्रिय अनिन्द्रिय) प्रत्यक्ष छूट जाते हैं। उसका निराकरण किया गया है क्योंकि इसमें व्यवहार नय का आश्रय लिया गया है।

व्यवहाराश्रयणात्। साकारमिति वचनान्निराकारदर्शनव्युदासः। अंजसेति विशेषणाद्विभंगज्ञानमिंद्रियानिंद्रियप्रत्यक्षाभासमुत्सारितं। तच्चैवंविधं द्रव्यादिगोचरमेव नान्यदिति विषयविशेषवचनाद्दर्शितं। ततः सूत्रवार्तिकाविरोधः सिद्धो भवति। न चैवं योगिनां प्रत्यक्षमसंगृहीतं यथा परेषां तदुक्तं॥

लक्षणं सममेतावान् विशेषोऽशेषगोचरं। अक्रमं करणातीतमकलंकं महीयसाम्॥६॥

भावार्थ : यद्यपि व्यवहारनय की दृष्टि स इन्द्रिय और मन से उत्पन्न एकदेश विशद मतिज्ञान को भी व्यवहार में प्रत्यक्ष माना है, परन्तु यहाँ पर मुख्य प्रत्यक्ष का कथन है, इसलिए इनका निषेध किया है।

प्रत्यक्ष के लक्षण को कहने वाले वार्त्तिक में साकार इस वचन से विकल्परहित दर्शन की व्यावृत्ति की गई है तथा अंजसा इस विशेषण से विभंगज्ञान और इन्द्रिय प्रत्यक्षाभास, मानसप्रत्यक्षाभास का निराकरण किया है अर्थात् वे ज्ञान स्पष्ट तो हैं, किन्तु निर्दोष नहीं हैं, मिथ्याज्ञानपने से दूषित हैं। विषय विशेष के कथन से इस बात को प्रकट किया है कि-

प्रत्यक्षप्रमाण द्रव्य, पर्याय, सामान्य और विशेष स्वरूप अर्थ को और स्व को ही विषय करने वाला है, इससे भिन्न केवल विशेष अथवा अकेले सामान्य को जानने वाला नहीं है, विषयविशेष के कथन करने से इस बात को प्रकट किया है अतः सूत्र और वार्तिक का अविरोध होना सिद्ध हो जाता है तथा, इस प्रकार प्रत्यक्ष का लक्षण करने से योगी प्रत्यक्ष असंग्रहीत नहीं है अपितु अतीन्द्रियज्ञान का भी संग्रह हो जाता है। जैसा दूसरों ने कहा है कि इन्द्रिय और अर्थ के संनिकर्ष से उत्पन्न हुआ व्यभिचार दोष से रहित निर्विकल्पक और सविकल्पकस्वरूप ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमिति है। चक्षु श्रोत्र आदि इन्द्रियों की वृत्ति करना प्रत्यक्ष है यह सांख्यों का मत है। आत्मा और इन्द्रियों का सत् पदार्थ के साथ सम्प्रयोग होने पर जो ज्ञान होता है, वह प्रत्यक्ष है ऐसा मीमांसक का कथन है।

इन सब प्रत्यक्ष के लक्षणों से अतीन्द्रिय प्रत्यक्षों का संग्रह नहीं होता है किन्तु आर्हतों के लक्षण से सम्पूर्ण प्रत्यक्षों का संग्रह हो जाता है।

ऊपर कहा गया प्रत्यक्ष का लक्षण समान रूप से व्यवहार प्रत्यक्ष और मुख्य प्रत्यक्ष इन दोनों में घटित हो जाता है। परन्तु यह विशेष है कि अधिक पूज्य पुरुषों का केवलज्ञान रूप प्रत्यक्ष अशेषगोचर है (सम्पूर्ण अर्थों को विषय करता है)। क्रम से अर्थों को नहीं जानता है। इन्द्रिय, मन आदि करणों से अतिक्रान्त है तथा ज्ञानावरण कर्म कलंक रहित होने से अकलंक है। (किन्तु इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष अल्प पदार्थों को विषय करता है, क्रम-क्रम से अर्थों को जानता है, करणों के आधीन है और कर्मपटल से घिरा हुआ होने से सकलंक है अर्थात् पूर्ण निर्दोष नहीं ह)॥६॥

तदस्तीति कुतोऽवगम्यत इति चेत्;—

एतच्चास्ति सुनिर्णीतासंभवद्बाधकत्वतः। स्वसंवित्तिवदित्युक्त व्यासतोन्यत्र गम्यताम्॥७॥

धर्म्यत्रासिद्ध इति चेन्नोभयसिद्धस्य प्रत्यक्षस्य धर्मित्वात्। तद्धि केषांचिदशेषगोचरं क्रमं करणातीतमिति साध्यतेऽकलंकत्वान्यथानुपपत्तेः। न चाकलंकत्वमसिद्धं तस्य पूर्वं साधनात्। प्रतिनियतगोचरत्वं विज्ञानस्य प्रतिनियतावरणविगमनिबंधनं भानुप्रकाशवत् निःशेषावरणपरिक्षयात् निःशेषगोचरं सिद्ध्यत्येव। ततः एवाक्रमं तत्क्रमस्य कलंकविगमक्रमकृतत्वात्। युगपत्तद्विगमे कुतो ज्ञानस्य क्रमः स्यात्। करणक्रमादिति चेन्न, तस्य

केवलज्ञान की सिद्धि है-

योगियों का प्रत्यक्ष केवलज्ञान जगत् में है, यह कैसे जाना जाता है? इस प्रकार पूछने पर उत्तर दिया गया है कि यह मुख्य प्रत्यक्षज्ञान स्वसंवित्ति के समान असंभव बाधक होने से निर्णीत है। अर्थात्-इसकी सिद्धि में किसी प्रकार का बाधक प्रमाण नहीं है। इस प्रकार संक्षेप में प्रत्यक्ष प्रमाण का कथन कहा है। इसका विशेष विस्तार अन्य ग्रन्थों से जानना चाहिए॥७॥

इस उक्त अनुमान में धर्मी (पक्ष) असिद्ध है, ऐसा कहना उचित नहीं है क्योंकि वादी प्रतिवादी दोनों द्वारा सिद्ध, प्रत्यक्ष प्रमाण यहाँ धर्मी (पक्ष)है।

वह किन्हीं योगियों का प्रत्यक्ष सम्पूर्ण पदार्थों को युगपत् विषय करने वाला है, क्रमरहित है और इन्द्रियों की अधीनता से अतिक्रान्त है। इस प्रकार धर्मों से युक्त सिद्ध किया जाता है क्योंकि उस ज्ञान का निर्दोषपना अन्य प्रकारों से नहीं बन सकता है। यहाँ हेतु की अकलंकता (निर्दोषत्व) असिद्ध नहीं है, क्योंकि पूर्व प्रकरणों में उसको साध चुके हैं। प्रत्येक नियत पदार्थ के गोचरत्व ज्ञान को रोकने वाले ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम को कारण मानकर उत्पन्न हुआ विज्ञान दीपक के समान प्रत्येक नियत पदार्थ को विषय करता है किन्तु सम्पूर्ण ज्ञानावरण के क्षय हो जाने से उत्पन्न हुआ केवलज्ञान सूर्य प्रकाश के समान सम्पूर्ण पदार्थों को विषय करने वाला सिद्ध हो ही जाता है अतः सम्पूर्ण ज्ञानावरण के क्षय हो जाने से ही वह ज्ञान क्रम से पदार्थों को जानने वाला नहीं है किन्तु युगपत् सम्पूर्ण पदार्थों को जान लेता है। अल्पज्ञों के आवरणरूप कलंकों का दूर होना क्रम से है। अतः छद्मस्थों का ज्ञान नियत अर्थों को जानने वाला क्रम से होता है किन्तु पूज्य पुरुषों के जब युगपत् उस आवरण का विध्वंस हो जाता है तो फिर ज्ञान का क्रम किससे होगा? कारण के न होने पर कार्य नहीं होता है अतः सर्वज्ञ का प्रत्यक्ष क्रमरहित है।

इन्द्रियों की प्रवृत्ति क्रम से होती है अतः सर्वज्ञ का ज्ञान भी क्रम से पदार्थों को जानता है-ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि वह केवलज्ञान इन्द्रियों से अतिक्रान्त है। जो ज्ञान एकदेश से विशद है या सर्वथा अविशद है, वही इन्द्रिय और मन की अपेक्षा रखने वाला सिद्ध है।

किन्तु जो ज्ञान फिर सम्पूर्ण विषयों को एक ही समय में अधिक स्पष्टरूप से विषय करने वाला है, वह बहिरंग अन्तरंग इन्द्रियों की अपेक्षा नहीं करता है, तथा इस प्रकार का प्रत्यक्षज्ञान बाधकों की संभावना से युक्त नहीं है क्योंकि उस सर्वज्ञपने को विषय नहीं करनेवाले प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणों के द्वारा प्रत्यक्षज्ञान में बाधा उत्पत्ति का विरोध है (अर्थात् जो ज्ञान जिस विषय में प्रवृत्ति नहीं करता है, वह

करणातीतत्वात्। देशतो हि ज्ञानमविशदं चाक्षमनोपेक्षं सिद्धं न पुनः सकलविषयं परिस्फुटं सकृदुपजायमानमिति। न चैवंविधं ज्ञानं प्रत्यक्षं संभवद्बाधकं , प्रत्यक्षादेरतद्विषयस्य तद्बाधकत्वविरोधात्। तत एव न संदिग्धासंभवद्बाधकं, निश्चितासंभवद्बाधकत्वात्। न हि तादृशं प्रत्यक्षं किंचित्संभवद्बाधकमपरमसंभवद्बाधकं सिद्धं येनेदं संप्रति संदेहविषयतामनुभवेत्। कथं वात्यंतमसंदिग्धासंभवद्बाधकं नाम? नियतदेशकालपुरुषापेक्षया निश्चितासंभवद्बाधकत्वेपि देशांतराद्यपेक्षया संदिग्धासंभवद्बाधकत्वमिति चेन्न, सुष्ठु तथाभावस्य सिद्धेः। यथाभूतं हि प्रत्यक्षादि प्रमाणत्रत्येदानींतनपुरुषाणामुत्पद्यमानबाधकं केवलस्य तथाभूतमेवान्यदेशकालपुरुषाणामपीति कुतस्तद्बाधनं संदेहः। यदि पुनरन्यादृशं प्रत्यक्षमन्यद्वा तद्बाधकमभ्युपगम्यते तदा केवले को मत्सरः, केवलेनैव

उसका बाधक या साधक नहीं होता है, जैसे रूप को जानने में रसना इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष साधक या बाधक नहीं है) अत: बाधकों की असम्भवता से ही वह सर्वज्ञ बाधकों के संभव नहीं होने के संदेह को प्राप्त भी नहीं है क्योंकि बाधकों की असम्भवता का पक्का निश्चय हो गया है।

इस प्रकार अनुमान से निर्णीत कोई सकल प्रत्यक्ष बाधक कारणों से युक्त हो और दूसरा कोई प्रत्यक्ष प्रमाण बाधकों की सम्भावना से रहित हो, ऐसा सिद्ध नहीं है, जिससे कि यह प्रत्यक्ष इस समय संदेह के विषयपन का अनुभव करे।

शंका : सर्वज्ञ के प्रत्यक्ष में बाधकों का अत्यन्त रूप से असम्भव होना और नि:सन्देहता कैसे जानी जाती है? नियत देश और वर्तमान काल तथा स्थूल बुद्धि साधारण पुरुषों की अपेक्षा से बाधकों की असम्भवता का निश्चय होने पर भी अन्य देश, अन्य काल और असाधारण बुद्धि वाले पुरुषों की अपेक्षा से बाधकों की असम्भवता संदेह प्राप्त है।

समाधान : ऐसा कहना उचित नहीं है, क्योंकि केवलज्ञान में अच्छी तरह से बाधकों की असंभवता की सिद्धि कर दी गई है। इस देश में रहने वाले और आजकल के पुरुषों के जिस प्रकार प्रत्यक्ष आदि प्रमाण केवलज्ञान के बाधक हो सकते हैं, वैसे ही वे अन्य देश, अन्य काल और विशिष्ट पुरुषों के भी प्रत्यक्ष आदि प्रमाण केवलज्ञान के बाधक हो सकते हैं किन्तु ये प्रत्यक्ष तो बाधक नहीं हैं तो वे प्रत्यक्ष बाधक कैसे होंगे? ऐसी दशा में उनसे बाधा होना कैसे संभव है? और संदेह भी कैसे हो सकता है? यदि फिर देशान्तर या कालान्तर में होने वाले विजातीय पुरुषों के प्रत्यक्ष अथवा अनुमान आदि प्रमाण अन्य प्रकार के हैं- वे इस देश और इस काल के पुरुषों के जैसे नहीं हैं तो वे उस सर्वज्ञ प्रत्यक्ष के बाधक स्वीकार कर लिये जाते हैं। इस प्रकार अप्रसिद्ध पदार्थों की कल्पना कर कहने से हम जैन कहते हैं कि आपकी केवलज्ञान में ईर्ष्या क्यों है? केवलज्ञान से ही केवलज्ञान की बाधा होना संभव है। अर्थात् यदि देशान्तर कालान्तर के मनुष्यों में विलक्षण प्रकार के प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाण मानते हैं, तो एक साथ सबको जानने वाला केवलज्ञान क्यों नहीं मान लिया जाता है? अत: बाधकों के असम्भव का निर्णय होने से अतिशय पूज्य पुरुषों का प्रत्यक्ष अपने-अपने स्वसंवेदन के समान सिद्ध है और वह ज्ञानावरण कलंक से रहित है, ऐसा प्रतीत होता है। विस्तार से उस सर्वज्ञ प्रत्यक्ष का अन्य ग्रन्थों में समर्थन किया गया है।

केवलबाधनसंभवात्। ततः प्रसिद्धात्सुनिर्णीतासंभवद्बाधकत्वात्स्वसंवेदनवन्महीयसां प्रत्यक्षमकलंकमस्तीति प्रतीयते प्रपंचतोऽन्यत्र तत्समर्थनात्॥

प्रत्यक्षं कल्पनापोढमभ्रांतमिति केचन। तेषामस्पष्टरूपा स्यात् प्रतीतिः कल्पनाथवा॥८॥

स्वार्थव्यवसितिर्नान्या गतिरस्ति विचारतः। अभिलापवती वित्तिस्तद्योग्या वापि सा यतः॥९॥

अस्पष्टा प्रतीतिः कल्पना, निश्चितिर्वा कल्पना इति परिस्फुटं कल्पना लक्षणमनुक्त्वा अभिलापवती प्रतीतिः कल्पनेत्यादि तल्लक्षणमाचक्षाणो न प्रेक्षावान् ग्रंथगौरवापरिहारात्। न हि काचित्कल्पना स्पष्टास्ति विकल्पानुविद्धस्य स्पष्टार्थप्रतिभासता इति वचनात्। स्वप्नवती प्रतीतिरस्तीतिचेन्न, तस्याः सौगतैरिंद्रियजत्वेनाभ्युपगमात् स्वप्नातिकेंद्रियव्यापारान्वयव्यतिरेकानुविधानात् मानसत्वे तस्या तदनुपपत्तेः। मरीचिकासु तोयप्रतीतिः स्पष्टेति चेन्न, तस्याः स्वयमस्पष्टत्वेपि मरीचिकादर्शनस्पष्टत्वाध्यारोपात्तथावभासनात्।

बौद्ध के द्वारा स्वीकृत प्रत्यक्ष ज्ञान के लक्षण का खण्डन :

कोई (बौद्ध) प्रत्यक्ष का लक्षण कल्पनाओं से रहित और अभ्रान्त मानते हैं। उनसे जैन आचार्य पूछते हैं कि कल्पना का स्वरूप क्या है? क्या अस्पष्टस्वरूप प्रतीति करना कल्पना है? अथवा ज्ञान द्वारा अपना और अर्थ का निश्चय करना कल्पना है? या शब्दयोजना सहित होकर ज्ञप्ति होना कल्पना है? या शब्दसंसर्गयोग्य प्रतिभास होना कल्पना मानी गई है? विचार करने से अन्य कोई गति नहीं है जिससे कि वह कल्पना सिद्ध हो सकती हो॥८-९॥

अविशद प्रतीति होना कल्पना है अथवा निश्चयस्वरूप विकल्प होना कल्पना है। इस प्रकार अधिक स्फुटरूप से कल्पना के लक्षण को नहीं कहकर शब्दयोजना वाली प्रतीति कल्पना है (वस्तु को नहीं छूने वाली परिच्छित्ति कल्पना है) इत्यादि रूप से कल्पना के लक्षणों को कहने वाले विचारशालिनी बुद्धि के धारक नहीं हैं, क्योंकि इस प्रकार से ग्रन्थ के गौरव का परिहार नहीं हो सकता, क्योंकि कोई भी कल्पना स्पष्ट नहीं है। बौद्धों ने स्वयं अपने ग्रन्थ में कहा है कि कल्पना से ओतप्रोत अर्थ का स्पष्ट प्रतिभास नहीं हो पाता है। "स्वप्न में प्रतीति स्पष्ट होती हुई भी कल्पना है।" ऐसा भी न कहना। क्योंकि स्वप्न वाली ज्ञप्ति को बौद्धों ने इन्द्रियजन्य ज्ञान स्वीकार किया है। स्वप्न के निकट इन्द्रियों के व्यापार का अन्वयव्यतिरेक रूप से अनुकरण किया जाता है। यदि उस स्वप्न की ज्ञप्ति को मन इन्द्रियजन्य मानेगा तो बहिरङ्ग इन्द्रियों के साथ अन्वयव्यतिरेक नहीं होगा।

कल्पनास्वरूप मरीचिका (बालू, रेत) से जल की प्रतीति स्पष्ट होती है, ऐसा कहना उचित नहीं है, क्योंकि वह जलज्ञान, यद्यपि स्वयं अस्पष्ट है, फिर भी मरीचिका के चाक्षुष प्रत्यक्ष में विद्यमान स्पष्टता को जलज्ञान में पूरी आरोपित कर देने से स्पष्ट प्रतिभास हो जाता है अतः कल्पना का अस्पष्ट लक्षण अव्याप्ति दोषयुक्त नहीं है और इस लक्षण की कहीं अतिव्याप्ति भी नहीं है क्योंकि कल्पनारहित ज्ञान में अस्पष्टता का अभाव है।

ततो नाव्यापीदं लक्षणं। नाप्यतिव्यापि क्वचिदकल्पनायाः स्पष्टत्वाभावात्। दूरात्पादपादिदर्शने कल्पनारहितेप्यस्पष्टत्वप्रतीतेरतिव्यापीदं लक्षणमिति चेन्न, तस्य विकल्पास्पष्टत्वेनैकत्वारोपादस्पष्टतोपलब्धेः। स्वयमस्पष्टत्वे निर्विकल्पकत्वविरोधात्। ततो निरवद्यमिदं कल्पनालक्षणं। एतेन निश्चयः कल्पनेत्यपि निरवद्यं विचारितं, लक्षणांतरेणाप्येवंविधायाः प्रतीतेः कल्पनात्वविधानाद्गत्यंतराभावात्॥

तत्राद्यकल्पनापोढे प्रत्यक्षे सिद्धसाधनम्। स्पष्टे तस्मिन्नवैशद्यव्यवच्छेदस्य साधनात्॥१०॥

अस्पष्टप्रतिभासायाः प्रतीतेरनपोहने। प्रत्यक्षस्यानुमानादेर्भेदः केनावबुध्यते॥११॥

स्वार्थव्यवसितिस्तु स्यात्कल्पना यदि संमता। तदा लक्षणमेतत्स्यादसंभाव्येव सर्वथा॥१२॥

दविष्टपादपादिदर्शनस्यास्पष्टस्यापि प्रत्यक्षतोपगमात्कथं अस्पष्टप्रतीति लक्षणया कल्पनयापोढं प्रत्यक्षमिति वचने सिद्धसाधनमिति कश्चित्। श्रुतमेतन्न प्रत्यक्षं श्रुतमस्पष्टतर्कणं इति वचनात् ततो न दोष

दूर देश से वृक्ष आदि के दृष्टिगोचर होने पर कल्पनारहित समीचीन ज्ञान में भी अस्पष्टपना प्रतीत होता है अतः कल्पना का यह लक्षण अतिव्याप्त है, ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि उस दूर से दिखने वाले प्रत्यक्ष को विकल्पज्ञान की अस्पष्टता के साथ एकपने का आरोप हो जाने से अविशदपना प्रतीत होता है। यदि वह दूर से देखे हुए वृक्ष का ज्ञान स्वयं अस्पष्ट होता तो निर्विकल्पकपने का विरोध आता है अतः अस्पष्टपना कल्पना का लक्षण अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असम्भव दोषों से रहित होने से निर्दोष है।

इस उक्त कथन के द्वारा कल्पना का स्व और अर्थ निश्चय करना-यह लक्षण भी निर्दोष है, यह विचार कर दिया गया है। अन्य लक्षणों के कहने से भी इस प्रकार की प्रतीति से कल्पनापने का विधान हो जाता है। इसके अतिरिक्त कल्पना के लक्षण करने में अन्य कोई उपाय नहीं है। (अन्य कोई उपाय शेष नहीं है)

कल्पना के उन लक्षणों में से आदि में कही गई कल्पना से अस्पष्ट प्रतिभास रहित यदि प्रत्यक्ष प्रमाण माना जाएगा तब तो सिद्धसाधन दोष आता है क्योंकि उस प्रत्यक्ष प्रमाण के स्पष्ट होने पर ही अवैशद्य के व्यवच्छेद की सिद्धि होती है। अर्थात् स्पष्टपने से अवैशद्य की व्यावृत्ति करने पर परोक्ष में अतिव्याप्ति नहीं है। अविशद प्रतिभास वाली परोक्ष प्रतीति की यदि व्यावृत्ति नहीं की जाएगी तो प्रत्यक्ष प्रमाण का भेद अनुमान, आगम आदि से किस प्रमाण के द्वारा जान सकेंगे (अतः अविशद प्रतीति स्वरूप कल्पना से रहित प्रत्यक्ष निर्विकल्पक सिद्ध है। उस सिद्धि को सिद्ध करने से क्या लाभ है?)॥१०-११॥

स्व और अर्थ के निर्णय को यदि कल्पना मानेंगे तो यह कल्पना का लक्षण सर्वथा सम्मत ही है, क्योंकि किसी भी असत्य कल्पना में यह लक्षण नहीं जा सकता है।

अर्थात् प्रमाणज्ञान ही स्व और अर्थ का निर्णय करता है अतः प्रत्यक्ष का लक्षण निर्विकल्प करना असम्भव व दोषयुक्त ही है॥१२॥ अतिदूरवर्ती वृक्ष आदि के अस्पष्ट दर्शन को भी प्रत्यक्षपना स्वीकार किया गया है, तो अस्पष्ट प्रतीति स्वरूप कल्पना से रहित प्रत्यक्ष है, ऐसे कथन में सिद्ध-साधन दोष कैसे हुआ?

इत्यपर:। पादपादिसंस्थानमात्रे दवीयस्यापि स्पष्टत्वावस्थिते:। श्रुतत्वाभावादक्षव्यापारान्वयव्यतिरेकानुविधानाच्च प्रत्यक्षमेव तत् तथाविधकल्पनापोढुं चेति सिद्धसाधनमेव। न हि सर्वमस्पष्टतर्कणं श्रुतमिति युक्तं स्मृत्यादे: श्रुतत्वप्रसंगात् व्यंजनावग्रहस्य वा। न हि तस्य स्पष्टत्वमस्ति परोक्षत्ववचनविरोधात् अव्यक्तशब्दादिजातग्रहणं व्यंजनावग्रह इति वचनाच्च मतिपूर्वमस्पष्टतर्कणं श्रुतमित्युपगमे तु सिद्धं स्मृत्यादिमतिज्ञानं व्यंजनावग्रहादि वा श्रुतं दविष्टपादपादिदर्शनं च प्रादेशिकं प्रत्यक्षमिति न किंचिद्विरुध्यते। यदि पुनर्नास्पष्टा प्रतीति: कल्पना यतस्तदपोहने प्रत्यक्षस्य सिद्धसाधनं। किं तर्हि? स्वार्थव्यवसिति: सर्वकल्पनेति

प्रत्युत् जैनों के यहाँ ही दूरवर्त्ती पदार्थ के प्रत्यक्ष में वैशद्य न होने से अव्याप्ति दोष आता है। इस प्रकार किसी दूसरे वादी (बौद्ध) के कहने पर कोई दूसरा कहता है कि यह दूरवर्त्ती वृक्ष आदि का ज्ञान श्रुतज्ञान है, प्रत्यक्ष नहीं है, क्योंकि मतिज्ञान से जाने गये अर्थ के साथ संसर्ग रखने वाले अन्य पदार्थों की अविशद तर्कणा करने को श्रुतज्ञान कहा है. अत: कोई दोष नहीं है (यानी श्रुतज्ञान चाहे अस्पष्ट सविकल्पक हो परन्तु सभी प्रत्यक्षज्ञान तो अस्पष्ट कल्पना से रहित होने के कारण निर्विकल्पक हैं), क्योंकि दूरवर्त्ती वृक्ष के ज्ञान को प्रत्यक्ष माना गया है। दूरवर्त्ती वृक्ष के भी सामान्य वृक्ष संस्थान मात्र में स्पष्टपना अवस्थित है अत: उसमें श्रुतज्ञान का अभाव है तथा इन्द्रियों के होने पर दूरवर्त्ती वृक्ष का ज्ञान होने रूप अन्वय और इन्द्रियों के न होने पर वृक्ष का दर्शन नहीं होने रूप व्यतिरेक का अनुविधान करने से वह ज्ञान प्रत्यक्ष ही है, और सामान्य वृक्ष की रचना को स्पष्ट जानने में इस प्रकार अस्पष्ट कल्पना से रहित भी है। अत: बौद्धों के ऊपर सिद्धसाधन दोष तदवस्थ ही है।

अस्पष्ट रूप से विचारने वाले सभी ज्ञानों को श्रुतज्ञान कहना युक्त नहीं है।

क्योंकि ऐसा कहने पर स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, व्याप्तिज्ञान आदि के श्रुतज्ञानपने का प्रसंग आता है। तथा शब्द आदि को अव्यक्त जानने वाला व्यंजनावग्रह भी श्रुतज्ञान हो जाएगा। परन्तु वह व्यंजनावग्रह स्पष्ट नहीं है क्योंकि व्यंजनावग्रह को स्पष्ट मानने पर जैन सिद्धान्तानुसार व्यंजनावग्रह को परोक्ष कहने का विरोध आयेगा। अर्थात् स्पष्ट ज्ञान परोक्ष नहीं होता तथा अव्यक्त शब्द, रस, गंध अथवा स्पर्श को या उनके समुदायस्वरूप अर्थ को ग्रहण करना व्यंजनावग्रह है, ऐसा राजवार्त्तिक में कहा गया है। मतिपूर्वक उत्पन्न अस्पष्ट विचारने वाले ज्ञान को श्रुतज्ञान स्वीकार किया है अत: स्मृति आदि मतिज्ञान सिद्ध हो जाते हैं। व्यंजनावग्रह आदि भी मतिज्ञान हैं, श्रुतज्ञान नहीं हैं तथा अधिक दूरवर्त्ती वृक्ष आदि का देखना एकदेश से विशद सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष है। व्यंजनावग्रह सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष नहीं है। ऐसा मानने में हम जैनों का कोई विरोध नहीं है।

यदि फिर कहो कि अस्पष्ट प्रतीति कल्पना नहीं है, जिससे कि प्रत्यक्ष की उस कल्पना से व्यावृत्ति करने पर सिद्ध साधन दोष हो सके।

प्रश्न : कल्पना किसे कहते हैं?

उत्तर : स्व और अर्थ का निर्णय करना कल्पना है। ग्रन्थकार कहते हैं कि ऐसा कहने पर तो प्रत्यक्ष

मतं तदा प्रत्यक्षलक्षणमसंभाव्यं च तादृशकल्पनापोढस्य कदाचिदसंभवात् व्यवसायात्मकमानसप्रत्यक्षोपगमविरोधश्च। केषांचित्संहृतसकलविकल्पावस्थायां सर्वथा व्यवसायशून्यं प्रत्यक्षं प्रत्यात्मवेद्यं संभवतीति नासंभवि लक्षणमितिचेत् न, असिद्धत्वात्। यस्मात्—

संहृत्य सर्वतश्चित्तं स्तिमितेनांतरात्मना। स्थितोपि चक्षुषा रूपं स्वं च स्पष्टं व्यवस्यति ॥१३॥

ततो न प्रत्यक्षं कल्पनापोढं प्रत्यक्षत एव सिद्ध्यति, नाप्यनुमानात्। तथाहि—

पुनर्विकल्पयन् किंचिदासीन्मे स्वार्थनिश्चयः। ईदृगित्येव बुध्येत प्रागिंद्रियगतावपि ॥१४॥

ततोन्यथा स्मृतिर्न स्यात्क्षणिकत्वादिवत् पुनः। अभ्यासादिविशेषस्तु नान्यः स्वार्थविनिश्चयात् ॥१५॥

अश्वं विकल्पयतः प्राग्न चेंद्रियगतावपीदृशः स्वार्थनिश्चयो ममासीदिति पश्चात् स्मरणात्तस्याः

का लक्षण असंभव हो जाएगा क्योंकि वैसी स्वार्थ निश्चयरूप कल्पना से रहित प्रत्यक्ष प्रमाण कभी संभव नहीं है। अर्थात् सर्व ही प्रत्यक्ष स्वार्थ व्यवसाय रूप ही है, तथा बौद्धों ने भी मानस प्रत्यक्ष को निश्चयस्वरूप स्वीकार किया है उसका विरोध हो जाता है।

किन्हीं जीवों के सम्पूर्ण विकल्पों के नष्ट हो जाने की अवस्था में सभी प्रकार व्यवसायों (विकल्पों) से रहित प्रत्यक्ष ज्ञान प्रत्येक आत्मा को स्वसंवेद्य होकर संभव हो रहा है अत: बौद्धों के द्वारा स्वीकृत प्रत्यक्ष का लक्षण असंभव दोष से युक्त नहीं है। ऐसा कहना भी उचित नहीं है, क्योंकि बौद्धों का उक्त कथन सिद्ध नहीं है, कारण कि-

सब ओर से चित्त का संकोच करके स्तम्भित या प्रशान्त हो रही अंतरंग आत्मा में स्थित पुरुष चक्षु द्वारा अपने ज्ञान को भीतर और रूप को बाहर स्पष्ट निर्णीत कर रहा है। अर्थात् संकल्पविकल्पों से रहित अवस्था में तो और भी अधिक स्पष्ट निर्णय होता है, स्वात्मा का स्पष्ट अनुभव होता है ॥१३॥

अत: प्रत्यक्ष प्रमाण कल्पनाओं से रहित है यह प्रत्यक्ष ज्ञान से सिद्ध नहीं हो सकता। तथा अनुमान से भी प्रत्यक्ष का अभीष्ट विकल्पों से रहितपना सिद्ध नहीं होता। तथाहि-पूर्व कालीन विचारों का बार-बार विकल्प करता हुआ जीव इस प्रकार का अनुमान कर लेता है कि पूर्व में इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष के होने पर उसे ऐसा कुछ स्वार्थ निर्णय हो चुका है, उस निश्चय से ही स्मरण होना बन सकता है। अन्यथा (इन्द्रियजन्य ज्ञान द्वारा स्वार्थ का निश्चय न होने पर) स्मृति नहीं हो सकती जैसे बौद्धों के स्वलक्षण का निर्विकल्पक प्रत्यक्ष होने पर उससे अभिन्न क्षणिकपन का भी अनिश्चय आत्मक ज्ञान ही रहता है।

उनका स्मरण नहीं होता है क्योंकि अनिश्चय ज्ञान का स्मरण नहीं होता है। यदि अभ्यास, बुद्धि, चातुर्य आदि विशेषों से स्मरण होना मानोगे तो वे अभ्यास आदि विशेषताएँ तो स्वार्थ का विशेष निश्चय हो जाने के अतिरिक्त और कोई भिन्न पदार्थ नहीं हैं। अर्थात्-अनिर्णयात्मक ज्ञान में अभ्यास आदि नहीं हो सकते क्योंकि स्मरणादि निश्चयात्मक पदार्थ के ही होते हैं ॥१४-१५॥

इन्द्रियगतज्ञान में घोड़े का विकल्प करने के पूर्व मेरे (जीव को) ऐसा स्वार्थ का निर्णय नहीं था परन्तु इन्द्रियजन्य ज्ञान के पश्चात् मुझको इस प्रकार का स्वार्थ निर्णय हो गया है जिस कारण कि पीछे भी

स्वार्थव्यवसायात्मकत्वस्य मानान्न निर्विकल्पकत्वानुमानं नाम। न हींद्रियगतेरध्यवसायात्मकत्वे स्मरणं युक्तं क्षणिकत्वादिदर्शनवत् अभ्यासादेर्गोदर्शनस्मृतिरितिचेन्न, तस्य व्यवसायादन्यस्य विचारासहत्वात्॥

तदकल्पकमर्थस्य सामर्थ्येन समुद्भवात्। अर्थक्षणवदित्येके न विरुद्धस्यैव साधनम्॥१६॥

जात्याद्यात्मकभावस्य सामर्थ्येन समुद्भवात्। सविकल्पकमेव स्यात् प्रत्यक्षं स्फुटमंजसा॥१७॥

परमार्थेन विशदं सविकल्पकं प्रत्यक्षं न पुनरविकल्पकं वैशद्यारोपात्। ननु कथं तज्जात्याद्यात्मकादर्थादुपजायेताविकल्पान्न हि वस्तु सत्सु जातिद्रव्यगुणकर्मसु शब्दाः संति तदात्मानो वा येन तेषु प्रतिभासमानेषु प्रतिभासेरन्। न च तत्र शब्दात्प्रतीतौ कल्पना युक्ता तस्याः शब्दाप्रतीतिलक्षणत्वादशब्दकल्पनानामसंभवात्। ततो न विरुद्धो हेतुरिति चेत्। अत्रोच्यते—

उस इन्द्रिय ज्ञान का स्मरण हो जाता है। इस प्रकार उस इन्द्रियज्ञप्ति (यानी प्रत्यक्ष के स्वार्थ का निश्चय करा देने रूप) धर्म का अनुमान हो जाता है। किन्तु प्रत्यक्ष के निर्विकल्पकत्व का कभी भी अनुमान नहीं होता है। इन्द्रियजन्यज्ञान को निर्णयस्वरूप न मानने पर स्मरण होना युक्त नहीं है। जैसे कि क्षणिकपन आदि का अनध्यवसायरूप दर्शन हो जाने पर स्मरण नहीं होता है। तथा गौ का निर्विकल्पक दर्शन हो जाने पर भी अभ्यास आदि द्वारा निर्विकल्पकज्ञान की स्मृति हो सकती है-ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि वे अभ्यास आदि निश्चय से भिन्न कोई पृथक् पदार्थ नहीं हैं।

भावार्थ : विलक्षण प्रकार से धारित ज्ञान ही संस्कार, अभ्यास, बुद्धिचातुर्य, निश्चय, स्मृतिहेतु आदि नामों को धारण करता है अन्य कोई ज्ञान नहीं।

अर्थ के सामर्थ्य से उत्पन्न होने से प्रत्यक्ष ज्ञान कल्पना से रहित निर्विकल्पक है, जैसे अर्थजन्य हुई उसी अर्थ की उत्तर क्षण की पर्याय निर्विकल्पक है। इस प्रकार कोई कहता है परन्तु उसका यह कथन विरुद्ध का ही साधन होने से ठीक नहीं है। अर्थात् निर्विकल्पक अर्थ के निमित्त से उत्पन्न होना हेतुविरुद्ध है तथा जाति आदि वास्तविक पदार्थों के सामर्थ्य से समुत्पन्न होने के कारण प्रत्यक्षज्ञान सविकल्पक है वह निर्दोष और स्पष्ट है। (अतः प्रत्यक्ष में निर्विकल्प को सिद्ध करने के लिए दिया गया बौद्धों का निर्विकल्पक अर्थ की सामर्थ्य से उत्पन्न होना यह हेतु विरुद्ध है)॥१६-१७॥

परमार्थ रूप से प्रत्यक्षज्ञान विशद और सविकल्पक है, निर्विकल्पक नही, क्योंकि उसमें वैशद्य का वस्तुभूत आरोप हो रहा है। अर्थात् जो विशद होता है, वह ज्ञान सविकल्पक होता है।

शंका : वह प्रत्यक्ष ज्ञान जाति आदि स्वरूप अविकल्प अर्थ से कैसे उत्पन्न होता है?

समाधान : क्योंकि वस्तुभूत जाति, द्रव्य, गुण और कर्म इन अर्थों में शब्द की प्रवृत्ति नहीं होती है। तथा वे शब्द उन जाति आदि आत्मक नहीं हैं जिससे कि उन जाति आदिकों के प्रतिभासित उनके वाचक शब्द भी प्रतिभासित होते तथा जब तक उन अर्थों में शब्द की प्रतीति नहीं होती है, तब तक अर्थों में जाति आदि की कल्पना करना उचित नहीं है क्योंकि, उस कल्पना का लक्षण शब्द से प्रतीति होना माना गया है। शब्दों की योजना से रहित कल्पना असम्भव है अतः हमारा हेतु विरुद्ध नहीं है।

यथावभासतो कल्पात् प्रत्यक्षात्प्रभवन्नपि। तत्पृष्ठतो विकल्प: स्यात् तथार्थाक्षाच्च स स्फुट: ॥१८॥

दर्शनादविकल्पाद्विकल्प: प्रजायते न पुनरर्थादिति कुतो विशेष:। न चाभिलापवत्येव प्रतीति: कल्पना जात्यादिमत्प्रतीतेरपि तथात्वाविरोधात्। संति चार्थेषु जात्यादयोपि तेषु प्रतिभासमानेषु प्रतिभासेरन्। ततो जात्याद्यात्मकार्थदर्शनं सविकल्पं प्रत्यक्षसिद्धमिति विरुद्धमेव साधनम्॥

न च जात्यादिरूपत्वमर्थस्यासिद्धमंजसा। निर्बाधबोधविध्वस्तसमस्तारेकि तत्त्वत: ॥१९॥

जात्यादिरूपत्वे हि भावानां निर्बाधो बोध: समस्तमारेकितं हंतीति किं नश्चिंतया। निर्बाधत्वं पुनर्जात्यादिबोधस्यान्यत्र समर्थितं प्रतिपत्तव्यं ततो जात्याद्यात्मकस्वार्थव्यवसिति: कल्पना स्पष्टा प्रत्यक्षे व्यवतिष्ठते॥

भावार्थ : कल्पनाओं स रहित अर्थ है, उससे उत्पन्न हुआ प्रत्यक्षज्ञान भी निर्विकल्पक है। कारण के अनुरूप कार्य होता है। इस प्रकार (बौद्धों के) कहने पर आचार्य समाधान करते हैं कि –

जिस प्रकार निर्विकल्पक प्रत्यक्ष से उत्पन्न ज्ञान भी पीछे सविकल्पक हो जाता है, उसी प्रकार निर्विकल्पक अर्थ भी इन्द्रियों से स्पष्ट सविकल्पक प्रत्यक्ष हो सकता है॥१८॥

निर्विकल्पक दर्शन से विकल्प ज्ञान उत्पन्न होता है किन्तु फिर निर्विकल्पक अर्थ से सविकल्पकज्ञान उत्पन्न नहीं होता है। इस प्रकार के नियम में किस हेतु से विशेषता आती है? तथा, शब्द योजना वाली प्रतीति ही कल्पना नहीं है किन्तु, जाति, गुण आदि से युक्त प्रतीति में इस प्रकार सद्भूत कल्पना का कोई विरोध नहीं है। वस्तुभूत अर्थों में जाति, गुण आदि कल्पनाएँ भी विद्यमान हैं।

उन अर्थों के प्रकाशमान होने पर वे सामान्य विशेषगुण आदि भी प्रतिभासित हो जाते हैं अत: जाति, द्रव्य आदि स्वरूप कल्पना के साथ तदात्मक अर्थ से उत्पन्न अर्थ का दर्शन सविकल्पक है, यह प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध है अत: निर्विकल्प हेतु विरुद्ध ही है। (साध्य से विपरीत व्याप्ति रखने वाला हेतु विरुद्ध कहलाता है)

वास्तव में घट, पट आदि पदार्थों का जाति आदि के साथ तदात्मक भाव असिद्ध नहीं है, क्योंकि निर्बाध ज्ञानों के द्वारा इस विषय की संपूर्ण शंकाओं को विध्वस्त कर दिया गया है अर्थात् सम्पूर्ण पदार्थ सामान्य-विशेष आदि अनेक धर्मात्मक हैं, इसमें कोई बाधक नहीं है॥१९॥

सभी पदार्थों के जाति आदि, स्वरूप होने में समस्त देश, काल की अपेक्षा से होने वाली बाधाओं का नाशक सम्यग्ज्ञान, जब सम्पूर्ण शंकाओं को नष्ट कर देता है, तो ऐसी दशा में हमको चिन्ता करने से क्या लाभ है? अर्थात् हम निश्चिंत हैं। जाति आदि से तदात्मक अर्थ को जानने वाला ज्ञान बाधाओं से रहित है, इसका हम अन्य प्रकरणों में समर्थन कर चुके हैं वहाँ से समझ लेना चाहिए अत: जाति आदि से तदात्मक हो रहे स्व और अर्थ का निर्णय करन रूप स्पष्ट कल्पना प्रत्यक्ष ज्ञान में व्यवस्थित है।

संकेतस्मरणोपाया दृष्टसंकल्पनात्मिका। नैषा व्यवसितिः स्पष्टा ततो युक्ताक्षजन्मनि ॥२०॥

यदेव हि संकेतस्मरणोपायं दृष्टसंकल्पनात्मकं कल्पनं तदेव पूर्वापरपरामर्शशून्ये चाक्षुषे स्पर्शनादिके वा दर्शने विरुध्यते। न चेयं विशदावभासार्थव्यवसितिस्तथा, ततो युक्ता सा प्रत्यक्षे कुतः पुनरियं न संकेतस्मरणोपायेत्युच्यते॥

स्वतो हि व्यवसायात्मप्रत्यक्षं सकलं मतम्। अभिधानाद्यपेक्षायामन्योन्याश्रयणात्तयोः ॥२१॥

सति ह्यभिधानस्मरणादौ क्वचिद्व्यवसायः सति च व्यवसाये ह्यभिधानस्मरणादीति कथमन्योन्याश्रयणं न स्यात्। स्वाभिधानविशेषापेक्षा एवार्थनिश्चयैर्व्यवसीयते इति ब्रुवन्नार्थमध्यवस्यंस्तदभिधानविशेषस्य स्मरति अननुस्मरन्न योजयति अयोजयन्न व्यवस्यतीत्यकल्पकं जगदर्थयेत्। स्ववचनविरुद्धं चेदं। किं च—

जो कल्पना संकेतग्रहण और उसके स्मरण आदि उपायों से उत्पन्न होती है, अथवा देखे हुए पदार्थ में अन्य संबंधियों का संकल्प करने रूप है, वह स्वार्थनिर्णय करने रूप स्पष्ट कल्पना इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष में संभव है, निर्विकल्प प्रत्यक्ष में नहीं ॥२०॥

जो ही दृष्ट पदार्थ में संकेतस्मरण उपाय (मेरा, तेरा आदि संकल्प करने) रूप कल्पना है, वही कल्पना पूर्वापरपरामर्श शून्य चाक्षुष प्रत्यक्ष अथवा स्पर्शन आदि प्रत्यक्षों में विरुद्ध पड़ती है किन्तु विशद प्रकाश रूप से अर्थ का निर्णय करने रूप-यह कल्पना इस प्रकार परामर्श करने वाली नहीं है। अतः वह स्वार्थ निर्णयरूप कल्पना प्रत्यक्षज्ञान में समुचित है।

प्रत्यक्ष में होने वाली कल्पना शब्दसंबंधी संकेतस्मरण के निमित्त से उत्पन्न कैसे नहीं है? ऐसी जिज्ञासा होने पर आचार्य कहते हैं:-

शब्द योजना, संकेतस्मरण करना आदि की अपेक्षा बिना उत्पन्न हुए सम्पूर्ण प्रत्यक्ष स्वयं अपने आप से निर्णयस्वरूप हैं। यदि उन प्रत्यक्ष और निर्णय दोनों में भी अभिधान आदि की अपेक्षा मानी जाएगी तो अन्योन्याश्रय दोष आता है॥२१॥

वाचक शब्द के स्मरण आदि के होने पर कहीं घट, पट आदि में निर्णय हो और उनका निश्चय हो जाने पर वाचक शब्द का स्मरण आदि हो, इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोष क्यों नहीं होगा? अपने वाचक शब्द विशेषों की अपेक्षा से ही पदार्थ निश्चयों के द्वारा निश्चित किये जाते हैं इस प्रकार कहने वाला (बौद्ध) अर्थ का निर्णय करते हुए अर्थ के वाचक विशेष शब्दों का स्मरण करता है, क्योंकि, स्मरण नहीं करने वाला तो शब्दों को अर्थ के साथ जोड़ सकता है, और शब्दों को अर्थ के साथ नहीं जोड़ने वाला अर्थ का निश्चय नहीं कर पाता है अतः इस जगत् के निर्विकल्पक होने की अभिलाषा करता है, उसका यह कथन स्वयं में विरोधात्मक है।

किंच : जब सभी अर्थ अपना निश्चय कराने में अपने वाचक विशिष्ट शब्दों की अपेक्षा करते हैं (तो वह वाचक शब्द भी तो एक विशेष अर्थ है)। उस शब्दरूप अर्थ का निश्चय करने के लिए भी अपने वाचक अन्य शब्दों की अपेक्षा की जाएगी। इस प्रकार उस शब्द के भी वाचक शब्दस्वरूप पदार्थों का निश्चय

स्वाभिधानविशेषस्य निश्चयो यद्यपेक्षते। स्वाभिलाषांतरं नूनमनवस्था तदा न किम् ॥२२॥

गत्वा सुदूरमप्येवमभिधानस्य निश्चये। स्वाभिलापानपेक्षस्य किमु नार्थस्य निश्चयः ॥२३॥

अभिधानविशेषश्चेत् स्वस्मिन्नर्थे च निश्चयम्। कुर्वन् दृष्टः स्वशक्त्यैव लिंगाद्यर्थेपि तादृशः ॥२४॥

शाब्दस्य निश्चयोर्थस्य शब्दापेक्षोस्त्वबाधितः। लिंगजन्माक्षजन्मा च तदपेक्षोभिधीयते ॥२५॥

ततः प्रत्यक्षमास्थेयं मुख्यं वा देशतोपि वा। स्यान्निर्विकल्पकं सिद्धं युक्त्या स्यात्सविकल्पकं ॥२६॥

सर्वथा निर्विकल्पत्वे स्वार्थव्यवसितिः कुतः। सर्वथा सविकल्पत्वे तस्य स्याच्छब्दकल्पना ॥२७॥

न केवलं जैनस्य कथंचित्सविकल्पकं प्रत्यक्षं। किं तर्हि सौगतस्यापीत्याह;—

करना यदि अपने वाचक अन्य शब्दों की अपेक्षा करता होगा, तब तो नियम से अनवस्था दोष क्यों नहीं होगा? अर्थात् अवश्य होगा। इस प्रकार बहुत दूर भी चलकर अपने वाचक शब्दों की अपेक्षा नहीं रखने वाले शब्दों का निर्णय माना जाएगा। यानी कुछ दूर जाकर वाचक शब्दों का निर्णय उनके अभिधायक शब्दों के बिना भी होना मानना पड़ेगा तो पहले से ही वाचक शब्दों के बिना भी अर्थ का निश्चय करना क्यों नहीं स्वीकार किया जाता है अतः संकेतस्मरण, शब्दयोजना आदि के बिना भी स्वार्थ का निश्चय हो जाता है॥२२-२३॥

यदि कहो कि वाचक विशेष शब्द अपनी शक्ति के द्वारा अपना (शब्द का) और अर्थ का निश्चय करते देखा गया है, तब तो उस शब्द के समान ही अपनी सामर्थ्य से हेतु आदि अर्थ भी वाचक शब्दों के बिना वैसा निर्णय करा देंगे (प्रत्येक निश्चय को करने में विशेष शब्दों को व्यर्थ क्यों लगाया जाय)। शब्द को सुनकर उत्पन्न हुआ अर्थ का निर्णय तो बाधा रहित होता हुआ शब्द की अपेक्षा रखने वाला मान लिया जाय, किन्तु ज्ञापक हेतु से उत्पन्न हुए निर्णय (अनुमान) और इन्द्रियों से उत्पन्न हुए निर्णय (प्रत्यक्ष) को तो उस शब्द की अपेक्षा रखने वाला नहीं कहा जा सकता॥२४-२५॥

अतः यह निश्चय करना चाहिए कि मुख्य प्रत्यक्ष अथवा एकदेश विशद संव्यवहार प्रत्यक्ष-ये दोनों ही कथंचित् निर्विकल्पक सिद्ध हैं और युक्ति से कथंचित् सविकल्पक भी सिद्ध हैं। अर्थात् संकेत-स्मरण, वाचक शब्द जोड़ना आदि कल्पनाओं से रहित प्रत्यक्ष निर्विकल्पक है और स्पष्ट रूप से स्वार्थ व्यवसाय करने रूप सद्भूत कल्पना के कारण प्रत्यक्ष सविकल्पक भी है। सर्वथा यदि प्रत्यक्ष को निर्विकल्पक मान लिया जाएगा तो स्वार्थ का निर्णय कैसे होगा ? स्वार्थ निर्णय करना भी तो एक कल्पना है और यदि उस प्रत्यक्ष को सर्वथा सविकल्पक स्वीकार किया जाएगा तो शाब्दबोध के समान प्रत्यक्ष ज्ञान में भी शब्दों की कल्पना हो जाएगी (ऐसा होने पर वह प्रत्यक्षज्ञान परोक्ष हो जाएगा)॥२६-२७॥

केवल जैनों के यहाँ ही प्रत्यक्षज्ञान कथंचित् सविकल्पक नहीं माना गया है, किन्तु बौद्धों के यहाँ भी प्रत्यक्ष को सविकल्पक इष्ट किया है। इस बात को स्पष्ट कर आचार्य कहते हैं -

रूप, वेदना, विज्ञान, संज्ञा, संस्कार ये पाँच विज्ञानधातु वितर्क और विचार सहित हैं। निरूपण अनुस्मरण आदि विकल्पों से रहित हैं (ज्ञान द्वारा आलंबन कारण को विषय करना वितर्क है और उसी विषय

सवितर्कविचारा हि पंच विज्ञानधातवः। निरूपणानुस्मरणविकल्पेनाविकल्पकाः ॥२८॥

इत्येवं स्वयमिष्टत्वान्नैकांतेनाविकल्पकं। प्रत्यक्षं युक्तमास्थातुं परस्यापि विरोधतः ॥२९॥

विधूतकल्पनाजालं योगिप्रत्यक्षमेव चेत्। सर्वथा लक्षणाव्याप्तिदोषः केनास्य वार्यते ॥३०॥

लौकिकी कल्पनापोढा यतोध्यक्षं तदेव चेत्। शास्त्रीया सास्ति तत्रेति नैकांतेनाविकल्पकम् ॥३१॥

तदपाये च बुद्धस्य न स्याद्धर्मोपदेशना। कुट्यादेर्या न सा तस्येत्येतत्पूर्वं विनिश्चितं ॥३२॥

ततः स्यात्कल्पनास्वभावशून्यमभ्रांतं प्रत्यक्षमिति न व्याहतं। ये त्वाहुर्नेंद्रियानिंद्रियानपेक्षं प्रत्यक्षं तस्य तदपेक्षामंतरेणासंभवादिति तान् प्रत्याह;—

में दृढ़ ज्ञप्ति करना विचार है। ये दो कल्पनाएँ प्रत्यक्ष में विद्यमान हैं)। किन्तु नाम आदि के कल्पनारूप निरूपण और पहले अनुभूत किए गए पदार्थ के अनुसार विकल्प करने रूप अनुस्मरण आदि विकल्पों से वह प्रत्यक्ष सविकल्पक नहीं है। इस प्रकार बौद्धों ने वितर्क विचार सहित विकल्प स्वयं प्रत्यक्ष में इष्ट किया है अतः एकान्त आग्रह करके प्रत्यक्ष निर्विकल्प की श्रद्धा करना उचित नहीं है क्योंकि स्वयं बौद्ध के या अन्य वादियों के यहाँ भी प्रत्यक्ष को सर्वथा निर्विकल्पक मानने में विरोध आता है अर्थात् प्रत्यक्ष को सर्वथा निर्विकल्प मानने से अपने ही वचनों से विरोध आता है॥२८-२९॥

यदि सर्वज्ञयोगियों का प्रत्यक्ष कल्पनाओं के जाल से रहित है, ऐसा बौद्ध कहेंगे, तब तो सभी प्रकार से इस प्रत्यक्ष के बौद्धोक्तलक्षण के अव्याप्ति दोष का किससे निवारण होगा अर्थात् प्रत्यक्ष का निर्विकल्पक लक्षण योगियों के प्रत्यक्ष में तो घट जायेगा परन्तु इन्द्रियप्रत्यक्षों या मानसप्रत्यक्षों में घटित नहीं होता है। अतः अव्याप्त है॥३०॥

क्योंकि लोकव्यवहार में की गई कल्पनाओं से रहित जो प्रत्यक्ष होता है वही निर्विकल्पक प्रत्यक्ष है। बौद्ध के ऐसा कहने पर ग्रन्थकार कहते हैं कि उस प्रत्यक्ष में शास्त्र संबंधी कल्पनाएँ विद्यमान हैं, ऐसी दशा में एकान्तरूप से प्रत्यक्ष निर्विकल्पक नहीं है अपितु विकल्पसहित है॥३१॥

उस शास्त्रीय कल्पना के नहीं मानने पर बुद्ध का धर्मोपदेश संभव नहीं है। जैसे कि झोपड़ी आदि के द्वारा धर्मोपदेश संभव नहीं होता है, परन्तु बुद्ध के द्वारा धर्मोपदेश होना आपने माना है वह सर्वथा निर्विकल्पक बुद्ध ज्ञान से नहीं हो सकता है। अथवा वह धर्मोपदेश बुद्ध का है-ऐसा कहा नहीं जा सकता। इन सब बातों का हम पूर्व प्रकरणों में विशेषरूप से निश्चय कर चुके हैं॥३२॥

अतः कल्पनास्वभातों से शून्य अभ्रान्त प्रत्यक्ष है, यह प्रत्यक्ष का लक्षण व्याघातयुक्त है अर्थात्-कल्पनापोढ़ प्रत्यक्ष का खण्डन हो जाता है।

जो अन्य वादी यह कहते हैं कि इन्द्रिय और मन की अपेक्षा बिना प्रत्यक्षज्ञान नहीं होता है, क्योंकि उनकी अपेक्षा के बिना उस प्रत्यक्ष की उत्पत्ति असम्भव है। इस प्रकार कहने वाले (वैशेषिकों) के प्रति आचार्य कहते हैं-

येपि चात्ममनोक्षार्थसन्निकर्षोद्भवं विदुः। प्रत्यक्षं नेश्वराध्यक्षं संग्रहस्तैः कृतो भवेत् ॥३३॥

नेश्वरस्याक्षजज्ञानं सर्वार्थविषयत्वतः। नाक्षैः सर्वार्थसंबंधः सहैकस्यास्ति सर्वथा ॥३४॥

योगजाज्ज्ञायते यत्तु ज्ञानं धर्मविशेषतः। न संनिकर्षजं तस्मादिति न व्यापि लक्षणं ॥३५॥

ननु च योगजाद्धर्मविशेषात् सर्वार्थैरक्षसन्निकर्षस्ततः सर्वार्थज्ञानमित्यक्षार्थसन्निकर्षजमेव तत्। नैतत्सारं। तत्राक्षार्थसन्निकर्षस्य वैयर्थ्यात्। योगजो हि धर्मविशेषः सर्वार्थाक्षसन्निकर्षमुपजनयति न पुनः साक्षात्सर्वार्थज्ञानमिति स्वरुचिप्रदर्शनमात्रं, विशेषहेत्वभावादित्युक्तप्रत्ययम्॥

श्रोत्रादिवृत्तिरध्यक्षमित्यप्येतेन चिंतितं। तस्या विचार्यमाणाया विरोधश्च प्रमाणतः ॥३६॥

इंद्रियाण्यर्थमालोचयंति तदालोचितं मनः संकल्पयति तत्संकल्पितमहंकारोभिमन्यते तदभिमतं

जो भी विद्वान् प्रत्यक्ष को आत्मा, मन, इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न हुआ मानते हैं, उनके द्वारा ईश्वर के प्रत्यक्ष का संग्रह नहीं हो सकता क्योंकि ईश्वर का ज्ञान इन्द्रियजन्य नहीं है, क्योंकि वह सम्पूर्ण अर्थों को विषय करने वाला है। एक जीव के एक साथ सम्पूर्ण अर्थों का इन्द्रियों के साथ सम्बन्ध होना सर्वथा असम्भव है। यदि योग से उत्पन्न हुए विशेष अतिशयरूप धर्म से उत्पन्न हुआ ज्ञान सम्पूर्ण अर्थों को जान लेता है, ऐसा मानोगे तो प्रत्यक्ष सन्निकर्षजन्य नहीं रह सकता, अतः वह प्रत्यक्ष का इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष जन्यत्व लक्षण सम्पूर्ण लक्ष्यों में व्यापक नहीं होने से अव्याप्ति दोष से दूषित है॥३३-३४-३५॥

वैशेषिक कहते हैं कि विशिष्ट समाधि से उत्पन्न हुए धर्मविशेष से इन्द्रियों का सम्पूर्ण अर्थों के साथ सन्निकर्ष हो जाता है। उससे सम्पूर्ण अर्थों का ज्ञान हो जाता है अतः सर्वज्ञ का ज्ञान भी इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न होता है। वैशेषिकों का यह कथन निःसार है, क्योंकि उस सर्वज्ञ के प्रत्यक्ष में इन्द्रिय और अर्थ का सन्निकर्ष व्यर्थ पड़ता है। योग से उत्पन्न हुआ विशेष धर्म नियम से सम्पूर्ण अर्थों के साथ इन्द्रिय के सन्निकर्ष को तो उत्पन्न करा देता है, किन्तु फिर विशदरूप से सम्पूर्ण अर्थों के ज्ञान को साक्षात् नहीं करा सकता, अतः वैशेषिकों का यह कथन केवल स्वरुचि मात्र का प्रदर्शन है। इसमें कोई विशेष कारण नहीं है। इस बात को हम पूर्व में कई बार कह चुके हैं। जैन सिद्धान्तानुसार समाधि से ही एक विशिष्ट अतिशय- केवलज्ञान उत्पन्न होता है जिससे युगपत् सम्पूर्ण पदार्थों का प्रत्यक्ष हो जाता है; बीच में सन्निकर्ष की आवश्यकता नहीं है।

जो (सांख्य) कान, आँख आदि इन्द्रियों का उघाड़ना, खोलना आदि वृत्ति को प्रत्यक्ष प्रमाण मानते हैं, उनका भी इस उपर्युक्त कथन से खण्डन किया गया है, क्योंकि यदि उस इन्द्रियवृत्ति का प्रमाणों से विचार किया जाए तो विरोध दोष आता है। अर्थात् इन्द्रिय वृत्ति प्रत्यक्ष प्रमाण है, यह सांख्य मत के भी विरुद्ध है, अतः स्ववचन बाधित है॥३६॥

इन्द्रियाँ अर्थ का सामान्यरूप से आलोचन करती हैं कि रूप है, रस है, गन्ध है आदि। उस आलोचना किये गए अर्थ का पुनः मन संकल्प करता है (कि वह पदार्थ ऐसा होगा इत्यादि); पश्चात् संकल्प

बुद्धिरध्यवंसति तदध्यवसितं पुरुषश्चेतयत इति श्रोत्रादिवृत्तिर्हि न सकृत्सर्वार्थविषया यतस्तत्प्रत्यक्षत्वे योगिप्रत्यक्षसंग्रहः स्यात्। न च प्रमाणतो विचार्यमाणा श्रोत्रादिवृत्तिः सांख्यानां युज्यते। सा हि न तावत्पुरुषपरिणामोनभ्युपगमात् ,नापि प्रधानस्यानंशस्यामूर्तस्य नित्यस्य सा कादाचित्कत्वात्। न ह्यकादाचित्कस्यानपेक्षस्य कादाचित्कः परिणामो युक्तः सापेक्षस्य तु कुतः कौटस्थ्यं नामापेक्षणार्थकृतातिशयस्यावश्यं भावान्निरतिशयत्वविरोधात् कौटस्थ्यानुपपत्तेः॥

पुंसः सत्संप्रयोगे यदिंद्रियाणां प्रजायते। तदेव वेदनं युक्तं प्रत्यक्षमिति केचन॥३७॥

ते न समर्था निराकर्तुं प्रत्यक्षमतींद्रियं प्रत्यक्षतोनुमानादेर्वा सर्वज्ञत्वप्रसंगतः। न ह्यसर्वज्ञः सर्वार्थसाक्षात्कारिज्ञानं नास्तीति कुतश्चित्प्रमाणान्निश्चेतुं समर्थ इति प्रतिपादितप्रायं। न च तदभावान्निश्चये

किये गये उस अर्थ का अहंकार तत्त्व अभिमान करता है (कि मैं अर्थ का गर्व करता हूँ)। बाद में अभिमान किए गए अर्थ का बुद्धि निर्णय कर लेती है। (यह सब प्रकृति का कार्य है)। अनन्तर उस बुद्धि से निर्णीत किये गये अर्थ को आत्मा अनुभव करता है। इस प्रकार इन्द्रिय, मन, संकल्प आदि की वृत्ति प्रत्यक्ष प्रमाण है। इस प्रकार कहने वाले (सांख्य) के वह वृत्ति एक ही बार सम्पूर्ण अर्थों को विषय नहीं कर सकेगी जिससे कि उन सब पदार्थों का प्रत्यक्ष ज्ञान होने से योगियों के प्रत्यक्ष का संग्रह हो सकता।

भावार्थ : इन्द्रियवृत्तिरूप प्रत्यक्ष से सर्वज्ञप्रत्यक्ष का संग्रह नहीं हो सकता है।

प्रमाणों से विचारित कान आदि इन्द्रियों की वृत्ति सांख्यों के यहाँ युक्ति सहित नहीं घटित होती है, क्योंकि सांख्यदर्शन में इस इन्द्रियवृत्ति को पुरुष का परिणाम स्वीकार नहीं किया है तथा अंशरहित, अमूर्त्त, नित्य ऐसी प्रकृति का भी परिणाम यह इन्द्रियवृत्ति नहीं है, क्योंकि इन्द्रियवृत्ति तो कादाचित्क है (कभी किसी काल में होने वाली है) और जो कादाचित्क है, वह नित्य नहीं है। अथवा किसी सहकारी की अपेक्षा रखने वाली उस प्रकृति का कभी-कभी होने वाला प्रत्यक्षरूप परिणाम होना उचित नहीं है।

यदि प्रकृति या आत्मा को अन्य सहकारियों की अपेक्षा रखने वाला माना जाएगा तो उनमें कूटस्थपना कैसे बन सकेगा? क्योंकि अपेक्षा किये जा रहे पदार्थ से बनाये गये अतिशय का होना आवश्यक है, उपादान कारण में या कार्य में अतिशय कर देने वाले को ही सहकारी माना गया है, और ऐसा होने पर आत्मा के अतिशय रहितपने का विरोध होगा तथा कूटस्थपना रक्षित नहीं रह सकेगा, अतः प्रत्यक्ष का लक्षण इन्द्रियवृत्ति मानना उचित नहीं है।

इन्द्रियों का विद्यमान पदार्थ के साथ समीचीन संसर्ग होने पर जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसी ज्ञान को प्रत्यक्ष प्रमाण मानना युक्त है। इस प्रकार कोई (मीमांसक) कहते हैं॥ ३७ ॥ आचार्य कहते हैं कि वे अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष का निराकरण करने में समर्थ नहीं हैं, क्योंकि प्रत्यक्ष से और अनुमान आदि प्रमाणों से सर्वज्ञपन का प्रसंग प्रतीत होता है अर्थात् सर्वज्ञ की सिद्धि अनुमान और प्रत्यक्ष ज्ञान से होती है।

असर्वज्ञ अल्पज्ञानी प्राणी "सम्पूर्ण अर्थों का साक्षात् करने वाले ज्ञान से युक्त कोई नहीं है;" ऐसा किसी भी प्रमाण से निश्चय करने के लिए समर्थ नहीं है। इसका बहुत बार प्रतिपादन कर दिया गया है। उस

करणजमेव प्रत्ययमिति नियमः सिद्ध्येत्॥

तत्स्वार्थव्यवसायात्मविधा प्रत्यक्षमंजसा। ज्ञानं विशदमन्यत्तु परोक्षमिति संग्रहः ॥३८॥

मतिः स्मृतिः संज्ञा चिंताभिनिबोध इत्यनर्थांतरम्॥ १३ ॥

किमर्थमिदमुच्यते। मतिभेदानां मतिग्रहणेन ग्रहणादन्यथातिप्रसंगात्॥

मत्यादिष्ववबोधेषु स्मृत्यादीनामसंग्रहः। इत्याशंक्याह मत्यादिसूत्रं मत्यात्मनां विदे॥१॥

मतिरेव स्मृतिः संज्ञा चिंता वाभिनिबोधकम्। नार्थांतरं मतिज्ञानावृतिच्छेदप्रसूतितः॥२॥

यथैव वीर्यांतरायमतिज्ञानावरणक्षयोपशमान्मतिरवग्रहादिरूपा सूते तथा स्मृत्यादिरपि ततो मत्यात्मकत्वमस्य वेदितव्यम्॥

सर्वज्ञ प्रत्यक्ष के अभाव का निश्चय नहीं है अतः इन्द्रियजन्य ज्ञान ही प्रत्यक्ष है, ऐसा मीमांसकों का नियम करना सिद्ध नहीं होता है।

स्व और अर्थ का विशद निश्चय करने वाला प्रत्यक्ष ज्ञान अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान के भेदों से तीन प्रकार का है। साक्षात्‌रूप से स्वार्थ को विशद जानने वाला ज्ञान प्रत्यक्ष है और अन्य अविशद ज्ञान परोक्ष हैं, इस प्रकार सभी सम्यग्ज्ञानों का प्रत्यक्ष और परोक्ष दो प्रमाणों में संग्रह हो जाता है॥३८॥

अब मतिज्ञान के प्रकारों को प्रगट करने के लिए (आचार्य) अग्रिम सूत्र कहते हैं –

मतिज्ञान, स्मरण ज्ञान, प्रत्यभिज्ञान, व्याप्तिज्ञान और अनुमान इत्यादि प्रकार के ज्ञान अर्थान्तर नहीं हैं। ये सर्व मतिज्ञान ही हैं। मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम का निमित्त पाकर अर्थ की उपलब्धि करना सबमें एक सा है॥१३॥

शंका : यह सूत्र किस प्रयोजन को साधने के लिए कहा गया है?

समाधान : मतिज्ञान के भेद-प्रभेदों का मति के ग्रहण करने से ग्रहण होता है अन्यथा (यदि मति शब्द को ग्रहण नहीं किया जायेगा वा मतिशब्द से यदि इन्द्रिय, अनिन्द्रियजन्य विशद प्रत्यक्षों को ही पकड़ा जायेगा तो) अतिप्रसंग दोष आता है।

मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान-इन पाँच ज्ञानों में स्मृति, प्रत्यभिज्ञान आदि का संग्रह नहीं हो सकता है, ऐसी आशंका होने पर श्री उमा स्वामी आचार्य ने स्मृति आदि को मतिज्ञान रूप समझाने के लिए इस ''मतिः स्मृतिः संज्ञा चिंताभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम्'' सूत्र को कहा है। स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, तर्क और अनुमान ज्ञान ये सब मतिज्ञान ही हैं, मतिज्ञान से सर्वथा भिन्न नहीं हैं क्योंकि अंतरंगकारण मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से स्मृति आदि की उत्पत्ति होती है॥१-२॥

जिस प्रकार वीर्यान्तराय और मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणास्वरूप मतिज्ञान उत्पन्न होता है, उसी प्रकार स्मृति आदि भी ज्ञान वीर्यान्तराय और मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होते हैं अतः स्मृति आदि को मतिज्ञान ही समझना चाहिए।

इति शब्दात् किं गृह्यते इत्याह;—

इति शब्दात्प्रकारार्थाद्बुद्धिर्मेधा च गृह्यते। प्रज्ञा च प्रतिभाभावः संभवोपमिती तथा ।।३।।

ननु च कथं मत्यादीनामनर्थांतरत्वं व्यपदेशलक्षणविषयप्रतिभासभेदादिति चेत्—

कथंचिद्व्यपदेशादिभेदेप्येतदभिन्नता। न विरोधमधिष्ठातुमीष्टे प्रातीतिकत्वतः ।।४।।

न हि व्यपदेशादिभेदेपि प्रत्यक्षव्यक्तीनां प्रमाणांतरत्वं परेषां, नाप्यनुमानादिव्यक्तीनामनुमानादिता स्वेष्टप्रमाणसंख्या नियमव्याघातात् प्रत्यक्षतानुमानादित्वेन वा। व्यपदेशादिभेदाभावान्न दोष इति चेत् मतिज्ञानत्वेन सामान्यतस्तदभावादविरोधोस्तु। प्रातीतिकी ह्येतेषामभिन्नता कथंचिदिति न प्रतिक्षेपमर्हति। कः कस्य प्रकारः स्यादित्युच्यते;—

'इति' शब्द से क्या ग्रहण किया गया है? ऐसी जिज्ञासा होने पर आचार्य कहते हैं :

प्रकार अर्थ वाले 'इति' शब्द से बुद्धि, मेधा, प्रज्ञा, प्रतिभा, अभाव, सम्भव और उपमान का ग्रहण होता है।।३।।

शंका : जब मति, स्मृति आदि का नामनिर्देश, लक्षण, विषय और मति आदि ज्ञानों द्वारा प्रतिभास होना पृथक्-पृथक् है, तो फिर मति आदि का अनर्थान्तरपना कैसे है?

समाधान : मति आदि का नाम, व्यवहार, लक्षण, आदि की अपेक्षा यद्यपि कथंचित् भिन्न-पना है, तो भी इनमें अभेद है। इसमें विरोध स्थापन के लिए कोई समर्थ नहीं है, क्योंकि मति, स्मृति आदि में एकसा मनन होना प्रतीतियों द्वारा निर्णीत है ।।४।।

रसना इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष, चक्षु इन्द्रिय से उत्पन्न हुआ प्रत्यक्ष, योगी का प्रत्यक्ष, आदि प्रत्यक्ष व्यक्तियों के नाम संकीर्त्तन, लक्षण आदि का भेद होते हुए भी प्रत्येक प्रत्यक्ष का पृथक् -पृथक् भिन्न प्रमाणपना दूसरे (नैयायिक आदि) वादियों ने स्वीकार नहीं किया है। तथा अन्वयी हेतु से, व्यतिरेकी हेतु से एवं पूर्ववत् आदि हेतुओं से उत्पन्न हुए अनुमान अथवा स्वार्थ अनुमान, परार्थ अनुमानरूप से अनुमान का तथा पृथक्-पृथक् आदि व्यक्तियों का अवांतर भेद होते हुए भी पृथक्-पृथक् अनुमान आदिपना नहीं है, क्योंकि थोड़े-थोड़े से भेद का लक्ष्य कर यदि भिन्न-भिन्न प्रमाण स्वीकार किए जाएंगे, तो अपने अभीष्ट प्रमाणों की संख्या के नियम का व्याघात हो जाएगा।

सम्पूर्ण प्रत्यक्ष व्यक्तियों को प्रत्यक्षपना एकसा है और सभी स्वार्थानुमान, परार्थानुमान व्यक्तियों को अनुमानपना वैसा ही है। सामान्यतः व्यपदेश, लक्षण आदि का भेद नहीं होने से प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों की अवांतर व्यक्तियों को भिन्न-भिन्न प्रमाण बन जाने का दोष नहीं आता है। ऐसा कहने पर तो सामान्यरूप से मतिज्ञान के द्वारा इन मति, स्मृति आदि का कथंचित् अभिन्नपना प्रतीतियों में आरूढ़ है अतः इनके अभेद का खण्डन करने में कोई समर्थ नहीं है।

मति, स्मृति आदि में से किसके कौनसे मेधा आदि प्रकार हैं? ऐसी जिज्ञासा होने पर ग्रन्थकार समाधान करते हैं-

बुद्धिर्मतेः प्रकारः स्यादर्थग्रहणशक्तिका। मेधा स्मृतेः तथा शब्दस्मृतिशक्तिर्मनस्विनाम् ॥५॥

ऊहापोहात्मिका प्रज्ञा चिंतायाः प्रतिभोपमा। सादृश्योपाधिके भावे सादृश्ये तद्विशेषणे ॥६॥

प्रवर्तमाना केषांचिद् दृष्टा सादृश्यसंविदः। संज्ञायाः संभवाद्यस्तु लैंगिकस्य तथागतेः ॥७॥

मतिसामान्यात्मिकापि बुद्धिरिंद्रियानिंद्रियनिमित्ता सन्निकृष्टार्थग्रहणशक्तिकावग्रहादिमतिविशेषस्य प्रकारः। यथोक्तशब्दस्मरणशक्तिका तु मेधा स्मृतेः। सा हि केषांचिदेव मनस्विनां जायमाना विशिष्टा च स्मरणसामान्यात्। ऊहापोहात्मिका प्रज्ञा चिंतायाः प्रकारः प्रतिभोपमा च सादृश्योपाधिके वस्तुनि केषांचिद्वस्तूपाधिके वा सादृश्ये प्रवर्तमाना संज्ञायाः सादृश्यप्रत्यभिज्ञानरूपायाः प्रकारः, संभवार्थापत्त्यभावोपमास्तु लैंगिकस्य प्रकारस्तथा प्रतीतेः॥

प्रत्येकमितिशब्दस्य ततः संगतिरिष्यते। समाप्तौ चेति शब्दोयं सूत्रेस्मिन्न विरुध्यते ॥८॥

मतिरिति स्मृतिरिति संज्ञेति चिंतेत्यभिनिबोध इति प्रकारो न तदर्थांतरमेव मतिज्ञानमेकमिति ज्ञेयं।

अर्थ ग्रहण करने की शक्ति रूप बुद्धि मति का प्रकार है तथा यथोक्त शब्दस्मरण शक्तिस्वरूप मेधा स्मृति का प्रकार है। वह मनस्वी के विशिष्ट होती है। ऊहापोहात्मिका प्रज्ञा चिंताज्ञान का प्रकार है। प्रतिभाज्ञान भी तर्कज्ञान का प्रकार है। सादृश्य विशेषण से युक्त पदार्थ में अथवा उस पदार्थ के विशेषण हो रहे सादृश्य में किन्हीं जीवों के प्रवर्त्त रहा उपमानज्ञान देखा जाता है। सो यह सादृश्य को जानने वाले संज्ञाज्ञान का प्रकार है तथा सम्भव, अर्थापत्ति, अभाव आदिक लिङ्गजन्य अनुमानज्ञान के भेदप्रभेद हैं। तीनों की इस प्रकार समीचीन प्रतीति होती है ॥५-६-७॥

इन्द्रिय और मन के निमित्त से उत्पन्न सामान्य मतिज्ञान बुद्धि है तथा सन्निकृष्ट को प्राप्त अर्थों के ग्रहण करने की शक्ति से विशिष्ट बुद्धि अवग्रह, ईहा आदि विशेष मतिज्ञानों का प्रकार है। यथोक्त शब्दों का और उनके वाच्य अर्थों का स्मरण रखने की शक्ति से युक्त मेधा स्मरणज्ञान का प्रकार है। वह (मेधा) किन्हीं-किन्हीं महामना जीवों के उत्पन्न होती है तथा अन्य सामान्य स्मरणों से विशिष्ट होती है।

भूत, भविष्यत् , देशांतरवर्ती, स्वभावविप्रकृष्ट आदि पदार्थों का समीचीन रूप से तर्क, वितर्क सकंल्प करना स्वरूप प्रज्ञा व्याप्तिज्ञानरूप चिंता का प्रकार है और प्रसाद गुण से युक्त नवीन अर्थों के ज्ञान को उघाड़ने वाली प्रतिभा भी चिंता का प्रकार है। तथा सादृश्य विशेषणवाली वस्तु में किन्हीं-किन्हीं जीवों के प्रवर्त्तमान उपमान सादृश्य का प्रत्यभिज्ञान करने वाली संज्ञा का प्रकार है। सम्भवज्ञान, अर्थापत्ति, अभावप्रमाण और कोई-कोई उपमान प्रमाण तो लिङ्गजन्य अनुमान के भेद-प्रभेद हैं क्योंकि इस प्रकार प्रतीति होती है।

इति शब्द की मति, स्मृति आदि प्रत्येक में संगति कर लेना इष्ट कहा गया है। तथा समाप्ति अर्थ में प्रवर्त्त रहा यह इति शब्द भी इस सूत्र में कोई विरोध को प्राप्त नहीं होता है ॥८॥

मति इस प्रकार का ज्ञान, स्मृति इस प्रकार का ज्ञान, संज्ञा इस प्रकार का ज्ञान, चिंताज्ञान और अनुमान के भेद-प्रभेद रूप ज्ञान मतिज्ञान से भिन्न नहीं हैं, एक मतिज्ञानरूप ही है, यह समझ लेना चाहिए।

मत्यादिभेदं मतिज्ञानं मतिपरिसमाप्तं तद्भेदानामन्येषामत्रैवांतर्भावादिति व्याख्येयं गत्यंतरासंभवात् तथा विरोधाभावाच्च। स्मृतिरप्रमाणमेव सा कथं प्रमाणेंतर्भवतीति चेन्न, तदप्रमाणत्वे सर्वशून्यतापत्तेः। तथाहि—

स्मृतेः प्रमाणतापाये संज्ञाया न प्रमाणता। तदप्रमाणतायां तु चिंता न व्यवतिष्ठते ॥९॥

तदप्रतिष्ठितौ क्वात्र मानं नाम प्रवर्तते। तदप्रवर्तनेध्यक्षप्रामाण्यं नावतिष्ठते ॥१०॥

ततः प्रमाणशून्यत्वात्प्रमेयस्यापि शून्यता। सापि मानाद्विना नेति किमप्यस्तीति साकुलम् ॥११॥

तस्मात्प्रवर्तकत्वेन प्रमाणत्वेत्र कस्यचित्। स्मृत्यादीनां प्रमाणत्वं युक्तमुक्तं च कैश्चन ॥१२॥

अक्षज्ञानैरनुस्मृत्य प्रत्यभिज्ञाय चिंतयेत्। आभिमुख्येन तद्भेदान् विनिश्चित्य प्रवर्तते ॥१३॥

अथवा इति शब्द का समाप्ति अर्थ कर मति, स्मृति आदि भेद वाला मतिज्ञान चारों ओर से मति द्वारा समाप्त हो चुका है। उस मति के अन्य भेद-प्रभेदों का मति, स्मृति, संज्ञा, चिंता, अभिनिबोध इन पाँचों में अन्तर्भाव हो जाता है, ऐसा भी व्याख्यान कर लेना चाहिए क्योंकि अन्य उपायों की असम्भवता है तथा सिद्धान्त से कोई विरोध भी नहीं है।

गृहीतपदार्थ को ही ग्रहण करने वाला स्मरणज्ञान अप्रमाण है। वह प्रमाणों में कैसे गर्भित हो सकता है? इस प्रकार कहना उचित नहीं है, क्योंकि उस स्मरण को अप्रमाण मानने पर सभी प्रमाणों और प्रमेयों के शून्यपने का प्रसंग आता है। इसी अर्थ को कहते हैं-

स्मृति को प्रमाण नहीं मानने पर संज्ञा (प्रत्यभिज्ञान) में प्रमाणता नहीं आ सकती, क्योंकि प्रत्यभिज्ञान में स्मरणज्ञान कारण है। तथा उस प्रत्यभिज्ञान को अप्रमाण मानने पर चिंताज्ञान भी व्यवस्थित नहीं हो सकता (क्योंकि चिंताज्ञान में प्रत्यभिज्ञान कारण पड़ता है)। इसी प्रकार व्याप्तिज्ञानरूप चिंता की प्रतिष्ठा नहीं होने पर अनुमानज्ञान कहाँ प्रवृत्ति कर सकता है? (अनुमान के आत्मलाभ में व्याप्तिज्ञान कारण पड़ता है) तथा उस अनुमान की कहीं भी प्रवृत्ति न होने पर प्रत्यक्ष प्रमाण भी ठहर नहीं सकता। अतः सभी ज्ञापक प्रमाणों की शून्यता हो जाने से प्रमेय पदार्थों की भी शून्यता हो जाएगी और वह शून्यवादियों की शून्यता भी प्रमाण के बिना सिद्ध नहीं हो सकती। इस प्रकार ''कुछ भी तत्त्व है'' इस व्यवस्था को करने के लिए भारी आकुलता हो जाएगी ॥९-१०-११॥

अर्थ में प्रवृत्ति कराने वाला होने से किसी ज्ञान को यदि प्रमाण माना जाएगा तब तो स्मृति, संज्ञा आदि भी प्रमाण हो जाएंगे, किन्हीं विद्वानों के द्वारा कहा गया यह मन्तव्य युक्तिपूर्ण है ॥१२॥

क्योंकि आत्मा इन्द्रियजन्य ज्ञान के द्वारा स्मरण करके प्रत्यभिज्ञान के लिए उस सदृशता का ज्ञान करता है और तर्कज्ञानों से धूम, अग्नि आदि का साहचर्य ग्रहण कर चिंताज्ञान में प्रवृत्ति करता है। तथा अर्थ की अभिमुखता करके उसके भेदों का विशेष निश्चय कर अग्नि आदि साध्य में अनुमान द्वारा प्रवृत्ति करता है ॥१३॥

अक्षज्ञानैर्विनिश्चित्य प्रवर्तत इति यथा प्रत्यक्षस्य प्रवर्तकत्वमुक्तं तथा स्मृत्वा प्रवर्तत इति स्मृतेरपि प्रत्यभिज्ञाय प्रवर्तत इति संज्ञाया अपि चिंतयत् तत् प्रवर्तत इति तर्कस्यापि आभिमुख्येन तद्भेदान् विनिश्चित्य प्रवर्तत इत्यभिनिबोधस्यापि ततस्ततः प्रतिपत्तुः प्रवृत्तेर्यथाभासमाकांक्षानिवृत्तिघटनात्। तत्र प्रत्यक्षमेव प्रवर्तकं प्रमाणं न पुनः स्मृतिरिति मतमुपालभते;—

अक्षज्ञानैर्विनिश्चित्य सर्व एव प्रवर्तते। इति ब्रुवन् स्वचित्तादौ प्रवर्तत इति स्मृतेः ॥१४॥

कथम्—

गृहीतग्रहणात्तत्र न स्मृतेश्चेत्प्रमाणता। धारावाह्यक्षविज्ञानस्यैवं लभ्येत केन सा ॥१५॥

विशिष्टस्योपयोगस्याभावे सापि न चेन्मता। तदभावे स्मरणेप्यक्षज्ञानवन्मानतास्तु नः ॥१६॥

स्मृत्या स्वार्थं परिच्छिद्य प्रवृत्तौ न च बाध्यते। येन प्रेक्षावतां तस्याः प्रवृत्तिर्विनिवार्यते ॥१७॥

स्मृतिमूलाभिलाषादेर्व्यवहारः प्रवर्तकः। न प्रमाणं यथा तद्वदक्षधीमूलिका स्मृतिः ॥१८॥

जिस प्रकार इन्द्रियजन्य ज्ञानों द्वारा विशेष निश्चय करके जीव ज्ञेय पदार्थों में प्रवृत्ति करता है इसलिए उस प्रत्यक्ष ज्ञान को प्रवर्तक कहा है, उसी प्रकार स्मृतिज्ञान से भी पदार्थ का स्मरण कर जीव प्रवृत्ति करता है अतः स्मृति के भी प्रवर्त्तकपना है। प्रत्यभिज्ञान करके भी प्रवृत्ति करता है अतः संज्ञा को भी प्रवर्त्तकपना है। उस प्रत्यभिज्ञान से जाने हुए का चिंतन करता हुआ प्रवृत्ति करता है अतः तर्क को भी प्रवर्त्तकपना है।

तथा व्याप्ति ज्ञान से संबंध ग्रहण कर अभिमुखपने से उसके भेदों का विशेष निश्चयकर अनुमाता प्रवृत्ति करता है अतः अभिनिबोध (यानी स्वार्थानुमान) को भी प्रवर्त्तकपना है। इसलिए जिस ज्ञान से प्रतीति करने वाले प्रतिपत्ता (ज्ञाता) की प्रवृत्ति होती है, उस प्रतिभास का अतिक्रमण नहीं कर (यानी स्मृति आदि से हुए प्रतिभासों के अनुमान) आकांक्षाओं की निवृत्ति होना घटित होता है/ जिज्ञासित पदार्थ की आकांक्षा की निवृत्ति करना स्मृति आदि ज्ञानों द्वारा साध्य कार्य है। अतः प्रवर्त्तकपना स्मृति आदि में भी है।

इन ज्ञानों में से एक प्रत्यक्ष प्रमाण ही प्रवर्तक है। फिर स्मृति आदि तो अर्थ में प्रवृत्ति कराने वाले नहीं हैं? इस मन्तव्य पर आचार्य उलाहना देते हैं कि-

सम्पूर्ण ही जीव इन्द्रियजन्य ज्ञानों के द्वारा पदार्थों का निश्चय कर प्रवृत्ति करते हैं, इस प्रकार कहने वाला (बौद्ध भी) अपनी आत्मा, शरीर आदि में स्मृति द्वारा ही प्रवृत्ति करता है अतः स्मृति भी प्रवृत्ति का कारण है ॥१४॥

तो फिर बौद्ध स्मृति को प्रवर्त्तक क्यों नहीं मानते हैं?-यदि उन प्रमाणों के प्रकरण में स्मृति को गृहीत का ग्रहण करने वाली होने से प्रमाण नहीं मानोगे तो धारावाही इन्द्रियज्ञान को वह प्रमाणपना कैसे प्राप्त हो सकेगा? विशिष्ट उपयोग का अभाव होने से धारावाहिक ज्ञान को प्रमाण नहीं माना जाए तो प्रत्यक्ष ज्ञान के समान विशिष्ट उपयोग के सद्भाव में स्याद्वादियों के भी स्वार्थ की विशिष्ट नवीन ज्ञप्ति हो जाने पर स्मरण में भी प्रमाणता आएगी ॥१५-१६॥

स्मरण ज्ञान के द्वारा स्व और अर्थ को जानकर प्रवृत्ति होने में कोई भी बाधा नहीं है जिससे कि उस स्मृति से विचारशाली जीवों की घट, पट आदि में प्रवृत्ति का निवारण किया जाए ॥१७॥

इत्याचक्षणिको नामानुमामंस्त पृथक्प्रमा। प्रत्यक्षं तद्धि तन्मूलमिति चार्वाकतागतिः ॥१९॥

योपि प्रत्यक्षमनुमानं च प्रवर्तकं प्रमाणमिति मन्यमानः स्मृतिमूलस्याभिलाषादेरिव व्यवहारप्रवृत्तेर्हेतोः प्रत्यक्षमूलस्मरणस्यापि प्रमाणतां प्रत्याक्षीत सोनुमानमपि प्रत्यक्षात्पृथक्प्रमाणं मामंस्त तस्य प्रत्यक्षमूलत्वात्। न ह्यप्रत्यक्षपूर्वकमनुमानमस्ति। अनुमानांतरपूर्वकमस्तीति चेन्न, तस्यापि प्रत्यक्षपूर्वकत्वात्। सुदूरमपि गत्वा तस्याप्रत्यक्षपूर्वकत्वेनवस्थाप्रसंगात्। तत्पूर्वत्वे सिद्धे प्रत्यक्षपूर्वकमनुमानमिति न प्रमाणं स्यात्। ततश्च बाधकत्वप्राप्तिरस्य ॥

स्वार्थप्रकाशकत्वेन प्रमाणमनुमा यदि। स्मृतिरस्तु तथा नाभिलाषादिस्तदभावतः ॥२०॥

स्वार्थप्रकाशकत्वं प्रवर्तकत्वं न तु प्रत्यक्षार्थप्रदर्शकत्वं नाप्यर्थाभिमुखगतिहेतुत्वं तच्चानुमानस्यास्तीति

जैसे स्मृतिमूल अभिलाषादि से प्रवर्त्तक व्यवहार प्रमाण नहीं है, उसी प्रकार इन्द्रियजन्यज्ञान को मूल कारण स्वीकार कर उत्पन्न स्मृति भी प्रमाण नहीं है। इस प्रकार कहने वाले (बौद्ध) अनुमान को भी पृथक् प्रमाण नहीं मान सकते क्योंकि, उस अनुमान का भी मूल कारण वह प्रत्यक्ष प्रमाण ही है। इस प्रकार इस नैयायिक या मीमांसक अथवा बौद्ध को चार्वाकपना प्राप्त हो जाता है, क्योंकि चार्वाक ही उन ज्ञानों को प्रमाण नहीं मानता है, एक प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानता है॥१८-१९॥

यदि बौद्ध अर्थ में प्रवृत्ति कराने में कारण होने से प्रत्यक्ष और अनुमान को प्रमाण मानते हैं तो स्मृति के निमित्त से उत्पन्न अभिलाषा आदिक से व्यवहार की प्रवृत्ति होती है उनको प्रमाण क्यों नहीं मानते? यदि अर्थ में प्रवृत्ति कराने वाले अभिलाषा आदि को स्मृति आदि से उत्पन्न होने से प्रमाणपना नहीं मानेंगे तो बौद्ध अनुमान को भी प्रत्यक्ष से पृथक् प्रमाण नहीं मान सकेंगे, क्योंकि उस अनुमान का मूल कारण प्रत्यक्ष है। अप्रत्यक्षपूर्वक कोई भी अनुमान नहीं होता है। अनुमान के पीछे होने वाला दूसरा अनुमान तो प्रत्यक्षपूर्वक नहीं है। अतः सभी अनुमान प्रत्यक्षपूर्वक नहीं होते हैं ऐसा कहना उचित नहीं है, क्योंकि दूसरे तीसरे आदि अनुमान का भी परम्परा से कारण प्रत्यक्ष ही है। बहुत दूर भी जाकर उस अनुमान को यदि प्रत्यक्षपूर्वक नहीं माना जाएगा तो अनवस्था दोष का प्रसंग आएगा। (क्योंकि व्याप्ति या हेतु को अनुमान द्वारा जानते जानते आकांक्षा की निवृत्ति नहीं होती है)। यदि दूर भी जाकर किसी अनुमान के पूर्व में हुए प्रत्यक्ष को कारणपना सिद्ध मान लोगे तो प्रत्यक्षपूर्वक अनुमान होता है, यह सिद्ध होगा अतः वह प्रमाण नहीं हो सकेगा। इसलिए बौद्ध मत की सिद्धि में बाधक प्रमाण विद्यमान है।

स्व और अर्थ का प्रकाशक होने से यदि अनुमान को प्रमाण स्वीकार करोगे तो उसी प्रकार स्व-पर प्रकाशक होने से स्मृति ज्ञान को भी प्रमाण स्वीकार करना होगा। ज्ञान से भिन्न अभिलाषा, पुरुषार्थ आदि तो उस स्वार्थ के प्रकाशक का अभाव होने से वे प्रमाण नहीं हो सकते हैं, अचेतन पदार्थ प्रमाण नहीं हैं ॥२०॥

स्व और अर्थ को प्रकाशित करना ही ज्ञान में प्रवर्त्तकपना है, ऐसा भी नहीं है क्योंकि प्रत्यक्ष अर्थ

प्रमाणत्वे स्मरणस्य तदस्तु तत एव नाभिलाषादेस्तदभावात्। न हि यथा स्मरणं स्वार्थस्मर्तव्यस्यैव प्रकाशकं तथाभिलाषादिस्तस्य मोहोदयफलत्वात्॥

समारोपव्यवच्छेदस्समः स्मृत्यनुमानतः। स्वार्थे प्रमाणता तेन नैकत्रापि निवार्यते॥२१॥

यथा चानुमायाः क्वचित्प्रवृत्तस्य समारोपस्य व्यवच्छेदस्तथा स्मृतेरपीति युक्तमुभयोः प्रमाणत्वमन्यथाप्रमाणत्वापत्तेः। स्मृतिरनुमानत्वेन प्रमाणमिष्टमेव नान्यथेति चेत्॥

स्मृतिर्न लैंगिकं लिंगज्ञानाभावेपि भावतः। संबंधस्मृतिवन्न स्यादनवस्थानमन्यथा॥२२॥

की प्राप्ति में प्रदर्शकत्व ज्ञान की प्रवर्त्तकता नहीं है तथा अर्थ की ओर सन्मुख गति कराने का कारण भी ज्ञान की प्रवर्त्तकता नहीं है। जैसे केवलज्ञान सर्व पदार्थों को जानता है परन्तु उसमें प्रवर्तकपना नहीं है तथापि वह प्रत्यक्ष ज्ञान प्रमाणभूत है तथा वह स्वार्थ का प्रकाशकपन अनुमान के भी है अतः यदि अनुमान को प्रमाण माना जाएगा तो उसी प्रकार स्मरण को भी वह प्रमाणपना व्यवस्थित हो जाएगा, क्योंकि स्मृति में भी स्वार्थ प्रकाशकत्व है। स्मृति ज्ञान के अभाव में अभिलाषा आदि प्रमाण नहीं हैं, क्योंकि उनमें स्व और अर्थ का प्रतिभास करा देना पन नहीं है जैसे स्मृति स्मरण करने योग्य स्वार्थों की ही प्रकाशिका है, वैसे अभिलाषा, रति, लोभवृत्ति आदिक परिणतियाँ स्वार्थों की ज्ञप्ति नहीं करा पाती है, क्योंकि अभिलाषा आदि मोहनीय कर्म के उदय होने पर आत्मा के विभाव भाव का फल है किन्तु, स्वार्थों का प्रकाश करना तो ज्ञानावरण के क्षयोपशम या क्षय हो जाने पर आत्मा का स्वाभाविक परिणाम है। इसलिए यह सिद्ध होता है कि प्रत्यक्ष और अनुमान ज्ञान के समान-स्मृति ज्ञान भी स्वपर-अर्थ का प्रकाशक होने से प्रमाणभूत है।

स्मृति ज्ञान और अनुमान ज्ञान से समारोप (संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय) का व्यवच्छेद होना भी समान है अतः स्वार्थों के जानने में प्रमाणपना दोनों में से किसी एक में भी नहीं रोका जा सकता है। अर्थात् संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय, अज्ञान स्वरूप समारोप का व्यवच्छेद करने वाले होने से स्मृति और अनुमान दोनों ही ज्ञान प्रमाण हैं ॥२१॥ किसी विषय में प्रवृत्त समारोप का व्यवच्छेद जैसा अनुमान प्रमाण से होता है,उसी प्रकार स्मृति से भी समारोप का व्यवच्छेद हो जाता है अतः दोनों को प्रमाणपना युक्त है। अन्यथा (एक साथ दोनों के भी) अप्रमाणपने का प्रसंग आएगा। अर्थात् जैसे स्मृति अप्रमाण है, वैसे अनुमान को भी अप्रमाणपना प्राप्त होगा।

अनुमान के प्रमाणत्व से स्मृतिज्ञान को हम प्रमाण ही इष्ट करते हैं, दूसरे प्रकारों से नहीं। बौद्ध के इस प्रकार कहने पर आचार्य कहते हैं-

स्मृतिज्ञान, अनुमान स्वरूप नहीं है क्योंकि व्याप्तियुक्त हेतु का अभाव होने पर भी स्मरणज्ञान का सद्भाव देखा जाता है जैसे साध्य और साधन के सम्बन्धरूप व्याप्ति का स्मरण करना अनुमान ज्ञान नहीं है। अन्यथा (व्याप्ति स्मरण को भी यदि अनुमानरूप माना जायेगा तो) उस अनुमान में भी व्याप्ति स्मरण की आवश्यकता होगी और वह व्याप्तिस्मरण भी तीसरा अनुमान पड़ेगा। इस प्रकार अनवस्था दोष आयेगा,

परापरानुमानानां कल्पनस्य प्रसंगतः। विवक्षितानुमानस्याप्यनुमानांतराजनौ ॥२३॥

संबंधस्मृतेर्ह्यनुमानत्वे स्मर्तव्यार्थेन लिंगेन भाव्यं तस्य तेन संबंधस्त्वभ्युपगंतव्यस्तस्य च स्मरणं परं तस्याप्यनुमानत्वे तथेति परापरानुमानानां कल्पनादनवस्था। न ह्यनुमानांतरादनुमानस्य जनने क्वचिदवस्था नाम सा संबंधस्मृतिरप्रमाणमेवेति चेत् ॥

नाप्रमाणात्मनो स्मृत्या संबंधः सिद्धमृच्छति। प्रमाणानर्थकत्वस्य प्रसंगात्सर्ववस्तुनि ॥२४॥

न ह्यप्रमाणात् प्रमेयस्य सिद्धौ प्रमाणमर्थवन्नाम। न चाप्रमाणात् किंचित्सिद्ध्यति किंचिन्नेत्यर्धजरतीन्यायः श्रेयान् सर्वत्र तद्विशेषाभावात् ॥

स्मृतिस्तदितिविज्ञानमर्थातीते भवेत्कथम्। स्यादर्थवदिति स्वेष्टं याति बौद्धस्य लक्ष्यते ॥२५॥

क्योंकि विवक्षा प्राप्त अनुमान की भी अन्य अनुमानों से उत्पत्ति मानने पर उत्तरोत्तर अनेक अनुमानों की कल्पना का प्रसंग होने से अनवस्था दोष आयेगा ॥२२-२३॥

अविनाभाव संबंध की स्मृति को अनुमान प्रमाण मानने पर तो स्मरण करने योग्य अर्थ के साथ व्याप्ति रखने वाला दूसरा हेतु होना चाहिए। उसका भी अपने साध्य के साथ संबंध तो स्वीकार करना ही चाहिए (संबंध के बिना अकेला हेतु नहीं हो सकता)। फिर उस संबंध का स्मरण भी पृथक् मानना होगा। उस संबंध स्मरण को भी अनुमान प्रमाण कहोगे तो फिर तिस प्रकार अनुमान के लिए भी अन्य व्याप्ति स्मरणरूप अनुमानों की उत्थान आकांक्षा बढ़ती ही चली जाएगी। इस प्रकार आगे-आगे होने वाले अनुमानों की कल्पना करने से अनवस्था दोष आएगा। दूसरे अनुमान से अनुमान की उत्पत्ति होना मानने में कहीं भी ठहरना (स्थिति) नहीं हो सकती।

"वह साधन और साध्य के संबंध की स्मृति तो अप्रमाण ही है।" वैशेषिकों के ऐसा कहने पर आचार्य उसका उत्तर देते हैं-

अप्रमाणस्वरूप स्मृति से साध्य और साधन का अविनाभाव संबंध सिद्ध नहीं हो सकता क्योंकि यदि अप्रमाण ज्ञानों से ही अर्थ का निर्णय होने लगे तो सम्पूर्ण वस्तु में (यानी वस्तुओं का निर्णय करने के लिए) प्रमाणज्ञान के व्यर्थ हो जाने का प्रसंग आएगा ॥२४॥

अप्रमाण से प्रमेय की सिद्धि मानने पर प्रमाणज्ञान तो नाममात्र भी सफल नहीं हो सकता। कुछ पदार्थों की सिद्धि तो अप्रमाण ज्ञान से हो जाती है, और किन्हीं पदार्थों की सिद्धि अप्रमाण से नहीं होती है। इस प्रकार अर्धजरतीन्याय श्रेष्ठ नहीं है, क्योंकि, सभी स्थलों पर उस अर्थ की स्वपर परिच्छित्ति स्वरूप सिद्धि कराने वाले पदार्थ में कोई विशेषता नहीं है।

(सौगत) 'सो वह था'-इस प्रकार विज्ञान करना स्मरण है, वह स्मरण अतिक्रान्त भूतकालीन अर्थ में उत्पन्न होता है अतः वह अर्थवान कैसे है? अर्थात् विषयभूत अर्थ का भूतकाल के गर्त में जाने पर स्मरण होता है। उसका ज्ञेय अर्थ वर्तमान में नहीं रहता फिर स्मरण ज्ञान को अर्थवान् कैसे मान सकते हैं? इस प्रकार कहने पर तो बौद्ध का अभीष्ट सिद्धान्त भी चला जाता है, क्योंकि सौगत ने प्रत्यक्षज्ञान का कारण

प्रत्यक्षमर्थवन्न स्यादतीतेर्थे समुद्भवत्। तस्य स्मृतिवदेवं हि तद्वदेव च लैंगिकम् ॥२६॥

नार्थाज्जन्मोपपद्येत प्रत्यक्षस्य स्मृतेरिव। तद्वत्स एव तद्भावादन्यथा न क्षणक्षय: ॥२७॥

अर्थाकारत्वतोध्यक्षं यदर्थस्य प्रबोधकं। तत एव स्मृति: किं न स्वार्थस्य प्रतिबोधका ॥२८॥

अस्पष्टत्वेन चेन्नानुमानेप्येवं प्रसंगत:। प्राप्यार्थेनार्थवत्ता चेदनुमानाया: स्मृतेर्न किम् ॥२९॥

ततो न सौगतोऽनुमानस्य प्रमाणतामुपयंस्तामपाकर्तुमीश: सर्वथा विशेषाभावात् ॥

मनसा जन्यमानत्वात्संस्कारसहकारिणा। सर्वत्रार्थानपेक्षेण स्मृतिर्नार्थवती यदि ॥३०॥

तदा संस्कार एव स्यात्प्रवृत्तिस्तन्निबंधना। तत्रासंभवतोर्थे चेद्व्यक्तमीश्वरचेष्टितम् ॥३१॥

स्वलक्षण अर्थ को माना है। प्रत्यक्षज्ञान के उत्पन्न होने पर उसका कारण स्वलक्षण अर्थ नष्ट हो जाता है अत: अर्थ के अतीत हो जाने पर उस बौद्ध के यहाँ क्षणिक पदार्थ से उत्पन्न प्रत्यक्ष प्रमाण भी स्मृति के समान अर्थवान् न हो सकेगा तथा उस प्रत्यक्ष के ही समान अनुमानज्ञान भी अतीत अर्थ के होने पर उत्पन्न होता है, अत: वह भी अर्थवान् नहीं हो सकेगा ॥२५-२६॥

स्मृति जैसे अर्थ से उत्पन्न नहीं होती है, उसी के समान प्रत्यक्ष की उत्पत्ति भी अर्थ से मानना उचित नहीं है। जैसे स्मृति अर्थ के बिना ही हो जाती है, वैसे ही वह प्रत्यक्ष भी अर्थ के बिना उत्पन्न हो जाता है। अन्यथा क्षणिकवाद नहीं रहेगा क्योंकि ऐसा मानने पर दो-तीन आदि क्षणों तक स्वलक्षणतत्त्व का स्थित रहना सिद्ध होता है।

जैसे अर्थाकारत्व प्रत्यक्ष अर्थ का प्रबोधक है, उसी प्रकार स्मृति भी स्व पर अर्थ की प्रतिबोधिका क्यों नहीं होगी? अवश्य होगी ॥२८॥

अस्पष्ट प्रतिभास होने के कारण स्मृति अर्थ की प्रतिबोधिका नहीं है-ऐसा भी कहना उचित नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर अनुमान के भी अर्थवान् नहीं होने का प्रसंग आएगा। यदि प्राप्त करने योग्य वस्तुभूत स्वलक्षण अर्थ की अपेक्षा से अनुमान को अर्थवान् कहा जाता है, तब तो प्राप्त करने योग्य अर्थ की अपेक्षा से स्मृति ज्ञान को भी अर्थवान् क्यों नही माना जाता है ॥२९॥

अत: अनुमान के प्रमाणपन को स्वीकार करने वाला बौद्ध उस स्मृति का खण्डन करने के लिए समर्थ नहीं हो सकता क्योंकि सभी प्रकारों से अनुमान और स्मृति में कोई प्रामाण्य और अप्रामाण्य की प्रयोजक विशेषताओं का अभाव है जिनसे कि अनुमान में प्रमाणपना और स्मृति में अप्रमाणपना ठहरा दिया जाए।

यदि पदार्थ से सर्वथा निरपेक्ष संस्कार सहकारी मन से उत्पन्न होने से स्मृति अर्थवाली नहीं है-ऐसा (बौद्ध) कहेंगे, तो संस्कार ही अर्थ की प्रवृत्ति में कारण होंगे परन्तु अर्थ के बिना केवल संस्कार द्वारा प्रवृत्ति होना संभव नहीं है। अथवा स्मृति को अप्रमाण मानना वैशेषिकों द्वारा माने गये स्वतंत्र ईश्वर के सदृश कुछ भी युक्त-अयुक्त मनमानी क्रिया करना है ॥३०-३१॥

अनर्थविषयत्वेपि स्मृतेः प्रवर्तमानार्थे प्रवर्तते संस्कारे प्रवृत्तेरसंभवादिति स्फुटं राजचेष्टितं यथेष्टं प्रवर्तमानात्॥

प्रत्यक्षं मानसं ज्ञानं स्मृतेर्यस्याः प्रजायते। सा हि प्रमाणसामग्रीवर्तिनी स्यात् प्रवर्तिका॥३२॥

प्रमाणत्वाद्यथा लिंगिलिंगसंबंधसंस्मृतिः। लिंगिज्ञानफलेत्याह सामग्रीमानवादिनः॥३३॥

तदप्यसंगतं लिंगिज्ञानस्यैव प्रसंगतः। प्रत्यक्षत्वक्षतेर्लिंगतत्फलायाः स्मृतेरिव॥३४॥

यस्याः स्मृतेः प्रत्यक्षं मानसं जायते सा तदेव प्रमाणं तत्साम्ग्रयंतर्भूतत्वतः प्रवर्तिका स्वार्थे यथानुमानफला संबंधस्मृतिरनुमानमेवेति। वचनसंबंधं प्रमाणमनुमानसाम्ग्रयंतर्भूतमपीति चेत्—

स्मृति ज्ञान प्रमाणभूत है उसकी सिद्धि

जैसे कोई स्वतंत्र राजा अपने सामर्थ्य के घमंड में आकर चाहे जैसे कर (टैक्स) लगा देता है, यथेष्ट चेष्टा करता है, वैसे ही स्मृति को वस्तुभूत अर्थ का विषय करने वाली नहीं मानकर भी प्रवृत्ति करने वाला बौद्ध उस स्मृति के द्वारा अर्थ में प्रवृत्ति कर रहा है यह बौद्ध की अनर्गल चेष्टा है, क्योंकि संस्कार होने पर तो प्रवृत्ति होना असम्भव है अतः प्रत्यक्ष ज्ञान या अप्रत्यक्ष अनुमान ज्ञान के समान स्मृति भी अर्थवाली है, प्रमाणभूत है; ऐसा मानना चाहिए।

जिस स्मृति से प्रत्यक्षरूप मानसज्ञान उत्पन्न होता है, वही स्मृति प्रत्यक्ष प्रमाण की कारण सामग्री में वर्तती हुई प्रवर्त्तक मानी गई है (अतः प्रमाण की कारण सामग्री में पतित होने से स्मृति मुख्य प्रमाण नहीं किन्तु गौण प्रमाण है)। जैसे अनुमान द्वारा साध्य ज्ञानरूप फल को उत्पन्न करने वाली साध्य और हेतु के सम्बन्ध की स्मृति उपचरित प्रमाण है- इस प्रकार कोई सामग्री को गौणप्रमाण मानने वाला वादी कहता है। आचार्य कहते हैं कि ऐसा कहना भी असंगत है, क्योंकि इस कथन में अकेले अनुमान ज्ञान के ही प्रमाणपने का प्रसंग आएगा। एक अनुमान ही प्रमाण होगा, प्रत्यक्ष नहीं। प्रत्यक्ष का प्रमाणपना नष्ट हो जाएगा। प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं रहेगा जैसे हेतु और उसका फल साध्य के सम्बन्ध को विषय करने वाली स्मृति को प्रमाणपना नहीं माना जाता है॥३२-३३-३४॥

जिस स्मृति से मानस प्रत्यक्ष उत्पन्न होता है, वह स्मृति प्रमाण की सामग्री में अंतर्भूत होने के कारण स्वार्थ में प्रवृत्ति कराने वाली मानी जाती है। जैसे अनुमान ज्ञान है फल जिसका, ऐसी साध्य साधनों के संबंध की स्मृति अनुमानप्रमाणरूप ही है। इस प्रकार अनुमान की सामग्री में अंतर्भूत संबंध का कथन होने से स्मृति अनुमान के अन्तर्गत है, स्वतंत्र प्रमाण नहीं है। इस प्रकार किसी के कहने पर आचार्य कहते हैं कि-

प्रत्यक्ष के समान स्मृति का भी अव्यवहित फल जब अपना और अर्थ का विशेष निश्चय करना नियत है तो फिर स्वार्थ की प्रमिति करने में प्रकृष्ट उपकारक होने के कारण प्रत्यक्ष को जैसे प्रमाण कहा जाता है वैसे ही स्वार्थ के निश्चय कराने में कारण होने से स्मरण का प्रमाणपना क्यों नहीं स्वीकार किया जाता है? तथा परम्परा से उस स्मरणज्ञान के फल भी प्रत्यक्ष के फल समान हेय का परित्याग करना, उपादेय

प्रत्यक्षवत्स्मृतेः साक्षात्फले स्वार्थविनिश्चये। किं साधकतमत्वेन प्रामाण्यं नोपगम्यते ॥३५॥

पारंपर्येण हानादिज्ञानं च फलमीक्ष्यते। तस्यास्तदनुस्मृत्यंतर्याथार्थ्यवृत्तितोर्थिनः ॥३६॥

ततो न योगोपि स्मृतेरप्रमाणत्वं समर्थयितुमीशः प्रत्यक्षादिप्रमाणत्वं वा, यथोक्तदोषानुषंगात् ॥

प्रत्यभिज्ञाय च स्वार्थं वर्तमानो यतोर्थभाक्। मतं तत्प्रत्यभिज्ञानं प्रमाणं परमन्यथा ॥३७॥

तद्विद्धैकत्वसादृश्यगोचरत्वेन निश्चितं। संकीर्णव्यतिकीर्णत्वव्यतिरेकेण तत्त्वतः ॥३८॥

तेन तु न पुनर्जातमदनांकुरगोचरं। सादृश्यप्रत्यभिज्ञानं प्रमाणं नैकतात्मनि ॥३९॥

एकत्वगोचरं च स्यादेकत्वे मानमंजसा। न सादृश्ये यथा तस्मिंस्तादृशोयमिति ग्रहः ॥४०॥

का ग्रहण करना, उपेक्षा करना आदि या तद्विषयकज्ञान देखे जा रहे हैं, क्योंकि, अर्थ की अभिलाषा रखने वाले जीव की उस स्मृति के अनुसार स्मरण के भीतर आए हुए अर्थ में यथार्थरूप से प्रवृत्ति होती है। अर्थात् स्मरण द्वारा जीव अभीष्ट पदार्थ की प्राप्ति और अनिष्ट पदार्थ का परित्याग करते हैं अतः स्मृति ज्ञान प्रमाण है ॥३५-३६॥

तथा नैयायिक भी स्मृति के अप्रमाणपन का समर्थन करने के लिए समर्थ नहीं है। अथवा स्मृति को प्रत्यक्ष, अनुमान आदि स्वरूप भी सिद्ध नहीं कर सकता है। अर्थात्-आवश्यक माने गये प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों में स्मृति का अंतर्भाव नहीं हो सकता है, क्योंकि स्मृति को प्रत्यक्ष या अनुमान में गर्भित करने पर पूर्व में कहे अनुसार दोषों का प्रसंग आता है।

अब (आचार्य) प्रत्यभिज्ञान का विचार करते हैं-

स्व और अर्थ का प्रत्यभिज्ञान करके प्रवृत्ति करने वाले पुरुष को अर्थभाक् (अर्थ को प्राप्त कराने वाला) प्रत्यभिज्ञान है अतः दर्शन और स्मरण को कारण मानकर उत्पन्न हुए प्रत्यभिज्ञान को प्रमाण माना गया है, किन्तु, जो दूसरा प्रत्यभिज्ञान यथार्थ की ज्ञप्ति कराने वाला नहीं है, वह अन्यथा (प्रत्यभिज्ञानाभास) है ॥ ३७ ॥ जो एकत्व और सदृश के यथार्थ रूप का ज्ञान करता है वह प्रमाणभूत प्रत्यभिज्ञान है परन्तु सादृश्य में एकत्व का और एकत्व में सदृश का ज्ञान करता है वह प्रत्यभिज्ञानाभास है।

सादृश्य और एकत्व के भेद से वह प्रत्यभिज्ञान दो प्रकार का है। एक तो एकपन को विषय करने वाला एकत्व प्रत्यभिज्ञान है, दूसरा दृष्ट और दृश्यमान पदार्थों में सादृश्य को विषय करने वाला सादृश्य प्रत्यभिज्ञान है। यह प्रत्यभिज्ञान अनेक धर्मों की युगपत् प्राप्ति हो जाने रूप संकर दोष और परस्पर विषयों में गमन करने रूप व्यतिकर दोष से रहित है, अतः यथार्थ रूप से वस्तु की ज्ञप्ति करा देता है। इसलिए सादृश्य और एकत्व ये दोनों ही ज्ञान प्रमाणभूत हैं, परन्तु काटने पर पुनः उत्पन्न हुए मदनांकुर, नख केश आदि के काटने पर पुनः उत्पन्न होने पर भी यह वही नखादि है, ऐसा कहने वाला प्रत्यभिज्ञान प्रमाणभूत नहीं है, क्योंकि काट देने पर भी पुनः उत्पन्न होने वाले ऐसे केश आदि को विषय करने वाला सादृश्य प्रत्यभिज्ञान उनके एकपन को जानने में प्रमाण नहीं है। अर्थात् पूर्व में कट कर नष्ट हुए पुनः उत्पन्न हुए पदार्थों में वे वही हैं, ऐसा परमार्श होजाता है। ये सन्मुख स्थित अलग नये उत्पन्न हुए केश हैं अतः इनमें सदृशपने का प्रत्यभिज्ञान ये ''उनके सरीखे हैं'' ऐसा कहना तो ठीक है किन्तु ''वे के वे ही ये हैं'' - यह आग्रह करना प्रत्यभिज्ञानाभास है ॥३८-३९-४०॥

न ह्येवं सादृश्यैकत्वप्रत्यभिज्ञानयोः संकरव्यतिकरव्यतिरेको लौकिकपरीक्षकयोरसिद्धोऽन्यत्र विभ्रमात्। ततो युक्तं स्वविषये नियमेन प्रवर्तकयोः प्रमाणत्वं प्रत्यक्षादिवत्॥

तदित्यतीतविज्ञानं दृश्यमानेन नैकतां। वेत्ति नेदमिति ज्ञानमतीतेनेति केचन॥४१॥

तत्सिद्धसाधनं ज्ञानद्वितयं ह्येतदिष्यते। मानदृष्टेर्थपर्याये दृश्यमाने च भेदतः॥४२॥

द्रव्येण तद्बलोद्भूतज्ञानमेकत्वसाधनम्। दृष्टेक्ष्यमाणपर्यायव्यापिन्यन्यत्ततो मतम्॥४३॥

न हि सांप्रतिकातीतपर्याययोर्दर्शनस्मरणे एव तत्प्रत्यभिज्ञानं यतो दोषावकाशः स्यात्। किं तर्हि? तद्व्यापिन्येकत्र द्रव्ये संकलनज्ञानं। नन्वेवं तदनादिपर्यायव्यापि द्रव्यविषयं प्रसज्येत नियामकाभावादिति चेन्न, नियामकस्य सद्भावात्॥

किसी विषय में विभ्रम होने से सादृश्य और एकत्व को जानने वाले प्रत्यभिज्ञानों का एकमेक हो जाना (संकर दोष) या कुछ धर्मों का परस्पर बदल जाना व्यतिकर दोष-इन संकर-व्यतिकर दोषों का रहितपना लौकिक और परीक्षक जनों को असिद्ध नहीं है अर्थात् सिद्ध है। किसी विषय में विभ्रम के कारण एकत्व वा सादृश्य में विपरीतता हो जाने पर भी वास्तविक प्रत्यभिज्ञान में संकर व्यतिकर दोष नहीं है अतः प्रत्यभिज्ञान प्रमाणभूत है इसमें किसी का विरोध नहीं है इसलिए अपने-अपने विषय में नियम से प्रवृत्ति कराने वाले दोनों प्रत्यभिज्ञानों को प्रत्यक्ष, अनुमान आदि के समान प्रमाणपना युक्त है।

किसी बौद्ध आदि का कथन -'वह था' ऐसे भूत पदार्थ को जानने वाला विज्ञान प्रत्यक्ष द्वारा देखे गए वर्तमान अर्थ के साथ एकपने को नहीं जान पाता है, तथा 'यह है' ऐसा वर्तमान को जानने वाला प्रत्यक्ष ज्ञान अतीत पदार्थ के साथ वर्तमान अर्थ के एकपन को नहीं जान सकता है क्योंकि प्रत्यक्षज्ञान अविचारक है- इस प्रकार कोई विद्वान कहते हैं, परन्तु ग्रन्थकार कहते हैं कि यह किसी का कहना सिद्ध साधन है, क्योंकि भूत और वर्तमान अर्थ को जानने वाले ये दो स्मरण और प्रत्यक्षज्ञान हैं। पूर्व में धारणा ज्ञान से देखे हुए अर्थपर्याय और वर्तमान में देखे जा रहे अर्थपर्याय में विषयभेद रूप से दो ज्ञान प्रवृत्ति कर रहे हैं (वे एक दूसरे के विषय को नहीं छू सकते हैं)। उन दोनों ज्ञानों की सामर्थ्य से पश्चात् उत्पन्न हुआ तीसरा प्रत्यभिज्ञान देखी जा चुकी और देखी जा रही पर्यायों में द्रव्यरूप से व्याप्त एकत्व को सिद्ध कर रहा है। जो ज्ञान उन स्मरण और प्रत्यक्ष दोनों ज्ञानों से पृथक् माना गया है तथा उसका विषय एकत्व भी उन दोनों पर्यायों से निराला है। अतः अपूर्व अर्थ का ग्राहक होने से प्रत्यभिज्ञान प्रमाण है॥४१-४२-४३॥

वर्तमान की पर्याय को जानने वाला दर्शन और अतीत पर्याय को जानने वाला स्मरण ही वह प्रत्यभिज्ञान नहीं है, जिससे कि प्रत्यभिज्ञान के अप्रमाणपन, व्यर्थपन, गृहीतग्राहीपन आदि दोषों को स्थान मिल सके।

शंका : प्रत्यभिज्ञान क्या है?

समाधान : उन भूत और भविष्य की दोनों पर्यायों में व्यापने वाले एकद्रव्य में एक जोड़ रूप ज्ञान होना प्रत्यभिज्ञान है। अर्थात् प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय 'यह' वर्तमान पर्याय को जान रहा है और स्मरण

क्षयोपशमतस्तच्च नियतं स्यात्कुतश्चन। अनादिपर्ययव्यापि द्रव्यसंवित्तितोस्ति नः ॥४४॥

तया यावत्स्वतीतेषु पर्यायेष्वस्ति संस्मृतिः। केन तद्व्यापिनि द्रव्ये प्रत्यभिज्ञास्य वार्यते ॥४५॥

बालकोहं य एवासं स एव च कुमारकः। युवानो मध्यमो वृद्धोऽधुनास्मीति प्रतीतितः ॥४६॥

स्मृतिः किन्नानुभूतेषु स्वयं भेदेष्वशेषतः। प्रत्यभिज्ञानहेतुः स्यादिति चोद्यं न युक्तिमत् ॥४७॥

तादृक्क्षयोग्यताहानेः तद्भावे त्वस्ति सांगिनां। व्यभिचारी हि तन्नान्यो हेतुः सर्वः समीक्ष्यते ॥४८॥

भूतकालीन पर्याय को जान रहा है परन्तु इन दोनों के साथ सम्बन्ध जोड़ने वाला इन दोनों से भिन्न प्रत्यभिज्ञान है।

शंका : जब अतीत और वर्तमान पर्यायों में व्यापक एक द्रव्य को प्रत्यभिज्ञान जानता है, तब अनादिकाल की भूत पर्यायों में व्यापने वाले द्रव्य को विषय कर लेने का प्रसंग आएगा, क्योंकि ऐसा कोई नियम करने वाला कारण नहीं है कि कुछ वर्ष पूर्व ही की पर्यायों और वर्तमान पर्याय में रहने वाले एकपन से आक्रान्त द्रव्य को प्रत्यभिज्ञान जानता है, किन्तु असंख्य वर्ष या अनन्त वर्ष पहले व्यतीत हो चुकी पर्यायों में रहने वाले द्रव्य को नहीं जान सकता।

समाधान : ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि इसमें नियम कराने वाले हेतु का सद्भाव है। नियत पूर्व पर्यायों में रहने वाले द्रव्य को विषय करने का नियम तो किसी क्षयोपशम से हो जाता है (और वह क्षयोपशम किसी भी कषायों की विलक्षण मन्दता या कालाणुओं के निमित्त से होता है) हमारे यहाँ प्रत्यभिज्ञान द्वारा अनादिकाल की पर्यायों में व्यापक द्रव्य की संवित्ति होना भी माना है॥ ४४ ॥ मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न विशेष धारणारूप संवित्ति से जितनी (यथायोग्य) अतीत पर्यायों में स्मृति होती है, उनमें व्यापने वाले द्रव्य में इसकी प्रत्यभिज्ञा के होने का किसके द्वारा निवारण किया जा सकता है। अर्थात् उन पर्यायों में रहने वाले द्रव्य विषय के प्रत्यभिज्ञान को कोई नहीं रोक सकता है॥४५॥

जो मैं पहले बालक था, वही मैं कुमार अवस्था में था, तथा जो मैं युवा था अथवा मध्यम उम्र का था, वही मैं इस समय बूढ़ा हो गया हूँ-ऐसी प्रतीति होती है, मतिज्ञानावरण का विशेष क्षयोपशम होने से यह आत्मा अनेक वर्षों की पर्यायों को भी जान सकता है, क्योंकि क्षयोपशम के अनुसार स्मरण की गई पूर्व पर्यायों में रहने वाले द्रव्य का प्रत्यभिज्ञान हो जाता है॥४६॥ अर्थात् द्रव्य अनन्त पर्यायों का पिण्ड है, अत: पूर्व पर्यायों से युक्त द्रव्य को प्रत्यभिज्ञान जान लेता है।

स्वयं अनुभव किये गये अनन्त भेद-प्रभेदों में प्रत्यभिज्ञान की कारणभूत स्मृति पूर्णरूप से क्यों नहीं होती है? ऐसा प्रश्न उठाना युक्त नहीं है॥ ४७ ॥ क्योंकि वैसे अंश-उपांशों के स्मरण करने की योग्यता नहीं है। जिन जीवों में भेद-प्रभेदों को स्मरण करने की क्षयोपशमरूप योग्यता विद्यमान है उन पर्यायों को तो सब अंशों का स्मरण हो ही जाता है। इस प्रकरण में नियत स्मृति होने का कारण स्मृति ज्ञानावरण का क्षयोपशम विशेष है, उसमें अन्य (अध्ययन, अभ्यास आदि) सभी हेतु व्यभिचारी देखे जाते हैं अत: स्मरण का अंतरंग अव्यभिचारी कारण योग्यतारूप क्षयोपशम ही है॥४८॥

स्मरणस्य हि नानुभवनमात्रं कारणं सर्वस्य सर्वत्र स्वानुभूतेर्थे स्मरणप्रसंगात्। नापि दृष्टसजातीयदर्शनं तस्मिन् सत्यपि कस्यचित्तदनुपपत्तेर्वासनाप्रबोध: कारणमिति चेत्, कुत: स्यात्। दृष्टसजातीयदर्शनादिति चेन्न, तद्भावेपि तदभावात्। एतेनार्थत्वादिस्तद्धेतु: प्रत्याख्यात:, सर्वस्य दृष्टस्य हेतोर्व्यभिचारात्। तदविद्यावासनाप्रहाणं तत्कारणमितिचेत् , सैव योग्यता स्मरणावरणक्षयोपशमलक्षणा तस्यां च सत्यां सदुपयोगविशेषा वासना प्रबोध इति नाममात्रं भिद्यते। ततो यत्रार्थेनुभव: प्रवृत्तस्तत्र स्मरणावरणक्षयोपशमे सत्यंतरंगे हेतौ बहिरंगे च दृष्टसजातीयदर्शनादौ स्मरणस्योत्पत्तिर्न पुनस्तदभावेतिप्रसंगादिति नानादिद्रव्यपर्यायेषु स्वयमनुभूतेष्वपि कस्यचित्स्मरणं, नापि प्रत्यभिज्ञानं तन्निबंधनं तस्य यथा स्मरणं तथा प्रत्यभिज्ञानावरणक्षयोपशमं च

पदार्थों का केवल अनुभव कर लेना ही स्मरण का कारण नहीं है क्योंकि ऐसा मानने पर सभी जीवों के अपने अनुभूत विषयों में सर्वत्र स्मरण होने का प्रसंग आएगा, (किन्तु सभी देखी, जानी हुई वस्तुओं का स्मरण नहीं होता है), तथा देखे हुए पदार्थ के समानजाति वाले अन्य किसी पदार्थ का दिख जाना भी स्मरण का कारण नहीं है क्योंकि उस सजातीय पदार्थ का दर्शन होने पर भी किसी-किसी केस्मरणज्ञान नहीं होता है। यदि स्मरण का कारण पहले लगी हुई वासनाओं का जागृत होना है, तो वह वासनाओं का प्रबोध किस निमित्त से होता है? देखे हुए पदार्थ के सजातीय पदार्थ को देखने से वासना का उद्‌बोध होना मानना तो ठीक नहीं है क्योंकि उस सजातीय के देखने पर भी किसी की वे वासनायें प्रबुद्ध नहीं हो पाती हैं। इस कथन से किसी देखी हुई वस्तु की अभिलाषा रखना, प्रकरण प्राप्त हो जाना हेतु का भी खण्डन कर दिया गया है। क्योंकि सभी देखे हुए हेतुओं का अन्वयव्यभिचार और व्यतिरेकिव्यभिचार पाया जाता है।

यदि उस स्मरणीय पदार्थ की लगी हुई अविद्यावासना का प्रकृष्ट नाश हो जाना ही स्मरण का कारण माना जाता है, तो वही योग्यता स्मरणावरण कर्म का क्षयोपशम स्वरूप इष्ट है। और उस योग्यता के होने पर श्रेष्ठ उपयोग विशेषरूप वासना का प्रबोध हो जाता है। इस कथन में केवल नाम का भेद है (अर्थ से कोई भेद नहीं है)। अत: जिस अर्थ में अनुभव की प्रवृत्ति है, वहाँ स्मरणावरण का क्षयोपशमस्वरूप अंतरंग कारण और दृष्टपदार्थ के सजातीय अर्थ का दर्शन, अभिलाषा आदिक बहिरंग कारणों के होने पर स्मरण की उत्पत्ति हो जाती है। स्मरणावरण कर्म के क्षयोपशम रूप योग्यता के अभाव में स्मृति नहीं होती है। अन्यथा अतिप्रसंग दोष आता है (अर्थात् देखे हुए सब पदार्थों का या अदृष्टपदार्थों का भी स्मरण होने का प्रसंग आयेगा)।

स्वयं अनुभूत अनादिकाल के द्रव्य की पर्यायों में किसी को भी सभी पर्यायों का स्मरण नहीं होता है तथा उस स्मरण को कारण मानकर होने वाला प्रत्यभिज्ञान भी सभी पर्यायों में नहीं हो पाता है क्योंकि स्मरण के अनुसार और प्रत्यभिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशमरूप अंतरंग कारण के अनुकूल होने पर उस प्रत्यभिज्ञान का जन्म होता है अत: उस प्रत्यभिज्ञान की विचित्रता युक्तियों से सिद्ध है, क्योंकि उस प्रत्यभिज्ञान का आवरण करने वाले कर्म के क्षयोपशमस्वरूप योग्यतायें विलक्षण प्रकार की हैं तो कार्यों के विचित्र होने में क्यों आश्चर्य है? कार्यों से ही तो कारणों का अनुमान किया जाता है। फिर वह विचित्र प्रकार

प्रादुर्भावादुपपन्नं तद्वैचित्र्यं योग्यतायास्तदावरणक्षयोपशमलक्षणाया वैचित्र्यात्॥

कुतः पुनर्विचित्रा योग्यता स्यादित्युच्यते;—

मलावृतमणेर्व्यक्तिर्यथानेकविधेक्ष्यते। कर्मावृतात्मनस्तद्वद्योग्यता विविधा न किम्॥४९॥

स्वावरणविगमस्य वैचित्र्यान्मणेरिवात्मनः स्वरूपाभिव्यक्तिवैचित्र्यं न हि तद्विरुद्धं। तद्विगमस्तु स्वकारणविशेषवैचित्र्यादुपपद्यते। तद्विगमकारणं पुनर्द्रव्यक्षेत्रकालभवभावलक्षणं यदन्वयव्यतिरेकस्तत्संभावनेति पर्याप्तं प्रपंचेन। सादृश्यैकत्वप्रत्यभिज्ञानयोः सर्वथा निरवद्यत्वात्॥

नन्वस्त्वेकत्वसादृश्यप्रतीतिर्नार्थगोचरा। संवादाभावतो व्योमकेशपाशप्रतीतिवत्॥५०॥

सादृश्यप्रत्यभिज्ञैकत्वप्रत्यभिज्ञा च नास्माभिरपह्नूयते तथा प्रतीतेः, केवलं सानर्थविषया संवादाभावादाकाशकेशपाशप्रतिभासनवदिति चेत्—

तत्र यो नाम संवादः प्रमाणांतरसंगमः। सोध्यक्षेपि न संभाव्य इति ते क्व प्रमाणता॥५१॥

की योग्यता किस निमित्त से होती है? ऐसी जिज्ञासा होने पर आचार्य कहते हैं-

जैसे मल से ढकी हुई मणि की मल के तारतम्य से दूर हो जाने पर अनेक प्रकार की अभिव्यक्ति (स्वच्छता) देखी जाती है, उसी प्रकार पूर्वबद्ध कर्म से ढकी हुई आत्मा की क्षयोपशमरूप योग्यता भी नाना प्रकार की क्यों न होगी? अवश्य ही होगी॥४९॥

स्वकीय आवरणों के दूर होने की विचित्रता से मणि का स्वच्छभाव जैसे विचित्र प्रकार का हो जाता है, उसी प्रकार कर्मों द्वारा आवृत ज्ञानमय आत्मा के स्वरूप के प्रकट होने रूप योग्यता भी अनेक प्रकार की है, अतः वह आत्मा के स्वरूप की विचित्रता विरुद्ध नहीं है।

आत्मा से लगे हुए उन कर्मों का वियोग होना तोअपने कारणविशेषों की विचित्रता से बन जाता है। उन आवरणों के उपशम, क्षय, क्षयोपशमरूप वियोग का कारण फिर वे द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भावस्वरूप पदार्थ माने गए हैं, जिनके साथ अन्वय, व्यतिरेक होता है उसमें योग्यता की सम्भावना है, अतः इसका विस्तार करना अनुचित है। यहाँ तक सादृश्य प्रत्यभिज्ञान और एकत्वप्रत्यभिज्ञान की सभी प्रकार निर्दोष हो जाने से सिद्धि की गई है।

बौद्ध शंका : (द्रव्य की भूत और वर्तमान पर्यायों में रहने वाले) एकत्व तथा (समान पर्यायों में रहने वाले) सादृश्य को जानने वाली प्रत्यभिज्ञानरूप प्रतीति तो वास्तविक अर्थ को विषय करने वाली नहीं है, क्योंकि उन प्रतीतियों में संवाद का अभाव है जैसे कि आकाश के केशों की गुंथी हुई चोटी को जानने वाली प्रतीति अर्थ को विषय नहीं करती है॥ ५० ॥

सादृश्य प्रत्यभिज्ञान और एकत्व प्रत्यभिज्ञान को हम छिपाते नहीं हैं क्योंकि ऐसा ज्ञान होना प्रतीत होता है। वह प्रत्यभिज्ञान केवल सम्वाद नहीं होने के कारण वास्तविक अर्थ को विषय करने वाला नहीं है। जैसे आकाश की चोटी को जानने वाला ज्ञान वस्तुभूत अर्थ को विषय नहीं करता है, बौद्ध के इस प्रकार कहने पर ग्रन्थकार कहते हैं कि यहाँ पर जो प्रमाणान्तर के संगम रूप संवाद है, वह प्रत्यक्ष ज्ञान में सम्भव नहीं है अतः प्रत्यक्षज्ञान में प्रमाणता कैसे आ सकती है॥ ५१ ॥

प्रत्यक्षविषये तावन्नानुमानस्य संगतिः। तस्य स्वलक्षणे वृत्त्यभावादालंबनात्मनि ॥५२॥

तत्राध्यक्षांतरस्यापि न वृत्तिः क्षणभंगिनि। तथैव सिद्धसंवादस्यानवस्था तथा न किम् ॥५३॥

प्राप्य स्वलक्षणे वृत्तिर्यथाध्यक्षानुमानयोः। प्रत्यक्षस्य तथा किं न संज्ञया संप्रतीयते ॥५४॥

तयालंबितमन्यच्चेत्प्राप्तमन्यत्स्वलक्षणं। प्रत्यक्षेणानुमानेन किं तदेव भवन्मते ॥५५॥

गृहीतप्राप्तयोरेवाध्यारोपाच्चेत्तदेव तत्। समानं प्रत्यभिज्ञायां सर्वे पश्यंतु सद्धियः ॥५६॥

प्रत्यक्ष के द्वारा जाने गये विषय में अनुमान प्रमाण की तो संगति नहीं है क्योंकि प्रत्यक्ष के आलम्बन कारण स्वरूप वस्तुभूत स्वलक्षण में उस अनुमान प्रमाण की वृत्ति का अभाव है अर्थात् बौद्धों के मतानुसार अनुमान ज्ञान अवस्तुभूत सामान्य में रहता है। स्वलक्षण को अनुमान नहीं छूता है ॥५२॥

उस प्रकृत प्रत्यक्ष के क्षणिक विषय में स्वलक्षण को जानने वाले दूसरे प्रत्यक्ष प्रमाण की भी वृत्ति नहीं हो सकती (अर्थात्-बौद्धों ने प्रत्यक्ष का कारण स्वलक्षण माना है। एक ही प्रत्यक्ष को उत्पन्न कराके जब स्वलक्षण नष्ट हो गया तो वह नष्ट स्वलक्षण दूसरे प्रत्यक्ष को कैसे उत्पन्न कर सकता है?)। उसी प्रकार प्रथम प्रत्यक्ष का सम्वादीपना (सत्यपना) दूसरे प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति से माना जाएगा तो संवाद का अनवस्था दोष क्यों नही होगा? अवश्य होगा ॥ ५३ ॥ अर्थात् पूर्व प्रत्यक्ष ज्ञान में संवादता किस ज्ञान से आई? यदि कहो कि इससे पूर्व होने वाले ज्ञान से आई? तो उसमें किससे आई? इस प्रकार प्रश्नमाला की समाप्ति न होने से अनवस्था दोष आता है।

(बौद्धों के मत में ज्ञान जिस विषय को जानता है, उसको आलम्बन कारण कहते हैं और ज्ञान से जानकर जिसको हस्तगत किया जाता है, वह प्राप्त करने योग्य स्वलक्षण प्राप्य कहलाता है) प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों में से प्रत्यक्ष ज्ञान के द्वारा जैसे प्राप्त करने योग्य स्वलक्षण वस्तु में ज्ञाता की प्रवृत्ति होना देखा जाता है , उसी प्रकार प्रत्यभिज्ञा के द्वारा वास्तविक स्वलक्षण में प्रवृत्ति होना क्या नहीं देखा जाता है? अर्थात् प्रत्यभिज्ञान से भी उस ही या उसके सदृश पुस्तक आदि वस्तुओं में प्रमाताओं की प्रवृत्तियाँ होती हुई प्रतीत होती हैं॥ ५४ ॥

उस प्रत्यभिज्ञान से अवलम्बित पदार्थ अन्य है और प्रत्यभिज्ञान से जानकर पुनः प्राप्त किया गया स्वलक्षण पदार्थ भिन्न है (अत: प्रत्यक्ष का दृष्टांत सम नहीं है)। इस प्रकार बौद्धों के कहने पर तो आचार्य कहते हैं कि आपके मत में प्रत्यक्ष अथवा अनुमान प्रमाण के द्वारा क्या वह का वही पदार्थ प्राप्त किया जाता है? अर्थात् प्रत्यक्ष के द्वारा ज्ञात पदार्थ अनुमान का विषय नहीं हो सकता क्योंकि वह दूसरे क्षण में नष्ट हो जाता है ॥५५॥

(बौद्ध) ज्ञान के द्वारा ग्रहण किये गये आलम्बन पदार्थ और हस्त प्राप्त किये गये स्वलक्षण वस्तु के एकपन का अध्यारोप कर देने से वह आलम्बन करने योग्य ही पदार्थ प्राप्त किया जाता है। ऐसा कहने पर ग्रन्थकार कहते हैं कि प्रत्यभिज्ञान में भी वह समान है। सभी श्रेष्ठ बुद्धि वाले उसको देखें, अनुभव करें। अर्थात् प्रत्यभिज्ञान के द्वारा भी जानी हुई वस्तु प्रवृत्ति कर लेने पर प्राप्त कर ली जाती है। यहाँ भी ज्ञात और प्राप्तव्य अर्थ का एकत्वारोप सुलभ है ॥५६॥

प्रत्यभिज्ञानुमानत्वे प्रमाणं नान्यथेत्यपि। तत्र युक्तानुमानस्योत्थानाभावप्रसंगतः ।।५७।।

तत्र लिंगे तदेवेदमिति ज्ञानं निबंधनम्। लैंगिकस्यानुमानं चेदनवस्था प्रसज्यते।।५८।।

लिंगप्रत्यवमर्शेण विना नास्त्येव लैंगिकम्। विभिन्नः सोनुमानाच्चेत्प्रमाणांतरमागतम्।।५९।।

न हि लिंगप्रत्यवगमो प्रमाणं ततो व्याप्तिव्यवहारकालभावलिंगसादृश्याव्यवस्थितिप्रसंगात्। तथा चानुमानोदयासंभवस्तत्संभवेतिप्रसंगात्। अप्रमाणात्तदव्यवस्थितौ प्रमाणानर्थक्यप्रसंग इत्युक्तं। ततोनुमानं

प्रत्यभिज्ञान अन्यथा (दूसरा) प्रमाण नहीं है, क्योंकि वह प्रत्यभिज्ञान प्रमाण अनुमान में गर्भित है। ऐसा कहना भी युक्त नहीं है, क्योंकि ऐसा होने पर अनुमान प्रमाण की उत्पत्ति के अभाव का प्रसंग आता है॥ ५७ ॥

क्योंकि उस अनुमान में "यह वही हेतु है" जो साध्य के साथ व्याप्ति रखने वाला है; इस प्रकार का प्रत्यभिज्ञान कारण है। अतः इस प्रत्यभिज्ञान को पुनः अनुमान मानोगे तो उस अनुमान में भी यह वही हेतु है ऐसे प्रत्यभिज्ञान की आकांक्षा होने से अनवस्था दोष हो जाने का प्रसंग आता है॥ ५८ ॥

हेतु का प्रत्यभिज्ञान (विचार) किये बिना लिङ्गजन्य अनुमान ज्ञान नहीं हो सकता अतः अनवस्था दोष के निवारणार्थ वह लिंग का परामर्श करना रूप प्रत्यभिज्ञान यदि अनुमान से सर्वथा अछूता भिन्न प्रमाण माना जाएगा, तब तो बौद्धों को तीसरे पृथक् प्रमाण का प्रसंग आयेगा अर्थात् प्रमाणान्तर की सिद्धि होगी (किन्तु बौद्धों ने प्रत्यक्ष और अनुमान दो ही प्रमाण माने हैं)॥ ५९ ॥

"यह वैसा ही हेतु है" ऐसा लिङ्ग का प्रत्यभिज्ञान करना अप्रमाण नहीं है, क्योंकि इसको अप्रमाण मानने पर उस प्रत्यभिज्ञान से व्याप्ति, व्यवहारकाल भावि लिंग के सादृश्य की व्यवस्था नहीं हो सकने का प्रसंग आता है। और वैसा होने पर अनुमान की उत्पत्ति होना असम्भव हो जाती है। फिर भी अप्रमाण प्रत्यभिज्ञान से उस अनुमान की उत्पत्ति मानोगे तो अतिप्रसंग दोष आता है क्योंकि, अप्रमाण ज्ञान से जाने गए हेतु से उस सदृशपन की व्यवस्था होना मानने पर प्रमाण ज्ञानों की व्यर्थता का प्रसंग आता है। यह हम पहले भी कह चुके हैं अतः प्रत्यभिज्ञान अनुमान प्रमाणस्वरूप नहीं है।

शंका : फिर क्या है?

समाधान : प्रत्यक्ष के समान अपने द्वारा ज्ञात कर लिये गये विषय में सफल प्रवृत्ति करा देने वाला (संवादक) होने से स्वतंत्र प्रमाण है। दर्शन करने योग्य आलम्बन और पीछे प्राप्त करने योग्य स्वलक्षण में एकता का अध्यारोप करके अन्य प्रमाणों की संगति होना स्वरूप संवाद जैसा प्रत्यक्ष प्रमाण में है, वैसा संवाद इस संज्ञा (प्रत्यभिज्ञान) में भी असिद्ध नहीं है। अथवा ऐसा नहीं मानेंगे तो प्रत्यक्ष और अनुमान में भी उस संवाद की असिद्धि का प्रसंग आएगा।

इस उक्त कथन से अर्थक्रिया में स्थिति करा देने रूप अविसम्वाद है, उसके न होने से प्रत्यभिज्ञा प्रमाण नहीं है। इस कथन का भी खण्डन कर दिया गया है क्योंकि, प्रत्यभिज्ञान को अप्रमाण मान लेने पर प्रत्यक्ष आदिकों के अप्रमाणपन का प्रसंग आता है।

प्रत्यभिज्ञानं। किं तर्हि प्रमाणांतरं संवादकत्वात् प्रत्यक्षादिवत्। न हि दृश्यप्राप्ययोरेकत्वाध्यारोपेण प्रमाणांतरसंगमलक्षण: संवाद: संज्ञायामसिद्ध:, प्रत्यक्षादावपि तदसिद्धिप्रसंगात्। एतेनार्थक्रियास्थितिरविसंवादस्तदभावान्न प्रत्यभिज्ञाप्रमाणमित्यपि प्रत्युक्तं। तत एव प्रत्यक्षादेरप्रमाणत्वप्रसंगात्। प्रतिपत्तु: परितोषात्संवादस्तत्र प्रमाणतां व्यवस्थापयतीति चेत् , प्रत्यभिज्ञानेपि । न हि तत: प्रवृत्तस्यार्थक्रियास्थितौ परितोषो नास्तीति। यदि पुन: बाधकाभाव: संवादस्तदभावान्न प्रत्यभिज्ञा प्रमाणमिति मतं तदा न सिद्धो हेतु: संवादाभावादिति। तथाहि—

संवादो बाधवैधुर्यनिश्चयश्चेत्स विद्यते। सर्वत्र प्रत्यभिज्ञाने प्रत्यक्षादाविवांजसा ॥६०॥

प्रत्यक्षं बाधकं तावन्न संज्ञानस्य जातुचित्। तद्भिन्नगोचरत्वेन परलोकमतेरिव ॥६१॥

यत्र प्रवर्तते ज्ञानं स्वयं तत्रैव साधकम्। बाधकं वा परस्य स्यान्नान्यत्रातिप्रसंगत: ॥६२॥

अदृश्यानुपलब्धिश्च बाधिका तस्य न प्रमा। दृश्या दृष्टिस्तु सर्वत्रासिद्धा तद्गोचरे सदा ॥६३॥

अर्थ को समझने वाले प्रतिपत्ता (ज्ञाता) को संतोष हो जाने से उन प्रत्यक्ष आदिकों में संवाद हो जाता है और वह संवाद प्रत्यक्ष आदिकों में प्रमाणता की व्यवस्था करा देता है, इस प्रकार कहने पर तो प्रत्यभिज्ञान में भी ज्ञाता को संतोष हो जाने से प्रमाणता आ जाएगी क्योंकि उस प्रत्यभिज्ञान से अर्थ को जानकर परिचित पदार्थ अर्थक्रिया की स्थिति में प्रवृत्त हुए ज्ञाता को संतोष नहीं है-ऐसा नहीं है अपितु अर्थक्रियास्थिति में अधिक परितोष मिलता है। यदि कहो कि उस प्रमाण के विषय में बाधक प्रमाणों का उत्पन्न नहीं होना ही संवाद है, उस संवाद के न होने से प्रत्यभिज्ञा प्रमाण नहीं है तो ऐसा मानने पर तो बौद्धों का संवादाभावरूप हेतु सिद्ध नहीं होता है। अत: स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास है, क्योंकि प्रत्यभिज्ञान के विषय का कोई बाधक प्रमाण नहीं है। अत: बाधकाभावरूप संवाद का अभाव हेतु प्रत्यभिज्ञारूपपक्ष में स्थित नहीं है।

तथाहि-अन्य बाधक प्रमाणों के अभाव का निश्चय हो जाना यदि संवाद कहा जाता है तो वह संवाद प्रत्यक्ष आदि के समान सभी प्रत्यभिज्ञानों में निर्विघ्न विद्यमान है, क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण तो प्रत्यभिज्ञान का कभी भी बाधक नहीं हो सकता क्योंकि प्रत्यभिज्ञान द्वारा जाने गए विषय से भिन्न पदार्थ को प्रत्यक्षज्ञान विषय करता है। जैसे कि अनुमान द्वारा हुई परलोक की ज्ञप्ति का बाधक प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं होता है।

जो ज्ञान जिस विषय में स्वयं प्रवृत्ति करता है, वह ज्ञान उसी विषय में साधक अथवा बाधक हो सकता है। दूसरा ज्ञान अपने अविषय में साधक या परपक्ष का बाधक नहीं हो सकता। अन्यथा अतिप्रसंग दोष आता है। अर्थात् अविषयक ज्ञान बाधक होग तो प्रत्यक्ष भी बाधक हो जाएगा॥ ६०-६१-६२ ॥

नहीं देखने योग्य पदार्थों की अनुपलब्धि उस प्रत्यभिज्ञान की बाधक नहीं है (अर्थात् अभाव को जानने में अदृश्यानुपलब्धि प्रमाण नहीं मानी गई है अत: अदृश्यानुपलब्धि तो प्रत्यभिज्ञान की बाधक नहीं है) तथा उस प्रत्यभिज्ञान के विषय में दृश्य की अनुपलब्धि सर्वत्र सर्वदा असिद्ध है ॥६३॥

तदेवं न प्रत्यक्षस्वभावानुपलब्धिर्वा बाधिका ।।

यत्सत्तत्सर्वं क्षणिकं सर्वथैव विलक्षणं। ततोऽन्यत्र प्रतीघातात्सत्त्वस्यार्थक्रियाक्षते: ।।६४।।

अर्थक्रियाक्षतिस्तत्र क्रमवृत्तिविरोधत:। तद्विरोधस्ततोनंश: स्यान्नापेक्षाविघातत: ।।६५।।

इतीयं व्यापका दृष्टिर्नित्यत्वं हंति वस्तुन:। सादृश्यं च तत: संज्ञा बाधिकेत्यपि दुर्घटम् ।।६६।।

सत्त्वमिदमर्थक्रिया व्याप्तं सा च क्रमाक्रमाभ्यां तौ वा क्षणिकात्सदृशाच्च निवर्तमानौ स्वव्याप्यामर्थक्रियां निवर्तयत:। सा निवर्तमाना स्वव्याप्यं सत्त्वं निवर्तयतीति व्यापकानुपलब्धिर्नित्यस्यासत्त्वं सर्वथा सादृश्यं च साधयंती नित्यत्वसादृश्यविषयस्य प्रत्यभिज्ञानस्य बाधिकास्तीति केचित्। तदेतदपि दुर्घटम्। कुत:—

भावार्थ : प्रत्यभिज्ञान के विषय दृष्टव्य अर्थ का सर्वत्र सर्वदा उपलम्भ हो रहा है, अनुपलम्भ नहीं है।

अत: प्रत्यक्ष योग्य स्वभाव वाले अर्थ की अनुपलब्धि तो प्रत्यभिज्ञान को बाधा करने वाली नहीं है।

बौद्ध कहते हैं कि जो सत् हैं, वे सभी क्षणिक हैं अर्थात् नित्य नहीं हैं। अथवा जो जो सत् है वह सभी प्रकार से एक दूसरे से विलक्षण है, अर्थात् कोई भी किसी के सदृश नहीं है, उससे अतिरिक्त अन्य स्थानों में सत् का व्याघात हो जाने से अर्थक्रिया की क्षति है। अर्थात् व्यापक अर्थक्रिया से सत्त्व व्याप्त है। नित्य या सदृश पदार्थ में अर्थक्रिया न होने से परमार्थ सत् का व्याघात हो जाता है, तथा उस सर्वथा नित्य या सदृश पदार्थ में क्रम और युगपत् से प्रवृत्ति होने का विरोध होने से अर्थक्रिया की हानि हो जाती है।

भावार्थ : अर्थ में क्रम या यौगपद्य प्रवृत्ति होने से अर्थक्रिया व्याप्त है। नित्यपदार्थ में क्रम और युगपत्पन प्रवृत्ति नहीं होती है अत: अर्थक्रिया भी नहीं हो सकती। व्यापक के न होने पर व्याप्य भी नहीं रहता है, क्योंकि उस नित्य के साथ अर्थक्रिया का विरोध है, तथा अंशों से रहित क्षणिक का अन्य कारणों की अपेक्षा से विघात होता है। इस प्रकार यह व्यापक की अनुपलब्धि वस्तु के नित्यपन और सदृशपन को नष्ट कर देती है। अत: व्यापकानुपलब्धि इन एकत्व प्रत्यभिज्ञान और सादृश्य प्रत्यभिज्ञान की बाधक है। आचार्य कहते हैं कि यह भी बौद्धों का कहना घटित नहीं हो सकता है।।६४-६५-६६।।

बौद्धों का कथन है कि यह वस्तुभूत पदार्थों का सत्त्व अर्थक्रिया से व्याप्त है। तथा वह अर्थक्रिया क्रम से और अक्रम से व्याप्त है। ऐसी दशा में क्रम और अक्रम सर्वथा नित्य पदार्थ और सदृश पदार्थों से निर्वृत्त होते हुए अपने से व्याप्य अर्थक्रिया को भी निवृत्त करा देते हैं और वह अर्थक्रिया जब नित्य पदार्थ से निवृत्त हो जाती है, तब अपने व्याप्य सत्त्व को भी उस कूटस्थ से निवृत्त करा लेती है।

इस प्रकार व्यापक की अनुपलब्धि कूटस्थ नित्य के असत्त्व का और सभी प्रकार असादृश्य का साधन कराती हुई नित्यत्व और सादृश्य का विषय करने वाले प्रत्यभिज्ञान की बाधक बन जाती है।

भावार्थ : वह्नि की अनुपलब्धि से जैसे धूम का अभाव सिद्ध हो जाता है उसी प्रकार क्रमयौगपद्य या अर्थक्रिया की अनुपलब्धि से नित्य या सदृश अर्थ में सत्ता का अभाव सिद्ध हो जाता है। इसलिए

क्षणप्रध्वंसिनः संतः सर्वथैव विलक्षणाः। इति व्याप्तेरसिद्धत्वाद्विप्रकृष्टार्थशंकिनाम्॥६७॥

नित्यानां विप्रकृष्टानामभावे भावनिश्चयात्। कुतश्चिद्व्याप्तिसंसिद्धिराश्रयेत यदा तदा॥६८॥

नेदं नैरात्मकं जीवच्छरीरमिति साधयेत्। प्राणादिमत्त्वतोस्यैवं व्यतिरेकप्रसिद्धतः॥६९॥

यथा विप्रकृष्टानां नित्याद्यर्थानामभावे सत्त्वस्य हेतोः सद्बाधनिश्चयस्तद्व्याप्तिसिद्धिनिबंधनं तथा विप्रकृष्टस्यात्मनः पाषाणादिस्वभावे प्राणादिमत्त्वस्य हेतोरभावनिश्चयोपि तद्व्याप्तिसिद्धेर्निबंधनं किं न भवेत्? यतो व्यतिरेक्यपि हेतुर्न स्यात्। न च सत्त्वादस्य विशेषं पश्यामः सर्वथा गमकत्वागमकत्वयोरिति

प्रत्यभिज्ञान के विषय एकपना और सादृश्य ही सिद्ध नहीं हो सकेंगे। अतः अनुपलब्धि प्रमाण से प्रत्यभिज्ञान बाधित हो जाता है इस प्रकार कोई बौद्ध कह रहे हैं। ग्रन्थकार कहते हैं कि ऐसा कहना भी युक्तियों से घटित नहीं होता है (दुर्घट है)। यह कैसे दुर्घट है? उसके बारे में कहते हैं-

स्वभावों से विप्रकृष्ट विरुद्ध पदार्थों के सद्भाव में आशंका करने वालों के यहाँ "जो जो सत् हैं, वे क्षणिक हैं" अथवा "जो जो सत् पदार्थ हैं, वे सर्वथा ही विसदृश हैं" -ऐसी व्याप्ति असिद्ध है।

व्याप्ति का ग्रहण सम्पूर्ण देशकालवर्त्ती साध्य-साधनों के उपसंहार से किया जाता है। अतः बौद्ध अनुमान द्वारा क्षणिकत्व को और विलक्षणता को सिद्ध नहीं कर सकते हैं॥ ६७ ॥

जब कालत्रयवर्त्ती नित्यपदार्थों का और स्वभाव, देश, काल से व्यवधान को प्राप्त विप्रकृष्ट पदार्थों का अभाव मानने पर सत् का निश्चय होता है, तब किसी विपक्षव्यावृत्ति रूप व्यतिरेक के बल से व्याप्ति की सिद्धि होने का आश्रय लेते हैं, ऐसी दशा में यह जीवित शरीर आत्मा रहित नहीं है, क्योंकि श्वास, निश्वास, आदि से सहित है। जो सात्मक नहीं है, वह प्राण आदि से युक्त नहीं है, जैसे घट, पट आदि। इस प्रकार व्यतिरेक की प्रसिद्धि हो जाने से यहाँ आत्मसहितपना सिद्ध कर सकते हैं, किन्तु बौद्धों ने व्यतिरेकी हेतुओं से अनुमान होना माना ही नहीं है॥६८-६९॥ जिस प्रकार विप्रकृष्ट और नित्य पदार्थों के अभाव में सत् हेतु के सद्भाव का निश्चय हो जाता है, और वह निश्चय ही पाषाण आदि में विप्रकृष्ट आत्मा के अभाव होने पर श्वासोच्छ्वास आदि हेतु का अभाव है, यह निश्चय उसके व्याप्ति की सिद्धि का कारण क्यों नहीं होगा? अर्थात् जो जो सत् स्वरूप है वह क्षणिक है अतः नित्यादि पदार्थों का अभाव सिद्ध होता है क्योंकि जो निश्चय होता है, वह सत् नहीं होता। इस प्रकार बौद्ध दर्शन अभाव हेतु सत् के सद्भाव का निश्चय करता है। उसी प्रकार पाषाणादि आत्मा नहीं हैं, क्योंकि श्वासोच्छ्वास आदि नहीं हैं।

यह हेतु पाषाण आदि में आत्मा के अभाव का साधक क्यों नहीं होगा जिससे बौद्धों के यहाँ अन्वयी के समान व्यतिरेकी भी हेतु न हो सके यानी व्यतिरेकी भी हेतु सिद्ध है। सत्त्व हेतु को व्यतिरेक की सामर्थ्य से क्षणिकपन साध्य का बोधक मान लिया जाये और प्राणादिमत्त्व को सात्यकपन को साधने के लिए गमक न माना जाये, इस पक्षपात पूर्ण उक्ति में कोई नियामक नहीं है। हम सत्त्व हेतु से इस प्राणादिमत्त्व का सभी प्रकारों से गमकपन और सर्वथा अज्ञापकपन में कोई विशेष चमत्कार नहीं देख रहे हैं फिर सत्त्व को गमकपना और प्राण आदि सहितपने को अगमकपना क्यों कहा जा रहा है? इस प्रकार प्राणादिमत्त्व और

प्राणादिमत्त्वादेर्व्याप्तिसिद्धिमुपयतां सत्त्वादेरपि तदसिद्धिर्बलादापतत्येव। ततो न क्षणिकत्वं सर्वथा विलक्षणत्वं वार्थानां सिद्ध्यति विरुद्धत्वाच्च हेतोः। तथाहि—

क्षणिकेपि विरुद्ध्येते भावेनंशे क्रमाक्रमौ। स्वार्थक्रिया च सत्त्वं च ततोनेकांतवृत्ति तत् ॥७०॥

सर्वथा क्षणिके न क्रमाक्रमौ परमार्थतः संभवतस्तदसंभवे ज्ञानमात्रमपि स्वकीयार्थक्रियां कुतो व्यवतिष्ठते? यतः सत्त्वं ततो विनिवर्तमानं कथंचित्क्षणिकेनेकांतात्मनि स्थितिमासाद्य तद्विरुद्धं न भवेदित्युक्तोत्तरप्रायं। तथा च किं कुर्यादित्याह;—

निहंति सर्वथैकांतं साधयेत्परिणामिनं। भवेत्तत्र न भावे तत्प्रत्यभिज्ञा कथंचन ॥७१॥

पुद्गल का इतर द्रव्यों से भेद को साधने के लिए दिया गया रूपवत्त्व इत्यादिक व्यतिरेकी हेतुओं की व्याप्ति की सिद्धि को नहीं स्वीकार करने वाले बौद्धों के यहाँ सत्त्व, कृतकत्त्व आदि हेतुओं की भी अपने साध्य क्षणिकपन आदि के साथ उस व्याप्ति का नहीं सिद्ध होना बलात्कार से आ जाता है, अतः पदार्थों का क्षणिकपना और सर्वथा विलक्षणपना सिद्ध नहीं होता है। सत्त्व हेतु की प्रकृतसाध्य के साथ व्याप्ति सिद्ध नहीं हो सकती। बौद्ध क्षणिकपने का सिद्धान्त पुष्ट करने के लिए दिया गया सत्त्व हेतु विरुद्ध हेत्वाभास प्रसिद्ध ही है, इसको कहते हैं–

क्षणिक और निरंश (निरात्मक) भाव में भी क्रम और यौगपद्य नहीं रहता है, तथा उसमें अपने योग्य अर्थक्रिया भी नहीं होती है अर्थात् कूटस्थ के समान निःस्वभाव क्षणिक पदार्थ में भी क्रम और यौगपद्य तथा अर्थक्रिया का होना विरुद्ध है क्योंकि ये अनेक धर्म आत्मक पदार्थ में पाये जाते हैं अतः वह बौद्धों का सत्त्व हेतु विपक्ष में वृत्ति होने से अनैकान्तिक है ॥७०॥

सर्वथा दूसरे क्षण में नाश होने वाले पदार्थ में वास्तविकरूप से क्रम और अक्रम संभव नहीं हैं। (क्रम-अक्रम तो कालान्तरस्थायी पदार्थ में हो सकता है) अतः उन क्रम-अक्रम के असम्भव होने पर ज्ञान मात्र होना भी अपनी अर्थक्रिया में कैसे व्यवस्थित हो सकेगा? जिससे कि उस सर्वथा क्षणिक से निवृत्ति को प्राप्त सत्त्व हेतु अनेकान्तस्वरूप कथंचित् क्षणिकपदार्थ में स्थिति को प्राप्त करके उस क्षणिकपन से विरुद्ध नहीं होता हो? अर्थात् व्यापक के न रहने पर व्याप्य भी नहीं रहता है, अतः कथंचित् क्षणिकपन के साथ व्याप्ति रखने वाला सत्त्व हेतु सर्वथा क्षणिकत्व को साधने में विरुद्ध होता है, अतः बौद्धों के यहाँ माना गया क्षणिकपन सिद्ध नहीं होता है, और भी इस प्रकार की शंकाओं के उत्तर हम पूर्व प्रकरणों में कह चुके हैं।

इस प्रकार जैनों के अनुसार सिद्ध किया गया वह हेतु प्रकरण में क्या करेगा? ऐसी जिज्ञासा होने पर आचार्य कहते हैं-

अतः सत्त्व हेतु से कथंचित् क्षणिकपन और अलग-अलग पदार्थों में कथंचित् सदृशपना सिद्ध हो जाने पर निर्बाध सिद्ध हुई सदृशपन और एकपन को विषय करने वाली प्रत्यभिज्ञा नाम की प्रतीति पदार्थों के सर्वथा नित्यपन अथवा क्षणिकपन के एकान्त को नष्ट करती है, (और पदार्थों के उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यरूपपरिणाम को सिद्ध करती है)। ऐसे अनेकान्त रूप परिणामी पदार्थ में प्रत्यभिज्ञान कैसे सिद्ध नहीं होता है ? अर्थात् अवश्य होता है ॥७१॥

द्रव्यपर्यायात्मनि नित्यात्मके वस्तुनि जात्यंतरपरिणामिन्येव द्रव्यतः प्रत्यभिज्ञा सदृशपरिणामतो संभवति सर्वथा विरोधाभावान्न पुनर्नित्याद्येकांते विरोधसिद्धेः। तथाहि—

नित्यैकांते न सा तावत्पौर्वापर्यवियोगतः। नाशैकांतेपि चैकत्वसादृश्याघटनात्तथा ॥७२॥

नित्यानित्यात्मके त्वर्थे कथंचिदुपलक्ष्यते। जात्यंतरे विरुध्येत प्रत्यभिज्ञा न सर्वथा ॥७३॥

ततो न प्रत्यभिज्ञायाः किंचिद्बाधकमस्तीति बाधाविरहलक्षणस्य संवादस्य सिद्धेरप्रमाणत्वसाधनमयुक्तं। ननु चैकत्वे प्रत्यभिज्ञा तत्सिद्धौ प्रमाणं संवादात्तत्प्रमाणत्वसिद्धौ ततस्तद्विषयस्यैकत्वस्य सिद्धिरित्यन्योन्याश्रयः।

द्रव्य और पर्यायों में तदात्मक कथंचित् नित्य अनित्यस्वरूप तथा पूर्व स्वभाव का त्याग, उत्तर स्वभाव का ग्रहण तथा स्थूल पर्यायों की ध्रुवतास्वरूप ऐसी विलक्षण गति की वस्तु में ही द्रव्यदृष्टि से सदृश परिणाम होने से प्रत्यभिज्ञान संभव है। इसमें सर्वथा विरोध का अभाव है। एकान्त से नित्य का क्षणिक आदि पदार्थों में प्रत्यभिज्ञान नहीं हो सकता है, क्योंकि नित्यादि एकान्त में प्रत्यभिज्ञान के विरोध की सिद्धि है।

तथाहि-पदार्थ को एकान्त से कूटस्थ नित्य मानने पर पूर्वापर का वियोग हो जाने से उसमें प्रत्यभिज्ञा नहीं हो पाती है, तथा सर्वथा क्षण में नाश हो जाने का एकान्त मानने पर भी एकपन और सदृशपन घटित नहीं होता हैं। अतः सर्वथा क्षणिक पक्ष में भी एकत्व का और सादृश्य का विषय करने वाली प्रत्यभिज्ञा नहीं हो सकती है ॥७२॥

स्याद्वादसिद्धान्तानुसार नित्य, अनित्य, एकान्तों से पृथक् जाति वाले कथंचित् नित्य-अनित्य आत्मक अर्थ में प्रत्यभिज्ञान होता है अतः नित्य अनित्य से पृथक् तीसरी जाति वाले अर्थ में प्रत्यभिज्ञान होने का सर्वथा विरोध नहीं है।

भावार्थ : *नित्य द्रव्यों को द्रव्यार्थिकनय विषय करता है और अंश रूप पर्यायों को पर्यायार्थिकनय* जानता है, किन्तु द्रव्य और पर्यायों से तदात्मक जात्यंतर वस्तु को प्रमाण ज्ञान जानता है ॥७३॥

अतः सिद्ध हुआ कि सादृश्य प्रत्यभिज्ञान और एकत्व प्रत्यभिज्ञान का कोई बाधक प्रमाण नहीं है। इसलिए बाधाओं के अभाव से लक्षण संवाद की सिद्धि हो जाने से प्रत्यभिज्ञान में अप्रमाणपन सिद्ध करना युक्त नहीं है।

शंका : उस वस्तुभूत एकत्व की सिद्धि हो जाने पर बाधा से रहित संवाद से प्रत्यभिज्ञान में प्रमाणपना सिद्ध होता है और उस प्रत्यभिज्ञान में प्रमाणपना सिद्ध हो चुकने पर उस प्रमाण के विषयभूत वास्तविक एकत्व की सिद्धि होती है अतः यह परस्पराश्रय दोष है।

यदि दूसरे प्रत्यभिज्ञान से पहले प्रत्यभिज्ञान के विषय एकत्व को सिद्ध किया जाता है, तब तो दूसरे प्रत्यभिज्ञान के विषय की भी अन्य तीसरे आदि प्रत्यभिज्ञानों से सिद्धि होगी तब अनवस्था दोष आयेगा।

समाधान : ग्रन्थकार कहते हैं कि इस प्रकार बौद्धों को नहीं कहना चाहिए क्योंकि ऐसा कहने पर प्रत्यक्ष को भी नील आदि विषयों को जानने में प्रमाणपना साधने पर समान रूप से अन्योन्याश्रय और अनवस्था दोष प्राप्त होते हैं। जैसे वास्तविक नील पदार्थ के सिद्ध हो जाने पर नील प्रत्यक्ष (नील संवेदन)

प्रत्यभिज्ञांतरात्प्रथमप्रत्यभिज्ञाविषयस्य साधने तद्विषयस्यापि प्रत्यभिज्ञांतरात्साधनमित्यनवस्थानमिति चेन्न, प्रत्यक्षस्यापि नीलादौ प्रमाणत्वसाधने समानत्वात्। इतरथा हि—

नीलसंवेदनस्यार्थे नीले सिद्धे प्रमाणता। तत्र तस्यां च सिद्धायां नीलोर्थस्तेन सिद्ध्यति ॥७४॥

इत्यन्योन्याश्रितं नास्ति यथाभ्यासबलात्क्वचित्। स्वतः प्रामाण्यसंसिद्धेरध्यक्षस्वार्थसंविदः ॥७५॥

तदेकत्वस्य संसिद्धौ प्रत्यभिज्ञा तदाश्रया। प्रमाणं तत्प्रमाणत्वे तया वस्त्वेकता गतिः ॥७६॥

इत्यन्योन्याश्रितिर्न स्यात्स्वतः प्रामाण्यसिद्धितः। स्वभ्यासात्प्रत्यभिज्ञायास्ततोन्यत्रानुमानतः ॥७७॥

प्रत्यभिज्ञांतरादाद्यप्रत्यभिज्ञार्थसाधने। यानवस्था समा सापि प्रत्यक्षार्थप्रसाधने ॥७८॥

प्रत्यक्षांतरतः सिद्धा स्वतः सा चेन्निवर्तते। प्रत्यभिज्ञांतरादेतत्तथाभूतान्निवर्तताम् ॥७९॥

के प्रमाणपना आता ह और उस नीलस्वलक्षण में हुए नील ज्ञान की उस प्रमाणता के सिद्ध हो चुकने पर उस प्रमाण ज्ञान से नील स्वलक्षणरूपी अर्थ सिद्ध होता है, यह अन्योन्याश्रय दोष है। (दूसरे आदि प्रत्यक्षों से विषयसिद्धि मानने पर अनवस्था दोष भी आता है) ॥७४॥

यदि बौद्ध कहें कि किसी ज्ञान में प्रमाणपने की सिद्धि यथायोग्य अभ्यास के बल से स्वयं हो जाती है और किसी अर्थ में वस्तुभूतपना भी अभ्यास के सामर्थ्य से स्वयं आ जाता है अतः प्रत्यक्षरूप स्वार्थ सम्वित्ति का प्रमाणपना स्वतः ही अभ्यासवश सिद्ध है अतः अन्योन्याश्रय दोष नहीं है। तो उसी प्रकार हम स्याद्वादी भी कह सकते हैं कि कहीं उस वस्तुभूत एकत्व की समीचीन सिद्धि होने पर उसके आश्रय से प्रत्यभिज्ञान प्रमाण हो जाता है और क्वचित् उस प्रत्यभिज्ञा का प्रमाणपन सिद्ध हो चुकने पर उस प्रमाण आत्मक प्रत्यभिज्ञा के द्वारा वस्तुभूत एकपना जान लिया जाता है। इस प्रकार जैन दर्शन में भी अन्योन्याश्रय दोष नहीं आता है। क्योंकि अभ्यास होने से प्रत्यभिज्ञान को स्वतः ही प्रमाणपना सिद्ध हो जाता है। इस अभ्यास दशा के अतिरिक्त अनभ्यस्त दशा में अनुमान से प्रत्यभिज्ञा को प्रमाणपना सिद्ध कर लिया जाता है।

भावार्थ : वह अनुमान या उसके भी प्रमाणपन के लिए उठाया गया अन्य अनुमान अभ्यासदशा का होने से स्वतः प्रमाणरूप है अतः जैसे बौद्ध दर्शन में प्रत्यक्षज्ञान के प्रमाणत्व में अन्योन्याश्रित दोष नहीं है, वैसे जैनमत में प्रत्यभिज्ञान में भी अन्योन्याश्रित दोष नहीं है ॥७५-७६-७७॥

सर्वप्रथम् उत्पन्न प्रत्यभिज्ञा के विषयभूत अर्थ को सिद्ध करने के लिए दूसरी आदि प्रत्यभिज्ञाओं की आकांक्षा हो जाने से जो सौगत ने अनवस्था दोष कहा था, वह दोष सौगत के प्रत्यक्ष द्वारा अर्थ का समीचीन साधन करने में भी समान ही है अर्थात् पहले प्रत्यक्ष के जाने हुए विषय की सिद्धि अन्य प्रत्यक्ष प्रमाण से की जाएगी और अन्य प्रत्यक्ष के विषय का वास्तविकपना तीसरे आदि प्रत्यक्षों से साधा जाएगा। इस प्रकार अनवस्था दोष आता है। यदि कहो कि अभ्यास दशा के स्वतः सिद्ध प्रामाण्य को रखने वाले अन्य प्रत्यक्ष से आद्यप्रत्यक्ष के विषय का यथार्थपना सिद्ध कर लिया जाता है, अतः अनवस्था दोष निवृत्त हो जाता है तो इस प्रकार हम जैन भी कह सकते हैं कि स्वतः सिद्ध प्रमाणभूत अभ्यास दशा के अन्य प्रत्यभिज्ञान से पहले प्रत्यभिज्ञान का विषय भी वस्तुभूत सिद्ध कर लिया जाता है, अतः अनवस्था दोष निवृत्त हो जाता है ॥७८-७९॥

ततो नैकत्वं प्रत्यभिज्ञानं सावद्यं सर्वदोषपरिहारात्॥

सादृश्यप्रत्यभिज्ञानमेतेनैव विचारितम्। प्रमाणं स्वार्थसंवादादप्रमाणं ततोन्यथा॥८०॥

नन्विदं सादृश्यं पदार्थेभ्यो यदि भिन्नं तदा कुतस्तेषामिति प्रदृश्यते। संबंधत्वाच्चेत्, कः पुनः सादृश्यतद्वतामर्थांतरभूतानामकार्यकारणात्मनां संबंधः? समवाय इति चेत्, कः पुनरसौ? न तावत्पदार्थांतरमनभ्युपगमात्। अविभ्रमद्भाव इति चेत् सर्वात्मनैकदेशेन वा प्रतिव्यक्ति। सर्वात्मना चेत्सादृश्यबहुत्वप्रसंगः। न चैकत्र सादृश्यं तस्यानेकस्वभावत्वात्। यदि पुनरेकदेशेन सादृश्यं व्यक्तिषु समवेतं तदा सावयवत्वं स्यात्। तथा च तस्य सावयवैः संबंधचिंतायां स एव पर्यनुयोग इत्यनवस्था। यदि पुनरभिन्नं

एकत्व को जानने वाला प्रत्यभिज्ञान सदोष नहीं है, क्योंकि प्रतिवादियों द्वारा उठाये गए सम्पूर्ण दोषों का परिहार कर दिया गया है। इस कथन से सादृश्य को विषय करने वाले प्रत्यभिज्ञान का भी विचार किया गया है। अपने और अर्थ के जानने में संवादकत्व होने से वह सादृश्य प्रत्यभिज्ञान प्रमाण होता है और उससे अन्यथा होने पर (यानी सादृश्य प्रत्यभिज्ञान के स्व और सादृश्य विषय में व्यभिचार या बाधा उपस्थित होने पर) वह सादृश्यज्ञान अप्रमाण हो जाता है॥८०॥

बौद्ध : यह सदृशपना यदि पदार्थों से भिन्न है, तब तो उन पदार्थों का यह सादृश्य है, ऐसा कैसे कहा जा सकता है? क्योंकि जो जिससे भिन्न होता है, उन पदार्थों में स्वस्वामी आदि संबंध को कहने वाली षष्ठी विभक्ति नहीं होती है। यदि भेद रहने पर भी सदृश पदार्थ और सादृश्य का संबंध हो जाने से "उनका यह सादृश्य है" यह व्यवहार करेंगे तब तो सर्वथा भिन्न-भिन्न पड़े हुए और कार्यकारणस्वरूप नहीं होने वाले उन सादृश्य और सादृश्यवान अर्थों का फिर कौनसा संबंध माना जायेगा?

यदि सदृश और सादृश्य का समवाय संबंध है, ऐसा कहोगे तो वह समवाय क्या पदार्थ है? वैशेषिकों के समान स्वतंत्र पृथक् पदार्थ तो समवाय है नहीं क्योंकि जैनों ने वैशेषिकों के समवाय को स्वीकार नहीं किया है।

बौद्ध : वह समवाय यदि अविष्वग्भावरूप है यानी पृथग्भाव न होने देना स्वरूप है तब तो वह सादृश्य सम्पूर्ण अंशों में रहता है? या एकदेश में रहता है? यदि गौ आदि प्रत्येक व्यक्तियों में पूर्ण रूप से सादृश्य रहता है तब तो बहुत से सादृश्य होने का प्रसंग आयेगा क्योंकि जो अनेक व्यक्तियों में प्रत्येक में पूरे भागों में रहता है, वह एक नहीं अनेक है। एक ही व्यक्ति में पूरे अंशों से जब सादृश्य रह जाता है तो उस एक ही में रहने वाले को सदृशपना प्राप्त नहीं हो सकता क्योंकि वह सादृश्य तो अनेक स्वभाव रूप है अर्थात् सादृश्य दो आदि व्यक्तियों में रहता है, एक में नहीं। यदि फिर एक ही सादृश्य का अनेक व्यक्तियों में एक-एक देश से समवाय संबंध द्वारा रहना मानोगे तब तो वह सादृश्य अपने एक एकदेशरूप अवयवों से सहित होने से सावयवी हो जायेगा और वैसा होने पर उस सादृश्य का अपने अवयवों के साथ पुनः संबंध का विचार होने पर प्रश्न खड़ा रहेगा। इस प्रकार अनवस्था दोष आयेगा अतः सदृश पदार्थों से भिन्न सादृश्य की सिद्धि नहीं हो सकती।

सादृश्यमर्थेभ्योऽभ्युपगम्यते तदापि तस्यैकत्वे तदभिन्नानामर्थानामेकत्वापत्तिरेकस्मादभिन्नानां सर्वथा नानात्वविरोधात्। पदार्थनानात्ववद्वा तस्य नानात्वेभ्योऽनर्थांतरस्य सर्वथैकत्वविरोधात्। तथा चोभयोरपि पक्षयो: सादृश्यासम्भव:। सादृश्यवतां सर्वथैकत्वे तत्र सादृश्यानवस्थानात्। सादृश्यं सर्वथा नानाचेत् सादृश्यरूपतानुपपत्ते:। सादृश्यमर्थेभ्यो भिन्नाभिन्नमिति युक्तं विरोधादुभयदोषानुषंगाच्च। तदर्थेभ्यो येनात्मना भिन्नं तेनैवाभिन्नं विरुध्यते। परेण भिन्नं तदन्येनाभिन्नमित्यवधारणात्तदुभयदोषप्रसक्ति:। संशयवैयधिकरण्यादयोपि दोषास्तत्र दुर्निवारा एवेति सादृश्यस्य विचारासहत्वात् कल्पनारोपितत्वमेव तद्विषयं च प्रत्यभिज्ञानं स्वार्थे

यदि पुन: सदृश अर्थों से सादृश्य को अभिन्न स्वीकार करते हैं तो भी उस सादृश्य को यदि एक माना जायेगा तो उस सादृश्य से अभिन्न अर्थों के भी एकपन का प्रसंग आयेगा क्योंकि जो एक पदार्थ से अभिन्न है, उनके सर्वथा अनेकपन का विरोध है। अथवा अभेदपक्ष में पदार्थों के अनेकपन के समान उस सादृश्य को भी अनेकपने का प्रसंग आयेगा। अनेक से अभिन्न पदार्थ को सभी प्रकार एकपन हो जाने का विरोध है, अत: उक्त प्रकार से भिन्न-अभिन्न दोनों भी पक्षों में सादृश्य का बनना असम्भव है। सादृश्य वाले (घट आदि) पदार्थों को सर्वथा एक हो जाना मानने पर तो उस एक में सदृशपना व्यवस्थित नहीं हो सकता (क्योंकि सदृशपना दो में रहता है, एक में नहीं अत: एक ही में रहने वाला सादृश्य नहीं होता है)। यदि सादृश्य को (व्यक्तियों के समान) सर्वथा अनेक मानते हो तो उसको सादृश्यरूपपने की अनुपपत्ति होगी। अर्थात् उनमें सादृशपना नहीं रह सकता।

बौद्ध : सादृश्य को अर्थों से भिन्न और अभिन्न यह कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि एक ही धर्म को भिन्न और अभिन्न कहने में विरोध दोष और उभय नाम के दोष का प्रसंग आता है। वह सादृश्य सदृश अर्थों से जिस स्वरूप से भिन्न है, उसी स्वरूप से अभिन्न कहना यह विरुद्ध है।

यदि वह सादृश्य दूसरे स्वभावों से भिन्न है और उनसे पृथक् अन्य तीसरे स्वभावों से अभिन्न है, ऐसा कहते हैं तो उभय नाम के दोष का प्रसंग आता है तथा उस भेद-अभेद पक्ष में संशय[१], वैयधिकरण[२], संकर[३], व्यतिकर[४], अनवस्था[५], अप्रतिपत्ति[६], अभाव[७]-इन दोषों का भी कठिनता से ही निवारण हो सकेगा अत: उक्त प्रक्रिया से तुम्हारा माना हुआ सादृश्य पदार्थ विचारों को सहज नहीं कर सकता है। इसलिए सादृश्य कल्पना आरोपित है (वस्तुभूत नहीं है)। तथा सादृश्य का विषय करने वाला प्रत्यभिज्ञान स्वकीय

१. वस्तु के स्वरूप का निर्णय नहीं करना, चित्त को डाँवाडोल रखना **संशय** है।

२. भेद और अभेद का नियम करने वाले स्वभावों का भिन्न अधिकरण होना **वैयधिकरण** है।

३. भेद और अभेद का एकमेक हो जाना **संकर** दोष है।

४. परस्पर में विषय गमन करना **व्यतिकर** है।

५. वस्तु का निर्णय नहीं होना, एक हेतु का कथन करके उससे वस्तु की सिद्धि नहीं होने से, दूसरा हेतु कहना, इस प्रकार हेतु की कांक्षा बढ़ते रहना **अनवस्था** दोष है।

६. वस्तु के समझने का उपाय शेष न रहने से धर्म अधर्म की प्रतिपत्ति नहीं होना **अप्रतिपत्ति** है।

७. वस्तु को सिद्ध करने का साधन नहीं होना **अभाव** अप्रमाण है।

संवादशून्यं न प्रमाणं नामातिप्रसंगात्। कल्पनारोपितादेव स्वार्थसंवादात्प्रमाणत्वे मनोराज्यादिविकल्पकलापस्य प्रमाणत्वानुषंगात् तादृक्संवादस्य सद्भावादिति कश्चित् तं प्रत्याह;—

भेदाभेदविकल्पाभ्यां सादृश्यं येन दूष्यते। वैसादृश्यं कुतस्तस्य पदार्थानां प्रसिद्ध्यतु ॥८१॥

विसदृशानां भावो हि वैसादृश्यं तच्च पदार्थेभ्यो भिन्नमभिन्नं भिन्नाभिन्नं वा स्यादतोऽन्यगत्यभावात्। सर्वथा सादृश्यपक्षभावी दोषो दुर्निवार इति कुतस्तत्सिद्धिः। सादृश्यवद्वैसदृशमपि न परमार्थमर्थक्रियाशून्यत्वात् स्वलक्षणस्यैव सत्त्वस्य परमार्थत्वात्। तस्यार्थक्रियासमर्थत्वादितिचेत् ,

न वैसादृशसादृश्यत्यक्तं किंचित्स्वलक्षणं।

प्रमाणसिद्धमस्तीह यथा व्योमकुशेशयं ॥८२॥

प्रत्यक्षसंविदि प्रतिभानं स्पष्टं स्वलक्षणमिति चेत्—

विषय में संवाद से शून्य होने से प्रमाण नहीं हो सकता। यदि संवाद रहित ज्ञान को प्रमाण माना जाएगा तो अति-प्रसंग दोष आएगा। अर्थात् संशय आदि ज्ञान भी प्रमाण हो जाएगा।

यदि कल्पना से आरोपित स्वार्थ संवाद से प्रत्यभिज्ञान को प्रमाण माना जाएगा तो मनोराज्य (मानसिक भावना से कल्पित राजा, मंत्री) आदि विकल्प ज्ञानों के समुदाय के भी प्रमाणत्व का प्रसंग आएगा, क्योंकि कल्पना से आरोपित संवादकत्व मनोराज्यादि कल्पना में भी विद्यमान हैं। ऐसा कोई (बौद्ध) कहता है उसके प्रति आचार्य प्रत्युत्तर देते हैं–

जिसके द्वारा भेद और अभेद का विकल्प उठाकर सादृश्य को दूषित किया जाता है, उनके मत में पदार्थों का वैसादृश्य कैसे सिद्ध हो सकता है? ॥८१॥

जो विलक्षण पदार्थों का भाव वैसादृश्य माना गया है, वह विसमानता विलक्षण पदार्थों से भिन्न है? या अभिन्न है? अथवा भिन्न अभिन्न है? इससे अन्य कोई गति नहीं है (यानी कोई उपाय नहीं है)। इन तीनों पक्षों में वे ही सादृश्य के पक्ष में होने वाले दोष सर्वथा कठिनता से भी नहीं हटाये जा सकते हैं अतः उस वैसादृश्य की सिद्धि कैसे हो सकती है? अर्थात् विभिन्न पदार्थों में पड़ी हुई विसमानता यदि उनसे सर्वथा भिन्न है तो ''यह उनकी है'' यह व्यवहार सर्वथा भेदपक्ष में नहीं हो सकता है॥

बौद्ध कहते हैं- सादृश्य के समान वैसादृश्य भी वास्तविक नहीं है। अर्थक्रिया से शून्य होने से सदृशविसदृश से रहित स्वलक्षण तत्त्व ही अनेक अर्थक्रियाओं के करने में समर्थ है इसलिए वही परमार्थ है। प्रत्युत्तर में आचार्य कहते हैं –

वैसादृश्य और सादृश्य से रहित कोई भी स्वलक्षण प्रमाणों से सिद्ध नहीं है। जैसे इस लोक में सामान्य विशेषों से रहित आकाशपुष्प प्रमाणसिद्ध नहीं है (यानी असत् है) ॥८२॥

बौद्ध कहते हैं कि स्वलक्षण तो प्रत्यक्ष ज्ञान में स्पष्टरूप से प्रतिभासित है। उसका आचार्य उत्तर देते हैं कि-

समानाकारता स्पष्टा प्रत्यक्षं प्रतिभासते। वर्तमानेषु भावेषु यथा भिन्नस्वभावता ॥८३॥

इदानींतनतया प्रतिभासमाना हि भावास्तेषु यथा परस्परं भिन्नरूपं प्रत्यक्षे स्पष्टमवभासते तथा समानमपीति सदृशेतरात्मकं स्वलक्षणसिद्धमन्यथा व्योमारविंदवत्तस्यानवभासनात्। स्पष्टावभासित्वं समानस्य रूपस्य भ्रांतमितिचेत्, भिन्नस्य कथमभ्रांतं। बाधकाभावादिति चेत्, सामान्यस्पष्टावभासित्वे किं बाधकमस्ति? न तावत्प्रत्यक्षं स्वलक्षणानि पश्यामीति प्रयतमानसस्यापि स्थूलस्थिराकारस्य साधनस्य स्फुटं दर्शनात्। तदुक्तं। ''यस्य स्वलक्षणान्येकं स्थूलमक्षणिकं स्फुटम्। यद्वा पश्यति वैशद्यं तद्विद्धि सदृशस्मृतेः॥'' इति।

जैसे पदार्थों में भिन्न-भिन्न स्वभाव प्रतिभासित होते हैं, उसी प्रकार वर्तमानकालीन समान आकारता भी प्रत्यक्ष स्पष्ट प्रतिभासित होती है अर्थात् यह इससे पृथक् है, इसका स्वभाव इससे भिन्न है इत्यादि व्यावृति बुद्धियों से, जैसे पदार्थों में विशेष प्रतिभासित होता है, उसी के समान यह भी द्रव्य है, यह उसके समान है इत्यादि अन्वय बुद्धि के द्वारा सामान्य भी स्पष्ट दिख रहा है॥८३॥

बौद्ध : इस समय वर्तमान काल में स्वभाव से प्रतिभासमान पदार्थ है। उनमें परस्पर एक दूसरे से भिन्न स्वरूप का जैसे प्रत्यक्षज्ञान में स्पष्ट प्रतिभास होता है, उसी प्रकार से पदार्थ परस्पर में समान हैं इस समानरूप का भी प्रत्यक्ष ज्ञान में स्पष्ट प्रतिभास होता है। इस प्रकार सदृश और विसदृश धर्मस्वरूप स्वलक्षण पदार्थ सिद्ध है अन्यथा (निःस्वरूप उस सामान्य विशेष रहित स्वलक्षण का) आकाश पुष्प समान किसी को कभी प्रकाशन नहीं होता है। पदार्थों के सामान्यस्वरूप का स्पष्ट प्रतिभास होना तो भ्रान्त है (वस्तुभूत विशेषात्मक स्वलक्षण का ही स्पष्ट प्रकाश होता है अवस्तुभूत सामान्य का नहीं।) इस प्रकार बौद्धों के कहने पर जैन कहते हैं कि वैसादृश्य (यानी एक दूसरे से सर्वथा भिन्न रूप) का प्रतिभास होना भ्रान्ति रहित कैसे कहा जा सकता है? अर्थात् ऐसा कहने पर पदार्थों में वैसादृश्य का जानना भी भ्रमरूप हो जाएगा। यदि कहो कि वैसादृश्य का जानना बाधक प्रमाण न होने के कारण अभ्रांत है, तो सामान्य का स्पष्ट प्रकाश होने में कौनसा बाधक प्रमाण है? प्रत्यक्ष ज्ञान तो सादृश्य का बाधक नहीं है, क्योंकि स्वलक्षणों को मैं देख रहा हूँ, इस प्रकार प्रयत्न करने वाले भी पुरुष के अर्थक्रिया को साधने वाले स्थूल, स्थिर, साधारण आकार वाले अर्थ का स्पष्ट प्रदर्शन हो रहा है अर्थात् प्रत्यक्ष द्वारा सर्वथा सूक्ष्म, क्षणिक, विसदृश ऐसे कोई पदार्थ नहीं दिख रहे हैं किन्तु स्थूल, कालान्तर तक ठहरने वाले, सदृश, अर्थों का विशद प्रत्यक्ष हो रहा है। वही ग्रन्थों में कहा है कि जिसके यहाँ स्वलक्षणों को जानने वाला प्रत्यक्ष ही एक स्थूल, अक्षणिक ऐसे पदार्थ को स्पष्ट देख रहा है, अथवा वैशद्यरूप देख रहा है, उसी के समान सादृश्य को भी प्रत्यक्ष ज्ञान स्पष्ट देख रहा है क्योंकि पीछे से सदृश पदार्थ की स्मृति होती है।

भावार्थ : यदि सादृश्य को प्रत्यक्ष न देखा होता तो पीछे स्मरण कैसे होता ? अतः पीछे से सादृश्य की स्मृति होने से सादृश्य का प्रत्यक्ष होना सिद्ध होता है। सामान्य को स्पष्ट रूप से देखने में अनुमान भी बाधक नहीं है, क्योंकि, ऐसे अनुमान का उत्थापन करने वाले हेतु का अभाव है। प्रत्येक पदार्थ या पर्याय

नाप्यनुमानं लिंगाभावात्। स्वस्वभावस्थितलिंगादुत्पन्नं भिन्नस्वलक्षणानुमानसादृश्यज्ञानवैशद्यस्य बाधकज्ञानमिति चेन्न, तस्याविरुद्धत्वात्। तथाहि—सदृशेतरपरिणामात्मकाः सर्वे भावाः स्वभावव्यवस्थितेरन्यथानुपपत्तेः। स्वस्वभावो हि भावानामबाधितप्रतीतिविषयः समानेतरपरिणामात्मकत्वं तस्य व्यवस्थितिरुपलब्धिस्तस्यैव साधिका न पुनरन्यत्र भिन्नस्य स्वलक्षणस्य जातुचिदनुपलभ्यमानस्य हेत्वसिद्धिप्रसंगात्। तेन हेतवस्तत्र प्रत्युक्ताः। ते हि यथोपलभ्यंते तथा तैररीक्रियंते अन्यथा वा? प्रथमपक्षे विरुद्धाः साध्यविपरीतस्य साधनात्तस्यैव सत्त्वादिस्वभावेनोपलभ्यंते। यदि पुनः पराभितस्वलक्षणस्वभावाः सत्त्वादयो मतास्तदा तेषामसिद्धिरेव। न च स्वयमसिद्धास्ते साध्यसाधनायालं न त्वयं दोषः सर्वहेतुषु स्यात्। तथाहि—धूमोऽनग्निजन्यरूपो वा हेतुरग्निजन्यत्वे साध्येऽन्यथारूपो वा? प्रथमपक्षे

अपने-अपने स्वभाव में स्थित लिंग से उत्पन्न है, अतः स्वस्वभावव्यवस्थितरूप लिङ्ग से सर्वथा विसदृश स्वलक्षणों को जानने वाला अनुमानज्ञान सादृश्य के विशदज्ञान का बाधक है। ऐसा कहना भी उचित नहीं है, क्योंकि वह अनुमान सादृश्यसिद्धि के विरुद्ध नहीं है। इसी बात को यों स्पष्ट किया गया है-

सम्पूर्ण पदार्थ सदृश और विसदृश परिणामस्वरूप हैं। क्योंकि वे अपने-अपने स्वभावों में व्यवस्थित हैं। यह व्यवस्था अन्यथा (यानी सदृश विसदृश स्वरूप माने बिना) नहीं बन सकती। सम्पूर्ण पदार्थों का स्वकीय स्वभाव बाधारहित प्रतीतियों का विषय होता हुआ सामान्य विशेष परिणामस्वरूप है। उसकी व्यवस्था यानी यथार्थ उपलब्धि ही उसकी साधिका है। वह हेतु (उपलब्धि) अन्य में साध्य को सिद्ध नहीं करती है। एकान्तरूप से अनुपलभ्यमान (दृष्टिगोचर नहीं होने वाले) स्वलक्षण की सिद्धि नहीं होती है, क्योंकि इसमें हेतु की असिद्धि का प्रसंग है (सर्वथा विलक्षण स्वलक्षण में स्वभावव्यवस्थितिरूप हेतु नहीं रहता है)। इस प्रकार कहने वाले बौद्धों से हम पूछते हैं कि उनके द्वारा कथित सर्वथा विसदृश अर्थों को साधने के लिए प्रयुक्त उपलभ्यमान हेतुओं को उसी प्रकार उन्होंने स्वीकार किया है अथवा दूसरे प्रकार से ? पहले पक्ष में तो वे सर्वथा भेद को साधने वाले बौद्धों के प्रयुक्त किये गये हेतु विरुद्ध हो जाते हैं क्योंकि सर्वथा भिन्न स्वभावरूप साध्य से विपरीत कथंचित् सदृश, विसदृश परिणाम के साधन होते हैं। साध्य से विपरीत उस उभयात्मक पदार्थ के सत्त्व आदि स्वभाव से उपलब्ध होते हैं। यदि फिर द्वितीय पक्ष के अनुसार बौद्धों द्वारा माने गये स्वलक्षण के स्वभाव सत्त्व आदिक हेतु अभीष्ट हैं, तब तो उन हेतुओं की असिद्धि ही है (प्रतीति के बिना माने गये स्वलक्षण के स्वभावरूप सत्त्व आदिक हेतु सम्पूर्ण पदार्थरूप पक्ष में नहीं ठहरते हैं)। जो हेतु स्वयं असिद्ध है, वह साध्य को साधने के लिए समर्थ नहीं है।

प्रश्न : यह दोष तो सम्पूर्ण हेतुओं[1] में जा सकता है। जैसे जगत् में प्रसिद्ध धूमहेतु अग्नि से जन्यपना साध्य करने में वह हेतु अनग्निजन्य स्वरूप है, अथवा अन्यथा है। (यानी अग्निजन्य रूप है)। प्रथम पक्ष ग्रहण करने पर तो धूमहेतु विरुद्ध हेत्वाभास है (क्योंकि अनग्निजन्य हेतु अग्निजन्य हेतु अग्नि को सिद्ध नहीं कर सकता है। वह तो अग्निरूप साध्य से विरुद्ध अनग्नि के साथ व्याप्ति रखता है)यदि दूसरे पक्ष के अनुसार अग्नि से जन्यस्वरूप धूमहेतु मानोगे, तब तो वह अभी तक पक्ष में सिद्ध नहीं हुआ है। अतः साध्य का साधन

१. बौद्ध

विरुद्धस्तस्यानग्निजन्यत्वसाधनात्। सोऽग्निजन्यरूपस्तु न सिद्ध इति कुत: साध्यसाधन:। यदि पुनर्विवादापन्नविशेषणापेक्षो धूम: कंठादिविकारकारित्वादिप्रसिद्धस्वभावो हेतुरिति मतं तदा सत्त्वादयोपि तथा हेतवो न विरुद्धा नाप्यसिद्धा इति चेन्नैतत्सारं, सत्त्वादिहेतूनां विवादापन्नविशेषणापेक्षस्य प्रसिद्धस्वभावस्यासंभवात्। अर्थक्रियाकारित्वं प्रसिद्ध: स्वभावस्तेषामितिचेत् न, तस्यापि हेतुत्वात् तत्प्रत्यक्षतोतिक्रमात्तद्दोषानुषंगस्य भावात् तदवस्थत्वात्। सत्त्वादिसामान्यस्य साध्येतरस्वभावस्य सत्त्वादिति चेन्न, अनेकांतत्वप्रसंगात् साध्येतरयोस्तस्य भावात्। न च परेषां सत्त्वादिसामान्यं प्रसिद्धं स्वलक्षणैकांतोपगमविरोधात्। कल्पितं सिद्धमितिचेत् व्याहतमिदं सिद्धं परमार्थसदभिधीयते तत्कथं कल्पितमपरमार्थसदिति न व्याहन्यते। न च कल्पितस्य हेतुत्वं अर्थो ह्यर्थं गमयतीति वचनात्। न च प्रतीयते

करने वाला कैसे हो सकता है? यानी नहीं हो सकता। यदि अग्निजन्य या अनग्निजन्य इन विवाद में पड़े हुए विशेषणों की अपेक्षा रखता हुआ कंठ आदि में विकार करा देना आदि स्वभावों से प्रसिद्ध धूमहेतु है तब तो हमारे सत्त्व, कृतकत्व आदि हेतु भी विरुद्ध नहीं हैं।

और (विलक्षण साधने के लिए) असिद्ध भी नहीं हैं।

उत्तर : आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार यह बौद्धों का कथन सारहीन है, क्योंकि सत्त्व आदि हेतुओं के विवाद में पड़े हुए सदृशपन या विसदृशपन, विशेषण की अपेक्षा रखने वाले प्रसिद्ध स्वभाव की असम्भवता है। अर्थात् बौद्धों के माने गये सत्त्व आदि हेतुओं का स्वभाव प्रसिद्ध नहीं है। अत: सर्वथा स्वभावभेद की सिद्धि नहीं हो सकती है।

उन सत्त्व आदि हेतुओं का प्रसिद्ध स्वभाव अर्थक्रिया को करा देना है, ऐसा भी नहीं कहना चाहिए। क्योंकि, उस अर्थक्रियाकारीपन को भी तो बौद्धों ने हेतु ही माना है। उसकी भी प्रत्यक्षता का अतिक्रमण हो जाने से उस दोष का प्रसंग विद्यमान है अत: असिद्धता, विरुद्धता दोष अर्थक्रियाकारीपन हेतु में भी वैसे के वैसे ही अवस्थित हैं। साध्य और साधन से भिन्न स्वभाव वाले सत्त्व, कृतकत्व आदि सामान्य का सत्त्व विद्यमान है (वही वैसादृश्य को साधने में हेतु है)। ऐसा कहना भी उचित नहीं है, क्योंकि साध्य और साध्याभाव वाले में विद्यमान रहने के कारण सामान्यरूप से सत्त्व या कृतकत्व हेतु के व्यभिचारी हो जाने का प्रसंग आता है, तथा बौद्धों के यहाँ सत्त्व आदि का सामान्य प्रसिद्ध भी नहीं है क्योंकि सामान्य को मानने पर बौद्धों के एकान्तरूप से विशेष स्वलक्षणों को ही स्वीकार करना विरोधी होता है। सामान्य कल्पित सिद्ध है, ऐसा मानना व्याघात दोष है। क्योंकि जो सिद्ध हो चुका, वह तो वस्तुभूत सत् कहा जाता है। कल्पित अपरमार्थ सत् है यह कथन व्याघात दोष से दूषित क्यों नहीं होगा?

भावार्थ : जो परमार्थ है, वह कल्पित नहीं है और जो कल्पित है, वह परमार्थ प्रमाणसिद्ध नहीं है। कल्पित पदार्थ हेतु नहीं हो सकता, वास्तविक अर्थ ही नियम से वस्तुभूत अर्थ को समझाता है। ऐसा विद्वानों का वचन है। तथा स्वलक्षणरूप अर्थ प्रतीत भी नहीं हो रहा है, जिसका धर्म हेतुपना कल्पित कर लिया गया है और जो सामान्य विशेषात्मक अर्थ प्रतीत हो रहा है, उसको बौद्धों ने वस्तुभूत अर्थ नहीं माना

स्वलक्षणात्मकोऽर्थो यस्य हेतुत्वं धर्मः कल्पते यस्तु प्रतीयते नासावर्थोऽभिमत इति। किंच तल्लिंगमाश्रित्य क्षणिकपरमाणुस्वलक्षणानुमानं प्रवर्तेत यत्सादृश्यज्ञानवैशद्यप्रतिभासस्य बाधकं स्यात्। ततो विध्वस्तबाधं वैसादृश्यज्ञानवत्सादृश्यवैशद्यमिति। परमार्थसत्सादृश्यं प्रत्यभिज्ञानस्य विषयभावमनुभवत्येकत्ववत्॥

तदविद्याबलादिष्टा कल्पनैकत्वभासिनी। सादृश्यभासिनी चेति वागविद्योदयाद्ध्रुवम्॥८४॥

तदेवं निर्बाधबोधाधिरूढे प्रसिद्धेऽप्येकत्वे सादृश्ये च भावानां कल्पनैवेयमेकत्वसादृश्यावभासिनी दुरंतानाद्यविद्योपजनिता लोकस्येति ब्रुवाणः परमदर्शनमोहोदयमेवात्मनो ध्रुवमवबोधयति, सहक्रमादिपर्यायव्यापिनो द्रव्यस्यैकत्वेन सुप्रतीतत्वात्। सादृश्यस्य च पर्यायसामान्यस्य प्रतिद्रव्यव्यक्तिव्यवस्थितस्य समाना इति प्रत्ययविषयस्योपचारादेकत्वव्यवहारभाजः सकलदोषासंस्पृष्टस्य सुस्पष्टत्वात्। ततस्तद्विषयप्रत्यभिज्ञानसिद्धिरनवद्यैव॥

है तथा उस लिङ्ग का आश्रय कर क्षणिक और परमाणुरूप स्वलक्षण का साधक कौनसा अनुमान प्रवृत्ति करेगा? जो सादृश्यज्ञान के विशद प्रतिभास का बाधक होता है अत: बाधाओं का विध्वंस करने वाले सादृश्य का विसदज्ञान होना सिद्ध हो जाता है, जैसे कि विसदृशपने का ज्ञान विशद रूप से सिद्ध है अत: परमार्थस्वरूप से विद्यमान सादृश्यपदार्थ प्रत्यभिज्ञान के विषयपन का अनुभव कर रहा है। जैसेकि पूर्वोत्तर पर्यायों में रहने वाला एकपना प्रत्यभिज्ञान का विषय सिद्ध है।

यदि (बौद्धों को) एकत्व का प्रकाश करने वाली और सादृश्य का प्रतिभास करने वाली वह कल्पना (प्रतीति) अविद्या की सामर्थ्य से अभीष्ट है, तो निश्चय ही बौद्धों का वचन स्वयं अविद्या के उदय से प्रवर्त्त हो रहा है। अर्थात् यथार्थवस्तु को जानने वाले प्रमाणज्ञान को अविद्याजन्य कहने वाला बौद्ध स्वयं अविद्या से पीड़ित है॥८४॥

उपर्युक्त क्रम से पदार्थों के एकत्व और सादृश्य का बाधारहित ज्ञान में प्राप्त हो जाना प्रसिद्ध हो जाने पर भी ''यह सादृश्य और एकत्व का प्रतिभास करने वाली प्रतीतिरूप कल्पना कठिनता से अन्त आने वाली अनादिकालीन लगी हुई अविद्या से लौकिक जीवों के उत्पन्न हो जाती है।'' इस प्रकार कहने वाला बौद्ध निश्चय से स्वयं अपने ही अत्यधिक दर्शन मोहनीय कर्म के उदय को उद्घाटित कर रहा है।

गुणस्वरूप सहभावी पर्याय और अर्थ, व्यंजन पर्यायरूप क्रमभावी पर्याय द्रव्य में एकत्वपन से व्याप्त प्रतीत हो रही है तथा प्रत्येक द्रव्यव्यक्तियों में समानपने से व्यवस्थित हो रही पर्यायें सादृश्य है, यह भी प्रतीत हो रहा है। यह इसके समान है, ऐसे ज्ञान के विषयभूत और उपचार से एकपन के व्यवहार को धारण करने वाले तथा सम्पूर्ण दोषों से नहीं छुये गये सादृश्य का भी स्पष्टज्ञान हो रहा है। अत: उस सादृश्य को विषय करने वाले प्रत्यभिज्ञान की सिद्धि निर्दोष है। **यहाँ तक संज्ञा ज्ञान का प्रकरण समाप्त है। अब चिंता ज्ञान का कथन करते हैं-**

संबंधं व्याप्तितोर्थानां विनिश्चित्य प्रवर्तते। येन तर्कः स संवादात् प्रमाणं तत्र गम्यते ॥८५॥

येन हि प्रत्ययेन प्रतिपत्ता साध्यसाधनार्थानां व्याप्त्या संबंधं निश्चित्यानुमानाय प्रवर्तते स तर्कः संबंधे संवादात्प्रमाणमिति मन्यामहे। कुतः पुनरयं संबंधो वस्तु सत् सिद्धो यतस्तर्कस्य तत्र संवादात् प्रमाणत्वं कल्पितो हि संबंधस्तस्य विचारासहत्वादित्यत्रोच्यते—

संबंधो वस्तु सन्नर्थक्रियाकारित्वयोगतः। स्वेष्टार्थतत्त्ववत्तत्र चिंता स्यादर्थभासिनी ॥८६॥

का पुनः संबंधस्यार्थक्रिया नाम॥

येयं संबंधितार्थानां संबंधवशवर्तिनी। सैवेष्टार्थक्रिया तज्ज्ञैः संबंधस्य स्वधीरपि ॥८७॥

सति संबंधेर्थानां संबंधिता भवति नासतीति तदन्वयव्यतिरेकानुविधायिनी या प्रतीता सैवार्थक्रिया तस्य तद्विद्भिरभिमता यथा नीलान्वयव्यतिरेकानुविधायिनी क्वचिन्नीलता नीलस्यार्थक्रिया तस्यास्तत्साध्यत्वात्।

जिस ज्ञान के द्वारा अर्थों के संबंध को सम्पूर्ण देश, काल का उपसंहार करने वाली व्याप्ति के द्वारा विशेष निश्चय कर अनुमानकर्त्ता जीव प्रवृत्ति करता है, वह तर्कज्ञान (चिंता) उस संबंध ग्रहण में संवाद हो जाने के कारण प्रमाण समझा जाता है॥८५॥

जिस ज्ञान के द्वारा ज्ञाता जीव साध्य साधनरूप अर्थों में व्यापने वाले सम्बन्ध का निश्चय करके अनुमान के लिए प्रवृत्ति करता है, वह तर्कज्ञान साध्यसाधन के संबंध को जानने में बाधारहित संवाद होने के कारण प्रमाण है, ऐसा हम स्याद्वादी मानते हैं।

बौद्ध : यह संबंध वस्तुभूत कैसे सिद्ध होता है जिससे कि उस संबंध के जानने में सम्वाद हो जाने से तर्कज्ञान को प्रमाण माना जाता है? क्योंकि, वह संबंध पदार्थ कल्पित ही है, विचारों को नहीं झेल सकता है। इस प्रकार बौद्धों के कहने पर आचार्य अपना सिद्धान्त कहते हैं-

अर्थक्रिया को करने वाला होने से सम्बन्ध वस्तुभूत है, जैसे कि अपने-अपने अभीष्टतत्त्व अर्थ वास्तविक हैं। उस संबंध में यथार्थपन का प्रकाश कराने वाली चिंता बुद्धि उपयोगिनी हो रही है। अर्थात् अनुमाता के लिए संबंध का ज्ञान (अनुमिति) करने में चिन्ता (तर्कज्ञान) उपयोगी है॥८६॥

बौद्ध पूछते हैं कि संबंध की वह अर्थक्रिया कौनसी है? इसके बारे में आचार्य कहते हैं -

संबंध के अधीन होकर वर्त रही जो अर्थों की संबंधिता है, वही संबंध की अर्थक्रिया उस संबंध के वेत्ता विद्वानों ने अभीष्ट की है। संबंध का ज्ञान करा देना भी संबंध की अर्थक्रिया है॥८७॥

वस्तुभूत संबंध के होने पर ही (घृत जल, आत्मा कर्मआदि) अर्थों का सम्बन्धपना होता है। संबंध के न होने पर (या कल्पित संबंध के होने पर) संबंधपना नहीं है। इस प्रकार उस संबंध के अन्वयव्यतिरेक का अनुसरण करने वाली जो प्रतीति है, विद्वानों ने उसी संबंध की अर्थक्रिया को संबंधीपना अभीष्ट किया है। जैसे कि किसी नील रंग से रंगे हुए वस्त्र में नील के साथ अन्वय व्यतिरेक का अनुविधान करने वाली नीलता ही नीलरंग की अर्थक्रिया है क्योंकि, वह कपड़े में नीलापन नीलरंग से ही साधने योग्य कार्य है तथा नील का ज्ञान करा देना भी जैसे नील की अर्थक्रिया है, वैसे ही संबंध का ज्ञान करा देना भी संबंध की

संबंधज्ञानं च संबंधस्यार्थक्रिया नीलस्य नीलज्ञानवत्। तदुक्तं। मत्या तावदियमर्थक्रिया यदुत स्वविषयविज्ञानोत्पादनं नामेति ॥

विशिष्टार्थान् परित्यज्य नान्या संबंधितास्तिचेत्। तदभावे कुतोर्थानां प्रतितिष्ठेद्विशिष्टता ॥८८॥

स्वकारणवशादेषा तेषां चेत् सैव संमता। संबंधितेति भिद्येत नाम नार्थ: कथंचन ॥८९॥

न हि संबंधाभावेर्था: परस्परं संबद्धा इति विशिष्टता तेषां प्रतितिष्ठत्यतिप्रसंगात्। स्वकारणवशात् केषांचिदेव संबंधप्रत्ययहेतुतासमानप्रत्ययहेतुतावदितिचेत् सैव संबंधिता तद्वदिति नाममात्रं भिद्यते न पुनरर्थ:

अर्थक्रिया है। सो ही कहा है-कि अपने स्वरूप विषय में अन्य की बुद्धियों द्वारा विज्ञान उत्पन्न करा देना ही पदार्थों की अर्थक्रिया है।

विशेष अवस्था वाले पदार्थों को छोड़कर अन्य कोई अर्थों का संबंधीपना नहीं है इस प्रकार उस संबंध के न मानने पर अर्थों का विशिष्टपना कैसे प्रतिष्ठित रह सकेगा? यदि अपने-अपने कारणों के कारण ही उन अर्थों की विशिष्टता होना अभीष्ट है, तब तो यहाँ संबंधिता सम्मत ही है। इस प्रकार तो नाम मात्र का ही भेद है। अर्थ का भी भेद नहीं है। बौद्ध जिसे विशिष्टता कहते हैं, जैन उसे संबंधिता कहते हैं। शब्दों में व्यर्थ झगड़ा करना उपयुक्त नहीं, अत: सम्बन्ध वस्तुभूत है॥८८-८९ ॥ सम्बन्ध का अभाव मानने पर पदार्थ परस्पर में संबंध को प्राप्त है। इस प्रकार की विशिष्टता प्रतिष्ठित नहीं हो पाती है क्योंकि इसमें अतिप्रसंग दोष आता है (अर्थात् परस्पर में कालाणुओं का या जीव का दूसरे जीव के साथ सम्बन्धित हो जाने का प्रसंग आएगा)।

बौद्ध - अपने-अपने कारणों की अधीनता से किन्हीं ही अत्यासन्न अव्यवहित हो रहे पदार्थों का "इनके साथ इनका संबंध है"-इस ज्ञान का कारण हो जाता है। ऐसा कहने पर जैनाचार्य कहते हैं कि वही अपने नियत कारणों से किन्हीं विवक्षित अर्थों के संबंधितपने का ज्ञान कराने वाला संबंध परिणाम ही तो संबंधिता है अत: बौद्धों के और जैन मत में केवल नाम रखने में ही भेद है अर्थ का कोई भेद नहीं है। पदार्थों के वास्तविक संबंध को पूर्व प्रकरणों में विस्तार से सिद्ध कर दिया गया है। मिले हुए पदार्थों का संबंधीपना ही इस संबंध की प्रमाणविषयता को व्यवस्थित कराने में अव्यभिचारी निर्दोष कारण है, अत: इस विषय में अधिक विवाद करने से कुछ भी साध्य नहीं है। निर्बाध संबंधीरूप स्वकीय बुद्धि की व्यवस्था हो जाना ही संबंध की निज अर्थक्रिया है। जैसे कि अग्नि की दाह करना, शोषण करना, पाक करना आदि अर्थ-क्रिया है। अथवा बौद्धों के द्वारा स्वीकृत संवेदन की अपनी अर्थक्रिया स्वरूप का प्रतिभास करना है। (अर्थात् बाधारहित संबंधबुद्धि करा देना संबंध की अवश्यंभाविनी अर्थक्रिया है। वस्तुभूत कारण से ही वस्तुभूत कार्य उत्पन्न हो सकता है)। यदि उस संबंधज्ञान की केवल वासनाओं के निमित्त से उत्पत्ति होना मानोगे तब तो सम्पूर्ण पदार्थों की सभी अर्थक्रियायें केवल वासनाओं को हेतु मानकर ही उत्पन्न हो जाएंगी अत: कोई भी वस्तु परमार्थरूप से अर्थक्रिया को करने वाली नहीं बन सकेगी। इस प्रकार यथार्थवस्तुपन की व्यवस्था कैसे होगी?

प्रसाधितश्च संबंध: परमार्थिकोऽर्थानां प्रपंचत: प्राक् संबंधितास्य मानव्यवस्थितिहेतुरित्यलं विवादेन निर्बाधं संबंधिताया: स्वबुद्धे: स्वार्थक्रियाया: संबंधस्य व्यवस्थानात्। पावकस्य दाहाद्यर्थक्रियावत् संवेदनस्य स्वरूपप्रतिभासनवद्वा तस्या वासनामात्रनिमित्तत्वे तु सर्वार्थक्रिया सर्वस्य वासनामात्रहेतुका स्यादिति न किंचित्परमार्थतोर्थक्रियाकारीति कुतो वस्तुत्वव्यवस्था परितोषहेतो: पारमार्थिकत्वेप्युक्तं स्वप्नोपलब्धस्य तत्त्वप्रसंगात् इति न हि तत्र परितोष: कस्यचिन्नास्तीति सर्वस्य सर्वदा सर्वत्र नास्त्येवेति चेत् जाग्रद्दशार्थक्रियायास्तर्हि सुनिश्चितासंभवद्बाधकत्वात् परमार्थसत्त्वमित्यायातं। तथा चार्थानां संबंधितार्थक्रियासंबंधस्य कथं परमार्थसतीति न सिद्ध्येत्। न हि तत्र कस्यचित् कदाचित् बाधकप्रत्यय उच्यते येन सुनिश्चितासम्भवद् बाधकत्वं न भवेत्। सर्वथा संबंधाभाववादिनस्तत्रास्ति बाधकप्रत्यय इति चेत् , सर्वथा शून्यवादिनस्तत्त्वोपप्लववादिनो ब्रह्मवादिनो वा जाग्रदुपलब्धार्थक्रियायां किं न बाधकप्रत्यय:। स

भावार्थ : ज्ञान ही तो वस्तुओं के व्यवस्थापक हैं और ज्ञानों को मिथ्या संस्कारों से उत्पन्न हुए मान लेने पर कोई वस्तु यथार्थ नहीं रहती है। बौद्ध यदि आत्मा को परितोष के कारण अर्थों को वस्तुभूत पदार्थ मानेंगे तो भी वस्तु व्यवस्था नहीं हो सकेगी, इसका पूर्व में कथन कर दिया गया है। स्वप्न में देखे हुए पदार्थों से भी कुछ काल तक परितुष्टि हो जाती है अत: स्वप्न में जाने हुए स्त्री, धन आदि पदार्थों को भी पारमार्थिकपने का प्रसंग आयेगा।

उस स्वप्न में देखे हुए पदार्थ में किसी को भी प्रसन्नता नहीं है-ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि स्वप्न में देखे गए पदार्थों से भी सुख, दु:ख का अनुभव होता है। यदि (बौद्ध) कहें कि सभी स्वप्नदर्शी प्राणियों को सर्वदा सभी स्थलों पर परितोष नहीं होता है, तो जैन भी कहते हैं कि जागती दशा की अर्थक्रिया के बाधकों का असम्भव निश्चित हो रहा है अत: जागृत अवस्था में पदार्थ परमार्थरूप से सत् सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार संबंध की अर्थों को संबंधी कर देने रूप अर्थक्रिया परमार्थ रूप से क्यों नही सिद्ध होगी? जागृत अवस्था में देखे गए घट आदि पदार्थों की उन जल शीतलता आदि अर्थक्रिया को करने में किसी के भी किसी भी समय बाधकज्ञान उत्पन्न नहीं होता है, जिससे कि बाधकों के नहीं होने का अच्छा निश्चित होनापन न होता अर्थात् संबंध ही से उत्पन्न अर्थक्रियाओं का कोई बाधक प्रमाण नहीं है, ऐसा निर्णय हो रहा है।

सभी प्रकार से संबंध के अभाव को कहने वाले के यहाँ संबंध की अर्थक्रिया में बाधक ज्ञान का अस्तित्व है। इस प्रकार बौद्धों के कहने पर जैन भी यह कह सकते हैं कि सर्वथा शून्य ही जगत् को कहने वाले या सम्पूर्ण तत्त्वों की सिद्धि का च्युत होना कहने वाले, अथवा अद्वैत ब्रह्म का प्रतिपादन करने वाले वादियों के यहाँ बौद्धों की मानी हुई और जागते हुए पुरुष की जान ली गई अर्थक्रिया में बाधकज्ञान क्यों नही माना जाता है? उन शून्यवादी, तत्त्वोपप्लववादी और ब्रह्मवादियों के मन्तव्य अनुसार हुआ वह बाधकज्ञान अविद्या की सामर्थ्य से होता है, वह प्रमाणरूप नहीं है। इस प्रकार बौद्ध के कहने पर जैन कहते हैं कि पदार्थों के संबंधसहित या संबंधात्मकपने से उस अविद्या की सामर्थ्य से दूसरे बौद्ध विद्वानों को भी

तेषामविद्याबलादिति चेत् संबंधितायामपि तत एव परेषां बाधकप्रत्ययो न प्रमाणबलादिति निर्विवादमेतत् यतः सैव तर्कात् संबंधं प्रतीत्य वर्तमानोर्थानां संबंधितामाबाधमनुभवति ।।

तत्तर्कस्याविसंवादोनुमा संवादनादपि। विसंवादे हि तर्कस्य जातु तन्नोपपद्यते ।।९०।।

न हि तर्कस्यानुमाननिबंधने संबंधे संवादाभावेनुमानस्य संवादः संभविनिश्चितः संवादस्तर्कस्य नास्ति विप्रकृष्टार्थविषयत्वादितिचेत्—

तर्कसंवादसंदेहे निःशंकानुमितिः क्व ते। तदभावे न चाध्यक्षं ततो नेष्टव्यवस्थितिः ।।९१।।

तस्मात्प्रमाणमिच्छद्भिरनुमेयं स्वसंबलात्। चिंता चेति विवादेन पर्याप्तं बहुनात्र नः ।।९२।।

बाधकज्ञान उत्पन्न हो जाएगा। प्रमाण की सामर्थ्य से संबंधीपन में कोई बाधक प्रत्यय उपस्थित नहीं होता है। इस प्रकार यह तर्क ज्ञान का विषय हो रहा संबंध विवादरहित सिद्ध हो जाता है। कारण कि वही वादी तर्क ज्ञान से संबंध का निर्णय करके प्रवृत्ति करता हुआ पदार्थों के संबंधीपन का बाधारहित अनुभव कर रहा है (युक्ति और अनुभव से जो बात सिद्ध हो जाती है, उससे विवाद नहीं होता है)।

उत्तरवर्त्ती अनुमान का संवाद हो जाने से भी उस तर्कज्ञान का अविसम्वादीपना सिद्ध होता है, अन्यथा नहीं क्योंकि तर्कज्ञान का विसंवाद होने पर कभी भी अनुमान का संवादीपना नहीं हो सकता (कारण के अनुरूप कार्य होता है) ।।९०।।

अनुमान प्रमाण की उत्पत्ति में कारण तर्क के द्वारा जाने गये संबंध में यदि सम्वाद का अभाव होगा तो अनुमान ज्ञान के भी सम्वाद होने का निश्चय नहीं हो सकता।

भावार्थ : उपलंभ और अनुपलंभ के निमित्त से होने वाली व्याप्ति के ज्ञान को **तर्क** कहते हैं। साध्य और साधन में अविनाभाव सम्बन्ध को **व्याप्ति** कहते हैं। अविनाभाव सम्बन्ध का अर्थ है साध्य के बिना साधन का नहीं होना। व्याप्ति का ज्ञान साध्य और साधन के उपलंभ और अनुपलंभ से होता है अतः उस साध्य और साधन के सम्बन्ध को बताने वाले व्याप्ति ज्ञान को स्वीकार करना होगा, अन्यथा अनुमान ज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता।

सूक्ष्म, व्यवहित और विप्रकृष्ट पदार्थों को विषय करने वाला होने से तर्कज्ञान के संवादकपना घटित नहीं होता है, ऐसी शंका होने पर आचार्य कहते हैं-

तर्क के सम्वाद में संदेह करने पर निशंक अनुमान कहाँ होगा? अर्थात् कहीं भी प्रमाणभूत अनुमान नहीं हो सकेगा और उस अनुमान प्रमाण का अभाव हो जाने पर प्रत्यक्ष प्रमाण की भी सिद्धि नहीं हो सकेगी अर्थात्-प्रत्यक्ष ज्ञानों में भी प्रमाणपना अविसम्वाद आदि हेतुओं से अनुमान द्वारा ही सिद्ध किया जाता है। अनुमान और प्रत्यक्ष के बिना बौद्धों के यहाँ किसी भी इष्ट पदार्थ की व्यवस्था नहीं हो सकती अतः अनुमान से जानने योग्य सम्पूर्ण प्रत्यक्षों का अपने-अपने संवाद के बल से प्रमाणपना चाहने वाले बौद्धों के द्वारा चिंतारूप तर्कज्ञान को भी प्रमाण मानना चाहिए। इस प्रकरण में हमको बहुत विवाद करने से परिपूर्णता हो चुकी है व्यर्थ के विवाद से क्या प्रयोजन है?।।९१-९२।।

सर्वेण वादिना ततः स्वेष्टसिद्धिः प्रकर्तव्या अन्यथा प्रलापमात्रप्रसंगात्। सा च प्रमाणसिद्धिमन्वाकर्षति तदभावे तदनुपपत्तेः। तत्र प्रत्यक्षं प्रमाणमवश्यमभ्युपगच्छतानुमानमुररीकर्तव्यमन्यथा तस्य सामस्त्येनाप्रमाणव्यवच्छेदेन प्रमाणसिद्ध्ययोगात्। निःसंदेहमनुमानं छेदत्सता साध्यसाधनसंबंधग्राहि प्रमाणमसंदिग्धमेषितव्यमिति तदेव च तर्कः ततस्तस्य च संवादो निःसंदेह एव सिद्धोऽन्यथा प्रलापमात्रमहेयोपादेयमश्लीलविजृंभितमायातीति पर्याप्तमत्र बहुभिर्विवादैरूहसंवादसिद्धेरुल्लंघनार्हत्वात्॥

गृहीतग्रहणात्तर्कोऽप्रमाणमितिचेन्न वै। तस्यापूर्वार्थवेदित्वादुपयोगविशेषतः॥९३॥

प्रत्यक्षानुपलंभाभ्यां संबंधो देशतो गतः। साध्यसाधनयोस्तर्कात्सामस्त्येनेति चिंतितम्॥९४॥

प्रमांतरागृहीतार्थप्रकाशित्वं प्रपंचतः। प्रामाण्यं च गृहीतार्थग्राहित्वेपि कथंचन॥९५॥

सभी वादियों को अपने अभीष्ट की सिद्धि अवश्य करनी चाहिए अन्यथा (यानी अभीष्ट सिद्धि किये बिना) केवल व्यर्थ वचन कहने का प्रसंग आता है, और वह अपने अभीष्ट की सिद्धि प्रमाण की सिद्धि को खींच लेती है। प्रमाण के अभाव में इष्ट तत्त्वों की सिद्धि नहीं हो पाती है अर्थात् अभीष्ट तत्त्व सिद्धि और प्रमाण सिद्धि का ज्ञाप्यज्ञापकभाव संबंध है। प्रत्यक्ष को प्रमाण आवश्यकरूप से स्वीकार करने वाले को अनुमान प्रमाण भी अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा। अन्यथा (अनुमान को प्रमाण माने बिना) समस्तरूप से उस प्रत्यक्ष को अप्रमाणों का व्यवच्छेद कर प्रमाणपन की सिद्धि न हो सकेगी। अनुमान को निःसन्देह प्रमाण स्वीकार करने वाले वादी को साध्य और साधन के अविनाभाव संबंध को ग्राहक प्रमाण का संशय रहित अन्वेषण करना चाहिए और वही तर्क ज्ञान है। उस तर्क से संबंध के ज्ञान का बाधारहित रूप संवाद होना निःसंशय सिद्ध हो ही जाता है। अन्यथा (यानी संवाद की सिद्धि हुए बिना चाहे जैसी शंका करना या अपने तत्त्वों की सिद्धि करना) केवल व्यर्थ वचन कहना है। वह हेय और उपादेय तत्त्वों की व्यवस्था कराने वाला नहीं है। इस प्रकरण में बहुत से विवाद करने क्या प्रयोजन है? तर्कज्ञान के सम्वाद होने की सिद्धि अब उलंघन करने योग्य नहीं है।

भावार्थ : जो बौद्ध आदि विद्वान प्रत्यक्षों को प्रमाण मानते हैं, उन्हें कालान्तर, देशान्तर और पुरुषान्तरों के प्रत्यक्षों को प्रमाणपना सिद्ध करने के लिए अनुमान की शरण लेना आवश्यक है और अनुमान प्रमाण की उत्पत्ति व्याप्ति ज्ञान को प्रमाण माने बिना नहीं हो सकती है, अतः तर्कज्ञान प्रमाण है। गृहीत ग्राहीहोने से तर्कज्ञान अप्रमाण है, ऐसा कहना भी उचित नहीं है क्योंकि संबंध को जानने में तर्कका ही विशेष उपयोग होने से तर्क को अपूर्व अर्थ का निश्चय करना प्राप्त है। पहले प्रत्यक्ष और अनुपलम्भ द्वारा एकदेश से संबंध जाना गया था और तर्क से साध्य साधन का संबंध सम्पूर्णरूप से जान लिया जाता है। इसका हम विस्तार से पूर्व में विचार कर चुके हैं, अतः अन्य प्रमाणों से ग्रहण नहीं किये गये अर्थ का प्रकाशकपना तर्क में घट जाता है तथा कथंचित् गृहीत अर्थ का ग्राहक होते हुए भी तर्कज्ञान का प्रामाण्य प्रतिष्ठित हो जाता है अर्थात् अनुभूत पदार्थ का ग्रहण करने वाला भी तर्कज्ञान किसी सम्बन्ध विशेष की अपेक्षा अगृहीत ग्राही होने से प्रमाणभूत है॥९३-९४-९५॥

किं च।

लिंगज्ञानाद्विना नास्ति लिंगिज्ञानमितीष्यति। यथा तस्य तदायत्तवृत्तिता न तदर्थिता ॥९६॥

प्रत्यक्षानुपलंभादेर्विनानुद्भूतितस्तथा। तर्कस्य तज्ज्ञता जातु न तद्गोचरतः स्मृता ॥९७॥

न हि यद्यदात्मलाभकारणं तत्तस्य विषय एव लिंगज्ञानस्य लिंगिज्ञानविषयत्वप्रसंगात् प्रत्यक्षस्य च चक्षुरादिगोचरतापत्तेः। स्वाकारार्पणक्षमकारणं विषय इति चेत् कथमिदानीं प्रत्यक्षानुपलंभयोस्तर्कात्मलाभनिमित्तयोर्विषयं स्वाकारमनर्पयतमूहाय साक्षात्कारणभावं चानुभवतं तर्कविषयमाचक्षतीत? तथाचक्षाणो वा कथमनुमाननिबंधनस्य लिंगज्ञानस्य विषयमनुमानगोचरतया प्रत्यक्षं प्राचक्षीत? न चेद्विक्षिप्तः। ततो न प्रत्यक्षानुपलंभार्थग्राही तर्कः। सर्वथा कथंचित्तदर्थग्राहित्वं तु तस्य नाप्रमाणतां विरुणद्धि प्रत्यक्षानुमानवदित्युक्तं॥

अथवा, जैसे हेतुज्ञान के बिना साध्य का ज्ञान नहीं होता है, उस साध्य ज्ञान को उस हेतुज्ञान के आधीन होकर प्रवृत्ति होने से ही जाना जाता है। वैसे ही उस हेतुज्ञान का साध्यज्ञान द्वारा विषय हो जानापन नहीं जाना जाता है, अपितु साध्य के साथ अविनाभाव सम्बन्ध से जाना जाता है॥९६॥

भावार्थ : साध्यज्ञान का उत्पादक कारण हेतुज्ञान है, अवलम्ब कारण नहीं है। ज्ञापक हेतु और कारक हेतुओं में अन्तर है। साध्य का ज्ञान कराने में अनुमान ज्ञान स्वतंत्र है परन्तु उस अनुमान की उत्पत्ति हेतुज्ञान के अधीन है? उसी प्रकार प्रत्यक्ष, अनुपलम्भ, अभ्यास आदि कारणों के बिना तर्कज्ञान की भी उत्पत्ति नहीं हो पाती है। उन प्रत्यक्ष और अनुपलम्भ आदि के विषयों को जानने की अपेक्षा से उन कारणों का जान लेना तर्क में कभी भी नहीं माना गया है।

तर्कज्ञान के उत्पादक कारण उपलम्भ अनुपलम्भरूप ज्ञान हैं किन्तु प्रत्यक्ष या अनुपलम्भ के जाने हुए विषय को तर्कज्ञान नहीं छूता है जैसे कि अनुमान अपने उत्पादक हेतु ज्ञान को या हेतु को विषय नहीं करता है। अतः तर्कज्ञान अपूर्व अर्थ का ग्राहक है॥९७॥

जो पदार्थ जिसके आत्मलाभ का कारण है, वह उस ज्ञान के जानने योग्य विषय होता है, यह कोई नियम नहीं है। ऐसा नियम करने पर तो हेतुज्ञान को साध्य ज्ञान में विषयपन हो जाने का प्रसंग आयेगा तथा घट का प्रत्यक्ष जैसे घट को जानता है, उसी प्रकार चक्षु, क्षयोपशम आदि को भी विषय करने लग जाएगा जो कि चाक्षुष प्रत्यक्ष के उत्पादक कारण हैं, यह आपत्ति होगी। ज्ञान का जो कारण स्वजन्य ज्ञान में अपने आकार का अर्पण करने के लिए समर्थ है, वह ज्ञान का विषय होता है। ऐसा कहने पर तो हम स्याद्वादी भी कह सकते हैं कि इस समय बौद्ध तर्क ज्ञान की आत्मलब्धि के निमित्त का कारण प्रत्यक्ष और अनुपलम्भ को तर्कज्ञान का विषय कैसे कह सकते हैं? प्रत्यक्ष और अनुपलम्भ यद्यपि तर्क ज्ञान के अव्यवहित कारणपन का अनुभव कर रहे हैं, तर्क ज्ञान के लिए अपने आकार का समर्पण नहीं कर रहे है। ऐसी दशा में प्रत्यक्ष ज्ञान और अनुपलम्भ ज्ञान द्वारा जान लिया गया विषय तर्कज्ञान से कैसे जाना जा सकता है? तर्कज्ञान को तथा अनुमान के कारणभूत लिङ्ग ज्ञान के प्रत्यक्ष विषय को अनुमान का विषय हो जाने से अनुमेय क्यों नहीं कहता है? अथवा लिङ्ग ज्ञान के विषय को अनुमान का विषय पड़ जाने से प्रत्यक्षपने का क्यों नहीं

समारोपव्यवच्छेदात्स्वार्थे तर्कस्य मानता। लैंगिकज्ञानवन्नैव विरोधमनुधावति ॥९८॥

प्रवृत्तश्च समारोपः साध्यसाधनयोः क्वचित्। संबंधे तर्कतो मातुर्व्यवच्छेद्येत कस्यचित् ॥९९॥

संवादकोप्रसिद्धार्थसाधनस्तद्व्यवस्थितः। समारोपछिदूहोत्र मानं मतिनिबंधनः ॥१००॥

प्रमाणमूहः संवादकत्वादप्रसिद्धार्थसाधनत्वात् समारोपव्यवच्छेदित्वात्प्रमाणभूतमतिज्ञाननिबंधनत्वादनुमानादिवदिति सूक्तं बुद्ध्यामहे। ननूहो मतिः स्वयं न पुनर्मतिनिबंधन इति चेन्न, मतिविशेषस्य तस्य

प्रत्याख्यान कर देते हैं और इस प्रकार कहने वाला वह उन्मत्त क्यों नहीं समझा जाता? अर्थात् जो ज्ञान को जन्म देने वाले कारणों को विषय योग्य बनाता है, वह अवश्य उन्मत्त है, अतः सर्वथा प्रत्यक्ष और अनुपलम्भ के द्वारा ग्रहण किये गये अर्थों का ग्राहक तर्कज्ञान नहीं है अपितु उन प्रत्यक्ष अनुपलम्भों से कथंचित् गृहीत हुए अर्थों का ग्रहण करना उस तर्कज्ञान की प्रमाणता का विरोध नहीं करता है। जैसे अनेक प्रत्यक्ष और अनुमान कथंचित् पूर्व अर्थ को जानते हुए भी प्रमाणभूत हैं। इसका पहले विस्तार सहित कथन कर दिया गया है।

अपने विषयभूत पदार्थ में उत्पन्न संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय और अज्ञानरूप समारोपों का निराकरण करने वाला होने से तर्क ज्ञान प्रमाण है, जैसे कि साध्य को जानने में संशय आदि को दूर करने वाला अनुमान ज्ञान प्रमाण है; इसमें विरोध दोष का अनुसरण नहीं है॥९८॥

साध्य और साधन के किसी कार्यकारण भाव, व्याप्य-व्यापकभाव, पूर्वचरभाव, उत्तरचरभाव आदि संबंधों में यदि संशय अज्ञानरूप समारोप होता है, तो वह समारोप किसी भी प्रमाता (आत्मा) के तर्कज्ञान द्वारा निराकृत हो जाता है॥९९॥

वह तर्कज्ञान संवादक और अपूर्व अर्थ का ग्राहक तथा समारोप का व्यवच्छेदक एवं उपलम्भ अनुपलम्भरूप मतिज्ञान को कारण मानकर उत्पन्न हुआ है अतः उन मतिज्ञान के प्रकारों में ऊहज्ञान (तर्कज्ञान) प्रमाण सिद्ध है॥१००॥

बाधा रहित प्रमाणान्तरों की प्रवृत्तिरूप संवाद का जनक होने से, अपूर्व अर्थ का ग्राहक होने से, (प्रसिद्ध अर्थ का कारण होने से), संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय और अज्ञान रूप समारोप का निवर्तक होने से और प्रमाणभूत उपलम्भ, अनुपलम्भरूप मतिज्ञान और धारणा, स्मृति, प्रत्यभिज्ञानरूप मतिज्ञानों को कारण मानकर उत्पन्न होने से तर्कज्ञान प्रमाण है। अर्थात् तर्कज्ञान मतिज्ञान के भेद धारणा, प्रत्यभिज्ञान के कारण से उत्पन्न होता है और व्याप्य, व्यापक आदि हेतुओं में उत्पन्न होने वाले संशय आदि समारोपों का विनाशक है तथा साध्य और साधन से सम्बन्ध को बताने वाला है तथा साध्य-साधन का सम्बन्ध अन्य ज्ञान से जाना नहीं जाता अतः यह ज्ञान अपूर्व अर्थग्राही है इसलिए प्रमाणभूत है। जैसे अनुमान, आगम आदि ज्ञान प्रमाण हैं। इस प्रकार उपर्युक्त प्रकरण में तर्क को ज्ञान कहा गया है यह सिद्ध है, ऐसा हम समझते हैं।

शंका : ऊह (तर्क ज्ञान) स्वयं मतिज्ञान है, पर मतिज्ञान रूप कारणों से उत्पन्न हुआ नहीं है।

समाधान : ऐसा कहना उचित नहीं है क्योंकि स्मरण नाम के मतिज्ञान में जैसे अनुभव नाम का

पूर्वमतिविशेषनिबंधनत्वाविरोधात् साधनस्यासिद्धत्वायोगात्। न च तन्निबंधनत्वं प्रमाणत्वेन व्याप्तमनुमानेन स्वयं प्रतिपन्नं लिंगज्ञानं मतिविशेषपूर्वकत्वस्य प्रमाणत्वव्याप्तस्य तत्र प्रतीतेर्व्यभिचाराभावात्। श्रुतेन व्यभिचार इति चेन्न, तस्य प्रमाणत्वव्यवस्थापनात्। तदव्यभिचारिणो मतिनिबंधनत्वात्संवादकत्वादेवोहः प्रमाणं व्यवतिष्ठत एव ॥

ननूहस्यापि संबंधे स्वार्थे नाध्यक्षतो गतिः। साध्यसाधनसंबंधे यथा नाप्यनुमानतः ॥१०१॥

तस्योहांतरतः सिद्धौ क्वानवस्थानिवारणं। तत्संबंधस्य चासिद्धौ नोहः स्यादिति केचन ॥१०२॥

ननूहस्यापि स्वार्थैरूह्यैः संबंधोभ्युपगंतव्यस्तस्य च साध्यसाधनस्येव नाध्यक्षाद्गतिस्तावतो व्यापारात् कर्तुमशक्तेः सन्निहितार्थग्राहित्वाच्च सविकल्पस्यापि प्रत्यक्षस्य। नाप्यनुमानतोऽनवस्थाप्रसंगात् तस्यापि

मतिज्ञान कारण पड़ता है, उसी प्रकार उस तर्क नामक विशेष मतिज्ञान के कारण उसके पूर्व में हुए दूसरे स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, उपलम्भ, अनुपलम्भ आदि मतिज्ञान विशेष हैं इसमें कोई विरोध नहीं है। मतिज्ञान को कारण मानकर उत्पन्न होनापन, हेतु पक्ष में रहने से असिद्ध हेत्वाभास भी नहीं है, क्योंकि अनुमानरूप दृष्टान्त में मतिज्ञानरूप कारण से उत्पन्न होना रूप हेतु प्रमाणपनरूप साध्य के साथ व्याप्ति को रखता हुआ स्वयं नहीं जाना गया है, क्योंकि हेतु का ज्ञानरूप विशेष मतिज्ञान को कारण मानकर उत्पन्न होनापन प्रमाणत्वरूप साध्य के साथ अविनाभाव रखता है। उस हेतु की वहाँ अनुमान में प्रतीति होने का कोई व्यभिचार नहीं है। किसी का कथन है कि मतिज्ञान को कारण मानकर श्रुतज्ञान उत्पन्न हुआ है, किन्तु उस श्रुतज्ञान को प्रमाण नहीं माना है, अतः साध्य के न रहने पर भी श्रुतज्ञान में हेतु के रह जाने से जैनों का हेतु अनैकान्तिक है। जैनाचार्य कहते हैं, ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि उस श्रुतज्ञान को प्रमाणपना व्यवस्थित है, अतः यह हेतु उस प्रमाणपन के साथ अव्यभिचारीरूप मतिनिबंधनत्व और संवादक होने से तर्कज्ञान के प्रमाणपना व्यवस्थित हो ही जाता है।

शंका : तर्क ज्ञान से जाने गये पदार्थों का अपने साध्य साधन संबंध को जानने में जैसे प्रत्यक्ष से गति नहीं है, उसी प्रकार अनुमान से भी उस संबंध को नहीं जाना जा सकता है, यदि तर्क से जाने गये पदार्थों का अपने ज्ञापक कारणों के साथ संबंध का जानना पुनः दूसरे तर्कों से सिद्ध किया जाएगा तब तो अनवस्था दोष का निवारण कैसे हो सकता है? अर्थात् तर्क के आत्मलाभ में दूसरे तर्क की और दूसरे तर्क में तीसरे तर्क की आकांक्षा बढ़ती जाने से अनवस्था दोष आता है। यदि ऊह से जानने योग्य पदार्थों का किसी ज्ञापक के साथ संबंध होने की सिद्धि न मानी जाएगी तब तो ऊहज्ञान प्रमाण नहीं हो सकेगा। (सम्बन्ध को जाने बिना उत्पन्न हुआ ऊहाज्ञान मिथ्याज्ञान हो जाता है) इस प्रकार कोई (बौद्ध) कहते हैं ॥१०१-१०२॥

(तर्कज्ञान को प्रमाण नहीं मानने वाला बौद्ध कहता है कि) ऊहज्ञान का भी अपने जानने योग्य तर्क्य पदार्थों के साथ संबंध ग्रहण करना स्वीकार करना चाहिए, परन्तु साध्य-साधन के उस संबंध का ज्ञान प्रत्यक्ष से तो नहीं हो सकता है। जैसे साध्य और साधन के सम्बन्ध को प्रत्यक्ष नहीं जानता है क्योंकि उतने व्यापारों को प्रत्यक्षज्ञान नहीं कर सकता है। (अर्थात् जो-जो धूमवान् प्रदेश हैं, वे सब अग्निमान हैं। या साध्य के

ह्यनुमानस्य प्रवृत्तिर्लिंगलिंगिसंबंधनिश्चयात् स चोहात्तस्यापि प्रवृत्तिः स्वार्थसंबंधनिश्चयात् सोप्यनुमानांतरादिति तस्योहांतरात्सिद्धौ केयमनवस्थानिवृत्तिः। यदि पुनरयमूहः स्वार्थसंबंधसिद्धिमनपेक्षमाणः स्वविषये प्रवर्तते तदानुमानस्यापि तथा प्रवृत्तिरस्त्विति व्यर्थमूहपरिकल्पनमिति कश्चित्॥

तन्न प्रत्यक्षवत्तस्य योग्यताबलतः स्थितेः। स्वार्थप्रकाशकत्वस्य कान्यथाध्यक्षनिष्ठितिः ॥१०३॥

योग्यताबलादूहस्य स्वार्थप्रकाशकत्वं व्यवतिष्ठत एव प्रत्यक्षवत्। न हि प्रत्यक्षं स्वविषयसंबंधग्रहणापेक्षमनवस्थाप्रसंगात्। तथाहि—

ग्राह्यग्राहकभावो वा संबंधोन्योपि कश्चन। स्वार्थे न गृह्यते केन प्रत्यक्षस्येति चिंत्यताम् ॥१०४॥

होने पर ही यह हेतु रहता है, साध्य के न होने पर हेतु नहीं रहता है। इसका उत्थापक ज्ञापकों को जानने में निर्विकल्प प्रत्यक्ष का व्यापार नहीं चलता है)।क्योंकि आकार रूप सविकल्प प्रत्यक्षज्ञान के भी सन्निकट वर्तमानकाल के अर्थों के ही ग्राह्यपना है। अर्थात् प्रत्यक्षज्ञान वर्तमान के पदार्थों को ही जानता है, तथा अनुमान से भी ऊह्य पदार्थों के साथ संबंध की ज्ञप्ति नहीं हो पाती है, क्योंकि इसमें अनवस्था दोष का प्रसंग आता है। उस संबंधग्राही अनुमान की प्रवृत्ति भी हेतु और साध्य के सम्बन्ध का निश्चय हो जाने से होती है। संबंध का निश्चय तो तर्क से ही होता है, पुनः उस तर्क की प्रवृत्ति भी अपने जानने योग्य अर्थों के साथ ज्ञापकों का संबंध निश्चय हो जाने से होती है, फिर वह तर्क के उत्पादक संबंध की ज्ञप्ति अन्य अनुमानों से होगी। इसी प्रकार उस अनुमान की अन्य तर्क ज्ञानों से सिद्धि मानी जाएगी, ऐसी दशा में अनवस्था दोष की निवृत्ति कैसे हो सकती है? यदि पुनः यह तर्कज्ञान अपने विषयभूत अर्थों के साथ संबंध के ज्ञान की सिद्धि की अपेक्षा नहीं करता हुआ अपने विषय में प्रवृत्ति करता है, तब तो ऊह के द्वारा संबंध ग्रहण करने की अपेक्षा नहीं रखने वाले अनुमान की ही अपने विषय में प्रवृत्ति हो जायेगी। अतः ऊहज्ञान की एक पृथक् कल्पना व्यर्थ है-ऐसा कोई बौद्ध कहता है। आचार्य कहते हैं कि-

समाधान - बौद्ध का यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्ष के समान उस तर्क का भी स्वविषय प्रकाशकपना योग्यता की सामर्थ्य से प्रसिद्ध है अन्यथा (यानी योग्यता की सामर्थ्य को माने बिना) स्व अर्थ प्रकाशकत्व प्रत्यक्षज्ञान की भी व्यवस्था कैसे हो सकेगी?। अर्थात्-स्वावरणों की क्षयोपशमरूप योग्यता द्वारा अपने विषयों का संबंध कर प्रत्यक्षज्ञान जैसे नियत पदार्थों को जान लेता है, उसी प्रकार तर्क अपनी योग्यता से देशान्तर, कालान्तरवर्त्ती अनेक पदार्थों के संबंध का परोक्ष ज्ञान कर लेता है॥१०३॥

प्रत्यक्ष के समान ऊहाज्ञान का भी स्वार्थ-प्रकाशकत्व अपनी योग्यता की सामर्थ्य से व्यवस्थित ही है। प्रत्यक्षज्ञान अपने जानने योग्य विषयों के साथ संबंध के ग्रहण की अपेक्षा नहीं रखता है। यदि प्रत्यक्ष की उत्पत्ति में भी संबंध का ग्रहण होना मानोगे तो अनवस्था का प्रसंग आयेगा। इसको ग्रन्थकार स्पष्ट करते हैं-

प्रत्यक्ष का अपने विषय के साथ ग्राह्य ग्राहक भाव संबंध या विषयविषयीभाव संबंध अथवा और कोई तदुत्पत्ति, तदाकार संबंध है? वह सम्बन्ध किस स्वार्थ के द्वारा प्रत्यक्ष ग्रहण किया जाएगा? इसका कुछ समय तक चिंतन करो क्योंकि प्रत्यक्ष के उत्पादक संबंध को प्रत्यक्ष द्वारा जानने पर अनवस्था दोष आता है अर्थात् प्रत्यक्ष उत्पादक सम्बन्ध को प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं जान सकता॥१०४॥

प्रत्यक्षस्यापि स्वार्थे संबंधो ग्राह्यग्राहकभाव: कार्यकारणभावो वाभ्युपगंतव्य एवान्यथा तत: स्वार्थप्रतिपत्तिनियमायोगादतिप्रसंगात्। स च यदि गृहीत एवाध्यक्षप्रवृत्तिनिमित्तं तदा केन गृह्यत इति चिंत्यं स्वेन प्रत्यक्षांतरेणानुमानेन वा॥

स्वतश्चेत्तादृशाकारा प्रतीति: स्वात्मनिष्ठिता। नासौ घटोयमित्येवमाकाराया: प्रतीतित:॥१०५॥

प्रत्यक्षांतरतश्चेन्नाप्यनवस्थानुषंगत:। तत्संबंधस्य चान्येन प्रत्यक्षेण विनिश्चयात्॥१०६॥

नानुमानेन तस्यापि प्रत्यक्षायत्तता स्थिते:। अनवस्थाप्रसंगस्य तदवस्थत्वतस्तराम्॥१०७॥

स्वसंवेदनत: सिद्धे स्वार्थसंवेदनस्य चेत्। संबंधोक्षधिय: स्वार्थे सिद्धे कश्चिदतींद्रिय:॥१०८॥

प्रत्यक्ष का भी अपने ग्राह्यविषय में ग्राह्य-ग्राहकभाव, कार्यकारणभाव अथवा विषयविषयीभाव रूप कोई सम्बन्ध अवश्य स्वीकार करना ही पड़ेगा अन्यथा उस प्रत्यक्ष से अपने ग्राह्य अर्थों की प्रतीति करने के नियम का अयोग होने से अतिप्रसंग दोष भी आयेगा। अर्थात् सम्बन्ध को नहीं प्राप्त हुए देशान्तर, कालान्तर के पदार्थों को भी प्रत्यक्ष जान सकेगा, अत: सम्बन्ध जानना आवश्यक है। यदि वह सम्बन्ध किसी ज्ञान से गृहीत होकर ही अध्यक्ष की प्रवृत्ति का निमित्त कारण बनेगा, तो वह सम्बन्ध पुन: किस ज्ञान से ज्ञात होगा? इसका विचार करना चाहिए, क्या वह प्रत्यक्ष स्वयं अपने से ही अपने उत्थापक सम्बन्ध का ज्ञान कर लेगा? या प्रत्यक्षों और अनुमानान्तरों के द्वारा प्रत्यक्ष के कारण सम्बन्ध की ज्ञप्ति करेगा?

वह तादृशाकार सम्बन्ध की ज्ञप्ति स्वयं अपने प्रत्यक्ष स्वरूप में प्रतिष्ठित प्रतीत नही होता है। अर्थात् कोई भी प्रत्यक्ष स्वयं अपने आप सम्बन्ध को नहीं जान रहा है। क्योंकि 'वह घट है' 'यह पुस्तक है' इस प्रकार आकार वाली प्रत्यक्ष द्वारा प्रतीतियाँ हो रही हैं, इनमें सम्बन्ध प्रतिभासित नहीं है। द्वितीय विकल्प के अनुसार अन्य प्रत्यक्षों से सम्बन्ध का ग्रहण होना मानना ठीक नहीं है, क्योंकि इसमें अनवस्था दोष का प्रसंग आता है। सम्बन्ध का और उन प्रत्यक्षों के उत्थापक सम्बन्धों का भी निर्णय पृथक्-पृथक् अन्य प्रत्यक्षों के द्वारा ही किया जाता है॥१०५-१०६॥

तथा, अनुमान के द्वारा प्रत्यक्ष के उत्थापक उस सम्बन्ध का ग्रहण होना भी नहीं बनता है, क्योंकि उस अनुमान की भी स्थिति प्रत्यक्ष के अधीन है अत: उस प्रत्यक्ष के लिए पुन: अनुमान द्वारा सम्बन्ध ग्रहण करना आकांक्षित होगा, अत: अनवस्था दोष का प्रसंग वैसा का वैसा ही रहेगा॥१०७॥

अपने विषयभूत अर्थ की ज्ञप्ति करने वाले इन्द्रियजन्य ज्ञान का अपने अर्थ में सम्बन्ध का ग्रहण यदि स्वसंवेदन से ही सिद्ध हुआ माना जावेगा (अर्थात् स्व के द्वारा योग्य अर्थ का ज्ञान करा देना ही सम्बन्ध का ग्रहण है) तब तो कोई अतीन्द्रिय सम्बन्ध सिद्ध हो जाता है, जिसका कि दूसरा नाम क्षयोपशम है। अथवा स्वार्थसंवेदन की स्वसंवेदन की स्वसंवेदन से सिद्धि होने के कारण यदि इन्द्रियजन्य ज्ञान का कोई लब्धिरूप अतीन्द्रिय सम्बन्ध सिद्ध है तो वह क्षयोपशम नाम की यह योग्यता ही है। यह योग्यता इस तर्कज्ञान में भी समान है। तर्कज्ञान के विषयभूत सम्बन्ध के ज्ञान की स्वत: संवित्ति होने से वह योग्यता

क्षयोपशमसंज्ञेयं योग्यतात्र समानता। सैव तर्कस्य संबंधज्ञानसंवित्तितः स्वतः ।।१०९।।

न प्रत्यक्षं स्वार्थे संबंधग्रहणापेक्षं प्रवर्तते क्वचिदकस्मात्तत्प्रवृत्तिदर्शनात्। किं तर्हि। तस्य स्वसंवेदनादिवत्स्वार्थग्रहणसिद्धिः स्वतोतींद्रियः कश्चित्संबंधः। स्वार्थानुमानः सिद्ध्येदितिचेत् सैव योग्यता स्वावरणक्षयोपशमाख्या प्रत्यक्षस्यार्थप्रकाशनहेतुरिह समायाता। तर्कस्यापि स्वयं व्याप्तिग्रहणानुभवात्तज्ज्ञानावरणक्षयोपशमरूपा योग्यतानुमीयमाना सिद्ध्यतु प्रत्यक्षवदनवस्थापरिहारस्यान्यथा कर्तुमशक्तेः। ननु च यथा तर्कस्य स्वविषयसंबंधग्रहणमनपेक्षमाणस्य प्रवृत्तिस्तथानुमानस्यापि सर्वत्र ज्ञाने स्वावरणक्षयोपशमस्य स्वार्थप्रकाशनहेतुरविशेषात्। ततोनर्थकमेव तत्संबंधग्रहणाय तर्कपरिकल्पनमितिचेत् , सत्यमनुमानस्यापि स्वयोग्यता ग्रहणनिरपेक्षकमनुमेयार्थप्रकाशनं न पुनरुत्पत्तिलिंगलिंगिसंबंधग्रहणनिरपेक्षास्त्य-

---

नियामक मानी जाती है। अर्थात् प्रत्यक्षज्ञान जैसे घट को जानने में स्वतंत्र है, उत्पत्ति होने में भले ही इन्द्रिय आदिक की अपेक्षा करें वैसे ही अपनी योग्यता अनुसार अनुमान ज्ञान साध्य को जानने में स्वतंत्र है, उसी प्रकार तर्कज्ञान भी योग्यता के वश अपने साध्य और साधन के सम्बन्ध को विषय करने में स्वतंत्र है।। १०८-१०९।।

(बौद्ध) अपने विषय में प्रत्यक्ष प्रमाण सम्बन्ध के ग्रहण की अपेक्षा रखता हुआ प्रवृत्ति नहीं करता है, क्योंकि किसी एक विषय में अकस्मात् उसकी प्रवृत्ति होना देखा जाता है तो, क्या है? ऐसी जिज्ञासा होने पर उत्तर है कि स्वसंवेदन, चित्रवेदन आदि के समान उस प्रत्यक्ष की स्वार्थ को ग्रहण करने की सिद्धि हो रही है अर्थात् इन्द्रिय, आत्मा, विषय आदि की योग्यता मिलने पर स्पष्ट इन्द्रियजन्यप्रत्यक्ष हो जाता है कोई सम्बन्ध की आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार तो स्वतः कोई अतीन्द्रिय सम्बन्ध स्वार्थ अनुमान सिद्ध होता है? अर्थात् स्वार्थ के नियतरूप से ग्रहण किये जाने रूप कार्य को देखकर किसी-न-किसी अतीन्द्रिय सम्बन्ध का अनुमान हो जाने से इन्द्रियों द्वारा नहीं जानने योग्य सम्बन्ध सिद्ध हो जाता है। बौद्ध के ऐसा कहने पर जैन कहते हैं-वही विषयविषयीभाव का नियामक सम्बन्ध तो वह योग्यता है जिसका नाम स्वावरणकर्मों का क्षयोपशम है। वही योग्यता प्रत्यक्ष के द्वारा नियत अर्थों के प्रकाश करने का हेतु है। तर्कज्ञान की स्वयं व्याप्ति के ग्रहणरूप अनुभव से उस तर्कज्ञान के आवरण करने वाले कर्मों की क्षयोपशम रूप योग्यता भी अनुमान से जानी गई सिद्ध होती है। अन्यथा (यानी योग्यता को माने बिना) अनवस्था दोष का परिहार नहीं किया जा सकता है। जैसे कि प्रत्यक्ष में योग्यता को माने बिना अनवस्था का परिहार नहीं हो सकता है।

जैसे अपने सम्बन्धरूप विषय में अन्य सम्बन्ध के ग्रहण की अपेक्षा नहीं रखने वाले तर्कज्ञान की अपने विषय में प्रवृत्ति होना माना जाता है, वैसे ही अनुमान की भी अपने विषय साध्य को जानने में व्याप्तिरूप सम्बन्ध के ग्रहण की अपेक्षा नहीं होकर ही प्रवृत्ति माननी चाहिए क्योंकि सभी ज्ञानों में अपने-अपने आवरणों की क्षयोपशमरूप योग्यता ही स्वार्थ के प्रकाश करने में हेतु है। प्रत्यक्ष या तर्क से अनुमान में कोई विशेषता नहीं है।

गृहीततत्संबंधस्य प्रतिपत्तुः क्वचित्कदाचिदनुत्पत्तिनिश्चयात्। नैवं प्रत्यक्षस्योत्पत्तिरपि करणार्थसंबंधग्रहणापेक्षा स्वयमगृहीततत्संबंधस्यापि पुनस्तदुत्पत्तिदर्शनात्। तद्वदूहस्याप्यतींद्रियात्मार्थसंबंधग्रहणनिरपेक्षस्योत्पत्तिदर्शना-न्नोत्पत्तावपि संबंधग्रहणापेक्षत्वमिति युक्तं तर्कः॥

प्रमाणविषयस्यायं साधको न पुनः स्वयं। प्रमाणं तर्क इत्येतत्कस्यचिद्व्याहतं मतम्॥११०॥

प्रमाणविषये शुद्धिः कथं नामाप्रमाणतः। प्रमेयांतरतो मिथ्याज्ञानाच्चैतत्प्रसंगतः॥१११॥

भावार्थ : अनुमान ज्ञान व्याप्ति ग्रहण हुए बिना भी अपनी योग्यता से ही साध्य को जान लेगा, अतः उस सम्बन्ध को ग्रहण करने के लिए तर्कज्ञान की कल्पना करना व्यर्थ ही है। इस प्रकार की शंका के प्रत्युत्तर में जैनाचार्य कहते हैं कि तुम्हारा कहना ठीक है। अनुमान के द्वारा भी अपनी योग्यता के बल से सम्बन्ध के ग्रहण की नहीं अपेक्षा रखने वाले अनुमेय अर्थ का प्रतिभास होना हमको अभीष्ट है किन्तु अनुमान की उत्पत्ति तो हेतु और साध्य के सम्बन्धरूप व्याप्ति के ग्रहण की नहीं अपेक्षा रखने वाली नहीं है। जिस पुरुष ने उन हेतु और साध्य का सम्बन्ध ग्रहण नहीं किया है, उस प्रतिपत्ता को किसी भी स्थल में कभी भी अनुमान की उत्पत्ति नहीं होती है, ऐसा निश्चय है। अनुमान के उत्पन्न हो जाने पर स्वतंत्रता से अनुमान द्वारा अनुमेय अर्थ का प्रकाश हो जाता है, किन्तु उसकी उत्पत्ति तो स्वतंत्र नहीं है, क्योंकि अनुमान को उत्पन्न कराने में स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, प्रत्यक्ष इन प्रमाणों की आवश्यकता है, अतः साध्य को जानने वाला अनुमान स्वतंत्र है, किन्तु अपनी उत्पत्ति में सम्बन्ध ग्रहण की अपेक्षा रखता है, अतः परतंत्र भी है। इस प्रकार प्रत्यक्ष की उत्पत्ति भी इन्द्रिय और अर्थ के सम्बन्ध का ग्रहण करने की अपेक्षा नहीं रखती है, क्योंकि जिस पुरुष ने उन इन्द्रिय और अर्थों के सम्बन्ध को स्वयं ग्रहण नहीं भी किया है, उसके भी फिर उस प्रत्यक्ष के समान तर्कज्ञान की भी इन्द्रिय अगोचर आत्मा और अर्थ के सम्बन्ध को ग्रहण नहीं करने की अपेक्षा रखते हुए भी उत्पत्ति देखी जाती है। तर्क की उत्पत्ति में भी सम्बन्ध के ग्रहण की अपेक्षा नहीं है, अतः तर्कज्ञान में अनवस्था दोष नहीं आता है। इस प्रकार मतिज्ञान का एक भेद तर्कज्ञान मानना युक्त है।

'अनुमान प्रमाण के विषय का साधक या परिशोधक तर्कज्ञान स्वयं तो प्रमाण नहीं है (अर्थात् जो ज्ञान प्रमाण का साधक है वह प्रमाण ही हो, यह कोई नियम नहीं है), अतः अनुमान प्रमाण का साधक तर्कज्ञान एकान्तरूप से प्रमाण नहीं कहा जा सकता है। इस प्रकार यह किसी का कथन व्याघात दोष से युक्त है, क्योंकि, प्रमाण के विषय में अप्रमाण ज्ञान से शुद्धि कैसे हो सकती है? अन्यथा (यानी अप्रमाण पदार्थ से प्रमाण की शुद्धि होना माना जायेगा तो) दूसरे घट, पट आदि प्रमेयों से अथवा संशय आदिक मिथ्याज्ञानों से भी इस प्रमाण विषय के शोधकपने का प्रसंग आयेगा॥११०-१११॥

प्रश्न : जैसे संशयित अर्थों में निर्णय करने के लिए प्रमाणों की प्रवृत्ति होना लोक में देखा जाता है, उसी प्रकार तर्क से जाने गये विषयों में भी निर्णयार्थ मनुष्यों की प्रवृत्ति होती है, अतः यह भी संशय ज्ञान होगा ?

यथा संशयितार्थेषु प्रमाणानां प्रवर्तनं। निर्णयाय तथा लोके तर्कितेष्विति चेन्मतम्॥११२॥

संशयः साधकः प्राप्तः प्रमाणार्थस्य ते तथा। नाप्रमाणत्वतस्तर्कः प्रमाणमनुमन्यताम्॥११३॥

स चेत्संशयजातीयः संशयात्पृथगास्थितः। कथं पदार्थसंख्यानं नान्यथास्त्विति त्वश्नुते॥११४॥

तस्मात्प्रमाणकर्तव्यकारिणो वेदितात्मनः। सत्तर्कस्याप्रमाणत्वमवितर्क्यं प्रचक्ष्यते॥११५॥

प्रमाणं तर्कः प्रमाणकर्तव्यकारित्वात् प्रत्यक्षादिवत् प्रत्ययसाधनं प्रमाणकर्तव्यं तत्कारी च तर्कः प्रसिद्ध इति नासिद्धो हेतुः। नाप्यनैकांतिकोऽप्रमाणे विपक्षे वृत्त्यभावात्। न हि प्रमेयांतरं संशयादि वा प्रमाणविषयस्य साधनं विरोधात्। ततस्तर्कस्थप्रमाणविषयसाधकत्वमिच्छता प्रमाणत्वमुपगंतव्यम्। किं च—

सम्यक् तर्कः प्रमाणं स्यात्तथानुग्राहकत्वतः। प्रमाणस्य यथाध्यक्षमनुमानादि चाश्नुते॥११६॥

अनुग्राहकता व्याप्ता प्रमाणत्वेन लक्ष्यते। प्रत्यक्षादौ तथाभासे नागमानुग्रहक्षतेः॥११७॥

उत्तर : इस प्रकार कहने वाले के अभिमत में संशय ज्ञान भी प्रमाण अर्थ का साधक हो जायेगा, अतः अप्रमाणपने से संशयज्ञान की जो व्यवस्था थी वह नहीं रह सकती। इसी प्रकार प्रमाण के साधक तर्कज्ञान को भी प्रमाण मान लेना चाहिए। यदि तर्क को संशय की जाति वाला माना जायेगा, तो वह संशय से भिन्न नहीं होगा। ऐसी दशा में पदार्थ की संख्या करना दूसरे प्रकार से क्यों नहीं हो जाएगी ? द्रव्य, गुण आदि में तो तर्क नहीं गिनाया है, अतः स्वयं अपने स्वरूप को जानने वाले और प्रमाण से करने योग्य कार्य को बनाने वाले समीचीन तर्कज्ञान को अप्रमाण कहना बिना विचार का है अर्थात् विचार करने पर तर्कज्ञान की प्रमाणता सिद्ध है॥११२-११३-११४-११५॥

प्रमाण से करने योग्य कार्यों का करने वाला होने से तर्कज्ञान प्रमाण है जैसे प्रत्यक्ष, अनुमान आदिक ज्ञान प्रमाण हैं। प्रमाण का कर्त्तव्य प्रतीति का साधन करना है। उसका करने वाला तर्कज्ञान प्रसिद्ध ही है। इसलिए हेतु के पक्ष में रहने से प्रतीति रूप हेतु असिद्ध हेत्वाभास भी नहीं है, तथा यह हेतु व्यभिचारी भी नहीं है, क्योंकि संशय आदिक अप्रमाणरूप विपक्षों में प्रमाण कर्त्तव्यकारित्व हेतु नहीं रहता है। प्रतियोगी के सदृश को पकड़ने वाले पर्युदास पक्ष के अनुसार अप्रमाण संशय आदिक हैं और 'नञ' द्वारा सर्वथा निषेध को ही करने वाले प्रसज्यनिषेध के अनुसार घट, पट आदि अप्रमाण हैं। वे सभी इतर प्रमेय अथवा संशय आदिक अप्रमाण पदार्थ प्रमाणविषय के साधक नहीं हैं। प्रमाण द्वारा साधने योग्य कार्य को करने का इनमें विरोध है, अतः तर्क को प्रमाण विषय का साधकपना चाहने वाले वादी को उसका प्रमाणपना स्वीकार कर लेना चाहिए और भी एक यह बात है कि-

प्रमाणों का अनुग्रह करने वाला होने से समीचीन तर्कज्ञान प्रमाण है, जिस प्रकार प्रत्यक्ष और अनुमान आदिक प्रमाण प्रमाणपन को व्याप्त कर लेने से प्रमाण हैं जैसा प्रमाणों का अनुग्रह करना रूप हेतु प्रमाणपनरूप साध्य से व्याप्त प्रत्यक्ष आदि दृष्टान्तों में देखा जाता है। इस प्रकार का अनुग्रहपन प्रमाणाभासों में नहीं दिखता है, क्योंकि यदि प्रमाणाभास में अनुग्रहता स्वीकार की जावेगी तो आगम के अनुग्रह करा देने का प्रत्यक्ष आदि में जो निर्णय होता है, उसकी क्षति हो जायेगी। (अर्थात् सत्यवक्ता के द्वारा ज्ञात अग्नि

यस्मिन्नर्थे प्रवृत्तं हि प्रमाणं किंचिदादित:। तत्र प्रवृत्तिरन्यस्य यानुग्राहकतात्र सा॥११८॥

पूर्वनिर्णीतदार्ढ्यस्य विधानादभिधीयते। उत्तरेण तु तद्युक्तमप्रमाणेन जातुचित्॥११९॥

स्वयं प्रमाणानामनुग्राहकं तर्कमिच्छन्नाप्रमाणं प्रतिपत्तुं समर्थो विरोधात्। प्रमाणसामग्र्यंतर्भूत: कश्चित्तर्क: प्रमाणमिष्ट एवेति चेन्न, तस्य स्वयं प्रमाणत्वोपपत्ते:। तथाहि—प्रमाणं तर्क: साक्षात्परंपरया च स्वार्थनिश्चयने फले साधकतमत्वात्प्रत्यक्षवत् स्वविषयभूतस्य साध्यसाधनसंबंधाज्ञाननिवृत्तिरूपे साक्षात्स्वार्थनिश्चयने फले साधकतमस्तर्क: परंपरया तु स्वार्थानुमाने हानोपादानोपेक्षाज्ञाने वा प्रसिद्ध एवेत्युपसंह्रियते॥

ततस्तर्क: प्रमाणं न: स्यात्साधकतमत्वत:। स्वार्थनिश्चयने साक्षादसाक्षाच्चान्यमानवत्॥१२०॥

के आगमज्ञान का धूमहेतु से उत्पन्न अनुमान द्वारा और अग्नि के प्रत्यक्ष द्वारा अनुग्रह कर दिया जाता है अत: अनुमान और प्रत्यक्ष जैसे प्रमाण हैं, उसी प्रकार अनुमान का उपकारक होने से तर्कज्ञान भी प्रमाण है)॥ ११६-११७॥

जिस अर्थ में कोई भी प्रमाण प्रथम से प्रवृत्त होता है, उसी विषय में अन्य प्रमाणों की प्रवृत्ति हो जाना यहाँ अनुग्राहकपना माना गया है। वह अनुग्राहकता भी पहले से निर्णीत किये गये अर्थ की अधिक दृढ़ता का विधान करने से कही जाती है। उत्तरकालवर्ती प्रमाणरूप ज्ञान से पूर्वनिर्णीत अर्थ की दृढ़ता की जा सकती है। अप्रमाणज्ञान में या अप्रमाणज्ञान के द्वारा दृढ़ता कभी नहीं हो सकती है, अत: दृढ़ता का सम्पादक तर्कज्ञान प्रमाण है॥११८-११९॥

प्रमाणों का अनुग्रह कराने वाले तर्क ज्ञान को स्वयं चाहता हुआ विद्वान् इस तर्क को अप्रमाण कहने के लिए समर्थ नहीं है, क्योंकि तर्क को अप्रमाण कहना स्ववचनबाधित है, कोई कहता है कि प्रमाण की सामग्री के भीतर प्रविष्ट होने से तर्कज्ञान प्रमाण है, स्वतंत्र नहीं है? अर्थात्-तर्कज्ञान को प्रमाण की सामग्री के भीतर प्रविष्ट हुआ मानते हैं; स्वतंत्र पृथक् प्रमाण नहीं। आचार्य कहते हैं-ऐसा कहना उचित नहीं है, क्योंकि उस तर्क को स्वयम् प्रमाणपना युक्तिसिद्ध है। अव्यवहित रूप से स्वार्थ का निश्चय करना रूप फल में और परम्परा से होने वाले फलों में प्रकृष्ट उपकारक होने से तर्कज्ञान प्रमाण है जैसे कि प्रत्यक्षज्ञान प्रमाण है। तर्कज्ञान अपने विषयरूप साध्य और साधन के अविनाभावरूप सम्बन्ध के अज्ञान की निवृत्ति करना रूप स्वार्थनिश्चयस्वरूप, अव्यवहित फल को उत्पन्न करने में प्रकृष्ट उपकारक है और परम्परा से तो स्वार्थ अनुमान में, हेय में हानबुद्धि और उपादेय में उपादान बुद्धि तथा उपेक्षणीय तत्त्वों में उपेक्षा बुद्धि करने रूप फल में करण (साधन) होता हुआ तर्कज्ञान प्रसिद्ध ही है। **इस प्रकार तर्कज्ञान पर बहुत विचार हो चुका है। अब तर्क के प्रकरण का उपसंहार किया जाता है कि-**

हम स्याद्वादियों के यहाँ तर्कज्ञान प्रमाण है, अपना और अर्थ का निश्चय करने में साधकतमपना होने से, जैसे कि अनुमान ज्ञान अथवा अन्य सच्चे ज्ञान प्रमाण हैं। अपने विषयभूत स्वार्थ की अज्ञाननिवृत्ति करना प्रत्येक ज्ञान का साक्षात् फल है और पीछे परम्परा से आत्मा के पुरुषार्थ की प्रवृत्ति अनुसार छोड़ना, ग्रहण करना, उपेक्षा करना रूप फल है॥१२०॥ यहाँ तक तर्कज्ञान का विचार पूर्ण हो गया है। **अब मतिज्ञान के अभिनिबोध भेद का विचार करते हैं।**

साधनात्साध्यविज्ञानमनुमानं विदुर्बुधा:। प्रधानगुणभावेन विधानप्रतिषेधयो: ।।१२१।।

अन्यथानुपपत्त्येकलक्षणं तत्र साधनं । साध्यं शक्यमभिप्रेतमप्रसिद्धमुदाहृतम् ।।१२२।।

तत्साध्याभिमुखो बोधो नियत: साधने तु य:। कृतोनिंद्रिययुक्तेनाभिनिबोध: स लक्षित: ।।१२३।।

साध्याभावासंभवनियमलक्षणात्साधनादेव शक्याभिप्रेताप्रसिद्धत्वलक्षणस्य साध्यस्यैव यद्विज्ञानं तदनुमानमाचार्या विदु: यथोक्तहेतुविषयद्वारकविशेषणयोरन्यतरस्यानुमानत्वाप्रतीते:। स एव वाभिनिबोध इति लक्षित:। साध्यं प्रत्यभिमुखस्य नियमितस्य च साधनेनानिंद्रिययुक्तेनाभिबोधस्याभिनिबोधत्वात्। ननु

विद्वान् पुरुष साधन से साध्य के विज्ञान को अनुमान प्रमाण कहते हैं। वह अनुमान ज्ञान प्रधान रूप से प्रकृत साध्य के विधान करने में और गौण रूप से साध्यभिन्न पदार्थों के निषेध करने में चरितार्थ होता है। अथवा उपलब्धि और अनुपलब्धि हेतु द्वारा प्रधान और गौणरूप से साध्य की विधि और निषेध करने में युक्त रहता है।।१२१।।

शक्य, अभिप्रेत (इष्ट) और असिद्ध के साध्य को सिद्ध करने वाले साधन का अन्यथानुपपत्ति एक लक्षण कहा गया है।।१२२।। अर्थात् अन्यथानुपपत्ति (साध्य के बिना नहीं रहना जिसका लक्षण है) वह साधन है और शक्य, इष्ट और असिद्ध साध्य कहलाता है।

'साधनात्साध्यविज्ञानम्' इसका अर्थ यह है कि अनिन्द्रिय यानी मन से सहकृत साधनज्ञान से साध्य की ओर अभिमुख होकर नियत जो बोध किया गया है, वह अभिनिबोध का लक्षण है।

अर्थात् अभि और नि उपसर्गपूर्वक 'बुध अवगमने' धातु से घञ् प्रत्यय कर अभिनिबोध शब्द बना है। 'अभि' यानी साध्य के अभिमुख 'नि' यानी अविनाभावरूप नियम से जकड़ा हुआ बोध यानी साधन से साध्य का ज्ञान होना। इस प्रकार निरुक्ति करने से अभिनिबोध का अर्थ अनुमान होता है। साधन का ज्ञान अनुमान का उत्थापक है।।१२३।।

साध्य का अभाव होने पर नियम से असम्भव होना जिसका लक्षण है, ऐसे साधन से ही शक्य, अभिप्रेत और अप्रसिद्धपना लक्षण वाले साध्य का जो विज्ञान होता है, वह अनुमान है, ऐसा आचार्य मान रहे हैं। पूर्वोक्तानुसार अभिमुख और नियमित अर्थ को कहने वाले तथा हेतु करके जाने गए विषय को द्वार बनाकर उपात्त किये गए अभि और नि इन दो विशेषणों में से किसी भी एक के नहीं लगाने पर अनुमानपना प्रतीत नहीं होता है, अत: वही ज्ञान अभिनिबोध है। जिसमें नि और अभि प्रत्यय लगा है। ऐसा यहाँ अनुमान के प्रकरण में लक्षण प्राप्त है, क्योंकि साध्य के प्रति उन्मुख और अन्यथानुपपत्तिरूप नियम से वेष्टित अर्थ का मन इन्द्रिय से नियोजित साधन करके बोध होने को अभिनिबोधपना व्यवस्थित है। अर्थात् **साधन से जो साध्य का ज्ञान होता है वह अभिनिबोध है।**

शंका : पूर्व आचार्यों ने सामान्यरूप से सभी मतिज्ञानों को अभिनिबोध कहा है। श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने भी 'अभिमुहणियमियवोहणमाभिवोहणमणिंदियेंदिजयम्' -इस गाथा से इन्द्रिय, अनिन्द्रियों

मतिज्ञानसामान्यमभिनिबोधः प्रोक्तो न पुनः स्वार्थानुमानं तद्विशेष इति चेन्न, प्रकरणविशेषाच्छब्दांतरसंनिधानादेर्वा सामान्यशब्दस्य विशेषे प्रवृत्तिदर्शनात् गोशब्दवत्। तेन यदा कृतषट्त्रिंशत्त्रिशतभेदमाभिनिबोधिकमुच्यते तदाभिनिबोधसामान्यं विज्ञायते, यदा त्ववग्रहादिमतिविशेषानभिधाय ततः पृथगभिनिबोध इत्युच्यते तदा स्वार्थानुमानमिति इंद्रियानिंद्रियाभ्यां नियमितस्यासर्वपर्यायद्रव्यं प्रत्यभिमुखस्य बोधस्यास्याभिनिबोधिकव्यपदेशादभिनिबोध एवाभिनिबोधिकमिति स्वार्थेकस्य ठणो विधानात्। न च तदनिंद्रियेण लिंगापेक्षेणं नियमितं साध्यार्थाभिमुखं बोधनमाभिनिबोधिकमिति

से उत्पन्न होने वाले सभी मतिज्ञानों को अभिनिबोध कहा है, किन्तु उस मतिज्ञान के विशेष भेद स्वार्थानुमान को अभिनिबोध नहीं कहा है।

समाधान : ऐसा कहना उचित नहीं है, क्योंकि विशेष प्रकरण होने से अथवा अन्य शब्दों के सन्निकट होने से या तात्पर्य आदि से सामान्य शब्द की विशेष अर्थों में प्रवृत्ति होना दृष्टिगोचर हो रहा है, जैसे कि वाणी, दिशा, पृथ्वी, वज्र, किरण, पशु, नेत्र, स्वर्ग, जल, बाण, रोम इन ग्यारह अर्थों में सामान्य रूप से रहने वाला गो शब्द प्रकरण विशेष होने पर गो या वाणी को विशेष रूप से कहने लग जाता है। क्वचित् विशेष शब्द भी सामान्य का वाचक हो जाता है, अतः जब तीन सौ छत्तीस भेदवाला अभिनिबोध कहा जाता है, तब सामान्य मतिज्ञान ही अभिनिबोध समझा जाता है किन्तु जब मतिज्ञान के विशेष भेद अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा आदि को कह चुकने पर उन अवग्रह आदिकों से पृथक् अभिनिबोध ऐसा कहा जाता है तब अभिनिबोध का अर्थ स्वार्थानुमान किया जाता है। इस प्रकार इन्द्रिय और अनिन्द्रिय से नियमित, थोड़ी सी पर्याय और सम्पूर्ण द्रव्यों के प्रति अभिमुख बोध को आभिनिबोधिक ऐसा नाम निर्देश किया गया है। अभिमुख नियमित, बोध ही तो आभिनिबोधिक है। इस प्रकार स्वार्थ में ही किये गये 'ठण' प्रत्यय का विधान है (ठण् को 'इक' आदेश हो जाता है जो प्रकृति का अर्थ है, वही स्वार्थ में किये गये प्रत्ययों से युक्त पद का अर्थ है)। वह अनुमानरूप अभिनिबोध ज्ञापक लिंग की अपेक्षा रखने वाले मन के विचार द्वारा नियमित साध्य रूप अर्थ के अभिमुख होकर बोध करना आभिनिबोधिक है। यह विरुद्ध नहीं पड़ता है, क्योंकि उस आभिनिबोध का लक्षण करने वाले वाक्य में दूसरे वाक्य का (आस्रव-आगमन) हो जाता है अर्थात् लक्ष्य में शब्द का लक्षण भिन्न-भिन्न अभीष्ट है।

भावार्थ : 'इन्द्रियानिंद्रियजन्यं' इस लक्षण का अर्थ इन्द्रिय अनिन्द्रिय दोनों से उत्पन्न होना यह तो सामान्य मतिज्ञान में घट जाता है और योग विभाग कर केवल अनिन्द्रिय का आकर्षण करने से अनिन्द्रियजन्य अभिमुख नियत अर्थ का बोध करना यह लक्षण स्वार्थानुमानरूप अभिनिबोध में घट जाता है।

बौद्धों का कथन है कि अन्यथानुपपत्तिरूप एक लक्षण वाले हेतु से लिङ्गी में ज्ञान होना अनुमान नहीं है, जो कि अभिनिबोध शब्द से कहा जाता है।

शंका : अभिनिबोध का अर्थ क्या है?

विरुध्यते, तल्लक्षणवाक्ये वाक्यांतरोपप्लवात्। न तु नैकलक्षणाल्लिंगाल्लिंगिनि ज्ञानमनुमानं यदभिनिबोधशब्देनोच्यते। किं तर्हि। त्रिरूपाल्लिंगादनुमेये ज्ञानमनुमानमिति परमतमुपदर्शयन्नाह;—

निश्चितं पक्षधर्मत्वं विपक्षे सत्त्वमेव च। सपक्ष एव जन्मत्वं तत्त्रयं हेतुलक्षणम्॥१२४॥

केचिदाहुर्न तद्युक्तं हेत्वाभासेपि संभवात्। असाधारणतापायाल्लक्षणत्वविरोधतः॥१२५॥

असाधारणो हि स्वभावो भावलक्षणमव्यभिचारादग्नेरौष्ण्यवत्। न च त्रैरूप्यस्यासाधारणता तद्धेतौ तदाभासेपि तस्य समुद्भवात्। ततो न तद्धेतुलक्षणं युक्तं पंचरूपत्वादिवत्। कुत एव तदित्युच्यते;—

वक्तृत्वादावसार्वज्ञसाधने त्रयमीक्ष्यते। न हेतुत्वं विना साध्याभावासंभूष्णुतां यतः॥१२६॥

इदमिह संप्रधार्य त्रैरूप्यमात्रं वा हेतोर्लक्षणं विशिष्टं वा त्रैरूप्यमिति? प्रथमपक्षेन

समाधान : पक्ष धर्मत्व, सपक्षसत्त्व और विपक्ष व्यावृत्ति, इन तीन रूप वाले लिङ्ग से अनुमान करने योग्य साध्य में ज्ञान होना अनुमान कहा गया है। बौद्धों के इस मत का खण्डन करते हुए आचार्य उत्तरपक्ष का स्पष्ट कथन करते हैं कि ये तीनों लक्षण तो हेत्वाभास में भी पाये जाते हैं।

संदिग्ध साध्य वाले पक्ष में निश्चितरूप से वृत्ति होना और निश्चित साध्याभाववाले विपक्ष में हेतु का असत्त्व होना तथा निश्चित साध्य वाले सपक्ष में आधार-आधेयभाव रूप से जन्म लेकर रहना ये तीनों ही हेतु के लक्षण हैं ऐसा कोई बौद्ध कहते हैं, परन्तु इस प्रकार (बौद्ध) का कथन रूप (पक्ष धर्मत्व, सपक्षसत्त्व और विपक्ष व्यावृत्ति ये तीनों) हेतु का लक्षण-युक्तिपूर्ण नहीं है क्योंकि वह लक्षण हेत्वाभास में भी सम्भव है। लक्ष्य के अतिरिक्त अन्य पदार्थों में नहीं रहने वाले असाधारणधर्म को लक्षण कहते हैं। असाधारणपना न होने से त्रैरूप्य को हेतु के लक्षणपने का विरोध है॥१२४-१२५॥

अग्नि की उष्णता के समान अव्यभिचारी होने से असाधारण स्वभाव भाव ही लक्ष्य का लक्षण है। परन्तु बौद्धों द्वारा माने गये हेतु के त्रैरूप्य को असाधारणपना नहीं है, क्योंकि इस हेतु में और उसके आभासरूप हेत्वाभास में भी उस त्रैरूप्य की उपपत्ति होना दृष्टिगोचर होता है।

अतः त्रैरूप्य को हेतु का लक्षण मानना युक्त नहीं है, जैसे कि पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व, विपक्षव्यावृत्ति असत्प्रतिपक्षपना और अबाधितपना इन पाँच रूपों का धर्म पाञ्चरूप्य या उक्त चार रूपों का धर्म चातुरूप्य आदिक हेतु के लक्षण नहीं हैं।

वह त्रैरूप्य हेतु का लक्षण नहीं है, यह कैसे जाना? ऐसी जिज्ञासा होने पर आचार्य उत्तर देते हैं-

बुद्ध को असर्वज्ञपना सिद्ध करने में वक्तापन, पुरुषपन आदि हेतुओं में वे तीनों रूप देखे जाते हैं, किन्तु साध्य के न रहने पर हेतु का नहीं होनापनरूप अन्यथानुपपत्ति के बिना वक्तृत्व आदि में हेतुपना नहीं है। हेतु के त्रैरूप्यलक्षण का वक्तृत्व आदि में व्यभिचार है, अतः त्रैरूप्य हेतु में असाधारण धर्म का अभाव होने से वह लक्षण नहीं बन सकता॥१२६॥

यहाँ पर यह विचार करने योग्य है कि सामान्यरूप से (यानी विशेषपन से रहित) त्रैरूप्य को हेतु का लक्षण मानते हैं? या किसी विशेषण से सहित इस त्रैरूप्य को हेतु का लक्षण कहते हैं? पहला पक्ष लेने

तदसाधारणहेत्वाभासेपि तावदादित्वलक्षणमेव बुद्धोसर्वज्ञो वक्तृत्वादे रथ्यापुरुषवदित्यत्र हेतोः पक्षधर्मत्वं सपक्षे सत्त्वं विपक्षे वासत्त्वं। सर्वज्ञो वक्ता पुरुषो वा न दृष्ट इति। न च गमकत्वमन्यथानुपपन्नत्वविरहात्। विशिष्टं त्रैरूप्यं हेतुलक्षणमिति चेत् कुतो न तदविशिष्टं ?॥

सर्वज्ञत्वेन वक्तृत्वं विरुद्धं न विनिश्चितं। ततो न तस्य हेतुत्वमित्याचक्षणकः स्वयम् ॥१२७॥

तदेकलक्षणं हेतोर्लक्षयत्येव तत्त्वतः। साध्याभावविरोधो हि हेतोर्नान्यस्ततो मतः ॥१२८॥

तदिष्टौ तु त्रयेणापि पक्षधर्मादिनात्र किं। तदभावेपि हेतुत्वसिद्धेः क्वचिदसंशयम् ॥१२९॥

साध्याभावविरोधित्वाद्धेतुस्त्रैरूप्यमविशिष्टकर्तृत्वादिति वदन्नन्यथानुपपन्नत्वमेव विशिष्टत्वमभ्युपगच्छति साध्याभावविरोधित्वस्यैवान्यथानुपपन्नत्वनियमव्यपदेशात्। तथा पक्षधर्मत्वमेकमन्यथानुपपन्नत्वेन विशिष्टं सपक्षे सत्त्वं वा विपक्षासत्त्वमेव वा निश्चितं साध्यसाधनायालमिति किंतन्त्रयेण समुदितेन कर्तव्यं

पर तो वह त्रैरूप्य हेतु का असाधारण धर्म नहीं हो सकता है, क्योंकि यह त्रैरूप्य हेत्वाभास में भी पाया जाता है; अतः त्रैरूप्य लक्षण नहीं है। बुद्ध असर्वज्ञ है, वक्ता होने से, पुरुष होने से आदि। जैसे कि गली में चलने वाला मनुष्य असर्वज्ञ है। इस प्रकार के यहाँ अनुमान में हेतु का पक्षवृत्तित्व रूप है, अर्थात् वक्तापन हेतु बुद्ध में भी है। मुमुक्षुजनों के लिए मोक्ष का उपदेश देना बुद्ध का कर्त्तव्य बौद्धों ने माना है।

बुद्ध में पुरुषपना भी है, अतः सपक्षसत्त्व भी है। निश्चित रूप से असर्वज्ञ वर्तमानकाल के उपदेशकों में वक्तापन, पुरुषपन, विद्यमान है। सर्वज्ञजीव परमात्मा वक्ता अथवा पुरुष होते हुए नहीं देखे गये हैं। इस प्रकार वक्तापन और पुरुषपन हेतु में त्रैरूप्य है। फिर तो मीमांसकों द्वारा कथित उक्त अनुमान द्वारा कहा गया बुद्ध का असर्वज्ञपना सिद्ध हो जाता है, किन्तु जैनों द्वारा माने गये हेतु के लक्षण अन्यथानुपपन्नत्व के बिना वे दोनों हेतु असर्वज्ञपन साध्य के गमक नही बन पाते हैं।

यदि द्वितीय पक्षानुसार विशेषों से युक्त त्रैरूप्य को हेतु का लक्षण कहोगे तो वह त्रैरूप्य किस विशेषण से अविशिष्ट नहीं है? अर्थात् त्रैरूप्य में कौनसा विशेषण लगाया जाता है?

सर्वज्ञपन के साथ वक्तापन हेतु विरुद्ध होता हुआ विशेषरूप से निश्चित नहीं किया गया है अर्थात् सर्वज्ञ भी वक्ता हो सकते हैं इसमें कोई विरोध नहीं है। अतः वह वक्तापन समीचीन हेतु नहीं है। इस प्रकार कहने वाला (बौद्ध) स्वयं ही उस एक ही विपक्ष विरुद्ध को हेतु का परमार्थरूप से लक्षण करा रहा है, क्योंकि हेतु का साध्याभाव के साथ विरोध होना उस अन्यथानुपपत्ति से कोई पृथक् स्वरूप नहीं माना गया है।

और उस साध्याभाव विरोध यानी अन्यथानुपपत्ति को ही हेतु का लक्षण इष्ट करने पर उस हेतु में पक्षवृत्तिपन आदि तीन धर्मों से क्या प्रयोजन है? क्योंकि कहीं उन तीन धर्मों के अभाव होने पर भी संशयरहित सद्धेतु सिद्ध हो जाता है॥१२७-१२८-१२९॥

साध्याभाव के साथ विरोधीरूप विशेषण न रहने से वक्तापन, पुरुषपन ये सत् हेतु नहीं हो सकते हैं। इस प्रकार कहने वाले बौद्ध अन्यथानुपपत्ति नामक विशेषण से सहित हेतु को स्वीकार कर रहा है क्योंकि साध्याभाव के साथ विरोध रखने वाले का ही अन्यथानुपपत्ति व्यवहार कर दिया जाता है, और ऐसा होने

यतस्तद्धेतुलक्षणमाचक्षीत। न हि—

पक्षधर्मत्वशून्यो हेतुर्न सम्भवति तथाहि।

उदेष्यति मुहूर्त्तान्ते शकटं कृत्तिकोदयात्।
पक्षधर्मत्वशून्योयं हेतुः स्यादेकलक्षणः ॥१३०॥

उदेष्यच्छकटं व्योम कृत्तिकोदयवत्त्वतः।
इति प्रयोगतः पक्षधर्मतामेष्यते यदि॥१३१॥

तदा धूमोग्निमानेष धूमत्वादितिगद्यताम्।
ततः स्वभावहेतुः स्यात्सर्वो लिंगस्त्रिवात्र ते॥१३२॥

यदि लोकानुरोधेन भिन्नाः संबंधभेदतः।
विषयस्य च भेदेन कार्याद्यनुपलब्धयः॥१३३॥

किं न तादात्म्यतज्जन्मसंबंधाभ्यां विलक्षणात्।
अन्यथानुपपन्नत्वाद्धेतुः स्यात्कृत्तिकोदयः॥१३४॥

पर अकेले पक्षधर्मत्वरूप को ही अन्यथानुपपत्ति विशेषण से विशिष्ट बनाकर हेतु को साध्य साधने के लिए सपक्ष में सत्त्व अथवा विपक्ष में असत्त्वपने से निश्चित कर साध्य को साधने के लिए पर्याप्त कहा जा सकता है। अतः उस तीन अवयव वाले समुदित त्रैरूप्य से क्या करने योग्य शेष रह गया? जिससे कि उस त्रैरूप्य को हेतु का लक्षण कहते हैं। अर्थात् हेतु का लक्षण त्रैरूप्य नहीं है।

पक्ष धर्म से रहित हेतु संभव नहीं है, यह नहीं समझना चाहिए। इसी बात को दृष्टान्त देकर स्पष्ट करते हैं-एक मुहूर्त्तान्तर रोहिणी का उदय होगा, क्योंकि इस समय कृतिका का उदय है। यह हेतु पक्ष धर्म से शून्य होता हुआ भी एक अन्यथानुपपत्ति नाम का लक्षण घट जाने से सद्धेतु माना गया है॥१३०॥

वर्तमानकाल में कृतिका के उदय से सहितपना होने से आकाश भविष्य में उदय होने वाले रोहिणी के उदय से सहित होने वाला है। ऐसे अनुमान का प्रयोग होने से आकाशरूप पक्ष में कृत्तिकोदयसहितपना हेतुका रहना यदि बौद्ध इष्ट करेंगे तब तो वह धूम धूमपना होने से अग्नि वाला है। इस प्रकार अनुमान बनाकर कभी कह देना चाहिए। अतः सभी हेतु स्वभाव हेतु ही बन जाएंगे। कार्य हेतु और अनुपलम्भ हेतु भी उक्त प्रकार से पक्ष की कल्पना करते हुए पक्ष के या साध्य के स्वभाव हो जाएंगे, ऐसी दशा में तीन भेद वाले हेतु सिद्ध नहीं होते॥१३१-१३२॥

यदि लोक के अनुरोध से सम्बन्ध का और विषयभूत साध्य का भेद हो जाने से कार्य हेतु, स्वभाव हेतु और अनुपलम्भ ये तीन हेतु मान लोगे, अथवा कारण के अभाव को जानने के लिए कार्यानुपलब्धि और व्यापक का अभाव साधने के लिए व्याप्य की अनुपलब्धि आदि को हेतु मानते हो तो स्वभाव हेतु के प्रयोजक तादात्म्य सम्बन्ध और कार्यहेतु के प्रयोजक तदुत्पत्ति सम्बन्ध से विलक्षण अन्यथानुपपत्ति नामक

यथैव हि लोकः कार्यस्वभावयोः संबंधभेदात्ततोनुपलंभस्य च विषयभेदाद्भेदमनुरुध्यते तथाविनाभावनियममात्रात्कार्यादिहेतुत्रयात्कृत्तिकोदयादि हेतोरपीति कथमसौ चतुर्थो हेतुर्न स्यात्। न ह्यत्र लोकस्यानुरोधनवचो बाधकादिति शक्यं वक्तुं बाधकासंभवात्। नन्विदमन्यथानुपपन्नत्वं नियतं संबंधेन व्याप्तं तदभावे तत्संभवेतिप्रसंगात् सोपि तादात्म्यतज्जन्मभ्यामतादात्म्यवतस्तज्जन्मनो वा संबंधानुपपत्तेः। ततः कृत्तिकोदयादौ साध्ये न तादात्म्यस्य तदुत्पत्तेर्वा वैधुर्ये कुतः संबंधस्तदभावे कुतोन्यथानुपपन्नत्वनियमो येन स

सम्बन्ध हो जाने से कृत्तिकोदय भी हेतु क्यों नहीं हो जायेगा? अर्थात् वस्तुतः देखा जाए तो तदुत्पत्ति आदिक अनियत सम्बन्धों का व्यभिचार दृष्टिगोचर होता है। अतः हेतु द्वारा साध्य को साधने में अन्यथानुपपन्नत्वरूप सम्बन्ध ही निर्दोष है। अन्य कोई सम्बन्ध निर्दोष नहीं ॥१३३-१३४॥

जिस प्रकार लौकिक जन कार्य और स्वभाव के सम्बन्ध का तथा अनुपलम्भ के विषय का भेद होने से हेतुओं के भेद का अनुरोध करते हैं (अर्थात् तादात्म्य और तदुत्पत्ति नाम के दो सम्बन्ध हो जाने से भावहेतुओं के स्वभाव और कार्य ये दो भेद हो जाते हैं) तथा अभावरूप विषय को साधने की अपेक्षा अनुपलब्धि नाम का तीसरा हेतु भी सिद्ध हो जाता है, उसी प्रकार केवल अविनाभावरूप नियम का सम्बन्धी होने से कार्य आदि तीन हेतुओं के अतिरिक्त कृत्तिकोदय, भरण्युदय, चन्द्रोदय आदि हेतुओं के भी भेद मानकर चौथा हेतु क्यों नहीं हो जाएगा? (यानी तीन के अतिरिक्त चतुर्थ पंचम आदि भी हेतु के भेद हो जाएंगे) 'इसमें बाधक कारण उत्पन्न हो जाने से लोक का अनुकूल आचरण करने वाला वचन नहीं है, ऐसा नहीं कह सकते हो। क्योंकि कृतिकोदय आदि को ज्ञापक हेतु बनाने में सभी लोकसम्मत हैं। इसमें बाधक प्रमाण संभव नहीं है।

शंका : यह अन्यथानुपपत्तिपना तो व्यापक सम्बन्ध से निश्चित व्याप्त है। उस सम्बन्ध के न होने पर भी यदि अन्यथानुपपत्ति का सद्भाव माना जायेगा तो अतिप्रसंग दोष आएगा (अर्थात् सम्बन्ध से रहित आकाश और पुष्प या आत्मा और रूप तथा पुद्गल और ज्ञान आदि में भी अन्यथानुपपत्ति बन जायेगी)। वह सम्बन्ध भी तादात्म्य और तदुत्पत्ति नामक दो सम्बन्धों से ही व्याप्त है। (जगत् में वास्तविक सम्बन्ध दो ही हो सकते है)। जो पदार्थ तादात्म्य सम्बन्ध वाला नहीं है अथवा तदुत्पत्ति सम्बन्ध वाला नहीं है, उसके अन्य कोई भी सम्बन्ध नही हो सकता है। अतः कृतिकादि साध्य हेतुओं में अपने साध्य के साथ तादात्म्य और तज्जन्यत्वनामक सम्बन्ध के बिछुड़ जाने पर उनसे सम्बन्ध कैसे बन सकता है? व्यापक के नहीं रहने से व्याप्य भी नहीं रहता है (तादात्म्य और तदुत्पत्ति का अन्यतरपना व्यापक है और सम्बन्ध व्याप्य है)। उस सम्बन्ध के न होने पर अन्यथानुपपत्तिरूप नियम भी कैसे रह सकता है? अर्थात् नहीं रहता है। व्यापक के बिना व्याप्य की स्थिति नहीं है अन्यथानुपपत्तिरूप नियम भी कैसे रह सकता है? अर्थात् नहीं रहता है। व्यापक के बिना व्याप्य की स्थिति नहीं है जिससे कि वह कृत्तिकोदय हेतु शकटोदय साध्य का गमक हो जाता। अर्थात् तादात्म्य और तदुत्पत्ति न होने से कृत्तिकोदय में कोई सम्बन्ध नहीं, और सम्बन्ध न होने से अन्यथानुपपत्ति नहीं। इसलिए कृत्तिकोदयादि चतुर्थ हेतु नहीं हैं अतः व्यापक का अनुपलम्भ वहाँ लोक की अनुकूलता का बाधक प्रतीत हो रहा है।

गमको हेतु: स्यादिति व्यापकानुपलंभो बाधकस्तत्र लोकानुरोधस्य प्रतीयते कृत्तिकोदयादेर्गमकत्वं हेतुत्वनिबंधनं तदेवान्यथानुपपन्नत्वं साधयति तदपि संबधं सोपि तादात्म्यतज्जन्मनोरन्यतरं। तत्र तदुत्पत्तिर्वर्तमानभविष्यतो: कृत्तिकोदयशकटोदययो: परस्परमन्वयव्यतिरेकानुविधानासंभवान्न युज्यत एव तादात्म्यं तु व्योम्न: शकटोदयवत्त्वे साध्ये कृत्तिकोदयवत्त्वं शक्यं कल्पयितुं साधनधर्ममात्रानुबंधिन: साध्यधर्मस्य तदात्मत्वोपपत्ते:। यत एव बाह्यालोकतमोरूपभूतसंघातस्य व्योमव्यवहारार्हस्य कृत्तिकोदयवत्त्वं तत एव भविष्यच्छकटोदयवत्त्वं हेत्वंतरानपेक्षत्वादे: सिद्धं न तन्मानानुबंधित्वमनित्यत्वं नित्यत्वस्य कृतकत्वमात्रानुबंधित्ववदिति केचित्तान् प्रत्याह;—

नान्यथानुपपन्नत्वं ताभ्यां व्याप्तं निक्षेपणात्। संयोग्यादिषु लिंगेषु तस्य तत्त्वपरीक्षकै: ॥१३५॥

कृत्तिकोदय आदि को साध्य का गमकपना हेतु का कारण है और वही अन्यथानुपपन्नत्वकोसिद्ध कर रहा है तथा वह अन्यथानुपपत्ति भी सम्बन्ध को तथा वह सम्बन्ध भी तादात्म्य और तदुत्पत्ति दोनों में से किसी भी एक को सिद्ध कर रहा है।

उन दो सम्बन्धों में तदुत्पत्ति नामका सम्बन्ध तो वर्तमान काल के कृत्तिकोदय हेतु का भविष्य में होने वाले शकटोदय साध्य के साथ परस्पर में अन्वय और व्यतिरेक का अनुविधान करने की असम्भवता होने से युक्त नहीं है (अर्थात् शकटोदय और कृत्तिकोदय में अधिक काल व्यवधान होने से तदुत्पत्ति सम्बन्ध तो बन नहीं सकता है) तादात्म्य सम्बन्ध कल्पित किया जा सकता है कि आकाश को पक्ष माना जाय। उसमें शकटोदयसहितपने को साध्य किया जाये और कृत्तिका के उदय से सहितपना हेतु माना जाए, तब तो केवल हेतु के धर्म का ही अनुरोध करने वाले साध्यरूप धर्म का तादात्म्य रूप से कल्पना करना बन जाता है (यानी वर्तमान में कृत्तिकोदयसहितपना और भविष्य के शकटोदय से सहितपना इन दोनों आकाश के धर्मों में तदात्मकता है)। हम बौद्धों के यहाँ आकाश कोई अमूर्त, व्यापक पदार्थ नहीं माना गया है, किन्तु दिन में बहिरंग आलोकरूप भूत परिणाम के समुदाय को आकाश कहते हैं। और रात में भूतों के अंधकाररूप परिणाम का इकट्ठा हो जाना ही आकाशपने से व्यवहार करने योग्य है। उस आकाश में जैसे वर्तमान से कृत्तिकोदय सहितपना विद्यमान है, उसी प्रकार भविष्य में होने वाले शकटोदय से सहितपना भी सिद्ध है अत: हेतु निरपेक्ष या स्वभाव से ही वैसी परिणति सिद्ध है।

अत: साध्य और हेतु के एक ही हो जाने मात्र से अनुबंधी होनापन सिद्ध नहीं होता है। (जैसे कि घट का घट ही से तादात्मक होनापन कोई कार्यकारी नहीं है) अथवा नित्य का अनित्यपन का केवल कृतकपन के साथ अनुबन्धी होना जैसे प्रयोजक नहीं है। इस प्रकार कोई (बौद्ध) कह रहे हैं।

समाधान : शंका समाधान करते हुए आचार्य कहते हैं- तदुत्पत्ति और तादात्म्य सम्बन्ध के साथ अन्यथानुपपन्न व्याप्त नहीं है, क्योंकि तत्त्वों की यथार्थ परीक्षा करने वाले विद्वानों के द्वारा संयोगी, समवायी आदि हेतुओं में भी उस अन्यथानुपपत्ति का प्रक्षेप किया गया है किन्तु वहाँ तादात्म्य या तदुत्पत्ति नहीं है ॥१३५॥

अर्वाग्भागोऽविनाभावी परभागेन कस्यचित्। सोपि तेन तथा सिद्धः संयोगी हेतुरीदृशः ।।१३६।।

सास्नादिमानयं गोत्वाद्गौर्वा सास्नादिमत्त्वतः। इत्यन्योन्याश्रयीभावः समवायिषु दृश्यते ।।१३७।।

चंद्रोदयोऽविनाभावी पयोनिधिविवर्धनैः। तानि तेन विनाप्येतत्संबंधद्वितयादिह ।।१३८।।

एवंविधं रूपमिदमामत्वमेव रसत्वादित्येकार्थसमवायिनो वृक्षोयं शिंशपात्वादित्येतस्य वा तदुत्पत्तितादात्म्यबलादविनाभावित्वं। नास्त्यत्र शीतस्पर्शोग्नेरिति विरोधिनस्तादात्म्यबलात्तदिति स्वमनोरथं प्रथयतोपि संयोगिसमवायिनोर्यथोक्तयोस्ततोन्यस्य च प्रसिद्धस्य हेतोर्विनैव ताभ्यामविनाभावित्वमायातं। नास्त्येवात्राविनाभावित्वं विनियतमित्येतदाशंक्य परिहरन्नाह;—

किसी भी भीत, कपाट आदि का उरली ओर का भाग तो परली ओर के भाग के साथ अविनाभाव सम्बन्ध रखने वाला है, वह परला भाग भी उस प्रकार उरली ओर के भाग के साथ अविनाभाव रखता है। इस प्रकार के समव्याप्ति वाले संयोगी हेतु सिद्ध है। तथा यह पशु लटकता हुआ गले का चर्मरूप सास्ना, सींग, आदि धर्मों से युक्त होने से बैल है। अथवा यह पशु गौ है क्योंकि सास्ना, सींग आदि से सहित है, इस प्रकार परस्पर में एक दूसरे के आश्रय होता हुआ समवायी हेतुओं में अविनाभाव सम्बन्ध देखा जाता है (अर्थात् ज्ञात होता है)।

एक धर्म से दूसरे अज्ञात धर्म का ज्ञान करा दिया जाता है। तथा चंद्रमा का उदय होना भी समुद्र का जलवृद्धि के साथ सम्बन्ध अविनाभाव रखता है, और समुद्र वृद्धि होना उस चंद्रोदय के साथ अविनाभाव की धारणा करना है। इस कारण उक्त तादात्म्य और तदुत्पत्ति नाम के दो सम्बन्धों के बिना भी यहाँ संयोगी, समवायी, सहचर ये हेतु भी अविनाभावी होकर अपने साध्य के ज्ञापक देखे जाते हैं।।१३६-१३७-१३८।।

इस प्रकार रस वाला होने से यह आम्रफल इस प्रकार के रूप वाला है क्योंकि रूप का एक ही अर्थ में समवाय सम्बन्ध हो जाने से उन दोनों का परस्पर में एकार्थसमवाय सम्बन्ध माना गया है। इनका तदुत्पत्ति नामक सम्बन्ध से अविनाभाव बन जाता है। अथवा यह शिंशपा होने से वृक्ष है, ऐसे इस अनुमान को तादात्म्य के बल से अविनाभावीपना रहता ही है। यहाँ शीतस्पर्श नहीं है क्योंकि आग जल रही है। इस प्रकार विरोधी हेतु का भी तादात्म्य के बल से अविनाभाव है। इस प्रकार सहचर, एकार्थ समवायी आदि हेतुओं को तादात्म्य तदुत्पत्ति में गर्भित कर अपने मनोरथ को चारों ओर प्रसिद्ध करने वाले बौद्धों के यहाँ यथायोग्य अभी कहे गये परभाग, सास्ना आदिक संयोगी और समवायी हेतुओं को तथा उनसे अन्य प्रसिद्ध चन्द्रोदय, छत्र, भरण्युदय आदि हेतुओं को भी उन तादात्म्य, तदुत्पत्ति के बिना ही अविनाभावीपना प्राप्त हो जाता है।

यहाँ परभाग, सास्ना आदि में अविनाभावीपना विशेषरूप से नियत नहीं है। इस प्रकार बौद्ध की आशंका का परिहार करते हुए आचार्य कहते हैं-

अपने साथ संयोग सम्बन्ध रखने वाले धूम के बिना भी उष्ण लोहपिण्ड में अग्नि दृष्टिगोचर होती है, तथा समवाय सम्बन्ध वाले सींग, सास्ना आदि भी गौ के बिना भैंस में दिख रहे हैं। अतः समवायी

संयोगिना विना वह्निः स्वेन धूमेन दृश्यते। गवा विना विषाणादिः समवायीति चेन्मतिः ॥१३९॥

कारणेन विना स्वेन तस्मादव्यापकेन च। वृक्षत्वेन क्षते किं न चूतत्वादिरनेकशः ॥१४०॥

ततो यथाविनाभूते संयोगादिर्न लक्ष्यते। व्यापको व्यभिचारत्वात्तादात्म्यात्तत्तथा न किम् ॥१४१॥

देशकालाद्यपेक्षश्चेद्भस्मादेर्वह्निसाधनः। चूतत्वादिर्विशिष्टात्मा वृक्षत्वज्ञापको मतः ॥१४२॥

संयोगादिविशिष्टस्तन्निश्चितः साध्यसाधनः। विशिष्टता तु सर्वस्य सान्यथानुपपन्नता ॥१४३॥

सोयं कार्यादिलिंगस्याविशिष्टस्यागमकतामुपलक्ष्य कार्यस्वभावैर्यावद्भिरविनाभाविकारणे तेषां हेतुः स्वभावाभावेपि भावमात्रानुविरोधिनि "इष्टं विरुद्धकार्येपि देशकालाद्यपेक्षणं। अन्यथा व्यभिचारी स्याद्भस्मे

हेतु दूषित है। बौद्धों के इस प्रकार कहने पर जैनाचार्य कहते हैं कि अपने कारण के बिना कार्य नहीं होता है और व्यापक के बिना व्याप्य नहीं। किन्तु अनेक बार आम्रपन, शीशोंपन आदि की वृक्षपने द्वारा क्षति देखी गई है। अर्थात् शीशों और आम के पेड़ों के समान शीशों, आम, पीपल की बेलें भी हैं, ये सब दोष अच्छे नहीं हैं। क्योंकि कारण के बिना कार्य और व्यापक के बिना व्याप्य नहीं होता है। वृक्षपने से व्याप्य शीशोंपना, आम्रपना पृथक् है। शीशों की बेल तो भिन्न प्रकार की होगी। अतः आप बौद्धों के यहाँ अविनाभाव वाले हेतुओं में जिस प्रकार संयोग, समवाय, आदि सम्बन्ध नहीं देखे जाते और व्यभिचारी होने से व्याप्यव्यापकभाव सम्बन्ध भी नहीं देखा जाता है, उसी प्रकार तादात्म्य सम्बन्ध होने से भी व्यभिचार क्यों नहीं कहा जाता है ?॥१३९-१४०-१४१॥

देश, काल, आकार आदि की अपेक्षा भस्म आदि हेतु यदि अग्निसाधक माने जायेंगे और स्कन्ध आदि स्वरूपों से विशिष्ट हुआ आम्रपना आदि हेतु वृक्षपन के ज्ञापक माने जाएंगे तब तो अविनाभाव से विशिष्ट होते हुए संयोग आदि भी निश्चित होकर साध्य के साधने वाले हो जाएंगे और वह सम्पूर्ण हेतुओं की विशिष्टता तो अन्यथानुपपत्ति ही है। अर्थात्-ज्ञापक हेतु का प्राण अविनाभाव ही है। उससे विशिष्ट होता हुआ कोई भी संयोगी, सहचर, आम्रत्व आदि हेतु निश्चित रूप से साध्य को सिद्ध करता ही है॥१४२-१४३॥

बौद्ध का कथन : वह यह बौद्ध कार्य हेतु, स्वभाव हेतु और अनुपलब्धि हेतु को अन्यथानुपपत्ति नाम के विशेषण से रहित साध्य का ज्ञापकपना नहीं है, इस बात का उपलक्षण कर कहता है कि जितने भी कार्य और स्वभावों के साथ अविनाभाव रखने वाले कारण और भावों के होने पर उन कारण और भावरूप साध्यों के कार्य और स्वभाव ज्ञापक हेतु इष्ट हैं।

स्वभाव न होने पर भी भाव मात्र का विरोध करने वाले हेतु में विज्ञापकपना नहीं है। "विरुद्ध कार्य होने पर भी देश काल आदि की अपेक्षा रखने वाला हेतु ज्ञापक मान लिया जाता है। अन्यथा (यानी देश, काल आदि विशेषण के नहीं लगाने पर तो) वह हेतु व्यभिचारी हो जाता है। जैसे कि 'उष्णता साधने में भस्म हेतु व्यभिचारी हो जाता है' इत्यादि वचन के द्वारा हेतु की विशिष्टता को स्वयं स्वीकृत करता हुआ

वा शीतसाधन'' इत्यादिवचनेन स्वयं विशिष्टतामुपपन्ने यथा हेतोर्गमकत्वमविनाभावनियमेन व्याप्तमाचष्टे विनाभावनियमं तदभावेपि तत्संभवादन्यथा तस्य तेन विशेषणानर्थक्यात्। ततः संयोगादिरप्यविनाभावनियमविशिष्टो गमको हेतुरित्यभ्युपगंतुमर्हति विशिष्टतायाः सर्वत्रान्यथानुपपत्तिरूपत्वसिद्धेरिति न तदुत्पत्तितादात्म्याभ्यामन्यथानुपपन्नत्वं व्याप्तं। तद्विशिष्टाभ्यां व्याप्तमिति चेत् तर्ह्यन्यथानुपपन्नत्वेनान्यथानुपपन्नत्वं व्याप्तमित्यायातं। तच्च न सारं तस्यैव तेनैव व्याप्यव्यापकभावविरोधात् व्याप्यव्यापकयोः कथंचिद्भेदप्रसिद्धेः। ''व्यापकं तदतन्निष्ठं व्याप्यं तन्निष्ठमेव च'' इति तयोर्विरुद्धधर्माध्यासवचनात्। अथ मतं ताभ्यां संबंधो व्याप्तस्तेनान्यथानुपपन्नत्वमिति। तदप्यविचारितमेव, तद्व्यतिरिक्तस्य संयोगादेः संबंधस्य सद्भावात्।

बौद्ध अविनाभावरूप नियम से साध्य के साथ व्याप्त हेतु का ज्ञापकपना यथार्थ कह रहा है। तथा अविनाभाव नियम को भी स्वयम् कह रहा है। उस अविनाभाव के न होने पर भी कार्य और स्वभाव सम्बन्ध हो जाते हैं। अन्यथा (यानी अविनाभाव के बिना भी हेतु यदि साध्य का ज्ञापक मान लिया जाय तब तो) उस हेतु का उस अविनाभाव से सहितपना विशेषण लगाना व्यर्थ होगा। अतः संयोगी, समवायी आदि हेतु भी अविनाभाव रूप नियम से विशिष्ट होते हुए अपने नियत साध्य की ज्ञप्ति कराने वाले हैं ऐसा स्वीकार करना योग्य है। क्योंकि, सम्पूर्ण हेतुओं में विशिष्टपना अन्थनुपपत्तिरूप से सिद्ध है अतः तदुत्पत्ति और तादात्म्य से अन्यथानुपपत्ति व्याप्त नही है। अपितु अन्यथानुपपत्ति सम्पूर्ण हेतु के साथ व्याप्त है।

यदि कहो कि साध्य के बिना हेतु का नहीं रहना रूप अन्यथानुपपत्ति से विशिष्ट तादात्म्य और तदुत्पत्ति से ही अन्यथानुपपन्नपना व्याप्त है, तब तो अन्यथानुपपन्नपने से ही अन्यथानुपपन्नपना व्याप्त है-ऐसा सिद्ध होता है, और वह कथन निःसार है, क्योंकि उसका ही उस ही के साथ व्याप्य व्यापक भाव होने का विरोध है। व्याप्य और व्यापकों मे कथंचित् भेद की प्रसिद्धि है। उसमें और उससे भिन्न पदार्थों में भी रहने वाला पदार्थ व्यापक होता है, तथा केवल उसमें ही रहने वाला व्याप्य होता है। इस प्राकर उन व्याप्य और व्यापकों में विरुद्ध धर्मों से आरूढ़ का कथन किया गया है।

यदि बौद्धों का यह मन्तव्य हो कि उन तादात्म्य और तदुत्पत्तिरूप व्यापकों से सम्बन्ध व्याप्त है और सम्बन्धरूप व्यापक से अन्यथानुपपन्नता व्याप्त है तो आचार्य कहते हैं कि वह मन्तव्य भी वास्तविक विचारयुक्त नहीं है, क्योंकि उन तादात्म्य और तदुत्पत्ति से सर्वथा अतिरिक्त संयोग, समवाय, सहचर आदि अनेक सम्बन्धों का सद्भाव है। 'संयोग, समवाय आदि कार्यकारण भाव का सम्बन्ध भी असंयोगी और असमवायीरूप कार्यों के उपकारक के बिना कहीं भी नहीं पाये जाते है'-ऐसा कहना भी उचित नहीं है, क्योंकि आकाश, आत्मा आदि नित्य द्रव्यों के नित्यसंयोग आदि का सम्बन्ध किसी के कार्य हुए बिना ही विद्यमान हैं। नित्यद्रव्य संभव नहीं है-ऐसा भी नहीं कहना चाहिए। क्योंकि क्षणिक पर्याय के समान वह नित्यद्रव्य भी प्रमाणों से सिद्ध है अतः सम्पूर्ण ही नियत सम्बन्ध व्यक्तियों में व्यापक और तदात्म्य, तदुत्पत्ति से अन्य योग्यतास्वरूप सम्बन्ध कहना चाहिए। योग्यता का लक्षण कहते हैं-सर्व सम्बन्धों के भेद प्रभेदों में प्राप्त योग्यता नाम का एक सम्बन्ध मान लेना चाहिए।

कार्यकारणभावयोरसंयोगादिरूपकार्योपकारकभावमंतरेण क्वचिदप्यभावादिति चेन्न, नित्यद्रव्यसंयोगाद्देशांतरेणैव भावात्। न च नित्यद्रव्यं न संभवेत् क्षणिकपरिणामवत्तस्य प्रमाणसिद्धत्वात् तदवश्यं सर्वसंबंधव्यक्तीनां व्यापकस्तदुत्पत्तितादात्म्याभ्यामन्य एवाभिधातव्यो योग्यतालक्षण इत्याह;—

योग्यताख्यश्च संबंध: सर्वसंबंधभेदग:। स्यादेकस्तद्वशाल्लिंगमेकमेवोक्तलक्षणम् ॥१४४॥

विशेषतोपि संबंधद्वयस्यैवाव्यवस्थिते:। संबंधषट्कवन्नातो लिंगेयत्ता व्यवस्थिते: ॥१४५॥

तद्विशेषविवक्षायामपि संख्यावतिष्ठते। न लिंगस्य परैरिष्टा विशेषाणां बहुत्वत: ॥१४६॥

संबंधत्वसामान्यं सर्वसंबंधभेदानां व्यापकं न योग्यताख्य: संबंध इत्यचोद्यं, प्रत्यासत्तेरिह योग्यताया: सामान्यरूपयो: स्वयमुपगमात्। सैवान्यथानुपपत्तिरित्यपि न मंतव्यं प्रत्यासत्तिमात्रे क्वचित्सत्यपि तदभावात्।

उस एक सम्बन्ध के वश से एक ही प्रकार का हेतु है, जिसका कि 'अन्यथानुपपत्त्येकलक्षणं तत्र साधनम्' इस कारिका द्वारा लक्षण कह दिया गया है ॥१४४॥ अर्थात् सभी हेतुओं के लक्षण में एक ही लक्षण श्रेष्ठ है कि साध्य के अविनाभाव, जिसका साध्य अविनाभाव नहीं है वह हेतु-हेत्वाभास है।

वैशेषिकों के माने गये संयोग आदि छह सम्बन्धों के समान बौद्धों के द्वारा माने गये विशेष रूप से भी दो सम्बन्धों की भी व्यवस्था नही हो पाती है। अत: इन तादात्म्य और तदुत्पत्ति से हेतुओं के इतने परिणाम की ठीक व्यवस्था नहीं हुई ॥१४५॥

हेतुओं के विशेष भेदों की विवक्षा करने पर भी दूसरों के द्वारा मानी गयी हेतु की दो या तीन संख्या निर्णीत नहीं होती है। क्योंकि हेतुओं के भेद-प्रभेद बहुत से हैं। वे सभी दो आदि संख्याओं में गर्भित नहीं हो सकते हैं ॥१४६॥

भावार्थ : अन्यथानुपपत्तिलक्षणवाला हेतु एक ही है। विशेष रूप से यदि उसके भेद किये जायेंगे तो उपलब्धि, अनुपलब्धि या विधिसाधक आदि भेद भी हो सकते हैं।

सामान्यरूप से सम्बन्धत्व धर्म ही सम्पूर्ण संबंध के भेद-प्रभेदों का व्यापक है। **बौद्ध :** योग्यतानामक सम्बन्ध तो सर्वव्यापक नहीं है। **जैन:** ऐसा कहना उचित नहीं है, क्योंकि इस प्रकरण में सामान्यरूप से योग्यता को ही सम्बन्धपने से स्वयं प्रतिवादी ने स्वीकार किया है।

नियत, अनियत सभी सम्बन्धों में व्याप रही वह योग्यता ही अन्यथानुपपत्ति है, यह भी नहीं मानना चाहिए, क्योंकि-सामान्यरूप से अनेक प्रत्यासत्तियों में से कहीं योग्यता के रहने पर भी अन्यथानुपपत्ति का अभाव पाया जाता है। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की प्रत्यासत्ति भी सर्वत्र कार्यकारण भाव संयोगादिरूप नहीं है क्योंकि सर्वत्र कार्यकारणभाव, संयोग आदि रूप सम्बन्ध होते हुए भी अविनाभाव से रहित नहीं दिखते हैं-ऐसा नहीं कहना चाहिए (अर्थात्-सम्बन्धों मे अनेक सम्बन्ध तो अविनाभाव से रहित हैं)। अत: सम्बन्ध के वश से भी सामान्य रूप करके अन्यथानुपपत्ति ही एक हेतु का लक्षण है, ऐसा मानना चाहिए।

विशेषरूप से भी तादात्म्य और तदुत्पत्ति नाम के दो सम्बन्धों की व्यवस्था नहीं है। जैसे कि संयोग आदि छह सम्बन्धों की ज्ञापक हेतु के प्रकरण में संख्या व्यवस्थित नहीं है और उन दो, छह आदि हेतुभेदों

न हि द्रव्यक्षेत्रकालभावप्रत्यासत्तयः सर्वत्र कार्यकारणभावसंयोगादिरूपाः सत्योप्यविनाभावरहिता न दृश्यंते ततः संबंधवशादपि सामान्यतोन्यथानुपपत्तिरेकैवेति तल्लक्षणमेकं लिंगमनुमंतव्यं। विशेषतोपि संबंधद्वयस्य तादात्म्यतज्जन्माख्यस्याव्यवस्थानात्। संयोगादिसंबंधषट्कवत्तदव्यवस्थाने च कुतो लिंगेयत्तानियम इति तद्विशेषविवक्षायामपि न परैरिष्टा लिंगसंख्यावतिष्ठते विशेषाणां बहुत्वात्। परेष्टसंबंधसंख्यामतिक्रामंतो हि संबंधविशेषास्तदिष्टलिंगसंख्यां विघटयंत्येव स्वेष्टविशेषयोः शेषविशेषाणामंतर्भावयितुमशक्तेः विषयस्य विधिप्रतिषेधरूपस्य भेदाल्लिंगभेदस्थितिरित्यपीष्टं तत्संख्याविरोध्येव। यस्मात्—

यथैवास्तित्वनास्तित्वे भिद्येते गुणमुख्यतः। तथोभयं क्रमेणेष्टमक्रमेण त्ववाध्यता ॥१४७॥

अवक्तव्योत्तरा शेषास्त्रयो भंगाश्च तत्त्वतः। सप्त चैवं स्थिते च स्युस्तद्वशाः सप्तहेतवः ॥१४८॥

की व्यवस्था नहीं होने पर हेतुओं की इतनी संख्या के परिमाण को अवधारण करने का नियम कैसे सिद्ध हो सकता है? इस प्रकार हेतुओं के विशेषों की विवक्षा होने पर भी दूसरे प्रतिवादियों द्वारा इष्ट की गई हेतु संख्या निर्णीत नहीं होती है क्योंकि व्याप्य-व्यापक, पूर्वचर, उत्तरचर, आदि को सिद्ध करने वाले हेतुओं के विशेष सम्बन्ध बहुत से हैं।

वे विशेष सम्बन्ध दूसरे प्रतिवादियों से इष्ट की गई हेतु संख्या का अतिक्रमाण करके उनके द्वारा अभीष्ट हेतुसंख्या के नियम का विघटन करते ही हैं क्योंकि अपने इष्ट किये गये तादात्म्य और तदुत्पत्तिरूप विशेषों में अवशिष्ट बचे हुए पूर्वचर आदि हेतुओं के विशेष भेदप्रभेदों का अंतर्भाव नहीं किया जा सकता। तथा साध्यरूप विषय के विधि और निषेधरूप को साधने वाले भेद से हेतु के विधिसाधक और निषेधसाधक-इन दो भेदों की व्यवस्था मानते हैं तो उस बौद्ध की तादात्म्य तदुत्पत्तिरूप दो संख्या का तो विरोधी ही है। अर्थात्-विधिसाधक या निषेधसाधक यह दो संख्या तो ठीक है, किन्तु तादात्म्य और तदुत्पत्ति ये दो ही भेद हैं-ऐसा मानना ठीक नहीं है, क्योंकि जिस प्रकार अस्तित्व और नास्तित्व ये दो धर्म गौण और मुख्यरूप से पृथक्-पृथक् हैं उसी प्रकार क्रम से कथन करने पर अस्तित्व और नास्तित्व को मिलाकर उभयनामका तीसरा भंग इष्ट है। तथा क्रम से रहित दोनों धर्मों की युगपत् (यानी एक ही काल में विवक्षा होने पर) अवक्तव्य नामक चौथा धर्म माना गया है (क्योंकि एक शब्द में एकही समय में अनेक धर्मों का कथन करने का सामर्थ्य नहीं है)। इन कथित चार धर्मों से अवशेष रहे अस्ति अवक्तव्य ५ नास्ति अवक्तव्य ६ और अस्तिनस्ति अवक्तव्य ७ ये पृष्ठ भाग में अवक्तव्यपद को धारण किये हुए तीन भंग भी वास्तविक रूप से माने गये हैं। इस प्रकार सात भंगों के स्थित हो जाने पर उन सात भंगों के अधीन होकर वर्तने वाले सात हेतु होने चाहिए ॥१४७-१४८॥

अस्ति और नास्ति इन दो धर्मों का परस्पर में विरोध होने के कारण उभयात्मक तीसरा धर्म नहीं बन सकता। अतः उभयस्वरूप या अस्तिअवक्तव्यस्वरूप कोई पदार्थ नहीं है। ऐसा कहना उचित नहीं है, क्योंकि अनेक धर्मों से तदात्मक हो रहे पदार्थों का दर्शन हो रहा है। अन्यथा एकान्त रूप से पदार्थ की व्यवस्था दृष्टिगोचर होती है, तथा एकान्तवाद में प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से विरोध आता है (क्योंकि सभी

विरोधान्नोभयात्मादिरर्थश्चेन्न तथेक्षणात्। अन्यथैवाव्यवस्थानात्प्रत्यक्षादिविरोधत: ॥१४९॥

निराकृतनिषेधो हि विधि: सर्वात्मदोषभाक्। निर्विधिश्च निषेध: स्यात्सर्वथा स्वव्यथाकर: ॥१५०॥

ननु च यथा भावाभावोभयाश्रितस्त्रिविधो धर्म: शब्दविषयोनादिवासनोद्भूतविकल्पपरिनिष्ठित एव न बहि: स्वलक्षणात्मकस्तथा स्यादवक्तव्यादि परमार्थतोसन्नेवार्थक्रियारहितत्वान्मनोराज्यादिवत् न च सर्वथा कल्पितोर्थो मानविषयो नाम येन तद्भेदात्सप्तविधो हेतुरापाद्यते इत्यत्रोच्यते;—

नानादिवासनोद्भूतविकल्पपरिनिष्ठित:। भावाभावोभयाद्यर्थ: स्पष्टं ज्ञानेवभासनात् ॥१५१॥

शब्दज्ञानपरिच्छेद्योपि पदार्थोस्पष्टतयावभासमानोपि नैकांतत: कल्पनारोपितस्वार्थक्रियाकारित्वान्निर्बाधमनुभूयते किं पुनरध्यक्षे स्पष्टमवभासमानो भावाभावोभयादिरर्थ इति परमार्थसन्नेव ॥

पदार्थ स्वांशों की विधि और परांशों के निषेध से युक्त हैं)। निषेधों का सभी प्रकार निराकरण करने वाली विधि सर्व पदार्थस्वरूप हो जाने के दोष को धारण करने वाली है। तथा विधि से सर्वथा रहित निषेध का एकान्त भी सभी प्रकार अपनी व्यथा को करने वाला है अर्थात्-सबका निषेध मानने पर इष्ट पदार्थ का जीवन अशक्य है॥१४९-१५०॥

शंका : शब्द के द्वारा भाव, अभाव और उभय का आश्रय लेकर उत्पन्न हुए तीन प्रकार के धर्म जिस प्रकार अनादिकालीन मिथ्यावासना से उत्पन्न हुए विकल्पज्ञान में स्थित होकर शब्द के वाच्य अर्थ बनते हैं, किन्तु वे तीनों धर्म वस्तुत: बहिरंगस्वलक्षण स्वरूप नहीं हैं। मनोराज्यादि समान अर्थक्रिया रहित होने से कथंचित् अवक्तव्य आदि चार धर्म भी परमार्थ रूप से विद्यमान नहीं हैं। अत: सभी प्रकार से कल्पित कर लिया गया सात भंग रूप अर्थ तो प्रमाणों का गोचर कैसे भी नहीं है जिससे कि उन सात धर्मों के भेद से हेतु का सात प्रकार से आपदन किया जा सके।

समाधान : इस प्रकार बौद्धों के कथन करने पर आचार्य उत्तर देते हैं-

भाव, अभाव, उभय, अवक्तव्य, अस्तिअवक्तव्य, नास्ति अवक्तव्य, अस्तिनास्तिअवक्तव्य इन सात धर्मों से तदात्मक हो रहा अर्थ वस्तुभूत है। बौद्धों के अनुसार अनादिकाल की वासनाओं से उत्पन्न कोरी कल्पनाओं में परिनिष्ठित पदार्थ नहीं है, क्योंकि प्रमाणज्ञान में स्पष्ट रूप से भाव (अस्तित्व) आदि धर्मस्वरूप अर्थ प्रतिभासित होता है॥१५१॥

श्रुतज्ञान द्वारा ज्ञात भी पदार्थ अविशदरूप से प्रतिभासमान है, एकान्त कल्पना से कल्पित नहीं है, क्योंकि अपनी वास्तविक अर्थक्रियाओं के द्वारा बाधारहित पदार्थ अनुभव में आ रहा है, तो फिर प्रत्यक्षज्ञान में स्पष्ट रूप से प्रकाशित भाव, अभाव, उभय आदि धर्मस्वरूप अर्थ का तो कहना ही क्या है! अर्थात् प्रत्यक्ष से स्पष्ट प्रतिभासित अर्थ वस्तुभूत ही है। इस प्रकार अस्तित्व आदिक धर्मों से तदात्मक अर्थ परमार्थ रूप से यथार्थ में विद्यमान है, कपोलकल्पित नहीं। अत: 'अनादिवासनोद्भूतविकल्पपरिनिष्ठित:। शब्दार्थस्त्रिविधो धर्मो भावाभावोभयाश्रित:'- यह बौद्धों का कथन ठीक नहीं है।

भावाभावात्मको नार्थः प्रत्यक्षेण यदीक्षितः। कथं ततो विकल्पः स्याद्भावाभावावबोधनः ॥१५२॥

नीलदर्शनतः पीतविकल्पो हि न ते मतः। भ्रांतेरन्यत्र तत्त्वस्य व्यवस्थितिमदीप्सितः ॥१५३॥

तद्वासनाप्रबोधाच्चेद्भावाभावविकल्पना। नीलादिवासनोद्बोधात्तद्विकल्पवदिष्यते ॥१५४॥

भावाभावेक्षणं सिद्धं वासनोद्बोधकारणं। नीलादिवासनोद्बोधहेतुतद्दृष्टिवत्ततः ॥१५५॥

यथा नीलादिदर्शनं नीलादिवासनोद्बोधस्य कारणमिष्टं तथा भावाभावोभयाद्यर्थदर्शनं तद्वासनाप्रबोधस्य स्वयमेषितव्यमिति भावाद्यर्थस्य प्रत्यक्षतः परिच्छेदः सिद्धः॥

यत्रैव जनयेदेनां तत्रैवास्य प्रमाणता। क्वान्यथा स्यादनाश्वासाद्विकल्पस्य समुद्भवे ॥१५६॥

जिस प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा अस्तित्व, नास्तित्व आत्मक अर्थ दृष्टिगोचर नहीं होते हैं तो फिर उस प्रत्यक्ष से भावों और अभावों को समझाने वाला विकल्प ज्ञान कैसे उत्पन्न हो सकेगा ? अर्थात् बौद्धों के यहाँ प्रत्यक्ष के द्वारा निर्विकल्पक रूप से विषय किए गए ही अर्थों में निर्णयरूप विकल्पज्ञान की उत्पत्ति मानी गई है। अन्यत्र भ्रान्ति ज्ञान से तत्त्व की व्यवस्था चाहने वाले बौद्धों के मत में नील के निर्विकल्पकज्ञान से पीत के विकल्पज्ञान का होना नहीं माना गया है॥१५२-१५३॥

उन भाव आदि की वासनाओं के जाग जाने से यदि भाव, अभावों का विकल्प करोगे तो नील, पीत आदि स्वलक्षणों का प्रत्यक्ष कर पीछे नील आदि की लगी हुई वासनाओं का प्रबोध हो जाने से जैसे उन नील आदि का विकल्पज्ञान होना इष्ट किया गया है, उसी के समान भाव और अभावों का प्रत्यक्ष करना ही उन भाव अभावों का विकल्पज्ञान कराने के लिए उपयोगी भूत वासनाओं के प्रबोध कराने का कारण होगा। जैसे कि नील आदि का दर्शन उन नील आदि की आत्मा में पूर्व में लगी हुई वासनाओं का प्रबोधक है। इस कारण बौद्धों के यहाँ निर्विकल्पक प्रत्यक्ष द्वारा भाव-अभाव आदि धर्मों का दीख जाना उनकी वासनाओं के उद्बोध का कारण सिद्ध हो जाता है॥१५४-१५५॥

जिस प्रकार नील आदि की वासनाओं के प्रबोध का कारण नील आदि का प्रत्यक्ष दर्शन माना गया है, उसी प्रकार भाव, अभाव, उभय, अवक्तव्य आदि धर्मस्वरूप अर्थ का प्रत्यक्ष भी उन भाव आदि की वासनाओं के जगाने का कारण स्वयम् इष्ट कर लेना पड़ेगा। इस प्रकार भाव आदि स्वरूप अर्थ की प्रत्यक्ष प्रमाण से ज्ञप्ति होना सिद्ध होता है।

(बौद्ध) यदि निर्विकल्पकज्ञान जिस अंश में वासनाओं के द्वारा इस सविकल्पक बुद्धि को उत्पन्न कराता है तो उसी विषय को जानने में इस प्रत्यक्ष का प्रमाणपना विकल्पबुद्धि द्वारा व्यवस्थित किया जाता है। अन्यथा (यानी भाव आदि का प्रत्यक्षज्ञान होना न मानने पर) प्रमाणता कैसे व्यवस्थित हो सकेगी? विकल्पज्ञान की समीचीन उत्पत्ति होने में कोई विश्वास नहीं रहेगा (यानी प्रत्यक्ष की भित्ति पर ही विकल्प ज्ञान की उत्पत्ति मानने में तो श्रद्धा हो सकती है, अन्यथा नहीं)॥१५६॥

यदि हि भावादिविकल्पवासनायाः प्रबोधकारणमाभोगाद्येव न पुनर्भावादिदर्शनं तदा नीलादिविकल्पवासनयापि न नीलादिदर्शनं प्रबोधनिबंधनमाभोगशब्दयोरेव तत्कारणत्वापत्तेः। एवं च नीलादौ दर्शनाभावेपि विकल्पवासनायाः संभवात् सर्वत्र प्रत्यक्षपृष्ठभाविनो विकल्पस्य सामर्थ्यात्प्रत्यक्षस्य प्रमाणतावस्थापनेऽनाश्वास एव स्यात्। स्वलक्षणदर्शनप्रभवो विकल्पस्तत्प्रमाणताहेतुर्न सर्व इति चेन्नान्योन्याश्रयप्रसंगात्। तथाहि—सिद्धे स्वलक्षणदर्शनप्रभवत्वे विकल्पस्य ततस्तद्दर्शनप्रमाणतासिद्धिः तत्सिद्धौ च स्वस्य स्वलक्षणदर्शनप्रभवत्वसिद्धिरिति नान्यतरस्यापि तथोर्व्यवस्था। स्वलक्षणदर्शनप्रभवत्वं नीलादिविकल्पस्य स्वसंवेदनादेव सिद्धं सर्वेषां विकल्पस्य प्रत्यात्मवेद्यत्वात् ततो नान्योन्याश्रय इति चेत्, तर्हि भावाभावोभयादिविकल्पस्याप्यलिंगजस्य शब्दजस्य च भावादिदर्शनप्रभवत्वं स्वसंवेदनादेव कुतो न

यदि भावादि विकल्प वासनाओं को जागृत करने का कारण आभोग आदि ही है;. भाव अभाव आदि का प्रत्यक्ष करना वासना का प्रबोधक नहीं है, तब तो नील आदि की विकल्प वासनाओं का प्रबोधक नीलादि दर्शन भी नहीं हो सकते। अपितु परिपूर्णता और शब्द को ही उन नील आदि की वासनाओं का प्रबोध करने में कारणता प्राप्त हो जायेगी। इस प्रकार नील आदि में दर्शन का अभाव होने पर भी विकल्प वासनाओं की उत्पत्ति की संभावना है। सर्वत्र प्रत्यक्ष के पीछे होने वाले विकल्प ज्ञान के सामर्थ्य से प्रत्यक्ष की प्रमाणता के व्यवस्थापन में अविश्वास ही बना रहेगा।

स्वलक्षण निर्विकल्प दर्शन (प्रत्यक्ष) से उत्पन्न विकल्प ज्ञान उस प्रत्यक्ष प्रमाण का व्यवस्थापक हेतु है। सर्व ही विकल्प ज्ञान प्रत्यक्षजन्य तथा प्रत्यक्षों की प्रमाणता का व्यवस्थापक नहीं है। ऐसा कहना भी उचित नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर अन्योऽन्याश्रय दोष आता है।

जैनाचार्य उसी को अनुमान द्वारा सिद्ध करते हैं, उत्तर कालवर्ती विकल्प ज्ञान का स्वलक्षण दर्शन से उत्पन्न होना सिद्ध हो जाने पर विकल्प ज्ञान से उसके पूर्ववर्ती जनक प्रत्यक्ष का प्रमाणपना सिद्ध होगा और उस पूर्ववर्ती प्रत्यक्ष का प्रमाणपना सिद्ध हो जाने पर स्वयं विकल्प ज्ञान के स्वलक्षण प्रत्यक्ष से उत्पन्न होना सिद्ध होगा।

इस प्रकार उन दोनों में से किसी एक की भी व्यवस्था न हो सकेगी।

नील आदि के विकल्पज्ञान का स्वलक्षण प्रत्यक्ष से उत्पन्न हो जाना तो स्वयम् विकल्प को जानने वाले स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से ही सिद्ध हो जाता है, क्योंकि सम्पूर्ण जीवों के विकल्प ज्ञानों का प्रत्येक आत्मा में अपने-अपने स्वसंवेदन से जानने की योग्यता निर्णीत है अतः परस्पराश्रय दोष नहीं आता है। इस प्रकार बौद्धों के कहने पर स्याद्वादी कहते हैं कि भाव, अभाव, उभय आदि सात धर्मों को जानने वाले विकल्पज्ञान का भी जो कि लिङ्गजन्य ज्ञान नहीं है और जो विकल्पज्ञान शब्द से भी जन्य नहीं है, उसका भी भाव आदि के दर्शन से उत्पत्ति स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से ही क्यों नहीं सिद्ध होगी ? अवश्य होगी क्योंकि इनमें सर्वथा विशेषता का अभाव है।

सिद्ध्येत्? सर्वथा विशेषाभावात्। तदयं नीलाद्यर्थं पारमार्थिकमिच्छता चाद्यमवितथोपगंतुमर्हत्येवेति तदनुमाने सप्त हेतवः स्युः। यतश्चैवं कृत्तिकोदयादेः कथंचित्प्रतीत्यतिक्रमेण स्वभावहेतुत्वं ब्रुवतः सर्वः स्वभावहेतुः स्यादेक एव। संबंधभेदात्तद्भेदं साधयतः सामान्यतो विशेषतश्च स्वेष्टलिंगसंख्याक्षतिः। विषयभेदाच्च तद्भेदमिच्छतः सप्तविधो हेतुरर्थस्यास्तित्वादिसप्तरूपतयानुमेयत्वोपपत्तेः॥

तस्मात्प्रतीतिमाश्रित्य हेतुं गमकमिच्छता। पक्षधर्मत्वशून्योस्तु गमकः कृत्तिकोदयः॥१५७॥

पल्वलोदकनैर्मल्यं तदागस्त्युदये स च। तत्र हेतुः सुनिर्णीतः पूर्वं शरदि सन्मतः॥१५८॥

चंद्रादौ जलचंद्रादि सोपि तत्र तथाविधः। छायादिपादपादौ च सोपि तत्र कदाचन॥१५९॥

नील आदि अर्थों को वस्तुभूत चाहने वाला यह बौद्ध भाव आदि सात धर्मों को सत्यार्थरूप स्वीकार करने के लिए योग्य हो ही जाता है। इस प्रकार उन सात धर्मों के अनुमान कराने में विशेषरूप से सात हेतु हो जाएँगे। अतः प्रतीति का अतिक्रमण करके इस प्रकार आकाश को पक्ष मानकर कृत्तिकोदय, भरण्युदय आदि को स्वभावहेतुपना कहने वाले बौद्धों के यहाँ सभी ज्ञापक हेतु स्वभाव हेतु हो जाने से एक स्वभाव नाम का ही हेतु होगा। यदि जन्यजनक संबंध और तादात्म्यसंबंध तथा प्रतियोगित्वसंबंध के भेद से उस ज्ञापक हेतु के कार्य, स्वभाव, अनुपलब्धि इन तीन भेदों की सिद्धि करोगे तब तो सामान्य और विशेषरूप से स्वीकृत स्व इष्ट हेतुसंख्या की क्षति हो जायेगी। अर्थात् छत्र आदि कारण हेतुओं में तथा व्याप्य, पूर्वचर, सहचर, भावसाधक अनुपलब्धि, अभावसाधक उपलब्धि आदि हेतु के भेदों में भी जनकजन्य संबंध, व्याप्यव्यापकसंबंध, पूर्वोत्तरकालसम्बन्ध आदि सम्बन्धों के भेद होने से अनेक हेतु सिद्ध हो जायेंगे तथा विषयों के भेद से उस हेतु के भेदों को स्वीकार करने वाले बौद्ध के यहाँ सात प्रकार के हेतु सिद्ध हो जाएंगे। क्योंकि, अस्तित्व आदि सात धर्मरूप अर्थ का अनुमेयपना सिद्ध है।

अतः प्रमाणों से प्रसिद्ध प्रतीति के आश्रय से हेतु की ज्ञापकता चाहने वाले बौद्धों के द्वारा पक्ष धर्म से शून्य भी कृत्तिकोदय हेतु उत्तरकाल में होने वाले रोहिणी साध्य का या पूर्वकाल में हो चुके भरण्युदय साध्य का ज्ञापक हो जाता है अतः हेतु का पक्षधर्मत्व लक्षण ठीक नहीं है, अव्याप्ति दोष से दूषित है॥ १५७॥

सरोवर का जल निर्मल है, अगस्ति नाम के तारे का उदय होने से, इस अनुमान में अगस्ति का उदय हेतु तो अगस्ति में रहता है और निर्मलतारूप साध्य सरोवर के पानी में रहता है, किन्तु शरद् ऋतु के आने पर उस समय साध्य के साथ नियतरूप से वहाँ हेतु निर्णीत हो जाता है॥१५८॥ अर्थात् पक्ष धर्म से शून्य अगस्ति का उदयरूप हेतु तालाब के जल की स्वच्छता का निमित्त हो जाता है।

उसी प्रकार अविनाभाव सम्बन्ध से पक्षधर्म से शून्य जल में प्रतिबिंबित चन्द्र आदि भी आकाश में स्थित सूर्य, चन्द्रमा आदि के उपराग (ग्रहण) कलाहीनता, आदि का अनुमान करने में गमक होते है। तथा वृक्ष जल आदि को साधने में पक्षधर्मत्व शून्य छाया, शीतलता आदि हेतु गमक माने गए हैं। वहाँ कभी उन हेतुओं का अपने साध्य के साथ सम्बन्ध जाना जा चुका है॥१५९॥ दूर स्थित शुष्क पत्ते रूप स्वहेतु

पर्णकोयं स्वसद्धेतुर्बलादाहेति दूरगे। कार्यकारणभावस्याभावेपि सहभाविता॥१६०॥

पित्रोर्ब्राह्मणता पुत्रब्राह्मण्ये पक्षधर्मकः। सिद्धो हेतुरतो नायं पक्षधर्मत्वलक्षणः॥१६१॥

नन्वाकाशकालादेर्धर्मित्वे भविष्यच्छकटोदयपल्वलोदकनैर्मल्यादेः साध्यत्वे कृत्तिकोदयत्वागस्त्युदयादेर्हेतुत्वे पक्षधर्मत्वयुक्तस्यैव हेतुत्वमतो नापक्षधर्मत्वलक्षणो हेतुः कश्चिदिति चेत् , किमेवं चाक्षुषत्वादिः शब्दानित्यत्वहेतुर्न स्यात्? न हि जगतो वा धर्मचाक्षुषत्वं महानसधूमः पक्षधर्मः। तथाहि—शब्दानित्ययोगि जगच्चाक्षुषत्वयोगित्वात् महोदधि जगन् महानसधूमयोगित्वादिति कथं न चाक्षुषत्वं शब्दानित्यत्वं साधयेत् महानसधूमो वा महोदधौ वह्निं तथा त्वया संभवादिति चेत् कृत्तिकोदयादेः कुतोन्वयसंभवः

के बल से यह वट का वृक्ष है-इस प्रकार यह ज्ञान हो जाता है अतः अपने साध्य को सिद्ध कराने में सद्धेतु कहा गया है। यहाँ दूर में सूखे पड़े हुए पत्ते और वृक्ष का वर्तमान में कार्यकारण भाव सम्बन्ध न होने पर भी सहभाविता ग्रहण कर ली जाती है। इस हेतु में भी पक्षधर्मत्व नहीं है॥१६०॥

यह लड़का ब्राह्मण है क्योंकि इसके माता-पिता ब्राह्मण हैं। मातापिता का ब्राह्मणत्व माता-पिता में है और पक्ष कोटि में पुत्र है अतः पक्षधर्मत्वशून्य भी यह हेतु सिद्ध है। अतः यह वर्तना हेतु का निर्दोष लक्षण नहीं है॥१६१॥

शंका : आकाश, काल, देश आदि को धर्मी मान लेने पर और भविष्य में होने वाले रोहिणी उदय या वर्तमान में सरोवर के पानी की निर्मलता आदि को साध्य तथा कृत्तिकोदयपना, अगस्ति तारा का उदय, आदि को हेतु करने पर पक्षधर्मत्व लक्षण से युक्त ही को हेतुपना सिद्ध होता है अतः कोई भी हेतु पक्षधर्मत्व से रहित नहीं है।

समाधान : इस प्रकार बौद्धों के कहने पर तो चाक्षुषता आदि भी शब्द की अनित्यता साधने का हेतु क्यों न होंगे? अवश्य होंगे। अतः जगत् का धर्म चाक्षुषत्व नहीं है-ऐसा नहीं समझना चाहिए। अर्थात् जगत् का धर्म चाक्षुषत्व ही है तथा रसोईघर का धुआँ भी जगत् रूप पक्ष का धर्म है। इसी को अनुमान द्वारा सिद्ध करते हैं।

जगत् शब्द अनित्यता को धारने वाला है। क्योंकि नेत्र इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष के विषयपन को धारने वाला होने से; दूसरा अनुमान महान् बड़वानल को धारने वाले समुद्र से सहित जगत् अग्निमान है, रसोईघर के धुआँ का सम्बन्धी होने से। इस प्रकार चाक्षुषप्ना हेतु शब्द की अनित्यता को क्यों नहीं सिद्ध करेगा? अथवा रसोई घर का धुआँ (हेतु) महासमुद्र में अग्नि को क्यों नहीं सिद्ध करेगा? क्योंकि जगत् को पक्ष करने पर यह घटित हो जाता है।

बौद्ध कहते हैं कि इस प्रकार चाक्षुषत्व के शब्द के अनित्यत्व के साथ अन्वय नहीं है, और महानस धूम का समुद्र की अग्नि के साथ अन्वय असम्भव है अतः हेतु का पहला रूप पक्षवृत्तिपना होते हुए भी दूसरा रूप सपक्षवृत्तिपना नहीं घटित होने से वे समीचीन हेतु नहीं हैं। इसके प्रत्युत्तर में जैन आचार्य कहते हैं कि यदि ऐसा है तो कृत्तिकोदय आदि को आकाशरूप पक्ष में बौद्धों ने अन्वय की संभावना कैसे मान

पूर्वोपलब्धाकाशादेर्दृष्टांतस्य सद्भावादन्वय: सिद्ध्यतीतिचेत् , पूर्वोपलब्धजगतो दृष्टांतस्य सिद्धेश्चाक्षुषत्वयोगित्वादेरन्वयोस्तु विशेषाभावात् तथाप्यस्याविनाभावासंभवादगमकत्वेविनाभावस्वभावमेव पक्षधर्मत्वं गमकत्वांगं लिंगस्य लक्षणं। तथा च न धर्मधर्मिसमुदाय: पक्षो नापि तत्तद्धर्मी तद्धर्मत्वस्याविनाभावस्वभावत्वाभावात्। किं तर्हि, साध्य एव पक्ष इति प्रतिपत्तव्यं तद्धर्मत्वस्यैवाविनाभावित्वनियमादित्युच्यते॥

साध्य: पक्षस्तु न: सिद्धस्तद्धर्मो हेतुरित्यपि। तादृक्षपक्षधर्मत्वसाधनाभाव एव वै॥१६२॥

कथं पुन: साध्यस्य धर्मस्य धर्मो हेतुस्तस्याधर्मित्वप्रसंगादिति चेत् न, तेनाविनाभावात्तस्य धर्म इत्यभिधानात्। न हि साध्याधिकरणत्वात्साध्यधर्म: हेतुर्येन साध्यधर्मा धर्मी स्यात्। तत: साध्याविनाभावी हेतु: पक्षधर्म इति स्याद्वादिनामेव पक्षधर्मत्वं हेतोर्लक्षणमविरुद्धं स्पष्टमविनाभावित्वस्यैव तथाभिधानात्।

ली है? हेतु और साध्य से सहित पूर्व में दृष्ट आकाश आदि दृष्टान्त विद्यमान हैं? अत: कृत्तिकोदय का शकटोदय के साथ अन्वय सिद्ध हो जाता है, ऐसा कहने पर तो चाक्षुषत्व, शब्दानित्यत्व आदि से सहित पहले जान लिये गये जगत् को दृष्टान्तपना सिद्ध होने से चाक्षुषत्वयोगीपन, महानसधूमसे सहितपन,आदि हेतुओं का भी अन्वयत्व बन जाता है, क्योंकि इनमें कोई विशेषता नहीं है, फिर भी यदि अविनाभाव का असम्भव हो जाने से इन चाक्षुषत्व, महानसधूम आदि को शब्द के अनित्यत्व या समुद्र में अग्निरूप साध्यों का साधकपना नहीं है, ऐसा मानोगे तब तो अविनाभावस्वरूप ही पक्षवृत्तित्व सिद्ध ही है और वह अन्यथानुपपत्ति ही हेतु के ज्ञापकपन का अङ्ग ही निर्दोष लक्षण है।

इस प्रकार धर्म और धर्मी का समुदाय रूप पक्ष नहीं बनता है (यानी साध्यरूपी धर्म और साध्यवान् पर्वत आदि धर्मी का समुदाय भी पक्ष सिद्ध नहीं होता है)। तथा, उस हेतु और साध्य से विशिष्ट धर्मी भी पक्ष नहीं है, क्योंकि उसमें पक्ष में रहने रूप अविनाभाव स्वभाव का अभाव है।

शंका : पक्ष किसे कहते हैं ?

समाधान : अन्यथानुपपत्तिरूप हेतु से साधने योग्य शक्य, अभिप्रेत, अप्रसिद्धरूप साध्य ही पक्ष है, ऐसा समझना चाहिए। ऐसे उस पक्ष का धर्मपना ही अविनाभावीरूप नियम हो सकता है। इसी बात का स्पष्ट निरूपण किया जाता है।

हमारे स्याद्वाद मत में प्रयोगकाल में साधने योग्य साध्य ही पक्ष माना गया है और उस साध्य का धर्म हेतु सिद्ध है, यह भी अभीष्ट है। ऐसा होने पर हेतु के पक्षवृत्तित्वरूप साधने का निश्चय से अभाव ही है। अर्थात् पक्षधर्मत्व हेतु का लक्षण घटित नहीं होता है॥१६२॥

उस साध्य धर्म का धर्म हेतु कैसे हो सकता है ? क्योंकि ऐसा मानने पर उस साध्य के अधर्मीपन का प्रसंग आता है-ऐसा कहना उचित नहीं है क्योंकि उस साध्य के साथ हेतु का अविनाभाव होने से उस साध्य का धर्म हेतु है, ऐसा कह दिया जाता है (संयोग सम्बन्ध से पर्वत में अग्नि रहती है, किन्तु निष्ठत्व सम्बन्ध से अग्नि में पर्वत रहता है। विषयता सम्बन्ध से अर्थ में ज्ञान रहता है किन्तु विषयिता संबंध से ज्ञान में अर्थ रहता है। जन्यत्व सम्बन्ध से बेटे पुत्र का पिता है और जनकत्व सम्बन्ध से पिता का पुत्र है।

तच्च कृत्तिकोदयादिषु साध्यधर्मिण्यसत्स्वपि यथा प्रतीतिर्विद्यत एवेति किमाकाशादिधर्मिपरिकल्पनया प्रतीत्यतिलंघनापरयातिप्रसंगिन्या। तथा च न परिकल्पितं पक्षधर्मत्वं हेतोर्लक्षणं नाप्यन्वय इत्यभिधीयते॥

नि:शेषं सात्मकं जीवच्छरीरं परिणामिना। पुंसा प्राणादिमत्त्वस्य त्वन्यथानुपपत्तित: ॥१६३॥

सपक्षसत्त्वशून्यस्य हेतोरस्य समर्थनात्। नूनं निश्चीयते सद्भिर्नान्वयो हेतुलक्षणम् ॥१६४॥

न चादर्शनमात्रेण व्यतिरेक: प्रसाध्यते। येन संशयहेतुत्वं रागादौ वक्तृतादिवत् ॥१६५॥

समवाय सम्बन्ध से शाखाओं में वृक्ष है और समवेतत्व सम्बन्ध से वृक्ष में शाखाएँ हैं। इसी प्रकार अविनाभाव सम्बन्ध से साध्य में हेतु रहता हुआ साध्य का धर्म हो जाता है)। साध्य को संयोग सम्बन्ध से अधिकरण बनाकर उसमें रहने वाला हेतु ही साध्य धर्म बने, यह कोई नियम नहीं है जिससे कि साध्यरूपी धर्म पुन: धर्मी बन जाए, अत: साध्य के साथ अविनाभाव रखने वाला हेतु ही साध्यरूप पक्ष का धर्म है ऐसी विवक्षा होने पर स्याद्वादियों के हेतु का लक्षण पक्षधर्मत्व विरोध रहित सिद्ध होता है, तथा, स्पष्टरूप से अविनाभावीपन का ही पक्षवृत्तित्व से कथन किया है। जैसे वह पक्ष धर्मत्व कृत्तिकोदयरूप साध्यधर्म में नहीं रहने पर भी हेतु की प्रतीति है। ऐसी दशा में आकाश, काल आदि को धर्मीपन की कल्पना करने से क्या लाभ है? अर्थात् कुछ भी प्रयोजन सिद्ध नहीं होता है। उसी प्रकार कृत्तिकोदय के लिए आकाश आदि की कल्पना भी प्रतीति का उल्लंघन करने में तत्पर अतिप्रसंग दोष से युक्त है।

तथा प्रतिवादी के द्वारा कल्पित पक्षवृत्तित्व हेतु का लक्षण सिद्ध नहीं है व हेतु का दूसरा स्वरूप-अन्वय भी हेतु का निर्दोष लक्षण नहीं है। अर्थात् सपक्ष सत्त्व हेतु का लक्षण निर्दोष नहीं है उसी को कहते हैं-

जीवित पुरुषों के सम्पूर्ण शरीर उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यरूप परिणाम करने वाले पुरुष के द्वारा आत्मा सहित हैं, क्योंकि श्वास, उच्छ्वास आदि प्राणादिमत्त्व अन्यथा (यानी आत्मसहितपने के बिना) सिद्ध नहीं हो सकता है। (जो सात्मक नहीं है, वह प्राण आदि से युक्त नहीं है। जैसे घट, पट आदि हैं। जो-जो प्राणादिमान हैं, वे-वे सात्मक हैं, ऐसा अन्वय दृष्टान्त यहाँ नहीं मिलता है क्योंकि सभी प्राणादिमान आत्मा जीवित शरीरों के अन्तर्गत हैं। पक्ष से बहिर्भूत सपक्ष होना चाहिए), अत: सपक्ष सत्त्व से रहित भी इस प्राणादिमत्व हेतु का समर्थन करने से सज्जन पुरुषों के द्वारा यह अवश्य निश्चित कर लिया जाता है कि हेतु का लक्षण अन्वय (यानी सपक्षसत्त्व) नहीं है अर्थात् सपक्षसत्त्व हेतु का लक्षण नहीं है॥१६३-१६४॥

केवल नहीं दीखने से ही किसी का अभाव सिद्ध नहीं होता जिससे हेतु संदिग्ध व्यभिचारी हो जाता है, जैसे कि बुद्ध में राग, द्वेष आदि की सिद्धि करने पर वक्तापन, पुरुषपन, आदि हेतु संदिग्ध व्यभिचारी हो जाते हैं (अर्थात् बुद्ध रागादिमान् है-वक्ता होने से, पुरुष होने से परन्तु वक्ता और पुरुष के होने पर भी वीतरागपना संभव है, अत: जैसे रागादि को साधने में वक्तापन हेतु संदिग्ध व्यभिचारी है ऐसा प्राणादिमत्व हेतु संदिग्ध नहीं है)। उस आत्मा के विचार, शक्ति, बोलना, चलना आदि कार्यों का भस्म आदि में अभाव देखा जाने से उनमें प्राण आदि का अभाव सिद्ध है। इस प्रकार साध्य के नहीं होने पर हेतु का नहीं रहना

आत्माभावो हि भस्मादौ तत्कार्यस्यासमीक्षणात्। सिद्धः प्राणाद्यभावश्च व्यतिरेकविनिश्चयः ॥१६६॥

वाक्क्रियाकारभेदादेरत्यंताभावनिश्चितः। निवृत्तिर्निश्चिता तज्ज्ञैः चिंता व्यावृत्तिसाधनी ॥१६७॥

सर्वकार्यासमर्थस्य चेतनस्य निवर्तनं। ततश्चेत्केन साध्येत कूटस्थस्य निषेधनम् ॥१६८॥

यथा हि सर्वकारणासमर्थं चैतन्यं कार्याभावाद्भस्मादौ निषेद्धुमशक्यं तथा कूटस्थमपि क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोधात् ॥

क्षणिकत्वेन न व्याप्तं सत्त्वमेवं प्रसिद्ध्यति। संदिग्धव्यतिरेकाच्च ततोसिद्धिः क्षणक्षये ॥१६९॥

चेतनाचेतनार्थानां विभागश्च न सिद्ध्यति। चित्तसंताननानात्वं निजसंतान एव वा ॥१७०॥

न वेद्यवेदकाकारविवेकोतः स्वसंविदः। सर्वकार्येष्वशक्तस्य स त्वसंभवभाषणे ॥१७१॥

रूप व्यतिरेक की विशेषता से निश्चय किया गया है। (आत्मा के वचन, क्रिया, आकार, भोग, चेष्टा आदि विशेषों का भस्म आदि में अत्यन्ताभाव निश्चित है), अतः उस आत्मतत्त्व को जानने वाले विद्वानों के द्वारा भस्म आदि में आत्मा के साथ प्राणादि की निवृत्ति निश्चित कर दी गई है। व्यतिरेक व्याप्ति को जानने वाला व्याप्तिज्ञान साध्य और साधन की व्यावृत्ति को साध देता है ॥१६५-१६६-१६७॥

यदि सर्व कार्य करने में असमर्थ चेतन का निवर्तन किया जाता है तो फिर कूटस्थपने का निषेध करना किसके द्वारा सिद्ध होगा ॥१६८॥

जिस प्रकार सम्पूर्ण कार्यों के करने में असमर्थ चैतन्य को भस्म आदि में कार्य का अभाव होने से, निषेध करने के लिए अशक्य है (अर्थात्-भस्म, मृतशरीर आदि में वचन, श्वास आदि कार्यों को करने वाले चैतन्य का अभाव है)। किन्तु सभी कार्यों को करने में असमर्थ चैतन्य का निषेध नहीं किया जा सकता है। उसी प्रकार कूटस्थपन का भी भस्म, आत्मा, शब्द आदि में क्रम और युगपत् अर्थक्रिया का विरोध हो जाने के कारण निषेध नहीं किया जा सकता (अर्थात् कूटस्थ नित्य वा सर्वथा क्षणिक से खेत में प्राप्त हुई भस्म अब खात होकर अन्न स्वरूप पर्यायों को धारण नहीं कर सकती, अतः सर्वथा नित्य वा क्षणिक सिद्ध नहीं हो सकता)।

इस प्रकार क्षणिक एकत्व से व्याप्त सत्त्व सिद्ध नहीं है, क्योंकि क्षणक्षयी पदार्थ में संदिग्ध और व्यतिरेक होने से सत्त्व हेतु असिद्ध है अर्थात् सत्त्व हेतु से क्षणिकत्व सिद्ध होने का अभाव है ॥१६९॥

बौद्धों के यहाँ चेतन और अचेतन अर्थों का विभाग करना भी सिद्ध नहीं होता है तथा विज्ञानरूप चित्त की अनेक संतानें नहीं बन सकेंगी। अथवा अपने निज की कोई संतान ही नहीं बन सकेगी। अर्थात् क्षणिक दर्शन में चेतना, चेतन पदार्थ का विभाग, चित्त संतान का नानापना और स्वकीय निज संतान की सिद्धि नहीं हो सकती ॥१७०॥

सभी कार्यों में अशक्त होरहे पदार्थ का सद्भाव करने में स्वसंवेदनज्ञान का इस वेद्याकार और वेदकाकार से पृथक् भाव सिद्ध नहीं हो सकेगा ॥१७१॥ अर्थात् विज्ञानाद्वैतवादी के स्वसंवेदन में वेद्य-वेदक भाव नहीं हो सकते, क्योंकि शुद्ध ज्ञान में वेद्य-वेदक भाव नहीं है। चेतन पदार्थों में अचेतन पदार्थ नहीं है,

न संति चेतनेष्वचेतनार्थास्तद्वेदनादिकार्यासत्त्वात्। तथा न संत्यचेतनार्थेषु चेतनार्थास्तत एवेति चेतनाचेतनविभागो न सिद्ध्यत्येव सर्वकार्यकरणासमर्थानां तेषां तत्र निषेद्धुमशक्तेः। चेतनार्था एव संतु तथा विज्ञानवादावताराज्जडस्य प्रतिभासयोगादिति चेन्न, तथा विज्ञानसंतानानां नानात्वाप्रसिद्धेः। क्वचिच्चित्तसंततेः संतानांतराणां सर्वकार्यकरणासमर्थानां स्वकार्यासत्त्वेपि सत्त्वाविरोधात्। मा भूत्संतानांतरसिद्धिस्तथेष्टेरितिचेन्न, निजसंतानस्याप्यसिद्धिप्रसंगात्। वर्तमानचित्तक्षणे संवेद्यमाने पूर्वोत्तरचित्तक्षणानामनुभवमात्रमप्यकुर्वतां प्रतिषेद्धुमशक्यत्वादेकचित्तक्षणात्मकत्वापत्तेः। न चैकः क्षणः संतानो नाम तत एव संवेदनाद्वैतमस्तु उत्तमं पानद्वयमिति वचनात्। नेदमपि सिद्ध्यति वेद्यवेदकाकारविवेकस्याव्यवस्थानात्। संवेदने वेद्यवेदकाकारौ न स्तः स्वयमप्रतिभासनादिति न शक्यं वक्तुमप्रतिभासमानयोः सत्त्वविरोधात्। ततः क्वचित्कस्यचित्प्रतिभासनादेः

क्योंकि वेदन, सुख, दुःख अनुभव आदि कार्य अचेतनों में नहीं पाये जाते हैं। उसी प्रकार अचेतन अर्थों में चेतन पदार्थ भी नहीं है क्योंकि उनके अलग-अलग कार्य परस्पर में नहीं देखे जाते हैं। इस प्रकार चेतन और अचेतन पदार्थों का विभाग तो बौद्धों के यहाँ सिद्ध ही नहीं हो पाता है, क्योंकि सम्पूर्ण कार्यों के करने में असमर्थ उन चैतन्यों का उन अर्थों में निषेध करने के लिए अशक्ति है (समर्थता नहीं है)।

विज्ञानाद्वैतवादी बौद्ध कहते हैं कि जगत् में चेतन अर्थ ही रहे, कोई भी पदार्थ अचेतन नहीं है, क्योंकि सर्वत्र विज्ञानवाद का अवतार हो रहा है। जड़ पदार्थ का तो प्रतिभास होना अयुक्त है; इस प्रकार नहीं कहना चाहिए, क्योंकि ऐसा मानने पर बौद्धों के यहाँ विज्ञान की संतानों की अनेकता प्रसिद्ध नहीं हो सकेगी। किसी प्रकृत एक चित्त संतति के (संतान में) सम्पूर्ण दृश्यमान कार्यों के करने में असमर्थ अन्य संतानों के निज का कोई कार्य न होने से भी उनके सद्भाव का कोई विरोध नहीं है। (बौद्धों के विचारानुसार सर्वत्र सबका सद्भाव सम्भवनीय है)।

सन्तानियों की प्रवाहरूप संतान के संतानान्तर की सिद्धि नहीं है, क्योंकि संतानान्तर का नहीं होना हमें इष्ट है। ऐसा कहना उचित नहीं है क्योंकि ऐसा कहने पर बौद्धों के यहाँ अपने निज के पूर्व अपरकाल में प्रवहमान परिणामों की एक संतान बनने की असिद्धि का प्रसंग आएगा (अर्थात् अपने निज की सन्तान भी सिद्ध नही हो सकेगी)।

वर्तमान काल के एक चित्तक्षण का संवेदन होता है ऐसा मानने पर पूर्वोत्तर चित्तक्षणों का निषेध करना शक्य नहीं है। ऐसी दशा में पूर्व उत्तर काल के सभी विज्ञानरूप चित्तक्षणों को वर्तमान काल के एक चित्तक्षणस्वरूप हो जाने का प्रसंग आवेगा, किन्तु एक ही क्षण का क्षणिक परिणाम तो संतान नहीं बन सकता है अर्थात् भूत भविष्य के बिना वर्तमान कोई पदार्थ नहीं है।

शुद्धविज्ञानाद्वैतवादी कहते हैं कि इसलिए एक संवेदनाद्वैत ही उत्तम है। हमारे ग्रन्थों में कहा है कि संवेदन का अद्वय ही उत्तम है, किन्तु यहाँ भी बौद्धों का कहना सिद्ध नहीं होता है क्योंकि, ऐसा मानने पर वेद्य आकार और ज्ञान के वेदन आकारों का पृथग्भाव व्यवस्थित नहीं हो पाता है।

''संवेदन में स्वयं जानने योग्य वेद्य आकार और स्वयं जानने वाला वेदक आकार-ये दोनों नहीं हैं क्योंकि उन आकारों का स्वयं प्रतिभास नहीं होता है। इस प्रकार बौद्धों का कथन शक्य नहीं है, क्योंकि

स्वकार्यस्याभावादभावसाधने भस्मादौ चैतन्यस्य स्वकार्यनिवृत्तिनिश्चयादभावो निश्चेतव्य इति विपक्षे बाधकप्रमाणादेव प्राणादिमत्त्वस्य व्यतिरेक: साध्यते न पुनरदर्शनमात्रेण यत: संशयहेतुत्वं रागादौ वक्तृत्वादेरिव स्यात्। न चैवमपरिणामिनात्मना सात्मकं जीवच्छरीरस्य सिद्ध्यति। यत:—

परिणामिनमात्मानमंतरेण क्रमाक्रमौ। न स्यातां तदभावे च न प्राणादिक्रिया क्वचित् ॥१७२॥

तन्नैकांतात्मना जीवच्छरीरं सात्मकं भवेत्। निष्कलस्य सहानेकदेशदेहास्तिहानित: ॥१७३॥

जगत् में अप्रतिभासमान पदार्थों का सद्भाव कहना विरुद्ध है अत: कहीं भी शुद्ध संवेदन में किसी वेद्य आकार या वेदक आकार का अभाव भी अपने निजी कार्यों की निवृत्ति होने का निश्चय हो जाने से निश्चित कर लेना चाहिए। इस प्रकार सभी जीवित शरीर आत्मा सहित हैं, प्राण आदि करके विशिष्ट होने से। इस अनुमान में पड़े हुए प्राणादिमत्त्व हेतु का पत्थर आदि विपक्ष में प्राण आदि सत्ता के बाधक प्रमाण से ही व्यतिरेक साधा जाता है, क्योंकि किसी के नहीं दीखने मात्र से ही किसी का अभाव सिद्ध नहीं होता। जिससे कि बुद्ध के राग आदि के साधने में वक्तापन, पुरुषपन आदि हेतुओं के समान प्राणादिमत्त्व का हेतुपना संदिग्ध हो जाए। अर्थात् केवल नहीं दीखने से जैसे परमाणु, पिशाच, पुण्य, पाप आदि का अभाव सिद्ध नहीं किया जा सकता वैसे ही आत्मा का अभाव सिद्ध नहीं किया जा सकता।

इस प्रकार अपरिणामी आत्मा से जीवित शरीर के सात्मकपना नहीं होता है, क्योंकि, आत्मा को परिणामी माने बिना क्रम और अक्रम नहीं हो सकते तथा उन क्रम और अक्रम का अभाव हो जाने पर आत्मा में प्राण, चेष्टा, सुख, दु:ख, संवेदन आदि क्रियायें कहीं भी नहीं हो सकतीं ॥१७२॥

अत: एक ही धर्मस्वरूप से जीवित शरीर आत्मा सहित नहीं होता है क्योंकि कलाओं यानी अंशों से रहित हुए आत्मा के एक साथ अनेक देशों में रहने वाली देह में विद्यमान रहने की हानि हो जाती है।

भावार्थ : जीवित शरीर अपरिणामी एक धर्म वाले आत्मा के द्वारा सात्मक नहीं है। सांश आत्मा का ही शरीर के भिन्न-भिन्न अवयवों में नानारूप से प्रतिभास होता है॥१७३॥

निरंश आत्मा मस्तक आदि अनेक देशों में स्थित शरीर को एक ही बार व्याप्त कर लेता है ऐसा कौन श्रद्धान कर सकेगा? अर्थात् कोई नहीं।

सबसे बड़े परम महत्त्व नाम के परिमाण का धारी होने से आत्मा अनेक देश में देह को व्याप्त कर ही लेती है। वैशेषिकों का इस प्रकार कहना व्याघात दोषयुक्त है क्योंकि जो अंशों से रहित है, वह सबसे बड़े परिमाण वाला है, ऐसा कहने पर अंशरहित परमाणु को भी परममहापरिमाण वाला होने का प्रसंग आता है। अर्थात् निरंश परमाणु भी अनेक देशों में स्थित रह सकेगा। यदि पुन: स्वारंभक अवयवों का अभाव हो जाने से आत्मा का अवयवरहितपना है, जैसे आकाश को बनाने वाले कोई छोटे अवयव नहीं हैं अत: आकाश निरवयव माना गया है। ऐसा मानने पर तो दूसरे सिद्धान्त यानी स्याद्वाद मत की सिद्धि हो जाती है क्योंकि आत्मा का सभी प्रकारों से अवयवरहितपना सिद्ध नहीं होता है। परमाणु के बराबर नाप लिये गये और निज के आत्मभूत हो रहे अवयवों (प्रदेशों) का आत्मा के कोई निषेध नहीं है।

निष्कल: सकृदनेकदेशदेहं व्याप्नोत्यात्मेति क: श्रद्धीत? परममहत्त्वाद्व्याप्नोत्येवेति चेद्व्याहतमिदं निरंश: परममहान् वेति परमाणोरपि परममहत्त्वप्रसंगात्। यदि पुन: स्वारंभकावयवाभावान्निरवयवत्वमात्मनो गगनत्वादिवदिति मतं तदा परमतसिद्धि: सर्वथा निरवयवत्वासिद्धे: परमाणुप्रमीयमाणस्वात्मभूतावयवानामात्मनोऽप्रतिषेधादिति समर्थयिष्यते॥

अनेकांतात्मकं सर्वं सत्त्वादित्यादि साधनं। सम्यगन्वयशून्यत्वेप्यविनाभावशक्तित: ॥१७४॥

नित्यानित्यात्मक: शब्द: श्रावणत्वात्कथंचन। शब्दत्वाद्वान्यथाभावाभावादित्यादिहेतव: ॥१७५॥

हेतोरन्वयवैधुर्ये व्यतिरेको न चेन्न वै। तेन तस्य विनैवेष्टे: सर्वानित्यत्वसाधने॥१७६॥

निश्चितो व्यतिरेक एव ह्यविनाभाव: साधनस्य नान्य: स चोपदर्शितस्य सर्वस्य हेतोरन्वयासंभवेन सिद्ध्यत्येव। सत्येवाग्नौ धूम इत्यन्वयनिश्चयेग्न्यभावे न क्वचिद्धूम इति व्यतिरेकनिश्चयस्य दृष्टत्वात्।

भावार्थ : घट-पट आदि को बनाने वाले कपाल, तंतु आदि अवयवों के समान चित्तलक्षण वाले आत्मा को बनाने वाले कोई अवयव नहीं हैं अत: आत्मा अवयवरहित है किन्तु परमाणु के बराबर आकाश प्रदेशों से नाप लिये गये स्वकीय अंशों पर शरीरव्यापी आत्मा तदात्मक होकर रहता है अत: आत्मा अवयवों से सहित सांश है, इस प्रकरण का युक्तिपूर्वक निरूपण आगे करेंगे।

उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यरूप सत्ता सहित होने से सम्पूर्ण पदार्थ अनेक धर्मों से तदात्मक हैं। तथा अर्थ-क्रिया को करने वाले होने से सभी पदार्थ परिणामी हैं, इत्यादि हेतु सम्यक्प्रकार से अन्वय से रहित हैं फिर भी अविनाभाव नाम के गुण की सामर्थ्य से समीचीन माने गए हैं (जब सभी पदार्थ पक्षकोटि में हैं, तो सपक्ष बनाने के लिए कोई पदार्थ शेष नहीं रह जाता है अत: उक्त हेतु की सपक्ष में वृत्ति नहीं है, और भी हेतु ऐसे हैं, जो कि सपक्ष में नहीं रहते हैं) शब्द द्रव्यार्थिक नय से नित्य और पर्यायार्थिक नय से अनित्यरूप है, कर्ण इन्द्रिय से उत्पन्न हुए प्रत्यक्ष का विषय होने से, अथवा शब्द कथंचित् नित्य अनित्य रूप है शब्दपना होने से, यद्यपि इन दो अनुमानों में घट, पट आदि सपक्ष तो है, किन्तु उनमें श्रावणत्व और शब्दत्व हेतु नहीं रहते हैं। क्योंकि अन्यथाभाव (यानी साध्य के नहीं होने पर हो जाने का अभाव होने से) श्रावणत्व, शब्दत्व इत्यादि हेतु भी व्यतिरेक की सामर्थ्य से सद्धेतु हैं॥१७४-१७५॥

बौद्ध : सपक्षवृत्तिरूप अन्वय के वियोग हो जाने पर अन्यथानुपपत्तिरूप व्यतिरेक भी नहीं हो सकता। जैनाचार्य: ऐसा कहना उचित नहीं है। क्योंकि उस अन्वय के बिना ही उस व्यतिरेक का बन जाना नियम से अभीष्ट है। बौद्धों के यहाँ भी सर्वपदार्थों का अनित्यपना साधन करने पर अन्वय के बिना भी सत्त्व और अनित्य का अविनाभाव मान लिया गया है॥१७६॥

प्रत्यक्षादि प्रमाणों से निश्चित व्यतिरेक ही हेतु का साध्य के साथ अविनाभाव है, इससे अन्य कोई अविनाभाव नहीं है, और वह अविनाभाव दिखलाये गये सम्पूर्ण हेतुओं का अन्वय के असंभव होने पर तो सिद्ध नही होता है। अग्नि के होने पर ही धुआँ है, इस प्रकार के अन्वय का निश्चय होने पर ही अग्नि के न होने पर कहीं भी धूम नहीं रहता है, इस प्रकार के व्यतिरेक का निश्चय होना देखा गया है तथा अग्नि

संदिग्धेन्वयव्यतिरेकसंदेहाच्चेति न वै मंतव्यं सर्वे भावा: क्षणिका: सत्त्वादित्यस्यान्वयासत्त्वेपि व्यतिरेकनिश्चयस्य स्वयमिष्टेरन्यथा तस्य गमकत्वायोगात्। नन्वत्र सत्येव क्षणिकत्वे सत्त्वमिति निश्चयमेवान्वयोस्तीति चेत्। अत्रोच्यते—

साध्ये सत्येव सद्भावनिश्चय: साधनस्य य:। सोन्वयश्चेत्तथैवोपपत्ति: स्वेष्टा परोऽफल: ॥१७७॥

यथैव प्रतिषेधप्राधान्यादन्यथानुपपत्तिर्व्यतिरेक इतीष्यते तथाविधप्राधान्यात्तथोपपत्तिरेवान्वय इति किमनिष्टं स्याद्वादिभिस्तस्य हेतुलक्षणत्वोपगमात्। परोपगतस्तु नान्वयो हेतुलक्षणं पक्षधर्मत्ववत् नापि व्यतिरेक:। स हि विपक्षाद्व्यावृति: विपक्षस्तद्विरुद्धस्तदन्यस्तदभावश्चेति त्रिविध एव। तत्र—

के होने पर ही धूम होगा या नहीं होगा, उस प्रकार अन्वय के संदिग्ध होने पर अग्नि के न होने पर कहीं भी धूम न होगा या होगा, ऐसा व्यतिरेक का संदेह भी हो जाता है। इस प्रकार बौद्धों को कभी नहीं मानना चाहिए क्योंकि सम्पूर्ण भाव क्षणिक हैं सत् होने से, इस अनुमान के इस सत्त्व हेतु का अन्वय नहीं होने पर भी व्यतिरेक का निश्चय हो जाना स्वयं बौद्धों ने इष्ट किया है। अन्यथा (यानी अन्वय के समान व्यतिरेक भी नष्ट हो जायेगा तो) उस सत्त्व हेतु को क्षणिकत्व का ज्ञापकपना नहीं बन सकेगा। अत: सद्हेतु का लक्षण अन्वय ही नहीं हो सकता अपितु व्यतिरेक भी हो सकता है।

शंका : इस हेतु में क्षणिकत्व के रहने पर ही सत्त्वहेतु का रहना, इस निश्चय को ही अन्वय मानते हैं जो कि अन्वय सत्त्वहेतु में विद्यमान है। (बौद्ध आग्रह)

समाधान : इस प्रकार अवधारण का प्रकरण उपस्थित होने पर श्री विद्यानंद आचार्य प्रत्युत्तर में कहते हैं-

साध्य के होने पर ही साधन के सद्भाव का जो निश्चय है, वही अन्वय है। इस प्रकार बौद्धों के कहने पर जैनाचार्य कहते हैं कि उस प्रकार साध्य के होने पर ही हेतु की उपपत्ति होना उन्होंने अपने यहाँ इष्ट कर लिया है, तब तो ठीक है। इससे पृथक् सपक्ष में वृत्तिरूप अन्वय मानना व्यर्थ है॥१७७॥

जिस प्रकार प्रतिषेध की प्रधानता होने से साध्य के बिना हेतु की अनुपपत्ति अन्यथानुपपत्ति नामक व्यतिरेक माना जाता है, उसी प्रकार विधि की प्रधानता होने से साध्य के होने पर ही हेतु की अवस्थिति रूप तथोपपत्ति ही अन्वय है। यह क्या अनिष्ट है ? अर्थात् नहीं। स्याद्वादियों के द्वारा उस तथोपपत्तिरूप अन्वय को हेतु का लक्षण स्वीकार किया गया है। नैयायिक, बौद्ध आदि के द्वारा स्वीकृत सपक्ष में वर्त्तना रूप अन्वय हेतु का लक्षण नहीं है जैसे कि पक्षधर्मत्व हेतु का रूप नहीं है। यहाँ तक पक्षधर्मत्व और सपक्षसत्त्व इन दो रूपों का हेतु का लक्षणपना खण्डित किया है।

बौद्धों के द्वारा स्वीकृत विपक्ष व्यावृत्त रूप व्यतिरेक भी हेतु का लक्षण नहीं है, क्योंकि वह तीसरा रूप विपक्ष से व्यावृत्ति होना है। वह विपक्ष से व्यावृत्ति साध्य विरुद्ध विपक्ष, उस साध्य से अन्य विपक्ष अथवा उस साध्य का अभावरूप विपक्ष, इन तीन प्रकार का ही विपक्ष हो सकता है। **इन तीनों में से एक-एक का विचार करते हैं –**

तद्विरुद्धे विपक्षे च तदन्यत्रैव हेतवः। असत्यनिश्चितासत्त्वाः साकल्यान्नेष्टसाधनाः ॥१७८॥

यथा साध्यादन्यस्मिन् विपक्षे निश्चितासत्त्वा अपि हेतवोग्नित्वादयो नेष्टाः सत्त्वादिसाधनास्तेषां साध्याभावलक्षणेपि पक्षे कुतश्चिदनिश्चितासत्त्वरूपत्वात्। तथा साध्याविरुद्धेपि विपक्षे निश्चितासत्त्वा अपि धूमादयो नेष्टा अग्न्यादिसाधनास्तेषामग्न्यभावे स्वयमसत्त्वेनानिश्चयात्। ननु च साध्यविरुद्धो विपक्षः साध्याभावरूप एव पर्युदासाश्रयणात् प्रसह्यप्रतिषेधाश्रयणे तु तदभावस्तद्विरुद्धादन्य इति साध्याभावविपक्ष एव विपक्षहेतोरसत्त्वनिश्चयो व्यतिरेको नान्य इत्यत्रोच्यते;—

साध्याभावे विपक्षे तु योसत्त्वस्यैव निश्चयः। सोविनाभाव एवास्तु हेतो रूपात्तथाह च ॥१७९॥

अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्। नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम् ॥१८०॥

उस साध्य से विरुद्ध विपक्ष में और उस साध्य से सर्वथा भिन्न हो रहे विपक्ष में साध्य के न होने पर जिन हेतुओं का अभाव निश्चित नहीं है, वे हेतु सम्पूर्ण रूप से इष्टसाध्य को साधने वाले नहीं हैं अतः प्रथम विकल्प और द्वितीय विकल्प तो प्रशस्त नहीं हैं ॥१७८॥

जिस प्रकार साध्य से सर्वथा भिन्न हो रहे विपक्ष में असत्त्व का निश्चय रखने वाले भी सत्त्वादिक हेतु अग्नि आदि को साधने वाले इष्ट नहीं माने गए हैं क्योंकि उन हेतुओं के साध्याभाव लक्षण का विपक्ष में किसी भी कारण से अविद्यमान रहना निश्चित नहीं है; उसी प्रकार साध्य से विरुद्ध विपक्ष में निश्चित है असत्त्व जिनका, ऐसे धूम आदि भी अग्नि आदि को साधने के लिए सद्धेतु इष्ट नहीं माने गये हैं, क्योंकि, उन धूम आदिकों का अग्नि के न होने पर स्वयं अविद्यमानपन का निश्चय नहीं हुआ है, अर्थात् अविनाभाव का निश्चय हुए बिना विपक्ष व्यावृत्ति का कुछ भी मूल्य नहीं है।

शंका : विपक्ष से भिन्न सदृश को ग्रहण करने वाले और पद के साथ 'नञ्' का योग रखने वाले पर्युदास का आश्रय करने से साध्य से विरुद्ध विपक्ष साध्याभावस्वरूप ही है। तथा सर्वथा निषेध को करने वाले और क्रिया के साथ नञ् का योग धारने वाले प्रसज्य अभाव का आश्रय लेने से तो उस साध्य का अभाव उसके विरुद्ध से अन्य हो जाता है। इस प्रकार साध्याभाव ही विपक्ष है और विपक्ष में हेतु के नहीं रहने का निश्चय कर लेना व्यतिरेक है। इससे पृथक् कोई व्यतिरेक नहीं माना गया है अर्थात् साध्य के नहीं रहने पर हेतु का नहीं रहना व्यतिरेक है।

समाधान : इस प्रकार बौद्ध की शंका का अब यहाँ आचार्य प्रत्युत्तर देते हैं कि-

साध्य के अभावरूप विपक्ष में जो हेतु की असत्ता का निश्चय है, यदि यही व्यतिरेक है, तब तो वह अविनाभाव ही हेतु का रूप है (अविनाभाव से भिन्न अन्य हेतु नहीं है)। सो ही कहा है कि जहाँ अन्यथानुपपत्ति विद्यमान है, वहाँ पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व और विपक्ष व्यावृत्ति रूप तीन से क्या प्रयोजन है ? अर्थात् कुछ नहीं, अकेली अन्यथानुपपत्ति ही पर्याप्त है और जहाँ अन्यथानुपपत्ति नहीं है, वहाँ पक्ष धर्मत्व, सपक्षसत्त्व और विपक्ष व्यावृत्ति से भी क्या प्रयोजन है ? अर्थात् अविनाभाव के बिना तीनों रूपों के होने पर भी कुछ लाभ नहीं है, अविनाभाव ही हेतु का प्राण है ॥१७९-१८०॥

यथा चैवमन्यथानुपपन्नत्वनियमे सति हेतोर्न किंचित्त्रयेण पक्षधर्मत्वादीनामन्यतमेनैव पर्याप्तत्वात्तस्यैवान्यथानुपपन्नस्वभावसिद्धेरिति च तस्मिंस्तत्त्रयस्य हेत्वाभासगतस्येवाकिंचित्करत्वं युक्तं॥

तद्धेतोस्त्रिषु रूपेषु निर्णयो येन वर्णितः। असिद्धविपरीतार्थव्यभिचारिविपक्षतः॥१८१॥

तेन कृतं न निर्णीतं हेतोर्लक्षणमंजसा। हेत्वाभासाव्यवच्छेदि तद्वदेत्कथमन्यथा॥१८२॥

ननु च पक्षधर्मत्वे निर्णयश्चाक्षुषत्वादेरसिद्धप्रपंचस्य प्रतिपक्षत्वेन वर्णितः सपक्षसत्त्वे विरुद्धप्रपंचप्रतिपक्षत्वेन विपक्षासत्त्वे चानैकांतिकविस्तारप्रतिपक्षेणेति कथं हेत्वाभासाव्यवच्छेदि हेतोर्लक्षणं तेनोक्तं येन पारमार्थिकं रूपं ज्ञानमितिचेत् अन्यथानुपपन्नत्वस्यैव हेतुलक्षणत्वेनाभिधानादिति ब्रूमः। तस्यैवासिद्धविरुद्धानैकांतिकहेत्वाभासप्रतिपक्षत्वसिद्धेः। न ह्यन्यथानुपपन्नत्वनियमवचनोसिद्धत्वादिसंभवो विरोधात्।

इस प्रकार जैसे अन्यथानुपपत्तिरूप नियम के होने पर हेतु का उन तीन रूपों से कुछ भी प्रयोजन नहीं सधता है, क्योंकि पक्षवृत्तित्व आदि तीनों में से कोई एक विपक्षव्यावृत्ति रूप करके ही पूर्ण रूप से कार्य सिद्ध हो जाता है और वही रूप अन्यथानुपपत्तिस्वरूप सिद्ध है। इस प्रकार उस हेतु में उन तीनों रूपों का रहना हेत्वाभासगत होने से कुछ भी कार्य करने वाला नहीं है, अकिंचित्कर है, यह कहना युक्तिपूर्ण है, अकेला अविनाभाव ही सद्धेतु का विधाता है।

बौद्धों ने यह कहा था **'हेतोस्त्रिष्वपि रूपेषु निर्णयो येन वर्णितः। असिद्धविपरीतार्थव्यभिचारिविपक्षतः'** अर्थात्-असिद्ध दोष की व्यावृत्ति के लिए हेतु का रूप पक्षधर्मत्व माना गया है और विरुद्ध हेत्वाभास को हटाने के लिए सपक्षसत्त्व माना गया है तथा व्यभिचार दोष निवारण करने के लिए विपक्षव्यावृत्तिरूप माना गया है। इस प्रकार तीन हेत्वाभासों के प्रतिपक्षी होने से हेतु का तीन रूपों में निर्णय किया गया है, परन्तु इस कथन से उस बौद्ध ने हेतु का लक्षण निर्दोष रूप से निर्णीत नहीं किया है अन्यथा वह बौद्ध हेत्वाभासों को व्यवच्छेद नहीं करने वाले उस त्रैरूप्य को हेतु का लक्षण कैसे कह देता ? लक्ष्य का जो विशेषण अलक्ष्य से व्यवच्छेद कराने वाला नहीं है, वह निरर्थक है॥१८१-१८२॥

बौद्ध कहते हैं कि शब्द अनित्य है, चक्षु इन्द्रिय द्वारा ग्राह्य होने से, इस अनुमान में दिये गये चाक्षुषत्व तथा अन्य असिद्ध हेत्वाभासों के प्रपंच का प्रतिकूल होने के कारण हेतु का रूप पक्षधर्मत्व (वृत्ति) में निर्णीत कर कहा गया है तथा विरुद्ध के भेदप्रभेदों का प्रतिपक्षी होने से हेतु का सपक्षसत्त्व में निर्णय कहा है तथा व्यभिचार के विस्तार का प्रतिपक्षपने करके विपक्ष व्यावृत्तिरूप में निर्णय बताया है। इस प्रकार तीनों रूपों में निर्णय करना हेतु का लक्षण है जो कि हेत्वाभासों का पृथग्भाव कर रहा है, अतः हेतु का त्रिरूप लक्षण हेत्वाभासों को व्यवच्छेद करने वाला क्यों नहीं है? जिस अनुमान द्वारा वास्तविकरूप का ज्ञान होता है। इसके प्रत्युत्तर में जैनाचार्य कहते हैं कि अन्यथानुपपत्ति को ही हेतु का निर्दोष लक्षण हम कहते हैं और वह अविनाभाव ही असिद्ध, विरुद्ध और अनैकान्तिक हेत्वाभासों का प्रतिपक्षीरूप करके सिद्ध हो चुका है अर्थात् अन्यथानुपपत्ति रूप हेतु ही सर्व हेत्वाभास का खण्डन कर देता है।

न चैकेन सकलप्रतिपक्षव्यवच्छेदे सिद्धे तदर्थं त्रयमभिदधतां तदेकं समर्थं लक्षणं हेतोर्ज्ञातं भवति तदेव त्रिभिः स्वभावैरसिद्धादीनां त्रयाणां व्यवच्छेदकमतस्तानि त्रीणि रूपाणि निश्चितान्यनुक्तानि। तदवचने विशेषतो हेतुलक्षणसामर्थ्यस्यावचनप्रसंगात्। तदुक्तौ तु विशेषतो हेतुलक्षणं ज्ञातमेवेतिचेत् न, अबाधितविषयत्वादीनामपि वचनप्रसंगात्। तेषामनुक्तौ बाधितविषयत्वादिव्यवच्छेदासिद्धेः। निश्चितत्रैरूप्यस्य हेतोर्बाधितविषयत्वाद्य-संभवात्तद्वचनादेव तद्व्यवच्छेदसिद्धेर्नाबाधितविषयत्वादिवचनमिति चेत् न, हेतोः पंचभिः स्वभावैः पंचानां पक्षव्यापकत्वादीनां व्यवच्छेदकत्वाद्विशेषतल्लक्षणस्यैव कथनात् अन्यथा तदज्ञानप्रसंगात्। तद्विशेषविवक्षायां तु पंचरूपत्ववत् त्रिरूपत्वमिति न वक्तव्यं सामान्यतोन्यथानुपपन्नत्ववचनेनैव पर्याप्तत्वात् , रूपत्रयमंतरेण

अन्यथानुपपत्तिरूप नियम के कहने पर असिद्धत्व, विरुद्धत्व, व्यभिचारित्व, बाधितत्व, सत्प्रतिपक्षत्व, इन हेत्वाभासों की सम्भावना नहीं है क्योंकि ये विरुद्ध हैं (जहाँ अविनाभाव है, वहाँ हेत्वाभास नहीं रह सकता है)। एक ही अविनाभाव सम्बन्ध से सम्पूर्ण हेत्वाभासरूप प्रतिपक्षियों का व्यवच्छेद सिद्ध हो जाने पर उसके लिए तीन रूपों के हेतु का लक्षण कथन करने वाले (बौद्ध) को हेतु का एक समर्थलक्षण ज्ञात नहीं है, क्योंकि वह एक अविनाभाव ही अपने तीन स्वभावों के द्वारा असिद्ध आदि तीन हेत्वाभासों का व्यवच्छेद कर देता है, अतः हेतु के निश्चित हुए वे तीन रूप नहीं कहे हैं।

बौद्ध : उन तीन रूपों का कथन नहीं करने पर विशेषरूप से हेतु के लक्षण की सामर्थ्य का कथन नहीं करने का प्रसंग आता है किन्तु उन तीनों रूपों का कथन कर देने पर विशेषरूप से हेतु का लक्षण ज्ञात हो ही जाता है। (अतः विशेषरूप से व्युत्पत्ति कराने के लिए वे तीन रूप कह दिये हैं)। **जैन** – ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि ऐसा कहने पर अबाधित विषय, असत्प्रतिपक्षपना, आश्रयासिद्धि रहितपना, आदिरूपों का भी कथन करने का प्रसंग आता है, यदि उन अबाधित आदि रूपों को नहीं कहोगे तो अग्नि अनुष्ण है-प्रमेय होने से, इत्यादि हेत्वाभासों का व्यवच्छेद सिद्ध नहीं हो सकेगा।

बौद्ध कहता है कि जिस हेतु के त्रैरूप्य का निश्चय है, उस हेतु के बाधित विषयपना या सत्प्रतिपक्षपना आदि दोषों की सम्भावना ही नहीं है अतः उस त्रैरूप्य के कथन करने से ही उन बाधितपन आदि हेतु दोषों का व्यवच्छेद सिद्ध हो ही जाता है। अतः अबाधितविषयत्व आदि रूप नहीं कहे गये हैं।

जैनाचार्य कहते हैं कि इस प्रकार नहीं कहना चाहिए, क्योंकि हेतु के पाँच स्वभावों के द्वारा ही पक्ष अव्यापकत्व आदि हेतु दोषों का निराकरण हो जाता है अतः विशेषरूप से उन पाँचों को ही हेतु का लक्षण कहना चाहिए। अन्यथा उन रूपों के अज्ञान होने का प्रसंग आयेगा। तथा हेतु के आवश्यक विशेषरूप की विवक्षा होने पर बौद्धों द्वारा जैसे नैयायिकों के द्वारा कथित हेतु का पंचरूपपना स्वीकार नहीं किया जाता है,उसी प्रकार तीनरूपपना भी स्वीकार नहीं करना चाहिए। सामान्यरूप से एक अन्यथानुपपत्ति के वचन के द्वारा ही हेतु का पूरा कार्य सिद्ध हो जाता है (अन्य तीन या पाँच से क्या प्रयोजन है ?)।

बौद्ध : तीनों रूपों के बिना हेतु के असिद्ध आदि तीन दोषों का व्यवच्छेद हो नहीं सकता है और उस हेतु में तीन रूपों के सद्भाव होने से हेत्वाभासों का व्यवच्छेद हो जाता है अतः तीन रूप का कथन करना

हेतोरसिद्धादित्रयव्यवच्छेदानुपपत्ते:। तत्र तस्य तद्भावादुपपन्नं वचनमिति चेत्—

रूपत्रयस्य सद्भावात्तत्र तद्वचनं यदि। निश्चितत्वस्वरूपस्य चतुर्थस्य वचो न किम् ॥१८३॥

त्रिषु रूपेषु चेद्रूपं निश्चितत्वं न साधने। नाज्ञाता सिद्धता हेतो रूपं स्यात्तद्विपर्ययः ॥१८४॥

पक्षधर्मत्वरूपं स्याज्ज्ञातत्वे हेत्वभेदिनः। हेतोरज्ञानतेष्टा चेन्निश्चितत्वं तथा न किम् ॥१८५॥

हेत्वाभासेपि तद्भावात्साधारणतया न चेत्। धर्मांतरमिवारूपं हेतोः सदपि संमतम् ॥१८६॥

हंतासाधारणं सिद्धं साधनस्यैकलक्षणं। तत्त्वतः पावकस्यैव सोष्णत्वं तद्विदां मतम् ॥१८७॥

यो यस्यासाधारणे निश्चितः स्वभावः स तस्य लक्षणं यथा पावकस्यैव सोष्णत्वपरिणामस्तथा च हेतोरन्यथानुपपन्नत्वनियम इति न साधारणानामन्यथानुपपत्तिनियमविकलानां पक्षधर्मत्वादीनां हेतुलक्षणत्वं निश्चितं तत्त्वमात्रवत् ॥

युक्त है। इस प्रकार बौद्धों के कहने पर जैनाचार्य कहते हैं कि-

उस हेतु में तीन रूपों का सद्भाव होने से यदि उन तीन रूपों का कथन करना मानते हो तो निश्चित स्वरूप चतुर्थ हेतु का कथन करना क्यों नहीं माना जाता है? बौद्ध कहता है कि तीन रूपों में निश्चितस्वरूप तो है ही अतः उसको हेतु से पृथक् नहीं रखा जाता है। जैनाचार्य कहते हैं कि ऐसा कहना भी उचित नहीं है, क्योंकि ऐसा कहने पर हेतु का रूप असिद्ध, अज्ञातासिद्ध और विपरीत हो जाता है ॥१८३-१८४॥

बौद्ध कहता है कि हेतु से अभिन्न होकर रहने वाले पक्षधर्मत्व आदि स्वरूप तो ज्ञात अनुमान के प्रयोजक हैं। हेतु के इन रूपों के अज्ञात होने पर हेतु का अज्ञातपना इष्ट किया है (यानी वह हेतु अज्ञात होकर असिद्ध है)। इस प्रकार बौद्धों के कहने पर तो चतुर्थ निश्चितपना भी हेतु का स्वरूप क्यों न होगा? यदि कहो कि निश्चितपना तो हेत्वाभास में भी विद्यमान है, अतः हेतु और हेत्वाभास में साधारणरूप से रह जाने के कारण वह निश्चितपना सम्यक् हेतु का रूप नहीं है। तब तो हेतु का विद्यमान पक्षधर्मत्व आदि कभी अन्य धर्मों के समान हेतु के रूप नहीं माने जाएंगे, क्योंकि वे हेत्वाभासों में भी मिल जाते हैं। एक अविनाभाव ही हेतु का निर्दोष स्वरूप है, खेद है कि फिर भी असाधारण हेतु मानते हैं, वास्तविक रूप से हेतु का असाधारण लक्षण एक अन्यथानुपपत्ति ही सिद्ध है।

जिस प्रकार लक्ष्यलक्षण को जानने वाले विद्वानों के यहाँ अग्नि का लक्षण उष्णता सहितपना ही माना है॥ १८५-१८६-१८७ ॥

जो स्वभाव जिसका असाधारण होकर निश्चित किया गया है, वह उसका लक्षण है (सम्पूर्ण लक्ष्यों में रहता हुआ जो अलक्ष्यों में नहीं व्यापता है, अलक्ष्यों में नहीं जाता है, वह असाधारण है) जैसे कि अग्नि का उष्ण सहितपना ही परिणाम होता है अतः अग्नि का लक्षण उष्णत्व है। उसी प्रकार हेतु का लक्षण साध्य के बिना हेतु का नहीं होना रूप अन्यथानुपपत्ति नियम है। अन्यथानुपपत्तिरूप नियम से रहित और हेत्वाभासों में भी साधारणरूप से पाये जाने वाले पक्षवृत्तित्व, सपक्षवृत्तित्व, विपक्षव्यावृत्ति आदि को हेतु का लक्षण निश्चित नहीं किया गया है। जैसे कि केवल तत्त्व ही हेतु का लक्षण नहीं है, क्योंकि तत्त्व तो पक्ष, साध्य,

एतेन पंचरूपत्वं हेतोर्ध्वस्तं निबुध्यते। सत्त्वादिष्वग्निजन्यत्वे साध्ये धूमस्य केनचित्॥१८८॥

अग्निजन्योयं धूमः सत्त्वात् द्रव्यत्वाद्वा धूमे सत्त्वादेरसंदिग्धत्वात्। तथान्वयं पूर्वदृष्टधूमेग्निजन्यत्वे व्याप्तस्य सत्त्वादेः सद्भावात् व्यतिरेकश्च खरविषाणादौ साध्याभावे साधनस्य सत्त्वादेरभावनिश्चयात्। तथात्राबाधितविषयत्वं विवादापन्ने धूमेग्निजन्यत्वस्य बाधकाभावात्। तत एवासत्प्रतिपक्षत्वमनग्नि-जन्यत्वसाधनप्रतिपक्षानुमानसंभवादिति सिद्धं साधारणत्वं पंचरूपत्वस्य त्रैरूप्यवत् सामस्त्येन व्यतिरेकनिश्चयस्याभावादसिद्धमिति चेन्न, तस्यान्यथानुपपन्नत्वरूपत्वात्। तदभावे

जीव आदि भी हैं। अर्थात्-सामान्य रूपसे सत्पना भी हेतु का या किसी विशेष पदार्थ का लक्षण नहीं हो सकता है क्योंकि सत्त्वपना हेतु समान हेत्वाभासों में भी घटित होता है।

इस प्रकार उक्त कथन के द्वारा हेतु का पंचरूपपना लक्षण भी निरस्त कर दिया गया, ऐसा समझ लेना चाहिए। क्योंकि धूम को किसी के भी द्वारा अग्नि से जन्यपना साधने पर सत्त्व, द्रव्यत्व आदि असत् हेतुओं में पंचरूपपना घटित हो जाता है॥१८८॥

नैयायिक का कथन - यह धुआँ अग्नि से उत्पन्न हुआ है सत्त्व होने से अथवा द्रव्यत्व होने से इस अनुमान में दिये गये सत्त्व, द्रव्यत्व, पौद्‌गलिकत्व हेतुओं का संदेहरहित धूमरूप पक्ष में अस्तित्व है तथा अन्वय दृष्टान्तरूप सपक्ष में भी हेतु का अस्तित्व है। पूर्वदृष्ट धुएँ में अग्निजन्यपने से व्याप्त सत्त्व आदि हेतुओं का सद्भाव है और विपक्ष व्यावृत्तिरूप व्यतिरेक भी बन जाता है। अग्निजन्यत्वरूप साध्य के नहीं होने से खरविषाण, आदि विपक्षों में सत्त्व आदि हेतुओं का अभाव निश्चित है, उसी प्रकार चौथा रूप अबाधित विषयपना भी सत्त्वादि हेतुओं में घट जाता है। विवाद में पड़े हुए धूमरूपपक्ष में अग्नि से जन्यपनारूप साध्य का कोई दूसरा बाधकप्रमाण नहीं है। सभी धुआँ आग से उत्पन्न है अतः पक्ष में साध्य के बाधक प्रमाणों के न होने से सत्त्व आदि हेतु सत्प्रतिपक्ष दोष से रहित है। साध्य से विपरीत अग्निजन्यपन के अभाव को साधने के लिए किसी प्रतिपक्षी अनुमान की सम्भावना नहीं है। जैनाचार्य कहते हैं कि इस प्रकार नैयायिक का पंचरूपत्व भी बौद्धों के त्रैरूप्य के समान हेतु का साधारण स्वरूप सिद्ध होता है परन्तु हेतु का समीचीन लक्षण पंचरूपत्व नहीं हो सकता।

'पूर्णरूप से व्यतिरेक के निश्चय का अभाव होने से निश्चय सत्त्व हेतु असिद्ध है अतः हेतु को पंचरूप ही होना चाहिए।' ऐसा भी कहना उचित नहीं है, क्योंकि वास्तव में हेतु का लक्षण अन्यथानुपपत्ति रूप ही सिद्ध है।

उस अन्यथानुपपत्ति के अभाव में शेष चार रूप बने भी रहें तो भी कुछ प्रयोजन को साधने वाले न होने से वे अकिंचित्कर ही हैं। उस एक अन्यथानुपपत्ति से रहित (विकल) पंचरूपत्व, त्रिरूपत्व आदि को अलक्षण द्वारा साधने योग्य होने से यह हमारा अतिदेश करना समुचित है। अर्थात् समीचीन हेतुओं का अतिक्रमण कर सत्त्व आदि हेत्वाभासों में पंचरूप स्थित होने से पंचरूपत्व हेतु का लक्षण अति-व्याप्ति दोष से दूषित है, यह हमारा कहना ठीक ही है।

शेषाणामकिंचित्करत्वापत्तेस्तद्विकल्पस्यैव पंचरूपत्वादेरलक्षणत्वेन साध्यत्वाद्युक्तोतिदेशः। एवमन्वयव्यतिरेकिणो हेतोः पंचरूपत्वमलक्षणं व्यवस्थाप्यान्वयिनोपि नान्वयो लक्षणं साधारणत्वादेवेत्याह;—

अन्वयो लोहलेख्यत्वे पार्थिवत्वेशनेस्तथा। तत्पुत्रत्वादिषु श्यामरूपत्वे क्वचिदीप्सिते ॥१८९॥

लोहलेख्योऽशनिः पार्थिवत्वाद्धातुरूपवत्, स श्यामरूपस्तत्पुत्रत्वात्तन्नप्तृत्वाद्वा परिदृष्टतत्पुत्रादिवदिति हेत्वाभासेपि सद्भावादन्वयस्य साधारणत्वं। ततो हेत्वलक्षणत्वं। यस्तु साध्यसद्भाव एव भावो हेतोरन्वयः सोऽन्यथानुपपन्नत्वमेव तथोपपत्त्याख्यमसाधारणं हेतुलक्षणं। परोपगतस्तु नान्वयस्तल्लक्षणं नापि केवलव्यतिरेकिणो व्यतिरेक इत्याह—

अदृष्टिमात्रसाध्यश्च व्यतिरेकः समीक्ष्यते। वक्तृत्वादिषु बुद्धादेः किंचिज्ज्ञत्वस्य साधने ॥१९०॥

इस प्रकार अन्वय और व्यतिरेक से सहित हेतु का पंचरूपपना लक्षण नहीं है। इसको व्यवस्थापित कर अब अन्वय वाले हेतु का भी लक्षण सत्त्वरूप अन्वय नहीं है क्योंकि सत्त्वरूप अन्वय हेतु और हेत्वाभासों में सामान्य रूप से रह ही जाता है अर्थात् सत्त्व रूप अन्वय हेतु और हेत्वाभास सामान्य रूप से दोनों में पाया जाता है, इस बात का ग्रन्थकार स्वयं प्रतिपादन करते हैं-

हीरा पृथ्वी का विकार होने से लोहे के द्वारा खुरचा जाता है जैसे पाषाण आदि। इस अनुमान में पृथ्वी का विकारपना हेतु अन्वयरूप से विद्यमान है। तथा **'गर्भस्थः पुत्रः श्यामो भवितुमर्हति मित्रातनयत्वात् दृष्टपुत्रवत्'** इस अनुमान द्वारा किसी अभीष्ट गर्भस्थित पुत्र में श्यामरूपपना साध्य करने पर तत्पुत्रत्व आदि हेतुओं में अन्वयपना कहीं पर इप्सित है (इष्ट है) ॥१८९॥ परन्तु वह हेतु का लक्षण नहीं है।

वज्र लोहे की छैनी से खुरचने योग्य है, पृथ्वी द्रव्य का विकार होने से। जैसे कि अन्य चांदी, सोना, आदि धातु भेद करके उकेरे जाते हैं (या पार्थिव पदार्थ लोहे से लिखे जाने योग्य है) तथा गर्भस्थ बालक काले रूप वाला है, क्योंकि उस मित्रा नाम की काली स्त्री का लड़का है अथवा उस विवक्षित पुरुष का नाती है। जैसे कि और भी कतिपय दृष्टिगत उसके पुत्र, पौत्र, पुत्रियाँ आदि काले हैं।

इस प्रकार हेत्वाभास में भी अन्वय का सद्भाव है अतः अन्वय हेतु का साधारणरूप है। इसलिए यह हेतु का लक्षण नहीं हो सकता। जो साध्य के होने पर ही हेतु का सद्भाव रूप अन्वय कहा जाएगा वह तो तथोपपत्ति नाम की अन्यथानुपपत्ति हेतु का असाधारण लक्षण होता है। तथोपपत्ति (साध्य के रहने पर ही हेतु का रहना) और अन्यथानुपपत्ति (साध्य के न रहने पर हेतु का नहीं रहना) रूप दो प्रकार से अविनाभाव माना गया है किन्तु दूसरे वादियों के द्वारा स्वीकृत अन्वयीपना हेतु का लक्षण नहीं है। तथा केवल व्यतिरेकपना भी हेतु का लक्षण विपक्षव्यावृत्तिरूप व्यतिरेक नहीं है। इस बात का ग्रन्थकार स्पष्टीकरण करते हैं-

वक्ता आदि में अल्पज्ञ बुद्धादि के साधन में दृष्टिगोचर नहीं होना रूप साध्य व्यतिरेक देखा जाता है। यदि सम्पूर्णरूप से साध्य का अभाव होने पर सकलता से हेतु के अभाव का प्रमाणों से निश्चय करना

साध्याभावे त्वभावस्य निश्चयो यः प्रमाणतः। व्यतिरेकः स साकल्यादविनाभाव एव नः ॥१९१॥

सत्यप्यबाधितविषयतायां सत्यप्यसत्प्रतिपक्षतायां च हेतौ न रूपांतरत्वमन्यथानुपपन्नत्वादित्याह;—

अबाधितार्थता च स्यान्नान्या तस्मादसंशया। न वा सत्प्रतिपक्षत्वं तदभावेनभीक्षणात् ॥१९२॥

न हि क्वचिद्धेतौ साध्याभावासंभूष्णुतापायेप्यबाधितविषयत्वमसत्प्रतिपक्षत्वं समीक्ष्यते येन ततो रूपांतरत्वं। ननु च यथा स्पर्शाभावे क्वचिदसंभववतोपि रूपस्य स्पर्शाद्रूपांतरत्वं तथाविनाभावाभावे क्वचिदसंभवतोपि ततो रूपांतरत्वमबाधितविषयत्वस्यासत्प्रतिपक्षत्वस्य च न विरुध्यतेन्यथा स्पर्शाद्रूपस्यापि रूपांतरत्वविरोधादिति चेत् नैतत्सारं, अन्यथानुपपन्नत्वादबाधितविषयत्वादेरभेदात्।

व्यतिरेक माना जाएगा, तब तो हमारा अविनाभाव ही आपने व्यतिरेक मान लिया है। अर्थात् अल्पज्ञ नहीं होते हुए भी तीर्थंकर वक्ता है, पुरुष है, इसमें अन्यथानुपपत्ति न होने से ही वक्तृत्व आदि असद्धेतु हैं ॥१९०-१९१॥

जिस हेतु के साध्य का कोई बाधक प्रमाण नहीं है, वह अबाधित विषय है। इस प्रकार की अबाधित विषयता के होने पर भी और जिस हेतु के साध्य के अभाव को साधने के लिए दूसरा प्रतिपक्षी हेतु नहीं है, ऐसी असत्प्रतिपक्षता होते हुए भी हेतु में अन्यथानुपपत्ति से अतिरिक्त कोई दूसरा रूप कार्यकारी नहीं है। इस बात का स्वयं वार्तिककार स्पष्ट निरूपण करते हैं।

उस अन्यथानुपपत्ति से भिन्न कोई अबाधितविषयता नहीं हो सकती है। निसंशय अविनाभाव है। अबाधित विषयरूप है और उस अन्यथानुपपत्ति के अतिरिक्त असत्प्रतिपक्षत्व भी कोई पृथक् रूप नहीं है, क्योंकि उस अन्यानुपपत्ति का अभाव होने पर अबाधित विषयत्व अथवा असत्प्रतिपक्षत्व दृष्टिगोचर नहीं हो रहा है ॥१९२॥

किसी भी हेतु में साध्य का अभाव होने पर हेतु का असम्भवनारूप स्वभाव के अभाव होने पर भी अबाधित विषयत्व और असत्प्रतिपक्षत्व नहीं देखा जाता है, जिससे कि उस अविनाभाव से उन चौथे, पाँचवें अबाधितपनत्व और सत्प्रतिपक्षत्व हेतु का पृथक् रूप माना जाए अर्थात् वे दोनों हेतु के पृथक् रूप नहीं हैं।

शंका : जैसे स्पर्श के अभाव में नहीं होने वाले भी रूप का स्पर्श पृथक्त्व है, अर्थात् स्पर्श से रूप-गुण पृथक् है, उसी प्रकार अविनाभाव के अभाव होने पर कहीं भी नहीं सम्भव होने वाला अबाधित विषयत्व और असत्प्रतिपक्षत्व रूपान्तर है पृथकत्व है विरुद्ध नहीं है। अन्यथा (यदि असत्प्रतिपक्षत्व और अबाधितविषयत्व दोनों में अभेद स्वीकार किया जायेगा तो) स्पर्श से रूप गुण का भी भिन्नगुण स्वरूप होने का विरोध हो जाएगा।

समाधान : इस कथन में कोई सार नहीं है, क्योंकि अन्यथानुपपत्ति से अबाधित विषयत्व आदि रूपों का अभेद है। अर्थात् परस्पर में एक दूसरे का अभाव होने पर नहीं रहने वाले कोई कोई पदार्थ अभिन्न

साध्याभावप्रकारेणोपपत्तेरभावो ह्यन्यथानुपपत्तिः स एव वाबाधितविषयत्वमसत्प्रतिपक्षत्वं च प्रतीयते ततोन्यत् किंचिन्नैवं स्पर्शाद्रूपस्याभेदः प्रतीतिभेदात्ततो विषमोऽयमुपन्यासः। ननु हेतूपन्यासे सति क्रमेण प्रतीयमानत्वादविनाभावाबाधितविषयत्वादीनामपि परस्परं भेद एवेति चेन्न, बाधकक्रमापेक्षत्वात्तत्क्रमप्रतीतेः। शक्रेंद्रपुरंदरादिप्रतीतिवदर्थप्रतीतेः क्रमाभावात्। न ह्यभिन्नेप्यर्थे बाधकभेदो विरुद्धो यतस्तत्क्रमप्रतीतिरर्थभेदक्रमं साधयेत्। ततो नाममात्रं भिद्यते हेतोरन्यथानुपपन्नत्वमबाधितविषयत्वमसत्प्रतिपक्षत्वमिति नार्थः। एतेन यदुक्तं हेतोरबाधितविषयत्वाभावेऽनुष्णोग्निर्द्रव्यत्वात् नित्यो घटः सत्त्वात् प्रेत्यासुखप्रदो धर्मः

होते हैं जैसे कि सत्त्व और अर्थ क्रियाकारीपन सर्वथा भिन्न नहीं है और कोई-कोई भिन्न होते हैं जैसे कि ज्ञानावरण का विघटना और वीर्यान्तराय का विघटना अविनाभाव होते हुए भी पृथक्-पृथक् हैं। इस प्रकरण में साध्य का अभाव होने पर हेतु की सिद्धि का अभाव होना ही अन्यथानुपपत्ति है। वही अबाधित विषयपना और असत्प्रतिपक्षपनारूप प्रतीत हो रहा है। उससे भिन्न कुछ नहीं है किन्तु इस प्रकार स्पर्श गुण से रूपगुण का अभेद दृष्टिगोचर नहीं होता है, क्योंकि उनकी भिन्न-भिन्न प्रतीति हो रही है अतः यह दृष्टान्त विषम है।

शंका : अनुमान में हेतु का उपन्यास हो जाने पर क्रम से प्रतीयमान अविनाभाव और अबाधितविषयपन आदि का भी पारस्परिक भेद ही है।

समाधान : ऐसा कहना उचित नहीं है क्योंकि बाधकों के क्रम की अपेक्षा से उनका क्रम से होना प्रतीत हो रहा है। वस्तुतः अर्थ की प्रतीति करने का कोई क्रम नहीं है जैसे कि पर्यायवाची शक्र, इन्द्र, पुरन्दर आदि की प्रतीतियों का क्रम नहीं है अर्थात् एक ही इन्द्ररूप अर्थ को कहने वाले शब्दों का उच्चारण क्रम से होता है, किन्तु अर्थ युगपत् जान लिया जाता है। इसी प्रकार प्रकृत साध्य में सम्भावना करने योग्य प्रत्यक्ष, अनुमान आदि बाधकों का क्रमिक उत्थान होता है और उनका निराकरण भी एक अविनाभाव द्वारा क्रम से कर दिया जाता है। किन्तु अर्थ वही एक बना रहता है। तथा एक अभिन्न के भी अर्थ में भिन्न-भिन्न बाधकों का होना विरुद्ध नहीं है जिससे कि उन बाधकों का क्रम से प्रतीत होना अर्थ के भिन्नत्व को और क्रम को साध देता है अतः केवल नाम का ही भेद है अर्थात् हेतु को अन्यथानुपपन्नपना कहो। अबाधितविषयपना और असत्प्रतिपक्षपन कहो, इसमें कोई अर्थ भेद नहीं है केवल नाम मात्र का भेद है।

जो यह कहा गया था कि हेतु का अबाधितविषयपनारूप मानने पर अग्नि ठंडी है क्योंकि द्रव्य है जो जो द्रव्य होते हैं वे ठण्डे होते हैं जैसे वस्त्र, पुस्तक, जल आदि। तथा घट नित्य है क्योंकि वह सत् है जो-जो सत्त्व हैं वे नित्य हैं जैसे आत्मा, आकाश आदि। धर्म दूसरे जन्म में सुख को देने वाला नहीं है क्योंकि आत्मा का गुण विशेष है। जो-जो आत्मा का गुण विशेष होता है वह सुख देने वाला नहीं होता जैसे पाप कर्म परजन्म में सुख देने वाला नहीं है। इत्यादि प्रत्यक्ष और अनुमान से अबाधित हेतुओं को अपने साध्य के अबोधकपन का प्रसंग आवेगा। अर्थात् अग्नि में ठण्डापन साधने के लिए दिये गये द्रव्यत्व हेतु का विषय प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधित है और घट में नित्यपना साधने के लिए दिये गये सत्त्व हेतु का साध्य नित्यत्व घट अनित्य है, परिणामी होने से। यह अनुमान से बाधित है, तथा पर जन्म में धर्म से सुख की

पुरुषगुणविशेषत्वादित्येवमादेः प्रत्यक्षानुमानाभ्यामबाधितविषयस्याप्यगमकत्वप्रसक्तिरसत्प्रतिपक्षत्वाभावे च सत्प्रतिपक्षस्य सर्वगतं सामान्यं सर्वत्र सत्प्रत्ययहेतुत्वादित्येवमादेर्गमकत्वापत्तिरिति तत्प्रत्याख्यातं। प्रत्यक्षादिभिः साध्यविपरीतस्वभावव्यवस्थापनस्य बाधितविषयत्वस्य वचनात्। प्रतिपक्षानुमानेन च तस्य सत्प्रतिपक्षत्वस्याभिधानात् तद्व्यवच्छेदस्य च साध्यस्वभावेन तथोपपत्तिरूपेण सामर्थ्यादन्यथानुपपत्तिस्वभावेन सिद्धत्वादबाधितविषयत्वादे रूपांतरत्वकल्पनानर्थक्यात् सत्यपि तस्य रूपांतरत्वे तन्निश्चयासंभवः परस्पराश्रयणात् तत्साध्यविनिश्चययोरित्याह––

यावच्च साधनादर्थः स्वयं न प्रतिनिश्चितः। तावन्न बाधनाभावस्तत्स्याच्छक्यविनिश्चयः ॥१९३॥

सति हि बाधनाभावनिश्चये हेतोरबाधितविषयत्वासत्प्रतिपक्षत्वसिद्धेः साध्यनिश्चयस्तन्निश्चयाच्च

प्राप्ति होती है। आगम से 'पुरुषगुणविशेषत्व हेतु का साध्य सुख नहीं देना है' बाधित होता है अतः हेतु का गुण अबाधित विषयत्व मानना चाहिए। तथा हेतु का गुण असत्प्रतिपक्षपना नहीं मानने पर सत्प्रतिपक्ष हेत्वाभासों को भी साध्य ज्ञापकपने का प्रसंग हो जायेगा। सामान्यस्वरूप जाति सर्वत्र व्यापक है क्योंकि सभी स्थलों पर है इस ज्ञान का कारण होने से अर्थात् इस अनुमान का प्रतिपक्षी अनुमान इस प्रकार है- सदृशपरिणामस्वरूप सामान्य व्यापक नहीं है क्योंकि नियतदेशव्यापी व्यक्तियों के साथ पृथक्-पृथक् सामान्य तदात्मक हैं। यदि सामान्य व्यापक होता तो दूरवर्ती दो व्यक्तियों के अन्तराल में भी दीखना चाहिए था। इसी प्रकार शब्द नित्य है-प्रत्यभिज्ञान का विषय होने से; इसका प्रतिपक्ष शब्द अनित्य है-कृतक होने से, यह विद्यमान है। इत्यादि सत्प्रतिपक्ष हेत्वाभासों के गमकपन का प्रसंग आएगा। उसके निवारणार्थ हेतु का गुण असत्प्रतिपक्षपना होना चाहिए। इस प्रकार के असत्प्रतिपक्षत्व का इस उक्त कथन से खण्डन कर दिया गया है, ऐसा समझ लेना चाहिए। क्योंकि प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणों के द्वारा साध्य से विपरीत स्वभाव की व्यवस्था करा देना ही बाधित विषयपना कहा गया है और प्रतिपक्षी को व सिद्ध करने वाले दूसरे अनुमान के द्वारा उसे पूर्व हेतु का सत्प्रतिपक्षपना कहा गया है। किन्तु उन दोनों दोषों के व्यवच्छेद उत्पत्ति रूप साधने योग्य स्वभाव के द्वारा तथा सामर्थ्य से अन्यथानुपपत्तिरूप स्वभाव के द्वारा उन दोषोंका निराकरण सिद्ध हो जाता है अतः अबाधित विषयत्व आदि को हेतु का पृथक्-पृथक् रूप मानने की कल्पना करना व्यर्थ है।

तथा अबाधित विषयत्व आदि को हेतु का रूपान्तरत्व होने पर भी उनका निश्चय करना असम्भव है क्योंकि अबाधित विषयत्व आदि रूपों से सहित उस हेतु के साध्य और उन रूपों का विशेष निश्चय करने में अन्योन्याश्रय दोष आता है। इस बात का ग्रन्थकार स्वयं निरूपण करते हैं-

जब तक हेतु के द्वारा साध्यरूप अर्थ का स्वयं प्रतिज्ञापूर्वक निश्चय नहीं किया जाता है, तब तक उस हेतु के विषय साध्य में बाधाओं के अभाव का विशेषरूप से निश्चय करना शक्य नहीं होता है ॥१९३॥

क्योंकि बाधकों द्वारा बाधा होने के अभाव का निश्चय हो जाने पर हेतु के अबाधितविषयत्व और असत्प्रतिपक्ष की सिद्धि होती है, और उस हेतु द्वारा साध्य का निश्चय होता है तथा उस साध्य का निश्चय

बाधनाभावनिश्चय इतीतरेतराश्रयान्न तयोरन्यतरस्य व्यवस्था। यदि पुनरन्यतः कुतश्चित्तद्बाधनाभावनिश्चयात्तदनिश्चयांगीकरणाद्वा परस्पराश्रयपरिहारः क्रियते तदाप्यकिंचित्करत्वं हेतोरुपदर्शयन्नाह;—

तद्बाधाभावनिर्णीतिः सिद्धा चेत्साधनेन किम्। यथैव हेतोर्वेशस्य बाधासद्भावनिश्चये ।।१९४।।

तत्साधनसमर्थत्वादकिंचित्करत्वं तथा वा विरहनिश्चये कुतश्चित्तस्य सद्भावसिद्धेः। सततसाधनाय प्रवर्तमानस्य सिद्धसाधनादपि न साधीयस्तल्लक्षणत्वं। नन्वेवमविनाभावोपि लक्षणं मा भून्निश्चयस्यापि साध्यसद्भावनियमनिश्चयायत्तत्वात् तस्य चाविनाभावाधीनत्वादितरेतराश्रयस्य प्रसंगात् इति चेन्न, अविनाभावनियमस्य हेतौ प्रमाणांतरानिश्चयोपगमादितरेतराश्रयानवकाशात्। ऊहाख्यं हि

हो जाने से बाधाओं के अभाव का निश्चय होता है। इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोष हो जाने से उन दोनों में से एक की भी व्यवस्था नहीं होती है। यदि फिर नैयायिक अन्य किसी हेतु के द्वारा उन बाधकों के अभाव का निश्चय अथवा आवश्यकता न होने के कारण बाधाओं के अभाव का निश्चय नहीं होना स्वीकार करने से परस्पराश्रय दोष का परिहार किया जाता है तब वह हेतु अकिंचित्कर हो जाता है। इस बात का ग्रन्थकार विशद रूप से निरूपण करते हुए कहते हैं-

यदि किसी अन्य कारण से उस हेतु के साध्य में बाधाओं के अभाव का निर्णय सिद्ध हो जाता है तो फिर उस ज्ञापक हेतु से क्या लाभ है? जिस प्रकार हेतु के वेश (शरीर) को बाधा देने वालों के असद्भाव का निश्चय हो जाने पर पुनः हेतु के लिए अन्य हेतु देने की आवश्यकता नहीं है। अर्थात् जैसे अग्नि को सिद्ध करने के लिए दिये गये धूम हेतु को साधने के लिए पुनः अन्य हेतु की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि हेतु का निर्बाधित स्वरूप पूर्व में निर्णीत ही है।।१९४।।

किन्हीं अन्य हेतुओं को ही बाधाओं के अभाव के निर्णय को साधने में समर्थ होने से प्रकृत में कहा गया हेतु कुछ भी प्रयोजन सिद्धि करने वाला नहीं है (अकिंचित्कर है)। तथा चाहे जिस कारण से बाधाओं के अभाव का निश्चय मानने पर तो किसी अन्य हेतु से उन बाधाओं का सद्भाव भी सिद्ध हो जाएगा। यदि उन कारणों द्वारा निरन्तर बाधाओं के अभाव को साधन करने के लिए प्रवृत्ति करना माना जाएगा तब तो प्रकृत हेतु से सिद्ध पदार्थ का ही साधन हुआ, अतः सिद्धसाधन दोष हो जाने से अबाधित विषयत्व आदि को हेतु का लक्षणपना उपयुक्त नहीं है।

शंका : इस प्रकार हेतु का लक्षण अविनाभाव भी नहीं हो सकता है, क्योंकि अविनाभावी हेतु का निश्चय साध्य के सद्भाव होने पर ही हेतुका नियम से होना रूप निश्चय के अधीन है और उस नियम का निश्चय अविनाभाव के अधीन है अतः अन्योन्याश्रयदोष का प्रसंग आता है।

समाधान : ऐसा कहना उचित नहीं है, क्योंकि अविनाभावरूप नियम का हेतु में निश्चय करना अन्य तर्कज्ञान नाम के प्रमाण से स्वीकार किया गया है (वह ऊहाज्ञान अविनाभाव के निश्चय कराने का ज्ञापक कारण है)। उस अविनाभाव के निश्चय करने में प्रत्यक्ष और अनुमान का व्यापर नहीं है। इस बात को हम स्वतंत्ररूप से पूर्व में कह चुके हैं।

प्रमाणमविनाभावनिश्चयनिबंधनं प्रत्यक्षानुमानयोस्तत्राव्यापारादित्युक्तं तर्हि यत एवान्यथानुपपन्नत्वनिश्चयो हेतोस्तत एव साध्यसिद्धेस्तत्र हेतोरकिंचित्करत्वमिति चेन्न, ततो देशादिविशेषावच्छिन्नस्य साध्यस्य साधनात् सामान्यत एवोहात्तत्सिद्धेरित्युक्तप्रायं। अथवा—

त्रिरूपहेतुनिष्ठानवादिनैव निराकृते। हेतोः पंचस्वभावत्वे तद्ध्वंसे यतनेन किम्॥१९५॥

न हि स्याद्वादिनामयमेव पक्षो यत्स्वयं पंचरूपत्वं हेतोर्निराकर्तव्यमिति त्रिरूपव्यवस्थानवादिनापि तन्निराकरणस्याभिमतत्वात् परमतमभिमतप्रतिषिद्धमितिवचनात् तदलमत्राभिप्रयतनेनेति। हेतुलक्षणं वार्तिककारेणैवमुक्तं "अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्" इति स्वयं स्याद्वादिनां तु तन्निराकरणप्रयत्ने त्रयं पंचरूपत्वं किमित्यपि वक्तुं युज्यते। सांप्रतं पूर्ववदादित्रयेण वीतादित्रयेण वा किमिति व्याख्यानांतरं समर्थयितुं

तब तो जिस[1] तर्कज्ञान से हेतु के अविनाभाव का (अन्यथानुपपन्नत्व का) निश्चय होता है, उस ही तर्क से साध्य की सिद्धि अर्थात् ज्ञप्ति हो जायेगी अतः उस साध्य का ज्ञापन करने में हेतु कुछ भी कार्यकारी नहीं हुआ अर्थात् अकिंचित्कर हो गया। ऐसा[2] भी कहना उचित नहीं है, क्योंकि उस अविनाभावी हेतु से देश, काल, आकार आदि की विशेषताओं से युक्त साध्य की सिद्धि की जाती है, ऊहा से तो सामान्यरूप से ही उस साध्य की सिद्धि होती है अर्थात् जितने धूमवान् प्रदेश हैं वे अग्निमान् होते हैं। इस प्रकार सामान्यरूप से साध्य को हम पहले से ही जान रहे हैं किन्तु पर्वत में धूम के देखने से विशेष स्थल पर उस समय अग्नि को हेतु द्वारा विशेषरूप से जाना जाता है। इस बात को भी हम पूर्व में कई बार कह चुके हैं कि व्याप्ति ज्ञान सर्वदेश, सर्वकालवर्त्ती अविनाभाव को प्रकट करता है।

अथवा, हेतु के पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व, विपक्षव्यावृत्ति इन तीन रूपों की व्यवस्था करने वाले बौद्ध द्वारा जब हेतु के उक्त तीन के साथ अबाधितत्व तथा सत्प्रतिपक्षत्व इन पाँच स्वभावसहितपने का निराकरण कर दिया गया है अर्थात् पंचरूपों का खण्डन करने पर ही तो बौद्धों के त्रैरूप्य की प्रतिष्ठा हो सकती है अतः उस पंचरूपत्व का खण्डन करने में हम व्यर्थ प्रयत्न क्यों करें? अर्थात् बौद्धमत में अबाधितविषयत्व और सत्प्रतिपक्षत्व हेतु को स्वीकार नहीं किया है॥१९५॥

स्याद्वादियों का यह पक्ष नहीं है कि हेतु के पंचरूपत्व का स्वयं ही इस प्रकार से निराकरण करना चाहिए। किन्तु हेतु के तीन रूप की व्यवस्था के पक्षधर बौद्धों के द्वारा भी उस पंचरूपपन का निराकरण करना अभीष्ट सिद्धान्त से ही अन्य नैयायिकों का मत खण्डित हो जाता है। दूसरों का विरुद्ध मन्तव्य अपने अविरुद्ध अभिमत से निषिद्ध कर दिया जाता है अतः विशेष प्रयत्न से कोई प्रयोजन नहीं है।

राजवार्त्तिककार श्री अकलंकदेव ने हेतु का लक्षण इस प्रकार ही कहा है कि जहाँ अन्यथानुपपत्ति है, उस हेतु में तीन रूपों से क्या प्रयोजन है ? अर्थात्-कुछ नहीं और जिस हेतु में अन्यथानुपपत्ति नहीं है, वहाँ तीन रूपों से भी इष्टसिद्धि नहीं हो पाती है। ऐसे ही पाँच रूपों में लगा लेना। इस प्रकार स्याद्वादियों के यहाँ स्वयं उन रूपों के निराकरण करने का प्रयत्न होने पर वह तीन रूपपना या पांचरूपपना क्या कर सकता है? यानी कुछ नहीं, यह भी कहने के लिए युक्त हो जाता है।

१. नैयायिक २. जैनाचार्य

प्रत्यक्षपूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववच्छेषवत्सामान्यतो दृष्टं चेति न्यायसूत्रस्य वाक्यभेदात्त्रिसूत्री कैश्चित्परिकल्पिता स्यात् तामनूद्य निराकुर्वन्नाह;—

पूर्वं प्रसज्यमानत्वात् पूर्वपक्षस्ततोपरः। शेषः सुपक्ष एवेष्टस्तद्योगो यस्य दृश्यते ।।१९६।।
पूर्ववच्छेषवत्प्रोक्तं केवलास्वपि साधनम्। साध्याभावे भवत्तच्च त्रिरूपान्न विशिष्यते ।।१९७।।
यस्य वैधर्म्यदृष्टांताधारः कश्चन विद्यते। तस्यैव व्यतिरेकोस्ति नान्यस्येति न युक्तिमत् ।।१९८।।
ततो वैधर्म्यदृष्टांतेनेष्टोवश्यमिहाश्रयः। तदभावेप्यभावस्याविरोधाद्धेतुतद्वतोः ।।१९९।।

भावार्थ : साध्य के साथ जिसका अविनाभाव सम्बन्ध है वही वास्तव में हेतु है। इस प्रकार जैनाचार्य ने निषेध हेतु का कथन कर दिया तब बौद्ध द्वारा कथित हेतु के तीन और नैयायिक द्वारा स्वीकृत पाँच अंग से क्या प्रयोजन है। तथा बौद्धों के द्वारा कथित तीन अंग का विस्तार पूर्वक खण्डन कर देने पर नैयायिक के पाँच का खण्डन करने का प्रयत्न करने से क्या प्रयोजन है क्योंकि बौद्धों के तीन के खण्डन से उनका भी खण्डन हो ही जाता है। तथा स्याद्वादियों के अविनाभाव हेतु के सिद्ध होने से वे सब अकिंचित्कर हैं।

इस समय पूर्ववत्[१], शेषवत्[२] और सामान्यतोदृष्ट[३] इन तीन रूप करके अथवा वीत, अवीत और वीतावीत इन तीनों भेदों के द्वारा कुछ भी दूसरे व्याख्यान को समर्थन करने के लिए किसी टीकाकार ने न्यायसूत्र का उल्लेख कर यह कल्पना की है- **'अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववच्छेषवत् सामान्यतो दृष्टं च'** पूर्ववत् शेषवत् , शेषवत् सामान्यतो दृष्ट, पूर्ववत् शेषवत् सामान्यतो दृष्ट, इस प्रकार एक सूत्र में योगविभाग कर तीन सूत्रों का समाहार किन्हीं विद्वानों द्वारा कल्पित किया जा सकता है। उस कल्पना का अनुवाद से निराकरण करते हुए आचार्य स्पष्ट करते हैं-

पूर्ववत् शब्द में पूर्व और मतुप् ये दो पद हैं। पूर्व में प्रसंग प्राप्त होने से पूर्व का अर्थ पक्ष है। उससे भिन्न शेष का अर्थ अन्वयदृष्टान्तरूप सपक्ष है। मतुप् का अर्थ योग है उन पूर्व यानी पक्ष और शेष यानी सपक्ष इन दोनों का जिस हेतु में योग देखा जाता है, वह पूर्ववत् शेषवत् अनुमान कहा गया है इस अनुमान का हेतु केवलान्वयी है जैसे कि सभी पदार्थ कथन करने योग्य हैं, क्योंकि प्रमेय हैं।

जैन आचार्य कहते हैं कि यदि आपका यह हेतु साध्य के अभाव होने पर नहीं रहता है तब तो वह बौद्धों के त्रिरूपहेतु से कोई भी विशेषता नहीं रखता है अर्थात्-पक्ष और सपक्ष में वृत्ति तो आपने मान ही ली है किन्तु विपक्ष में व्यावृत्ति होना भी पीछे से विकल्प उठाने पर मान लिया है अत: त्रिरूप का खण्डन करने से पूर्ववत् शेषवत् हेतु का भी खण्डन हो जाता है।।१९६-१९७।।

जिस हेतु का वैधर्म्य दृष्टान्तरूप कोई आधार विद्यमान है, उस हेतु के ही साध्य के न रहने पर हेतु का न रहना रूप व्यतिरेक माना जाता है। अन्य केवलान्वयी हेतुओं का व्यतिरेक नहीं है, इस प्रकार नैयायिकों का कहना युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि वैधर्म्य दृष्टान्त में आश्रय अवश्य होना ही चाहिए। ऐसा यहाँ इष्ट नहीं किया है, हेतु और उससे सहित साध्य इन दोनों का उस साध्य के न होने पर हेतु के अभाव हो जाने का कोई विरोध नहीं है अर्थात् साध्य के अभाव होता ही है अत: अन्वय के साथ व्यतिरेक रहता ही है।।१९८-१९९।।

१. केवलान्वयी २. केवल व्यतिरेकी ३. अन्वयव्यतिरेकी

केवलव्यतिरेकीष्टमनुमानं न पूर्ववत्। तथा सामान्यतो दृष्टं गमकत्वं न तस्य वः ॥२००॥

तद्विरुद्धे विपक्षस्यासत्त्वे व्यवसितेपि हि। तदभावे त्वनिर्णीते कुतो निःसंशयात्मता॥ २०१॥

यो विरुद्धोत्र साध्येन तस्याभावः स एव चेत्। ततो निवर्तमानश्च हेतुः स्याद्वादिनां मतम्॥ २०२॥

अन्वयव्यतिरेकी च हेतुर्यस्तेन वर्णितः। पूर्वानुमानसूत्रेण सोप्येतेन निराकृतः॥२०३॥

कार्यादित्रयवत्तस्मादेतेनापि त्रयेण किम्। भेदानां लक्षणानां च वीतादित्रितयेन च ॥२०४॥

केवलान्वयी का विचार कर अब केवलव्यतिरेकी का विचार करते हैं कि जिस प्रकार केवल व्यतिरेकव्याप्ति रखने वाले अनुमान को पूर्ववत् (केवलान्वयी) अनुमान इष्ट नहीं है, और वह अविनाभाव सहित होने से साध्य का बोधक भी नहीं है, उसी प्रकार तुम्हारे यहाँ सामान्य तो दृष्ट नाम का (अन्वयव्यतिरेक वाला) हेतु भी साध्य का गमक नहीं है॥२००॥

उस साध्यवान् से विरुद्ध विपक्ष में इस हेतु के असत्त्व का निर्णय होने पर भी उस साध्य के अभाव होने पर हेतु के अभाव का जब तक केवलान्वयी हेतु में निर्णय नहीं हुआ है, तब तक निसंशयस्वरूप से कैसे कहा जा सकता है? यदि (नैयायिक कहें कि) यहाँ साध्य से विरुद्ध है, वही तो उस साध्य का अभाव है, तो (हम जैन कहेंगे कि) उस विरुद्ध से निवृत्तरूप हेतु मान लिया यही तो स्याद्वादियों का सिद्धान्त है। यहाँ तक हेतु के दो भेदों का विचार कर दिया गया है अर्थात् केवल अन्वयी और केवलव्यतिरेकी हेतु का कथन किया है॥२०१-२०२॥

उन नैयायिकों द्वारा पहले के अनुमानसूत्र करके जो ('पूर्ववत् शेषवत् सामान्यतो दृष्ट स्वरूप') अन्वयव्यतिरेकवाले हेतु का वर्णन किया गया है, वह भी उक्त कथन करके खण्डित कर दिया गया है॥ २०३॥

कार्यहेतु, कारणहेतु और अकार्यकारण हेतुओं का इस उक्त कथन से निराकरण हो जाता है। अतः हेतु के तीन अंग से क्या लाभ है अथवा कार्य आदि तीन भेदों के समान इन पूर्ववत् आदि हेतु के भेदों और लक्षणों से कोई फल नहीं सिद्ध होता है तथा वीत, अवीत और वीतावीत इन तीन भेदवाले हेतु करके भी लाभ नहीं है। अर्थात् (तथोपपत्ति साध्य) के रहने पर ही हेतु का रहना अन्वयव्याप्ति से विशिष्ट हुए हेतु को वीत कहते हैं जैसे कि घट, पट आदि पदार्थ सत् हैं प्रमेय होने से और जिस हेतु में 'साध्याभाववदवृत्तित्व' साध्याभाव वाले विपक्ष में हेतु का नहीं रहनास्वरूप केवल व्यतिरेक व्याप्ति पाई जाती है, वह अवीत है जैसे कि जीवित शरीर आत्माओं से सहित है-प्राण आदिक सहितपना होने से। तथा जिस हेतु में अन्वयव्यतिरेक दोनों घट जाते हैं, वह वीतावीत है जैसे कि शब्द अनित्य है-कृतक होने से। यह व्याप्ति का लक्षण घट जाता है। वस्तुतः यह कहना है कि अन्यथानुपपत्तिरूप व्याप्ति ही हेतु का प्राण है। अन्य किसी से भी किसी विशेष प्रयोजन की सिद्धि नहीं है। तथा संयोगी, समवायी, एकार्थसमवायी और विरोधी इन चार भेदों आदि से भी कोई प्रयोजन नहीं सधता है॥२०४॥

पूर्ववच्छेषवत्केवलान्वयिसाधनं यथावयवावयविनौ गुणगुणिनौ क्रियाक्रियावंतौ जातिजातिमंतौ वा परस्परतो भिन्नौ भिन्नप्रतिभासत्वात् सह्यविंध्यवदिति तत्साध्याभावेपि यदि सत्तदानैकांतिकमेव। अथासत्कथं न व्यतिरेक्यपि ? साध्याभावे साधनस्याभावो हि व्यतिरेकः स चास्यास्तीति तदा केवलान्वयि लिंगं त्रिरूपादविशिष्टत्वात् वैधर्म्यदृष्टांताधाराभावान्नास्य व्यतिरेक इति चेन्नेदं युक्तिमत् , तदभावेपि साध्याभावप्रयुक्तस्य साधनाभावस्याविरोधात्। न ह्यभावे कस्यचिदभावो विरुध्यते खरविषाणाभावे गगनकुसुमाभावस्य विरोधप्रसंगात् सर्वत्र वैधर्म्यदृष्टांतेधिकरणस्यावश्यं भावितयानिष्टत्वाच्च। किं चेदं

केवल अन्वयव्याप्तियुक्त हेतु पूर्ववत् शेषवत् नामका है, जैसे कि अवयव और अवयवी, गुण और गुणी, क्रिया और क्रियावान तथा जाति और जातिमान्-ये पदार्थ परस्पर में एक दूसरे से भिन्न हैं-क्योंकि ज्ञान द्वारा इनका पृथक्-पृथक् प्रतिभास होता है, जैसे सह्य और विंध्य पर्वत का भिन्न-भिन्न प्रतिभास होता है।

इस प्रकार केवलान्वयी हेतु यदि साध्य के नहीं रहने पर कहीं विद्यमान रहता है, तब तो व्यभिचारी है और वह भिन्न प्रतिभासपना हेतु यदि साध्य का अभाव रहने पर नहीं रहता है तो वह साधन व्यतिरेकी क्यों नहीं होगा? अर्थात् नैयायिकों से माना गया केवलान्वयी हेतु भी व्यतिरेक व्याप्ति से युक्त है क्योंकि साध्य के नहीं रहने पर नियम से हेतु का नहीं रहना ही व्यतिरेक माना गया है और वह व्यतिरेक इस भिन्न प्रतिभासत्व हेतु में विद्यमान है। इस प्रकार नैयायिकों द्वारा माना गया केवलान्वयी हेतु बौद्धों के तीन रूप वाले हेतु से कोई विशेषता नहीं रखता है अर्थात् केवल अन्वय व्याप्ति वाला माना गया हेतु व्यतिरेक व्याप्ति को भी धारने वाला हो जाता है।ऐसी दशा में नैयायिकों द्वारा हेतु के पूर्ववत्शेषवत्, पूर्ववत् सामान्यतो दृष्ट, पूर्ववत् शेषवत् सामान्यतोदृष्ट-ये तीन भेद करना व्यर्थ है, क्योंकि केवलान्वयी और अन्वय-व्यतिरेकी में कोई अन्तर नहीं है।

इस भिन्नप्रतिभासत्व हेतु का कोई वैधर्म्यदृष्टान्तरूप आधार नहीं होने से व्यतिरेक घटित नहीं होता है। इस प्रकार कहना युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि उस वैधर्म्यदृष्टान्त के न होने पर भी साध्य का अभाव रहने पर प्रयुक्त किये गए साधन के अभाव का कोई विरोध नहीं है। किसी एक विवक्षित पदार्थ के अभाव होने पर किसी एक पदार्थ का अभाव होना सर्वथा विरुद्ध नहीं है। अन्यथा खरविषाण के अभाव होने पर आकाशपुष्प के अभाव का विरोध हो जाने का प्रसंग आएगा। सभी वैधर्म्य दृष्टान्तों में अधिकरण का आवश्यकरूप से होना इष्ट नहीं किया है (अनिष्ट ही है)।

अथवा, यह गुणगुणी आदि में सर्वथा भेद को सिद्ध करने वाला भिन्न प्रतिभासत्व हेतु यदि कथंचित् पृथक् प्रतिभासरूप है, तब तो अन्यथानुपपत्ति रूप हेतु से ही गुण, गुणी, क्रिया, क्रियावान् आदि में कथंचित् भेद की सिद्धि हो ही जाती है, वह केवलान्वयी हेतु से सर्वथा भेद की सिद्धि नहीं होती। यदि अन्वय सहित से ही हेतु साध्य का ज्ञापक माना जायेगा तो गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव, अत्यन्ताभाव ये सम्पूर्ण भाव, अभाव पदार्थ द्रव्यस्वरूप हैं-प्रमेय होने से,

भिन्नप्रतिभासित्वं यदि कथंचित्तदान्यथानुपपन्नत्वादेव कथंचिद्भेदसाधनं नान्वयित्वात् द्रव्यं गुणकर्मसामान्यविशेषसमवायप्रागभावादयः प्रमेयत्वात् पृथिव्यादिवदित्येतस्यापि गमकत्वप्रसंगात्। धर्मिग्राहकप्रमाणबाधितत्वेन कालात्ययापदिष्टत्वान्नेदं गमकमितिचेत्, तर्ह्यबाधितविषयत्वमपि लिंगलक्षणं तच्चान्यथानुपपन्नत्वमेवेत्युक्तं। सत्प्रतिपक्षत्वान्नेदं गमकत्वमिति चेत्तर्हि असत्प्रतिपक्षत्वं हेतुलक्षणं तदप्यविनाभाव एवेति निवेदितं ततोन्यथानुपपन्नत्वाभावादेवेदमगमकं। एतेन सर्वथा भिन्नप्रतिभासत्वं भेदसाधनमगमकमुक्तं कालात्ययापदिष्टत्वसत्प्रतिपक्षत्वाविशेषात्। अवयवादीनां हि सत्त्वादिना कथंचिदभेदः प्रमाणेन प्रतीयते सर्वथा तद्भेदस्य सकृदप्यनवभासनात्। तत एवासिद्धत्वान्नेदं गमकं सिद्धस्यैवान्यथानुपपत्तिसंभवात्। तथा पूर्ववत्सामान्यतोऽदृष्टं केवलव्यतिरेकिलिंगं विपक्षे देशतः कात्स्न्र्यतो वा तस्यादृष्टत्वात्। सात्मकं जीवच्छरीरं प्राणादिमत्त्वात् यन्न सात्मकं तन्न प्राणादिमद् दृष्टं यथा भस्मादि न च

जैसेकि पृथ्वी, जल, तेज आदि पदार्थ द्रव्य हैं। इस अनुमान में दिये गये प्रमेयत्व हेतु को भी अन्वय दृष्टान्त होने से ज्ञापक का प्रसंग आता है (परन्तु नैयायिक या वैशेषिक गुण, कर्म आदि में द्रव्यपना इष्ट नहीं करते हैं)।

यदि गुण, कर्म आदिक रूप पक्ष को ग्रहण करने वाले प्रमाण से बाधित होने के कारण कालात्ययापदिष्ट (बाधित विषय) हो जाने से यह हेतु गमक नहीं है तो अबाधित विषयपना भी हेतु का लक्षण बन जाता है और वह अबाधितपना अन्यथानुपपत्तिरूप ही है। इसको हम पूर्व में कह चुके हैं।

सत्प्रतिपक्ष हेत्वाभास हो जाने से यह प्रमेयत्व हेतु गमक नहीं है। इस प्रकार नैयायिकों के कहने पर जैन कहते हैं कि तब तो असत्प्रतिपक्षत्व भी हेतु का लक्षण हो जाता है जो कि नैयायिकों को इष्ट है। किन्तु वह भी अविनाभाव ही है, इस बात का कथन भी कर चुके हैं। इसलिए अन्यथानुपपन्नत्व का अभाव होने से प्रमेयत्व हेतु साध्य का गमक नहीं है।

इस उक्त कथन से द्वितीय विकल्प अनुसार सर्वथा भिन्न प्रतिभासित्व हेतु भी गुण, गुणी आदि के भेद को साधने में गमक नहीं है, यह बात कही जा चुकी है, क्योंकि कालात्ययापदिष्टत्व और सत्प्रतिपक्षत्व इन दोनों दोषों में कोई विशेषता नहीं है (अर्थात् कथंचित् भिन्न प्रतिभासित्व और सर्वथा भिन्न प्रतिभासित्व ये दोनों ही हेतु सर्वथा भेद को साधने में बाधित और सत्प्रतिपक्ष हेत्वाभास है)। अवयव अवयवी आदि का सत्त्व, वस्तुत्व आदि हेतुओं से कथंचित् अभेद प्रमाण द्वारा प्रतीत होता है। सर्वथा भेद एक बार भी प्रतिभासित नहीं हुआ है अतः असिद्ध हेत्वाभास होने से यह भिन्न प्रतिभासत्व हेतु सर्वथा भेद का गमक नहीं है अपितु सिद्ध हेतु की अन्यथानुपपत्ति संभव है।

बौद्ध का कथन – दूसरे पूर्ववत् सामान्यतोऽदृष्ट को केवलव्यतिरेकी हेतु माना है, क्योंकि विपक्ष में एकदेश से अथवा सम्पूर्ण रूप से वह नहीं देखा गया है। जैसे कि यह जीवित शरीर आत्मा सहित है सप्राण, (वायु, नाड़ी चलना आदि) होने से। जो पदार्थ आत्मा से सहित नहीं है, वे प्राण से सहित नहीं देखे गये हैं। जैसे भस्म आदि। उस प्रकार का प्राण आदि से रहित जीवित शरीर नहीं है अतः जीवित शरीर

तथा जीवच्छरीरं तस्मात्सात्मकमिति। तदेतदपि न परेषां गमकं। साध्यविरुद्धे विपक्षे अननुभूयमानमपि साध्याभावे विपक्षे स्वयमसत्त्वेनानिश्चयात् तत्र तत्र तस्य सत्त्वसंभावनायां नैकांतिकत्वोपपत्तेः। साध्यविरुद्ध एव साध्याभावस्ततो निवर्तमानत्वाद्गमकमेवेदमिति चेत् तर्हि तदन्यथानुपपन्नत्वसाधनं साध्याभावसंभवनियमस्यैव स्याद्वादिभिरविनाभावस्येष्टत्वात् न पुनः। केवलव्यतिरेकित्वान्नेदं क्षणिकं तत्सच्चित्तशून्यं जीवच्छरीरं प्राणादिमत्त्वात् सर्वं क्षणिकं सत्त्वादित्येवमादेरपि गमकत्वप्रसंगात्। साध्याभावेप्यस्य सद्भावान्न साधनत्वमितिचेत् तर्ह्यन्यथानुपपत्तिबलादेव परिणामिना सात्मकत्वे प्राणादिमत्त्वं साधनं नापरिणामिना

आत्मा से सहित है (यह केवलव्यतिरेकी हेतु का उदाहरण प्रसिद्ध है) सो यह भी 'पूर्ववत् सामान्यतोऽदृष्ट' हेतु साध्य का बोधक नहीं हो सकता है क्योंकि साध्य से विरुद्ध हो रहे भस्म आदि का विपक्ष में यद्यपि अनुभव नहीं किया जा रहा है, तो भी साध्याभावरूप विपक्ष में हेतु का स्वयं नहीं रहने से निश्चय नहीं हो रहा है। उन विपक्षों में उस हेतु के विद्यमान रहने की सम्भावना हो जाना मानने पर तो प्राणादिमत्त्व हेतु व्यभिचारी हो जाता है। अर्थात् कभी हलन-चलन रहित शरीर में भी आत्मा रह सकती है।

(नैयायिक कहता है कि) साध्य से विरुद्ध ही तो साध्याभावरूप विपक्ष है। उस विपक्ष से निवृत्त होने के कारण यह प्राणादिमत्त्व हेतु आत्मसहितपने का गमक ही है।

इस पर जैन कहते हैं कि वह केवलव्यतिरेकीपना भी हेतु की अन्यथानुपपत्ति को सिद्ध करता है, क्योंकि साध्य के अभाव होने पर हेतु का नियम से असम्भव होने को ही स्याद्वादियों ने अविनाभाव अभीष्ट किया है किन्तु फिर केवल व्यतिरेकी इष्ट सिद्धि नहीं। यदि अन्यथानुपपत्ति का त्यागकर मात्र केवलव्यतिरेकीपन से ही हेतु को गमक माना जायेगा तो 'यह क्षणिक नहीं है, शब्दपना होने से'। इस अनुमान का शब्दत्व हेतु भी गमक हो जाएगा, किन्तु नैयायिकों के यहाँ क्षणिकत्व का अभाव साधने के लिए दिया गया शब्दत्व हेतु सद्धेतु नहीं है, तथा जीवित शरीर आत्मा से सहित है-प्राण आदि करके विशिष्ट होने से, और सम्पूर्ण पदार्थ क्षणिक हैं, सत्‌रूप होने से। इस प्रकार के अन्य भी छाया, अग्नि आदि हेतुओं को भी अपने साध्य की ज्ञप्ति करानेपन का प्रसंग आयेगा। अर्थात् यहाँ छाया नहीं है वृक्ष नहीं होने से, यहाँ अग्नि नहीं धूम नहीं होने से आदि हेतुओं से भी साध्य की सिद्धि का प्रसंग आयेगा, पर ऐसा नहीं है क्योंकि धूम के बिना भी अग्नि रहती है। हलन-चलन क्रिया और श्वासोच्छ्वास के नहीं होने पर आत्मा सहित जीवित शरीर रह सकता है जैसे कभी नाड़ी श्वासोच्छ्वास हलन चलन नहीं होने पर भी जीवित शरीर हो सकता है विशिष्ट मूर्च्छा आदि में अतः यह हेतु सद् हेतु नहीं है।

साध्य के अभाव में भी इन सत्त्व, प्राणादिमत्त्व आदि हेतुओं का सद्भाव है, अतः ये समीचीन हेतु नहीं हैं। ऐसा कहते हैं तो अन्यथानुपपत्ति की सामर्थ्य से ही उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यरूप परिणाम से युक्त आत्मा सहितत्व साधने में प्राणादिमत्त्व हेतु समीचीन है। परिणमन करने से रहित सर्वथा कूटस्थ आत्मा से सहितपना जीवित शरीर में प्राणादिमत्त्व हेतु के द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता है, क्योंकि अपरिणामी आत्मा से सहितपन के साथ प्राणादिमत्त्व हेतु की उस अन्यथानुपपत्ति का अभाव है।

सर्वथा तदभावात्। तथा पूर्ववच्छेषवत्सामान्यतो दृष्टमन्वयव्यतिरेकिसाधनं, यथाग्निरत्र धूमादिति। तदपि केवलव्यतिरेकिणो योगोपगतस्य निराकरणादेव निराकृतं, साध्याभावसंभवनियमनिश्चयमंतरेण साधनत्वासंभवात्। तदनेन **न्यायवार्तिकटीकाकार**व्याख्यानमनुमानसूत्रस्य त्रिसूत्रीकरणेन प्रत्याख्यातं प्रतिपत्तव्यमिति लिंगलक्षणानामन्वयित्वादीनां त्रयेण पक्षधर्मत्वादीनामिव न प्रयोजनं। नापि पूर्ववदादिभेदानां कार्यादीनामिव सत्यन्यथानुपपन्नत्वे तेनैव पर्याप्तत्वात्। यदप्यत्रावाचि उदाहरणसाधर्म्यात्साध्यसाधनं हेतुरिति वीतलक्षणं लिंगं तत्स्वरूपेणार्थपरिच्छेदकत्वं वीतधर्म इति वचनात्। तद्यथा—अनित्यः शब्दः उत्पत्तिधर्मकत्वाद्घटवदिति शब्दस्वरूपेणोत्पत्तिधर्मकत्वेनानित्यत्वार्थस्य परिच्छेदात्। तथोदाहरण वैधर्म्यात्साध्यसाधनं हेतुरित्यवीतलक्षणं परपक्षप्रतिषेधेनार्थ—परिच्छेदने वर्तमानमवीतमिति वचनात्। तद्यथा।

अतः नैयायिकों द्वारा माना गया हेतु का दूसरा भेद भी प्रतिष्ठित नहीं होता है।

तथा अन्वय और व्यतिरेक दोनों से सहित हेतु को साधने वाला 'पूर्ववत् शेषवत् सामान्यतो दृष्ट' है, जैसे कि इस पर्वत पर अग्नि है-धूम होने से। इस प्रयोग से धूम हेतु में अन्वय व्याप्ति और व्यतिरेक व्याप्ति दोनों होती हैं। इस प्रकार वह अन्वय व्यतिरेकी हेतु भी नैयायिकों द्वारा स्वीकार किये गये दूसरे केवलव्यतिरेकी हेतु का खण्डन कर देने से ही निराकृत कर दिया गया है, क्योंकि, साध्य के न रहने पर हेतु का नहीं रहना नियम के निश्चय बिना अन्वय या व्यतिरेक से सद्हेतुत्व की असंभवता है। अतः इस उक्त कथन के द्वारा न्यायवार्त्तिक की टीका करने वाले के उस व्याख्यान का खण्डन कर दिया गया समझ लेना चाहिए, जो कि 'अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानम् पूर्ववच्छेषवत् सामान्यतोदृष्टञ्च' इस अनुमान सूत्र का योग विभाग कर तीन सूत्रों के समुदायरूप से कहा गया है। इस प्रकार हेतु के अन्वयसहितत्व, व्यतिरेकसहितत्व और अन्वयव्यतिरेकसहितत्व लक्षणों के तीन अवयवों के द्वारा नैयायिकों के यहाँ कुछ भी प्रयोजन सिद्ध नहीं होता है। जैसे बौद्धों के द्वारा स्वीकृत पक्षवृत्तित्व, सपक्षवृत्तित्व, विपक्षव्यावृत्ति इन तीन रूपों से कोई प्रयोजन नहीं निकलता है।

तथा पूर्ववत् या शेषवत् अथवा सामान्यतो दृष्ट-वीत आदि भेदों के द्वारा भी कोई फल नहीं है, जैसे कि कार्य और कारण तथा अकार्यकारण इन तीन भेदों से कोई अभीष्ट सिद्ध नहीं होता है। क्योंकि, हेतु में अन्यथानुपपत्ति होने से ही सम्पूर्ण प्रयोजन सिद्ध हो जाते हैं अर्थात् अन्यथानुपपत्ति ही हेतु की परिपूर्णशक्ति है।

जो यहाँ (इस हेतु में) यह कहा गया था कि उदाहरण के साधर्म्य से साध्य को साधने वाला हेतु है। यह वीतनामक हेतु का लक्षण है क्योंकि **'उस हेतु के स्वरूप के द्वारा साध्य रूप अर्थ की ज्ञप्ति करा देना वीत हेतु का धर्म है', ऐसा मूलग्रन्थों में कहा गया है उसी को उदाहरणपूर्वक स्पष्ट करते हैं–**

शब्द अनित्य है-उत्पत्ति नाम के धर्म से सहित होने के कारण, जैसे कि घड़ा। यहाँ शब्द के स्वरूप के द्वारा उत्पत्ति धर्म सहित से अनित्यपनारूप साध्य अर्थ की ज्ञप्ति की गई है (यह प्रथम वीत का उदाहरण

नेदं नैरात्मकं जीवच्छरीरमप्राणादिमत्त्वप्रसंगादिति। यदुभयपक्षसम्प्रतिपन्नमप्राणादिमत्तन्निरात्मकं दृष्टं यथा घटादि न चेदमप्राणादिज्जीवच्छरीरं—तस्मान्न निरात्मकमिति निरात्मकत्वस्य परपक्षस्य प्रतिषेधनं जीवच्छरीरे सात्मकत्वस्यार्थपरिच्छित्तिहेतुत्वादिति न्यायवार्तिककारवचनात्। तथोदाहरणसाधर्म्यवैधर्म्याभ्यां साध्यसाधनमनुमानमिति वीतावीतलक्षणं स्वपक्षविधानेन परपक्षप्रतिषेधेन चार्थपरिच्छेदहेतुत्वात्। तद्यथा—साग्निः पर्वतोयमनग्निर्न भवति धूमवत्वादन्यथा निर्धूमत्वप्रसंगात्। धूमवान्महानसः साग्निर्दृष्टोऽनग्निस्तु महानसो

है) तथा उदाहरण के विधर्मत्व से साध्य को साधने वाला हेतु है। यह अवीत हेतु का लक्षण है, क्योंकि साध्य से पृथक् परपक्ष का निषेध करके साध्य अर्थ की ज्ञप्ति करने में स्थित हेतु अवीत है इस प्रकार ग्रन्थों में कहा गया है। उसी को उदाहरण द्वारा कहते हैं कि यह जीवित शरीर आत्मरहित नहीं है। अन्यथा अप्राणादिमत्व का प्रसंग आता है अर्थात् जीव रहित शरीर में प्राण नहीं रहते हैं। (इस प्रकार निषेधपूर्वक साध्य की विधि समझाई गई है) न्यायवार्त्तिक को बनाने वाले विद्वान् ने भी ऐसा कथन किया है कि जो वादी, प्रतिवादी इन दोनों के पक्ष अनुसार प्राण आदि से रहित होने से वह शरीर आत्मा से रहित देखा गया है; जैसे कि घड़ा पदार्थ। यह जीवित शरीर प्राणादिमान् से भिन्न नहीं है, अतः आत्मरहित नहीं है। इस प्रकार आत्मरहितपनारूप परपक्ष का निषेध करना जीवित शरीर में आत्मसहितपन रूप अर्थ की परिच्छित्ति का कारण होने से अवीत हेतु माना गया है।

तथा उदाहरण के सधर्मत्व और विधर्मत्व के द्वारा साध्य और साधन का अनुमान होता है। इस प्रकार वीतावीत हेतु का लक्षण किया गया है। अपने पक्ष की विधि करके और पर पक्ष का निषेध करके अर्थ की परिच्छित्ति के कराने वाले कारण को वीतावीत हेतु कहा जाता है। उसी का उदाहरण देते हैं कि यह पर्वत अग्नि सहित है (अग्नि रहित नहीं है), धूम सहित होने से। अन्यथा (पर्वत को अग्नि रहित माना जाता है तो) धूमरहितत्व का प्रसंग आता है। जैसे रसोईघर धूमसहित होने से अग्निसहित ही देखा जाता है। अग्नि से रहित रसोईघर धूमरहित देखा जाता है। इस प्रकार वीतावीत हेतु सिद्ध है।

सो यह वीत, अवीत और वीतावीत का त्रितय भी साध्य सद्भाव के अभाव में सम्भव नहीं है। जैनाचार्य कहते हैं कि अन्यथानुपपत्ति की सामर्थ्य से ही इनमें गमकपना आता है। परन्तु वीतपन, अवीतपन आदि के द्वारा कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। यदि वीतपन आदि के द्वारा सद्धेतुपना मान लिया जायेगा तो अन्यथानुपपत्ति के न होने पर भी 'मित्रातनयत्व' इस स्त्री का गर्भस्थ बालक कृष्ण वर्ण का है मित्रा का पुत्र होने से, जो जो मित्रा के पुत्र हैं वे कृष्ण वर्ण के होते हैं जैसे यह पुत्र यह भी मित्रा का पुत्र है इसलिए यह भी कृष्ण वर्ण का है। इस हेतु में अनुमान के पाँचों अंग गर्भित हैं, पुत्र यह हेत्वाभास है क्योंकि मित्रात्व हेतु के साथ कृष्णत्व साध्य के साथ अविनाभाव नहीं है कि किसी मानव के सारे पुत्र कृष्ण वर्ण के हों। भिन्न वर्ण के भी हो सकते हैं। आदि हेत्वाभासों को वीत या अवीतत्व के द्वारा गमकत्व का प्रसंग आयेगा। अतः वीत आदि का कहा गया लक्षण (या भेद करना) प्रशस्त नहीं है।

निर्धूम इति तदेतद्वीतादित्रितयं यदि साध्यभावसंभूष्णु: तदान्यथानुपपत्तिबलादेव गमकत्वं न पुनर्वीतादित्वेनैवेत्यन्यथानुपपत्तिविरहेपि गमकत्वप्रसंगात्। यदि पुनरन्यथानुपपत्तिर्वीतादित्वं प्राप्य हेतोर्लक्षणं तदा "देवतां प्राप्य हरीतकी विरेचयते" इति कस्यचित्सुभाषितमायातं। हरीतक्यन्वयव्यतिरेकानुविधानाद्विरेचनस्य स्वदेवतोपयोगिनी तदन्वयव्यतिरेकानुविधानाभावात्तस्येति प्रकृतेपि समानं। हेतोरन्यथानुपपत्तिसदसत्त्वप्रयुक्तत्वाद्गमकत्वागमकत्वयोरिति न किंचिद्वीतादित्रितयेन लक्षणानां भेदानां वा सर्वथा गमकत्वानंगत्वात् सर्वभेदासंग्रहाच्च ॥

कारणात्कार्यविज्ञानं कार्यात्कारणवेदनम्। अकार्यकारणाच्चापि दृष्टात्सामान्यतो गति: ॥२०५॥

तादृशी त्रितयेणापि नियतेन प्रयोजनम्। किमेकलक्षणाध्यासादन्यस्याप्यनिवारणात् ॥२०६॥

पुन: प्रतिवादी कहता है कि वीत आदित्व को प्राप्त होकर अन्यथानुपपत्ति हेतु का लक्षण बन सकता है। स्वतंत्र अन्यथानुपपत्ति हेतु का लक्षण नहीं है। आचार्य कहते हैं कि तब तो यह परिभाषा चरितार्थ हुई कि देवता को प्राप्त होकर हर्र रेचन कराती है। देवता को प्राप्त नहीं हुई हर्र कुछ नहीं कर सकती।

भावार्थ : अन्धभक्त का विचार है कि सम्पूर्ण कार्यों को देवता करते हैं। अन्नदेवता, जल देवता ही गेहूँ आदि में प्रविष्ट होकर भूख, प्यास को दूर करते हैं। विरेचन[१] का हरड के साथ अन्वयव्यतिरेकपना है, अत: इष्ट देवता रेचन कराने में उपयोगी नहीं है क्योंकि उस देवता के साथ उस रेचन क्रिया का अन्वयव्यतिरेक नहीं है कि हर्र में देवता के होने पर मल निकल जाता है और हरड़ में देवता के न होने पर रेचन नहीं होता है। इस[२] प्रकार अन्वयव्यतिरेक का अनुविधान नहीं करना, क्योंकि प्रकरण प्राप्त हेतु में भी समानरूप से अन्वयव्यतिरेक विद्यमान है परन्तु वीतपन आदि के होने पर हेतु का गमकपन और वीतपन आदि के नहीं होने पर हेतु का अगमकपना (गमक नहीं होना) यह अन्वयव्यतिरेक नहीं बनता है। अन्यथानुपपत्ति के साथ ही अन्वयव्यतिरेक बनता है। अन्यथानुपपत्ति की सत्ता से हेतु का गमकपना प्रयुक्त किया गया है और अन्यथानुपपत्ति की असत्ता से हेतु का अगमकपना है। इस प्रकार हेतु के वीत आदि तीन अवयवों से कुछ प्रयोजन नहीं है क्योंकि वे सभी प्रकारों से हेतु के गमकपने के प्रयोजक अंग नहीं है। तथा उन पूर्ववत् आदि या वीत आदि भेदों में सम्पूर्ण हेतुओं के भेदों का संग्रह भी नहीं हो पाता है।

कारण से कार्य का[३] विज्ञान होना और कार्य[४] से कारण का ज्ञान करना तथा कार्यकारण भाव से[५] रहित किसी पदार्थ से नियत दूसरे कार्यकारण भिन्न पदार्थ की ज्ञप्ति हो जाना, ये भी सामान्य से देखे हुए पदार्थों द्वारा अन्य पदार्थों की ज्ञप्ति होना है। यहाँ भी इन तीनों से क्या प्रयोजन है ? कुछ भी नहीं।

यदि अन्यथानुपपत्तिरूप नियम से नियत है तब तो उक्त तीन हेतुओं से साध्य की ज्ञप्ति होना निश्चित है, अर्थात् एक अन्यथानुपपत्तिरूप लक्षण के अधिष्ठित हो जाने से ही हेतु का गमकपना निर्णीत होता है और अन्य हेतुओं का भी संग्रह हो जाता है। तथा अनुपलब्धि, उत्तरचर आदि हेतुओं का निवारण नहीं किया जा सकता है। अर्थात् हेतु का मुख्य कारण एक अन्यथानुपपत्ति ही है ॥२०५-२०६॥

१. सांख्य, २.जैन, ३. छत्र से छाया का ज्ञान होना, ४. धूम से अग्नि का ज्ञान होना, ५. कृतिकोदय से मुहूर्त पीछे रोहिणी के उदय का ज्ञान होना।

ननु च यवबीजसंतानोत्थं च कारणं वानुभयं वा स्यात् सर्वं वस्तु कार्यं वा नान्या गतिरस्ति यतोऽन्यदपि लिंगं संभाव्यतेऽन्यथानुपपन्नत्वाध्यासादिति चेन्न, उभयात्मनोपि वस्तुनो भावात्। यथैव हि कारणात्कार्येनुमानं वृष्ट्युत्पादनशक्तयोमी मेघा गंभीरध्वानत्वे चिरप्रभावत्वे च सति समुन्नतत्वात् प्रसिद्धैवंविधमेघवदिति। कार्यात्कारणे वह्निरत्र धूमान्महानसवदिति। अकार्यकारणादनुभयात्मनि ज्ञानं मधुररसमिदं फलमेवंरूपत्वात्तादृशान्यफलवदिति। तथैवोभयात्मकात् लिंगादुभयात्मके लिंगिनि ज्ञानमविरुद्धं परस्परोपकार्योपकारकयोरविनाभावदर्शनात् यथा बीजांकुरसंतानयोः। न हि बीजसंतानोंऽकुरसंतानाभावे भवति, नाप्यंकुरसंतानो बीजसंतानाभावे यतः परस्परं गम्यगमकभावो न स्यात्। तथा चास्त्यत्र देशे यवबीजसंतानो यवांकुरसंतानदर्शनात्। अस्ति यवांकुरसंतानो यवबीजोपलब्धेरित्यादि लिंगांतरसिद्धिः। ननूषरक्षेत्रस्थेन

शंका : जौ के बीज की संतान स जौ का उत्पन्न होना कारण हेतु है। अथवा कार्यकारण दोनों से भिन्न अनुभय हेतु है या कार्यरूप हेतु है। संसार में सभी वस्तुएँ कार्य, कारण, अकार्यकारण इन तीन स्वरूप ही हैं अन्य कोई उपाय नहीं है जिससे कि इन तीन से पृथक् और भी किसी हेतु की सम्भावना की जा सके। जो कि अन्यथानुपपत्ति के अधिष्ठित करने से जैनों द्वारा पृथक् माना जा रहा है।

समाधान : यह शंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि चौथे प्रकार की (कार्य-कारण दोनों स्वरूप) भी वस्तु विद्यमान है। जैसे प्रथम कारण से कार्य में अनुमान करते हैं कि ''यह मेघ वृष्टि को उत्पन्न कराने वाली शक्ति से युक्त है, गम्भीर शब्द वाले और अधिक देर तक घटा मांडकर ठहरने वाले प्रभाव से युक्त हो रहे हैं, वृष्टि करने वाले मेघों में प्रसिद्ध अन्य मेघों के समान हैं।

तथा दूसरे हेतु द्वारा कार्य से कारण का अनुमान कर लेते हैं कि 'इस पर्वत में अग्नि है क्योंकि धुआँ दीख रहा है, रसोई घर के समान।'' यह कार्य हेतु है। तथा कार्यकारणरहित अनुभयात्मक भिन्न स्वरूप उदासीन पदार्थ का ज्ञान होना तीसरा अनुमान है। उसका दृष्टान्त यह है कि यह आम्रफल मीठा रसवाला है, कोमलता और पीला आदि रूप का धारक होने से, इस प्रकार के मीठे, पीले अन्य फलों के समान। यह तीसरे प्रकार का हेतु है। इन तीन हेतुओं के समान ही चौथा हेतु भी मानना आवश्यक है। कार्यकारण इन दोनों स्वरूपसाध्य का ज्ञान हो जाने में भी कोई विरोध नहीं आता है। परस्पर में एक दूसरे का उपकारक रहे और उपकृत पदार्थों में भी एक दूसरे के साथ अविनाभाव देखा जाता है, जैसे बीज और अंकुरों की संतान के बिना बीज और अंकुर संतान भी नहीं होती है, जिससे कि परस्पर में ज्ञाप्यज्ञापक भाव न होता। अर्थात् अन्यथानुपपत्ति होने से बीजसंतान और अंकुरसंतान का हेतु-हेतुमद्भाव है। जैसे इस विवक्षित देश में जौ के बीजों की संतान चालू है क्योंकि जौ के अंकुरों की संतान देखी जा रही है तथा इस देश में जौ के अंकुरों की संतान है क्योंकि जौ के बीजों की उपलब्धि हो रही है। इसी प्रकार अन्य भी अनुमान के प्रयोग की सिद्धि है अर्थात् अनेक प्रकार के अनुमान ज्ञान सिद्ध हो सकते हैं।

यवबीजसंतानेन व्यभिचारस्तदंकुरसंताने क्वचित्साध्ये तद्बीजसंताने चोक्ष्यते तदंकुरसंतानेन यवबीजमात्ररहितदेशस्थेनेति न मंतव्यं विशिष्टदेशकालाद्यपेक्षस्य तदुभयस्यान्योन्यमविनाभावसिद्धे: स्वसाध्ये धूमादिवत्। धूमावयविसंतानो हि पावकावयविसंतानैरविनाभावी देशकालाद्यपेक्ष्यैवान्यथा गोपालघटिकायां धूमावयविसंतानेन व्यभिचारप्रसंगात्। संतानयोरुपकार्योपकारकभावोपि न शंकनीय: पावकधूमावयविसन्तानयोस्तदभावप्रसंगात्। न चैवं वाच्यं, तयोर्निमित्तानिमित्तभावोपगमात्। पावकधूमावयविद्रव्ययोर्निमित्तानिमित्तभावसिद्धेस्तत्संतानयोरुपचारनिमित्तभाव इति चेन्न,

---

शंका : ऊसर भूमि में स्थित जौ के बीजों की संतान से व्यभिचार आता है अर्थात् जब तक जौ पर्याय रहेगी तब तक जौ का सदृश परिणाम होती हुई संतान चलेगी। उन जौ के अंकुरों की संतान को साध्य करने पर और उन जौ के बीजों की संतान को हेतु बनाने पर ऊसर भूमि में बोये गये जौ के बीजों की संतान से व्यभिचार आता है तथा कहीं जौ के बीजों की संतान को साध्य बनाकर और जौ के अंकुरों की संतान को हेतु बनाने पर सामान्यरूप जौ के बीजों से रहित देश में स्थित उन जौ के अंकुरों की संतान करके भी व्यभिचार आता है। अर्थात् ऊसर भूमि में पड़े हुए जौ अपने कार्य अंकुरों को उत्पन्न नहीं करते हैं। इस प्रकार साध्य के न रहने पर हेतु के रह जाने से व्यभिचार दोष आता है।

समाधान : ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि विशिष्ट देश, विशिष्ट काल तथा विशेषरूप आकृति आदि की अपेक्षा से उन कार्य कारणों के उभय का परस्पर में अविनाभाव सिद्ध है जैसे कि अपने साध्य अग्नि आदि को साधने में देश आदिक की अपेक्षा से धूम आदिक सद्धेतु माने गए हैं।

धूम स्वरूप अवयवी का उत्तरोत्तर पर्यायों में धूमस्वरूप सदृशपरिणमन धूमसंतान नियम से विशेष देश, काल, अवस्था आदि की अपेक्षा रखता हुआ ही अग्निस्वरूप अवयवी के उत्तरोत्तर समयों में परिणत हुई अग्निरूप संतानों के साथ अविनाभाव रखता है। अन्यथा (विशेषणों की अपेक्षा न रखकर) चाहे जिस धूम से अग्नि की ज्ञप्ति मानी जाएगी तो ग्वालिया की घड़िया या इन्द्रजालिया के घड़े में अग्नि के बिना धूमरूप अवयवी की संतान के ठहर जाने से व्यभिचार का प्रसंग आयेगा। इस प्रकार प्राय: सभी सद्धेतु व्यभिचारी बन जाएंगे।

संतानों में परस्पर उपकारी उपकृतपना नहीं है। यह शंका भी नहीं करनी चाहिए क्योंकि ऐसा मानने पर अग्निरूप अवयवी की संतान और धूमस्वरूप अवयवी की संतान में भी उपकार्य उपकारकभाव के अभाव का प्रसंग आएगा किन्तु इस प्रकार धूम और अग्नि की संतानों में कार्यकारणभाव का अभाव नहीं कहना चाहिए, क्योंकि उनमें निमित्त-नैमित्तिकभाव विद्वानों ने स्वीकार किया है।

अग्नि और धूमस्वरूप अवयवी द्रव्य में निमित्त नैमित्तिकभाव सिद्ध है।

अत: उनकी संतानों में भी उपचार से निमित्त नैमित्तिकभाव मान लिया गया है। वस्तुत: संतानों मे उपकार्य उपकारकभाव नहीं है। ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि उन व्यक्तियों से भिन्न धूमसंतान और अग्निसंतान सिद्ध नहीं हैं। अर्थात् निमित्त अग्निसंतान से नैमित्तिक धूमसंतान की उत्पत्ति होना सिद्ध है।

तद्व्यतिरिक्तसंतानसिद्धेः। कालादिविशेषात्संतानः संतानिभ्यो व्यतिरिक्त इति चेत्, कुतः कालादिविशेषस्तेषां संतानस्यानादिपर्यवसानत्वादप्रतिनियतक्षेत्रकार्यकारित्वाच्च संतानिनां तद्विपरीतत्वादिति चेन्न, तस्य पदार्थांतरत्वप्रसंगात्। संतानो हि संतानिभ्यः सकलकार्यकरणद्रव्येभ्योर्थांतरं भवंस्तद्वृत्तिरतद्वृत्तिर्वा ? तद्वृत्तिश्चेन्न तावदगुणस्तस्यैकद्रव्यवृत्तित्वात्। संयोगादिवदनेकद्रव्यवृत्तिः संतानो गुण इति चेत् स तर्हि संयोगादिभ्योऽन्यो वा स्यात्तदन्यतमो वा ? यद्यन्यः स तदा चतुर्विंशतिसंख्याव्याघातः, तदन्यतमश्चेत् तर्हि न तावत्संयोगस्तस्य विद्यमानद्रव्यवृत्तित्वात्। संतानस्य कालत्रयवृत्तिसंतानिसमाश्रयत्वात्। तत एव न विभागोपि परत्वमपि वा तस्यापि देशापेक्षस्य वर्तमानद्रव्याश्रयत्वात्। पृथक्त्वं इत्यप्यसारं, भिन्नसंतानद्रव्यपृथक्त्वस्यापि

सन्तानियों से सन्तान अभिन्न है। यदि काल आदि विशेषों की अपेक्षा संतानियों से संतान भिन्न है, तो संतानियों और संतान के काल आदि विशेष क्यों है? यदि कहो कि संतान का काल अनादि से अबतक है और संतानी का उससे विपरीत है, (सादिसान्त है) तथा संतान को विशेषरूप से अनियत सर्व क्षेत्रों में कार्य का कर्त्तापना है और संतानी व्यक्ति नियत क्षेत्र में कार्य को करता है। इस प्रकार संतान और संतानियों का देश, काल पृथक्-पृथक् है परन्तु ऐसा कहना उचित नहीं है क्योंकि ऐसा मानने पर उस संतान को संतानियों से सर्वथा भिन्न पदार्थ हो जाने का प्रसंग आता है।

पूर्व[१], उत्तर कालों में होने वाले सम्पूर्ण कार्यकारण द्रव्यरूप संतानियों से सर्वथा भिन्न संतान उन संतानियों में रहती है? अथवा उन संतानियों में नहीं रहता है? यदि पहले पक्ष के अनुसार उन संतानियों में संतान की वृत्ति है ऐसा मानोगे तो अनेक कार्य कारणरूप द्रव्यों में रहने वाला संतान गुण पदार्थ तो हो नहीं सकता है। क्योंकि रूप, रस आदिक गुण एक द्रव्य में रहते हैं।

यदि संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, द्वित्व आदि संख्या इन गुणों के समान संतान को भी अनेक द्रव्यों में रहने वाला मानोगे तो वह संतान संयोगादि गुणों से भिन्न है कि अभिन्न है? यदि वह संतान संयोग आदिकों से भिन्न है, तब तो गुणों की (रूप, रस, गंध, स्पर्श, संख्या, परिणाम, पृथक्, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, शब्द, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और संस्कार इन वैशेषिकों के यहाँ नियत) चौबीस संख्या का विघात होता है। यदि संतान संयोग आदिकों से अभिन्न है, ऐसा मानोगे तब तो वह संतान सर्वप्रथम संयोगस्वरूप तो हो नहीं सकती क्योंकि वह संयोगगुण वर्तमान काल में विद्यमान द्रव्यों में रहता है और संतान तीनों काल में स्थित संतानियों के आश्रित है। अतः, संयोग गुणस्वरूप संतान नहीं हो सकती। तथा विभागरूप भी संतान नहीं है। अर्थात् विभाग भी वर्तमानकाल के अनेक द्रव्यों में रहता है किन्तु संतान तीनों काल के संतानियों में रहने वाली मानी गई है तथा परत्वगुणरूप भी संतान नहीं है, क्योंकि परत्व भी देश आदिक की अपेक्षा रखता हुआ वर्तमानकाल के द्रव्यों के आश्रित है, किन्तु संतान तीनों काल के द्रव्य या पर्यायों में रहता है।

अनेक पदार्थों में रहने वाला संतान पृथक्त्व गुणरूप है, यह कहना भी सार रहित है, क्योंकि ऐसा मानने पर भिन्न संतान वाले द्रव्यों में स्थित पृथक्त्व को भी संतानत्व का प्रसंग आता है।

१. जैनाचार्य कहते हैं

संतानत्वप्रसंगात्। तत एवमसंख्योसौ। एतेन संयोगादीनां संतानत्वे भिन्नसंतानगतानामप्येषां संतानत्वप्रसंगः समापादितो बोद्धव्यः। कार्यकारणपरम्पराविशिष्टा सत्तासंतान इति चेत् कुतस्तद्विशिष्टः कार्यकारणोपाधित्वादितिचेत्, कथमेवमनेका सत्ता न स्यात्। विशेषणानेकत्वादुपचारादनेकास्त्विवितिचेत् कथमेवं परमार्थतोनेकसंतानसिद्धिर्येनैकसंतानांतरे प्रवृत्तिरविसंवादिनी स्यात्। येषां पुनरेकानेका च वस्तुनः सत्ता तेषां *सामान्यतो* विशेषतश्च तथा संतानैकत्वनानात्वव्यवहारो न विरुध्यते। न च विशिष्टकार्यकारणोपाधिकयोः

अतः वह संतान अनेक में रहने वाली द्वित्व, त्रित्व, बहुत्व आदि संख्यास्वरूप नहीं है अपितु असंख्यात है। इस उक्त कथन से संयोग, विभाग आदि को संतान मानने पर भिन्न संतानों में प्राप्त भी इन संयोग आदि के संतान बन जाने का प्रसंग आएगा। इसका भी खण्डन कर दिया गया है, ऐसा समझना चाहिए।

कार्य और कारणों की परम्परा से विशिष्ट एकसत्ता को यदि संतान कहोगे तो किस कारण से उस सत्ता में विशिष्टता प्राप्त हुई? यदि कार्यकारण रूप विशेषणों से सत्ता की विशिष्टता को स्वीकार करोगे तब तो इस प्रकार अनेक सत्तायें क्यों नहीं हो जाएंगी? अर्थात् अनेक कार्य कारणों में पृथक्-पृथक् रहने वाली सत्ता अनेक हो जायेगी। किन्तु वैशेषिकों ने सत्ता को एक माना है। यदि वैशेषिक कहें कि विशेषणों के अनेक होने के कारण उपचार से सत्ता अनेक होती है, वस्तुतः सत्ता एक है।

इस पर जैन आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार वास्तविकरूप से अनेक संतानों की सिद्धि कैसे हो सकती है जिससे कि एक संतान से भिन्न दूसरी संतान में संवाद को रखने वाली प्रवृत्ति ठीक-ठीक हो सके? अर्थात् सत्ता एक है तो सम्पूर्ण पदार्थों की सत्तारूप संतान भी एक ही रहेगी, अन्य-अन्य नहीं होगी।

परन्तु जिन (स्याद्वादियों) के यहाँ वस्तु की सत्ता एक और अनेक मानी गई है, उनके यहाँ सामान्यरूप और विशेषरूप से एकपन या अनेकपन का व्यवहार होना विरुद्ध नहीं है। कार्यकारणरूप उपाधियों से विशिष्ट सत्ता विशेष रूप संतानों का परस्पर में उपकार्य उपकारकभाव नहीं है क्योंकि वे सत्तायें नित्य हैं। नित्यों में कार्यकारणभाव नहीं होता है-ऐसा भी कहना युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि सत्ता विशेषों में कथंचित् अनित्यपने का विरोध नहीं है। स्याद्वादसिद्धान्त में सम्पूर्ण पदार्थों का पर्यायार्थिक दृष्टि से अनित्यपना व्यवस्थित किया गया है अतः व्यक्तिरूप संतानियों के समान सत्ता विशेषरूप संतानों का भी कथंचित् उपकृत उपकारक भाव स्वीकार करना चाहिए। इस प्रकार (बीज संतान और अंकुर संतान) इन दोनों स्वरूप कार्यकारणों का परस्पर में एक दूसरे का ज्ञापकपना सिद्ध होता है अतः यह कार्यकारण उभयरूप हेतु लिंगों के कार्य, कारण और अकार्यकारणरूप तीन संख्या के नियम का विघटन कर देता है। इसमें परस्पर हेतु साध्य होकर एक से दूसरे का ज्ञापन करने में अन्योन्याश्रय दोष नहीं है।

सत्ताविशेषयो: संतानयो: परस्परमुपकार्योपकारकभावाभाव: शाश्वतत्वादिति युक्तं वक्तुं, कथंचिदशाश्वतत्वाविरोधात्। पर्यायार्थत: सर्वस्यानित्यत्वव्यवस्थिति:। तत: संतानिनामिव संतानयो: कथंचिदुपकार्योपकारकभावोऽभ्युपगंतव्य इति सिद्धमुभयात्मकयोरन्योन्यं साधनत्वं लिंगत्रितयनिमित्तं विघटयत्येव। न चैवमन्योन्याश्रयणं तयोरेकतरेण प्रसिद्धेनान्यतरस्याप्रसिद्धस्य साधनात्। तदुभयसिद्धौ कस्यचिदनुमानानुदयात्॥

संप्रति पराभिमतसंख्यांतरनियममनूद्य दूषयन्नाह;—

यच्चाभूतमभूतस्य भूतं भूतस्य साधनम्। तथाभूतमभूतस्याभूतं भूतस्य चेष्यते॥२०७॥
नान्यथानुपपन्नत्वाभावे तदपि संगतम्। तद्भावे तु किमेतेन नियमेनाफलेन व:॥२०८॥

न ह्यभूतादिलिंगचतुष्टयनियमो व्यवतिष्ठते भूताभूतोयं स्वभावस्यापि लिंगस्य तादृशि साध्ये संभवात्। न च तद्व्यवच्छेदमकुर्वन्नियम: सफलो नाम॥

सर्वहेतुविशेषाणां संग्रहो भासते यथा। तथा तद्भेदनियमे द्विभेदो हेतुरिष्यताम्॥२०९॥
संक्षेपादुपलंभश्चानुपलंभश्च वस्तुन:। परेषां तत्प्रभेदत्वात्तत्रांतर्भावसिद्धित:॥२१०॥

क्योंकि उन दोनों में प्रसिद्ध एक हेतु के द्वारा दोनों में से अप्रसिद्ध एक साध्य की सिद्धि कर ली जाती है। उन दोनों की सिद्धि हो जाने पर उन दोनों में से किसी के भी अनुमान का उदय नहीं होता। अत: हेतु की संख्याओं का उक्त नियम करना ठीक नहीं है, क्योंकि कार्य और कारण तथा अकार्यकारण इन तीन हेतुओं से पृथक् चौथा कार्यकारण उभय हेतु स्थित है।

अब इस समय अन्य वादियों के द्वारा स्वीकृत हेतुओं की अन्य-अन्य विभिन्न संख्या के नियम का अनुवाद कर उसको दोष पूर्ण सिद्ध करते हुए आचार्य स्पष्ट निरूपण करते हैं-

अभूत साध्य का अभूत हेतु ज्ञापक है और भूत साध्य का साधक भूतहेतु है। उसी प्रकार अभूत का साधक भूतहेतु है। तथा भूत साध्य को साधने वाला अभूत हेतु इष्ट किया गया है। वह सभी अन्यथानुपपत्ति के न होने पर संगठित नहीं होते हैं। उस अन्यथानुपपत्ति के होने पर इन चार भेदों का नियम निष्फल करने से तुम्हारे कौनसा प्रयोजन सिद्ध होता है? अर्थात् अभूत आदि भेद करना व्यर्थ है॥२०७-२०८॥

अभूत आदि हेतु के चार भेदरूप अवयवों का नियम करना व्यवस्थित नहीं होता है। क्योंकि उस प्रकार के भूत, अभूत, उभयस्वरूप साध्य को साधने में भूतअभूत-उभयस्वभाव हेतु की भी सम्भावना बनी रहती है और उस पाँचवें हेतु भेद के व्यवच्छेद को नहीं करने वाले चार हेतु का नियम कैसे भी सफल नहीं कहा जा सकता है। अर्थात् यदि अन्यथानुपपत्ति नहीं है तो हेतुभेदों का नियम करना व्यर्थ है, और यदि अन्यथानुपपत्ति है तो भेद, प्रभेद करना नि:सार है। अन्यथानुपपत्ति ही हेतु का प्राण है।

जैसे सम्पूर्ण हेतुओं के भेदों का संग्रह हो जाना प्रतिभासित होता है, उस प्रकार से उस हेतु के भेदों को नियम से दो प्रकार के हेतु इष्ट करना चाहिए। संक्षेप से वस्तु का उपलम्भ होना और अनुपलम्भ होना हेतु के ये दो भेद करना अच्छा है। क्योंकि अन्य शेष भेदों का इन दो भेद रूप होने से इन्हीं दो में अन्तर्भाव सिद्ध हो जाता है अर्थात् उपलब्धि और अनुपलब्धि रूप दो हेतु में सर्व हेतु गर्भित हो जाते हैं॥२०९-२१०॥

उपलब्ध्यनुपलब्ध्योरेवेति सर्वहेतुविशेषाणामंतर्भाव: प्रतिभासते संक्षेपात्तेषां तत्प्रभेदत्वादिति तदिष्टि: श्रेयसी। न हि कार्यादय: संयोग्यादय: पूर्ववदादयो वीतादयो वा हेतुविशेषास्ततो भिद्यंते तदप्रभेदत्वाप्रतीते: ॥

ननूपलभ्यमानत्वमुपलंभो यदीष्यते। तदा स्वभावहेतु: सद्व्यवहारप्रसाधने ॥२११॥

अथोपलभ्यते येन स तथा कार्यसाधन:। समानोनुपलंभेपि विचारोयं कथं न ते ॥२१२॥

यद्युपलंभ: कर्मसाधनस्तदा स्वभावहेतुरेव सद्व्यवहारे साध्ये करणसाधनमनुपलंभे तत: सोपि न स्वभावकार्यहेतुभ्यां भिन्न: स्यात्। कर्मसाधनत्वेनुपलभ्यमानत्वस्य स्वभावहेतुत्वात्। करणसाधनत्वेनुपलंभनस्य कार्यस्वभावयोर्विधिसाधनत्वादनुपलंभस्य प्रतिषेधविषयत्वादन्यस्ताभ्यामनुपलंभ इत्यसंगतं इत्याह—

इस प्रकार सम्पूर्ण हेतुओं के भेद-प्रभेदों की उपलब्धि और अनुपलब्धि में ही अन्तर्भाव होना प्रतिभासित होता है, क्योंकि, संक्षेप से उन दो भेदों के ही वे सब कार्य आदि, भूत आदि, वीत आदि प्रभेद हैं। इस प्रकार उन दो भेदों को इष्ट करना ही श्रेष्ठ है। कार्य, कारण आदि तथा संयोगी, समवायी, एकार्थसमवायी और विरोधी तथा पूर्ववत् आदि अथवा वीत आदि ये सब हेतुओं के विशेष उन दो भेदों से पृथक् नहीं हैं, क्योंकि कार्य आदि को उपलब्धि अनुपलब्धि का प्रभेद रहितत्व प्रतीत नहीं होता है। प्रत्युत् कार्य आदि से अतिरिक्त अन्य भी पूर्वचर, व्यापक, व्यापक विरुद्ध आदि अनेक हेतु भी उपलब्धि और अनुपलब्धि में समा जाते हैं।

बौद्धों की शंका : उपलंभ शब्द का अर्थ यदि कर्म अर्थ की प्रतिपत्ती कराते हुए उपलम्भ किया गयापन इष्ट किया गया है, तब तो स्वभाववान् के सद्भाव के व्यवहार को अच्छा साधने में वह उपलम्भ हेतु स्वभाव हेतु ही हुआ और जिसके द्वारा उपलम्भ किया जाता है वह उपलम्भ है, इसमें घञ् प्रत्यय करने पर उपलम्भ बनाया जायेगा तो उपलम्भ हेतु कार्य हेतु क्यों नहीं बनेगा? फिर कार्य और स्वभाव के अतिरिक्त उपलम्भ हेतु के मानने की क्या आवश्यकता है? यह विचार अनुपलम्भ शब्द में भी कर्म साधन और करण साधन व्युत्पत्ति करने पर समानरूप से लागू होता है अत: तुम्हारे यहाँ कार्य और स्वभाव अनुपलम्भ हेतुओं में ही सर्वहेतुओं का अन्तर्भाव क्यों नहीं कर लिया जाता है? ॥२११-२१२॥

बौद्ध कह रहे हैं कि उपलंभ शब्द यदि कर्म में घञ् प्रत्यय कर सिद्ध किया गया है, तब तो स्वभाव हेतु ही होगा। अत: व्यवहार समानभाव के सद्भाव का व्यवहार को साध्य करने में साध्य का स्वभाव उपलम्भ हेतु है। यदि करण साधन उपलम्भ शब्द माना जायेगा तो उसका अर्थ कार्य हेतु होता है अत: वह भी स्वभाव और कार्य हेतुओं से भिन्न नहीं हो सकता।

अनुपलम्भ शब्द को कर्म साधन मानने पर अनुपलम्भ का अनुपलब्धि में अंतर्भाव हो जाता है। बौद्धों के यहाँ विधि को साधने वाले कार्य और स्वभाव दो हेतु माने गये हैं। तथा उन दोनों से पृथक् प्रतिषेध को विषय करने वाला होने से तीसरा अनुपलम्भ हेतु इष्ट किया है।

समाधान : यह बौद्धों का कथन असंगत है। इस बात को आचार्य महाराज कहते हैं -

यथा चानुपलंभेन निषेधोऽर्थस्य साध्यते। तथा कार्यस्वभावाभ्यामिति युक्ता न तद्भिदा ॥२१३॥

ननु च द्वौ साधनावेक: प्रतिषेधहेतुरित्यत्र द्वावेव वस्तुसाधनौ प्रतिषेधहेतुरेवैक इति नियम्यते न पुनर्द्वौ वस्तुसाधनावेव ताभ्यामन्यव्यवच्छेदस्यापि साधनात्। तथा नैक एव प्रतिषे धहेतुरित्यवधार्यते तत एव यतो लिंगत्रयनियम: संक्षेपान्न व्यवतिष्ठत इति न तद्द्विभेदो हेतुरिष्यते तस्याव्यवस्थानादित्यत्राह––

निषेधहेतुरेवैक इत्ययुक्तं विधेरपि। सिद्धेरनुपलंभेनान्यव्यवच्छिद्विधिर्यत: ॥२१४॥

नास्तीह प्रदेशे घटादिरुपलब्धिलक्षणप्राप्तस्यानुपलब्धेरित्यनुपलंभेन यथा निषेध्यस्य प्रतिषेधस्तथा व्यवच्छेदस्य विधिरपि कर्तव्य एव। प्रतिषेधो हि साध्यस्ततोऽन्योऽप्रतिषेधस्तद्व्यवच्छेदस्याविधौ कथं प्रतिषेध: सिद्ध्येत् ? तद्विधौ वा कथं प्रतिषेधहेतुरेवैक इत्यवधारणं सुघटं। गुणभावेन विधेरनुपलंभेन साधनात्प्राधान्येन प्रतिषेधस्यैव व्यवस्थापनात्सुघटं तथावधारणमिति चेत् , तर्हि द्वौ वस्तुसाधनावित्यवधारणमस्तु ताभ्यां वस्तुन एव प्राधान्येन विधानात्। प्रतिषेधस्य गुणभावेन साधनात्। यदि पुन: प्रतिषेधोपि कार्यस्वभावाभ्यां प्राधान्येन

जिस प्रकार अनुपलम्भ के द्वारा अर्थ का निषेध सिद्ध किया जाता है, उसी प्रकार कार्य और स्वभावों से भी वस्तु का निषेध सिद्ध किया जा सकता है अत: अनुपलम्भ का उन कार्य और स्वभाव से भेद करना युक्त नहीं है॥२१३॥

भावार्थ : बौद्धों द्वारा मान्य हेतु के तीन भेद ठीक नहीं हैं।

शंका : वस्तुविधि को साधने वाले हेतु दो प्रकार के हैं और एक हेतु प्रतिषेध को साधने वाला है। इस प्रकार इस कथन में दोनों ही हेतु वस्तु को साधने वाले हैं और एक हेतु प्रतिषेध को साधने वाला ही है। इस प्रकार एवकार लगाकर नियम कर दिया जाता है, किन्तु फिर वस्तु की विधि को ही साधने वाले दो हेतु हैं, ऐसा नियम तो नहीं किया गया है क्योंकि उन दो स्वभाव और कार्य हेतुओं से अन्य पदार्थों का व्यवच्छेद करना भी सिद्ध किया जाता है तथा एक ही हेतु निषेध का साधक है। यह भी अवधारण नहीं कर सकते हैं, क्योंकि निषेध साधक हेतु से अन्य किसी पदार्थ की विधि भी सिद्ध की जा सकती है, जिससे कि यहाँ संक्षेप में तीन प्रकार के हेतु का नियम करना व्यवस्थित न होवे। अर्थात् बौद्धों द्वारा माने गये कार्य में तीन हेतु ठीक हैं, अत: उपलम्भ, अनुपलम्भ दो भेद इष्ट नहीं हैं, क्योंकि उनकी समीचीन व्यवस्थिति नहीं हो सकती है। बौद्धों की इस शंका का आचार्य समाधान करते हैं-

निषेध को साधने वाला एक ही अनुपलम्भ हेतु है, यह कहना अयुक्त है, क्योंकि ऐसा कहने पर अनुपलम्भ के द्वारा पदार्थों की विधि भी सिद्ध हो जाती है तथा अन्य के व्यच्छेद की विधि भी अनुपलम्भ से कर दी जाती है। यानी विधि की सिद्धि भी अनुपलम्भ हेतु से हो जाती है॥२१४॥

इस प्रदेश में घट, पुस्तक आदि नहीं हैं, क्योंकि उपलब्धिस्वरूप की योग्यता को प्राप्त होने की उपलब्धि नहीं हो रही है। अर्थात् यहाँ घट आदि होते तो अवश्य दीखने में आते; दीखने योग्य होकर वे नहीं दीख रहे हैं, अत: वे यहाँ नहीं है। इस प्रकार अनुपलम्भ के द्वारा जैसे निषेध करने योग्य घट आदि का प्रतिषेध हो जाता है, उसी प्रकार अन्य घट आदि के व्यच्छेद की विधि-भी करनी चाहिए क्योंकि,

साध्यते यथा नानग्निरत्र धूमात् , नावृक्षोऽयं शिंशपात्वादिति मतं तदानुपलंभेनापि विधिः प्रधानभावेन साध्यतां। यथास्त्यत्राग्निरनौष्ण्यानुपलब्धेरिति कथं निषेधसाधन एवैक इत्येकं संविधित्सोरन्यत्प्रच्यवते। ननु च नानग्निरत्र धूमादिति विरुद्धकार्योपलब्धिः प्रतिषेधस्य साधिका नावृक्षोऽयं शिंशपात्वादिति विरुद्धव्याप्तोपलब्धिश्च यावत्कश्चित्प्रतिषेधः स सर्वोनुपलब्धेरिति वचनात्। तथास्त्यत्राग्निरनौष्ण्यानुपलब्धेरित्ययमपि स्वभावहेतुरौष्ण्योपलब्धेरेव हेतुत्वात्प्रतिषेधद्वयस्यप्रकृतार्थसमर्थकत्वादिति न प्राधान्येन द्वौ प्रतिषेधसाधनौ।

अनुमान द्वारा निषेध को साध्य किया गया है। उस प्रतिषेध से भिन्न अप्रतिषेध है। यदि उस अप्रतिषेध के निराकरण की विधि न की जायेगी तो निषेध कैसे सिद्ध होगा? यदि अनुपलम्भ हेतु द्वारा उस अप्रतिषेध की विधि की सिद्धि मानोगे तो एक हेतु प्रतिषेध का ही साधक है। इस प्रकार का एवकार द्वारा अवधारण करना किस प्रकार घटित होगा? अर्थात् यहाँ एवकार नहीं लग सकता है।

अर्थात् अनुपलम्भ हेतु से विधि और निषेध दोनों सिद्ध होते हैं।

बौद्ध कहता है- अनुपलम्भ हेतु के द्वारा गौणरूप से विधि की सिद्धि होती है। किन्तु प्रधानता से अनुपलब्धि के द्वारा निषेध की व्यवस्था कराई जाती है, अत: इस प्रकार एक हेतु प्रतिषेध का साधक है, यह अवधारण करना घटित हो जाता है। जैनाचार्य कहते हैं तब तो कार्य, स्वभाव ये दो हेतु भावस्वरूप वस्तु के साधक हैं, यह नियम करना चाहिए क्योंकि उन दो कार्य स्वभाव हेतुओं से वस्तु के भाव की प्रधानता से विधि का विधान किया जाता है, निषेध को गौणरूप से सिद्ध किया जाता है। यदि फिर कार्य और स्वभाव हेतु से प्रतिषेध की भी प्रधानता से सिद्धि की जायेगी जैसेकि 'यहाँ अग्निरहितपना नहीं है क्योंकि धुआँ हो रहा है' 'तथा यहाँ वृक्षरहितपना नहीं है, क्योंकि शीशों का पेड़ खड़ा है।' इस प्रकार प्रधानता से निषेध भी सिद्ध होता है, ऐसा मानोगे तब तो अनुपलम्भ के द्वारा भी प्रधानता से विधि की सिद्धि होना माना जाना चाहिए। जिस प्रकार यहाँ अग्नि है, क्योंकि उष्णतारहितपना नहीं दीख रहा है। इस प्रकार एक अनुपलब्धि हेतु निषेध को ही साधने वाला कैसे हो सकता है? अत: एक बात को सिद्ध करने पर दूसरी बात नष्ट हो जाती है। एक कथन की सिद्धि करने पर दूसरे पर व्याघात हो जाता है।

प्रश्न : यहाँ अग्नि का अभाव नहीं है-धूम होने से। इस अनुमान में विरुद्ध कार्य की उपलब्धिरूप अनुपलम्भ हेतु निषेध का साधक है तथा यह प्रदेश वृक्ष रहित नहीं है, शीशों के होने से। यह विरुद्ध से व्याप्ति की उपलब्धिरूप अनुपलम्भ हेतु है।

जितने भी कोई निषेध साधे जाते हैं, वे सभी अनुपलब्धि से ही सिद्ध होते हैं। ऐसा बौद्ध ग्रन्थों में कहा गया है। तथा यहाँ अग्नि है, अनुष्णता के उपलब्धि नहीं होने से। इस प्रकार यह उष्णता की उपलब्धि स्वभाव हेतु ही है, क्योंकि अनुष्णता की अनुपलब्धि भी स्वभाव है। अर्थात् अनुष्णता की अनुपलब्धि उष्णता की उपलब्धि ही है। अभाव का अभाव भावरूप होता है। दो निषेधों को प्रकृत अर्थ का समर्थकपना है। कार्य और स्वभाव हेतु ये दोनों प्रधानता से निषेध को साधने वाले नहीं हैं, किन्तु गौणरूप से निषेध को और प्रधानता से सद्भाव को साधने वाले मानते हैं। तथा एक अनुपलम्भ हेतु तो विधि का साधन नहीं माना जा सकता, जिससे कि उक्त दोष आ सकते हों। इस प्रकार कोई (बौद्ध) कहता है।

नाप्येको विधिसाधनो यतो दोषः स्यादिति कश्चित् , सोपि न प्रातीतिकाभिधायी कार्यस्वभावानुपलब्धिषु प्रतीयमानासु विपर्ययकल्पनात्। तथाहि—सर्वत्र कार्यस्वभावहेतोर्विरुद्धव्याप्तोपलब्धिरूपतापत्तेरनुपलब्धिरेवैका स्यात् अनुपलब्धेर्वा कार्यस्वभावहेतुतापत्तेस्तावेव स्यातां तत्र प्रतीत्यनुसरणे यथोपयोक्त्रभिप्रायं कार्यस्वभाववपि प्राधान्येन विधिप्रतिषेधसाधनावुपेयौ। विधिसाधनश्चानुपलंभ इति न विषयभेदाल्लिंगसंख्यानियमः सिद्ध्येत्॥

यस्मादनुपलंभोत्रानुपलभ्यत्वमिष्यते। तथोपलभ्यमानत्वमुपलंभः स्वरूपतः॥२१५॥

भिन्नावेतौ न तु स्वार्थाभेदादिति नियम्यते। भावाभावात्मकैकार्थगोचरत्वाविशेषतः॥२१६॥

उपलभ्यत्वानुपलभ्यत्वस्वरूपभेदादेव भिन्नादुपलम्भानुपलंभौ मंतव्यौ न पुनः स्वविषयभेदादिति नियम्यते विधिप्रतिषेधात्मकैकवस्तुविषयत्वस्य तयोर्विशेषाभावात्। यथैवेत्युपलंभेन प्राधान्याद्विधिगुणभावात्

उत्तर : वह बौद्ध भी प्रमाण द्वारा विश्वास करने योग्य कथन करने वाला नहीं है क्योंकि उसका कथन सम्पूर्ण लौकिक परीक्षक विद्वानों द्वारा प्रतीत किए जा रहे कार्य, स्वभाव और अनुपलब्धि हेतुओं में विपरीत कल्पना करने वाला है।

जैन उन बौद्धों की विपरीत कल्पना का ही निदर्शन कराते हैं कि इस प्रकार तो सभी स्थानों पर कार्य और स्वभाव हेतुओं को विरुद्ध से व्याप्त की उपलब्धिस्वरूप प्राप्त हो जाएगा अतः एक अनुपलब्धि ही हेतु का भेद मानना चाहिए। अथवा अनुपलब्धि हेतु को भी कार्य हेतुत्व या स्वभावहेतुत्व की आपत्ति हो जायेगी अतः अनुपलब्धि का दो में अन्तर्भाव हो जाने से कार्य और स्वभाव ये दो ही हेतु रह जाते हैं। यदि वहाँ प्रतीति का अनुसरण करोगे, तब तो उपयोग करने वाले अभिप्राय का अतिक्रमण नहीं कर कार्य और स्वभाव हेतुओं को प्रधानता से विधि और निषेध को भी साधने वाला मान लेना चाहिए। तथा अनुपलम्भ हेतु को भी प्रधानता से विधि को साधने वाला मान लेना चाहिए अतः विधि और निषेधरूप विषयों के भेद से हेतु भेदों की संख्या का नियम नहीं सिद्ध हो सकता है। (जैन सिद्धान्त में तो उपलब्धि, विधि और निषेधात्मक है और अनुपलब्धि भी विधि निषेधात्मक है)।

जिस प्रकार यहाँ अनुपलंभमान हेतु अनुपलम्भ कहलाता है, उसी प्रकार उपलम्भमान हेतु उपलंभ कहलाता है अतः वस्तु के धर्मों की अपेक्षा से ये दोनों हेतु भिन्न-भिन्न हैं। किन्तु अपने धर्मी अर्थ के अभेद होने से दोनों अभिन्न ही हैं, भिन्न नहीं, ऐसा नियम किया जाता है क्योंकि, भाव और अभावस्वरूप एक अर्थ को विषय करने रूप धर्म दोनों हेतुओं में समान है। इसमें कोई विशेषता नहीं है॥२१५-२१६॥

एक वस्तु के उपलभ्यपन और अनुपलभ्यपन नामक स्वरूपभूत धर्मों के भेद से ही उपलम्भ और अनुपलम्भों को भिन्न मान सकते हैं, किन्तु फिर भी अपने धर्मीरूप विषय के भेद से ये हेतु भिन्न नहीं हैं- इस प्रकार नियम किया जाता है, क्योंकि विधि और प्रतिषेधस्वरूप एक वस्तु को विषय करना उन दोनों में अविशेषता से विद्यमान है।

प्रतिषेधश्च विषयीक्रियते तथानुपलंभेनापि। यथानुपलंभेन प्रतिषेधः प्राधान्यात् , विधिश्च गुणभावात्तथोपलंभेनापीति यथायोग्यमुदाहरिष्यते। ततः संक्षेपादुपलंभानुपलंभावेव हेतू प्रतिपत्तव्यौ॥

तत्रैवोपलंभः स्यात्सिद्धः कार्यादिभेदतः। कार्योपलब्धिरग्न्यादौ धूमादिः सुविधानतः॥२१७॥

कारणस्योपलब्धिः स्याद्विशिष्टजलदोन्नतेः। वृष्टौ विशिष्टता तस्याश्छित्या छायाविशेषतः॥२१८॥

कारणानुपलंभेपि यथा कार्ये विशिष्टता। बोध्याभ्यासात्तथा कार्यानुपलंभेपि कारणे॥२१९॥

समर्थं कारणं तेन नांत्यक्षणगतं मतम्। तद्बोधे येन वैयर्थ्यमनुमानस्य गद्यते॥२२०॥

न चानुकूलतामात्रं कारणस्य विशिष्टता। येनास्य प्रतिबंधादिसंभवाद्व्यभिचारिता॥२२१॥

भावार्थ : बौद्धों के समान प्रमेयभेद से प्रमाण के भेद होने को हम नही मानते हैं। प्रमाण कितने ही हों किन्तु सामान्य विशेष आत्मक वस्तुनाम का प्रमेय एक ही है।

जिस प्रकार उपलम्भ हेतु के द्वारा प्रधानता से विधि को और गौणरूप से निषेध को विषय किया जाता है, उसी प्रकार अनुपलम्भ हेतु के द्वारा भी प्रधानता से विधि और गौणरूप से निषेध जाना जाता है तथा जिस प्रकार अनुपलम्भ के द्वारा प्रधानता से निषेध और गौणरूप से विधि का जानना अभीष्ट है, उसी प्रकार उपलम्भ के द्वारा भी प्रधानता से निषेध और गौणरूप से विधि का ज्ञापन करना इष्ट है। इन सब हेतुभेदों के यथायोग्य उदाहरण भविष्य में दिये जाएंगे। अत: संक्षेप में उपलम्भ और अनुपलम्भ ये ही दो हेतु समझ लेने चाहिए।

उन हेतुभेदों में उपलम्भ नाम का हेतु कार्य, व्याप्य, कारण, पूर्वचर, उत्तरचर, सहचर इन भेदों से छह प्रकार का सिद्ध है। जैनसिद्धान्तानुसार हेतुओं की भेद गणना करने से अग्नि आदि कारणों को साध्य करने में धूम आदि हेतु कार्य उपलब्धिरूप हैं॥२१७॥

विशिष्ट मेघों से भविष्य में होने वाली वर्षा की विशिष्टता जान ली जाती है तथा छायाविशेष से छत्र की ज्ञप्ति हो जाती है। इस प्रकार कारणोपलब्धि हेतु के उदाहरण जानने चाहिए॥२१८॥

कारण के प्रत्यक्ष न होने पर भी जिस प्रकार कार्य में होने वाली विशिष्टता अभ्यास से जान ली जाती है अर्थात् प्रत्यक्ष कार्य से परोक्षकारण का अनुमान हो जाता है, उसी प्रकार कार्य का अनुपलम्भ होने पर भी कारण में विशिष्टता जान ली जाती है॥२१९॥

भावार्थ : प्रत्यक्ष हो रहे कारण हेतु से परोक्ष कार्य का अनुमान कर लिया जाता है।

कार्य के करने में समर्थ कारण को हेतु कहा है, अत: अन्त्यक्षण को प्राप्त कारण हेतु नहीं माना गया है जिससे कि उत्तरक्षण में उस कार्य के प्रत्यक्ष हो जाने पर अनुमान प्रमाण उठाने का व्यर्थपना कहा जाये॥२२०॥

तथा, कारण को ज्ञापक हेतु बनाने के प्रकरण में स्वरूपयोग्यतारूप केवल अनुकूलता को भी हम कारण की विशिष्टता नहीं मानते हैं, जिससे कि इस कारण का प्रतिबंध, पृथक्करण आदि सम्भव होने से कारण हेतु का व्यभिचार दोष से युक्त हो सकता है अर्थात् कार्य कराने में उपयोगी और कारणपने की सामर्थ्य के प्रतिबन्ध से रहित कारण को कार्य का ज्ञापक हेतु माना जाता है। अन्य सभी कारणों को नहीं॥२२१॥

वैकल्यप्रतिबंधाभ्यामनासाद्य स्वभावताम्। विशिष्टतात्र विज्ञातुं शक्या छायादिभेदत: ॥२२२॥

तद्विलोपेऽखिलख्यातव्यवहारविलोपनम्। तृप्त्यादिकार्यसिद्ध्यर्थमाहारादिप्रवृत्तित: ॥२२३॥

हेतुना य: समग्रेण कार्योत्पादोनुमीयते। अर्थांतरानपेक्षत्वात्स स्वभाव इतीरणे ॥२२४॥

कार्योत्पादनयोग्यत्वे कार्ये वा शक्तकारणम्। स्वभावहेतुरित्यार्यैर्विचार्य प्रथमे मत: ॥२२५॥

स्वकार्ये भिन्नरूपैकस्वभावं कारणं वदेत्। कार्यस्यापि स्वभावत्वप्रसंगादविशेषत: ॥२२६॥

समग्रकारणं कार्यस्वभावो न तु तस्य तत्। कोऽन्यो ब्रूयादिति ध्वस्तप्रज्ञानैरात्मवादिन: ॥२२७॥

यत्स्वकार्याविनाभावि कारणं कार्यमेव तत्। कार्यं तु कारणं भावीत्येतदुन्मत्तभाषितम् ॥२२८॥

यद्यपि अन्य कारणों की विकलता (रहितता) और कारणों के सामर्थ्य के प्रतिबन्ध होने से स्वभाव को नहीं प्राप्त होने वाला हेतु व्यभिचारी हो सकता है।

परन्तु अन्य कारणों की परिपूर्णता और कार्य करने में हेतु की सामर्थ्य का प्रतिबंध न होने से यहाँ कारण हेतु की विशिष्टता को विशेषरूप से जाना जा सकता है जैसे छाया उष्णता, आदि के भेद से छत्र, अग्नि आदि का कारणपना सुव्यवस्थित होता है। यदि अन्य कार्यों की पूर्णता और हेतु सामर्थ्य की अक्षुण्णता रहते हुए भी उस कारण से कार्य के ज्ञान होने का विलोप हो जाना मानोगे तो जगत्प्रसिद्ध सम्पूर्ण व्यवहारों का विलोप हो जायेगा, परन्तु तृप्ति, प्यास बुझना आदि कार्यों की सिद्धि के लिए आहार, जलपान आदि में प्रवृत्ति होना रूप व्यवहार देखा जाता है अत: सभी कारणों को तो नहीं, किन्तु कार्य को नियम से करने वाले कारणों को ज्ञापक हेतु मानना न्याय्य है ॥२२२-२२३॥

बौद्ध : पूर्ण सामग्री से युक्त हेतु के द्वारा जो कार्य के उत्पाद का अनुमान किया जाता है, वह अन्य अर्थों की अपेक्षा नहीं होने से स्वभाव हेतु है। अथवा कार्य के उत्पाद कराने की योग्यता होने पर कार्य करने में समर्थ कारण स्वभाव हेतु है। ऐसा कहने पर आचार्य कहते हैं कि आर्य (विद्वान) को विचार कर प्रथम स्वभाव हेतु में कारण हेतु मानना नीतियुक्त है, किन्तु बौद्ध अपने कार्य करने में भिन्नस्वरूप हो रहे एक कारण को यदि स्वभाव हेतु कहता है तब तो कार्य हेतु को भी स्वभाव हेतुपन का प्रसंग आता है, क्योंकि इन दोनों में कोई विशेषता नहीं है। अर्थात् स्वभाववान् कारण का स्वभाव कार्य हेतु हो सकता है। समग्र कारण तो कार्य का स्वभाव है, किन्तु उस समग्र कारण का स्वभाव वह कार्य नहीं है। नष्ट हो गया है ज्ञान जिनका, ऐसे अनात्मवादी को छोड़कर दूसरा कौन ऐसा कह सकता है? अर्थात् कोई नहीं कह सकता। अत: स्वभाव हेतु से अतिरिक्त जैसे कार्य हेतु माना जाता है, उसी प्रकार कारण हेतु भी पृथक् मानना चाहिए ॥२२४-२२५-२२६-२२७॥

जो कारण अपने कार्य के साथ अविनाभाव रखता है, वह तो कार्य ही है। भविष्य में होने वाले कारण भी कार्य के जनक माने गये हैं। इस प्रकार बौद्धों का कहना उन्मत्तों का भाषण है। अर्थात्-कार्य में व्यापार करने वाले कारण माने जाते हैं। भविष्य में होने वाले कारण कार्य में कैसे सहायता कर सकते हैं? कथमपि नहीं ॥२२८॥

परस्पराविनाभावात् कश्चिद् हेतु: समाश्रित:। हेतुतत्त्वव्यवस्थैवमन्योन्याश्रयणाज्जनै: ॥२२९॥

राज्यादिदायकादृष्टविशेषस्यानुमापकम्। पाणिचक्रादि तत्कार्यं कथं वो भाविकारणम् ॥२३०॥

तत्परीक्षकलोकानां प्रसिद्धमनुमन्यताम्। कारणं कार्यवद्धेतुरविनाभावसंगतम् ॥२३१॥

एवं कार्योपलब्धिं कारणोपलब्धिं च निश्चित्य संप्रत्यकार्यकारणोपलब्धिं विभिद्योदाहरन्नाह;—

कार्यकारणनिर्मुक्तवस्तुदृष्टिर्विवक्ष्यते। तत्स्वभावोपलब्धिश्च तदसम्बन्धनिश्चिता ॥२३२॥

कथंचित्साध्यतादात्म्यपरिणाममितस्य या। स्वभावस्योपलब्धि: स्यात्साविनाभावलक्षणा ॥२३३॥

उत्पादादित्रयाक्रांतं समस्तं सत्त्वतो यथा। गुणपर्ययवद्द्रव्यं द्रव्यत्वादिति चोच्यते ॥२३४॥

यस्यार्थस्य स्वभावोपलंभ: स व्यवसायक:। सिद्धिस्तस्यानुमानेन किं त्वयान्यत्प्रसाध्यते ॥ २३५॥

समारोपव्यवच्छेदस्तेनेत्यपि न युक्तिमत्। निश्चितेर्थे समारोपासंभवादिति केचन ॥२३६॥

तदसद्वस्तुनोनेकस्वभावस्य विनिश्चिते। सत्त्वादावपि साध्यात्मनिश्चयान्निश्यमान्नृणाम् ॥२३७॥

कार्य और कारण का परस्पर में अविनाभाव होने से दोनों में से चाहे जिस किसी को हेतुतत्त्व की व्यवस्था का आश्रय लेने पर तो इसमें अन्योन्याश्रय दोष आने से हेतु की व्यवस्था कैसे हो सकेगी ॥२२९॥

तुम्हारे मत में राज्यादि को दिलाने वाले पुण्य-पाप विशेषों का अनुमान कराने वाले पाणिचक्र (हस्तरेखा में चक्र का चिह्न) आदि भावी कारण के कार्य कैसे हो सकते हैं? ॥२३०॥

अत: परीक्षक जनों को यह प्रसिद्ध बात मान लेनी चाहिए कि कार्य के समान अविनाभाव से युक्त कारण भी ज्ञापक हेतु बन जाता है ॥२३१॥

इस प्रकार विधि को साधने वाले उपलम्भ हेतुओं में से कार्य-उपलम्भ और कारण-उपलम्भ हेतुओं का निश्चय कर इस समय कार्य, कारण से रहित उपलब्धि के विशेषभेद का उदाहरण दिखलाते हुए आचार्य निरूपण करते हैं-

कार्य और कारण से रहित वस्तु का उपलम्भ जब विवक्षित किया जाता है, तब वह कार्य कारण सम्बन्ध से रहित निश्चित की गई स्वभाव उपलब्धि कही जाती है। साध्य के साथ कथंचित् तदात्मकपन परिणाम को प्राप्त स्वभाव का उपलम्भ होता है वह अविनाभाव स्वरूप स्वभाव उपलम्भ हेतु का बीज है। उसके उदाहरण इस प्रकार हैं कि सम्पूर्ण पदार्थ उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इन तीन धर्मों से अधिरूढ़ हैं, सत्त्व होने से। जैसे घड़ा, कड़ा, आदि पदार्थ सत्त्व होने से उत्पादादि तीनों से युक्त है तथा द्रव्य सहभावी गुण और क्रमभावी पर्यायों से युक्त है द्रवणत्व होने से। इस प्रकार स्वभाव उपलम्भ के उदाहरण कहे जाते हैं। सम्पूर्ण पदार्थों का सत्पना स्वभाव है और गुणपर्ययवान् का स्वभाव द्रव्यत्व धर्म है ॥२३२-२३३-२३४॥

कोई **शंका** करता है-जिस अर्थ के स्वभाव का उपलम्भ निश्चयात्मक है, उस स्वभाववान् अर्थ के निश्चय की सिद्धि तो अवश्य हो जाती है फिर उस स्वभाववान् अर्थ का अनुमान के द्वारा तुमने स्वभाववान् सूत्र से भिन्न किस अर्थ को सिद्ध किया है?

समाधान : स्वभाववान् अर्थ में किसी कारण से संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय अथवा अज्ञानरूप समारोप उत्पन्न हो जाता है, उसका व्यवच्छेद करना अनुमान से सिद्ध किया जाता है। कोई कहता है कि यह तुम्हारा कहना भी युक्तिसहित नहीं है, क्योंकि निश्चित किये गये अर्थ में समारोप होना असंभव है ॥२३५-२३६॥

निश्चितानिश्चितात्मत्वं न चैकस्य विरुध्यते। चित्रताज्ञानवन्नानास्वभावैकार्थसाधनात्॥२३८॥

तत एव न पक्षस्य प्रमाणेन विरोधनं। नापि वृत्तिर्विपक्षस्ते हेतोरेकांततश्च्युतेः॥२३९॥

उत्पादव्ययनिर्मुक्तं न वस्तु खरशृंगवत्। नापि ध्रौव्यपरित्यक्तं त्र्यात्मकं स्वार्थतत्त्वतः॥२४०॥

सहभावि गुणात्मत्वाभावे द्रव्यस्य तत्त्वतः। क्रमोत्पित्सु स्वपर्यायाभावत्वे च न कस्यचित्॥२४१॥

नाक्रमेण क्रमेणापि कार्यकारित्वसंगतिः। तदभावे कुतस्तस्य द्रव्यत्वं व्योमपुष्पवत्॥२४२॥

एवं हेतुरयं शक्तः साध्यं साधयितुं ध्रुवं। सत्त्ववन्नियमादेव लक्षणस्य विनिश्चयात्॥२४३॥

तदियमकार्यकारणरूपस्य साध्यस्वभावस्योपलब्धिर्निश्चितोक्ता।

आचार्य कहते हैं-यह किसी का कहना समीचीन नहीं है क्योंकि अनेक स्वभाव वाली वस्तु का विशेष निश्चय हो जाने पर भी कतिपय धर्मयुक्तवस्तु का निश्चय नहीं हो पाता है।

जैसे-सत्त्व, परिणामित्व आदि हेतुओं में उत्पाद आदि से युक्त साध्यस्वरूप के साथ अविनाभाव का निश्चय होने पर भी साध्य का निश्चय होना मनुष्यों में देखा जाता है। एक भाव के निश्चितस्वरूपपन और अनिश्चितस्वरूपपन में कोई विरोध नहीं है, क्योंकि अनेक स्वभाव वाले एक अर्थ को चित्रत्व ज्ञान समान सिद्ध किया गया है। अर्थात्-वस्तु के एक निश्चितस्वभाव से अनुमान द्वारा अन्य स्वभावों के साथ तदात्मक वस्तु का निश्चय हो जाता है॥२३७-२३८॥

पक्ष (प्रतिज्ञा) का प्रमाण के द्वारा विरोध नहीं आता है। 'एक ही धर्म से युक्त पदार्थ है' इस सिद्धान्त से च्युत हो जाने के कारण उस सत्त्वहेतु की विपक्ष में वृत्ति भी नहीं है। जो उत्पाद और व्यय से सर्वथा रहित है, वह गधे के सींग समान कोई वस्तु नहीं है, तथा ध्रुवपन से रहित भी कोई वस्तुभूत पदार्थ नहीं है अतः अर्थक्रिया करना रूप, प्रयोजन तत्त्व की अपेक्षा से सम्पूर्ण पदार्थ पूर्वस्वभाव का त्याग, उत्तरवर्ती स्वभावों का ग्रहण तथा अन्वितरूप से ध्रुवपनारूप तीन धर्मों से तदात्मक है॥२३९-२४०॥ अर्थात् पदार्थ का उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य के साथ तदात्मक सम्बन्ध है-इन तीनों से रहित कोई भी पदार्थ नहीं है।

अनादि से अनन्त काल तक द्रव्य के साथ ध्रुवरूप से रहने वाले स्वभावी गुणों का अभाव हो जाने पर द्रव्य की यथार्थ से युगपत् कार्यकारीपन की संगति नहीं हो सकती। तथा क्रम से उत्पन्न होने वाले उत्पाद, व्ययरूप स्व पर्यायों का अभाव मानने पर किसी भी द्रव्य के क्रम, क्रम से कार्यकारीपन की गति नहीं हो सकती है। जब अर्थक्रिया को संपादन कराने के बीजभूत उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यस्वरूप सहभावी और क्रमभावी परिणाम नहीं स्वीकार करते हैं तो उस पदार्थ का द्रव्यपना कैसे सिद्ध हो सकता है? जैसे कि क्रम और युगपत् अर्थक्रिया को न करने से आकाशपुष्प को द्रव्यपना सिद्ध नहीं होता है। इस प्रकार यह द्रव्यत्व हेतु सत्त्वहेतु के समान उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य आत्मक साध्य को साधने के लिए समर्थ है, क्योंकि इसमें अविनाभाव है। अविनाभाव से ही समीचीन हेतु के लक्षण का विशेष निश्चय होता है॥२४१-२४२-२४३॥

साध्यादन्यस्योपलब्धिं पुनर्विभज्य निश्चिन्वन्नाह;—

साध्यादन्योपलब्धिस्तु द्विविधाप्यवसीयते। विरुद्धस्याविरुद्धस्य दृष्टेस्तेन विकल्पनात्॥२४४॥

साध्यादन्यस्य हि तेन साध्येन विरुद्धस्योपलब्धिरविरुद्धस्य वा द्विधा कल्प्यते सा गत्यंतराभावात्। तत्र—

प्रतिषेधे विरुद्धोपलब्धिरर्थस्य तद्यथा। नास्त्येव सर्वथैकांतोऽनेकांतस्योपलंभतः॥२४५॥

यावत्कश्चिन्निषेधोत्र स सर्वोनुपलंभवान्। यत्तदेष विरुद्धोपलंभोस्त्वनुपलंभनम्॥२४६॥

इत्ययुक्तं तथाभूतश्रुतेरनुपलंभनं। तन्मूलत्वात्तथाभावे प्रत्यक्षमनुमास्तु ते॥२४७॥

तथैवानुपलंभेन विरोधे साधिते क्वचित्। स्यात्स्वभावविरुद्धोपलब्धिवृत्तिस्तथैव वा॥२४८॥

इसी कारण कार्य, कारण स्वरूप के द्वारा साध्य स्वभाव की उपलब्धि निश्चित की गई है अर्थात् द्रव्यार्थिक नय से सारे पदार्थों में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य की उपलब्धि सिद्ध हो जाती है, फिर भी पर्याय की अपेक्षा अन्तर है। सो कहते हैं - अब साध्य से अन्य की उपलब्धिरूप हेतु का फिर विभाग कर निश्चय कराते हुए आचार्य कहते हैं-

साध्य से अन्य पदार्थ की उपलब्धि तो दोनों भी प्रकार की निश्चित जानी जा रही है। उस साध्य के साथ विरुद्ध हो रहे का उपलम्भ होना और उस साध्य से अविरुद्ध का उपलम्भ होना, इस प्रकार से हेतु के दो भेद किये जाते हैं। अर्थात् विरुद्धोपलब्धि और अविरुद्धोपलब्धि के भेद से हेतु दो प्रकार हैं॥२४४॥

साध्य से अन्य की उस साध्य के द्वारा विरुद्ध हो रहे की उपलब्धि और साध्य से अविरुद्ध की उपलब्धि दो प्रकार कल्पित की गई है। अन्य उपाय का अभाव है। उनमें प्रथम विरुद्धोपलब्धि का कथन करते हैं-

हेतु के द्वारा अर्थ का निषेध (अभाव) सिद्ध करने पर विरुद्धोपलब्धि हेतु होता है जैसे-

वस्तु सर्वथा एकान्त (एकधर्मात्मक) नहीं है, क्योंकि अनेक धर्मों की उपलब्धि हो रही है।

प्रश्न : 'जितने भी कोई यहाँ निषेध है, वे सभी अनुपलम्भयुक्त हैं अत: यह एकान्त से विरुद्ध अनेकान्त का उपलम्भ होना अनुपलम्भ हो जाता है।'

उत्तर : यह कहना युक्तिरहित है क्योंकि इस प्रकार अनुपलम्भ सुना जाता है। उस अनुपलम्भ का मूल कारण प्रत्यक्ष है और उस प्रत्यक्ष का अभाव मानने पर तुम्हारे यहाँ प्रत्यक्ष प्रमाण अनुमान हो जाता है अर्थात् अनेकान्त के प्रत्यक्ष स्वरूप उपलम्भ से एकान्तों का अभाव अनुमित हो जाता है। ऐसी दशा में प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों प्रतिष्ठित बने रहते हैं, अन्यथा नहीं॥२४५-२४६-२४७॥ अर्थात् प्रत्यक्ष ज्ञान के द्वारा साधन को देखकर साध्य का ज्ञान किया जाता है, वह अनुमान ज्ञान है।

उसी प्रकार अनुपलम्भ के द्वारा कहीं विरोध सिद्ध करने पर स्वभाव विरुद्ध की उपलब्धि की प्रवृत्ति होती है जैसे कि विशिष्ट उष्णता के अनुपलम्भ से अग्नि का अभाव सिद्ध किया जाता है अथवा, उसी प्रकार किसी साध्यरूप धर्मी में प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा हेतु के प्रसिद्ध हो जाने पर कहीं लिङ्गी का ज्ञान प्रवर्त्त होता

लिंगे प्रत्यंक्षत: सिद्धे साध्यधर्मिणि वा क्वचित्। लिंगिज्ञानं प्रवर्तेत नान्यथातिप्रसंगत ॥२४९॥

गौणश्चेद्व्यपदेशोऽयं कारणस्य फलेस्तु न:। प्रधानभावतस्तस्य तत्राभिप्रायवर्तनात् ॥२५०॥

स्वभावविरुद्धोपलब्धिं निश्चित्यानुपलब्धेरर्थांतरभूतां व्याप्यविरुद्धोपलब्धिमुदाहरति;—

व्यापकार्थविरुद्धोपलब्धिरत्र निवेदिता। यथा न सन्निकर्षादि: प्रमाणं परसंमतम् ॥२५१॥

अज्ञानत्वादतिव्याप्तेर्ज्ञानत्वेन मितेरिह। व्यापकव्यापकद्विष्टोपलब्धिर्वेयमिष्यते ॥२५२॥

स्यात्साधकतमत्वेन स्वार्थज्ञप्तौ प्रमाणता। व्याप्ता या च तया व्याप्तं ज्ञानात्मत्वेन साध्यते ॥२५३॥

यदा प्रमाणत्वं ज्ञानत्वेन व्याप्तं साध्यतेऽज्ञानस्य प्रमाणत्वेतिप्रसंगात् तदा तद्विरुद्धस्याज्ञानत्वस्योपलब्धि-र्व्यापकविरुद्धोपलब्धिर्बोध्या न सन्निकर्षादिरचेतन: प्रमाणमज्ञानत्वादिति। यदा तु प्रमाणत्वं साधकतमत्वेन व्याप्तं तदपि ज्ञानात्मकत्वेन व्याप्तं साध्यते साधकतमस्य प्रमाणतानुपपत्तेरज्ञानात्मकस्य च स्वार्थप्रमितौ

है। अन्यथा लिंगी के ज्ञानों की प्रवृत्ति नहीं हो सकती है क्योंकि ऐसा मानने पर अतिप्रसंग दोष आता है। अर्थात् दृष्टान्त में व्याप्ति का ग्रहण किए बिना ही चाहे जिस अतीन्द्रिय हेतु से चाहे जिस साध्य का अनुमान होने का प्रसंग आएगा। यदि बौद्ध इस प्रकार कहे कि कारणत्व का व्यवहार करना गौण है, तब तो हम जैन भी कह सकते हैं कि हमारे यहाँ फलरूप कार्य में स्वभावत्व का व्यपदेश गौणरूप से होता है। उस स्वभाववान के साधने में अथवा स्वभावविरुद्ध हेतु के विरोधी भाव के साधने में प्रधानरूप से अभिप्राय वर्त रहा है ॥२४८-२४९-२५०॥

इस प्रकार स्वभाव विरुद्ध उपलब्धि का निश्चय कर अनुपलब्धि से अर्थान्तरभूत (भिन्न स्वरूप) हो रही व्याप्यविरुद्ध उपलब्धि का उदाहरण देते हैं।

यहाँ व्यापक अर्थ से विरुद्ध उपलब्धि का निवेदन कर दिया गया है। वैशेषिक, सांख्य आदि परवादियों के द्वारा माने गये सन्निकर्ष, इन्द्रियवृत्ति, कारकसाकल्य आदि प्रमाण नहीं हैं-अज्ञानरूप होने से। यहाँ ज्ञानत्व के द्वारा प्रमाणता की व्याप्ति है, अत: अज्ञान को प्रमाण मानने पर अतिव्याप्ति दोष आता है अर्थात् घट आदि भी प्रमाण बन जाते हैं, जो इष्ट नहीं है। अत: इस हेतु में प्रमाणरूप साध्य के साथ व्यापक ज्ञानत्व से विरुद्ध अज्ञानपन की उपलब्धि व्यापक विरुद्ध उपलब्धि है। अथवा यह अज्ञानत्व हेतु व्यापकविरुद्ध उपलब्धि इष्ट की गई है। उस ज्ञानपने के विरुद्ध अज्ञानत्व की उपलब्धि हो रही है। स्व और अर्थ की ज्ञप्ति करने में प्रकृष्ट उपकारकत्व के द्वारा जो प्रमाणता व्याप्त है, वही प्रमाणता ज्ञानरूपपने से व्याप्त है और व्यापकज्ञानपने के निषेधस्वरूप का अज्ञानपन करके प्रमाणत्व का अभाव सिद्ध किया जाता है ॥२५१-२५२-२५३॥

जिस समय प्रमाणपना ज्ञानपने से व्याप्त सिद्ध किया जाता है तब अज्ञान को प्रमाणपना मानने से प्रदीप, घट आदि में अतिप्रसंग दोष आता है अत: साध्य में व्यापक ज्ञानपन से विरुद्ध अज्ञानपन की उपलब्धि रूप हेतु व्यापकविरुद्ध उपलब्धि है ऐसा समझना चाहिए। अचेतन सन्निकर्ष आदिक प्रमाण नहीं हैं-अज्ञानपना होने से। इस अनुमान में व्यापक विरुद्ध-उपलब्धि हेतु है किन्तु प्रमाण प्रमिति के साधकतम

साधकतमत्वायोगात्। छिदिक्रियादावेवाज्ञानात्मनः परश्वादेः साधकतमोपपत्तेः। तदा व्यापकव्यापकविरुद्धोपलब्धिः सैवोदाहर्तव्या॥

व्यापकद्विष्ठकार्योपलब्धिः कार्योपलब्धिगा। श्रुतिप्राधान्यतः सिद्धा पारंपर्याद्विरुद्धवत्॥२५४॥

यथा नात्मा विभुः काये तत्सुखाद्युपलब्धितः। विभुत्वं सर्वभूतार्थसंबंधित्वेन वस्तुतः॥२५५॥

व्याप्तं तेन विरोधीदं कायसंबंधमात्रकं। काय एव सुखादीनां तत्कार्याणां विबोधनम्॥२५६॥

ननु प्रदेशवृत्तीनां तेषां संवादनं कथं। शरीरमात्रसंबंधमात्मनो भावयेत्सदा॥२५७॥

यतो निःशेषमूर्तार्थसम्बन्धविनिवर्तनात्। विभुत्वाभावसिद्धिः स्यादिति केचित्प्रचक्षते॥२५८॥

तदयुक्तं मनीषायाः साकल्येनात्मनः स्थितेः। तच्छून्यस्यात्मताहानेस्तादात्म्यस्य प्रसाधनात्॥२५९॥

से व्याप्त है और ज्ञानस्वरूप से प्रमिति का साधकतमपना व्याप्त सिद्ध किया जाता है, क्योंकि प्रमिति के असाधकतम प्रमाणत्व नहीं हो सकता है तथा अज्ञानस्वरूप पदार्थोंको की प्रमिति में साधकतमपना अयुक्त भी है।

छेदन, तक्षण, प्रकाश आदि क्रियाओं में अज्ञानस्वरूप फर्सा, वसूला, प्रदीप आदि का साधकतमपना युक्त है, तब तो वही अनुमान व्यापक-व्यापक-विरुद्ध-उपलब्धि का उदाहरण समझना चाहिए।

परम्परा विरुद्ध हेतु के समान कार्योपलब्धि को प्राप्त हो रही व्यापक विरुद्ध कार्य उपलब्धि हेतु भी आगम प्रमाण की प्रधानता से सिद्ध है-जैसे आत्मा व्यापक नहीं है, क्योंकि शरीर में ही उसके सुख, दुःख आदि गुणों की उपलब्धि होती है। वैशेषिकों ने आत्मा, काल, आकाश, दिक्वस्तुओं का विभुपना सम्पूर्ण पृथ्वी, जल, तेज, वायु और मन-इन पाँच मूर्त अर्थों के सम्बन्ध से व्याप्त होना माना है। उस व्यापकपन से यह केवल कार्य से ही सम्बन्धी होनापन विरुद्ध है। उस आत्मा के कार्य सुख आदि का शरीर ही में विशद बोध होता है अतः 'सर्वमूर्तद्रव्यसंयोगित्वं विभुत्वम्' ऐसे निषेध करने योग्य विभुपन का व्यापक सम्पूर्ण मूर्त द्रव्यों से सम्बन्धीपना है और सर्वमूर्त सम्बन्धीपन से विरुद्ध केवल शरीर में ही सम्बन्धीपना है। उस कार्य सम्बन्धीपन का कार्य शरीर में ही सुख, दुःख, प्रयत्न आदि का उपलम्भ होना है, अतः यह व्यापकविरुद्ध-कार्य उपलब्धि हेतु है॥२५४-२५५-२५६॥

शंका : एक प्रदेश में स्थित सुखादि का कथन कैसे होता है ? शरीर परिमाण आत्मा में भी सम्पूर्ण अंशों में पीड़ा, सुख आदि का सदा अनुभव होता है तथा एक-एक प्रदेश में पीड़ा का अनुभव अनेक बार होता रहता है।

सभी अंशों में सर्वगत कार्यों का उपलम्भ होना तो कठिन है। व्यापकद्रव्य के प्रदेशों में उन सुख आदि का सम्वादीज्ञान होता है। वह सदा आत्मा के केवल शरीर में ही सम्बन्धीपन को कैसे समझा सकता है? जिससे कि सम्पूर्ण पाँचों मूर्त अर्थों क साथ सम्बन्ध होना रूप सर्वगतपन की विशेषतया निवृत्ति हो जाने से आत्मा में व्यापकपन का अभाव सिद्ध हो जाए। अर्थात् आत्मा के कतिपय छोटे-छोटे अंशों में अनुभव में आने वाले दुःख, सुख आदि आत्मा के व्यापकपन का बिगाड़ नहीं कर सकते हैं। इस प्रकार कोई वैशेषिक कहता है।

यद्यपि शिरसि सुखं पादे मे वेदनेति विशेषत: प्रदेशवृत्तित्वं सुखादीनामनुभूयते तदनुभवविशेषाणां च तथापि ज्ञानसामान्यस्य सर्वात्मद्रव्यवृत्तित्वमेव, ज्ञानमात्रशून्यस्यात्मविरोधादतिप्रसक्तेरिति साधितं उपयोगात्मसिद्धौ। ततो युक्तेयं व्यापकविरुद्धकार्योपलब्धि: ॥

विरुद्धकार्यसंसिद्धिर्नास्त्येकांतेनपेक्षिण्य-। नेकांतेऽर्थक्रियादृष्टेरित्येवमवगम्यते ॥२६०॥

निरपेक्षैकांतेन ह्यनेकांतो विरुद्धस्तत्कार्यमर्थक्रियोपलब्धिर्निषेध्यस्याभावं साधयति ॥

कारणार्थविरुद्धा तूपलब्धिर्ज्ञायते यथा। नास्ति मिथ्याचरित्रं मे सम्यग्विज्ञानवेदनात् ॥२६१॥

तद्धि मिथ्याचरित्रस्य कारणं विनिवर्तयेत्। मिथ्याज्ञाननिवृत्तिस्तु तस्य तद्विनिवर्तिका ॥२६२॥

ननु च सम्यग्विज्ञानान्मिथ्याज्ञाननिवृत्तिर्न मिथ्याचारित्रस्य निवृत्तिका प्रादुर्भूतसम्यग्ज्ञानस्यापि

समाधान : उनका यह कथन अयुक्त है क्योंकि बुद्धि नामका गुण आत्मा के सकल अंशों में व्याप्त माना गया है। उस बुद्धि से शून्य पदार्थों को आत्मापने की हानि है, क्योंकि आत्मा का बुद्धि के साथ तदात्मक होना सिद्ध किया गया है। और बुद्धि शरीर में स्थित आत्मा का ज्ञान करा रही है। अर्थात् आत्मा के सकल अंशों में व्याप रही बुद्धि की स्थिति केवल शरीर में ही हो रही है। अत: आत्मा शरीर के परिमाण ही है, व्यापक नहीं है ॥२५७-२५८-२५९॥

मेरे सिर में सुख है, पाँव में वेदना है इत्यादि विशेष रूपों से आत्मा के सुख आदि का यद्यपि प्रदेशों में रहना अनुभव में आ रहा है और उन सुख आदि के विशेष सम्वेदन होने का भी अखण्ड आत्मा के कतिपय प्रदेशों में ही अनुभव होता है, तो भी ज्ञान सामान्य का सम्पूर्ण आत्मा-द्रव्य के प्रदेशों में वर्तना ही सिद्ध है। जो पदार्थ सामान्य ज्ञान से भी रहित है, उसके आत्मपन का विरोध है क्योंकि ज्ञान रहित को भी यदि आत्मा मान लिया जायेगा तो घट, पट आदि जड़ पदार्थों में भी आत्मा के अस्तित्व का प्रसंग आएगा। इस बात को हम उपयोगस्वरूप आत्मा को साधते समय सिद्ध कर चुके हैं अत: आत्मा को अव्यापक साधने के लिए दिये गए ''कार्य में ही सुख आदि की उपलब्धि रूप हेतु व्यापक-विरुद्ध कार्य उपलब्धि है। यह युक्ति सिद्ध है।''

विरुद्ध कार्य उपलब्धि का उदाहरण इस प्रकार है कि अनेकान्त अनपेक्षी एकान्त में किसी भी कार्य की सिद्धि नहीं है। अत: अपेक्षाओं से रहित सर्वथा एकान्त नहीं है, क्योंकि अनेक धर्मों से युक्त पदार्थ में अर्थक्रिया का होना देखा जाता है ॥२६०॥

निरपेक्ष एकान्त से अनेकान्त विरुद्ध है उस अनेकान्त अर्थ का कार्य अर्थक्रिया की उपलब्धि है। वह निषेध करने योग्य एकान्त के अभाव की सिद्धि करती है यह विरुद्ध कार्य-उपलब्धिरूप हेतु है।

कारणार्थ विरुद्ध की उपलब्धि तो ऐसे जान ली जाती है कि मेरे में मिथ्याचारित्र नहीं है, क्योंकि सम्यक्ज्ञान का वेदन हो रहा है, इस अनुमान में निषेध करने योग्य मिथ्याचारित्र का कारण मिथ्याज्ञान है उस मिथ्याज्ञान के विरुद्ध सम्यग्ज्ञान की उपलब्धि होती है।

पुंसोऽचारित्रप्रसिद्धेः पूर्वस्य लाभे भजनीयमुत्तरमिति वचनादन्यथा तद्व्याघातादिति चेन्न, मिथ्याचारित्रस्य मिथ्यागमादिज्ञानपूर्वस्य पंचाग्निसाधनादेर्निषेधत्वात्। चारित्रमोहोदये सति निवृत्तिपरिणामाभावलक्षणस्याचारित्रस्य तु निषेध्यत्वानिष्टेर्मोहोदयमात्रापेक्षित्वस्य तु द्वयोरप्यचारित्रमिथ्याचारित्रयोरभेदेन वचनमागमे व्यवस्थितिविरुद्धमेव मिथ्यादर्शने मिथ्याचारित्रस्यांतर्भावाच्च मिथ्याज्ञानवत्॥

कारणद्विष्ठकार्योपलब्धिर्याथात्म्यवाक्कृतः। तस्य तेनाविनाभावात् पारंपर्येण तत्त्वतः॥२६३॥

नास्ति मिथ्याचारित्रमस्य याथात्म्यवाक्कृदिति कारणविरुद्धकार्योपलब्धिः मिथ्याचारित्रस्य हि निषेध्यस्य कारणं मिथ्याज्ञानं तेन विरुद्धं सम्यग्ज्ञानस्य कार्यं याथात्म्यवचनं तन्निर्णयि सुविवेचितं निषेध्याभावं साधयत्येव

अतः वह सम्यग्ज्ञान का प्रकाश मिथ्याचारित्र के कारणभूत मिथ्याज्ञान की निवृत्ति को करता है और मिथ्याज्ञान की निवृत्ति उस मिथ्याचारित्र की विशेष रूप से निवृत्त कराने वाली हो जाती है॥२६१-२६२॥

शंका : सम्यग्ज्ञान से मिथ्याज्ञान की निवृत्ति अवश्य हो जाती है किन्तु मिथ्याज्ञान की निवृत्ति तो मिथ्याचारित्र की निवृत्ति कराने वाली नहीं है, क्योंकि जिस आत्मा के सम्यग्ज्ञान उत्पन्न हो गया है, उसके भी अचारित्र की प्रसिद्धि है। 'एवं पूर्वस्य लाभे भजनीयमुत्तरम्' पूर्व के सम्यग्ज्ञान के लाभ होने पर भी उत्तरवर्ती चारित्र भजनीय है। अर्थात् सम्यग्ज्ञान हो जाने पर भी चारित्र हो भी अथवा नहीं भी हो, ऐसा मूलसूत्र अनुसार वार्त्तिक शास्त्रों में कहा गया है। यदि सम्यग्ज्ञान के होने पर सम्यक्चारित्र की भी सिद्धि मानी जाती है तब तो उस अकलङ्कवचन का व्याघात होता है।

समाधान : इस प्रकार कहना उचित नहीं है, क्योंकि सम्यग्ज्ञान हेतु से मिथ्याआगम, मिथ्याउपदेश, हिंसापोषकवेद आदि के ज्ञानों को कारण मानकर उत्पन्न होने वाले पंच अग्निसाधन आदि मिथ्याचारित्रों का निषेध किया गया है परन्तु चारित्रमोहनीय कर्म के उदय से होने वाले निवृत्तिपरिणामों के अभावस्वरूप अचारित्र का निषेध नहीं किया गया है। क्योंकि उसका निषेध करना अति सामान्यरूप से मोहनीयकर्म के उदय की अपेक्षा रखने वाला अचारित्र और मिथ्याचारित्र दोनों में भी अभेद करके आगम में निरूपण किया गया है। अथवा मिथ्याचारित्र और अचारित्र का अभेद करके कथन करना तो आगम व्यवस्था के विरुद्ध ही है। अथवा मिथ्यादर्शन में मिथ्याज्ञान के समान मिथ्याचारित्र का अन्तर्भाव किया गया है अतः मिथ्याज्ञान की निवृत्ति मिथ्याचारित्र को निवृत्त कराने वाला उत्तरवर्ती गुण भजनीय है। यह विशेषचारित्र की अपेक्षा से कथन है सामान्य की अपेक्षा नहीं है।

कारण विरुद्ध कार्य उपलब्धि का उदाहरण इस प्रकार है कि इसके मिथ्याचारित्र नहीं है क्योंकि सत्यार्थवचन बोल रहा है। वस्तुतः विचारा जाए तो उस यथार्थ वचन का उस मिथ्याचारित्र के अभाव के साथ परम्परा से अविनाभाव है अतः यह हेतु साध्य का ज्ञापक है॥२६३॥

इस जीव के मिथ्याचारित्र नहीं है, यथार्थ स्वरूप वचन प्रयोग होने से; इस अनुमान में दिया गया हेतु कारणविरुद्ध कार्यउपलब्धिरूप है क्योंकि निषेध करने योग्य मिथ्याचारित्र का कारण मिथ्याज्ञान है उस

व्यभिचाराभावात्॥

कारणव्यापकद्विष्ठोपलब्धिर्नास्ति निर्वृतिः। सांख्यादेर्ज्ञानमात्रोपगमादिति यथेक्ष्यते॥२६४॥

निर्वृतेः कारणं व्याप्तं दृष्ट्यादित्रितयात्मना। तद्विरुद्धं तु विज्ञानमात्रं सांख्यादिसम्मतम्॥२६५॥

न हीयं कारणव्यापकविरुद्धोपलब्धिरसिद्धा निषेध्यस्य निर्वाणस्य हेतोर्व्यापकस्य सम्यग्दर्शनादित्रयात्मकत्वस्य निश्चयात् तद्विरुद्धस्य ज्ञानमात्रात्मकत्वस्य सांख्यादिभिः स्वयं संमतत्वात्॥

कारणव्यापकद्विष्ठकार्यदृष्टिस्तु तद्वचः। सम्यग्विवेचितं साध्याविनाभावि प्रतीयते॥२६६॥

सांख्यादेर्नास्ति निर्वाणं ज्ञानमात्रवचनश्रवणादिति कारणव्यापकविरुद्धकार्योपलब्धिः प्रत्येया सुविवेचितस्य कार्यस्य साध्याविनाभावसिद्धेः॥

दृष्टा सहचरद्विष्ठोपलब्धिस्तद्यथा मयि। नास्ति मत्याद्यविज्ञानं तत्त्वश्रद्धानसिद्धितः॥२६७॥

मिथ्याज्ञान से विरुद्ध सम्यग्ज्ञान है, उस सम्यग्ज्ञान का कार्य यथार्थवचन कहना है। अतः सम्यग्ज्ञान द्वारा निर्मित यथार्थ वचन हेतु सुविवेचित निषेध्य मिथ्याचारित्र के अभाव को सिद्ध करता ही है। इसमें कोई व्यभिचार, असिद्ध आदि दोष नहीं आते हैं अर्थात् विरुद्धकार्योपलब्धि, अनैकान्तिक आदि हेत्वाभास से रहित है।

कारण व्यापक विरुद्धोपलब्धि हेतु का उदाहरण इस प्रकार है कि सांख्यादि के मत में मोक्ष नहीं है, क्योंकि उन्होंने अकेले तत्त्वज्ञान को ही मुक्ति का कारण स्वीकार किया है परन्तु रत्नत्रय से प्राप्त करने योग्य मोक्ष अकेले ज्ञान से प्राप्त नहीं होता। मुक्ति का कारण सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र इस त्रितयस्वरूप से व्याप्त है और उस रत्नत्रय से रहित सांख्यादि के द्वारा स्वीकृत अकेला विज्ञान विरुद्ध पड़ता है। अर्थात् सांख्यों ने 'तत्त्वज्ञानान् मोक्षः' प्रकृति और पुरुष का भेदज्ञानरूप-तत्त्वज्ञान से मोक्ष होना अभीष्ट किया है। नैयायिकों ने दुःख-जन्म-प्रवृत्ति आदि सूत्र द्वारा तत्त्वज्ञान को ही मोक्ष का कारण माना है। वैशेषिक, योग आदि वादियों ने भी इसी प्रकार माना है परन्तु यह विरुद्ध है॥२६४-२६५॥

यह कारण व्यापक विरुद्ध उपलब्धि हेतु असिद्ध भी नहीं है, क्योंकि निषेध करने योग्य, निर्वाण का कारण मोक्षमार्ग है। उस मोक्षमार्ग का व्यापक सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र इन तीनों की एकता रूप का निश्चय है। उस रत्नत्रय से विरुद्ध अकेले ज्ञानस्वरूप को ही सांख्य आदि ने स्वयं मोक्ष का कारण स्वीकार किया है अतः कारण विरुद्ध व्यापकोपलब्धि है।

सांख्य आदि के यहाँ मोक्ष सिद्ध नहीं होता है, क्योंकि उनके यहाँ मोक्ष का कारण अकेले ज्ञान का ही वचन सुना जाता है, यह कारण व्यापक विरुद्ध कार्योपलब्धि हेतु है, क्योंकि पूर्व में भली प्रकार विवेचन किये गये इस हेतु में साध्य के साथ अविनाभाव प्रतीत हो रहा है॥२६६॥

सांख्य आदि प्रतिवादियों के यहाँ मोक्ष नहीं है, क्योंकि उनके दर्शन में मोक्ष के कारणों में अकेले ज्ञान का ही वचन सुना जाता है। इस प्रकार यह कारण व्यापक विरुद्ध कार्यउपलब्धि हेतु समझ लेना चाहिए।

सहचारिनिषेधेन मिथ्याश्रद्धानमीक्षितम्। तन्निहंत्येव तद्घातितत्त्वश्रद्धानमंजसा ॥२६८॥

तदभावे च मत्याद्यविज्ञानं विनिवर्तते। मतिज्ञानादिभावेन तदास्य परिणामतः ॥२६९॥

सहचरविरुद्धोपलब्धिरपि हि गमिका प्रतीयते इति प्रसिद्धासौ।

तथा सहचरद्विष्ठकार्यसिद्धिर्निवेदिता। प्रशमादिविनिर्णीतेस्तन्नास्मास्विति साधने ॥२७०॥

तस्मिन् सहचरव्यापि विरुद्धस्योपलंभनम्। सद्दर्शनत्वनिर्णीतेरिति तज्ज्ञैरुदाहृतम् ॥२७१॥

तदेतत्सहचरव्यापि द्विष्ठकार्योपलंभनम्। प्रमाणादिप्रतिष्ठानसिद्धेरिति निबुध्यताम् ॥२७२॥

सहचारिनिमित्तेन विरुद्धस्योपलंभनं। तन्नास्त्यस्मासु दृग्मोहः प्रतिपक्षोपलंभतः ॥२७३॥

यथेयं सहचरविरुद्धोपलब्धिर्नास्ति मयि मत्याद्यज्ञानं तत्त्वश्रद्धानोपलब्धेरिति तथा

इस प्रकार सम्यक्रूप से विवेचन कर दिये गये, कार्य का साध्य के साथ अविनाभाव सिद्ध है।

प्रतिषेध करने योग्य साध्य में सहचारी के विरुद्ध की उपलब्धिरूप (सहचर विरुद्धोपलब्धि) हेतु देखा गया है जैसे मुझ में मति आदि अज्ञान (कुमति, कुश्रुत, विभंग अज्ञान) नहीं हैं, क्योंकि जीव आदि तत्त्वार्थों में श्रद्धा की सिद्धि है। यहाँ सहचारी के निषेध में मिथ्याश्रद्धान दृष्टिगोचर हो रहा है अत: निषेध्य कुज्ञानों के साथ रहने वाले मिथ्याश्रद्धान से विरुद्ध तत्त्वश्रद्धान की सिद्धि देखी जाती है अत: उस मिथ्याश्रद्धान को घातने वाला तत्त्वश्रद्धान उस मिथ्याश्रद्धान को शीघ्र नष्ट कर ही देता है और मिथ्याश्रद्धान का अभाव होने पर कुमति, कुश्रुत, विभंग अज्ञानों की विशेषतया निवृत्ति हो जाती है, क्योंकि उस समय तत्त्वश्रद्धान के होने पर इस कुज्ञान का ही उत्तरकाल में सुमति, सुश्रुत और अवधिज्ञान पर्याय रूप में परिणमन हो जाता है॥२६७-२६८-२६९॥

सहचरविरुद्ध उपलब्धि भी अपने साध्य की ज्ञापिका प्रतीत होती है अत: वह भी हेतु के भेदों में प्रसिद्ध है अर्थात् सहचरोपलब्धि हेतु भी प्रसिद्ध है। इसी अनुमान में सहचर विरुद्ध कार्य उपलब्धि का निवेदन कर दिया गया समझ लेना चाहिए। जैसे हम लोगों में कुज्ञान नहीं है, क्योंकि प्रशम, संवेग, अनुकम्पा आदि गुणों का विशेषरूप से निर्णय हो रहा है। इस प्रकार साधन (हेतु) घटित हो जाता है।

अर्थात् निषेध करने योग्य मत्यज्ञान आदि का सहचारी मिथ्याश्रद्धान है। उससे विरुद्ध तत्त्वश्रद्धान है उसका कार्य प्रशम आदि गुणों की सिद्धि है॥२७०॥

उस पूर्वोक्त साध्य को साधने में ही सम्यग्दर्शनपने का निर्णय करना रूप हेतु लगा देने से सहचर व्यापक विरुद्ध की उपलब्धि हो जाती है इस प्रकार अनुमानवेत्ता विद्वानों ने उदाहरण दिया है॥२७१॥

इसी अनुमान में प्रमाण, प्रमेय, वस्तुत्व, आत्मा आदि तत्त्वों की प्रतिष्ठापूर्वक सिद्धि होने से इस प्रकार हेतु लगा देने से यह सहचरव्यापकविरुद्ध-कार्य उपलब्धि समझ लेनी चाहिए। अर्थात् मिथ्याज्ञान का सहभावी मिथ्या श्रद्धान है; उसका व्यापक मिथ्यादर्शन है; उससे विरुद्ध सम्यग्दर्शन है और सम्यग्दर्शन का कार्य है-प्रमाण, प्रमाता, संवर, निर्जरा आदि तत्त्वों की प्रतिष्ठा कराना॥२७२॥

निषेध्य साध्य के सहचारी के निमित्त कारण से विरुद्ध उपलब्धिरूप पृथक् हेतु है। उसका उदाहरण

सहचरविरुद्धकार्योपलब्धि: प्रशमादिनिश्चितेरिति सहचरव्यापकविरुद्धोपलब्धि: सद्दर्शनत्वनिश्चितेरिति सहचरव्यापकविरुद्धकार्योपलब्धि: प्रमाणादिव्यवस्थोपलब्धेरिति सहचरकारणविरुद्धोपलब्धिर्दर्शन-मोहप्रतिपक्षपरिणामोपलब्धेरिति निबुध्यतां मत्याद्यज्ञानलक्षणनिषेध्याभावाविनाभावप्रतीतेरविशेषात्॥

इत्येवं तद्विरुद्धोपलब्धिभेदा: प्रतीतिगा:। यथायोगमुदाहार्या: स्वयं तत्त्वपरीक्षकै: ॥२७४॥

इत्येवं निषिद्धे विरुद्धोपलब्धिभेदाश्चतुर्दशोदाहृता: प्रतीतिमनुसरंति कार्यकारणस्वभावोपलब्धिर्भेदत्रय-वत्ततो यथायोगमन्यान्युदाहरणानि लोकसमयप्रसिद्धानि परीक्षकैरुपदर्शनीयानि प्रतीतिदार्ढ्योपपत्ते:॥ संप्रति साध्येनाविरुद्धस्याकार्यकारणेनार्थस्योपलब्धिभेदान् विभज्य प्रदर्शयन्नाह;—

साध्यार्थेनाविरुद्धस्य कार्यकारणभेदिन:। उपलब्धिस्त्रिधाम्नाता प्राक्सहोत्तरचारिण: ॥२७५॥

यह है कि हम लोगों में दर्शन मोहनीय कर्म का उदय नहीं है क्योंकि उसके प्रतिपक्षी सम्यग्दर्शनरूप परिणामों की उपलब्धि है। यहाँ निषेधयोग्य दर्शनमोहनीय उदय का सहचारी कुमतिज्ञान है उसका निमित्तकारण मिथ्याश्रद्धान है उसके विरुद्ध सम्यग्दर्शन परिणामों की उपलब्धि है॥२७३॥

जिस प्रकार यह सहचर विरुद्ध उपलब्धि है, उसका उदाहरण है-मुझ में मति, श्रुत, अवधि के प्रतिकूल अज्ञान नहीं है क्योंकि तत्त्वों के श्रद्धान की उपलब्धि हो रही है, यह हेतु है। उसी प्रकार सहचर विरुद्ध कार्य उपलब्धि हेतु प्रशम आदि का निश्चय होना है। तथा सद्दर्शनत्व का निश्चय यह हेतु सहचरव्यापक-विरुद्ध उपलब्धि है और प्रमाण आदि की व्यवस्था का उपलम्भ होना-यह सहचरव्यापक-विरुद्ध कार्य-उपलब्धि हेतु है। इसी प्रकार दर्शनमोहनीय के प्रतिपक्षी परिणामों की उपलब्धि, यह हेतु सहचरकारणविरुद्ध उपलब्धि है, ऐसा समझ लेना चाहिए क्योंकि मति आदि का अज्ञानस्वरूप निषेध्य के अभावरूप साध्य के साथ इन हेतुओं के अविनाभाव प्रतीत होने से कोई अन्तर नहीं है। अर्थात् उक्त हेतुओं का स्वकीय साध्य के साथ अविनाभाव विशेषता रहित होकर प्रतीत हो रहा है सामान्य रूप से दोनों में कोई अन्तर प्रतीत नहीं होता है।

इस प्रकार उस विरुद्ध उपलब्धि की प्रतीति में आरूढ़ भेदों के यथायोग्य उदाहरण तत्त्वों की परीक्षा करने वाले विद्वानों से स्वयं समझ लेने चाहिए॥२७४॥

इस पूर्वोक्त प्रकार निषेधयुक्त साध्य करने पर विरुद्ध-उपलब्धि के चौदह उदाहरण कहे गये हैं। वे सभी भेद कार्योपलब्धि, कारण उपलब्धि, स्वभाव उपलब्धि इन तीन भेदों के समान प्रतीति का अनुसरण कर रहे हैं। अर्थात् कारण, भाव आदि को साधने में कार्य, स्वभाव आदि हेतु जैसे प्रतीत हैं, उसी प्रकार निषेध को साधने में विरुद्ध उपलब्धि के भेद भी प्रतीति में आते हैं। अत: परीक्षक विद्वानों के द्वारा योग्यतानुसार अन्य भी लोक और शास्त्र में प्रसिद्ध उदाहरण दिखला देने चाहिए क्योंकि उदाहरणों से प्रतीति दृढ़ होती है। **यहाँ तक विरुद्धोपलब्धि का कथन किया** है। इस समय साध्य अर्थ से अविरुद्ध, कार्य कारणपने से रहित अर्थ की उपलब्धि के भेदों के विभागों का प्रदर्शन कराते हुए आचार्य कहते हैं। **अब तीसरे अकार्यकारण हेतु का विस्तार कहा जाता है -**

तत्र पूर्वचरस्योपलब्धिः सिद्धांतवेदिनाम्। यथोदेष्यति नक्षत्रं शकटं कृत्तिकोदयात्॥२७६॥
पूर्वचारि न निःशेषं कारणं नियमादपि। कार्यात्मलाभहेतूनां कारणत्वप्रसिद्धितः॥२७७॥
न रोहिण्युदयस्तु स्यादमुष्मिन् कृत्तिकोदयात्। तदनंतरसंधित्वाभावात्कालांतरेक्षणात्॥ २७८॥
विशिष्टकालमासाद्य कृत्तिकाः कुर्वते यदि। शकटं भरणिः किं न तत्करोति तथैव च॥ २७९॥
व्यवधानादहेतुत्वे तस्यास्तत्र क्व वासना। स्मृतिहेतुर्विभाव्येत तत्त एवेत्यवर्तिनम्॥२८०॥
कारणं भरणिस्तत्र कृत्तिका सहकारिणी। यदि कालांतरापेक्षा तथा स्यादश्विनी न किम्॥२८१॥

साध्यरूप अर्थ के साथ अविरुद्ध-कार्य-कारण भेदयुक्त हेतु की उपलब्धि पूर्वाचार्यों के अनुसार पूर्वचर, सहचर और उत्तरचरभेदों से तीन प्रकार की मानी गई है॥२७५॥

सिद्धान्त जानने वालों ने उन तीन भेदों में पूर्वचरहेतु की उपलब्धि का उदाहरण इस प्रकार प्रदर्शित किया है कि एक मुहूर्त के पीछे रोहिणी नक्षत्र का उदय होगा क्योंकि अभी कृत्तिका नक्षत्र का उदय है। यहाँ अश्विनी, भरणी, कृत्तिका, रोहिणी इस क्रम के अनुसार शकट (रोहिणी) उदय का पूर्वचर कृत्तिका का उदय है॥२७६॥

पूर्व में रहने वाले सम्पूर्ण पदार्थ ही नियम से कारण नहीं हुआ करते हैं। क्योंकि जो पूर्ववर्ती है, वह कार्य के आत्मलाभ करने में कारण है, उन्हें कारणपने की प्रसिद्धि है।

कृत्तिका उदय के समय में रोहिणी का उदय तो नहीं है क्योंकि उस कृत्तिका-उदय के अव्यवहित उत्तरकाल में शकट उदय का सम्मेलन नहीं देखा जाता है, किन्तु मुहूर्त्त पीछे अन्यकाल में शकट का उदय होना देखा जाता है अतः शकट उदय और कृत्तिका उदय कार्यकारण भाव नहीं होने से कृत्तिका उदय का कारण हेतुओं में अंतर्भाव नहीं हो सकता है॥२७७-२७८॥

यदि कहो कि कृत्तिका के नक्षत्र का उदय विशिष्टकाल को प्राप्त कर शकट के उदय को कर देता है अतः कारण हेतु है तब तो एक मुहूर्त्त का व्यवधान देकर जैसे कृत्तिका रोहिणी को कर देती है, वैसे ही दो मुहूर्त्त का व्यवधान देकर भरणी और तीन मुहूर्त्त का व्यवधान देकर अश्विनीनक्षत्र ही शकट को क्यों नहीं उदयरूप बना देते हैं॥२७९॥

अधिक व्यवधान हो जाने से अश्विनी, भरणी को यदि उस रोहिणी के उदय का हेतुपना न मानोगे तब तो हम कहेंगे कि धारणा नामक अनुभव करते समय बहुत काल पहले हो चुकी वासनाएँ अधिक काल पीछे होने वाली स्मृति का कारण कैसे समझी जाएंगी? अश्विनी आदि में काल का व्यवधान होने से वे रोहिणी के उदय में कारण नहीं बनती हैं, ऐसा कहते हो तो काल व्यवधान होने से धारणा ज्ञान स्मृति का कारण कैसे बन सकता है, नहीं बन सकता, परन्तु बौद्धों ने धारणा को स्मृति में कारण माना है।

इस प्रकार कार्य में व्यापार नहीं करने वाले पदार्थ को कारण नहीं मानना चाहिए॥२८०॥

पितामहः पिता किं न तथैव प्रपितामहः। सर्वो वानादिसंतानः सूनोः पूर्वत्वयोगतः ॥२८२॥

स्वरूपलाभहेतोश्चेत् पितृत्वं नेतरस्य तु। प्राक् शकटस्य मा भूवन् कृत्तिकाहेतवस्तथा ॥२८३॥

पूर्वपूर्वचरादीनामुपलब्धिः प्रदर्शिता। पूर्वाचार्योपलंभेन ततो नार्थांतरं मतम् ॥२८४॥

सहचार्युपलब्धिः स्यात्कायश्चैतन्यवानयम्। विशिष्टस्पर्शसंसिद्धेरिति कैश्चिदुदाहृतम् ॥२८५॥

कार्ये हेतुरयं नेष्टः समानसमयत्वतः। स्वातंत्र्येण व्यवस्थानाद्वामदक्षिणशृंगवत् ॥२८६॥

एकसामग्र्यधीनत्वात्तयोः स्यात्सहभाविता। क्वान्यथा नियमस्तस्यास्ततोन्येषामितीति चेत् ॥२८७॥

नैकद्रव्यात्मतत्त्वेन विना तस्या विरोधतः। सामग्र्येका हि तद्द्रव्यं रसरूपादिषु स्फुटम् ॥२८८॥

कृत्तिका को सहकारी कारण बनाती हुई भरणी भी उस शकट के उदय में यदि कारण मानी जाएगी तब तो कुछ और भी अन्यकाल की अपेक्षा रखती हुई भरणी और कृत्तिका को सहकारीकारण मानती हुई अश्विनी को भी शकट का कारण क्यों नहीं मानना चाहिए॥२८१॥

जिस प्रकार पुत्र का कारण पिता है, उसी प्रकार पितामह अथवा प्रपितामह भी पुत्रोत्पत्ति का कारण क्यों नहीं कहा जाता? एवं पुत्र के पूर्व में रहने का सम्बन्ध होने से सभी पहले की अनादि संतान भी पुत्र का बाप बन जावेंगी। (परन्तु उनको कारण मानना इष्ट नहीं है) ॥२८२॥

यदि पुत्र के स्वरूप को लाभ कराने में कारण पहली पीढ़ी में होने वाले जनक का ही पितापन है, अन्य बाबा आदि को पितापना नहीं है, तब तो पूर्वकाल में स्थित कृत्तिका का उदय भी शकट के उदय का कारण नहीं है ॥२८३॥

पूर्व पूर्ववर्त्ती नक्षत्र आदि की उपलब्धि भी इस पूर्वचर नाम के भेद से ही दिखला दी गई है। पूर्व आचार्यों ने भी पूर्वचर हेतु से भिन्न हेतु नहीं माना है। जैसे कि दो मुहूर्त्त पीछे रोहिणी का उदय होगा क्योंकि भरणी का उदय हो रहा है। पूर्वपूर्वचर हेतु भी पूर्वचर हेतु में गर्भित हो जाता है ॥२८४॥

सहचर उपलब्धि का उदाहरण - यह शरीर चैतन्ययुक्त है, मृत नहीं है क्योंकि जीवित पुरुषों में पाये जाने वाले विशिष्ट प्रकार के स्पर्श की सिद्धि हो रही है। ऐसा किन्हीं विद्वानों ने सहचर उपलब्धि का उदाहरण दिया है ॥२८५॥

इस सहचर हेतु का कार्यहेतु में गर्भित हो जाना इष्ट नहीं है, क्योंकि इन दोनों का समय समान है। साथ-साथ रहने वाले साध्य और हेतु स्वतंत्रता से व्यवस्थित हो रहे हैं जैसे कि गौ के मस्तक पर बांये ओर का और दाहिने ओर का सींग साथ रहकर भी स्वतंत्र व्यवस्थित हैं। (पहले और पीछे समयों में होने वालों में कार्यकारणभाव सम्भव है, साथ रहने वालों में नहीं अतः यह सहचर हेतु कार्य हेतु से पृथक् है) ॥२८६॥

एक सामग्री के अधीन होने से उन दायें और बायें सींगो में सहचरपना है अन्यथा उनसे भिन्न पदार्थों में उस सामग्री का नियम कैसे हो सकता है? अर्थात् सहचर हेतुओं में भी कार्यकारण भाव मान लेना चाहिए तभी तो एक सामग्री के अनुसार उनमें सहचरपना बन सकता है। बौद्धों का ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि तत्त्व के बिना एक द्रव्य स्वरूप हो जाना एक सामग्री का विरोध है क्योंकि वह द्रव्य ही तो एक सामग्री

न च तस्यानुमा स्वाद्यमानाद्रसविशेषत:। समानसमयस्यैव रूपादेरनुमानत: ॥२८९॥

कार्येण कारणस्यानुमानं येनेदमुच्यते। कारणेनापि रूपादेस्ततो द्रव्येण नानुमा ॥२९०॥

समानकारणत्वं तु सामग्येका यदीष्यते। पयोरसात्सरोजन्मरूपस्यानुमितिर्न किम् ॥२९१॥

यथैव हि पयोरूपं(?) रूपाद्रससहायकात्। तथा सरोद्भवेपीति स्यात्समाननिमित्तता ॥२९२॥

प्रत्यासत्तेरभावाच्चेत्साध्यसाधनतानयो:। नष्टैकद्रव्यतादात्म्यात् प्रत्यासत्ति: परा च सा ॥२९३॥

नन्वर्थांतरभूतानामहेतुफलताश्रिताम्। सहचारित्वमर्थानां कुतो नियतमीक्ष्यते ॥२९४॥

कार्यकारणभावास्ते कस्मादिति समं न किम्। तथा संप्रत्ययात्तुल्यं समाधानमपीदृशं ॥२९५॥

है। यह रूप रस आदि में स्पष्ट देखा जाता है। ऐसी दशा में रस, रूप आदि का कार्यकारणभाव कैसे हो सकता है? उनमें सहचर भाव ही है॥२८७-२८८॥

रस से रूप का अनुमान करते समय वह कार्य से कारण का अनुमान नहीं होता, अपितु सहचर हेतु है। स्वादात्मक रस विशेष से समान समय वाले ही रूप आदि का अनुमान होना देखा जाता है। जो कार्य द्वारा कारण का ज्ञान होना रूप अनुमान कहा जाता है उस कारण द्वारा रूप आदि का अथवा उसी कारण द्रव्य के द्वारा रूप आदि का अनुमान होना नहीं बन सकता ॥२८९-२९०॥ अर्थात् रस रूप का कारण नहीं है क्योंकि रस से रूप उत्पन्न नहीं होता अपितु वे एक साथ रहते हैं उनका द्रव्य क्षेत्र काल एक है जैसे ज्ञान दर्शन सहचर है कारण-कार्य में एक क्षेत्र द्रव्य नहीं होता, अत: यह सहचर हेतु कार्य-कारण से भिन्न है।

यदि रूप और रस का कारण समान है, अत: रूप और रस की एक सामग्री इष्ट की जायेगी तब तो जल के रस से कमल के रूप का अनुमान क्यों नहीं होता?

क्योंकि जल के रस का कारण जल है और कमल के रूप का कारण भी वही जल है। जिस प्रकार रस है सहायक जिसका, ऐसे रूप स्कंध से जल का रूप बनता है, उसी प्रकार कमल में भी रूप बन जाता है तथा, जैसे पानी भी सरोवर से उत्पन्न होता है और कमल भी, दोनों एक सामग्री के अधीन हैं। ऐसी दशा में समाननिमित्तपना हो जाएगा॥२९१-२९२॥

कार्य और कारणों की प्रत्यासत्ति न होने से इन कार्यकारण भिन्नों का साध्यसाधनपना यदि मानोगे तब तो एक द्रव्य के साथ तदात्मक हो रहे रूप सम्बन्ध के अतिरिक्त और कोई वह प्रत्यासत्ति नहीं है। (अर्थात् कार्यकारणभाव को प्राप्त पदार्थों में अन्य क्षेत्रप्रत्यासत्ति, कालप्रत्यासत्ति आदि का पूर्व में खण्डन कर दिया गया है)॥२९३॥

शंका : सर्वथा एक दूसरे से भिन्न और कार्यकारण भाव के आश्रय से रहित पदार्थों का सहचारिपना किस हेतु से नियत किया जा सकता है?

समाधान : बौद्धों के यहाँ पूर्व, उत्तरवर्त्ती निरन्वयक्षणिक पदार्थों का कार्यकारणभाव भला किससे निर्णीत किया जाता है? अर्थात् पूर्व समयवर्त्ती क्षण का उत्तर समयवर्त्ती क्षणिकपरिणाम के साथ बौद्धों ने

स्वकारणात्तथाग्निश्चेज्जातो धूमस्य कारकः। चैतन्यसहकार्यस्तु स्पर्शोंगे तददृष्टतः ॥२९६॥

दृष्टाद्धेतोर्विना येर्था नियमात्सहचारिणाः। अदृष्टकरणं तेषां किंचिदित्यनुमीयते॥ २९७॥

द्रव्यतोऽनादिरूपाणां स्वभावोस्तु न तादृशः। साध्यसाधनतैवैषां तत्कृतान्योन्यमित्यसत्॥ २९८॥

ये चार्वाक्परभागाद्या नियमेन परस्पराः। सहभावमितास्तेषां हेतुरेतेन वर्णितः ॥२९९॥

ततोतीतैककालानां गतिः किं कार्यलिंगजा। नियमादन्यथा दृष्टिः सहचार्यादसिद्धितः ॥३००॥

तथोत्तरचरस्योपलब्धिस्तज्ज्ञैरुदाहृता। उदगाद्भरणिराग्नेयदर्शनान्नभसीति सा ॥३०१॥

कोई भी सम्बन्ध नहीं माना है अतः बौद्धों का सर्वथा भिन्न पदार्थों में कार्यकारणभाव मानना और जैन सिद्धान्त का अविनाभाव मानना समान क्यों नहीं होगा? यदि सर्वथा पूर्व अपर क्षणों में कार्यकारणभाव जाना जा रहा है, तब तो इस प्रकार का समाधान हम जैनों के यहाँ भी समान ही है॥२९४-२९५॥

जैसे अपने कारणों से उत्पन्न अग्नि धुआँ की कारक (उत्पादक) देखी जाती है, उसी प्रकार शरीर में स्थित स्पर्श भी पुण्य, पाप से सहकृत चैतन्यरूप सहकार कारण से उत्पन्न होता है। प्रत्यक्ष देखे गये हेतु के बिना भी जो अर्थ नियम से सहचारी हैं उनका भी कोई न कोई अदृष्ट कारण अनुमान द्वारा जान लिया जाता है। अर्थात् जैसे-एक ही गुरु के पास पढ़े हुए विद्यार्थियों की बुद्धि को देखकर उनके ज्ञानावरण के तीव्र, मन्द, मन्दतर, मध्यम आदि विजातीय क्षयोपशमों का अनुमान कर लिया जाता है वैसे ही साथ रहने वाले हेतु और साध्यों के सम्बन्ध का अविनाभाव रूप से कहीं-कहीं अनुमान कर लिया जाता है॥२९६-२९७॥

अनादिनिधन द्रव्य की अपेक्षा से अनादि से चले आए स्वरूपों का उस प्रकार का स्वभाव तो नहीं है (बौद्ध किसी भी द्रव्य को अनादिनिधन नहीं मानते हैं) जिससे कि इन सहचारियों का उस द्रव्यस्वरूप से किया गया परस्पर में साध्य साधन भाव हो सकता हो। जैन कहते हैं कि ऐसा कहना प्रशंसनीय नहीं है, क्योंकि पदार्थों का कालान्तर तक स्थायीपना और सम्बन्ध पूर्व प्रकरणों में सिद्ध किया गया है॥२९८॥

किसी भींत आदि का पूर्व पश्चिम भाग आदि नियम से परस्पर है, सहभावी है, उनके साध्य साधन भाव है। इस कथन से उनके सहचारीपन का साधन भी वर्णन कर दिया गया है।

भावार्थ : इस भींत में परभाग अवश्य है, क्योंकि उरला भाग दीख रहा है, इस प्रकार इस हेतु के द्वारा साथ रहने वाले कतिपय पदार्थों के अविनाभाव का कथन किया गया है॥२९९॥

अतः अतीतकाल और एक ही काल में होने वाले पदार्थों का ज्ञान क्या कार्य हेतु से उत्पन्न हुआ माना है?

क्योंकि अविनाभाव नियम के बिना सहचरपने से केवल देख लेना कार्य का गमक नहीं है। क्योंकि अविनाभावरहित पदार्थों के हेतुहेतुमद्भाव की असिद्धि है॥३००॥

सर्वमुत्तरचारीह कार्यमित्यानिराकृतेः। नानाप्राणिगणादृष्टात्सातेतरफलाद्विना ॥३०२॥

पूर्वोत्तरचराणि स्युर्भानि क्रमभुवः सदा। नान्योन्यं हेतुता तेषां कार्याबाधा ततो मता ॥३०३॥

साध्यसाधनता च स्यादविनाभावयोगतः। हेत्वाभासास्ततोऽन्ये ये सौगतैरुपदर्शितं ॥३०४॥

तदेवं सहचरोपलब्ध्यादीनां कार्यस्वभावानुपलब्धिभ्योन्यत्वभाजां व्यवस्थापनात्ततोन्ये हेत्वाभासा एवेति न वक्तव्यं सौगतैरित्युपदर्शयति;—

पक्षधर्मस्तदंशेन व्याप्तो हेतुस्त्रिधैव सः। अविनाभावनियमादिति वाच्यं न धीमता ॥३०५॥

उसी प्रकार उन हेतुभेदों को जानने वाले विद्वानों के द्वारा उत्तरचर की उपलब्धि का उदाहरण दिया गया है कि आकाशमंडल में भरणी नक्षत्र का उदय हो चुका है, क्योंकि कृत्तिका का उदय देखा जा रहा है। इस प्रकार वह भरणी उदय के मुहूर्त्त पीछे उदय होने वाली कृत्तिका की उपलब्धि है ॥३०१॥

जो कहते हैं कि सर्व उत्तरचर हेतु कार्यहेतु में गर्भित हो जाते हैं, इसका भी यहाँ निराकरण कर दिया गया है, क्योंकि सातस्वरूप सुख और असातरूप दुःख हैं-फल जिनके ऐसे अनेक प्राणी समुदाय के पुण्यपापों के बिना कोई कार्य होता नहीं है। (अतः सुख दुःखरूप फल से जो पुण्यपाप का अनुमान है, वह कार्य से कारण का अनुमान है)॥३०२॥

क्रम से उदय होने वाले पूर्व उत्तरचर नक्षत्र हैं, उनका परस्पर में हेतुपना नहीं कहना चाहिए। क्योंकि, लौकिक अथवा शास्त्रीय विद्वानों का बाधारहित व्यवहार होवे, उस प्रकार हेतुहेतुमद्भाव मान कर समीचीन हेतु की व्यवस्था कर लेनी चाहिए॥३०३॥

अन्यथानुपपत्तिरूप अविनाभाव के योग से साध्यसाधन भाव माना गया है। अविनाभाव को न मानकर जो सौगतों ने उन व्याप्य आदि से पृथक् हेतु माने हैं, वे सब हेत्वाभास हैं। इस बात को पूर्व में दिखला चुके हैं। अन्यथानुपपत्ति रूप के बिना केवल अविनाभाव के सम्बन्ध से साध्यसाधन भाव नहीं होता है। कार्य, स्वभाव, अनुपलब्धि ये तीन ही हेतु हैं। उनके पृथक् पूर्वचर आदि हेत्वाभास ही हैं इस प्रकार बौद्धों का कथन ठीक नहीं है॥३०४॥

इस प्रकार सहचर उपलब्धि, पूर्वचर उपलब्धि आदि जो बौद्धों के द्वारा माने गये कार्य हेतु, स्वभाव हेतु और अनुपलब्धि हेतुओं से पृथक् है। उनकी व्यवस्थापना वा सिद्ध हो जाने पर भी बौद्धों को उन कार्य आदि तीन हेतुओं से भिन्न सभी हेतु हेत्वाभास हैं-ऐसा नहीं कहना चाहिए। इस बात को ग्रन्थकार दिखलाते हैं-

बौद्धों द्वारा माने गये तीन ही हेतु नहीं हैं किन्तु अन्य सहचर आदि हेतुओं की भी व्यवस्था की जा चुकी है।

उस साध्यवान पक्ष के अंशरूप साध्य के द्वारा व्याप्त हो रहा वह हेतु तीन प्रकार का है (पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व और विपक्ष व्यावृत्ति) इन हेतु में ही अविनाभाव नियम घटित हो सकता है। ऐसा-नहीं कहना चाहिए। क्योंकि सहचारी, उत्तरचारी हेतु भी पक्ष धर्मत्व न होने पर भी, सत्यार्थरूप से हेतु माने गये हैं अतः

पक्षधर्मात्यये युक्ताः सहचार्यादयो यतः। सत्यं च हेतवो नातो हेत्वाभासास्तथापरे ॥३०६॥

त्रिधैव वाविनाभावानियमाद्धेतुरास्थितः। कार्यादिर्नान्य इत्येषा व्याख्यैतेन निराकृता ॥३०७॥

तदेवं कस्यचिदर्थस्य विधौ प्रतिषेधोपलब्धिभेदानभिधाय संप्रति निषेधेनुपलब्धिप्रपंचं न निश्चिन्वन्नाह;—

निषेधेऽनुपलब्धिः स्यात्फलहेतुद्वयात्मना। हेतुसाध्याविनाभावनियमस्य विनिश्चयात् ॥३०८॥

निषेधेऽनुपलब्धिरेवेति नावधारणीयं विरुद्धोपलब्ध्यादेरपि तत्र प्रवृत्तिः निषेध एवानुपलब्धिरित्यवधारणे तु न दोषः प्रधानेन विधौ तदप्रवृत्तेः। सा च कार्यकारणानुभयात्मनामवबोद्धव्या ॥

तत्र कार्याप्रसिद्धिः स्यान्नास्ति चिन्मृतविग्रहे। वाक्क्रियाकारभेदानामसिद्धेरिति निश्चिता ॥३०९॥

ननु वागादिष्वप्रतिबद्धसामर्थ्याया एव चितो नास्तित्वं वचनानुपलब्धेः सिद्ध्येन्न तु प्रतिबद्धसामर्थ्याया

पक्षसत्त्व नामक गुण के नहीं रहने से कार्य स्वभाव, अनुपलब्धि हेतुओं से भिन्न सभी हेतु हेत्वाभास नहीं हो सकते हैं।

भावार्थ : पक्षधर्मत्व के न होते हुए भी पूर्वचर आदि हेतुओं को सद्धेतुपना सिद्ध है ॥३०५-३०६॥

पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व और विपक्ष व्यावृत्ति इन तीन गुणों से युक्त कार्य, स्वभाव, अनुपलब्धि ये तीन ही हेतु हैं। अथवा कार्य, कारण, अकार्य कारण तथा वीत, अवीत, वीतावीत एवं पूर्ववत् आदि तीन संयोगी तीन ही प्रकार के हेतु सब ओर व्यवस्थित हैं। अन्य हेतुओं के भेद नहीं हैं। अविनाभाव नियम की कोई आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार का व्याख्यान भी इस उक्त कथन से निराकृत कर दिया गया है। अर्थात् पूर्ववत् आदि, कार्य आदि से पृथक् सहचर आदि हेतु भी अविनाभाव की सामर्थ्य से सद्धेतु प्रसिद्ध हैं॥३०७॥ अविनाभाव सम्बन्ध के बिना हेतु नहीं हो सकता।

इस प्रकार किसी भी अर्थ की विधि को अथवा प्रतिषेध को सिद्ध करने के लिए दिये गए उपलब्धि के भेदों का कथन करके **अब निषेध को साधने में अनुपलब्धि हेतुओं के विस्तार का निश्चय कराते हुए आचार्य कहते हैं-**

निषेध को साधने में फल (कार्य), कारण और इन दोनों से पृथक् तीसरे अकार्य कारण स्वरूप तीन प्रकार की अनुपलब्धि है, क्योंकि हेतु का साध्य के साथ अविनाभाव रखना रूप नियम का विशेष रूप से निश्चय हो रहा है ॥३०८॥

निषेध को साधने में अनुपलब्धि ही हेतु है। इस प्रकार का अवधारण नहीं करना चाहिए, क्योंकि उस निषेध को साधने में विरुद्ध उपलब्धि आदि की भी प्रवृत्ति होती है। निषेध को साधने में ही अनुपलब्धि हेतु उपयोगी है। ऐसा अवधारण करने में तो कोई विशेष दोष नहीं आता है क्योंकि प्रधान रूप से विधि करने में उस अनुपलब्धि की प्रवृत्ति नहीं मानी गई है तथा वह अनुपलब्धि कार्य की, कारण की और उभयभिन्न अकार्यकारण की सिद्धि है, ऐसा जान लेना चाहिए।

उस अनुपलब्धि के तीन भेदों में कार्य की अनुपलब्धि का उदाहरण इस प्रकार निश्चित किया गया है कि इस मृतक शरीर में चैतन्य नहीं है, वचन विशेष और क्रिया विशेषों की अनुपलब्धि होने से ॥३०९॥

विद्यमानाया अपि वागादिकार्ये व्यापारासंभवान्नावश्यं कारणानि कार्यं चिति भवंति प्रतिबंधवैकल्यसंभवे कस्यचित्कारणस्य स्वकार्याकरणदर्शनात्ततो नेयं कार्यानुपलब्धिर्गमिका चिन्मात्राभावसिद्धाविति कश्चित्। तथापि संबंधकार्याभावात्कथं नित्यात्माद्यभावसिद्धिरिति स्वमतव्याहतिरुक्ता। ततः स्वसंताने संतानांतरं वर्तमानक्षणे क्षणांतरं संविदद्वये वेद्याकारभेदं वा तत्कार्यानुपलब्धेरसत्वेन साधयत्कार्यानुपलब्धेरन्यथानुपपत्ति-सामर्थ्यानिश्चयाद्गमकत्वमभ्युपगंतुमर्हत्येव। स्वभावानुपलब्धेस्तु तादृशेनिष्टेः प्रकृतकार्यानुपलब्धौ पुनरन्यथानुपपन्नत्वसामर्थ्यनिश्चयो लोकस्य स्वत एवात्यंताभ्यासात्तादृशं लोको विवेचयतीति प्रसिद्धेस्ततः साधीयसी कार्यानुपलब्धिः।।

कारणानुपलब्धिस्तु नार्थिताचरणं शुभम्। सम्यग्बोधोपलंभस्याभावादिति विभाव्यते।।३१०।।

सम्यग्बोधो हि कारणं सम्यक्चारित्रस्य तदनुपलब्धितः स्वसंताने तदभावं साधयति कुतश्चिदुपजातस्य

शंका : वचन बोलना, हाथ पाँव की क्रिया करना आदि व्यापारों में अप्रतिबद्ध सामर्थ्य से युक्त चैतन्य का ही नास्तिपना मृतशरीर में वचन अनुपलब्धि हेतु से सिद्ध हो सकता है, किन्तु जिस छिपे हुए चैतन्य का बोलना, नाड़ी चलना, हृदय की धड़कन आदि व्यापार कराने की सामर्थ्य नष्ट हो गई है, उस गुप्त चैतन्य का निषेध तो वचन आदि की अनुपलब्धि से नहीं हो सकता है क्योंकि वह सुप्त चैतन्य नाड़ी चलना आदि कार्यों को नहीं करता है। सभी कारण आवश्यक रूप से कार्यों को करते ही हैं, ऐसा कोई नियम नहीं है। प्रतिबन्धकों के आ जाने से अथवा अन्य कारणों की विकलता सम्भव होने पर कोई कारण अपने कार्यों को नहीं करते हुए देखे गये हैं अतः यह कार्य अनुपलब्धि हेतु अपने साध्य का गमक नहीं है। अतः स्थूल, सूक्ष्म, गुप्त सभी सामान्यरूप से, चैतन्यों के अभाव को साधने में दियागया वचन आदि की अनुपलब्धि हेतु अपने साध्य का साधक न हो सका, इस प्रकार कोई कहता है।

इसका **समाधान** करते हुए आचार्य कहते हैं कि उसके भी सम्बन्धरूप कार्य का अभाव होने से नित्य आत्मा, आकाश आदि के अभाव की सिद्धि कैसे हो सकेगी ? क्योंकि उसको अपने मत का व्याघात दोष कहा है अतः अपनी सन्तान में संतानान्तर को अथवा वर्तमान क्षणिक पर्याय के अवसर में अन्य कालों की पर्याय को तथा शुद्धसंवेदन अद्वैत में वेद्य, वेदक, संवित्ति इन तीन के भेद को उनके कार्य की अनुपलब्धि से वैभाषिक बौद्ध अन्यथानुपपत्ति की सामर्थ्य के निश्चय से कार्यानुपलब्धि हेतु का गमकपना स्वीकार करने के लिए समर्थ हो ही जाता है अतः कार्यानुपलब्धि को गमक मानना ही पड़ेगा। दृश्य कार्यों की अनुपलब्धि से कारण का निषेध जान लेना योग्य ही है।

स्वभाव अनुपलब्धि उस प्रकार के अभाव को साधने में इष्ट नहीं है। क्योंकि योग्य कारण के अभाव को साधने में दी गई प्रकरणप्राप्त कार्य-अनुपलब्धि में अन्यथानुपपत्ति की सामर्थ्य का निश्चय जन समुदाय को स्वतः ही हो जाता है। बौद्धों के यहाँ भी यह प्रसिद्ध है कि अत्यन्त अभ्यास हो जाने से उस प्रकार के अर्थ का लोक स्वयं विचार कर लेता है अतः कारण-कार्य की अनुपलब्धि सिद्ध है।

मुझ में समीचीन चारित्र नहीं है क्योंकि सम्यग्ज्ञान के उपलम्भ का अभाव है। यहाँ निषेध्य सम्यक्चारित्र के कारण सम्यग्ज्ञान की अनुपलब्धि होने से यह कारण-अनुपलब्धि हेतु कहा जाता है।।३१०।।

विभ्रमस्यान्यथा विच्छेदायोगात्॥

अहेतुफलरूपस्य वस्तुनोनुपलंभनम्। द्वेधा निषेध्य तादात्म्येतरस्यादृष्टिकल्पनात्॥३११॥
तत्राभिन्नात्मनोः सिद्धिर्द्विविधा संप्रतीयते। स्वभावानुपलब्धिश्च व्यापकादृष्टिरेव च॥३१२॥
आद्या यथा न मे दुःखं विषादानुपलंभतः। व्यापकानुपलब्धिस्तु वृक्षादृष्टेर्न शिंशपा॥३१३॥
कार्यकारणभिन्नस्यानुपलब्धिर्न बुध्यताम्। सहचारिण एवात्र प्रतिषेधेन वस्तुना॥३१४॥
मयि नास्ति मतिज्ञानं सद्दृष्ट्यनुपलब्धितः। रूपादयो न जीवादौ स्पर्शासिद्धेरितीयताम्॥३१५॥

सैवमनुपलब्धिः पंचविधोक्ता श्रुतिप्राधान्यात्। ननु कारणव्यापकानुपलब्धयोपि श्रूयमाणाः संति। सत्यं। तास्त्वत्रैवांतर्भावमुपयांतीत्याह;—

कारणव्यापकादृष्टिप्रमुखाश्चास्य दृष्टयः। तत्रांतर्भावमायांति पारंपर्यादनेकधा॥३१६॥

क्योंकि सम्यग्ज्ञान अवश्य ही सम्यक्चारित्र का कारण है। उस सम्यक्ज्ञान का अनुपलम्भ होने से वह ज्ञानाभाव अपनी आत्म संतान में उस सम्यक्चारित्र के अभाव को सिद्ध करता है। किसी भी भ्रम का दूसरे प्रकारों से निराकरण नहीं हो पाता है।

तीसरा भेद अकार्यकारणस्वरूप वस्तु का अनुपलम्भ दो प्रकार का है। निषेध करने योग्य के साथ तादात्म्य रखने वाले की अनुपलब्धि और निषेध्य के साथ तादात्म्य नहीं रखने वाले की अनुपलब्धि ॥३११॥

उन दो भेदों में से पहले निषेध्य से अभिन्न स्वरूप दो पदार्थों की सिद्धि दो प्रकार की प्रतीत होती है, स्वभाव की अनुपलब्धि और व्यापक की अनुपलब्धि ॥३१२॥

प्रथम स्वभाव अनुपलब्धि का उदाहरण-मुझे दुःख नहीं है क्योंकि खेद नहीं है। द्वितीय व्यापक अनुपलब्धि का उदाहरण, यहाँ शिंशपा नहीं है क्योंकि कोई वृक्ष नहीं दिख रहा है। दुःख का स्वभाव विषाद है और शिंशपा का व्यापक वृक्ष है। अतः स्वभाव और व्यापक की अनुपलब्धि स्वभाववान् और व्याप्य के निषेध को सिद्ध कर देती है॥३१३॥

कार्य और कारण से भिन्न चाहे जिसकी अनुपलब्धि से चाहे जिस किसी का अभाव सिद्ध किया नहीं जा सकता है ऐसा समझना चाहिए किन्तु प्रतिषेध करने योग्य वस्तु के साथ रहने वाले का ही यहाँ अभाव सिद्ध किया जाता है। अर्थात् अकार्यकारणरूप वस्तु की अनुपलब्धि का दूसरा भेद अतादात्म्य अनुपलब्धि हेतु अपने अविनाभावी साध्य को ही सिद्ध करता है। जैसे मुझ में मतिज्ञान नहीं है क्योंकि सम्यग्दर्शन की उपलब्धि नहीं है। जीवद्रव्य, आकाशद्रव्य आदि में रूप आदि नहीं है, क्योंकि स्पर्शगुण की अनुपलब्धि है, इस प्रकार समझ लेना चाहिए। अर्थात् मतिज्ञान का सहचारी सम्यग्दर्शन है और रूप आदि का सहचारी स्पर्श है। एक सहचारी के न होने से दूसरे अविनाभावी सहचारी का अभाव सिद्ध हो जाता है हेतु की जीवन शक्ति अविनाभाव है॥३१४-३१५॥

इस प्रकार वह **अनुपलब्धि श्रुति की प्रधानता से पाँच प्रकार की कही गई है।**

काः पुनस्ता इत्याह;—

प्राणादयो न संत्येव भस्मादिषु कदाचन। जीवत्वासिद्धितो हेतुव्यापकादृष्टिरीदृशी ॥३१७॥

क्वचिदात्मनि संसारप्रसूतिर्नास्ति कात्स्न्र्यतः। सर्वकर्मोदयाभावादिति वा समुदाहृता ॥३१८॥

तद्धेतुहेत्वदृष्टिः स्यान्मिथ्यात्वाद्यप्रसिद्धितः। तन्निवृत्तौ हि तद्धेतुकर्माभावात्क्व संसृतिः ॥३१९॥

तत्कार्यव्यापकासिद्धिर्यथा नास्ति निरन्वयं। तत्त्वं क्रमाक्रमाभावादन्वयैकांततत्त्ववत् ॥ ३२०॥

तत्कार्यव्यापकस्यापि पदार्थानुपलंभनं। परिणामविशेषस्याभावादिति विभाव्यताम् ॥३२१॥

शंका : निषेध्य - साध्यअंश के कारण से व्यापक हो रहे की अनुपलब्धि अथवा साध्यदल निषेध्य के व्यापक से व्यापक हो रहे की अनुपलब्धि आदि भी सुनी जाती है फिर पाँच ही अनुपलब्धियाँ क्यों कहीं ? इस प्रकार कहने पर आचार्य **समाधान** करते हैं कि तुम ठीक कहते हो। पाँच प्रकारों के अतिरिक्त भी अनुपलब्धियाँ हैं, किन्तु वे सब इन पाँचों में ही अन्तर्भाव को प्राप्त हो जाती हैं। इस बात को स्पष्ट किया गया है-

इस निषेध्यसाध्य की कारण, व्यापक अनुपलब्धि को लेकर के जो अनुपलब्धियाँ देखी सुनी जाती हैं, वे सब अनेक प्रकार की अनुपलब्धियाँ उन पाँचों में ही परम्परा से अन्तर्भाव को प्राप्त हो जाती हैं ॥३१६॥

वे अन्तर्भूत अनुपलब्धियाँ फिर कौन-कौन सी हैं? इस बात को कहते हैं-

भस्म आदि में प्राण, नाड़ी चलना आदि कभी भी नहीं है क्योंकि प्राणधारणरूप जीवपने की उनमें सिद्धि नहीं है। इस प्रकार की हेतु व्यापक अनुपलब्धि है। अर्थात् निषेध करने योग्य प्राण आदि का कारण शरीर सहितत्व है, और शरीर सहितत्व का व्यापक जीवत्व है। किसी आत्मा का पुनः संसार में जन्म लेना सम्पूर्णरूप से नहीं है-ज्ञानावरण आयुष्य आदि सम्पूर्ण कर्मों के उदय का अभाव होने से। संसार में जन्म मरण करने का कारण आयुष्य कर्म या राग, द्वेष, योग और द्रव्यकर्म हैं। इनका व्यापक सम्पूर्ण कर्मों का अभाव है। अतः यह कारण-व्यापक अनुपलब्धि हेतु कहा गया है ॥३१७-३१८॥

उस निषेध्य के हेतुओं के हेतुओं की अनुपलब्धि इस प्रकार है कि किसी आत्मा में फिर संसार की उत्पत्ति नहीं है क्योंकि मिथ्यादर्शन, अविरत, कषाय आदि की अप्रसिद्धि है।

उन मिथ्यात्व आदि की निवृत्ति हो जाने पर उनका कारण मानकर उत्पन्न होने वाले कर्मों का अभाव हो जाता है और समस्त कर्मों का अभाव हो जाने से फिर संसार की उत्पत्ति कैसे हो सकती है ? अर्थात् कर्म रहित जीव की पुनः संसार में उत्पत्ति, विपत्तियाँ नहीं होती हैं। संसार के अभाव का कारण कर्मों का अभाव है और कर्मों के अभाव का कारण मिथ्यादर्शन आदि का अभाव है अतः यह हेतु के हेतु की अनुपलब्धि है ॥३१९॥

आचार्य **कार्य व्यापकानुपलब्धि** का उदाहरण देते हैं-

सत्स्वरूपतत्त्व पूर्व उत्तर पर्यायों में अन्वय नहीं रखने वाला क्षणिक नहीं है, क्रम और अक्रम का अभाव होने से। जैसे कि सर्वथा कूटस्थवादी द्वारा माना गया कोरा अन्वय सर्वथा नित्य एकान्तरूप तत्त्व

कारणव्यापका दृष्टिः सांख्यादेर्नास्ति निर्वृतिः। सद्दृष्ट्यादित्रयासिद्धेरियं पुनरुदाहृता ॥३२२॥

कारणव्यापका व्याप्तिः स्वभावानुपलंभनं। तत्रैव परिणामस्यासिद्धेरिति यथोच्यते ॥३२३॥

परिणामनिवृत्तौ हि तद्व्याप्तं विनिवर्तते। सद्दृष्ट्यादित्रयं मार्गं व्यापकं पूर्ववत्परम् ॥३२४॥

सहचारिफलादृष्टिर्मत्यज्ञानादि नास्ति मे। नास्तिक्याध्यवसानादेरभावादिति दर्शिता ॥३२५॥

नास्तिक्यपरिणामो हि फलं मिथ्यादृशः स्फुटम्। सहचारितया मत्यज्ञानादिवद्विपश्चिताम् ॥३२६॥

सहचारिनिमित्तस्यानुपलब्धिरुदाहृता। दृष्टिमोहोदयासिद्धेरिति व्यक्तं तथैव हि ॥३२७॥

नहीं है, क्रम और अक्रम नहीं होने से। यहाँ साध्य में निषेध्य रूप से स्थित तत्त्व का कार्य अर्थक्रिया है तथा अर्थक्रिया के व्यापक क्रम और अक्रम हैं। अत: उन क्रम, अक्रमों की अनुपलब्धि होने से यह कार्य व्यापक अनुपलब्धि है ॥३२०॥

उस निषेध्य के कार्य के व्यापक के व्यापक हो रहे पदार्थ की अनुपलब्धि इस प्रकार है-बौद्धों द्वारा स्वीकृत निरन्वय क्षणिक पदार्थ तत्त्व नहीं है-उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यरूप परिणाम विशेष का अभाव होने से। यहाँ निषेध्य तत्त्व का कार्य अर्थक्रिया है। अर्थक्रिया के व्यापक क्रम और अक्रम हैं तथा क्रम और अक्रम को भी व्यापने वाला परिणाम विशेष है, उसकी अनुपलब्धि है अत: यह कार्यव्यापक-व्यापक-अनुपलब्धि है, ऐसा समझना चाहिए ॥३२१॥

सांख्य, नैयायिक आदि प्रतिवादियों के यहाँ मोक्ष नहीं होता है, क्योंकि उनके सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की असिद्धि है। यहाँ निषेध करने योग्य मोक्ष का कारण मोक्षमार्गरूप परिणाम है, उसका व्यापक रत्नत्रय है, उसकी अनुपलब्धि है अत: यह कारणव्यापक अनुपलब्धि कही गई है। कारणव्यापकविरुद्ध उपलब्धि से यह अनुपलब्धि पृथक् है ॥३२२॥

यह कारण व्यापक अनुपलब्धि का उदाहरण है, उसी को साध्य करने में कारण के व्यापक-व्यापि स्वभाव की अनुपलब्धि इस दृष्टान्त द्वारा कही जाती है कि सांख्य आदि के मत में मोक्ष सिद्ध नहीं हो सकता है-परिणाम विशेष की असिद्धि होने से। यहाँ निषेध्य मोक्ष का कारण मोक्षमार्गरूप परिणाम है। उसका व्यापक रत्नत्रय है। उसका भी व्यापक परिणाम होना है। जब सांख्य आदि के यहाँ आत्मा में परिणाम नहीं हैं, तो पूर्व स्वभाव का त्याग, उत्तर स्वभाव का ग्रहण और द्रव्यरूप से या स्थूलपर्यायरूप से रूपपरिणाम की निवृत्ति हो जाने पर उससे व्याप्त रत्नत्रय की निवृत्ति हो जाती है। व्यापक के नहीं रहने पर व्याप्य भी नहीं रहता है, और सम्यग्दर्शन आदि रत्नत्रय की निवृत्ति से मार्ग की तथा दूसरे व्यापक की पूर्व के समान निवृत्ति हो जाती है अत: यह कारण व्यापक व्यापक स्वभाव की अनुपलब्धि है ॥३२३-३२४॥

सहचरकार्य की अनुपलब्धि इस प्रकार है कि मेरी आत्मा के मति अज्ञान, श्रुतअज्ञान आदि भाव नहीं हैं क्योंकि नास्तिपन के आग्रह, अभिनिवेश आदि का अभाव है। यह दिखाया गया है क्योंकि मिथ्यादर्शन का फल नास्तिक परिणाम हैं अत: यह सहचर कार्य अनुपलब्धि हेतु मिथ्यादर्शन का कार्य नास्तिक परिणाम का सहचारी मति अज्ञान आदि से विशिष्ट होता है। यह विद्वानों के सम्मुख स्पष्ट विषय है ॥३२५-३२६॥

सहभूव्यापका दृष्टिर्नास्ति वेदकदर्शनैः। सहभावि मतिज्ञानं तत्त्वश्रद्धानहानितः॥३२८॥

सहभूव्यापिहेत्वाद्यदृष्टयोप्यविरोधतः। प्रत्येतव्याः प्रपंचेन लोकशास्त्रनिदर्शनैः॥३२९॥

सहचरव्यापककार्यानुपलब्धिर्यथा नास्त्यभव्ये सम्यग्विज्ञानं दर्शनमोहोपशमाद्यभावात्। सहचरव्यापककारणानुपलब्धिर्यथा तत्रैवाधःप्रवृत्तादिकरणकाललब्ध्याद्यभावात्। सहचरव्यापककारणव्यापकानुपलब्धिस्तत्रैव दर्शनमोहोपशमादित्वाभावादिति समयप्रसिद्धान्युदाहरणानि। लोकप्रसिद्धानि पुनर्नाश्वस्य दक्षिणं शृंगं शृंगारंभकाभावादिति सहचरव्यापककारणानुपलब्धिः। दक्षिणशृंगसहचारिणो हि वामशृंगस्य व्यापकं शृंगमात्रं तस्य कारणं तदारंभकाः पुद्गलविशेषाः तदनुपलब्धिर्दक्षिणशृंगस्याभावं साधयत्येव।

निषेध्य के सहचारी के निमित्त की अनुपलब्धि का यह उदाहरण है कि मेरी आत्मा में मति अज्ञान आदि नहीं है, क्योंकि दर्शन मोहनीय कर्म के उदय की असिद्धि है। उसी प्रकार मति अज्ञान का सहचारी मिथ्याश्रद्धान है। उस मिथ्याश्रद्धान का निमित्तकारण दर्शन मोहनीय कर्म का उदय है अतः यह **सहचारी निमित्त-अनुपलब्धि** है या **सहचारी कारणानुपलब्धि** है॥३२७॥

सहचर व्यापकानुपलब्धि इस प्रकार है कि मुझमें क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शनों के साथ होने वाला मतिज्ञान नहीं है, क्योंकि तत्त्वों के श्रद्धान की हानि है। यहाँ मतिज्ञान का सहचारी क्षयोपशम सम्यक्त्व है। उसका व्यापक तत्त्वश्रद्धान है अतः यह **सहचर व्यापक अनुपलब्धि** का दृष्टान्त है॥३२८॥

सहचरव्यापक हेतु अनुपलब्धि या सहचर व्यापक कार्य-अनुपलब्धि भी अविरोध से विस्तारपूर्वक लोकप्रसिद्ध और शास्त्रप्रसिद्ध दृष्टान्तों द्वारा समझ लेनी चाहिए॥३२९॥

सहचरव्यापक कार्य-अनुपलब्धि का दृष्टान्त इस प्रकार है। जैसे अभव्य में समीचीन ज्ञान नहीं है क्योंकि उसके दर्शनमोहनीय कर्म का उपशम, क्षय, क्षयोपशम का अभाव है। अभव्य में सम्यग्ज्ञान नहीं है क्योंकि अधःप्रवृत्त, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, काललब्धि आदि का अभाव है। अर्थात् निषेध्य सम्यग्ज्ञान के सहचारी क्षयोपशम आदि सम्यक्त्व हैं। उनका व्यापक सम्यग्दर्शन सामान्य है। उसके कारण अधः प्रवृत्तकरण, काललब्धि आदि हैं। उनकी अनुपलब्धि से सम्यग्ज्ञान का अभाव सिद्ध हो जाता है। **सहचरव्यापककारण व्यापक अनुपलब्धि** का उदाहरण यह है-अभव्य में सम्यग्ज्ञान के अभाव को साध्य करने पर दर्शन मोहनीय कर्म के उपशम आदि भावों के अभाव हेतु प्रसिद्ध है। अर्थात् निषेध्य सम्यग्ज्ञान के सहचारी क्षयोपशम सम्यक्त्व आदि हैं उनका व्यापक सम्यग्दर्शन है उसके कारण अधःकरण आदि हैं। उन करणत्रय, आदि के व्यापक दर्शन मोह के उपशम आदि हैं। उनका अभाव होने से अभव्य में सम्यग्ज्ञान का निषेध सिद्ध किया जाता है। इस प्रकार आप्तोपज्ञ शास्त्रों के अनुसार अनेक उदाहरण प्रसिद्ध हैं।

लोक में प्रसिद्ध अनुपलब्धि के उदाहरण इस प्रकार हैं-घोड़े के दक्षिण सींग नहीं है सींग को बनाने वाले पुद्गलस्कन्धों का अभाव होने से। यह **सहचरव्यापककारण** की अनुपलब्धि है।

सहचरव्यापककारणानुपलब्धिस्तत्रैव शृंगारंभकपुद्गलसामान्याभावादिति प्रतिपत्तव्यानि ॥

उपलब्ध्यनुपलब्धिभ्यामित्येवं सर्वहेतवः। संगृह्यंते न कार्यादित्रितयेन कथंचन ॥३३०॥

नापि पूर्ववदादीनां त्रितयो न निषेधने। साध्ये तस्यासमर्थत्वाद्द्विधा चैव प्रयुक्तितः ॥३३१॥

ननु च कार्यस्वभावानुपलब्धिभिः सर्वहेतूनां संग्रहो मा भूत् सहचरादीनां तत्रांतर्भावयितुमशक्तेः। पूर्ववदादिभिस्तु भवत्येव, विधौ निषेधे च पूर्ववतः परिशेषानुमानस्य सामान्यतो दृष्टस्य च प्रवृत्त्यविरोधात्सहचरादीनामपि तत्रांतर्भावयितुमशक्यत्वात्। ते हि पूर्ववदादिलक्षणयोगमनतिक्रामंतो न ततो भिद्यंत इति कश्चित्। सोपि यदि पूर्ववदादीनां साध्याविरुद्धानामुपलब्धिं विधौ प्रयुंजीत निषेध्यविरुद्धानां च प्रतिषेधे निषेध्यस्वभावकारणादीनां त्वनुपलब्धिं तदा कथमुपलब्ध्यनुपलब्धिभ्यां सर्वहेतुसंग्रहं नेच्छेत् ॥

पूर्ववत्कारणात्कार्येनुमानमनुमन्यते । शेषवत्कारणे कार्याद्विज्ञानं नियतस्थितेः ॥३३२॥

उनके कारण उन सींगों को बनाने वाले विशेष जाति के पुद्गल हैं। इनकी अनुपलब्धि हेतु दक्षिणसींग के अभाव को सिद्धकरती है अत: यह लोक में प्रसिद्ध **सहचर व्यापक-कारण की अनुपलब्धि** है तथा सहचर व्यापककारण-कारण की अनुपलब्धि इस प्रकार है। अश्व के सीधी तरफ का सींग नहीं है क्योंकि सींग को बनाने वाले पुद्गल सामान्य का अभाव है। अंगोपांगनामकर्म के उदय से आहारवर्गणा द्वारा बनाये गये सींग के उपयोगी पुद्गलसामान्य का अश्व में अभाव है। उनका कारण सामान्य पुद्गल हैं जो कि सींग के उपयोगी विशेषपुद्गल को बनाया करते हैं। उनकी अनुपलब्धि होने से घोड़े के सिर में दक्षिणसींग का अभाव सिद्ध किया गया है अत: यह सहचरव्यापक-कारण-कारण अनुपलब्धि है। इसी प्रकार अन्य भी उदाहरण समझ लेने चाहिए।

इस प्रकार पूर्व में कथित उपलब्धियों और अनुपलब्धियों के द्वारा सम्पूर्ण हेतुओं का संग्रह कर लिया जाता है किन्तु बौद्ध के द्वारा माने गये कार्य, स्वभाव, अनुपलब्धि हेतुत्रय से कैसे भी सम्पूर्ण हेतुओं के भेद संगृहीत नहीं हो पाते हैं। तथा पूर्ववत् , शेषवत् , सामान्यतो दृष्ट इन तीन हेतुओं के द्वारा भी सभी हेतुओं का संग्रह नहीं हो पाता है क्योंकि निषेध को साध्य करने में वे पूर्वचर आदि तीनों असमर्थ हैं अत: जैनसिद्धान्तानुसार उपलब्धि और अनुपलब्धि ये दो प्रकार के ही हेतु प्रयुक्त किये गये हैं ॥३३०-३३१॥

शंका : बौद्धों द्वारा स्वीकृत कार्य, स्वभाव अनुपलब्धि हेतुओं के द्वारा सम्पूर्ण हेतुओं का संग्रह नहीं होता है क्योंकि सहचर, पूर्वचर आदि का उन तीन में अंतर्भाव करना शक्य नहीं है। किन्तु पूर्ववत् आदि भेदों के द्वारा तो सब हेतुओं का संग्रह हो ही जाता है क्योंकि विधि और निषेध को साध्य करने में पूर्ववत् हेतु की और प्रसंग प्राप्तों का निषेध किये जा चुकने पर परिशेष में अवशिष्ट रहे का अनुमान कराने वाले शेषवत् हेतु की तथा सामान्यतो दृष्ट हेतु की प्रवृत्ति होने में विरोध नहीं आता है अत: सहचर, पूर्वचर आदि का भी उन पूर्ववत् शेषवत् आदि में अन्तर्भाव करना शक्य है, अर्थात्-पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतो दृष्ट हेतु में विधि आदि सर्व हेतुओं का संग्रह करना शक्य है, क्योंकि वे सहचर आदि हेतु पूर्ववत् आदि के लक्षण के सम्बन्ध का अतिक्रमण नहीं करते हुए उन पूर्ववतों आदि से भिन्न नहीं हैं। इस प्रकार कोई कह रहा है।

कार्यकारणनिर्मुक्तादर्थात्साध्ये तथाविधे। भवेत्सामान्यतो दृष्टमिति व्याख्यानसंभवे ॥३३३॥

विधौ तदुपलंभ: स्युर्निषेधेनुपलब्धय:। ततश्च षड्विधो हेतु: संक्षेपात्केन वार्यते ॥३३४॥

अत्र निषेधेनुपलब्धय एवेति नावधार्यते स्वभावविरुद्धोपलब्ध्यादीनामपि तत्र व्यापारात् तत एव विधावेवोपलब्धय इति नावधारणं श्रेय इत्युक्तप्रायं। एतेन प्राग्व्याख्यानेपि पूर्ववदादीनामुपलब्धयस्तिस्रोनुपलब्धयश्चेति संक्षेपात् षड्विधो हेतुरनिवार्यत इति निवेदितं। अतिसंक्षेपाद्विशेषतो द्विविध उच्यते

समाधान : अब आचार्य कहते हैं कि वह नैयायिक भी यदि साध्य से अविरुद्ध हो रहे पूर्ववत् आदि की उपलब्धि को विधि साधने में प्रयोग करेगा और निषेध्य से विरुद्ध हो रहे पूर्ववत् आदि की उपलब्धि को प्रतिषेध साधने में प्रयुक्त करेगा तथा निषेध करने योग्य स्वभाव, कारण आदि की अनुपलब्धि को विधि और निषेध को साधने में प्रयुक्त करेगा तब तो उपलब्धि हेतुओं के द्वारा ही सब हेतुओं के संग्रह को क्यों नहीं चाहेगा। अर्थात्-विधि और निषेध को साधने वाली उपलब्धि तथा विधि और निषेध को साधने वाली अनुपलब्धि के द्वारा ही सम्पूर्ण हेतुओं का संग्रह होना सिद्ध होता है, अन्यथा नहीं।

कारण से कार्य का अनुमान पूर्ववत् हेतु माना जाता है और कार्य से कारण का अनुमान शेषवत् है। हेतु की अपने साध्य के साथ नियत स्थिति होनी चाहिए तथा कार्य कारण रहित पदार्थ से उस प्रकार के कार्यकारण रहित साध्य में जिस हेतु से अनुमान किया जाएगा वह सामान्यतो दृष्ट हेतु है। इस प्रकार नैयायिकों द्वारा व्याख्यान होना संभव होने पर विधि को साधने में उन पूर्ववत् आदि तीन के उपलम्भ और निषेध को साधने में उन तीन की अनुपलब्धियाँ होती हैं। इस प्रकार संक्षेप से छह प्रकार के हेतु का कौन निवारण कर सकता है अर्थात्-स्याद्वादी भी किसी अपेक्षा से पूर्ववत् आदि की उपलब्धि और अनुपलब्धि के भेद से छह प्रकार का हेतु मानते हैं॥३३२-३३३-३३४॥

इस प्रकरण में निषेध को साधने में अनुपलब्धियाँ ही उपयोगी हैं, यह अवधारणा नहीं करनी चाहिए, क्योंकि स्वभाव से विरुद्ध उपलब्धि आदिकों का भी उस निषेध को साधने में व्यापार होता है। अत: विधि को साधने में उपलब्धियाँ ही हैं, यह अवधारणा करना श्रेष्ठ नहीं है। इस बात को पूर्व प्रकरणों में कह दिया गया है।

इस कथन से यह भी निवेदन कर दिया गया है कि पूर्व में किए हुए व्याख्यान में भी पूर्ववत् आदि की उपलब्धियाँ तीन प्रकार की हैं और पूर्ववत् आदि की उपलब्धियाँ भी तीन हैं। इस प्रकार संक्षेप से छह प्रकार के हेतु का निवारण नहीं किया जा सकता। अति संक्षेप में हेतु दो प्रकार का कहा जाता है। तथा सामान्य की अपेक्षा से अन्यथानुपपत्तिरूप नियम नाम के लक्षण से युक्त एक ही हेतु है। इस प्रकार कथन करने में हमें कुछ भी विरुद्ध नहीं दीख रहा है। अर्थात्-सामान्य की अपेक्षा से अन्यथानुपपत्तिस्वरूप एक ही हेतु है और विशेषभेदों की अपेक्षा करने पर अतिसंक्षेप में दो प्रकार का है-उपलब्धि और अनुपलब्धि और संक्षेप में पूर्ववत् आदि के साथ उपलब्धि अनुपलब्धि को जोड़कर छह प्रकार का हेतु हो सकता है। एवम् विस्तार से अनेक भेद हो सकते हैं।

सामान्यादेकं एवान्यथानुपपत्तिनियमलक्षणोर्थ इति न किंचिद्विरुद्धमुत्पश्यामः। षड्विधो हेतुः कुतो न निवार्यत इत्याह;—

केवलान्वयिसंयोगी वीतभूतादिभेदतः। विनिर्णीताविनाभावहेतूनामत्र संग्रहात्॥३३५॥

न हि केवलान्वयिकेवलव्यतिरेक्यन्वयव्यतिरेकिणः संयोगिसमवायिविरोधिनो वा वीतावीततदुभयस्वभावा चाभूतादयो वा कार्यकारणानुभवोपलंभनातिक्रमं नियता नियतहेतुभ्योन्ये भवेयुरविनाभावनियमलक्षणयोगिनां तेषां तत्रैवांतर्भवनादिति प्रकृतमुपसंहरन्नाह॥

अन्यथानुपपत्त्येकलक्षणं साधनं ततः। सूक्तं साध्यं विना सद्भिः शक्यत्वादिविशेषणं॥३३६॥

एवं हि यैरुक्तं "साध्यं शक्यमभिप्रेतमप्रसिद्धं ततो परं। साध्याभासं विरुद्धादिसाधनाविषयत्वतः॥"

नैयायिक और जैनों के द्वारा स्वीकृत छह प्रकार का हेतु निवारित कैसे नहीं किया जाता है? ऐसी जिज्ञासा होने पर आचार्य कहते हैं -

केवलान्वयी, संयोगी, वीत, भूत, आदि भेदों से स्वीकृत सभी हेतुओं का इन छह हेतुओं में संग्रह हो जाता है क्योंकि उन केवलान्वयी आदि का अपने साध्य के साथ अविनाभाव विशेषरूप से निर्णीत है। अर्थात् जिन हेतुओं का अपने साध्य के साथ अविनाभावरूप नियम निश्चित हो रहा है वे वीत आदि कोई भी हेतु इन दो, या छह भेदों में ही गर्भित हो जाते हैं॥३३५॥

यद्यपि केवलान्वयी केवलव्यतिरेकी, अन्वव्यतिरेकी तथा संयोगी, समवायी, विरोधी अथवा वीत, अवीत, वीतावीत दोनों स्वभाववाले तथा भूत, अभूत, भूताभूत रूपसे माने गये हेतुओं के भेद कार्य, कारण, अकार्यकारण उपलब्धियों का अतिक्रमण नहीं करते हैं जिससे कि नियमयुक्त हो रहे हेतुओं से पृथक् हो जाते। अविनाभाव नामक नियमरूप लक्षण से युक्त हो रहे उन केवलान्वयी आदि का उन पूर्ववत् आदि में ही अन्तर्भाव हो जाता है। इस प्रकार दो कारिकाओं के द्वारा पूर्ववत् , शेषवत् , सामान्यतो दृष्ट का व्याख्यान जो कारण, कार्य और अकार्यकारण किया गया है, तदनुसार इन कारण हेतु आदि में ही सम्पूर्ण केवलान्वयी, भूत आदि का अन्तर्भाव हो जाता है। इस प्रकार **प्रकरण प्राप्त व्याख्यान का उपसंहार करते हुए आचार्य अन्तिम निर्णय करते हैं कि-**

सज्जन पुरुषों ने शक्य, अभीष्ट, अप्रसिद्ध इन तीनों विशेषणों से युक्त साध्य को अविनाभावी अन्यथानुपपत्ति एक लक्षण वाला साधन कहा है (हेतु कहा है)॥३३६॥

भावार्थ : अन्यथानुपपत्ति ही है लक्षण जिसका, ऐसा हेतु समीचीन हेतु होता है। साधने के लिए शक्यपना और वादी को अभीष्ट तथा प्रतिवादी को अप्रसिद्ध इन तीन विशेषणों से युक्त साध्य के बिना जो हेतु नहीं रहता है, वह ही सज्जनों के द्वारा समीचीन हेतु कहा गया है। अथवा अन्यथानुपपत्तिनामक एक ही लक्षण से युक्त समीचीन हेतु होता है और शक्य, अभिप्रेत, अप्रसिद्ध इन तीन विशेषणों से युक्त साध्य होता है।

इति तैः सूक्तमेव, अन्यथानुपपत्त्येकलक्षणसाधनविषयस्य साध्यत्वप्रतीतेस्तदविषयस्य प्रत्यक्षादिविरुद्धस्य प्रसिद्धस्यानभिप्रेतस्य वा साधयितुमशक्यस्य साध्याभासत्वनिर्णयात्। तत्र हि—

शक्यं साधयितुं साध्यमित्यनेन निराकृतः। प्रत्यक्षादिप्रमाणैर्न पक्ष इत्येतदास्थितम् ।।३३७।।

तेनानुष्णोग्निरित्येष पक्षः प्रत्यक्षबाधितः। धूमोनग्निज एवायमिति लैंगिकबाधितः ।।३३८।।

प्रेत्यासुखप्रदो धर्म इत्यागमनिराकृतः। नृकपालं शुचीति स्याल्लोकरूढिप्रबाधितः ।।३३९।।

पक्षाभासः स्ववाग्बाध्यः सदा मौनव्रतीति यः। स सर्वोपि प्रयोक्तव्यो नैव तत्त्वपरीक्षकैः ।। ३४०।।

शब्दक्षणक्षयैकांतः सत्त्वादित्यत्र केचन। दृष्टांताभावतोशक्यः पक्ष इत्यभ्यमंसत ।।३४१।।

जिन वादियों ने इस प्रकार कहा था कि शक्य, अभिप्रेत और असिद्ध धर्म वाला साध्य होता है। उससे भिन्न धर्म साध्याभास कहा जाता है। जो कि विरुद्ध, बाधित आदि हेतुओं (हेत्वाभासों) के द्वारा कहा गया है। वे समीचीन साधन के विषय नहीं होने से अशक्य, अनभिप्रेत और असिद्ध धर्म साध्याभास कहे जाते हैं। जैनाचार्य का यह कथन समीचीन है क्योंकि अन्यथानुपपत्तिनामक एक लक्षण वाले हेतु द्वारा सिद्ध किये गए विषय को साध्यपना प्रतीत होता है। जो साध्य करने के लिए अशक्य है और जनसमुदाय में प्रसिद्ध है अथवा जो वादी को अभीष्ट नहीं है, ऐसे बाधित, प्रसिद्ध, अनिष्ट धर्म को साध्याभासपने का निर्णय है। साध्य के लक्षण उन तीन विशेषणों में व्यवस्थित है-कारण कि-इस प्रकार साधने के लिए जो शक्य होता है वह साध्य है। इस शक्य विशेषण के द्वारा प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से निराकृत पक्ष नहीं होना चाहिए। यह सिद्धांत व्यवस्थित किया है। अर्थात् जिस प्रतिज्ञावाक्य में प्रत्यक्ष आदि से बाधा उपस्थित होगी वह साध्यकोटि में नहीं रह सकता है।।३३७।।

इसलिए साध्य के लक्षण में शक्यवाद विशेषण देने से इनकी व्यावृत्ति हो जाती है कि अग्नि अनुष्ण है। यों यह पक्ष स्पर्शन इन्द्रियजन्य प्रत्यक्षप्रमाण से बांधित है और धुआँ अग्नि से भिन्न पदार्थों से उत्पन्न है, यह प्रतिज्ञा अनुमान से बाधित है क्योंकि अग्नि से उत्पन्न हुआ धुआँ दृष्टिगोचर हो रहा है। इस प्रकार अव्यभिचारी कार्यकारणभाव का अनुमान कर लिया गया है तथा धर्मपालन करना मरने के पीछे सुख देने वाला नहीं है, यह पक्ष आगमप्रमाण से निराकृत हो जाता है। अर्थात् आगम में धर्म को सुख देने वाला कहा है, उस धर्म को सुख देने वाला नहीं कहना, दुःख देने वाला कहना आगम बाधित है ।।३३८।।

'मानव के सिर का कपाल शुद्ध होता है, क्योंकि प्राणी का अंग है। जो प्राणियों का अंग है वह शुद्ध होता है जैसे सीप शंखादि।' यह कथन लोकरूढ़ि से बाधित है, क्योंकि लोक में मानव का सिर कपाल अशुद्ध माना गया है।।३३९।।

स्ववचनबाधित प्रतिज्ञा भी पक्षाभास है। जैसे कि "मैं सदा मौन व्रत रखता हुँ।" यह कथन स्ववचन बाधित है क्योंकि बोल रहा हूँ और मौन व्रत कर रहा हूँ। इस प्रकार लोकबाधित, अनुमानबाधित साध्याभास का प्रयोग नहीं करना चाहिए अतः जैन सिद्धांत में अबाधित को ही साध्य अभीष्ट किया है।।३४०।।

तेषां सर्वमनेकांतमिति पक्षो विरुध्यते। तत एवोभयो: सिद्धो दृष्टांतो न हि कुत्रचित् ॥३४२॥

प्रमाणबाधितत्वेन साध्याभासत्वभाषणे। सर्वस्तथेष्ट एवेह सर्वथैकांतसंगर: ॥३४३॥

तथा साध्यमभिप्रेतमित्यनेन निवार्यते। अनुक्तस्य स्वयं साध्यभावाभाव: परोदित: ॥३४४॥

यथा ह्युक्तो भवेत्पक्षस्तथानुक्तोपि वादिन:। प्रस्तावादिबलात्सिद्ध: सामर्थ्यादुक्त एव चेत् ॥३४५॥

स्वागमोक्तोपि किं न स्यादेव पक्ष: कथंचन। तथानुक्तोपि चोक्तो वा साध्य: स्वेष्टोस्तु तात्त्विक: ॥

नानिष्टोतिप्रसंगस्य परिहर्तुमशक्तित: ॥३४६॥ (षट्षट्म्)

पूर्वपक्ष - कोई कहता है कि एकान्त में शब्द क्षण में नष्ट होते हैं क्योंकि सत्त्व हैं। इसमें दृष्टांत का अभाव है इसलिए अशक्य को भी पक्ष स्वीकार किया है फिर साध्य में शक्य विशेषण क्यों दिया गया है? इस पर जैन आचार्य कहते हैं कि तब तो उनके यहाँ दृष्टांत नहीं मिल सकने से सम्पूर्ण पदार्थ अनेक धर्मवाले हैं, इस प्रकार प्रतिज्ञा करना पक्षविरुद्ध हो जायेगा। दोनों के यहाँ पहले से प्रसिद्ध दृष्टान्त का अभाव करना छींक आदि प्रमाणों से बाधित हो जाने के कारण सबको अनेकान्तपन के इस साधने को साध्याभासपना कहेंगे तब तो उस प्रकार सब पदार्थों के सर्वथा एकान्तपन की प्रतिज्ञा यहाँ इष्ट ही कर ली गयी किन्तु सर्वथा एकान्त भी तो प्रमाण से बाधित है॥३४१-३४२-३४३॥

तथा वादी को अभिप्रेत साध्य होता है। इस प्रकार साध्य के लक्षण में पड़े हुए अभिप्रेत इस विशेषण द्वारा अनिष्ट को स्वयं ही साध्यपना निवारण कर दिया जाता है। दूसरे वादियों ने भी अनिष्ट को साध्य नहीं माना है। अथवा शब्द द्वारा अभिप्रेत साध्य को न कहा हो, यदि वादी ने अन्य अभिप्रायों से समझा दिया है तो वह भी साध्य हो जाता है। अनुक्त को साध्यरहितपन का अभाव है। कारण कि जिस प्रकार वादी के द्वारा कंठोक्त कह दिया गया पक्ष हो जाता है, उसी प्रकार वादी द्वारा नहीं कहा गया किन्तु अभिप्रेत भी पक्ष हो जाता है।

यदि कोई यों कहे कि प्रस्ताव, प्रकरण आदि के बल से सिद्ध भी पक्षसामर्थ्य से कथित हो जाता है, साध्य हो जाता है, तब तो स्वकीय प्रामाणिक आगमों से कहा गया भी कथंचित् पक्ष क्यों नहीं हो सकेगा? अत: यह सिद्ध हुआ कि उक्त हो अथवा अनुक्त यदि वादी को स्वयं इष्ट है, तो वह यथार्थ रूप से साध्य हो जाएगा। जो वादी को इष्ट नहीं है, वह कैसे भी साध्य नहीं हो सकता है। क्योंकि अनिष्ट को साध्य मानने पर अतिप्रसंग का परिहार नहीं किया जा सकेगा। अर्थात् जो साध्य वादी को इष्ट नहीं है उसको सिद्ध करने के लिए प्रयत्न करना व्यर्थ है, जैसे एकान्त क्षणिक वा कूटस्थनित्य को सिद्ध करने का जैनाचार्य का प्रयत्न करना व्यर्थ है, क्योंकि अपने इष्ट का घातकर अनिष्ट को सिद्ध करना योग्य नहीं है॥३४४-३४५-३४६॥

ननु नेच्छति वादीह साध्यं साधयितुं स्वयम्।
प्रसिद्धस्यान्यसंवित्तिकारणापेक्ष्यवर्तनात् ॥३४७॥

प्रतिवाद्यपि तस्यैतन्निराकृतिपरत्वत:।
सभ्या नोभयसिद्धान्तवेदिनोऽपक्षपातिन: ॥३४८॥

इत्ययुक्तमवक्तव्यमभिप्रेतविशेषणम्।
जिज्ञासितविशेषत्वमिवान्ये संप्रचक्षते ॥३४९॥

तदसद्वादिनेष्टस्य साध्यत्वाप्रतिघातित:।
स्वार्थानुमासु पक्षस्य तन्निश्चयविवेकत: ॥३५०॥

परार्थेष्वनुमानेषु परो बोधयितुं स्वयम्।
किं नेष्टस्येह साध्यत्वं विशेषानभिधानत: ॥३५१॥

शंका : वादी स्वयं तो साध्य को साधने की इच्छा नहीं करता है परन्तु प्रसिद्ध पदार्थ की अन्य को संवित्ति करा देने की अपेक्षा से प्रवृत्ति करता है। प्रतिवादी भी उस साध्य के इस प्रकरण प्राप्त निराकरण को करने में तत्पर होता है। निकट में बैठे हुए सभा के सदस्य पक्षपातरहित हैं, वे वादी प्रतिवादी दोनों के सिद्धान्तों को जानने वाले नहीं हैं अत: साध्य के लक्षण में 'अभिप्रेत' यह विशेषण लगाना अयुक्त है एवं कहने योग्य नहीं है। साध्य इष्ट नहीं होता है जैसे कि जानने की इच्छा का विषयपना यह साध्य का विशेषण नहीं कहा जाता है। अर्थात्-वादी की अपेक्षा से यदि साध्य का इष्ट विशेषण लगाया जाता है तो प्रतिवादी की अपेक्षा से साध्य का विशेषण जिज्ञासितपना भी लगाना चाहिए, ऐसा कहना चाहिए, क्योंकि प्रतिवादी को जिसकी जिज्ञासा होगी उस विषय का प्रतिपादन वादी करता है। यदि कहो कि प्रतिवादी तो किसी तत्त्व की जिज्ञासा नहीं करता है। वह तो खण्डन करने केलिए आवेशयुक्त होकर सन्नद्ध हो रहा है, तब तो वादी की ओर से भी कुछ कहे जाना मान लिया जाए, इष्ट विशेषण लगाना व्यर्थ है ऐसा कोई कहता है ॥३४७-३४८-३४९॥

समाधान : आचार्य कहते हैं कि उनका यह कहना सत्य नहीं है, क्योंकि वादी द्वारा इष्ट धर्म के साध्य का प्रतिघात नहीं किया जा सकता है अर्थात् वादी अपने अभीष्ट साध्य को प्रतिवादी के सन्मुख समीचीन हेतुओं से साधता ही है। स्वार्थानुमानों में किये गये पक्ष का उस इष्ट के द्वारा निश्चय का विचार किया जाता है, जैसे धूम को देखकर अभीष्ट अग्नि का अनुमान कर लिया जाता है ॥३५०॥

परार्थ-दूसरे प्रतिपाद्यों के लिए किये गये अनुमानों में तो दूसरा (प्रतिपाद्य ही) स्वयं समझाने के लिए योग्य होता है जो वादी को इष्ट है वही तो प्रतिपाद्य को समझाया जाता है अत: यहाँ स्वार्थ अनुमान परार्थअनुमान इन विशेषों का कथन नहीं करने से सामान्य से इष्ट को साध्यपना क्यों नहीं अभीष्ट किया जाता है, अर्थात् किया ही जाता है ॥३५१॥

इष्टः साधयितुं साध्यः स्वपरप्रतिपत्तये।
इति व्याख्यानतो युक्तमभिप्रेतविशेषणं।।३५२।।

अप्रसिद्धं तथा साध्यमित्यनेनाभिधीयते।
तस्यारेका विपर्यासा व्युत्पत्तिविषयात्मता।।३५३।।

तस्य तद्व्यवच्छेदत्वात्सिद्धिरर्थस्य तत्त्वतः।
ततो न युज्यते वक्तुं व्यस्तो हेतोरपाश्रयः।।३५४।।

संशयो ह्यनुमानेन यथा विच्छिद्यते तथा।
अव्युत्पत्तिविपर्यासावन्यथा निर्णयः कथं।।३५५।।

अव्युत्पन्नविपर्यस्तौ नाचार्यमुपसर्पतः।
कौचेदेव यथा तद्वत्संशयात्मापि कश्चन।।३५६।।

नावश्यं निर्णयाकांक्षा संदिग्धस्याप्यनर्थिनः।
संदेहमात्रकास्थानात्स्वार्थसिद्धौ प्रवर्तनात्।।३५७।।

जो वादी को अभीष्ट है वही अपने और दूसरे की प्रतिपत्ति के अर्थ साधने के लिए साध्य मानना चाहिए, इस प्रकार व्याख्यान करने से साध्य का 'इष्ट' विशेषण लगाना युक्त है ।।३५२।।

वादी के द्वारा कहा गया साध्य प्रतिवादी या प्रतिपाद्य-श्रोताओं को अप्रसिद्ध होना चाहिए अतः साध्य के अप्रसिद्ध विशेषण से कहा गया है कि वह साध्य श्रोताओं के संशय, विपर्यय और अज्ञान का विषय स्वरूप है। वादी के द्वारा उस साध्य का ज्ञान करा देने पर श्रोताओं के उन संशय, विपर्यय, अज्ञानों का व्यवच्छेद हो जाने से अर्थ की यथार्थरूप से सिद्धि हो जाती है अतः यह कहना युक्त नहीं है कि तीन समारोपों में से एक ही संशय का हेतु द्वारा निराकरण होता है।।३५३-३५४।।

भावार्थ : साध्य का निर्णय हो जाने से प्रतिपाद्य के समस्त संशय, विपर्यय और अज्ञानों का निवारण हो जाता है।

जिस प्रकार अनुमानज्ञान के द्वारा संशय का विच्छेद किया जाता है उसी प्रकार अव्युत्पत्ति और विपर्ययका भी विच्छेद किया जाता है। अन्यथा संशय के दूर हो जाने पर भी विपर्यय और अज्ञान दूर नहीं होते हैं, अनिर्णय वा विपरीतता बनी रहती है, तो 'वह निश्चित है' ऐसा कैसे कहा जा सकता है अतः प्रमाणज्ञान से तीनों समारोपों की निवृत्ति हो जाती है।।३५५।।

कोई कहता है कि जैसे कोई-कोई अज्ञानी, विपर्यय ज्ञानी वस्तु का यथार्थ निर्णय करने के लिए आचार्य के निकट नहीं जाते हैं, उन्हीं के समान कोई संशयालु पुरुष भी वस्तु का निर्णय करने के लिए गुरु के निकट जाकर नहीं पूछता है क्योंकि निःप्रयोजनी संशयालु को भी वस्तु के निर्णय करने की आवश्यकरूप से आकांक्षा नहीं होती है। संदेहमात्र में ही वह स्थित रहता है। यदि अपने किसी अर्थ की सिद्धि होती हो तब तो निर्णय कराने के लिए प्रवृत्ति करता है।।३५६-३५७।।

यथाऽप्रवर्तमानस्य संदिग्धस्य प्रवर्तनम्।
विधीयतेनुमानेन तथा किं न निषिध्यते॥३५८॥

अव्युत्पन्नविपर्यस्तमनसोप्यप्रवर्तनम्।
परानुग्रहवृत्तीनामुपेक्षानुपपत्तितः॥३५९॥

अविनेयिषु माध्यस्थ्यं न चैवं प्रतिहन्यते।
रागद्वेषविहीनत्वं निर्गुणेषु हि तेषु न॥३६०॥

स्वयं माध्यस्थ्यमालंब्य गुणदोषोपदेशना।
कार्या तेभ्योपि धीमद्भिस्तद्विनेयत्वसिद्धये॥३६१॥

अव्युत्पन्नविपर्यस्ता प्रतिपाद्यत्वनिश्चये।
प्रतिपाद्यः कथं नाम दुष्टोज्ञः स्वसुतो जनैः॥३६२॥

आचार्य कहते हैं कि जैसे साध्य को जानने में प्रवृत्ति नहीं करने वाले संदिग्ध पुरुष की अनुमान द्वारा निर्णीत साध्य में प्रवृत्ति करा दी जाती है वैसे विपर्यस्त मन वाले जीवों की भी अप्रवृत्ति का निषेध अनुमान द्वारा क्यों नहीं करा दिया जाता है। अर्थात्-जैसे संदिग्ध का संशय दूर करने के लिए आचार्य अनुमान के द्वारा उसके संशय को दूर करने के लिए प्रयत्न करते हैं, वैसे विपर्यय ज्ञान वाले को समझाने का प्रयत्न क्यों नहीं करते हैं क्योंकि दूसरे जीवों पर अनुग्रह करने में सर्वदा प्रवृत्त आचार्यों की अज्ञानी और विपर्यय ज्ञानी जीवों के लिए उपेक्षा नहीं हो सकती है॥३५८-३५९॥

अर्थात् आचार्य, जैसे संदिग्ध जीव को यथार्थ निर्णीत विषय में प्रवर्त्ता देते हैं, उसी प्रकार अज्ञानी और मिथ्याज्ञानी को भी यथार्थ वस्तु में लगा देते हैं अतः अनुमान प्रमाण द्वारा तीनों समारोपों का व्यवच्छेद होना मानना चाहिए। इस प्रकार सर्व जीवों के प्रति अनुग्रहवान होने से अविनीतों में मध्यपना रखने का प्रतिघात भी नहीं होता है, क्योंकि उपेक्षा का अर्थ है निर्गुणी दोषी, विपर्यय ज्ञानियों में हमको रागद्वेष नहीं करना है अपितु माध्यस्थ्य भावना का अवलम्बन लेकर उनके लिए भी गुण और दोषों का उपदेश देना है क्योंकि अपना शिष्य बनाने के लिए बुद्धिमानों के द्वारा अविनीत भी प्रतिपादन (शिक्षा देने) करने के योग्य होता है। अर्थात् उन अविनीतों को भी गुणदोषों का ज्ञान कराना चाहिए। परोपकारियों का कर्त्तव्य है, अज्ञानियों को ज्ञानी बनाना है; कुचारित्रवालों को सच्चरित्र बनाना और अविनीतों को विनय संपत्ति पर झुकाना है॥३६०-३६१॥

यदि अव्युत्पन्न और मिथ्यादृष्टि, विपरीत ज्ञानी जीवों को प्रतिपादन नहीं करने योग्य निर्णय कर दिया जायेगा तो प्रचंड, दुष्ट और मूर्ख अपना कोई लड़का हितैषी गुरुजनों के द्वारा समझाने योग्य कैसे होगा अर्थात् नहीं होगा। यदि अज्ञानी और आग्रही जीवों के लिए उपदेश देना नहीं माना जायेगा तो माता-पिताओं के द्वारा अपने मूर्ख लड़के को भी शिक्षा नहीं दी जानी चाहिए, किन्तु सभी हितैषीजन अपने मूर्ख बालक, बालिकाओं को उपदेश देकर हितमार्ग पर लगाते ही हैं॥३६२॥

लौकिकस्याप्रबोध्यत्वे कथमस्तु परीक्षकः।
प्रबोध्यस्तस्य यत्नेन क्रमतस्तत्त्वसंभवात्॥३६३॥

प्रतिपाद्यस्ततस्त्रेधा पक्षस्तत्प्रतिपत्तये।
संदिग्धादिः प्रयोक्तव्योऽप्रसिद्ध इति कीर्तनात्॥३६४॥

प्रश्न : लौकिक विपर्ययज्ञानी समझाने योग्य नहीं होने पर परीक्षा करने वाला उसको कैसे समझा सकता है ?

उत्तर : तत्त्वों की अन्तः प्रविष्ट होकर परीक्षा करने वाला तो कभी किसी विषय में मूर्ख होता है; किसी विषय में विपरीत ज्ञानी होता है। उस परीक्षक को तो क्रम से यत्न करके तत्त्वों की ज्ञप्ति कराना संभव है। अव्युत्पन्न के भेद से प्रतिपाद्य पक्ष तीन प्रकार का है अतः उन तीनों की प्रतिपत्ति कराने के लिए संदिग्ध, विपर्यस्त और अज्ञात अप्रसिद्ध पक्ष वादी के द्वारा प्रयुक्त करना चाहिए। इस प्रकार साध्य के तीन विशेषणों की सफलता का प्रतिपादन करते हुए व्याख्यान किया है॥३६३-३६४॥

भावार्थ : इष्ट, अबाधित और असिद्ध को साध्य कहते हैं। इसका तात्पर्य है कि जो वादी को इष्ट है वही साध्य होता है, अनिष्ट नहीं। इसी प्रकार जो प्रत्यक्षादि किसी प्रमाण से बाधित नहीं है वह साध्य होता है। तथा जो अभीतक सिद्ध न हो वह साध्य होता है क्योंकि असिद्ध को ही सिद्ध किया जाता है। सिद्ध वस्तु को साध्य नहीं बनाया जाता है। इसलिए साध्य के लक्षण में इष्ट, अबाधित और असिद्ध ये तीन विशेषण दिये गये हैं। सभी विशेषण सभी की अपेक्षा से नहीं होते हैं, अपितु कोई विशेषण किसी की अपेक्षा से होता है और कोई विशेषण किसी की अपेक्षा से होता है। साध्य के इन तीन विशेषणों में इष्ट विशेषण वादी की अपेक्षा से है, क्योंकि समझाने की इच्छा वादी को ही होती है अतः जिस साध्य को वह सिद्ध कर रहा है वह उसको इष्ट होना चाहिए। असिद्ध विशेषण प्रतिवादी की अपेक्षा से है क्योंकि वह समझने का इच्छुक है इच्छा का विषयभूत पदार्थ इष्ट है। संदिग्ध, विपर्यस्त और अव्युत्पन्न पदार्थ ही साध्य होता है। इसको बताने के लिए असिद्ध पद विशेषण दिया गया है।

संशय को संदिग्ध कहते हैं; विपरीतज्ञान को विपर्यस्त कहते हैं और जिसका स्वरूप ठीक से निश्चित न हो उसको अव्युत्पन्न कहते हैं। जैसे मार्ग में जाते हुए व्यक्ति का तृण स्पर्श होने पर 'यह क्या है?'-ऐसा अनध्यवसाय रूप ज्ञान होता है, उसको अव्युत्पन्न कहते हैं। अनिष्ट और प्रत्यक्षादि प्रमाणों से बाधित पदार्थ साध्य नहीं होता, इसको बताने के लिए इष्ट विशेषण दिया जाता है। इस विशेषण से युक्त साध्य को सिद्ध करने वाले हेतुओं से जो ज्ञान होता है वह अनुमान ज्ञान कहलाता है। उस अनुमान ज्ञान को नहीं मानने वालों का खण्डन करके अनुमान ज्ञान को सिद्ध करने का प्रयत्न किया है।

अकिंचित्कर होने से वादी, प्रतिवादी के प्रसिद्ध पक्ष को साध्य कोटि में रखना निरस्त कर दिया गया है अर्थात्-अग्नि उष्ण होती है, जल प्यास को बुझाता है; इत्यादि प्रसिद्ध विषय साध्य नहीं बनाये जाते

सुप्रसिद्धश्च विक्षिप्तः पक्षोऽकिंचित्करत्वतः।
तत्र प्रवर्तमानस्य साधनस्य स्वरूपवत्॥३६५॥

समारोपे तु पक्षत्वं साधनेपि न वार्यते।
स्वरूपेणैव निर्दिश्यस्तथा सति भवत्यसौ॥३६६॥

जिज्ञासितविशेषस्तु धर्मी यैः पक्ष इष्यते।
तेषां संति प्रमाणानि स्वेष्टसाधनतः कथं॥३६७॥

धर्मिण्यसिद्धरूपेपि हेतुर्गमक इष्यते।
अन्यथानुपपन्नत्वं सिद्धं सद्भिरसंशयं॥३६८॥

धर्मिसंतानसाध्याश्चेत् सर्वे भावाः क्षणक्षयाः।
इति पक्षो न युज्येत हेतोस्तद्धर्मतापि च॥३६९॥

हैं। उन प्रसिद्ध साध्यों के साधने में प्रवृत्त हेतु भी स्वरूप समान कार्य नहीं करता है अतः अकिंचित्कर हेत्वाभास है। यदि उस साध्य में कोई संशय, विपर्यय, अज्ञान नाम का समारोप उपस्थित हो जाता है तब उस साध्य का पक्षपना निवारण नहीं किया जा सकता है। अर्थात्-हेतु के भी यदि समारोप हो जाता है तो उस हेतु को साध्य कोटि में लाकर अन्य हेतुओं से पक्ष बना लिया जाता है। ऐसा होने पर वह संदिग्ध, विपर्यस्त, अज्ञात साध्य अपने स्वकीय रूप के द्वारा ही निर्देश करने योग्य होता है॥३६५-३६६॥

जिन वादियों के द्वारा यह कहा जाता है कि पक्ष तो प्रसिद्ध ही होना चाहिए किन्तु जिस पक्ष के जानने की इच्छा विशेषरूप से उत्पन्न हो रही है, वह धर्मी पक्ष बना लिया जाता है। उन नैयायिक या बौद्धों के यहाँ "प्रमाणानि सन्ति स्वेष्टसाधनात्" प्रत्यक्ष आदिक प्रमाण हैं, अपने-अपने अभीष्ट तत्त्वों की सिद्धि होना देखा जाता है। यह पक्ष कैसे बन सकेगा? यहाँ धर्मी प्रमाणों के द्वारा सर्वथा अप्रसिद्धरूप होने पर भी हेतु गमक कैसे मान लिया गया है ? किन्तु सज्जन विद्वानों ने यहाँ संशयरहित अन्यथानुपपत्ति को सिद्ध माना है अतः यह समीचीन हेतु है।

भावार्थ : बौद्धों का यह अभिप्राय था कि संदिग्ध पुरुष को ही तत्त्व को जानने की इच्छा होती है, विपर्ययी और अज्ञानी तो जानने, समझने की इच्छा नहीं रखते हैं। इसके प्रत्युत्तर में आचार्यों ने कहा है कि "इष्ट साधन की व्यवस्था होने से प्रमाणतत्त्व है।" यह तो विपरीत ज्ञानी या अज्ञानियों के प्रति ही विशेषरूप से सिद्ध किया जाता है। जो शून्यवादी या उपप्लववादी प्रमाण को किसी भी प्रकार से जानना नहीं चाहते हैं, उनके प्रति उक्त प्रमाण साधक अनुमान कहा जाता है अतः प्रसिद्ध किन्तु जिज्ञासित विशेष को पक्ष नहीं कहना चाहिए॥३६७-३६८॥

यदि कहो कि धर्मी की संतान साध्य है, क्योंकि वह संतान देर तक टिकती है, तबतो सम्पूर्ण पदार्थ क्षणिक है, यह पक्ष ठीक नहीं हो सकेगा। तथा हेतु को उस पक्ष का धर्मपना भी नहीं बन सकेगा। क्योंकि उस प्रकरण में सम्पूर्ण रूप से धर्मी पदार्थों की प्रत्यक्ष प्रमाण से प्रसिद्धि नहीं है। यदि अन्य अनुमान से उन

प्रत्यक्षेणाप्रसिद्धत्वाद्धर्मिणामिह कात्स्र्यतः।
अनुमानेन तत्सिद्धौ धर्मिसत्ताप्रसाधनं ॥३७०॥

परप्रसिद्धितस्तेषां धर्मित्वं हेतुधर्मवत्।
ध्रुवं तेषां स्वतंत्रस्य साधनस्य निषेधकं ॥३७१॥

प्रसंगसाधनं वेच्छेत्तत्र धर्मिग्रहः कुतः।
इति धर्मिण्यसिद्धेपि साधनं मतमेव च ॥३७२॥

व्याप्यव्यापकभावे हि सिद्धे साधनसाध्ययोः।
प्रसंगसाधनं प्रोक्तं तत्प्रदर्शनमात्रकं ॥३७३॥

अथ निःशेषशून्यत्ववादिनं प्रति तार्किकैः।
विरोधोद्भावनं स्वेष्टे विधीयेतेति संमतं ॥३७४॥

सम्पूर्ण पदार्थों के ज्ञान की सिद्धि करोगे तब तो यहाँ धर्मियों की सत्ता को प्रसिद्ध करना आवश्यक कार्य होगा। अर्थात्-क्षणिकत्व को साधने वाला अनुमान गौण हो जायेगा ॥३६९-३७०॥

पक्षधर्मत्व हेतु के समान उन धर्मियों की अन्यवादियों के यहाँ प्रसिद्धि हो जाने से उनको धर्मीपना दृढ़रूप से निश्चित है। ऐसा कहने वाले उन बौद्धों के यहाँ स्वतंत्र नामके साधन का निषेध करने वाला यह प्रसंग साधन इष्ट है। किन्तु वहाँ भी धर्मी का ग्रहण कैसे होगा वा किस प्रमाण से होगा?

भावार्थ : अनुमान के द्वारा प्रकृत साध्य को साधने वाले हेतु दो प्रकार के होते हैं। एक स्वतंत्र साधन, दूसरा प्रसंग साधन। जिसमें पक्ष, हेतु, दृष्टांत विद्यमान रहते हैं, वहाँ पर व्याप्ति को स्मरण करा कर साध्य को साधने वाला हेतु स्वतंत्र साधन कहा जाता है, और पर की दृष्टि से वादी को अनिष्ट का आपादन करा देने वाला हेतु प्रसंगसाधन कहलाता है। जैसे यह पर्वत अग्नियुक्त है-धूम होने से या शब्द परिणामी है-कृतक होने से, इत्यादि हेतु अपने साध्य को साधने में स्वतंत्र है। प्रसंग साधन हेतु से कोई परोक्ष पदार्थ सिद्ध नहीं हो सकता है। उस प्रसंग साधन हेतु से केवल अज्ञान की निवृत्ति होती है। इस प्रकार धर्मी का ग्रहण करना कठिन है। तभी तो सिद्धान्त में धर्मी के अप्रसिद्ध होने पर भी सद्धेतु मान ही लिया गया है। अतः साध्य के प्रसिद्ध होने का आग्रह करना प्रशस्त नहीं है ॥३७१-३७२॥

साधन और साध्य के व्याप्य व्यापकभाव के सिद्ध हो जाने पर प्रसंग साधन कहना उसका प्रदर्शन मात्र है ॥३७३॥

अब आचार्य कहते हैं कि सम्पूर्ण पदार्थों को शून्य कहने वाले शून्यवादी के प्रति नैयायिकों के द्वारा जो अपने इष्ट विषय में विरोध का उत्थापन किया जाता है, उसमें हम सम्मत हैं। सबसे प्रथम वह शून्यवाद अप्रमाण होने से अकिंचित्कर दीख रहा है। तथा शून्यवाद के प्रमाण से अप्रसाधन (अप्रसिद्ध) होने पर सप्रमाणकता कैसे आ सकती है? अर्थात् जब तक 'सर्वशून्यं शून्य' इस मंतव्य के प्रमाण से प्रकृष्ट सिद्धि

तदप्रमाणकं तावदकिंचित्करमीक्ष्यते।
सप्रमाणकता तस्य क्व प्रमाणाप्रसाधने॥३७५॥
नन्विष्टसाधनात् संति प्रमाणानीति भाषणे।
समः पर्यनुयोगोयं प्रमा शून्यत्ववादिनः॥३७६॥
तदिष्टसाधनं तावदप्रमाणमसाधनम्।
स्वसाध्येन प्रमाणं तु न प्रसिद्धं द्वयोरपि॥३७७॥
तदसंगतमिष्टस्य संविन्मात्रस्य साधनम्।
स्वयं प्रकाशनं ध्वस्तव्यभिचारं हि सुस्थितं॥३७८॥
स्वसंवेदनमध्यक्षं वादिनो मानमंजसा।
ततोन्येषां प्रमाणानामस्तित्वस्य व्यवस्थितिः॥३७९॥
नन्विष्टसाधनं धर्मिप्रमाणैरपरैर्युतम्।
तदिष्टसाधनत्वस्येतरथानुपपत्तितः॥३८०॥
एवं प्रयोगतः सिद्धिः प्रमाणानामनाकुलम्।
तत्सत्ता नैव साध्या स्यात्सर्वत्रेति परे विदुः॥३८१॥

नहीं होती है, तब तक उस शून्यवाद को प्रामाणिकता कैसे आ सकती है। शून्यवाद के द्वारा प्रमाण से शून्यवाद की सिद्धि नहीं हो सकती है, क्योंकि शून्यवादी के प्रमाण भी नहीं है॥३७४-३७५॥

इष्ट की सिद्धि होने से शून्यवाद प्रमाण है, यह सिद्ध होता है। इस प्रकार शून्यवादी के कहने पर आचार्य कहते हैं कि प्रमाण का शून्यपना मानने वाले वादी की ओर से यही पर्यनुयोग समान रूप से लागू होता है क्योंकि शून्यवादियों के तो इष्ट का साधन अप्रमाण (प्रमाणशून्यपना) है और असाधन है अत: इष्टसाधन द्वारा वस्तुभूत प्रमाणों की सिद्धि नहीं हो सकी है।

नैयायिक, शून्यवादी इन दोनों के यहाँ भी अपने-अपने साध्य के साथ प्रमाणपना प्रसिद्ध नहीं है जिससे उनके शून्यवाद की सिद्धि हो सके॥३७६-३७७॥

तथा शून्यवादी बौद्धों का कहना पूर्वापरसंगति से रहित है, क्योंकि अकेले शुद्धसंवेदन का ही साधन करना उन्हें अभिप्रेत है जो कि स्वयं प्रकाशित और व्यभिचार दोषों से रहित स्थित है। तब स्वसंवेदन नामका प्रत्यक्ष ही वादी के यहाँ निर्दोष प्रमाण सिद्ध होता है, अत: अन्य इन्द्रिय प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणों के अस्तित्व की भी व्यवस्था हो जाती है अर्थात्-जो प्रमाण, प्रमेय, स्व, पर, वादी, प्रतिवादी, स्वपक्षसाधन, परपक्षदूषण, सम्यग्ज्ञान, मिथ्याज्ञान आदि कुछ भी नहीं मानता है, वह तो स्वयं भी नहीं है अत: इष्टतत्त्व के साधने से प्रमाणों की सिद्धि का आपादन (ग्रहण) करना समुचित ही है॥३७८-७९॥

यहाँ कोई प्रतिवादी प्रश्न करता है कि जिन शून्यवादियों के यहाँ इष्टसाधन हेतु की प्रसिद्धि नहीं है, उनके प्रति इष्टसाधन को धर्मी बनाकर फिर दूसरे प्रमाणों से युक्त होना सिद्ध करोगे, अन्यथा उस इष्ट

यतोभयं तदेवैषां स्वयमग्रे व्यवस्थितम्।
हेतोरनन्वयत्वस्य प्रसंजनमसंशयं ॥३८२॥

सत्तायां हि प्रसाध्यायां विशेषस्यैव साधनात्।
यथानन्वयतादोषस्तथात्राप्यनिदर्शनात् ॥३८३॥

हेतोरनन्वयस्यापि गमकत्वोपवर्णने।
सत्ता साध्यास्तु मानानामिति धर्मी न संगरः ॥३८४॥

धर्मिधर्मसमूहोत्र पक्ष इत्यपसारितम्।
एतेनेति स्थितः साध्यः पक्षो विध्वस्तबाधकः ॥३८५॥

व्याप्तिकाले मतः साध्यः पक्षो येषां निराकुलः।
सोन्यथैव कथं तेषां लक्षणव्यवहारयोः ॥३८६॥

साधन की सिद्धि नहीं हो सकती। यदि इस प्रकार के अनुमान प्रयोग से प्रमाणों की आकुलतारहित सिद्धि मान ली जाती है तब तो सभी स्थानों पर उन प्रमाणों की सत्ता को साध्य नहीं करना चाहिए॥३८०-३८१॥

इसके प्रत्युत्तर में आचार्य कहते हैं कि जिस बात से इन शून्यवादियों को भय था वह प्रसंग इनके सन्मुख आकर स्वयं उपस्थित हो गया अर्थात् शून्यवादी प्रमाणों की सिद्धि को मानना नहीं चाहते थे क्योंकि इष्टसाधन हेतु का अन्वय दृष्टान्त नहीं मिलने के कारण वह कह रहा था कि अन्वय दृष्टान्त के बिना इष्टसाधन हेतु प्रमाणों को सिद्ध नहीं कर सकता है। शून्यवादियों ने अन्वयदृष्टान्त बन जाने के लिए कोई वस्तुभूत पदार्थ माना ही नहीं है अतः हेतु के अन्वयदृष्टान्त से रहितपन का प्रसंग देना निःसंशय है। परन्तु सामान्यरूप से सामान्यप्रमाण की सत्ता सिद्ध हो जाने पर विशेष प्रमाण की ही सत्ता को साध्य बनाने में इष्टसाधन हेतु का प्रयोग करना सफल हो जाता है। जिस प्रकार अन्वयरहितपना दोष है, उसी प्रकार दृष्टांत के न होने से तुम शून्यवादियों के यहाँ भी अपने इष्ट की सिद्धि नहीं हो सकती है अर्थात् शून्यवादी के वस्तुपदार्थ नहीं होने से प्रमाण के अभाव सिद्धि करने में अन्वयत्व और दृष्टांत का अभाव है॥३८२-३८३॥

यदि अन्वय दृष्टांत से रहित हेतु को भी साध्य का ज्ञापकपना अभीष्ट कर लोगे, तब तो प्रमाणोंकी सत्ता भी साध्य हो जायेगी। इस प्रकार धर्मी प्रसिद्ध ही होना चाहिए, यह प्रतिज्ञा सिद्ध नहीं हो सकती अर्थात् धर्मी एकान्त से प्रसिद्ध ही होता है, ऐसा नहीं है॥३८४॥

इस प्रकरण में 'धर्मी और धर्म का समुदाय पक्ष है।' यह भी इस उक्त कथन द्वारा निवारण कर दिया गया है अतः इससे यह सिद्ध हुआ कि जिसके बाधक ज्ञान विध्वस्त हो गये हैं उसे साध्य पक्ष माना गया है॥३८५॥

जिन विद्वानों के यहाँ व्याप्तिग्रहण काल में निराकुल होकर साध्य ही पक्ष माना गया है, उनके यहाँ वह साध्य व्याप्ति स्वरूप ग्रहण करने के काल में और अनुमान प्रयोग करने पर व्यवहारकाल में दूसरे प्रकार का कैसे हो सकता है? जो साध्य के साथ निर्णीत हेतु की व्याप्ति हो जाने पर व्याप्ति काल में साधा जा रहा

व्याप्तिः साध्येन निर्णीता हेतोः सार्धं प्रसाध्यते।
तदेवं व्यवहारेपीत्यनवद्यं न चान्यथा ॥३८७॥

धर्मिणोप्यप्रसिद्धस्य साध्यत्वाप्रतिघातितः।
अस्ति धर्मिणि धर्मस्य चेति नोभयपक्षता ॥३८८॥

तद्यत्र साधनाद्बोधो नियमादभिजायते।
स तस्य विषयः साध्यो नान्यः पक्षोस्तु जातुचित् ॥३८९॥

तदेवं शक्यत्वादिविशेषणसाध्यसाधनाय कालापेक्षत्वेन व्यवस्थापिते अन्यथानुपपत्त्येकलक्षणे साधने च प्रकृतमभिनिबोधलक्षणं व्यवस्थितं भवति। यः साध्याभिमुखो बोधः साधनेनानिंद्रियसहकारिणा नियमितः सोभिनिबोधः स्वार्थानुमानमिति। कश्चिदाह;—

है, उसी प्रकार व्यवहार काल में भी साध्य वही रहेगा। दूसरे प्रकार से व्यवस्था करना ठीक नहीं है। निर्णीत को व्यवहार में लाना ही निर्दोष मार्ग है॥३८६-३८७॥

अत: अप्रसिद्ध धर्मी का साध्यपना प्रतिहत नहीं होता है। अर्थात्-अप्रसिद्ध धर्मी का भी साध्यपना सुरक्षित है और धर्मी के होने पर धर्म का अस्तित्व है अत: धर्मी और धर्म दोनों के समुदाय को पक्ष कहना ठीक नहीं है॥३८८॥

अत: जहाँ अविनाभाव नियम के अनुसार साधन से साध्य का बोध हो जाता है, साध्य उस अविनाभावी हेतु का ज्ञेय विषय है, उससे पृथक् पक्ष कदाचित् भी नहीं हो सकता है॥३८९॥

अत: यहाँ तक हेतु, साध्य और पक्ष का विशेष विचार किया गया है। शक्यपन आदि विशेषणों से युक्त साध्य को साधने के लिए प्रयोगकाल की अपेक्षा अन्यथानुपपत्ति एक लक्षणवाले हेतु की व्यवस्था करने पर यह प्रकरणप्राप्त अनुमान स्वरूप अभिनिबोध का लक्षण करना व्यवस्थित हो जाता है। अर्थात् इस प्रकरण में सामान्य मतिज्ञान को अभिनिबोध नहीं माना है। किन्तु, अन्यथानुपपत्ति लक्षण वाले हेतु से शक्य, अभिप्रेत, असिद्ध साध्य का ज्ञान कर लेना अभिनिबोध है।

मन की सहकारिता को प्राप्त ज्ञापक हेतु के द्वारा साध्य के अभिमुख होकर नियम प्राप्त जो ज्ञान है, वह अभिनिबोध है। ''अभि'' यानी अभिमुख, नि यानी अविनाभावरूप नियम प्राप्त, बोध यानी ज्ञान है। वह अभिनिबोध स्वार्थानुमान है। यह प्रकरण के अनुसार अभिनिबोध का सिद्धांत लक्षण है।

कोई (जैन) कहता है-

प्रश्न : इन्द्रियों से ग्रहण करने योग्य अर्थ और इन्द्रियों से नहीं ग्रहण करने योग्य अतीन्द्रिय अर्थ के अभिमुख नियमित ज्ञान करना अभिनिबोध माना गया है। किन्तु इन्द्रिय और मन से सहकृत केवल ज्ञापक लिंग से उत्पन्न ज्ञान अभिनिबोध नहीं माना जाता है। अर्थात् 'मतिः स्मृतिः' आदि सूत्र में कथित अभिनिबोध का अर्थ स्वार्थानुमान और क्वचित् अभेद दृष्टि से परार्थानुमान है किन्तु सामान्य अभिनिबोध का अर्थ सभी

इंद्रियाणींद्रियार्थाभिमुखो बोधो न तु स्मृत: । नियतोक्षमनोभ्यां य: केवलो न तु लिंगज: ।।३९०।।

इंद्रियानिंद्रियाभ्यां नियमित: कृत: स्वविषयाभिमुखो बोधोभिनिबोध: प्रसिद्धो न पुनरनिंद्रियसहकारिणा लिंगेन लिंगिनियमित: केवल एव चिंतापर्यंतस्याभिनिबोधत्वाभावप्रसंगात्। तथा च सिद्धांतविरोधोऽशक्य: परिहर्तुमित्यत्रोच्यते—

सत्यं स्वार्थानुमानं तु विना यच्छब्दयोजनात्। तन्मानांतरतां मागादिति व्याख्यायते तथा ।।३९१।।

न हि लिंगज एव बोधोभिनिबोध इति व्याचक्ष्महे। किं तर्हि। लिंगजो बोध: शब्दयोजनरहितोभिनिबोध एवेति तस्य प्रमाणांतरत्वनिवृत्ति: कृता भवति सिद्धांतश्च संगृहीत: स्यात्। न हींद्रियानिंद्रियाभ्यामेव स्वविषयेभिमुखो नियमितो बोधोभिनिबोध इति सिद्धांतोस्ति स्मृत्यादेस्तद्भावविरोधात्। किं तर्हि। सोनिंद्रियेणापि वाक्यभेदात्। कथं अनिंद्रियजन्याभिनिबोधिकमनिंद्रियजाभिमुखनियमितबोधनमिति व्याख्यानात्।

मतिज्ञान है। अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा, स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क ये सभी ज्ञान इन्द्रिय अथवा मन से उत्पन्न हुए होने के कारण मतिज्ञान माने गये हैं, फिर अकेले अनुमान को ही अभिनिबोध क्यों कहते हैं? ।।३९०।।

इन्द्रिय और अनिन्द्रिय से नियमितकृत तथा अपने विषय की ओर अभिमुख ज्ञान अभिनिबोध नाम से प्रसिद्ध है। किन्तु फिर मन को ही सहकारी कारण मानकर ज्ञापक हेतु के द्वारा साध्य के साथ नियमित केवल अनुमान ही अभिनिबोध नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर अवग्रह आदिक तथा स्मृति, प्रत्यभिज्ञान तर्कपर्यन्त ज्ञानों को अभिनिबोधपन के अभाव का प्रसंग आयेगा, और ऐसा होने पर आप्तोपज्ञ सिद्धान्त के साथ विरोध का परिहार नहीं किया जा सकता है।

उत्तर : यह कहना सत्य है, परन्तु शब्द की योजना के बिना जो हेतुजन्य स्वार्थानुमान होता है वह मतिज्ञान के सिवाय दूसरे श्रुत, अवधि आदि प्रमाणपन को प्राप्त न होवे, अत: इस प्रकार व्याख्यान कर दिया गया है। अर्थात् शब्द की योजना से सहित परार्थानुमान श्रुतज्ञान हो सकता है, परन्तु अर्थ से अर्थान्तर का ज्ञान नहीं करने वाला स्वार्थानुमान तो अभिनिबोध (मतिज्ञान) ही है ।।३९१ ।। गोमट्टसार आदि ग्रन्थों में अभिनिबोध को मतिज्ञान कहा है। ज्ञापक हेतु से ही उत्पन्न हुआ ज्ञान अभिनिबोध होता है। इस प्रकार एवकार लगा कर हम नहीं कहते हैं। तो क्या कहते हैं? वाचक शब्दों की योजना से रहित लिंगजन्य ज्ञान है, वह अभिनिबोध है। उस लिंगजन्य ज्ञान को श्रुतज्ञान आदि अन्य प्रमाणपन हो जाने की निवृत्ति कर दी गई है तथा ऐसा कहने पर जैन सिद्धान्त का संग्रह भी कर लिया गया है। केवल इन्द्रियों और अनिन्द्रियों के द्वारा अपने विषय (स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, शब्द और सुख, ज्ञान, वेदना आदि विषयों) में अभिमुख नियमप्राप्त बोध ही अभिनिबोध है, यह जैन सिद्धान्त नहीं है। क्योंकि ऐसा मानने पर तो स्मृति, तर्क, संज्ञा इन ज्ञानों को उस अभिनिबोधत्व को सद्भाव का विरोध हो जायेगा। अर्थात्-इन्द्रियों और अनिन्द्रिय से नियमित अभिमुख विषयों में एकदेश विशद जानने को ही अभिनिबोध यदि माना जाएगा तो स्मृति, संज्ञा, चिंता ज्ञानों को अभिनिबोधपना विरुद्ध हो जायेगा।

नन्वेवमप्यर्थापत्तिः प्रमाणांतरमप्रत्यक्षत्वात् परोक्षभेदेषूक्तेष्वनंतर्भावात्। प्रमाणषट्कविज्ञातस्यार्थस्यान्यथा-भवनयुक्तस्य सामर्थ्याददृष्टान्यवस्तुकल्पने अर्थापत्तिव्यवहारात्। तदुक्तं। "प्रमाणषट्कविज्ञातो यत्रार्थोनन्यथा भवेत्। अदृष्टं कल्पयेदन्यं सार्थापत्तिरुदाहृता॥" प्रत्यक्षपूर्विका ह्यर्थापत्तिः प्रत्यक्षविज्ञातादर्थादन्यथा दृष्टेर्थे प्रतिपत्तिर्यथा रात्रिभोजी देवदत्तोयं दिवाभोजनरहितत्वे चिरंजीवित्वे च सति स्तनपीनांगत्वान्यथानुपपत्तेरिति, अनुमानपूर्व्विका वानुमानविज्ञातादर्थाद्यथागमन शक्तिमानादित्यादिर्गत्यन्यथानुपपत्तेरिति।

प्रश्न : अभिनिबोध क्या है?

उत्तर : अभिनिबोध अनिन्द्रिय द्वारा भी अपने विषय में अभिमुख होकर नियमित अर्थ को जानता है। इस प्रकार 'इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तं' अथवा 'अणिंदइन्दियजं' इन वाक्यों के योगविभागकर वाक्यभेद कर देने से उक्त अर्थ निकल जाता है।

शंका : यह अर्थ कैसे निकलता है?

उत्तर : मनरूप अनिन्द्रिय से उत्पन्न हुआ आभिनिबोधिक तो अनिन्द्रिय से सहकृत लिंग से उत्पन्न हुआ है और नियमयुक्त साध्य के अभिमुख ज्ञान है इस प्रकार व्याख्यान किया गया है।

भावार्थ : इन्द्रिय और अनिन्द्रिय से मतिज्ञान उत्पन्न होता है। इस पहले वाक्य के द्वारा अवग्रह आदि गृहीत हो जाते हैं और अनिन्द्रिय से मतिज्ञान होता है। इस दूसरे वाक्य में लिंग से सहकृतपना होने से अभिनिबोध द्वारा स्वार्थानुमान का संग्रह हो जाता है।

मीमांसकों का कहना है कि इस प्रकार अर्थापत्ति नामका भी एक पृथक् प्रमाण मानना चाहिए क्योंकि वह अविशद होने से प्रत्यक्षप्रमाण तो नहीं है और परोक्ष प्रमाण के कहे हुए मति, स्मृति, संज्ञा, चिंता, अभिनिबोध, आगम इन भेदों में उस अर्थापत्ति का अंतर्भाव भी नहीं होता है। तथा प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शाब्द, अर्थापत्ति अभाव इन छह प्रमाणों से ज्ञान अर्थ का अन्यथा भवन् (उस अदृष्ट के बिना नहीं होने) से युक्त अर्थ के सामर्थ्य से अदृष्ट दूसरी वस्तु की कल्पना में अर्थापत्ति प्रमाण का व्यवहार होता है।

मीमांसक ग्रन्थों में भी कहा गया है कि-प्रत्यक्ष आदि छह प्रमाणों में से प्रमाण के द्वारा ज्ञात अर्थ जहाँ अनन्यथाभूत है उस दूसरे अदृष्टअर्थ की जिस प्रमाण से कल्पना कराई जाती है, वह अर्थापत्ति प्रमाण कहा गया है अर्थात् अर्थापत्ति प्रमाण से भी लौकिक व्यवहार होता है।

प्रत्यक्ष ज्ञान से ज्ञात और अविनाभूत अर्थ के द्वारा अदृष्ट अर्थ में प्रतिपत्ति होना ही प्रत्यक्षपूर्वक अर्थापत्ति है। जैसे देवदत्त अवश्य रात में भोजन करता है क्योंकि दिन में भोजन नहीं करने वाला और अधिक काल तक जीवित रहने वाला यह देवदत्त स्थूलस्तन सहित शरीर वाला अन्यथा नहीं हो सकता! अनुमान प्रमाणों से ज्ञात अर्थ से अदृष्ट अर्थ को जान लेना अनुमान पूर्विका अर्थापत्ति है। जैसे-सूर्य, चन्द्रमा आदि पदार्थ गमन शक्ति से युक्त हैं क्योंकि देश से देशान्तर गमनरूप गति होना उनमें गमन शक्ति के बिना नहीं बन सकता है। यह अनुमान पूर्विका अन्यथानुपपत्ति ही है।

तथोपमानपूर्विकोपमानविज्ञातादर्थाद्वाहादिशक्तिरयं गवयो गवयत्वान्यथानुपपत्तेरिति, तथागमपूर्विका आगमविज्ञातादर्थादर्थप्रतिपादनशक्ति: शब्दो नित्यार्थसम्बन्धत्वान्यथानुपपत्तेरिति, तथार्थापत्तिपूर्विकार्थापत्तिरर्थापत्तिप्रमाणविज्ञातादर्थाद्यथारात्रिभोजनशक्ति: विवादापन्नो देवदत्तोयं रात्रिभोजित्वान्यथानुपपत्तेरिति। तथैवाभावपूर्विकार्थापत्तिरभावप्रमाणविज्ञातादर्थाद्यथास्माद्गृहाद्बहिस्तिष्ठति देवदत्तो जीवित्वे सत्यत्राभावान्यथानुपपत्तेरिति। एतेनाभावस्य प्रमाणांतरत्वमुक्तमुपमानस्य वा वस्तुनो सत:

उपमान प्रमाण से ज्ञात अन्यथाभूत अर्थ से अदृष्ट अर्थ की जो कल्पना की जाती है कि यह रोझ (गवय) पशु लादना, दौड़ना आदि शक्तियों से युक्त है, अन्यथा (दौड़ना आदि शक्तियों से सहितपन के बिना) गवयपना नहीं बनता है। यह उपमान पूर्विका अर्थापत्ति है।

भावार्थ : यहाँ गौ के सदृश गवय है। ऐसे वृद्धवाक्य को सुनकर वन में जाकर गलकम्बल से रहित बैल सरीखे पशु को देखकर 'यह गवय है' ऐसा उपमान प्रमाण द्वारा जान लिया जाता है।

पुन: गवयपने से 'वाह' आदि अतीन्द्रिय शक्तियों का अर्थापत्ति द्वारा ज्ञान कर लिया जाता है।

तथा आगमप्रमाण द्वारा ज्ञात अर्थ से अविनाभावी अदृष्ट अर्थ का ज्ञान कर लेना आगमपूर्वक अर्थापत्ति है जैसे कि यह शब्द अमुक अर्थ को प्रतिपादन करने की शक्ति से तदात्मक है। नित्य अर्थ के साथ सम्बन्ध अन्यथा (अर्थ प्रतिपादन शक्ति के साथ तदात्मक) बन नहीं सकता है। अर्थात्-यहाँ स्वाभाविकी योग्यता और संकेत के वश शब्द और अर्थ के नित्य रहने वाले सम्बन्ध सहितत्व को आगम प्रमाण द्वारा निर्णीत कर पुन: नित्य अर्थ के सम्बन्धी शब्द की अर्थ प्रतिपादन शक्ति का अर्थापत्ति द्वारा ज्ञान कर लिया जाता है।

अनुमान आदि को कारण मानकर प्रथम अर्थापत्ति बना ली जाती है पुन: उस अर्थापत्ति प्रमाण से ज्ञात अर्थ से अविनाभावी अदृष्ट अर्थ की दूसरी ज्ञप्ति करना अर्थापत्तिपूर्विका अर्थापत्ति कही जाती है जैसे कि भोजन कर सकने वाला और भोजन नहीं कर सकने वाला, इस प्रकार विवाद में पड़ा हुआ यह देवदत्त रात को खाने की शक्ति से युक्त है क्योंकि अर्थापत्ति से जान लिया गया रात्रिभोजीपना अन्यथा (भोजन करने की शक्ति के बिना) अनुपपन्न है। यहाँ प्रत्यक्ष प्रमाण से देवदत्त के अविकृत मोटेपन को देखकर दिन में नहीं खाने वाले देवदत्त का रात्रि में भोजन करना प्रथम अर्थापत्ति से जान लिया जाता है। पुन: रात्रिभोजनपन की अन्यथानुपपत्ति से रात में भोजन करने की शक्ति का ज्ञान दूसरी अर्थापत्ति से किया जाता है।

तथा अभाव प्रमाण द्वारा ज्ञात अविनाभूत अर्थ से अदृष्ट अन्य अर्थ में कल्पना उठाना अभावपूर्वक अर्थापत्ति है। जैसे कि इस घर से बाहर प्रदेश में देवदत्त ठहरा हुआ है, क्योंकि जीवित होने पर देवदत्त का यहाँ घर में नहीं रहना अन्यथा (बाहर ठहरने के बिना) असम्भव है। अर्थात्-जीवित देवदत्त घर में नहीं है तो वहाँ बाहर अवश्य है, ऐसा निर्णय कर लिया जाता है।

सदुपलंभकप्रमाणाप्रवृत्तेरभावप्रमाणस्यावश्याश्रयणीयत्वात्। सादृश्यविशिष्टाद्वस्तुनो वस्तुविशिष्टाद्वा सादृशात् परोक्षार्थप्रतिपत्तिरभ्युपगमनीयत्वाच्चेति केचित्। संभवः प्रमाणांतरमाढकं दृष्ट्वा संभवत्यर्द्धाढकमिति प्रतिपत्तेरन्यथा विरोधात्। प्रातिभं च प्रमाणांतरमत्यंताभ्यासादन्यजनावेद्यस्य रत्नादिप्रभावस्य झटिति प्रतिपत्तेर्दर्शनादित्यन्ये तान् प्रतीदमुच्यते;—

सिद्धः साध्याविनाभावो ह्यर्थापत्तेः प्रभावकः। संभवादेश्च यो हेतुः सोपि लिंगान्न भिद्यते॥३९२॥

दृष्टांतनिरपेक्षत्वं लिंगस्यापि निवेदितम्। तन्न मानांतरं लिंगादर्थापत्त्यादिवेदनम्॥३९३॥

इस उक्त कथन से अभावप्रमाण को भी स्मृति आदिकों से पृथक् प्रमाणपना सिद्ध कर दिया गया है तथा सादृश्य को विषय करने वाला उपमान भी पृथक् प्रमाण है। वस्तु के सद्भावों को ही जानने वाले प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शाब्द, अर्थापत्ति इन पाँच प्रमाणों की वस्तु के असद्भाव को जानने में प्रवृत्ति नहीं होती है अतः अभाव को जानने के लिए अभाव प्रमाण का आश्रय करना भी अत्यावश्यक है।

तथा उपमान भी पृथक् प्रमाण अवश्य है क्योंकि सादृश्यविशिष्ट वस्तु से अथवा वस्तुविशिष्ट सादृश्य से परोक्ष अर्थ की प्रतिपत्ति करना सभी वादियों को स्वीकार करने योग्य है, इस प्रकार कोई मीमांसक कहते हैं।

कोई कहते हैं कि सम्भव भी पृथक् प्रमाण है। आढ़क[१] को देखकर उसमें अर्द्ध आढ़क सम्भव है उसका यह अर्ध आढ़क है। इस प्रकार की प्रतिपत्तियाँ होने का अन्यथा (संभव को प्रमाण माने बिना) विरोध है। एक पृथक् प्रमाण प्रातिभ भी है। अत्यन्त अभ्यास के वश से अन्य जनों के द्वारा नहीं जाने गये रत्न, स्वर्ण आदि के प्रभाव की तुरन्त प्रतिपत्ति होना देखा जाता है।

उन मीमांसक आदि विद्वानों का आचार्य समाधान करते हैं-

साध्य के साथ अविनाभाव रखना ही अर्थापत्ति प्रमाण को उत्पन्न कराने वाला सिद्ध किया गया है तथा सम्भव, प्रातिभ आदि प्रमाणों का उत्थापक जो हेतु माना गया है, वह भी अविनाभावी हेतु से भिन्न नहीं है, अर्थात्-अविनाभावी उत्थापक हेतुओं से उत्पन्न हुए सम्भव आदि भी अनुमान प्रमाण में गर्भित हो जाते हैं॥३९२॥

इस कथन से ज्ञापक हेतु के दृष्टान्त से निरपेक्षता का कथन कर दिया है। अर्थात् अन्वय दृष्टान्त के बिना भी हेतुओं से साध्य का ज्ञान अनुमान द्वारा हो जाता है अतः लिंग से उत्पन्न हुए अनुमान प्रमाण से अतिरिक्त अर्थापत्ति, सम्भव, प्रातिभ आदि पृथक् प्रमाण नहीं हैं। जैसे प्रत्यक्ष के कारण चक्षु, कर्मक्षय, क्षयोपशम आदि भिन्न जाति के होते हुए भी उनका कार्य प्रत्यक्ष एकसा माना गया है॥३९३॥

इस 'मतिः स्मृतिः' आदि सूत्र में मतिज्ञान के विशेष भेदों को उपलक्षणरूप से स्थित होना कहा है। अर्थात्-जैसे 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्', कौओं से दही की रक्षा करना। यहाँ कौआ पद से दही को बिगाड़ने वाली बिल्ली, कुत्ता आदि सबका ग्रहण होता है। ऐसे ही स्मृति आदि से सभी प्रातिभ, स्वानुभूति,

१. तौलने/मापने का एक विशेष परिमाण।

मतिज्ञानविशेषाणामुपलक्षणता स्थितं। तेन सर्वं मतिज्ञानं सिद्धमाभिनिबोधिकम् ॥३९४॥

तदिंद्रियानिंद्रियनिमित्तम् ॥ १४ ॥

मतिविज्ञानस्याभ्यंतरत्वात्तन्निमित्तं मतिज्ञानावरणवीर्यांतरायक्षयोपशमलक्षणं प्रसिद्धमेव वामुनानुमानादेस्तद्भावायोगादतः किमर्थमिदमुच्यते सूत्रमित्याशंकायामाह;—

तस्य बाह्यनिमित्तोपदर्शनायेदमुच्यते। तदित्यादिवचः सूत्रकारेणान्यमतच्छिदे ॥१॥

कस्य पुनस्तच्छब्देन परामर्शो यस्य बाह्यनिमित्तोपदर्शनार्थं तदित्यादिसूत्रमभिधीयत इति तावदाह;—

स्फूर्ति, प्रेक्षा, प्रज्ञा आदि का संग्रह कर लिया जाता है। अत: इन्द्रिय, अनिन्द्रियजन्य सर्व ही मतिज्ञान आभिनिबोधिक सिद्ध हो जाते हैं॥३९४॥ यद्यपि इन अवान्तर भेदों में सूक्ष्म भेद है, परन्तु सभी का मुख्य कारण मतिज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम है। इसलिए भेद रूप नहीं है।

यहाँ तक मतिज्ञान के सम्पूर्ण अनर्थान्तर विशेषों का वर्णन कर दिया गया है।

अब मतिज्ञान के निमित्त कारणों का निरूपण करने के लिए कहते हैं -

वह मतिज्ञान इन्द्रिय, स्पर्शन आदि पाँच तथा अनिन्द्रिय मन रूप निमित्तों से उत्पन्न होता है ॥१४॥

शंका : मतिज्ञान के विज्ञान का अभ्यन्तर निमित्त कारण मतिज्ञानावरण कर्म और वीर्यान्तराय कर्म का क्षयोपशम प्रसिद्ध ही है। तथा अनुमान, प्रत्यभिज्ञान आदि मतिज्ञानों को इन्द्रिय, अनिन्द्रिय निमित्तपने के सम्बन्ध का अयोग है। अर्थात् अनुमान के कारण हेतुज्ञान, व्याप्तिस्मरण, तर्कज्ञान हैं। प्रत्यभिज्ञान के कारण दर्शन और स्मरण हैं। स्मृति का कारण धारणा ज्ञान है। तर्क के कारण उपलम्भ और अनुपलम्भ हैं। इन्द्रिय और अनिन्द्रिय तो अनुमान, स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क इन मतिज्ञानों के कारण नहीं हैं। धारणा का भी अव्यवहित कारण अवायज्ञान है। अवाय का अव्यवहित कारण ईहा मतिज्ञान है। ईहा का निमित्त या उपादान अवग्रह ज्ञान है। अवग्रह का अव्यवहित पूर्ववर्त्ती दर्शन उपयोग है। अंतरंग कारण तो मतिज्ञानावरण का क्षयोपशम सभी मतिज्ञानों में उपयोगी है अत: इन्द्रिय और अनिन्द्रिय को मतिज्ञान का निमित्तकारण कहने वाले इस सूत्र की क्या आवश्यकता है?

समाधान : ऐसी आशंका होने पर आचार्य समाधान करते हैं कि उस मतिज्ञान के बहिरंग निमित्तों का प्रदर्शन कराने के लिए यह सूत्र कहा गया है। अर्थात्-अन्यवादियों के द्वारा ज्ञान के जो निमित्त कारण मन और इन्द्रियाँ मानी जाती हैं, वे बहिरंग निमित्त हैं तथा अन्यमतों का व्यवच्छेद करने के लिए सूत्रकार द्वारा तत् इन्द्रिय अनिन्द्रिय आदि वचन कहे गये हैं॥१॥

अर्थात् जो सन्निकर्ष, इन्द्रियवृत्ति, कारकसाकल्य आदि को मतिज्ञान का निमित्त मानते हैं उनका खण्डन किया गया है कि मतिज्ञान की उत्पत्ति का कारण इन्द्रिय और मन है, सन्निकर्ष आदि नहीं हैं।

तच्छब्देन परामर्शोनर्थांतरमिति ध्वनेः। वाच्यस्यैकस्य मत्यादिप्रकारस्याविशेषतः ॥२॥

मतिज्ञानस्य सामर्थ्याल्लभ्यमानस्य वाक्यतः। तदेव तच्च विज्ञानं नान्यथानुपपत्तितः ॥३॥

प्रत्यासन्नत्वादभिनिबोधस्य तच्छब्देन परामर्शः प्रसक्तश्चिंता तस्याः प्रत्यासत्तेरिति न मंतव्यमनर्थांतरमिति शब्देन वाच्यस्य मत्यादिप्रकारस्यैकस्याविशेषतः सामर्थ्याल्लभ्यमानस्य प्रत्यासन्नतरस्य सुखवद्भावात्तच्छब्देन परामर्शोत्पत्तेः स्वेष्टसिद्धेश्च तस्यास्य बाह्यनिमित्तमुपदर्शयितुमिदमुच्यते। किं पुनस्तदित्याह;—

वक्ष्यमाणं च विज्ञेयमत्रेंद्रियमनिंद्रियम्। तद् द्वैविध्यं विधातव्यं निमित्तं द्रव्यभावतः ॥४॥

प्रश्न : तत् यह सर्वनाम पद पूर्व में जाने गए विषय का परामर्श करने वाला है, तो फिर यहाँ तत् शब्द से किस परोक्ष पदार्थ का परामर्श किया जाता है,जिसके बहिरंग निमित्त कारणों को दिखलाने के लिए 'तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम्' यह सूत्र कहा गया है?

उत्तर : इस प्रकार जिज्ञासा होने पर आचार्य उत्तर देते हैं। पूर्वसूत्र में कथित अनर्थान्तर इस शब्द का तत् शब्द के द्वारा परामर्श होता है। पूर्वसूत्र में इति का अर्थ प्रकार कहा गया है अतः मति, स्मृति आदि प्रकार स्वरूप एक ही वाच्य अर्थ का सामान्यरूप से परामर्श कर लिया गया है ॥२॥ अर्थात् मति, स्मृति आदि सर्वज्ञान इन्द्रिय और मन की सहायता से उत्पन्न होते हैं।

प्रश्न : उपर्युक्त सूत्रवाक्य की सामर्थ्य से लभ्यमान मतिज्ञान का तत् शब्द के द्वारा परामर्श होना चाहिए। अर्थात् मति स्मृति इस सूत्र में मतिज्ञान के प्रकारों का ही कथन किया है। मतिज्ञान का नाम निर्देश नहीं है। फिर भी वाक्य की सामर्थ्य से मतिज्ञान ग्रहण किया जाता है अतः वही मतिज्ञानविशेष तत् है।

उत्तर : आचार्य कहते हैं कि ऐसा कहना उचित नहीं है क्योंकि अव्यवहित पूर्व में उपात्त अनर्थान्तर शब्द ही अन्यथानुपपत्ति होने से ग्राह्य है ॥३॥

पूर्व सूत्र द्वारा कथित मति, स्मृति आदि मतिज्ञान के पाँच भेदों में अन्त में कहे गये अभिनिबोध का निकटवर्ती होने से तत् शब्द द्वारा परामर्श होना प्रसंग प्राप्त है, और उस अभिनिबोध के निकटवर्ती होने से चिंता के परामर्श होने का भी प्रसंग आता है।

ऐसा कहना उचित नहीं है, क्योंकि अनर्थान्तर इस शब्द के द्वारा कथित मति, स्मृति आदि प्रकारों से युक्त मति आदि प्रकाररूप एक का सामान्यरूप से परामर्श होना बन जाता है। वह एक प्रकार ही वाक्य की सामर्थ्य से लभ्यमान है। अनर्थान्तर का वाच्य अत्यन्त निकट भी है अतः सुखपूर्वक उपस्थिति हो जाने के कारण उसका तत् शब्द के द्वारा परामर्श होना बन सकता है। तथा उसी से हमारे अभीष्ट की सिद्धि भी होती है अतः उस मति स्मृति आदि से अनर्थान्तर इस मतिज्ञान के बहिरंग निमित्त कारणों को दिखलाने के लिए यह सूत्र कहा जाता है फिर वे बहिरंग कारण कौन हैं? ऐसी जिज्ञासा होने पर आचार्य कहते हैं-

यहाँ द्वितीय अध्याय में कथित इन्द्रिय और अनिन्द्रिय को मतिज्ञान का निमित्त कारण जानना चाहिए। द्रव्य इन्द्रिय और भाव इन्द्रिय के भेद से वे इन्द्रियाँ दो प्रकार की हैं, ऐसा जानना चाहिए ॥४॥

वक्ष्यते हि स्पर्शनादींद्रियं पंच द्रव्यभावतो द्वैविध्यमास्तिघ्नुवानं तथानिंद्रियं चानियतमिंद्रियेष्टेभ्योन्य-त्वमात्मसात्कुर्वदिति नेहोच्यते। तद्बाह्यनिमित्तं प्रतिपत्तव्यं। किमिदं ज्ञापकं कारकं वा तस्येष्टं कुत: स्वेष्टसंग्रह इत्याह;—

निमित्तं कारकं यस्य तत्तथोक्तं विभागत:। वाक्यस्यास्य विशेषाद्वा पारंपर्यस्य चाश्रितौ ॥५॥

तद्धि निमित्तमिह न ज्ञापकं तत्प्रकरणाभावात्। किं तर्हि। कारकं। तथा च सति प्रकृतमिंद्रियमनिंद्रियं च निमित्तं यस्य तत्तथोक्तमेकं मतिज्ञानमिति ज्ञायते इष्टसंग्रह:। पुनरस्य वाक्यस्य विभजनात्तदिंद्रियानिंद्रियनिमित्तं

स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र ये पाँचों बहिरंग इन्द्रियाँ द्रव्य और भाव से दो प्रकार प्राप्त हैं तथा मन भी द्रव्य, भाव रूप से दो प्रकार का समझना चाहिए। जैसे चक्षु, रसना आदि के लिए स्थान नियत है, विषय नियत है, वैसे मन का स्थान और विषय नियत नहीं है। अत: विचलित मन नियत इष्ट की गई पाँच इन्द्रियों से भिन्नपने को अपने अधीन करता है।

अर्थात् आत्मा की मन इन्द्रियावरण के क्षयोपशम अनुसार विचार रूप परिणति भावमन है और हृदयस्थ कमल में मनोवर्गणा से बन गया पौद्गलिक पदार्थ द्रव्यमन है। तथापि इन्द्रियों के समान नियत विषय और नियत स्थान न होने से मन को यहाँ इन्द्रिय नहीं कहा गया है। मन और इन्द्रियों को मतिज्ञान के बहिरंग कारण समझना चाहिए।

क्या ये इन्द्रिय, अनिन्द्रिय उस मतिज्ञान के ज्ञापक हेतु हैं? अथवा कारक हेतु इष्ट किये हैं? किस प्रकार इनको हेतु मानकर अपने इष्ट सभी भेदों का संग्रह हो सकता है? ऐसी प्रतिपाद्य की आकांक्षा होने पर **विद्यानन्द आचार्य** कहते हैं -

जिसका जो निमित्त कारण है, वह उसका उस प्रकार कारक हेतु समझना चाहिए। इस सूत्र के वाक्य विशेष के द्वारा योग-विभाग करने से सभी इष्ट भेदों में इन्द्रिय अनिन्द्रिय निमित्तपना बन जाता है। अथवा परम्परा का आश्रय करने पर तो योगविभाग न करते हुए भी स्पर्शज्ञान, रूपज्ञान, स्मृति, चिंता आदि में इन्द्रिय और मन का निमित्तपना घटित हो जाता है ॥५॥

इस सूत्र में कथित मतिज्ञान के निमित्त इन्द्रियाँ और मन कहे हैं, वे ज्ञापक हेतु नहीं हैं? क्योंकि यहाँ उन ज्ञापक हेतुओं का प्रकरण नहीं है।

शंका : कौनसा हेतु है?

समाधान : वे कारक हेतु हैं और ऐसा होने पर प्रकृत इन्द्रिय और मन है निमित्त जिसका, इस बहुव्रीही समास के सामर्थ्य से उपर्युक्त सर्व मति स्मृति आदि सर्व मतिज्ञानों के भेदों का संग्रह हो जाता है।

अर्थात्-मतिज्ञानावरण के क्षयोपशम से होने वाले सर्व मतिज्ञान के भेद इन्द्रिय और मन के निमित्त से होते हैं अत: इस सूत्र से सभी भेद-प्रभेदों का संग्रह कर लिया गया है ऐसा समझना चाहिए। इस सूत्रवाक्य का एक बार इन्द्रिय और अनिन्द्रिय अर्थ कर लेना चाहिए। पुन: उस वाक्य का विभाग कर अकेले अनिन्द्रिय अर्थ को ही ग्रहण करना चाहिए। यह मतिज्ञान इन्द्रिय अनिन्द्रियनिमित्तों से उत्पन्न होता है। ऐसा

धारणापर्यंतं तदनिंद्रियनिमित्तं स्मृत्यादीनां सर्वसंग्रहात्। पारंपर्यस्य चाश्रयणे वाक्यस्याविशेषतो वाभिप्रेतसिद्धिः। यथा हि धारणापर्यंतं तदिंद्रियानिंद्रियनिमित्तं तथा स्मृत्यादिकमपि तस्य परंपरयेंद्रियानिंद्रियनिमित्तत्वोपपत्तेः। किं पुनरत्र तदेवेंद्रियानिंद्रियनिमित्तमित्यवधारणमाहोस्वित्तदिंद्रियानिंद्रियनिमित्तमेवेति कथंचिदुभयमिष्टमित्याह;—

वाक्यभेदाश्रये युक्तमवधारणमुत्तरं। तदभेदे पुनः पूर्वमन्यथा व्यभिचारिता ॥६॥

अर्थ करने से तो अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा तक के मतिज्ञान, इस लक्षण से युक्त हो जाते हैं और वह अनिन्द्रिय निमित्त से उत्पन्न होता है। ऐसा विभाग करने से स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान, इन सबका ग्रहण हो जाता है।

भावार्थ : धारणा पर्यन्तज्ञान तो इन्द्रिय अनिन्द्रिय दोनों से पृथक्-पृथक् उत्पन्न हो जाते हैं अतः पूरा वाक्य तो धारणा पर्यंत मतिज्ञानों में घटित होता है किन्तु स्मृति आदिक मतिज्ञान मन के निमित्त से ही उत्पन्न होते हैं अतः इस सूत्र का योग-विभाग कर अनिन्द्रिय पद ही अर्थ घटित होता है।

परम्परा से होने वाले निमित्त कारणों का आश्रय लेने पर तो विशेषरूप से वाक्य का विभाग नहीं करने पर भी अभिप्रेत की सिद्धि हो जाती है। जैसे अवग्रह से प्रारम्भ कर धारणापर्यन्त उन मतिज्ञानों के निमित्तकारण इन्द्रिय अनिन्द्रिय हैं, उसी प्रकार स्मृति आदि के भी स्वकीय निमित्तकारण इन्द्रिय और अनिन्द्रिय हैं, क्योंकि उन स्मृति आदि में परम्परा से इन्द्रिय और मन निमित्त कारण हैं। अर्थात्-सामान्यरूप से निमित्तकारणों का विचार करने पर सम्पूर्ण मतिज्ञानों के कारण इन्द्रिय और अनिन्द्रिय होते हैं।

यहाँ फिर किसी का प्रश्न है कि क्या वह मतिज्ञान ही इन्द्रिय और अनिन्द्रियरूप निमित्त कारण से होता है। ऐसी अवधारणा करना अभीष्ट है? अथवा क्या वह मतिज्ञान इन्द्रिय, अनिन्द्रियरूप निमित्तों से ही उत्पन्न होता है। यह नियम करना इष्ट है? इस प्रकार जिज्ञासा होने पर आचार्य महाराज कथंचित् दोनों ही अवधारणाओं को इष्ट करते हुए यह कारिका कहते हैं -

'तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तं' इस सूत्र का योगविभाग कर वाक्यभेद का आश्रय करने पर तो इन्द्रिय और मन के निमित्त से मतिज्ञान उत्पन्न होता है, ऐसी अवधारणा करना युक्त है अर्थात् - इन्द्रिय अनिन्द्रिय निमित्तों से ही वह मतिज्ञान होता है। धारणा पर्यन्त मतिज्ञान तो इन्द्रिय, मन दोनों से ही उत्पन्न होता है और स्मृति आदि मतिज्ञान मन से ही उत्पन्न होते हैं। यदि वाक्यभेद इष्ट नहीं है, तब यह अवधारणा करना अयुक्त है क्योंकि स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमानरूप वह मतिज्ञान तो स्वातंत्र्य से इन्द्रिय मन दोनों के द्वारा उत्पन्न नहीं होता है तथा उस वाक्यभेद का आश्रय नहीं करने पर इन्द्रिय मन से ही मतिज्ञान उत्पन्न होता है यह अवधारण करना उपयुक्त है। अन्यथा सूत्र - वाक्य के अर्थ में व्यभिचारी दोष उपस्थित होता है।

भावार्थ : मन, इन्द्रिय दोनों ही स्वतंत्र कारणों से मतिज्ञान ही उत्पन्न होता है। इस पूर्व अवधारणा को नहीं मानने पर मतिज्ञान के सिवाय अन्य ज्ञानों को भी इन्द्रियजन्यपने का प्रसंग आता है। अतः उद्देश्य दल में अवधारणा कर देने से व्यभिचार की संभावना नहीं है। मतिज्ञान ही इन्द्रिय अनिन्द्रिय उभय से जन्य

कुतः पुनरवधारणादन्यमतच्छित्कुतो वा मत्यज्ञानं श्रुतादीनि च व्यवच्छिन्नानीत्याह;—

ध्वस्तं तत्रार्थजन्यत्वमुत्तरादवधारणात्। मत्यज्ञानश्रुतादीनि निरस्तानि तु पूर्वतः ॥७॥

अत्रार्थजन्यमेव विज्ञानमनुमानात्सिद्धं नार्थाजन्यं यतस्तद्व्यवच्छेदार्थमुत्तरावधारणं स्यादिति मन्यमानस्यानुमानमुपन्यस्य दूषयन्नाह;—

स्वजन्यज्ञानसंवेद्योर्थः प्रमेयत्वतो ननु। यथानिंद्रियमित्येके तदसद्व्यभिचारतः ॥८॥

है, अन्य ज्ञान नहीं ॥६॥ अर्थात् **विद्यानन्द आचार्य** ने इस सूत्र का एक विशिष्ट अर्थ किया है जो पूज्यपाद आदि पूर्वाचार्यों ने नहीं किया है। विद्यानन्द आचार्य ने इस सूत्र के दो अर्थ किए हैं; एक अर्थ सामान्य से मतिज्ञान-उत्पत्ति में इन्द्रियाँ मन निमित्त होते हैं। यह अर्थ किया है। और दूसरा अर्थ किया है कि अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ज्ञान इन्द्रिय और मन के निमित्त से होते हैं और और स्मृति, संज्ञा, चिन्ता, अभिनिबोध ये मन के निमित्त से होते हैं। तथा तत् शब्द से यह भी सूचित किया है कि मतिज्ञान ही इनसे होता है, अन्य (ज्ञान) नहीं।

शङ्का : पूर्व कारिका में कथित अन्य मतों का निरास कौनसी अवधारणा से होता है? तथा किस अवधारणा के करने से मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, कुमति, कुश्रुत, विभंग ज्ञान, मनः पर्यय आदि ज्ञानों का व्यवच्छेद होता है? इस प्रकार प्रश्न होने पर आचार्य **समाधान** करते हैं-मतिज्ञान इन्द्रिय और मनसे ही उत्पन्न होता है, ऐसी अवधारणा करने से बौद्धों द्वारा स्वीकृत अर्थजन्य (ज्ञान अर्थ से उत्पन्न होता है इस मान्यता) का खण्डन किया है। अर्थात्-मतिज्ञान इन्द्रिय और अनिन्द्रिय से ही उत्पन्न हुआ है, अन्य विषयरूप अर्थ से जन्य नहीं। तथा प्रथम अवधारणा से पहले, दूसरे, तीसरे गुणस्थानों में होने वाले मतिअज्ञान और चौथे आदि गुणस्थानों में होने वाला श्रुतज्ञान या अवधिज्ञान तथा छठे आदि में होने वाला मनःपर्ययज्ञान एवं तेरहवें, चौदहवें गुणस्थानों में या सिद्धपरमेष्ठियों के केवलज्ञान का अथवा पहले दूसरे गुणस्थान के कुश्रुत, विभंगज्ञानों का निवारण कर दिया गया है अर्थात् इन्द्रिय, अनिन्द्रिय दोनों से उत्पन्न होने वाला एक मतिज्ञान ही है, अन्य नहीं ॥७॥ जो ज्ञान इन्द्रिय और मन के निमित्त से उत्पन्न होता है, वह मतिज्ञान ही है अन्य श्रुत आदि नहीं और सम्यग्ज्ञान का प्रकरण होने से मत्यज्ञान का निराकरण हो जाता है। लोक में सर्व विज्ञान अर्थजन्य ही है यह बात अनुमान से सिद्ध है। अतः कोई भी यथार्थज्ञान अर्थ से अजन्य नहीं है, जिससे कि उस अर्थजन्यपन का निषेध करने के लिए उत्तर अवधारण किया जाय, इस प्रकार मानने वाले बौद्धों के अनुमान का उपकथन कर उसे दूषित करते हुए आचार्य कहते हैं –

अर्थजन्य ज्ञान का खण्डन :

बौद्ध कहते हैं कि अर्थ अपने से उत्पन्न हुए ज्ञान द्वारा जानने योग्य है-प्रमेय होने से, जैसे कि मन। अर्थात्-मन, इन्द्रिय को मन इन्द्रियजन्य अनुमान द्वारा ही जाना जाता है। अथवा क्षयोपशम को क्षयोपशमजन्य ज्ञान द्वारा ही जाना जाता है। परन्तु जैनाचार्य कहते हैं कि उनका यह कहना प्रशंसनीय नहीं है व्यभिचार-दोष युक्त है, क्योंकि वर्तमान काल के सम्पूर्ण अर्थ स्वयं अपने से उत्पन्न हुए ज्ञान द्वारा नहीं जाने जाते हैं। जानने योग्य समानक्षणवर्ती संवेदन के द्वारा वह अर्थ नहीं जाना जा सकता है। अर्थात्-क्षणिकवादियों के

निःशेषवर्तमानार्थो न स्वजन्येन सर्ववित्। संवेदनेन संवेद्यः समानक्षणवर्तिना ॥९॥

स्वार्थजन्यमिदं ज्ञानं सत्यज्ञानत्वतोन्यथा। विपर्यासादिवत्तस्य सत्यत्वानुपपत्तितः ॥१०॥

इत्यप्यशेषविद्बोधैरनैकांतिकमीरितं। साधनं न ततो ज्ञानमर्थजन्यमिति स्थितम् ॥११॥

नन्वेवमालोकजन्यत्वमपि ज्ञानस्य चाक्षुषस्य न स्यादिष्टं च तदन्यथानुपपत्तेः। परप्रत्ययः पुनरालोकलिंगादिरिति वचनात्। तदन्वयव्यतिरेकानुविधानात्तस्य तज्जन्यत्वेऽर्थजन्यत्वमपि सत्यस्यास्मदादिज्ञानस्यास्तु विशेषाभावात्। न चैवं संशयादिज्ञानमंतरेण विरुध्यते तस्य सत्यज्ञानत्वाभावात्।

मतानुसार ज्ञान की उत्पत्ति हो जाने पर वे कारण अर्थ नष्ट हो जाते हैं। ऐसी दशा में बौद्धों के यहाँ कोई भी विद्यमान पदार्थ स्वजन्यज्ञान द्वारा वेद्य नहीं हो सकता। अर्थ के काल में स्वजन्यज्ञान नहीं और ज्ञानकाल में अर्थ नहीं रहता है। तथा यहाँ स्वसंवेदन प्रत्यक्ष भी नहीं बन सकेगा ॥८-९॥

यह प्रत्यक्षज्ञान अपने विषयभूत आलम्बन अर्थजन्य है-सत्यज्ञान होने से। अन्यथा (प्रत्यक्षज्ञान को अर्थजन्य न मानने पर) विपर्यय, संशय आदि कुज्ञानों के समान उस प्रत्यक्ष ज्ञान का सत्यपना नहीं बन सकता। इस प्रकार दूसरे अनुमान का हेतु भी सर्वज्ञज्ञानों से व्यभिचार दोषयुक्त है, ऐसा समझना चाहिए। अर्थात् त्रिलोक त्रिकालवर्त्ती पदार्थों को जानने वाले सर्वज्ञ के ज्ञान अपने आलम्बन अखिल विषयों से जन्य नहीं होते हुए भी सत्यज्ञान हैं। जो कार्य के आत्मलाभ में कुछ व्यापार करता है, वह कारण होता है। भूत, भविष्य की पर्यायें जब ज्ञानकाल में विद्यमान ही नहीं हैं, तो वे कार्य की उत्पत्ति में सहायता नहीं कर सकती हैं, तथा ज्ञान को अर्थजन्य मानने में अन्वयव्यभिचार और व्यतिरेक व्यभिचार दोष आते हैं, अतः विषयभूत अर्थ से जन्य ज्ञान नहीं है, यह सिद्धान्त स्थित है। इस प्रकार अवधारण करने पर बौद्धमन्तव्य का व्यवच्छेद हो जाता है ॥१०-११॥ अर्थात् ज्ञान की उत्पत्ति पदार्थों से नहीं है अपितु मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न इन्द्रियजन्य है।

बौद्ध कहता है-इस प्रकार ज्ञान की अर्थजन्यता का खण्डन करने पर चाक्षुष ज्ञान की आलोक-जन्यता भी इष्ट नहीं होगी परन्तु नैयायिकों और वैशेषिकों ने अन्यथानुपपत्ति से ज्ञान को आलोक से जन्य अभीष्ट किया है (ज्ञेय अर्थ के साथ तेजस आलोक का सम्बन्ध हुए बिना चक्षुइन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष की उत्पत्ति नहीं हो सकती है), तथा ग्रन्थों में भी कहा है कि "आलोक, लिङ्ग, शब्द आदि भी ज्ञान की उत्पत्ति के कारण हैं।" यदि आलोक के साथ उस ज्ञान का अन्वयव्यतिरेक अनुविधान है, व चाक्षुषप्रत्यक्ष का उस आलोक से जन्यपना मानोगे, तब तो अर्थजन्यपना भी हम लोगों के सत्यज्ञानों के हो सकता है। ज्ञान के साथ अन्वयव्यतिरेक के अनुविधान की अपेक्षा आलोक और अर्थ में कोई अन्तर नहीं है।

इस प्रकार अर्थ के बिना भी उत्पन्न संशय, विपर्यय आदि ज्ञान देखे जाते हैं। यह विरुद्ध नहीं है, क्योंकि उन संशय आदि को सत्यज्ञानपन का अभाव है तथा हेतु का सर्वज्ञज्ञान के साथ व्यभिचार दोष भी नहीं आता है, क्योंकि हमने हम, तुम आदि लौकिक जीवों के सम्यग्ज्ञान का सत्यज्ञानपना हेतु माना है। सर्वज्ञ का ज्ञान हम सरीखे व्यवहारीजनों से विलक्षण है अतः सर्वज्ञों का ज्ञान अर्थजन्य नहीं है। उन महान्

नापि सर्वविद्बोधैरनैकांतिकत्वमस्मदादिसत्यज्ञानत्वस्य हेतुत्वात्। अस्मदादिविलक्षणानां तु सर्वविदां ज्ञानं चार्थाजन्यं निश्चित्यास्मदादिज्ञानेर्थाजन्यत्वशंकायां नक्तंचराणां मार्जारादीनामंजनादिसंस्कृतचक्षुषां वास्मद्विजातीयानामालोकाजन्यत्वमुपलभ्यास्मदादीनामपि नार्थवेदनस्यालोकाजन्यत्वं शंकनीयमिति कश्चित् तं प्रत्याह;—

आलोकेनापि जन्यत्वे नालंबनतया विद:। किंत्विंद्रियबलाधानमात्रत्वेनानुमन्यते ॥१२॥

तथार्थजन्यतापीष्टा कालाकाशादितत्त्ववत्। सालंबनतया त्वर्थो जनक: प्रतिषिध्यते ॥१३॥

इदमिह संप्रधार्यं किमस्मदादिसत्यज्ञानत्वेनालोको निमित्तमात्रं चाक्षुषज्ञानस्येति प्रतिपाद्यते कालाकाशादिवत् आहोस्विदालंबनत्वेनेति ? प्रथमकल्पनायां न किंचिदनिष्टं द्वितीयकल्पना तु न युक्ता

पुरुषों के ज्ञान में अर्थ से अजन्यपने का निश्चय करके हम लोगों के ज्ञानों में भी अर्थ से नहीं उत्पन्न होने की शंका करने पर तो रात्रि में यथेच्छ विचरने वाले बिल्ली, सिंह, उलूक आदि पशु-पक्षियों या अंजन, मंत्र, पिशाच आदि कारणों से संस्कारयुक्त चक्षुओं वाले मनुष्यों, जो कि हम लोगों से भिन्न जाति वाले हैं, उन जीवों के चाक्षुष प्रत्यक्ष को आलोक से अजन्यपना देखकर अस्मत् आदि के भी अर्थप्रत्यक्ष को आलोक से अजन्यपना सम्भव है, ऐसी शंका भी नहीं करनी चाहिए क्योंकि, वह सर्वज्ञ हम लोगों से अतिशययुक्त ज्ञान का धारी है। इस प्रकार कोई बौद्ध वादी कह रहा है। इसके समाधान में आचार्य कहते हैं-

आलोक द्वारा भी ज्ञान का जन्यपना मानने पर आलम्बनरूप से आलोक को ज्ञान के प्रति कारणता नहीं है। किन्तु कतिपय चक्षुइन्द्रियों को बल प्राप्त करा देने मात्र से काल, आकाश आदि तत्त्वों के समान आलोक को भी निमित्त माना जा सकता है। तथा उसी प्रकार बलाधायकरूप से ज्ञान में अर्थजन्यपना भी इष्ट कर लिया जाता है। प्रमेयत्वगुण का योग होने से अर्थों का अपने-अपने काल में सद्भाव रहना मात्र ज्ञान का बलाधायक बन सकता है किन्तु सालम्बनरूप से अर्थ की जनकता निषेध की गई है। अर्थात्-ज्ञान का ज्ञेय के साथ विषयविषयी भाव के अतिरिक्त कोई कार्यकारण आधार आधेयभाव सम्बन्ध नहीं है ॥१२-१३॥

यहाँ यह विचार कर निर्णय करने योग्य है कि हम लौकिक जीवों के सत्यज्ञान के द्वारा आलोक चाक्षुष प्रत्यक्ष का काल, आकाश आदि के समान केवल निमित्त कारण है अथवा आलोक को चक्षु इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष का आलम्बनरूप कारण है?

प्रथम पक्ष की कल्पना करने पर तो हम जैनों को कोई अनिष्ट नहीं है अर्थात् सम्पूर्ण कार्यों में जैसे काल, आकाश आदि पदार्थ अप्रेरक होकर निमित्तकारण हैं, वैसे ही मनुष्य आदि के चाक्षुष ज्ञान का आलोक भी सामान्य निमित्त है। द्वितीय पक्ष की कल्पना करना युक्तिपूर्ण नहीं है, क्योंकि वह प्रतीतियों के विरुद्ध है। मार्जार, व्याघ्र आदि जीवों के चाक्षुष प्रत्यक्ष में आलोक कारण नहीं है। मन्द तेज को धारने वाली चक्षुओं से युक्त मनुष्य आदि को रूप के ज्ञान की उत्पत्ति करने में चक्षु का बलाधानरूप करके आलोक कारण प्रतीत हो रहा है अर्थात् हम सरीखे कुछ जीवों की चक्षु इन्द्रियाँ रूप के ज्ञान को तब उत्पन्न करती

प्रतीतिविरोधात्। रूपज्ञानोत्पत्तौ हि चक्षुर्बलाधानरूपेणालोक: कारणं प्रतीयते तदन्वयव्यतिरेकानुविधानस्यान्यथानुपपत्ते: तद्वदर्थोपि यदाद्यक्षणज्ञानस्य जनक: स्यान्न किंचिद्विरुध्यते तस्यालंबनत्वेन जनकत्वोपगमे व्याघातात्। आलंबनं ह्यालंबनत्वं ग्राह्यत्वं प्रकाश्यत्वमुच्यते तच्चार्थस्य प्रकाशकसमानकालस्य दृष्टं यथा प्रदीप: स्वप्रकाशस्य। न हि प्रकाश्योर्थ: स्वप्रकाशकं प्रदीपमुपजनयति स्वकारणकलापादेव तस्योपजननात्। प्रकाश्यस्याभावे प्रकाशकस्य प्रकाशकत्वायोगात्। स तस्य जनक इति चेत्, प्रकाशकस्याभावे प्रकाश्यस्यापि प्रकाश्यत्वाघटनात्। स तस्य जनकोस्तु। तथा चान्योन्याश्रयणं प्रकाश्यानुपपत्तौ प्रकाशकानुपपत्तेस्तदनुत्पत्तौ च प्रकाश्यानुत्पत्तिरिति। यदि पुन: स्वकारणकलापादुत्पन्नयो:

हैं जबकि उन चक्षुओं को आलोक द्वारा बल प्राप्त हो जाता है। अन्यथा (यदि अस्मदादिकों के रूपज्ञान की उत्पत्ति में बलाधायक रूप करके आलोक को कारण नहीं माना जायेगा तो) चाक्षुष ज्ञान का उस आलोक के साथ अन्वय, व्यतिरेक का अनुविधान करना नहीं बन सकेगा कि आलोक के होने पर चक्षु द्वारा दिवाचरों को रूपज्ञान होता है और आलोक के नहीं होने पर मन्दतेजोधारी चक्षु से रूपज्ञान नहीं हो पाता है अत: रूपज्ञान का कारण बलाधायकपने से आलोक हो सकता है। अर्थात् रूपज्ञान के मुख्य कारण चक्षुओं में से कुछ चक्षुओं की सहायता कर देता है। उस आलोक के समान ही यदि अर्थ को भी आद्य समय के ज्ञान का जनक कहोगे तब तो कोई विरोध नहीं है परन्तु उस अर्थ को ज्ञान का आलम्बन करके जनकपना मानने पर तो व्याघात दोष आता है अर्थात् ज्ञान का विषयभूत अर्थ अपना ज्ञान उत्पन्न कराने में प्रधान होकर अवलम्ब नहीं देता है। आलम्बन का अर्थ आलम्बनपना, जानने योग्यपना, प्रकाशित होने योग्यपना कहा जाता है। ऐसा वह आलम्बनपना तो प्रकाशक ज्ञान या प्रदीप, सूर्य आदि के समानकाल में स्थित अर्थ का देखा जाता है; जैसे कि अपने प्रकाश का आलम्बन कारण प्रदीप है। जो प्रकाशित होने योग्य अर्थ है, वह अपने प्रकाश करने वाले प्रदीप को उत्पन्न नहीं कराता है। किन्तु अपने वर्त्ती, तेल आदि कारण समुदाय से ही उस दीपक की उत्पत्ति हो जाती है अत: अर्थ या आलोक को ज्ञान का कारण-कारण कह सकते हो, किन्तु ज्ञान का आलम्बन कारण अर्थ है, ऐसा नहीं कह सकते हैं।

प्रकाशने योग्य अर्थ के नहीं होने पर प्रकाशक की प्रकाशकता का योग नहीं है अत: वह अर्थ उस प्रकाशक का उत्पादक कारण माना जाता है। इस प्रकार अन्वय, व्यतिरेक बनाकर बौद्ध के कहने पर तो प्रकाशक के न होने पर प्रकाश्य अर्थ की प्रकाश्यता भी नहीं घटित होती है अत: वह प्रकाशक भी उस प्रकाश्य का जनक हो सकता है और ऐसा होने पर अन्योन्याश्रय दोष आ जाता है कि प्रकाश्य के न होने पर प्रकाशक नहीं बनता है और उस प्रकाशक के नहीं होने पर अर्थ का प्रकाश्यपना असिद्ध हो जाता है।

यदि फिर बौद्ध कहे कि स्वकीय कारण कलापों से उत्पन्न प्रदीप और घट को स्वरूप से उत्पन्न होना स्वीकार किया है, किन्तु प्रदीप में प्रकाशपना और घट में प्रकाश्यपना धर्म परस्पर अविनाभाव रखते हुए एक दूसरे की अपेक्षा वाले होते है, अत: अन्योन्याश्रय होने पर भी उनमें अन्योन्याश्रय दोष का अभाव माना गया है। तब तो उसी प्रकार अपनी-अपनी सामग्री के बल के उत्पन्न ज्ञान और ज्ञेय अर्थों का भी स्वरूप

प्रदीपघटयो: स्वरूपतोभ्युपगमादन्योन्यापेक्षौ प्रकाशकत्वप्रकाश्यत्वधर्मौ परस्पराविनाभाविनौ भविष्येते तथान्योन्याश्रयणात्तदभावाज्ज्ञानार्थयोरपि स्वसामग्रीबलादुपजातयो: स्वरूपेण परस्परापेक्षया ग्राह्यग्राहकभावधर्मव्यवस्था स्थीयतां तथा प्रतीतेरविशेषात्। तदुक्तं। ''धर्मधर्म्यविनाभाव: सिध्यत्यन्योन्यवीक्षया। न स्वरूपं स्वतो ह्येतत्कारकज्ञापकादिति'' ततो ज्ञानस्यालंबनं चेदर्थो न जनक: जनकश्चेन्नालंबनं विरोधात्। पूर्वकालभाव्यर्थो ज्ञानस्य कारणं समानकाल: स एवालंबनं तस्य क्षणिकत्वादिति चेत् न हि, यदा जनकस्तदालंबनमिति कथमालंबनत्वेन जनकोर्थ: संविद: स्यात्। पूर्वकाल एवार्थो जनको

के द्वारा परस्पर की अपेक्षा से ग्राह्य ग्राहकपन धर्म की व्यवस्था का श्रद्धान कर लेना चाहिए क्योंकि उस प्रकार प्रतीति होने का कोई अन्तर नहीं है। अर्थात् पिता और पुत्र के शरीरों की उत्पत्ति परस्परापेक्ष नहीं है परन्तु पितापन और पुत्रपन यह व्यवहार ही एक दूसरे की अपेक्षा रखने वाला है। इसी प्रकार दीप, घट, ज्ञान, ज्ञेय, इन पदार्थों की उत्पत्ति तो स्वकीय नियत कारणों से ही होती है। किन्तु आपेक्षिक धर्म एक दूसरे की सहायता से व्यवहृत हो जाते हैं।

अत: कारकपक्ष का अन्योन्याश्रय दोष नहीं आता है और ज्ञापक पक्ष का भी परस्पर आश्रय दोष नहीं होता है। केवल व्यवहार परस्पर की अपेक्षा से कर लिया जाता है। **श्री समन्तभद्र आचार्य** भगवान् ने भी **देवागम स्तोत्र** में कहा है कि धर्म और धर्मियों का अविनाभाव तो परस्पर की अपेक्षा करके ही सिद्ध होता है। किन्तु उनका स्वरूपलाभ अन्योन्यापेक्ष नहीं है क्योंकि धर्म और धर्मी पदार्थों का स्वरूप पहले से ही स्वकीय पृथक्-पृथक् कारणों द्वारा निर्मित है। जैसे कि कारक के अवयव कर्त्ता, कर्म, करण आदि पहले से ही निष्पन्न है। फिर भी किसी विवक्षित क्रिया की अपेक्षा से उनमें कर्त्तापन, कर्मपन का व्यवहार सिद्ध किया जाता है। इसी प्रकार ज्ञापक के अवयव प्रमाण, प्रमेयों का स्वरूप भी स्वत: सिद्ध है परन्तु ज्ञाप्यज्ञापक व्यवहार ही परस्पर की अपेक्षा रखने वाला है। ऐसे ही वाच्य अर्थ और वाचक शब्द का स्वरूप लाभ अपने-अपने कारणों द्वारा पूर्व में ही स्थित है।

केवल ऐसा व्यवहार अन्योन्याश्रित है, अत: यह सिद्ध होता है कि यदि ज्ञान का विषयभूत आलम्बन अर्थ माना जायेगा तो वह अर्थ अपने ज्ञान का उत्पादक नहीं हो सकता तथा अर्थ को यदि ज्ञान का जनक कहोगे तो वह अर्थ ज्ञान का आलम्बन नहीं हो सकेगा क्योंकि इसमें विरोध है। अर्थात् इन्द्रिय, अदृष्ट, आदि पदार्थ घट ज्ञान के कारण हैं किन्तु विषय नहीं, और चिरभूत काल के पदार्थ स्मरण में आलम्बन हैं, किन्तु स्मरण के अव्यवहित पूर्वसमयवर्त्ती होकर उत्पादक कारण नहीं है।

बौद्ध : पूर्वकाल में स्थित अर्थ ज्ञान का कारण है और वही अर्थ वर्तमान समानकाल में उस ज्ञान का आलम्बन हो जाता है, क्योंकि वह अर्थ क्षणिक है अत: दूसरे क्षण में आ नहीं सकता है। **जैनाचार्य** कहते हैं इस प्रकार बौद्धों के कहने पर तो जिस समय वह क्षणिक अर्थ ज्ञान का जनक हो रहा है, तब तो आलम्बन नहीं है और जब नष्ट हो चुका अर्थ आलम्बन माना है, उस समय वह जनक नहीं है। ऐसी दशा में आलम्बनरूप से वह अर्थ ज्ञान का जनक कैसे हो सकेगा?

ज्ञानस्यालंबनं च स्वाकारार्पणक्षमत्वादिति वचनमयुक्तं समानार्थसमनंतरज्ञानेन व्यभिचारात्। न त्वालंबनत्वेन यो जनकः स्वाकारार्पणक्षमश्च स ग्राह्यो ज्ञानस्य न पुनः समनंतरत्वेनाधिपतित्वेन वा यतो व्यभिचार इति चेदितराश्रयप्रसंगात्। सत्यालंबनत्वेन जनकत्वेर्थस्य ज्ञानालंबनत्वं सति च तस्मिन्नालंबनत्वेन जनकत्वमिति। स्वाकारार्पणक्षमत्वविशेषणं चैवमनर्थकं स्यादालम्बनत्वेन जनकस्य ग्राह्यत्वाव्यभिचारात्। परमाणुना व्यभिचार इत्यपि न श्रेयः परमाणोरेकस्यालंबनत्वेन ज्ञानजनकत्वासंभवात्। संचितालंबनाः पंचविज्ञानकाया इति वचनात्।

अव्यवहित पूर्वक्षण में ही रहने वाला अर्थ ज्ञान का जनक है, और ज्ञान के लिए अपने आकार को अर्पण करने में समर्थ होने के कारण आलम्बन भी है। इस प्रकार तदुत्पत्ति और ताद्रूप्य दोनों का कथन करना तो युक्तिरहित है, क्योंकि समान अर्थ के अव्यवहित उत्तरवर्ती ज्ञान के द्वारा व्यभिचार आता है। अर्थात् ज्ञान अर्थ का नियामक है। ज्ञान, ज्ञान का व्यवस्थापक नहीं है। दीपक से प्रदीपान्तर की व्यवस्था नहीं कराई जाती है सभी ज्ञान अपने स्वतंत्र नियामक हैं।

शंका : जो आलम्बन रूप से ज्ञान का जनक है, और अपने आकार को अर्पण करने में दक्ष है, वह पदार्थ ज्ञान के द्वारा ग्राह्य होता है किन्तु अव्यवहितपूर्व में (ज्ञान के अव्यवहित पूर्वक्षण में) स्थित किसी पदार्थ को ज्ञान की ग्राह्यता प्राप्त नहीं है। तथा ज्ञान के अधिपतित्व द्वारा भी ग्राह्यता नहीं है। अर्थात् जो ज्ञान का सर्वत्र स्वतंत्र अधिष्ठाता है, वह भी ज्ञान का विषय नहीं है जिससे कि समान अर्थ या चक्षु आदि से व्यभिचार हो सकता है।

समाधान : इस कथन में तो अन्योन्याश्रय दोष होने का प्रसंग आता है, क्योंकि आलम्बन के द्वारा अर्थ का जनकपना सिद्ध हो जाने पर तो अर्थ को ज्ञान का आलम्बनपना और अर्थ को ज्ञान का आलम्बनपना सिद्ध होने पर आलम्बनत्व के द्वारा जनकत्व सिद्ध होता है अतः यह अन्योन्याश्रय दोष है।

अथवा, ज्ञान के विषयभूत अर्थ को ही यदि ज्ञान का जनकपना स्वीकार किया जाता है तो ''अपने आकार को ज्ञान के लिए अर्पण करने में सन्नद्ध'' यह विशेषण लगाना व्यर्थ होता है क्योंकि ज्ञान के आलम्बन होकर जो पदार्थ जनक हैं वे ग्राह्यपन का व्यभिचार नहीं करते हैं।

भावार्थ : ज्ञान का आलम्बन होकर जो ज्ञान का जनक होता है, वह ज्ञान द्वारा ग्राह्य अवश्य होता है। फिर ज्ञान की विषयता का नियम करने के लिए अपने आकार को ज्ञान के लिए समर्पण करने की शक्ति रखना, यह ग्राह्य विषय का विशेषण क्यों लगाया जाता है ? बौद्ध कहते हैं कि यह विशेषण लगाना व्यर्थ नहीं है। अन्यथा परमाणु से व्यभिचार आता है। अर्थात् क्षणिक, असाधारण, परमाणु वस्तुभूत हैं और ज्ञान की उत्पत्ति में आलम्बन होकर जनक हैं किन्तु ज्ञान का विषय नहीं हैं, क्योंकि वे परमाणु ज्ञान के लिए अपने आकारों का समर्पण नहीं कर सकती हैं अतः स्वाकारार्पणक्षम विशेषण देना सफल है। ग्रन्थकार कहते हैं कि इस प्रकार बौद्धों का कथन भी श्रेष्ठ नहीं है, क्योंकि आलम्बन से ज्ञान का जनकपना एक परमाणु के असम्भव है। अनेक परमाणु एकत्रित होकर जब रूपस्कन्ध, वेदनास्कन्ध, विज्ञानस्कन्ध, संज्ञास्कन्ध, संस्कार स्कन्ध-ये विज्ञान के पाँच काय बन जाते हैं, तब ज्ञान के आलम्बन होते हैं। इस प्रकार बौद्ध ग्रन्थों

प्रत्येकं परमाणूनामालंबनत्वे न ते बुद्धिगोचरा इति ग्रंथविरोधात्। तर्हि योधिपतिसमनंतरालंबनत्वेनाजनको निमित्तमात्रत्वेन जनकः स्वाकारार्पणक्षमः स्वसंवेदनस्य ग्राह्योस्त्वव्यभिचारादिति चेन्न, तस्यासंभवात्। न हि संवेदनस्याधिपत्यादिव्यतिरिक्तोन्यः प्रत्ययोस्ति। तत्सामान्यमस्तीति चेत् न, तस्यावस्तुत्वेनोपगमाज्जनकत्वविरोधात्। वस्तुत्वे तस्य ततोर्थांतरत्वे तदेव ग्राह्यं स्यान्न पुनरर्थो नीलादिर्हेतुत्वसामान्यजनकनीलाद्यर्थो ग्राह्यः संवेदनस्येति ब्रुवाणः कथं जनक एव ग्राह्य इति व्यवस्थापयेत्। ततो न पूर्वकालोर्थः संविदो ग्राह्यः। किं तर्हि समानसमय एवेति प्रतिपत्तव्यं। नन्वेवं योगिविज्ञानं श्रुतज्ञानं

में कहा गया है। तथा बौद्ध अनेक परमाणुओं में से एक न्यारी परमाणु को यदि ज्ञान का आलम्बन कारण मानेंगे तो 'वे अलग-अलग परमाणु बुद्धि के विषय नहीं हैं।' इस ग्रन्थ से स्वयं बौद्धों को विरोध होगा अतः स्वाकार को अर्पण करने केलिए समर्थ रहना यह विशेषण व्यर्थ हो जाता है।

बौद्ध कहते हैं कि तब तो यों कह देना अच्छा है कि जो पदार्थ ज्ञान के अधिपतित्व द्वारा और अव्यवहित पूर्ववर्त्तीद्वारा तथा विषयभूत आलम्बन द्वारा ज्ञान का जनक नहीं है, किन्तु ज्ञान का केवल निमित्त कारण बन जाने से जनक हो रहा है, और अपने आकार को ज्ञान के प्रति अर्पण करने के लिए तैयार है, वह पदार्थ संवेदन द्वारा ग्राह्य हो जाता है। ऐसा नियम करने में कोई व्यभिचार दोष नहीं आता है। आचार्य कहते हैं कि उपर्युक्त कथन उचित नहीं है क्योंकि उसका ऐसा होना असम्भव है। अधिपति या समनन्तर अथवा आलम्बनपन के अतिरिक्त कोई अन्य कारण सम्वेदन को उत्पन्न कराने में सम्भव नहीं है। जो पदार्थ उन तीन रूपों से जनक नहीं है, वह पदार्थ ज्ञान का कैसे भी उत्पादक नहीं हो सकता है। फिर भी बौद्ध कहते हैं कि ज्ञान के अधिपति कारण आत्मा, इन्द्रिय आदि हैं, और ज्ञान का समनन्तर कारण तो अव्यवहित पूर्वक्षणवर्त्ती ज्ञान पर्याय है, जो कि उपादान कारण मानी गई है। तथा ज्ञान का आलम्बन कारण तो ज्ञेयविषय है। इन तीन के अतिरिक्त भी उन तीनों में रहने वाला एक सामान्य पदार्थ है। वह ज्ञान का जनक बन जाएगा। ग्रन्थकार कहते हैं कि ऐसा कहना उचित नहीं है, क्योंकि बौद्धों ने सामान्य को अवस्तुभूत स्वीकार किया है। जो वस्तुभूत नहीं है उसको उत्पत्ति रूप क्रिया का जनकपना विरुद्ध है। यदि उस सामान्य को वस्तुभूत मानते हैं तो उन तीन कारणों से भिन्न अर्थान्तरभूत वह सामान्य ही ज्ञान के द्वारा ग्रहण करने योग्य होता है फिर नील आदि स्वलक्षणरूप अर्थ तो ज्ञान का ग्राह्य नहीं हो सका। इस पर भी बौद्ध यदि इस प्रकार कहे कि ज्ञान का जनक सामान्य है और हेतुत्वरूप सामान्य का जनक नीलादिक अर्थ है, जो कि सम्वेदन का ग्राह्य हो जाता है तब तो बौद्ध ज्ञान का जनक पदार्थ ही ग्राह्य होता है, इस बात की कैसे व्यवस्था करा सकेगा ? अतः पूर्वकाल में स्थित अर्थ ज्ञान के द्वारा ग्राह्य नहीं हो सकता है।

शंका : कौन से समय का पदार्थ ज्ञान का ग्राह्य है?

समाधान : ज्ञान के समान काल में रहने वाला ही पदार्थ ग्राह्य होता है, यह समझ लेना चाहिए।

स्मृतिप्रत्यभिज्ञादि वा कथमसमानकालार्थपरिच्छिदिः सिद्ध्येदिति चेत्, समानसमयमेव ग्राह्यं संवेदनस्येति नियमाभावात्। अक्षज्ञानं हि स्वसमयवर्तिनमर्थं परिच्छिनत्ति स्वयोग्यताविशेषनियमाद्यथा स्मृतिरनुभूतमात्रं पूर्वमेव प्रत्यभिज्ञातीतवर्तमानपर्यायवृत्त्येकं पदं चिंता त्रिकालसाध्यसाधनव्याप्तिं स्वार्थानुमानं त्रिकालमनुमेयं श्रुतज्ञानं त्रिकालगोचरानंतव्यंजनपर्यायात्मकान् भावान् अवधिरतीतवर्तमानानागतं च रूपिद्रव्यं मनःपर्ययोऽतीतानागतान् वर्तमानांश्चार्थान् परमनोगतान्, केवलं सर्वद्रव्यपर्यायानिति वक्ष्यतेग्रतः ।।

ज्ञान के उत्पादक कारण तो पूर्वक्षणवर्त्ती पदार्थ ही हो सकते हैं परन्तु ज्ञान का विषय समानकालवर्ती ही है।

शंका : समान समय वाले पदार्थों को ही यदि ज्ञान का विषय माना जायेगा, तो योगी सर्वज्ञ के विज्ञान वर्तमान ज्ञान के असमान कालीन भूत, भविष्य पदार्थों को प्रत्यक्ष जानने वाले कैसे सिद्ध होंगे? अथवा भूत, भविष्यत्, वर्तमान, त्रिकालवर्त्ती पदार्थों को परोक्ष जानने वाला आगमजन्य ज्ञान कैसे सध सकेगा? तथा स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, व्याप्तिज्ञान आदि भूत, भविष्यकालीन पदार्थों को जानने वाले कैसे माने जावेंगे?

समाधान : समान समयवर्त्ती ही पदार्थ सम्वेदन के द्वारा ग्राह्य होते हैं, ऐसा नियम हम नहीं करते हैं, क्योंकि अपने आवरण कर्मों की क्षयोपशमरूप योग्यता के विशेष नियम से ऐसा व्यवस्थित होने से इन्द्रियजन्यज्ञान तो नियम से अपने समय में ही रहने वाले अर्थ को जानता है। अर्थात् इन्द्रियजन्यज्ञान भूत, भविष्यकाल के अर्थों को नहीं जान सकते हैं अतः चक्षु, रसना आदि से वर्तमानकाल में वर्त रहे, रूप, रस, रूपवान, रसवान आदि पदार्थ ही जाने जाते हैं। जिस प्रकार कि स्मरणज्ञान अपनी क्षयोपशमरूप योग्यता के अनुसार पूर्व में अनुभूत केवल भूतकाल के अर्थों को जानता है, तथा प्रत्यभिज्ञान भूत और वर्तमान काल की पर्यायों में स्थित एक पदार्थ को जानता है। अथवा वर्तमानकाल के सादृश्य, दूरपन, स्थूलपन आदि अर्थों को भी जानता है। तथा चिंताज्ञान तीनों काल के साध्य और साधनों का उपसंहार कर अविनाभाव संबंध को जान लेता है। एवं स्वार्थानुमान कालत्रयवर्त्ती अनुमेय पदार्थों को परोक्षरूप से जान लेता है। इसी प्रकार आप्त वाक्यजन्य श्रुतज्ञान या अनक्षरात्मक अवाच्य श्रुतज्ञान तो अत्यन्तपरोक्ष भी तीन काल में वर्त रहे संख्यात असंख्यात अनन्त व्यंजनपर्यायस्वरूप भावों को अविशद रूप से जान लेता है।

अवधिज्ञान अपने योग्य भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों काल के रूपीद्रव्यों को प्रत्यक्षरूप से विषय कर लेता है और मनःपर्ययज्ञान तो अपने और पराये मन में स्थित अतीत, अनागत, वर्तमान काल के अर्थों को विशदरूप से जानता है। तथा सर्वोत्तम केवलज्ञान त्रिकालवर्त्ती सम्पूर्ण द्रव्य और पर्यायों को अतिविशदरूप से जानता है। इस प्रकरण का श्री उमा स्वामी महाराज अग्रिम सूत्र द्वारा स्पष्ट निरूपण करेंगे।

ततो नाकारणं वित्तेर्विषयोस्तीति दुर्घटम्। यं रूपस्याप्रवेद्यत्वापत्तेः कारणतां विना ॥१४॥

संवेदनस्य नाकारणं विषय इति नियमे स्वरूपस्याप्रवेद्यत्वमकारणत्वात् तद्वद्वर्तमानानागतानामतीतानां चाऽकारणानां योगिज्ञानाविषयत्वं प्रसज्यते ॥

अस्वसंवेद्यविज्ञानवादी पूर्वं निराकृतः। परोक्षज्ञानवादी चेत्यलं संकथयानया ॥१५॥

ततः सूक्तमिदमुत्तरावधारणं परमतालंबनजन्यत्वव्यवच्छेदार्थं सूत्रे पूर्वं तु मत्यज्ञानादिनिवृत्त्यर्थं संज्ञिपंचेंद्रियजमेवेति तदेवेंद्रियानिंद्रियनिमित्तमुच्यते। संज्ञिपंचेंद्रियाणां मिथ्यादृशां

अतः यह सिद्ध हुआ कि ज्ञान का विषय ज्ञान का कारण नहीं है। बौद्धों का यह कहना कि "नाकारणं विषयः" -ज्ञान का जो कारण नहीं है, वह ज्ञान का विषय नहीं है। यह मन्तव्य कैसे भी घटित नहीं हो सकता है। क्योंकि, कारण बिना भी ज्ञान का स्वकीयरूप अनुभव में आ रहा हे। यदि ज्ञान के कारण को ही ज्ञान का विषय माना जायेगा तो ज्ञान के स्वरूप के वेद्यत्व नहीं होने का प्रसंग आएगा जो कि बौद्धों को इष्ट नहीं है। अर्थात् बौद्धों ने ज्ञान का स्वसम्वेदन प्रत्यक्ष होना स्वीकार किया है, और स्वयं ही स्व का कारण हो नहीं सकता है। "नैकं स्वस्मात् प्रजायते" ॥१४॥

सम्वेदन का जो उत्पादक कारण नहीं है, वह सम्वेदन का विषय नहीं है।

इस प्रकार बौद्धों द्वारा नियम करने पर तो ज्ञान केस्वरूप को असम्वेद्यपना प्राप्त होगा, क्योंकि ज्ञान की उत्पत्ति में ज्ञान तो स्वयं कारण नहीं होता है। यदि कारण नहीं होने पर भी ज्ञान का स्वसम्वेदन प्रत्यक्ष द्वारा विषय होना मान लोगे तो उसी के समान वर्तमान, भविष्य और अतीत काल के पदार्थों को योगीज्ञान के विषय नहीं होने का प्रसंग आएगा, क्योंकि वे त्रिकालवर्त्ती पदार्थ योगीज्ञान के उत्पादक कारण नहीं हो सके हैं। जो कार्य की उत्पत्ति में सहायक होकर अर्थक्रिया को कर रहे हैं वे अव्यवहित पूर्वक्षण के पदार्थ तो कारण माने जाते हैं अन्य नहीं।

जो अस्वसंवेद्यवादी नैयायिक ज्ञान का स्वसंवेदन प्रत्यक्ष होना नहीं कहते हैं, उनका पूर्व प्रकरणों में निराकरण कर दिया है, तथा ज्ञान को सर्वथा परोक्ष मानने वाले मीमांसक वादी के मन्तव्य का भी विशद रूप से खण्डन कर दिया है अतः ज्ञान का स्वसम्वेदन प्रत्यक्ष होने के सिद्धान्त में व्यर्थ विघ्न डालने वाले कथन करने से क्या प्रयोजन है? ॥१५॥

अतः श्री विद्यानन्द आचार्य ने यह बहुत अच्छा कहा है कि "तदिन्द्रियानिन्द्रिय निमित्तम्।" इस सूत्र में अनुक्त भी दोनों एवकार उमास्वामी महाराज को अभिप्रेत है। उसमें वह मतिज्ञान इन्द्रिय अनिन्द्रियों से ही उत्पन्न होता है।

यह विधेय दल का उत्तर अवधारण तो अन्यमति बौद्धों के मन्तव्यानुसार ज्ञान का आलम्बन विषय से उत्पन्न होने का व्यवच्छेद करने के लिए दिया गया है और वह मतिज्ञान ही इन्द्रिय अनिन्द्रियरूप निमित्तों से उत्पन्न होता है। यह पहली अवधारणा तो मतिअज्ञान, श्रुतज्ञान आदि की निवृत्ति करने के लिए है। वह मतिज्ञान संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के ही उत्पन्न होता है अतः वह मतिज्ञान ही इन्द्रिय और अनिन्द्रिय निमित्तों से उत्पन्न हुआ कहा जाता है।

मत्यज्ञानमपींद्रियानिंद्रियनिमित्तमस्ति तस्य कुतो व्यवच्छेदः सम्यगधिकारात्। तत एवासंज्ञिपंचेंद्रियांतानां मत्यज्ञानस्य व्यवच्छेदोस्तु तर्हि श्रुतव्यवच्छेदार्थं पूर्वावधारणं तस्यानिंद्रियमात्रनिमित्तत्वात्। तथा मिथ्यादृशां दर्शनमोहोपहतमनिंद्रियं सदप्यसत्कल्पनेति विवक्षायां तद्वेदनमिंद्रियजमेवेति मत्यज्ञानं सर्वत उभयनिमित्तं ततस्तद्व्यवच्छेदार्थं च युक्तं पूर्वावधारणम्॥

अवग्रहेहावायधारणाः॥ १५ ॥

किमर्थमिदमुच्यते न तावत्तन्मतिभेदानां कथनार्थं मतिः स्मृत्यादिसूत्रेण कथनात्। नापि मतेरज्ञातभेदकथनार्थं प्रमाणांतरत्वप्रसंगादिति मन्यमानं प्रत्युच्यते;—

शंका : संज्ञी पंचेन्द्रिय मिथ्यादृष्टि जीवों के भी तो मति अज्ञान उत्पन्न होने में इन्द्रिय और अनिन्द्रिय निमित्त होते हैं, तो फिर उस मति अज्ञान का पहली अवधारणा से व्यवच्छेद कैसे हो सकता है?

समाधान : पूर्व सूत्रों से यहाँ सम्यक् शब्द का अधिकार चला आ रहा है। मिथ्यादृष्टियों का ज्ञान समीचीन नहीं है, तथा मिथ्यादृष्टियों के इन्द्रिय, अनिन्द्रिय भी सम्यक् नहीं हैं इसलिए मिथ्यादृष्टियों के ज्ञान का निराकरण हो जाता है।

शंका : सम्यक् का अधिकार होने से ही एकेन्द्रिय को आदि लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रियपर्यन्त जीवों के मति अज्ञान का व्यवच्छेद हो जाता है। अर्थात् सम्यग्दर्शन नहीं होने से असंज्ञीपर्यन्त जीवों का ज्ञान सम्यग्ज्ञान नहीं है अतः पहला एवकार व्यर्थ है?

समाधान : श्रुतज्ञान के व्यवच्छेद के लिए पहली अवधारणा रहो, क्योंकि वह श्रुतज्ञान केवल मनरूप निमित्त से ही उत्पन्न होता है। मिथ्यादृष्टि जीवों का दर्शनमोहनीय कर्म के उदय से विद्यमान भी मन अविद्यमान सदृश है। इस प्रकार विवक्षा करने पर वह मिथ्यादृष्टियों का ज्ञान इन्द्रियजन्य ही है अतः सभी संज्ञी असंज्ञी जीवों के मति अज्ञानों में से कोई भी मति अज्ञान दोनों इन्द्रिय अनिन्द्रियरूप निमित्तों से उत्पन्न नहीं हुआ है। ऐसा नहीं है तथापि सम्यक् पद से उनका निराकरण किया है अतः उस मतिअज्ञान का व्यवच्छेद करने के लिए पहली अवधारणा करना युक्तिपूर्ण है। यद्यपि मति अज्ञान भी इन्द्रिय और मन के निमित्त से उत्पन्न होता है परन्तु यहाँ सम्यक् ज्ञान का प्रकरण होने से उनका निराकरण किया है।

अब श्री उमा स्वामी मतिज्ञान के भेदों का निरूपण करने के लिए सूत्र कहते हैं-

अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा-ये चार मतिज्ञान के भेद हैं अर्थात् पूर्वसूत्रानुसार इन्द्रिय और मन से ये चारों मतिज्ञान होते हैं॥१५॥

शंका : 'अवग्रहेहावायधारणाः' यह सूत्र किस प्रयोजन के लिए कहा गया है ? मतिज्ञान के भेदों को कहने के लिए यह सूत्र नहीं है क्योंकि मतिज्ञान के भेद तो 'मतिःस्मृतिः संज्ञाचिंताभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम्' इस सूत्र द्वारा कहे जा चुके हैं, तथा इस सूत्र का यह प्रयोजन भी नहीं है, कि मतिज्ञान के अब तक नहीं

मतिज्ञानस्य निर्णीतप्रकारस्यैकशो विदे। भिदामवग्रहेत्यादिसूत्रमाहाविपर्ययम् ॥१॥

मतिज्ञानस्य निर्णीता: प्रकारा मतिस्मृत्यादयस्तेषां प्रत्येकं भेदानां वित्त्यैवसूत्रमिदमारभ्यते। यथैव हींद्रियमनोमते: स्मृत्यादिभ्य: पूर्वमवग्रहादयो भेदास्तथानिंद्रियनिमित्ताया अपीति प्रसिद्धं सिद्धांते॥

किंलक्षणा: पुनरवग्रहादय इत्याह;—

अक्षार्थयोगजाद्वस्तुमात्रग्रहणलक्षणात्। जातं यद्वस्तुभेदस्य ग्रहणं तदवग्रह: ॥२॥

तद्गृहीतार्थसामान्ये यद्विशेषस्य कांक्षणम्। निश्चयाभिमुखं सेहा संशीतेर्भिन्नलक्षणा ॥३॥

जाने जा चुके भेदों को कह दिया जाए। अर्थात् मतिज्ञान के अज्ञात भेदों का कथन करने के लिए भी यह सूत्र नहीं कहा गया है, क्योंकि ऐसा कहने पर अवग्रह आदि को मतिज्ञान से पृथक् अन्य प्रमाण का प्रसंग आता है। इस प्रकार से मन में मानने वाले के प्रति आचार्य द्वारा **समाधान** किया जाता है -

मति, स्मृति आदि प्रकार निर्णीत कर दिये गये हैं जिसके, ऐसे मतिज्ञान के एक एक भेद को समझाने के लिए उमास्वामी महाराज ने श्रोताओं की विपरीत बुद्धि का अभाव करने के लिए 'अवग्रहेहावायधारणा:' इस सूत्र को कहा है॥१॥

मतिज्ञान के मति, स्मृति, संज्ञा, चिंता, स्वार्थानुमान, प्रतिभा, अर्थापत्ति आदि प्रकारों का पूर्व सूत्र में निर्णय किया जा चुका है। उन प्रकारों के प्रत्येक भेद का ज्ञान कराने के लिए ही इस सूत्र को कहा गया है। जिस प्रकार इन्द्रिय और मन से उत्पन्न हुई मति के स्मृति आदि प्रकारों से पहले अवग्रह, ईहा, अवाय आदिक भेद उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार केवल मनरूप निमित्त से ही उत्पन्न हुई मति के भी पूर्व में अवग्रह आदि भेद उत्पन्न होते हैं। ऐसा जैन सिद्धान्त में प्रसिद्ध है।

भावार्थ : जिस प्रकार अनुमान के पहले व्याप्तिज्ञान, व्याप्तिज्ञान के पहले प्रत्यभिज्ञान, प्रत्यभिज्ञान के पहले स्मृतिज्ञान, स्मृति के पहले धारणा, धारणा के पहले अवाय, अवाय के पहले ईहा, ईहा के पूर्व में अवग्रह-ये सम्यग्ज्ञान होते हैं। यद्यपि अवग्रह के पहले कदाचित् निर्विकल्पक आलोचनात्मक दर्शन होता है। फिर भी सम्यग्ज्ञान का प्रकरण होने से उनको यहाँ गिनाया नहीं है।

फिर उन अवग्रह, ईहा आदि का निर्दोष लक्षण क्या हो सकता है? इस प्रकार जिज्ञासा होने पर आचार्य कहते हैं-

विषय और विषयी (अर्थ और स्पर्शनादि इन्द्रियों) के संयोग से वस्तु की सामान्य महासत्ता का आलोचन करना (वस्तु की सत्ता मात्र का अवलोकन करना) स्वरूप दर्शन उपयोग के अनन्तर अवान्तर सत्तावाली वस्तु के विशेष भेद को ग्रहण करने वाला जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह **अवग्रह** नाम का मतिज्ञान है॥२॥

उस अवग्रह से ग्रहण किये हुए सामान्य अर्थ में जो विशेष अंशों के निश्चय करने के लिए अभिमुख आकांक्षारूप ज्ञान है, उसको **ईहा** कहते हैं।

वह ईहा ज्ञान संशयात्मकज्ञान से भिन्न लक्षणवाला है अर्थात् संशय में तो विरुद्ध दो तीन आदि कोटियों का स्पर्श होता रहता है किन्तु ईहाज्ञान में एक कोटि का ही निश्चय करने के लिए उत्सुकता पाई जाती है, जैसे कि ''यह मनुष्य दक्षिण देशवासी होना चाहिए''॥३॥

तस्यैव निर्णयोऽवाय: स्मृतिहेतु: सा धारणा। इति पूर्वोदितं सर्वं मतिज्ञानं चतुर्विधम् ॥४॥

सामानाधिकरण्यं तु तदेवावग्रहादय:। तदिति प्राक्सूत्रतच्छब्दसंबंधादिह युज्यते ॥५॥

तदिंद्रियानिंद्रियनिमित्तमित्यत्र पूर्वसूत्रे यत्तद्ग्रहणं तस्येह संबंधात्सामानाधिकरण्यं युक्तं तदेवावग्रहादय इति। भावतद्वतोर्भेदात्तस्यावग्रहादयोभिहितलक्षणा इति वैयधिकरण्यमेवेति नाशंकनीयं तयो: कथंचिदभेदात्सामानाधिकरण्यघटनात्। भेदैकांते तदनुपपत्ते: सह्यविंध्यवदित्युक्तप्रायम् ॥

तत्र यद्वस्तुमात्रस्य ग्रहणं पारमार्थिकम्। द्विधा त्रेधा क्वचिज्ज्ञानं तदित्येकं न चापरम् ॥६॥

तन्न साध्वक्षजस्यार्थभेदज्ञानस्य तत्त्वत:। स्पष्टस्यानुभवाद्बाधा विनिर्मुक्तस्य सर्वदा ॥७॥

आकांक्षाज्ञान द्वारा जाने गये अर्थ का दृढ़ निर्णय कर लेना **अवायज्ञान** है। वही निर्णय पीछे कालान्तर तक स्मरण बनाये रखने का हेतु होता हुआ जब दृढ़तर संस्काररूप बन जाता है तो वह **धारणा** मतिज्ञान समझा जाता है। स्मृति का कारणभूत ज्ञान धारणा है। इस सम्पूर्ण विषय का कथन पूर्व में कर दिया गया है। इस प्रकार मतिज्ञान चार प्रकार के सिद्ध हैं ॥४॥

यहाँ अधिकार प्राप्त मतिज्ञान का सूत्रोक्त अवग्रह आदिक के साथ समान अधिकरण कर लेना चाहिए कि वह मतिज्ञान ही अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणास्वरूप है। पहले के ''तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम्'' इस सूत्र के तत् शब्द का सम्बन्ध हो जाने से यहाँ भी तत् यानी वह मतिज्ञान अवग्रह आदि भेदस्वरूप है। इस प्रकार अवग्रह आदि के साथ सामानाधिकरण्य बना लेना युक्तिपूर्ण है ॥५॥

''तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम्'' ऐसे इस पहले के सूत्र में तत् शब्द ग्रहण किया है। उस तत् शब्द की इस ''अवग्रहेहावायधारणा:'' सूत्र में अनुवृत्ति कर सम्बन्ध कर देने से वह मतिज्ञान ही अवग्रह आदि स्वरूप होता है। इस प्रकार समान अधिकरण कर लेना युक्त हो जाता है। भाव (परिणाम) और भाववान (परिणामी) पदार्थों का भेद हो जाने के कारण मतिज्ञानरूप परिणामी के अवग्रह आदि परिणाम हैं, जिनके लक्षण पूर्व में कहे जा चुके हैं। इस प्रकार प्रकरण अनुसार अर्थवश तत् शब्द की प्रथमा विभक्ति का षष्ठीविभक्तिरूप विपरिणाम कर षष्ठ्यन्त मतिज्ञान का प्रथमान्त अवग्रह आदि के साथ व्यधिकरणपना ही सुबोधकारक दीखता है। ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि उन परिणामी और परिणाम रूप मतिज्ञान और अवग्रह आदि का कथंचित् अभेद हो जाने से समान अधिकरणपना घटित हो जाता है। सर्वथा भेद का एकान्त मानने पर तो भाव और भाववान में वह समान अधिकरण नहीं बन सकता है। जैसे सर्वथा भिन्न सह्य पर्वत और विंध्यपर्वत, सह्य ही विंध्य है, अथवा विंध्य ही सह्य है, यह समानाधिकरण नहीं बनता है। इस बात को हम पूर्व में कई बार कह चुके हैं।

ब्रह्माद्वैत - जो शुद्ध सत्तामात्र वस्तु को ग्रहण करता है, वह ज्ञान ही पारमार्थिक है।

अवान्तर भेद वाली सत्ता को जानने वाला भेदज्ञान यथार्थ नहीं है। कहीं भी इन्द्रिय, अनिन्द्रिय से उत्पन्न हुआ दो प्रकार का ज्ञान या भेद, अभेद, भेदाभेद के अनुसार समानाधिकरणपना व्यधिकरणपना बनाकर तीन प्रकार के कल्पित किये गए ज्ञान वे सब एक ही हैं, पृथक्-पृथक् नहीं अर्थात् चिदाकार, शुद्ध,

प्रतिभासमात्रस्य परमब्रह्मणोऽपि हि सत्यत्वं सर्वदा बाधविनिर्मुक्तत्वमिष्टमन्यथा तदव्यवस्थानात् तत्त्वार्थभेदज्ञानस्यापि स्पष्टस्यानुभूयते। प्रतिनियतकालसंवेदनेन। कथमस्मदादेस्तत्र सर्वदा बाधरहितत्वं सिद्ध्येदिति। चेत् प्रतिभासमात्रे कथं। सकृदपि बाधानुपलंभनात्सर्वदा बाधासंभवनानुपपत्तेरितिचेत् भेदप्रतिभासेपि तत एव। चंद्रद्वयादिवेदने भेदप्रतिभासस्य बाधोपलंभादन्यत्रापि बाधसंभवनान्न भेदप्रतिभासे सदा बाधवैधुर्यं सिद्ध्यतीति चेत्तर्हि वकुलतिलकादिवेदने दूरादभेदप्रतिभासस्य बाधसहितस्योपलंभनादभेदप्रतिभासेपि सदा

चिन्मात्र की विधि को निरूपण करने वाला एक ही ज्ञान वास्तविक है क्योंकि वही सर्वत्र प्रतिभासमात्र है। प्रत्यक्ष, परोक्ष अथवा अत्यन्तपरोक्ष मिलाकर ये दो तीन ज्ञान नहीं हो सकते हैं इस प्रकार ब्रह्म अद्वैतवादियों का कहना भी उचित नहीं है क्योंकि अर्थों के इन्द्रियों से उत्पन्न भेदज्ञान की यथार्थरूप से प्रतीति होती है। (प्रत्युत केवल अभेद को ही ग्रहण करने वाले चिन्मात्र का अनुभव नहीं होता है) तथा विशेष वस्तुओं को ग्रहण करने वाले और बाधाओं से रहित विशदस्वरूप भेदज्ञान का सदा अनुभव होता है॥६-७॥

ब्रह्माद्वैतवादियों के द्वारा स्वीकृत केवल प्रतिभासरूप परमब्रह्म का भी सत्यपना सदा स्पष्ट रूप से अनुपयुक्त होने से बाधाओं से विरहित ही इष्ट मानना होगा। अन्यथा (निर्बाधस्वरूप सत्य हुए बिना) उस प्रतिभासस्वरूप परमब्रह्म की व्यवस्था नहीं हो सकेगी किन्तु वह सत्यपने का प्राण बाधारहितपना पदार्थों के स्पष्ट भेदज्ञान के भी अनुभूत हो रहे हैं।

प्रत्येक ज्ञान के लिए नियतकाल में उत्पन्न विशेषज्ञानों के द्वारा घट पट आदि के विशेष ज्ञानों का स्पष्ट अनुभव हो रहा है। इन सत्यज्ञानों में कभी बाधा नहीं आती है।

शंका : यहाँ अद्वैतवादी कहता है कि उन भेदज्ञानों में सदा बाधारहितपना है, यह हम लोगों के द्वारा कैसे जाना जा सकता है? इन भेदज्ञानों में कभी बाधायें न हुई हैं और न होंगी। इस बात को अल्पज्ञ जीव जान नहीं सकते हैं।

समाधान : स्याद्वादी कहते हैं कि तुम्हारे शुद्ध प्रतिभास मात्र या उसके ज्ञान में सदा बाधारहितपना तुम अत्यल्पज्ञों के द्वारा कैसे जाना जा सकेगा? शुद्ध चिन्मात्र में एक बार भी बाधा नहीं दीखती है। यदि कहो कि शुद्ध चिन्मात्र में सदैव बाधाओं की सम्भावना नहीं है, तो जिस प्रकार शुद्ध चिन्मात्र में सदैव बाधाओं की संभावना नहीं है उसी प्रकार भेद रूप ज्ञानों में भी एक बार भी बाधाओं की उपलब्धि नहीं होती है ऐसी बाधाओं की असम्भव की सिद्धि भेद प्रतिभासों में भी समझ लेना चाहिए। इस विषय में हमारा तुम्हारा प्रश्नोत्तर उठाना, देना एकसा पड़ता है। अर्थात् जैसा तुम कहते हो वैसा हम भी कह सकते हैं।

ब्रह्मअद्वैतवादी कहते हैं कि एक चन्द्रमा में दो चन्द्रमा के ज्ञान में भेद के प्रतिभासों की बाधाएँ उपस्थित देखी जाती हैं। उसी प्रकार अन्य घट, पट आदि के भेद प्रतिभासों में भी बाधाओं की सम्भावना है, इसलिए जैनों के भेदप्रतिभास में सदा बाधारहितपना सिद्ध नहीं होता है।

इसके प्रत्युत्तर में जैन कहते हैं कि मौलश्री, तिलक आदि वृक्षों के ज्ञान में दूर से हुए अभेद प्रतिभास के बाधासहितपन की उपलब्धि होती है अत: तुम्हारे प्रतिभासमात्ररूप अभेद प्रतिभास में भी सर्वदा

बाधशून्यत्वं मासिधत्। तत्रापि प्रतिभासमात्रस्य बाधानुपलंभ इति चेत् चंद्रद्वयादिवेदनेपि विशेषमात्रप्रतिभासे बाधानुपलंभ एवेत्युपालंभसमाधानानां समानत्वादलमतिनिर्बंधनेन। ननु च विषयस्य सत्यत्वे संवेदनस्य सत्यत्वमिति न्याये प्रतिभासमात्रमेव परमब्रह्म सत्यं तद्विषयस्य सन्मात्रस्य सत्यत्वान्न भेदज्ञानं तद्गोचरस्यासत्यत्वादिति मतमनूद्य दूषयन्नाह;—

ननु सन्मात्रकं वस्तु व्यभिचारविमुक्तितः। न भेदो व्यभिचारित्वात्तत्र ज्ञानं न तात्त्विकम्॥८॥

इत्ययुक्तं सदाशेषविशेषविधुरात्मनः। सत्त्वस्यानुभवाभावाद्भेदमात्रकवस्तुवत्॥९॥

दृष्टेरभेदभेदात्मवस्तुन्यव्यभिचारतः। पारमार्थिकता युक्ता नान्यथा तदसंभवात्॥१०॥

न हि सकलविशेषविकलं सन्मात्रमुपलभामहे निः सामान्यविशेषवत् सत्सामान्यविशेषात्मनो वस्तुनो दर्शनात्। न च तद्व्यभिचारोस्ति केनचित्सद्विशेषणरहितस्य सन्मात्रस्योपलंभेपि सद्विशेषांतर-

---

बाधारहितपना सिद्ध नहीं होता है। यदि वेदान्ती कहे कि दूर से बगीचे में वकुल, तिलक आदि अनेक वृक्ष समुदित होकर एक दिख रहे हैं, किन्तु निकट आकर भिन्न-भिन्न होकर विशद दिखते हैं, और फिर भी वहाँ सामान्य प्रतिभास होने की कोई बाधा नहीं है, चाहे भिन्न दिखें या अभिन्न, सामान्य प्रतिभास होने में तो कोई बाधा नहीं है। इसके प्रत्युत्तर में जैनाचार्य कहते हैं कि दो चन्द्रमा आदि के ज्ञानों में भी केवल विशेष अंश (विशेष्यदल के प्रतिभासने) में तो कोई बाधा नहीं दीखती है। केवल विशेषणभूत संख्या का अतिक्रमण होता है। इस प्रकार हमारे तुम्हारे दोनों के यहाँ उलाहने और समाधान समान हैं। अतः भेदप्रतिभास या अभेद प्रतिभास के प्रकरण को अधिक बढ़ाना उपयुक्त नहीं है। यहाँ अद्वैतवादियों की शंका है कि विषय के सत्य होने पर उसको जानने वाले ज्ञान की सत्यता मानी जाती है। इस प्रकार न्याय हो जाने पर प्रतिभास मात्र ही परमब्रह्म सत्य है अतः उसको विषय करने वाला केवल शुद्ध सत् का अभेदज्ञान ही सत्य है। भेदज्ञान सत्य नहीं हो सकता, क्योंकि उसका विषय भेद पदार्थ असत्य है, अपरमार्थ है। **इस प्रकार के अद्वैतमत का अनुवाद कर उसको दूषित करते हुए आचार्य स्पष्ट कथन करते हैं-**

शंका : (अद्वैतवादी कहते हैं कि) व्यभिचार रहित होने से केवल शुद्ध सत् ही परमार्थ वस्तु है। विशेषरूप से दृष्टिगोचर होने से भेद यथार्थ नहीं है, क्योंकि भेद का ज्ञान होना व्यभिचार दोष से युक्त है।

समाधान : अद्वैतवादियों का यह कहना युक्तिरहित है, क्योंकि सम्पूर्ण विषयों से रहित सत्त्वस्वरूप का सर्वदा अनुभव नहीं होता है। जैसे कि सामान्य से सर्वथा रहित केवल विशेषस्वरूप वस्तु की कभी भी प्रतीति नहीं होती है किन्तु अभेद और भेदस्वरूप वस्तु में व्यभिचार से रहित प्रतीति ही पारमार्थिक युक्त है। अन्यथा अर्थात् बौद्धों के केवल विशेष अंश को जानने वाले निर्विकल्पक दर्शन को और अद्वैतवादियों के शुद्ध सामान्यसत्ता को प्रकाशित करने वाले दर्शन को तात्त्विकपना नहीं है, क्योंकि सामान्य के बिना केवल विशेष का और विशेष के बिना केवल सामान्य का रहना असम्भव है॥८-९-१०॥

सम्पूर्ण विषयों से सर्वथा रहित शुद्ध सन्मात्र को हम कभी भी नहीं देख रहे हैं जैसे कि सामान्य से सर्वथा रहित विशेष कभी देखा नहीं जाता है अर्थात् सबको उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य वाले सामान्य

रहितस्यानुपलंभनात्। ततस्तस्यैव सत्सामान्यविशेषात्मनोर्थस्याव्यभिचारित्वलक्षणं पारमार्थिकत्वं युक्तमिति तद्विधातृप्रत्यक्षं सिद्धम् ॥

जात्यादिकल्पनोन्मुक्तं वस्तुमात्रं स्वलक्षणम्। तज्ज्ञानमक्षजं नान्यदित्यप्येतेन दूषितम्॥११॥

किं पुनरेवं स्याद्वादिनो दर्शनमवग्रहपूर्वकालभावि भवेदित्यत्रोच्यते—

किंचिदित्यवभास्यत्र वस्तुमात्रमपोद्धृतं। तद्ग्राहि दर्शनं ज्ञेयमवग्रहनिबंधनम्॥१२॥

अनेकांतात्मके भावे प्रसिद्धेपि हि भावतः। पुंसः स्वयोग्यतापेक्षं ग्रहणं क्वचिदंशतः॥१३॥

तेनार्थमात्रनिर्भासाद्दर्शनाद्भिन्नमिष्यते। ज्ञानमर्थविशेषात्माभासि चित्त्वेन तत्समम्॥१४॥

विशेषात्मक सत् वस्तु का दर्शन होता है। उस सामान्य विशेष-आत्मक वस्तु में कोई व्यभिचार नहीं है। किसी एक विशेषसत् से रहित केवल सत् का उपलम्भ होने पर भी सत् के अन्य विशेषों से रहित सत् मात्र का किसी को उपलम्भ नहीं होता है। इसलिए उस सामान्य विशेष आत्मक वस्तु का विधान करने वाला प्रत्यक्ष प्रमाणसिद्ध है। अर्थात् विशेषरहित शुद्ध सत्ता मात्र वा निर्विकल्प वस्तु दृष्टिगोचर नहीं हो रही है अपितु विशेष सहित सविकल्प वस्तु दृष्टिगोचर हो रही है, अनुभव में आ रही है, वही सत्य है।

सभी प्रत्यक्ष सामान्य विशेष आत्मक वस्तु का विधान करते हैं, सामान्य विशेष आत्मक वस्तु का निषेध नहीं करते हैं।

जात्यादि कल्पनाओं से सर्वथा रहित क्षणिक स्वलक्षणमात्र वस्तुभूत ज्ञान ही इन्द्रियजन्य है, और ज्ञेय आदि कोई वस्तु नहीं है, ऐसा कहने वाले का भी खंडन कर दिया गया है॥११॥

स्याद्वादियों के यहाँ माना गया सामान्य को ग्रहण करने वाला दर्शनोपयोग क्या फिर इस प्रकार सामान्य विशेष आत्मक वस्तु को जानने वाले अवग्रह ज्ञान से पूर्वकाल में होने वाला होगा ? या कैसा होगा? इस प्रकार सच्छिष्य की आकांक्षा होने पर आचार्य कहते हैं -

"कुछ है"- इस प्रकार सामान्य वस्तु को ग्रहण करने वाला प्रतिभास दर्शनोपयोग है। वह दर्शनोपयोग अवग्रह ज्ञान का कारण है। ऐसा जानना चाहिए।

भावार्थ : पदार्थ के विशेष को नहीं ग्रहण कर केवल उसकी महासत्ता का आलोचन करने वाला दर्शन है, उसके पीछे शीघ्र ही विशेषों को जानने वाला ज्ञान उत्पन्न होता है वह अवग्रह है। इस सामान्यग्राही दर्शन के पीछे हुए ज्ञान का कालव्यवधान सब जीवों को प्रतीत नहीं होता है। वह आलोचन करने वाला दर्शन उपयोग अवग्रह मतिज्ञान का कारण है॥१२॥

यद्यपि सम्पूर्ण पदार्थ भावदृष्टि से सामान्य-विशेष, आधार-आधेय, जन्य-जनक आदि अनेक धर्म स्वरूप प्रसिद्ध होने पर भी आत्मा के अपनी ज्ञानावरण और वीर्यान्तराय के क्षयोपशमरूप योग्यता की अपेक्षा से किसी-किसी धर्म में अंशरूप से ग्रहण होना सिद्ध होता है॥१३॥

अत: सत्तामात्र सामान्य अर्थ को प्रकाशित करने वाले दर्शन से यह विशेषस्वरूप अर्थों को ग्रहण करने वाला अवग्रह ज्ञान भिन्न माना गया है। यद्यपि चैतन्यरूप से (वा ज्ञानस्वरूप से) दर्शन और अवग्रह समान हैं, तथापि सत्ता का आलोचन करने वाला दर्शन पृथक् है, और सामान्य विशेष वस्तु को जानने वाला

कृतो भेदो नयात्सत्तामात्रज्ञात्संग्रहात्परम्। नरमात्राच्च नेत्रादिदर्शनं वक्ष्यतेग्रतः ॥१५॥

न हि सन्मात्रग्राही संग्रहो नयो दर्शनं स्यादित्यतिव्याप्तिः शंकनीया तस्य श्रुतभेदत्वादस्पष्टावभासितया नयत्वोपपत्तेः श्रुतभेदा नया इति वचनात्। नाप्यात्ममात्रग्रहणं दर्शनं चक्षुरवधिकेवलदर्शनानामभावप्रसंगात्। चक्षुराद्यपेक्षस्यात्मनस्तदावरणक्षयोपशमविशिष्टस्य चक्षुर्दर्शनादिविभागभाक्त्वे तु नात्ममात्रग्रहणे दर्शनव्यपदेशः श्रेयानित्यग्रे प्रपंचतो विचारयिष्यते॥

नन्ववग्रहविज्ञानं दर्शनाज्जायते यदि। तस्येंद्रियमनोजत्वं तदा किं न विरुध्यते ॥१६॥

पारंपर्येण तज्जत्वात्तस्येहादिविदामिव। को विरोधः क्रमाद्वाक्षमनोजन्यत्वनिश्चयात् ॥१७॥

इंद्रियानिंद्रियाभ्यां हि यस्त्वालोचनमात्मनः। स्वयं प्रतीयते यद्वत्तथैवावग्रहादयः ॥१८॥

अवग्रह प्रमाण भिन्न है। अर्थात् पहले दर्शन तो प्रमाण अप्रमाण कुछ भी नहीं है। दूसरा अनध्यवसाय अप्रमाण है। तीसरा अवग्रह प्रमाण है ॥१४॥

त्रिलोक, त्रिकाल की वस्तुओं के सत्त्वमात्र को ग्रहण कर जानने वाले संग्रह नय से यह आलोचन आत्मक दर्शन उपयोग निराला है अतः संग्रहनय से दर्शन का भेद कर दिया गया है, क्योंकि संग्रहनय द्वारा स्वजाति का अविरोध करके भेदों का समस्त ग्रहण होता है। अद्वैतवादियों के ब्रह्मदर्शन समान केवल आत्मा का मन इन्द्रिय द्वारा अचक्षु दर्शन हो जाना ही सम्पूर्ण दर्शन उपयोग नहीं है, क्योंकि आत्मज्ञान के पूर्वभावी चक्षु, अवधि, केवल दर्शन भी दर्शनोपयोग में परिगणित हैं, इसका कथन आगे करेंगे ॥१५॥

सम्पूर्ण वस्तुओं की सत्ता को ग्रहण करने वाला संग्रहनय दर्शनोपयोग है। इस प्रकार की अतिव्याप्ति दोष की शंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि, वह संग्रहनय श्रुतज्ञान का भेद है। अविशद प्रतिभासनेवाला ज्ञान होने से उस संग्रह को नयपना है। श्रुतज्ञान के भेद नयज्ञान होते हैं ऐसा ग्रन्थों में कहा गया है तथा, केवल आत्मा का ही ग्रहण करना भी दर्शनोपयोग नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर अचक्षुदर्शन से अतिरिक्त चक्षुर्दर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन के अभाव का प्रसंग आता है।

यदि चक्षु या स्पर्शन, रसना, घ्राण, श्रोत्र, मन, रूप अचक्षु आदि की अपेक्षा रखने वाले और चक्षुः आवरण कर्म के क्षयोपशम आदि से विशिष्ट आत्मा को ही चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन, केवलदर्शनरूप विभागों को धारण कर लेने वाला माना जाता है, तब तो केवल आत्मा के ग्रहण करने में ही दर्शन उपयोग का व्यवहार करना श्रेष्ठ नहीं है। इस बात को आगे विस्तार से वर्णन करेंगे।

शंका : अवग्रहरूप मतिज्ञान यदि दर्शन से उत्पन्न होता है, तब तो उस मतिज्ञान का पूर्व सूत्रानुसार इन्द्रिय और मन से जन्यपना विरुद्ध क्यों नहीं होगा?

समाधान : ईहा, अवाय आदि ज्ञानों के समान वह अवग्रह भी परम्परा से इन्द्रिय और मन से जन्य है। अथवा क्रम से अक्ष और मन द्वारा जन्यपने का निश्चय हो जाने के कारण कौनसा विरोध आता है ? कोई विरोध नहीं है। अर्थात् साक्षात् रूप से अवग्रह दर्शन से उत्पन्न होता है परन्तु परम्परा से इन्द्रिय मन से जन्य है यह क्रम चालू है, क्योंकि जिस प्रकार अनिन्द्रिय से आत्मा का दर्शन होना स्वयं प्रतीत हो रहा है, उसी प्रकार अवग्रह, ईहा आदि भी इन्द्रिय और मन से होते हुए स्वयं प्रतीत हो रहे हैं ॥१६-१७-१८॥

य एवाहं किंचिदिति वस्तुमात्रमिंद्रियानिंद्रियाभ्यामद्राक्षं स एव तद्वर्णसंस्थानादिसामान्यभेदेनावगृह्णामि तद्विशेषात्मनाकांक्षामि तदेव तथावैमि तदेव धारयामीति क्रमशः स्वयं दर्शनावग्रहादीनामिंद्रियानिंद्रियोत्पाद्यत्वं प्रतीयते प्रमाणभूतात्प्रत्यभिज्ञानात् क्रमभाव्यनेकपर्यायव्यापिनो द्रव्यस्य निश्चयादित्युक्तप्रायम् ॥

वर्णसंस्थादिसामान्यं यत्र ज्ञानेवभासते। तन्नो विशेषणज्ञानमवग्रहपराभिधम् ॥१९॥

विशेषनिश्चयो वा य इत्येतदुपपद्यते। ज्ञानेनेहाभिलाषात्मा संस्कारात्मा न धारणा ॥२०॥

इति केचित्प्रभाषंते तच्च न व्यवतिष्ठते। विशेषवेदनस्येह दृढस्येहात्वसूचनात् ॥२१॥

ततो दृढतरावायज्ञानाद् दृढतमस्य च। धारणत्वप्रतिज्ञानात् स्मृतिहेतोर्विशेषतः ॥२२॥

अज्ञानात्मकतायां तु संस्कारस्येह तस्य वा। ज्ञानोपादानता न स्याद्रूपादेरिव सास्ति च ॥२३॥

जो मैं ''कुछ हूँ'' - इस प्रकार महासत्तास्वरूप केवल सामान्य वस्तु को अनिन्द्रियों के द्वारा देख चुका था, सो ही मैं रूप आकृति रचना आदि सामान्य भेदों से उस वस्तु का अवग्रह कर रहा हूँ तथा वही मैं अन्य विशेष अंश स्वरूप करके उस वस्तु के आकांक्षारूप का ज्ञान कर रहा हूँ। तथा वही मैं उसी प्रकार इस रूप से उसी वस्तु का निश्चय कर रहा हूँ एवं वही मैं उसी वस्तु की कालान्तर तक स्मरण करने की योग्यता को धारण कर रहा हूँ इस प्रकार क्रम से दर्शन, अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा ज्ञानों का इन्द्रिय-अनिन्द्रियों के द्वारा उत्पत्ति की योग्यता स्वयं प्रतीत हो रही है। वही एक आत्मा क्रम से दर्शन और अनेक ज्ञानों को उत्पन्न करती है अतः प्रमाणभूत सिद्ध प्रत्यभिज्ञान के द्वारा क्रम से होने वाली अनेक पर्यायों में व्यापने वाले द्रव्य का निश्चय हो रहा है इसको हम पूर्व में कई बार कह चुके हैं।

जिस ज्ञान में वर्ण, रचना, आकृति आदि का सामान्य से प्रतिभास होता है वह ज्ञान हमारे यहाँ विशेषण ज्ञान है। उसका दूसरा नाम **अवग्रह** है। तथा जिस ज्ञान के द्वारा वस्तु के विशेष अंशों का निश्चय कराया जाता है, वह **अवाय** है। इस प्रकार यह अवाय ज्ञान भी उत्पन्न हो सकता है। किन्तु अभिलाषारूप से स्वीकृत ईहा ज्ञान और संस्कारस्वरूप **धारणाज्ञान** सिद्ध नहीं हो पाते हैं, क्योंकि अभिलाषा तो इच्छा है। वह आत्मा ज्ञान से पृथक् स्वतंत्र गुण है तथा भावनारूप संस्कार भी ज्ञान से पृथक् स्वतंत्र गुण है। अतः इच्छा और संस्कार तो ज्ञानस्वरूप नहीं हो सकते हैं। इस प्रकार कोई कहते हैं। इस प्रकार कोई कहते हैं। किन्तु उनका यह मन्तव्य व्यवस्थित नहीं हो सकता है क्योंकि इस प्रकरण में वस्तु के अंशों की आकांक्षारूप दृढ़ विशेष ज्ञान को ईहापना सूचित किया है। उस दृढ़ ईहा ज्ञान से अधिक दृढ़ अवाय ज्ञान है और अवाय ज्ञान से भी बहुत अधिक दृढ़ तथा स्मृति का कारणभूत **धारणा ज्ञान** विशेषरूप से प्रतिज्ञा है।

भावार्थ : मोहनीय कर्म के उदय से आत्मा के चारित्र गुण की विभाव पर्याय इच्छा है। आत्मा के चैतन्य गुण का परिणाम ज्ञान है अतः इच्छा से ईहा ज्ञान पृथक् है। पूर्वसमयवर्त्तिनी आकांक्षा का विकल्प करता हुआ ईहा ज्ञान उत्पन्न होता है अतः उसे आकांक्षापन से व्यवहार कर लिया जाता है। धारणा ज्ञान तो संस्काररूप है। ज्ञान में विशिष्ट क्षयोपशमानुसार अतिशयों का उत्पन्न हो जाना ही ज्ञानस्वरूप संस्कार है। इससे अलग कोई भावना नाम का संस्कार हमें अभीष्ट नहीं है। यदि इस प्रकरण में संस्कार को अज्ञान

सुखादिना न चात्रास्ति व्यभिचार: कथंचन। तस्य ज्ञानात्मकत्वेन स्वसंवेदनसिद्धित: ॥२४॥

सर्वेषां जीवभावानां जीवात्मत्वार्पणान्नयात्। संवेदनात्मतासिद्धेर्नापसिद्धान्तसंभव: ॥२५॥

औपशमिकादयो हि पंच जीवस्य भावा: संवेदनात्मका एवोपयोगस्वभावजीवद्रव्यार्थादेव। तत्र केषांचिदसंवेदनात्मत्वोपदेशादन्यथा तद्व्यवस्थितिविरोधादिति वक्ष्यते॥

तत एव प्रधानस्य धर्मा नावग्रहादय:। आलोचनादिनामान: स्वसंवित्तिविरोधत: ॥२६॥

आलोचनसंकल्पनाभिमननाध्यवसाननामानोवग्रहादय: प्रधानस्य विवर्ताश्चेतना पुंस: स्वभाव इति येप्याहुस्तेपि न युक्तवादिन:, स्वसंवेदनात्मकत्वादेव तेषामात्मस्वभावत्वप्रसिद्धेरन्यथोपगमे स्वसंवित्तिविरोधात्। न हीदं स्वसंवेदनं भ्रांतं बाधकाभावादित्युक्तं पुरस्तात्॥

स्वरूप माना जाएगा, तब तो वह संस्कार स्मरणज्ञान का उपादान कारण न हो सकेगा, जैसे कि रूप, रस आदि गुण ज्ञान के उपादान कारण नहीं हैं, किन्तु संस्काररूप धारणा को स्मृति ज्ञान की वह उपादानता प्राप्त है। अत: वह संस्कार धारणा नामक ज्ञान ही है। ज्ञान से भिन्न कोई गुण भावना नाम का संस्कार सिद्ध नहीं है॥१९-२०-२१-२२-२३॥

तथा ऐसा मानने पर सुखादि के साथ किसी प्रकार का व्यभिचार नहीं है, क्योंकि उन सुखादि की ज्ञानस्वरूप से स्वसम्वेदन प्रत्यक्ष द्वारा सिद्धि हो रही है। अर्थात्-चेतन आत्मा के सुख, इच्छा, भावना आदि रूप सभी परिणामों पर चैतन्यभाव अन्वित है। जीव के सम्पूर्ण परिणामों को चेतन जीवस्वरूपपने की अर्पणा करने वाली नय से सम्वेदनस्वरूपपना सिद्ध है अत: हम स्याद्वादियों के यहाँ अपसिद्धान्त हो जाने की सम्भावना नहीं है॥२४-२५॥

जीव के औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक, पारिणामिक पाँच भाव चैतन्य उपयोगस्वरूप जीव पदार्थ को विषय करने वाली द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा से संवेदनात्मक (चैतन्यस्वरूप) ही हैं। तथा प्रमाणदृष्टि या पर्यायार्थिक नय से वहाँ कोई-कोई भावों का असम्वेदन स्वरूपपना उपदेश किया है। अन्यथा (ज्ञानात्मक और असंवेदनात्मक हुए बिना) उन भावों की ठीक-ठीक व्यवस्था होने का विरोध है। इसको आगे स्पष्ट करेंगे।

भावार्थ : पर्याय दृष्टि से यद्यपि उपशमचारित्र, इच्छा, आदि पर्यायें ज्ञानपर्याय से भिन्न हैं अत: वे कथंचित् असम्वेदनस्वरूप हो सकती हैं, फिर भी चैतन्यद्रव्य का अन्वितपना अपरिहार्य है।

अत: चेतन जीवद्रव्य के तदात्मक परिणाम होने से अवग्रह आदि ज्ञान सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण की साम्य अवस्थारूप प्रधान (प्रकृति) के भी धर्म नहीं हैं। सांख्यों के द्वारा आलोचन, संकल्प, अभिमान आदि नामों से संकेतित अवग्रहादि को जड़ प्रकृति का धर्म मानने पर उनके स्वसम्वेदन प्रत्यक्ष होने का विरोध आता है। अर्थात् ज्ञानस्वरूप या चेतन जीवस्वरूप पदार्थों का ही स्वसम्वेदन प्रत्यक्ष होना सम्भव है॥२६॥

आलोचन, संकल्पन, अभिमान, अध्यवसाय, नामों को धारने वाले अवग्रह आदि ज्ञान प्रकृति के ही पर्याय (परिणाम) हैं।

ननु दूरे यथैतेषां क्रमशोर्थे प्रवर्तनं। संवेद्यते तथासन्ने किन्न संविदितात्मनाम्॥२७॥

विशेषणविशेष्यादिज्ञानानां सममीदृशं। वेद्यं तत्र समाधानं यत्तदत्रापि युज्यते॥२८॥

भावार्थ : पदार्थों का सामान्यरूप से आलोचन करना अवग्रह है, यह इन्द्रियों द्वारा हुआ प्रकृति का विवर्त है। "संकल्प करना" ईहा है। यह भी मन:जन्य प्रकृति का परिणाम है। "यह ऐसा ही है" इस प्रकार अभिमान करना अवाय है, जो कि प्रकृति की अहंकार रूप पर्याय है तथा दृढ़ निर्णय कर लेना धारणा है, यह तो प्रकृति का बुद्धिरूप पहिला परिणमन है। चेतना तो पुरुष का स्वभाव है। इस प्रकार जो भी सांख्य कह रहे हैं, वे भी युक्तिपूर्वक कहने वाले नहीं हैं क्योंकि, उन आलोचन आदि रूप अवग्रह आदि ज्ञानों को स्वसम्वेदनस्वरूप होने के कारण ही आत्मस्वभावपना प्रसिद्ध है। अन्यथा (जड़प्रकृति का धर्म मानने पर तो) उनका स्वसम्वेदन होना विरुद्ध होता है।

अर्थात् अचेतन प्रधान का धर्म स्व संवेदनात्मक नहीं हो सकता, जैसे अचेतन की पर्याय घटादि स्वसंवेदनात्मक नहीं है। यह स्वसंवेदन प्रत्यक्षभ्रान्त भी नहीं है, क्योंकि इस प्रत्यक्ष का बाधक प्रमाण कोई उपस्थित नहीं होता है। इसका हम पूर्व प्रकरणों में कथन कर चुके हैं अत: अवग्रह आदि ज्ञान चेतन आत्मा के परिणाम हैं, पर्याय हैं, प्रधान की नहीं।

शंका : जिस प्रकार दूरवर्ती पदार्थ में इन अवग्रह आदि ज्ञानों की क्रम-क्रम से प्रवृत्ति होती है। अर्थात् पहले इन्द्रिय और अर्थ की योग्यदेश में अवस्थिति होने पर दर्शन होता है। पश्चात् अवग्रह होता है, अनन्तर आकांक्षारूप ईहा ज्ञान होता है, पुन: अवाय, उसके पश्चात् धारणा ज्ञान होते हैं। उसी प्रकार निकटदेशवर्त्ती पदार्थ में सम्विदितस्वरूप से माने गये अवग्रह आदिकों की क्रम से होती हुई प्रवृत्ति क्यों नहीं होती है ?

समाधान : जैसे विशेषण विशेष्य का या सामान्यविशेष आदि ज्ञानों का क्रम से होना अनुभूत नहीं हो रहा है, इसी प्रकार उनके समान यहाँ भी अवग्रह आदि ज्ञानों की क्रम से प्रवर्तना अनुभव में नहीं आ रही है। उसमें यदि नैयायिक यह समाधान करें कि उस प्रकार का उन विशेषण-विशेष्य आदि ज्ञानों का क्रम से प्रवर्तना क्वचित् प्रत्यक्ष से, कहीं अनुमान से जाना जा रहा है।

अर्थात् विशेष विशेष्य ज्ञान क्रम से होते हैं, फिर युगपत् होते हैं, ऐसा प्रतीत होता है। वह समाधान तो यहाँ अवग्रह आदि में भी उपयोगी हो जाता है। अर्थात् क्रम से होने वाले अवग्रहादिक युगपत् हुए सरीखे प्रतीत होते हैं॥२७-२८॥

तथा कापिल आलोचन, संकल्प, अभिमान, अध्यवसाय को क्रम से होना समझता है। तथा अद्वैतवादियों के यहाँ दर्शन, श्रवण, मनन निदिध्यासन की क्रमप्रवृत्ति जानी गयी है। अनुमान का उपकार करने वाले सम्बन्धस्मरण आदि की क्रम से प्रवर्तना जानी जा रही है। अर्थात् पहले हेतु का दर्शन होता है। पीछे व्याप्ति का स्मरण किया जाता है। पुन: पक्षवृत्तित्व ज्ञान से अनुमान कर लिया जाता है। आगमज्ञान में भी क्रम देखा जाता है। शब्द का श्रोत्र इन्द्रिय से श्रावण प्रत्यक्ष कर संकेत का स्मरण करते हुए और इस

तथैवालोचनादीनां दृगादीनां च बुध्यते। संबंधस्मरणादीनामनुमानोपकारिणाम् ॥२९॥

अत्यंताभ्यासतो ह्याशु वृत्तेरनुपलक्षणम्। क्रमशो वेदनानां स्यात्सर्वेषामविगानतः ॥३०॥

ततः क्रमभुवोवग्रहादयो अनभ्यस्तदेशादाविवाभ्यस्तदेशादौ सिद्धाः स्वावरणक्षयोपशमविशेषाणां क्रमभावित्वात्॥ अत्रापरः प्राह। नाक्षजोऽवग्रहस्तस्य विकल्पात्मकत्वात्तत एव न प्रमाणमवस्तुविषयत्वादिति तं प्रत्याह;—

द्रव्यपर्यायसामान्यविषयोवग्रहोक्षजः। तस्यापरविकल्पेनानिषेध्यत्वात् स्फुटत्वतः ॥३१॥

संवादकत्वतो मानं स्वार्थव्यवसितेः फलं। साक्षाद्व्यवहितं तु स्यादीहा हानादिधीरपि ॥३२॥

द्रव्यपर्यायसामान्यविशेषयोवग्रहोक्षजो युक्तः प्रतिसंख्यानेनाविरोध्यत्वाद्विशदत्वाच्च तस्यानक्षजत्वे

शब्द में वैसे ही पूर्व सांकेतिक शब्द का सादृश्य प्रत्यभिज्ञान करते हुए आगमज्ञान उत्पन्न होता है। अत्यन्त अधिक अभ्यास हो जाने से उक्त ज्ञानों की झटिति प्रवृत्ति हो जाती है अतः स्थूलदृष्टि जीवों को उनका अन्तराल नहीं दिख पाता है। वस्तुतः आत्मा के सम्पूर्ण ज्ञानों की निर्दोष रूप से क्रम करके ही प्रवृत्ति होती है। अर्थात् अत्यधिक अभ्यास हो जाने से आशुवृत्ति का दीखना नहीं होता है जैसे शीघ्र पुस्तक को पढ़ने वाला जन अक्षरों पर क्रम से जाने वाली दृष्टि की शीघ्र क्रमप्रवृत्ति को नहीं निरख पाता है॥२९-३०॥

अतः सिद्ध हुआ कि अभ्यास नहीं किये गये देश, स्थानवर्त्ती आदि पदार्थों में जैसे अवग्रह आदिक ज्ञान क्रम से होना सिद्ध होते हैं, उसी प्रकार अभ्यासप्राप्त देश, काल, पदार्थ आदि में भी अवग्रहादि क्रम से ही उत्पन्न होते हैं, क्योंकि अपने-अपने आवरण कर्मों के क्षयोपशम की विशेषताएँ क्रम से ही होने वाली हैं।

यहाँ कोई दूसरा (बौद्ध विद्वान्) कह रहा है कि अवग्रहज्ञान इन्द्रियों से उत्पन्न हुआ नहीं है। वह अवग्रह तो विकल्पस्वरूप ज्ञान है। इन्द्रियाँ संकल्प, विकल्परूप ज्ञानों को उत्पन्न नहीं करा सकती हैं। अवग्रहज्ञान विकल्पस्वरूप है, अतः अवस्तु को विषय करने वाला होने से वह प्रमाणज्ञान नहीं है। इस प्रकार कहने वाले को आचार्य उत्तर देते हैं -

सामान्यरूप से द्रव्य और पर्यायों को विषय करने वाला अवग्रहज्ञान अवश्य ही इन्द्रियजन्य है। क्योंकि वह अवग्रहज्ञान अन्य विकल्पज्ञानों से निषेध करने योग्य नहीं है तथा वह अवग्रहज्ञान स्पष्ट भी है॥३१॥

यह अवग्रहज्ञान प्रमाण है-संवादक होने से, जो ज्ञान सफल प्रवृत्तिजनक या बाधारहितरूप संवादक होते हैं, वे प्रमाण होते हैं।

इस अवग्रहज्ञान का साक्षात् फल तो अपना और अर्थ का निर्णय करना है, तथा परम्पराप्राप्त फल ईहा ज्ञान को उत्पन्न कराना अथवा अपने विषय में हान, उपादान, उपेक्षा बुद्धियाँ उत्पन्न करा देना भी है॥३२॥

'यह मनुष्य है', 'यह शुक्लवस्तु है', 'यह पुस्तक है' - इस प्रकार सामान्यरूप से द्रव्य और

तदयोगात्। शक्यंते हि कल्पनाः प्रतिसंख्यानेन निवारयितुं नेंद्रियबुद्धय इति स्वयमिष्टेः। मनोविकल्पस्य वैशद्यानिषेधोप्रमाणं चायं संवादकत्वात्साधकतमत्वादनिश्चितार्थनिश्चायकत्वात् प्रतिपत्त्रपेक्षणीयत्वाच्च। न पुनर्निर्विकल्पकं दर्शनं तद्विपरीतत्वात्सन्निकर्षादिवत्। फलं पुनरवग्रहस्य प्रमाणत्वे स्वार्थव्यवस्थितिः साक्षात्परंपरया त्वीहा हानादिबुद्धिर्वा। ननु च प्रमाणात्फलस्याभेदे कथं प्रमाणफलव्यवस्था विरोधादिति चेत् न, एकस्यानेकात्मनो ज्ञानस्य साधकतमत्वेन प्रमाणत्वव्यवस्थितेः। क्रियात्वेन

विशेषस्वरूप से पर्यायों को विषय करने वाले अवग्रह ज्ञान को इन्द्रियों से जन्य कहना युक्त ही है क्योंकि अवग्रह ज्ञान प्रतिकूल साधक प्रमाणों के द्वारा विरोध करने योग्य नहीं है तथा अवग्रहज्ञान स्पष्ट है। यदि उस अवग्रह को इन्द्रियों से जन्य नहीं माना जायेगा तो प्रतिकूल प्रमाणों से विरोध करने योग्य हो जायेगा और उस विशदज्ञानपने का अयोग हो जाएगा। कल्पना ज्ञान तो प्रतिकूल प्रमाणों के द्वारा निवारण किया जा सकता है, किन्तु इन्द्रियजन्य ज्ञान तो अन्य ज्ञानों से बाध्य नहीं है इस प्रकार बौद्धों ने स्वयं अपने ग्रन्थों में अभीष्ट किया है। मन इन्द्रियजन्य सच्चे विकल्पज्ञान के विशदपन का निषेध नहीं किया गया है। अथवा विकल्प रूप होने से अवग्रह ज्ञान को अप्रमाण कहना उपयुक्त नहीं है। क्योंकि यह विकल्पज्ञान प्रमाण है- निर्बाधरूप से सम्वादक होने से, प्रमिति का साधकतम होने से, अनिश्चित अर्थों का निश्चित करने वाला होने से और अर्थों की प्रतिपत्ति करने वाले आत्माओं की अपेक्षा करने योग्य होने से। किन्तु बौद्धों द्वारा माना गया वस्तु, वस्तु अंश, संसर्ग, विशेष्य, विशेषण, अर्थ विकल्प आदि कल्पनाओं से रहित निर्विकल्पक दर्शन प्रमाण नहीं है उस प्रमाणत्व के साधक हेतुओं से विपरीत हेतुओं का साधक होने से अर्थात् विसम्वादकत्व सबाधपना या निरर्थक प्रवृत्तिजनकपना होने से, प्रमिति का करण नहीं होने से, अनिश्चित अर्थ का निश्चयकराने वाला नहीं होने से जिज्ञासु पुरुषों को अपेक्षणीय नहीं होने से निर्विकल्प दर्शन प्रमाण नहीं है, जैसे वैशेषिकों के द्वारा स्वीकृत सन्निकर्ष या कापिलों द्वारा मानी गयी इन्द्रियवृत्ति आदि प्रमाण नहीं है। प्रकरण में अवग्रह नाम का मतिज्ञान प्रमाण सिद्ध हो जाता है, उसका साक्षात् यानी अव्यवहित उत्तरकाल या समान काल में ही होने वाला फल स्व और अर्थ का व्यवसाय करा देना है तथा अवग्रह का परम्परा से होने वाला फल ईहा ज्ञान अथवा हान, उपादान, उपेक्षाबुद्धियाँ करा देना है।

भावार्थ : जैन सिद्धान्तानुसार दीप और प्रकाश के समान समकाल पदार्थों में भी कार्यकारण भाव है। कार्य में व्यापार करने वाले कारण कार्य से पूर्वक्षण में रहने चाहिए। किन्तु कारण के साथ कथंचित् अभेद सम्बन्ध रखने वाले निवृत्ति, व्यवहारप्रयोजकत्व आदि कार्य तो कारण के समानकाल में रह जाते हैं।

शंका : प्रमाण से फल को अपृथक् (अभेद) रूप मानने पर प्रमाण और प्रमाण के फल की व्यवस्था कैसे हो सकती है ? क्योंकि इस प्रकार मानने में विरोध आता है। अर्थात् प्रमाण और प्रमाण का फल एक ही समय एक पदार्थ में साथ नहीं रहते हैं।

समाधान : इस प्रकार कहना उचित नहीं है क्योंकि अनेक धर्मस्वरूप एक ज्ञान के भी प्रमिति के साधकतम की अपेक्षा प्रमाणपना व्यवस्थित है और उसी ज्ञान को स्वकीय ज्ञान क्रियापन की अपेक्षा से

फलत्वव्यवस्थानाद्विरोधानवतारात्। कथमेकं ज्ञानं करणं क्रिया च युगपदिति चेत् तच्छक्तिद्वययोगात् पावकादिवत्। पावको दहत्यौष्ण्येनेत्यत्र हि दहनक्रिया तत्कारणं चौष्ण्यं युगपत्पावके दृष्टं तच्छक्तिद्वयसंबंधादिति निर्णीतप्रायं। नन्वर्थोपि वैशद्यस्य प्रतिसंख्यानानिरोध्यत्वस्य चासंभवान्न ततोवग्रहस्याक्षजत्वसिद्धिरिति पराकूतमुपदर्श्य निराकुरुते;—

निर्विकल्पकया दृष्ट्या गृहीतेर्थे स्वलक्षणे। तदान्यापोहसामान्यगोचरोऽवग्रहो स्फुटः ।।३३।।

सहभावी विकल्पोपि निर्विकल्पकया दृशा। परिकल्पनया वातो निषेध्य इति केचन ।।३४।।

तदसत्स्वार्थसंवित्तेरविकल्पत्वदूषणात्। सदा स व्यवसायाक्षज्ञानस्यानुभवात्स्वयम् ।।३५।।

फलपना भी व्यवस्थित है। इसमें विरोध दोष का अवतार नहीं है। अर्थात् दीप ही प्रकाश का कारण है, और प्रदीप ही प्रकाश करना रूप क्रिया है, इसमें कोई विरोध नहीं।

एक ज्ञान एक ही समय में एक साथ करण और क्रिया रूप कैसे हो सकता है ? ऐसी शंका करने पर जैनाचार्य समाधान करते हैं कि उन दो कार्यों को कराने वाली दो शक्तियों के योग होने से दो कार्य होते हैं-जैसे कि अग्नि, पाषाण आदि पदार्थ अपनी अनेक शक्तियों के बल से एक समय में अनेक कार्यों को कर देते हैं। अग्नि अपनी उष्णता से जल रही है या जला रही है। इस प्रकार यहाँ जलनारूप क्रिया और उसका कारण उष्णपना एक ही समय अग्नि में उन दो दाह्यत्व, दाहकत्व शक्तियों के सम्बन्ध से होते देखे गये हैं। उसका निर्णय पूर्व में कर चुके हैं। अर्थात् एक पदार्थ में दो तीन क्या अनेकानेक शक्तियाँ विद्यमान हैं और उनके कार्य भी सतत होते रहते हैं। अल्पज्ञ जीवों को उनके कतिपय कार्य ज्ञात हो जाते हैं, बहुत से ज्ञात नहीं होते हैं।

शंका : अवग्रहज्ञान के विशदपन और प्रतिकूल प्रमाण से अनिरोध्यपन की असम्भवता है अतः उन हेतुओं से अवग्रह के अर्थजन्यत्व या इन्द्रियजन्यत्व की सिद्धि नहीं हो सकती।

समाधान : इस प्रकार दूसरे प्रतिवादियों की अनधिकार चेष्टा को दिखलाकर आचार्य उसका निराकरण करते हैं।

बौद्ध कहता है-परमार्थभूत निर्विकल्पक दर्शन के द्वारा गृहीत वस्तुभूत अर्थ के स्वलक्षण का अवस्तुभूत अन्यापोह सामान्य को विषय करने वाला अवग्रह ज्ञान होता है। ('यह विद्यार्थी है', 'यह वस्त्र है,' इस प्रकार सामान्य को जानने वाला अवग्रह सब जीवों के प्रकट होकर अनुभूत हो रहा है)। अथवा 'अवग्रहोस्फुटः' ऐसा वह सामान्यग्राही अवग्रह अस्पष्ट ज्ञान है अतः अवग्रह विशद नहीं हो सकता।।३३।।

निर्विकल्पक दर्शन के सहभावी अवग्रहरूप विकल्पज्ञान, निर्विकल्पक दर्शन के द्वारा अथवा दूसरी प्रतिकल्पना से निषेध्य है अतः अवग्रहज्ञान प्रतिसंख्यान से अनिरोध्य नहीं हो सकता इस प्रकार कोई कहता है।।३४।। जैनाचार्य कहते हैं-

बौद्धों का यह कथन समीचीन नहीं है क्योंकि सम्यग्ज्ञान के द्वारा हुई स्व और अर्थ की संवित्ति

मनसोर्युगपद्वृत्तिः सविकल्पाविकल्पयोः। मोहादैक्यं व्यवस्यंतीत्यसत्पृथगपीक्षणात् ॥३६॥

लैंगिकादिविकल्पस्यास्पष्टात्मत्त्वोपलंभनात्। युक्ता नाक्षविकल्पानामस्पष्टात्मकतोदिता ॥३७॥

अन्यथा तैमिरस्याक्षज्ञानस्य भ्रांततेक्षणात्। सर्वाक्षसंविदो भ्रांत्या किन्नोह्यंते विकल्पकैः ॥३८॥

को निर्विकल्पक कहना दूषण है। अर्थात् वह संवित्ति निर्विकल्प नहीं है, क्योंकि निश्चयात्मक सहित इन्द्रियजन्य ज्ञानों का स्वयं अनुभव हो रहा है। निर्विकल्पक ज्ञान से स्वार्थों की संवित्ति नहीं हो पाती है ॥३५॥

बौद्धों के यहाँ ज्ञान परिणति दो प्रकार की मानी है। एक तो एक ही ज्ञानधारा में क्रम से शीघ्र-शीघ्र निर्विकल्पकज्ञान और सविकल्पक ज्ञान का उत्पन्न होना, दूसरा दो ज्ञानधाराओं की साथ-साथ प्रवृत्ति होना। अत: मनरूप दो ज्ञानों की युगपत् प्रवृत्ति होने के कारण व्यवहारी जन मोह से सविकल्पक और निर्विकल्पक ज्ञानों की एकता का निर्णय कर लेते हैं। अथवा दो ज्ञानधाराओं में सदा रहने वाली सविकल्पक और निर्विकल्पक ज्ञानों की प्रवृत्तियाँ ही मोह से दोनों के ऐक्य का निश्चय करा देती हैं। अत: व्यवहारी पुरुष सविकल्पक के व्यवसाय धर्म का निर्विकल्पक ज्ञान में अध्यारोप कर लेता है और निर्विकल्पक के स्पष्टत्व धर्म का सविकल्पक मिथ्याज्ञान में अध्यवसाय कर लेता है। इस प्रकार बौद्धों का कहना प्रशंसनीय नहीं है, क्योंकि पृथक्-पृथक् भी स्वार्थव्यवसाय होता देखा जाता है। अर्थात् किसी पदार्थ में प्रकृत धर्म की बाधा उपस्थित होने पर फिर कदाचित् उस धर्म के दीख जाने से वहाँ उसका आरोप कर लिया जाता है, जैसे जपाकुसुम के सन्निधान से स्फटिक में रक्तिमा का आरोप किया जाता है, किन्तु सर्वदा सम्यग्ज्ञान के द्वारा स्वार्थ व्यवसाय का जब सम्वेदन हो रहा है, तो ऐसी दशा में अध्यारोप करने का अवकाश नहीं रहता है ॥३६॥

लिंगजन्य अनुमान ज्ञान या श्रुतज्ञान आदि विकल्पज्ञानों का अविशदपना उपलब्ध है अत: इन्द्रियजन्य विकल्पज्ञानों को भी अविशदस्वरूपपना कहना युक्त नहीं है। अर्थात् कुछ ज्ञानों को अस्पष्ट देखकर सभी ज्ञानों को अविशद नहीं कह सकते॥ अन्यथा (अनुमान के समान प्रत्यक्षज्ञान को भी यदि अस्पष्ट कह दिया जावेगा तो) कामला रोग वाले तैमिरिक पुरुष के चक्षुइन्द्रियजन्य ज्ञान का भ्रान्तपना देखने से निर्दोष आँखों वाले अन्य सम्पूर्ण जीवों के इन्द्रियप्रत्यक्षों को भी भ्रान्तिरूप से तर्कणा क्यों नही कर ली जाती है? क्योंकि, विकल्प करने वाले बौद्ध सदृश भ्रमी जीवों को एक देखकर सबको वैसा कहते हैं ॥३७-३८॥

जैन कहते हैं कि इस प्रकार स्व को अभीष्ट नील दर्शन और नील विकल्पों के समान वह सहभाव भी गोदर्शन और अश्वविकल्पों में एकपने का व्यवसाय क्यों नहीं करा देता है? अर्थात् निर्विकल्पकज्ञान धारा में हुए प्रत्यक्ष गोदर्शन में सविकल्पकज्ञानधारा के अविशद अश्वविकल्प का परस्पर धर्म हो जाना चाहिए। यदि बौद्ध कहें कि गोदर्शन और अश्वविकल्प में इष्ट की गयी विशेष प्रत्यासत्ति नहीं है। अत: एक के धर्म का दूसरे में आरोप नहीं होता है, किन्तु नील स्वलक्षण के दर्शन और नील विकल्प में वह विशेष प्रत्यासत्ति एकविषयत्व विद्यमान हैं अत: निर्विकल्पक और सविकल्पक का एकत्व अध्यवसाय हो जाता है।

सहभावोपि गोदृष्टितुरंगमविकल्पयो:। किन्नैकत्वं व्यवस्यंति स्वेष्टदृष्टिविकल्पवत्॥३९॥

प्रत्यासत्तिविशेषस्याभावाच्चेत्सोत्र कोपर:। तादात्म्यादेकसामग्र्यधीनत्वस्याविशेषत: ॥४०॥

तादृशी वासना काचिदेकत्वव्यवसायकृत्। सहभावाविशेषेपि कयोश्चिद् दृग्विकल्पयो: ॥४१॥

साभीष्टा योग्यतास्माकं क्षयोपशमलक्षणा। स्पष्टत्वेक्षविकल्पस्य हेतुर्नान्यस्य जातुचित्॥४२॥

तन्निर्णयात्मक: सिद्धोवग्रहो वस्तुगोचर:। स्पष्टाभोक्षबलोद्भूतोऽस्पष्टो व्यंजनगोचर: ॥४३॥

स्पष्टाक्षावग्रहज्ञानावरणक्षयोपशमयोग्यता हि स्पष्टाक्षावग्रहस्य हेतुरस्पष्टाक्षावग्रहज्ञानावरणक्षयोपशमलक्षणा पुनरस्पष्टाक्षावग्रहस्येति तत एवोभयोरप्यवग्रह: सिद्ध: परोपगमस्य वासनादेस्तद्धेतुत्वासंभवात्। संप्रतीहां विचारयितुमुपक्रम्यते। किमनिंद्रियजैवाहोस्विदक्षजैवोभयजैव वेति। तत्र—

तब तो जैन कहते हैं कि वह विशेष प्रत्यासत्ति तादात्म्यसम्बन्ध के अन्य और क्या हो सकती है? एक ही तादात्म्य सम्बन्ध सामग्री के अधीनपनारूप सम्बन्ध दोनों यानी नीलदर्शन नीलविकल्प और गोदर्शन अश्वविकल्प में विशेषतारहित होकर विद्यमान है अत: एक सामग्री के वश रहना तो नियामक नहीं हो सका। हाँ, तादात्म्य सम्बन्ध से सब निर्वाह हो जाता है॥३९-४०॥

सह भाव की अविशेषता होने पर भी किन्हीं-किन्हीं विशेष दर्शन विकल्पों में ही एकत्व के अध्यवसाय को कराने वाली वैसी ही वासना है, किन्तु गोदर्शन, अश्वविकल्प आदि सभी दर्शन विकल्पों में सहभाव के समानरूप होने पर भी एकपने का निर्णय नहीं कराती है। जैनाचार्य कहते हैं कि हमारे यहाँ भी इसको क्षयोपशमस्वरूप योग्यता मानी है, इन्द्रियजन्य विकल्पज्ञानों के स्पष्टपन में वह स्पष्ट ज्ञानावरण क्षयोपशम योग्यता ही कारण है, अन्य अनुमान आगमज्ञान या भ्रान्तज्ञानों के कभी भी स्पष्टता नहीं करा सकती है॥४१-४२॥

अत: सिद्ध हुआ कि सामान्य, विशेषात्मक वस्तु को विषय करने वाला निश्चयात्मक अवग्रह ज्ञान है, इन्द्रियों की सामर्थ्य से उत्पन्न हुआ द्रव्यस्वरूप व्यक्त अर्थ को प्रकाशित करने वाला अर्थावग्रह स्पष्ट है और अव्यक्त शब्द, रस, गन्ध, स्पर्श, स्वरूप व्यंजन को जानने वाला व्यंजन अवग्रह अस्पष्ट है। अर्थात् स्पष्टता और अस्पष्टता का सम्बन्ध विषय से नहीं है। किन्तु विषय ज्ञान के कारण ज्ञानावरण क्षयोपशम विशेष से है॥४३॥

स्पष्ट इन्द्रियजन्य अवग्रहज्ञान का आवरण करने वाले कर्मों के क्षयोपशमरूप योग्यता नियम से इन्द्रियजन्य स्पष्ट अवग्रह का कारण है और अस्पष्ट इन्द्रिय अवग्रहज्ञान के आवरण कर्मों के क्षयोपशम स्वरूप योग्यता ही अस्पष्ट इन्द्रिय अवग्रह का हेतु है। इस प्रकार अर्थ और व्यंजन दोनों का भी अवग्रह सिद्ध हो जाता है। दूसरे बौद्ध, अद्वैतवादी आदि विद्वानों द्वारा मानी गयी वासना, युगपत् वृत्ति, इन्द्रिय, अविद्या आदि को स्पष्टपन या अस्पष्टपन के लिए इन्द्रियजन्य अवग्रह के मतिज्ञान की हेतुता की असम्भवता है। **अवग्रह का कथन पूर्ण हो गया।**

नेहानिंद्रियजैवाक्षव्यापारापेक्षणा स्फुटा। स्वाक्षव्यापृत्यभावेस्या: प्रभवाभावनिर्णयात् ॥४४॥

न हि मानसं प्रत्यक्षमीहास्तु स्पष्टत्वादक्षज्ञानसमनंतरप्रत्ययत्वाच्च निश्चयात्मकमपि जात्यादिकल्पनारहितमभ्रांतं चेति कश्चित्। तदनिश्चयात्मकमेव निर्विकल्पस्याभ्रांतस्य च निश्चयात्मविरोधादित्यपर:। तन्मतमपाकुर्वन्नाह;—

नापीयं मानसं ज्ञानमक्षवित्समनंतरं। निश्चयात्मकमन्यद्वा स्पष्टाभं तत एव न: ॥४५॥

तस्य प्रत्यक्षरूपस्य प्रमाणेन प्रसिद्धित:। स्वसंवेदनतोन्यस्य कल्पनं किमु निष्फलम् ॥४६॥

मानसस्मरणस्याक्षज्ञानादुत्पत्त्यसंभवात्। विजातीयात्प्रकल्प्येत यदि तत्तस्य जन्म ते ॥४७॥

अब प्रकरणप्राप्त ईहा का इस समय विचार करने के लिए उपक्रम रचा जाता है। क्या मन, इन्द्रिय से ही उत्पन्न होने वाली ईहा है? अथवा बहिरंग इन्द्रियों से ही उत्पन्न ईहाज्ञान है? या इन्द्रिय अनिन्द्रिय दोनों से उत्पन्न ईहाज्ञान है? इस प्रकार प्रश्न होने पर उनमें से एक-एक विकल्प का विचार करते हैं-

केवल मन से ही उत्पन्न ईहा नहीं है, क्योंकि सभी इन्द्रियों के व्यापार की अपेक्षा रखने वाली ईहा स्पष्ट प्रतीत हो रही है। आत्मा और इन्द्रिय के व्यापार नहीं होने पर उस ईहा की उत्पत्ति के अभाव का निर्णय है। अर्थात्-केवल मन से ही ईहा उत्पन्न नहीं हो जाती है। किन्तु आत्मा और बहिरंग इन्द्रियाँ भी ईहा की उत्पत्ति में व्यापार करती हैं अत: ईहा उभयजन्या है ॥४४॥

केवल मानसप्रत्यक्ष ही ईहा ज्ञान नहीं है, क्योंकि वह ईहा ज्ञान स्पष्टपना होने के कारण और इन्द्रियजन्य अवग्रह ज्ञान के अव्यवहित उत्तरवर्तीज्ञान होने के कारण निश्चयात्मक भी है। अर्थात्-मानस प्रत्यक्ष के अतिरिक्त भी सविकल्पक, निश्चयात्मक, अन्य ईहा ज्ञान संभव है। वह ईहाज्ञान जाति, सम्बन्ध, शब्द योजना आदि कल्पनाओं से रहित है और भ्रान्ति रहित है 'कल्पनापोढमभ्रान्तं प्रत्यक्षं' इस प्रकार कोई (तथागत) कह रहा है। तथा वह ईहाज्ञान अनिश्चयस्वरूप ही है, निश्चयात्मक नहीं है, क्योंकि भ्रान्ति रहित निर्विकल्पकज्ञान को निश्चय स्वरूप होने का विरोध है। इस प्रकार कोई दूसरा बौद्ध कह रहा है। उनके मत का निवारण करते हुए आचार्य महाराज कहते हैं -

यह ईहा ज्ञान मन इन्द्रिय जन्य मानस प्रत्यक्ष ही नहीं है क्योंकि इन्द्रियजन्य ज्ञान के अव्यवहित उत्तरकाल में ईहाज्ञान उत्पन्न होता है। इसलिए ईहाज्ञान निश्चयात्मक, अथवा अन्य भी (अगृहीत ग्राहक, प्रतिपत्ता को अपेक्षणीय, समारोप निषेधक आदि) विशेषणों से युक्त है। इसलिए हमने ईहाज्ञान को स्पष्ट प्रकाश के इष्ट किया है ॥४५॥ सांव्यवहारिक प्रत्यक्षरूप उस ईहाज्ञान की प्रमाण के द्वारा प्रसिद्धि है तथा स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से ईहाज्ञान प्रत्यक्षस्वरूप है अत: इससे ईहाज्ञान की व्यर्थ अन्य कल्पना क्यों की जाती है? ॥४६॥

यदि ईहा को मानस स्मरणज्ञान स्वीकार किया जाता है तो ईहा की बहिरंग इन्द्रियजन्य ज्ञानों से उत्पत्ति होना असम्भव हो जाता है, क्योंकि इन्द्रियप्रत्यक्ष ज्ञान से मानसस्मरण की जाति पृथक् है। यदि बौद्ध विजातीय इन्द्रियज्ञान से भी उस मानसस्मरण की उत्पत्ति कल्पित करते हैं तब तो मानसप्रत्यक्ष का जन्म

तदाक्षवेदनं च स्यात्समनंतरकारणम्। मनोध्यक्षस्य तस्यैव वैलक्षण्याविशेषत: ॥४८॥

प्रत्यक्षत्वेन वैशद्यवस्तुगोचरतात्मना। सजातीयं मनोध्यक्षमक्षज्ञानेन चेन्मतम्॥४९॥

स्मरणं संविदात्मत्वसंतानैक्येन वस्तथा। किन्न सिद्ध्येद्यतस्तस्य तत्रोपादानकारकम्॥५०॥

अन्यथा न मनोध्यक्षं स्मरणेन सलक्षणं। अस्योपादानतापायादित्यनर्थककल्पनम्॥५१॥

स्मरणाक्षविदोर्भिन्नौ संतानौ चेदनर्थकम्। मनोध्यक्षं विनाप्यस्मात्स्मरणोत्पत्तिसंभवात्॥५२॥

अक्षज्ञानं हि पूर्वस्मादक्षज्ञानाद्यथोदियात्। स्मृति: स्मृतेस्तथानादिकार्यकारणतेदृशी॥५३॥

संतानैक्ये तयोरक्षज्ञानात्स्मृतिसमुद्भव:। पूर्वं तद्वासनायुक्तादक्षज्ञानं च केवलात्॥५४॥

अव्यवहित पूर्ववर्त्ती इन्द्रियज्ञान से ही हो सकता है, पूर्ववर्ती इन्द्रिय ज्ञान ही उसका कारण हो सकता है, क्योंकि उसीके समान विलक्षणपना विशेषतारहित रूप से रहता है॥४७-४८॥

परमार्थवस्तु को विशदरूप से विषय कर लेने वाला प्रत्यक्ष की अपेक्षा मानस प्रत्यक्ष भी इन्द्रियजन्य ज्ञान की समान जाति वाला है-ऐसा मानने पर तो तुम्हारे (बौद्धों के) जैसे इन्द्रियप्रत्यक्ष और मानसप्रत्यक्ष को प्रत्यक्ष की अपेक्षा से सजातीय मान लिया जाता है, तो उसी प्रकार ज्ञानस्वरूप संतान के एकत्व की अपेक्षा से स्मरण भी इन्द्रिय ज्ञान के साथ समान लक्षण वाला सजातीय क्यों नहीं सिद्ध होगा? अत: उस इन्द्रियज्ञान को उस स्मरण में या ईहा ज्ञान में उपादान कारणपना बन ही जाता है। अर्थात् स्मरण या ईहा का उपादान कारण इन्द्रिजन्य ज्ञान हो सकता है। क्योंकि ज्ञानपने की अपेक्षा उनमें संजातीयता है॥४९-५०॥

अन्यथा (उक्त प्रकार से सजातीयपने को यदि स्वीकार नहीं किया जाता है तो) स्मरण के साथ सजातीय मानस प्रत्यक्ष नहीं हो सकेगा, ऐसी दशा में इस मानस प्रत्यक्ष को स्मरण की उपादान कारणता का अभाव तो आएगा, अत: इन्द्रियज्ञान और स्मरण के बीच में मानस प्रत्यक्ष की कल्पना करना व्यर्थ है। अर्थात् इन्द्रियज्ञान से अव्यवहित काल में उपादेयभूत स्मरण ज्ञान उत्पन्न हो जाता है बीच में मानसिक प्रत्यक्ष की कल्पना करना व्यर्थ है॥५१॥

यदि स्मरणज्ञान और इन्द्रियज्ञान दोनों भिन्न-भिन्न सन्तान हैं तब तो मानस प्रत्यक्ष की कल्पना करना व्यर्थ है, क्योंकि इस मानस प्रत्यक्ष के बिना भी स्मरण ज्ञान की उत्पत्ति होना सम्भव है। जिस प्रकार इन्द्रियजन्य ज्ञान अपने पहले इन्द्रियज्ञानरूप उपादान से उत्पन्न हो जाता है, उसी प्रकार स्मृतिज्ञान भी पहले के स्मरणरूप उपादान से उत्पन्न हो जायेगा। इस प्रकार की कार्यकारणता बौद्ध मान्यतानुसार अनादि काल से चली आ रही है॥५२-५३॥

यदि बौद्ध उन इन्द्रियज्ञान और स्मरणज्ञान की एकसन्तान स्वीकार करता है तो इन्द्रियज्ञान स्वरूप उपादान से स्मृति की उत्पत्ति हो सकती है। वासनारहित केवल पूर्व के अक्षज्ञान से इन्द्रियज्ञान उत्पन्न होगा, अर्थात् पूर्वकाल की उसकी वासना से सहित विशिष्ट अक्षज्ञान से स्मरणज्ञान उत्पन्न हो जायेंगा॥५४॥

सह स्मृत्यक्षविज्ञाने ततः स्यातां कदाचन। सौगतानामिति व्यर्थं मनोध्यक्षप्रकल्पनं ॥५५॥

स्याद्वादिनां पुनर्ज्ञानावृत्तिच्छेदविशेषतः। समानेतरविज्ञानसंतानो न विरुध्यते ॥५६॥

नन्वेवं परस्यापि समानेतरज्ञानसंतानैकत्वमदृष्टविशेषादेवाविरुद्धमतोक्षज्ञानसमनंतरप्रत्ययं निश्चयात्मकं मानसप्रत्यक्षं सिद्ध्यतीत्यभ्युपगमेपि दूषणमाह;—

प्रत्यक्षं मानसं स्वार्थनिश्चयात्मकमस्ति चेत्। स्पष्टाभमक्षविज्ञानं किमर्थक्यादुपेयते ॥५७॥

अक्षसंवेदनाभावे तस्योत्पत्तौ विरोधतः। सर्वेषामंधतादीनां कृतं तत्कल्पनं यदि ॥५८॥

तदाक्षानिंद्रियोत्पाद्यं स्वार्थनिश्चयनात्मकं। रूपादिवेदनं युक्तमेकं ख्यापयितुं सताम् ॥५९॥

यदि बौद्ध स्मरण और इन्द्रियज्ञान की सन्तान धाराएँ दो मानेंगे, तब तो बौद्धों के यहाँ उन दो सन्तानों से कभी-कभी स्मरण और अक्षज्ञान साथ हो जाएंगे अतः मध्य में मानस प्रत्यक्ष की कल्पना करना व्यर्थ है ॥५५॥

हम स्याद्वादियों के यहाँ ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम विशेष से सजातीय और विजातीय ज्ञानों की सन्तान का उत्पन्न होना विरुद्ध नहीं है। अर्थात्-इन्द्रियज्ञान के उत्तर काल में स्मरण आवरण का क्षयोपशम होने पर उससे स्मरणज्ञान हो जाता है, और इन्द्रिय आवरण का क्षयोपशम होने पर इन्द्रिय ज्ञान से इन्द्रियज्ञान उत्पन्न हो जाता है। अर्थात् एक चैतन्य की धारा से प्रतिपक्षी कर्मों के क्षयोपशम या क्षय अनुसार विजातीयज्ञान व्यक्त होते रहते हैं। अवधिज्ञान, श्रुतज्ञान का उपादान हो जाए और श्रुतज्ञान मनःपर्यय का उपादान हो जाए तथा श्रुतज्ञान से केवलज्ञान उपादेय हो जाए, इसमें कोई विरोध नहीं आता है ॥५६॥

शंका : इस प्रकार स्याद्वादियों के अनुसार दूसरे बौद्धों के यहाँ भी पुण्य पापरूप अदृष्ट विशेष से ही सजातीय विजातीय ज्ञानों की संतान का एकपना अविरुद्ध हो जाता है। अर्थात्-एक सन्तान में ही अदृष्ट अनुसार क्रम से सजातीय विजातीय ज्ञान उत्पन्न हो जाएंगे। इससे इन्द्रियजन्यज्ञान को अव्यवहित पूर्ववर्ती कारण मानकर निश्चयस्वरूप मानसप्रत्यक्ष की उत्पत्ति सिद्ध हो जाती है।

इस पर जैनाचार्य कहते हैं कि इस प्रकार स्वीकार करने पर भी दूषण आता है। उसको आगे और स्पष्ट करते हैं -

यदि बौद्धों के यहाँ अपना और अर्थ का निश्चय कराने वाला मानस प्रत्यक्ष अभीष्ट है तो स्पष्ट प्रकाशित इन्द्रियजन्य निर्विकल्पकज्ञान किस प्रयोजन की अपेक्षा से स्वीकार किया जा रहा है अर्थात् स्वपर का निर्णय करने वाले मानस प्रत्यक्ष के मान लेने पर उसके पूर्व में इन्द्रियजन्य निर्विकल्पकज्ञान मानना व्यर्थ है ॥५७॥

यदि बौद्ध कहे कि इन्द्रियजन्य निर्विकल्पक ज्ञान के नहीं होने पर उस मानस प्रत्यक्ष की उत्पत्ति में विरोध आता है, क्योंकि ऐसा मानने पर इन्द्रिय प्रत्यक्ष के बिना सभी अन्धे, बहरे आदि इन्द्रियविकल जीवों के भी मानस प्रत्यक्ष होजाने का प्रसंग आयेगा अतः उस इन्द्रियप्रत्यक्ष की कल्पना करना सफल है। आचार्य कहते हैं कि तब तो सज्जन पुरुषों को इन्द्रिय और अनिन्द्रिय से उत्पत्ति करने योग्य और स्वार्थों

यथैव ह्यक्षव्यापाराभावे मानसप्रत्यक्षस्य निश्चयात्मकस्योत्पत्तौ जात्यंधादीनामपि तदुत्पत्तिप्रसंगादंध-बधिरतादिविरोधस्तथा मनोऽव्यापारापायेप्यक्षज्ञानस्योत्पत्तिर्विगुणमनस्कस्यापि तदुत्पत्तिप्रसंगात् मनस्कारापेक्षत्वविरोध इत्यक्षमनोपेक्षमक्षज्ञानमक्षमनोपेक्षत्वादेव च निश्चयात्मकमस्तु किमन्येन मानसप्रत्यक्षेण॥ ननु यद्येकमेवेदमिंद्रियानिंद्रियनिमित्तरूपादिज्ञानं तदा कथं क्रमतोवग्रहेहास्वभावौ परस्परं भिन्नौ स्यातां नोचेत्कथमेकं तद्विरोधादित्यत्रोच्यते—

का निश्चय करना स्वरूप ऐसा रूप, रस, सुख आदि को विषय करने वाला एकज्ञान मान लेना युक्त है। अर्थात् इन्द्रिय, अनिन्द्रियों से उत्पन्न और स्वार्थों का निश्चय कराने वाले तथा रूप आदि को विषय करने वाले एक मतिज्ञान को मानना चाहिए॥५८-५९॥

जैसे इन्द्रिय व्यापार के नहीं होने पर निश्चयात्मक मानस प्रत्यक्ष की उत्पत्ति मानने में जन्मांध, जन्मबधिर, आदि जीवों को भी रूप, शब्द, सुख आदि के ज्ञानजन्य उन मानस प्रत्यक्षों की उत्पत्ति हो जाने का प्रसंग आएगा और ऐसा होने पर अन्धपना, बहिरापना, पागलपन आदि व्यवहार का विरोध आता है। उसी प्रकार मन के व्यापार बिना भी यदि इन्द्रियजन्य ज्ञान की उत्पत्ति मानी जाएगी तो अमनस्क या अन्यगतमनस्क अथवा विभ्रान्तमनस्क जीव के भी उस इन्द्रियज्ञान की उत्पत्ति हो जाने का प्रसंग होगा, और ऐसा होने पर जगत् में प्रसिद्ध मन की ज्ञान सुखादिक में तत्परता की अपेक्षा रखने का विरोध होगा। इसलिए मतिज्ञान अक्ष और मन की अपेक्षा रखने वाला है-इन्द्रियज्ञान होने से लोकप्रसिद्ध अक्ष और मन की अपेक्षा रखने वाले ज्ञान के समान तथा इसी कारण वह एक मतिज्ञान निश्चयात्मक है। इस प्रकार सिद्ध हो जाने पर फिर अन्य निर्विकल्पक मानस प्रत्यक्ष के मानने से क्या लाभ है? अत: इन्द्रिय और अनिन्द्रियजन्य ज्ञानों से उत्पन्न हुआ ईहाज्ञान मानना चाहिए।

शंका : जैन सिद्धान्त में यह इन्द्रिय और अनिन्द्रियरूप निमित्तों से उत्पन्न हुआ रूप, सुख आदि का ज्ञान यदि एक ही माना गया है, तब तो क्रम से होने वाले अवग्रह और ईहास्वरूप ज्ञन परस्पर में भिन्न कैसे हो सकेंगे? इस प्रकार वे अवग्रह, ईहा भिन्न नहीं होकर अभिन्न हो जाएंगे और यदि जैन उनको अभिन्न न मानेंगे यानी स्वसिद्धान्त अनुसार भिन्न-भिन्न मानते रहेंगे तो फिर उन ज्ञानों को एक मतिज्ञान कैसे कह सकेंगे? क्योंकि भेद और एकत्व का विरोध है।

इस प्रकार की शंका का आचार्य **समाधान** करते हैं-

जीव के ज्ञानावरण के क्षयोपशमविशेष के क्रम को हेतु मानकर उत्पन्न हुए तथा द्रव्य और पर्याय को विषय करने वाले अवग्रह, ईहास्वरूप ज्ञान क्रम से उत्पन्न होते हैं। उन अवग्रह आदि ज्ञानों में एक ही समय स्वग्रहण की अपेक्षा से प्रत्यक्षपना और विषय अंश की अपेक्षा से परोक्षपना विरुद्ध नहीं है, तथा उपयोगरूप व्यक्ति और योग्यतारूप शक्तियुक्त एक अर्थसहितपना भी विरुद्ध नहीं है, क्योंकि नील, पीत आदि विचित्र प्रतिभासने वाले चित्रज्ञान के समान अवग्रह, ईहा आदि की वैसी प्रतीति होती है?

भावार्थ : सौत्रान्तिक बौद्धों के मतानुसार ये तीन दृष्टान्त समझना चाहिए। बौद्धों ने शुद्धज्ञान अंश

क्रमादवग्रहेहात्मद्रव्यपर्यायगोचरं। जीवस्यावृतिविच्छेदविशेषक्रमहेतुकम् ॥६०॥

तत्समक्षेतरव्यक्तिशक्त्येकार्थवदेकदा। न विरुद्धं विचित्राभज्ञानवद्वा प्रतीतितः ॥६१॥

प्रत्यक्षपरोक्षव्यक्तिशक्तिरूपमेकमर्थं विचित्राभासं ज्ञानं वा स्वयमविरुद्धं युगपदभ्युपगच्छत् क्रमतो द्रव्यपर्यायात्मकमर्थं परिच्छिंददवग्रहेहास्वभावभिन्नमेकं मतिज्ञानं विरुद्धमुद्भावयतीति कथं विशुद्धात्मा? तदशक्यविवेचनस्याविशेषात्। न ह्येकस्यात्मनो वर्णसंस्थानादिविशेषणद्रव्यतद्विशेष्यग्राहिणावग्रहेहाप्रत्ययौ स्वहेतुक्रमात्क्रमशो भवन्न वात्मांतरं नेतुं शक्यौ संतौ शक्यविवेचनौ न स्यातां चित्रज्ञानवत् तथा प्रतीतेरविशेषात्। कथं पुनरवायः स्यादित्याह;—

को प्रत्यक्ष माना है और वेद्य, वेदक, सम्विति अंशों को परोक्ष माना है। तथा शुद्ध ज्ञान अद्वैतवादियों ने ज्ञान अंश की व्यक्ति मानी है, और वेद्य, वेदक, सम्विति अंशों के विवेक की ज्ञान में शक्ति मानी है। सांख्यों ने भी प्रकृतिरूप एक अर्थ को एक ही समय शक्ति और व्यक्तिरूप माना है, एवं अनेक आकाररूप प्रतिभासों से युक्तज्ञान भी बौद्धों ने इष्ट किया है। इन दृष्टान्तों से अवग्रह, ईहा आदि को द्रव्यपर्यायस्वरूप अर्थ को ग्रहण करने वाला एक मतिज्ञानपना भी विरुद्ध नहीं है॥६०-६१॥

मीमांसक एक ही समय में एक ही पदार्थ व्यक्ति की अपेक्षा से प्रत्यक्षस्वरूप और उसी समय उसकी अतीन्द्रिय शक्तियों की अपेक्षा से परोक्षस्वरूप से स्वीकार करता है तथा बौद्ध स्वयं युगपत् नील, पीत आदिक विचित्र प्रतिभास वाले एक चित्रज्ञान को अविरुद्ध रूप से स्वीकार करते हैं, किन्तु द्रव्य और पर्यायस्वरूप अर्थ को क्रम से जानने वाले तथा अवग्रह, ईहारूप स्वभावों से भेदभाव को प्राप्त मतिज्ञान को एक मानने में विरोध दोष का उद्भाव करते हैं। इस प्रकार पक्षपातग्रस्त प्रतिवादी विशुद्ध आत्मा वाला कैसे कहा जा सकता है? जिस प्रकार भिन्न-भिन्न, पृथक् करने की अशक्यता चित्रज्ञान आदि पदार्थों में है, वैसे ही अशक्यविवेचना अवग्रह, ईहा स्वभाव वाले मतिज्ञान में भी है। इन दोनों में कोई विशेषता नहीं है। एक ही आत्मा के अपने-अपने हेतुओं के क्रमानुसार क्रम-क्रम से होने वाले और वर्ण, संस्थान आदि विशेषणरूप पर्याय और उन पर्यायों से सहित विशेष्य द्रव्य को ग्रहण करने वाले अवग्रह ईहा स्वरूप दो ज्ञान अन्य आत्माओं में प्राप्त कराने के लिए शक्य नहीं है। एक आत्मा के एक मतिज्ञानस्वरूप अवग्रह, ईहा ज्ञान चित्रज्ञान के समान पृथक् करने योग्य नहीं हो सकेंगे। अवग्रह, ईहाज्ञान और चित्रज्ञान में उस प्रकार की प्रतीति होने का कोई विशेष नहीं है। एक पदार्थ अनेक धर्मात्मक है। इस सिद्धान्त को हम कई बार निर्णीत कर चुके हैं।

तीसरा **अवाय मतिज्ञान** किस प्रकार का होगा ? इस प्रकार प्रतिपाद्य की जिज्ञासा होने पर श्री विद्यानन्द स्वामी **अवाय का लक्षण कहते हैं**-

अवग्रहज्ञान से गृहीत अर्थ के विशेष अंशों की आकांक्षा करने वाले ईहाज्ञान से उत्पन्न निर्णय-आत्मक स्पष्ट अवायज्ञान है। वह अवायज्ञान इन्द्रियजन्य है और अवाय को आवरण करने वाले कर्मों के क्षयोपशम से होने वाला है। उस अवायज्ञान के नहीं होने पर ईहाज्ञान से जान लिये गये उस ईहित विषय

अवग्रहगृहीतार्थभेदमाकांक्षतोक्षजः। स्पष्टोवायस्तदावारक्षयोपशमतोत्र तु ।।६२।।

संशयो वा विपर्यासस्तदभावे कुतश्चन। तेनेहातो विभिन्नोसौ संशीतिभ्रांतिहेतुतः ।।६३।।

विपरीतस्वभावत्वात्संशयाद्यनिबंधनं। अवायं हि प्रभाषंते केचिद् दृढतरत्वतः ।।६४।।

अक्षज्ञानतया त्वैक्यमीहयावग्रहेण च। यात्यवायः क्रमात्पुंसस्तथात्वेन विवर्तनात् ।।६५।।

विच्छेदाभावतः स्पष्टप्रतिभासस्य धारणा। पर्यंतस्योपयुक्ताक्षनरस्यानुभवात्स्वयम् ।।६६।।

ननु च यत्रैवावग्रहगृहीतार्थस्य विशेषप्रवर्तनमीहायास्तत्रैवावायस्य धारणायाश्च ततो नावायधारणयोः प्रमाणत्वं गृहीतग्रहणादिति पराकूतमनूद्य प्रतिक्षिपन्नाह;—

में किसी कारण से संशय या विपर्ययज्ञान हो सकता है, अतः संशय और विपर्यय के निमित्तकारण ईहाज्ञान से अवायज्ञान सर्वथा भिन्न है।

भावार्थ : मनुष्य का अवग्रह हो जाने पर दक्षिणदेशीय या उत्तरदेशीय की शंका उपस्थित हो जाने पर यह मनुष्य दक्षिणी होना चाहिए, ऐसा ईहाज्ञान उत्पन्न होता है, किन्तु ईहाज्ञान से वह संशय सर्वथा दूर नहीं हो सका है। उत्तरी को दक्षिणी कह दिया गया हो ऐसा विपर्यय हो जाना भी सम्भव है। इस विपर्ययज्ञान का निरास भी ईहा से नहीं हो सका है। किन्तु अवायज्ञान से संशय और विपर्यय दोनों का निरास कर दिया जाता है, अतः अपने-अपने नियत विषयों में अवग्रह, ईहा ज्ञान भी व्यवसायात्मक है ।।६२-६३।।

किसी का कथन है कि संशय, विपर्यय ज्ञानों के विपरीत स्वभाववाला होने से अवायज्ञान संशय आदि ज्ञानों का कारण नहीं है, क्योंकि वह अवायज्ञान अत्यन्त अधिक दृढ़स्वरूप है ।।६४।।

इन्द्रियजन्य की अपेक्षा अवग्रह और ईहा के साथ अवायज्ञान एकता को प्राप्त है क्योंकि चेतन आत्मा का क्रम-क्रम से उस प्रकार अवग्रह, ईहा, अवायरूप से परिणमन होता रहता है ।।६५।।

अर्थात्-सामान्य मतिज्ञान की अपेक्षा अवग्रह ईहा अवाय एक ही हैं। अवग्रह आदि ज्ञानों का विच्छेद करने वाले कर्मों के क्षयोपशमरूप अभाव हो जाने से अवग्रह आदि धारणापर्यन्त स्पष्ट प्रतिभासने वाले ज्ञानों का स्वयं वैसा अनुभव हो रहा है अतः अक्षरूप आत्मा या इन्द्रिय को कारण मानकर अवग्रह आदि का आत्मलाभ करना उपयोगी है ।।६६।।

शंका : जिस अर्थ को अवग्रह ने गृहीत किया है, उसी गृहीत अर्थ के विशेष अंशों में ईहाज्ञान की प्रवृत्ति होती है अतः ईहाज्ञान तो प्रमाण हो सकता है किन्तु जहाँ ईहाज्ञान की प्रवृत्ति है, वहाँ ही अवायज्ञान की प्रवृत्ति है, उसी में धारणा ज्ञान की प्रवृत्ति होती है अतः अवाय और धारणा को प्रमाणपना नहीं हो सकता है क्योंकि इन दोनों ज्ञानों ने गृहीत विषय को ही ग्रहण किया है। इस प्रकार दूसरे प्रतिवादियों के सचेष्ट कथन का खण्डन करते हुए श्री विद्यानन्द आचार्य कहते हैं-

समाधान : समीचीन ईहा ज्ञान के द्वारा जाने गये स्वकीय अर्थ में अवाय और धारणाज्ञानों की प्रवृत्ति होती है अतः गृहीत का ग्रहण करने से अवाय और धारणा को यदि प्रमाणपना इष्ट नहीं किया जायेगा, तब तो तुम्हारे (बौद्धों के) यहाँ अनुमान प्रमाण से भी अप्रमाणपन का व्यापार होगा अर्थात्-अनुमान भी

अवायस्य प्रमाणत्वं धारणायाश्च नेष्यते। समीहयेहिते स्वार्थे गृहीतग्रहणादिति ॥६७॥

तदानुमाप्रमाणत्वं व्याप्रियात्तत एव ते। इत्युक्तं स्मरणादीनां प्रामाण्यप्रतिपादने ॥६८॥

सत्यपि गृहीतग्राहित्वेवायधारणयो: स्वस्मिन्नर्थे च प्रमाणत्वं युक्तमुपयोगविशेषात्। न हि यथेहा-गृह्णाति विशेषं कदाचित्संशयादिहेतुत्वेन तथा चावाय: तस्य दृढतरत्वेन सर्वदा संशयाद्यहेतुत्वेन व्यापारात्। नापि यथावाय: कदाचिद्विस्मरणहेतुत्वेनापि तत्र व्याप्रियते तथा धारणा तस्या: कालांतराविस्मरण-हेतुत्वेनोपयोगादीहावायाभ्यां दृढतमत्वात्। प्रपंचतो निश्चितं चैतत्स्मरणादिप्रमाणत्वप्ररूपणायामिति नेह प्रतन्यते॥

अप्रमाण हो जाएगा, क्योंकि वह अनुमान भी व्याप्तिज्ञान से गृहीत विषय में व्यापार करता है। इस बात को हम स्मरण तर्क आदि ज्ञानों को प्रमाणपना प्रतिपादन करते समय कह चुके हैं॥६७-६८॥

विशेष उपयोग से उत्पन्न होने से गृहीत का ग्राहकपना होते हुए भी अवाय और धारणा ज्ञानों का स्व और अर्थ विषय को जानने में प्रमाणपना मानना युक्त है, क्योंकि, जिस प्रकार ईहा ज्ञान अर्थ के विशेष को कभी-कभी संशय, विपर्यय आदि के कारण को जानता है, उसी प्रकार अवाय नहीं जानता है, क्योंकि वह अवायज्ञान अपने विषय को जानने में अतिदृढ़ है। इस कारण सभी कालों में संशय आदि का हेतु नहीं हो करके अवाय अपने विषय को जानने में व्यापार कर रहा है। अर्थात्-ईहा ज्ञान होकर के भी उस विषय में संशय, विपर्यय उत्पन्न हो सकते हैं। किन्तु अवाय हो जाने पर उस विषय में कदाचित् भी संशय, विपर्यय नहीं हो पाते हैं। तथा धारणा में भी जिस प्रकार अवायज्ञान कभी-कभी विस्मरण का कारण होकर भी उस अर्थ को जानने में व्यापार कर रहा है, उसी प्रकार धारणाज्ञान व्यापार नहीं कर रहा है, क्योंकि वह धारणाज्ञान तो कालान्तर में विस्मरण नहीं होने देने का हेतु है। इसलिए अवायज्ञान से धारणाज्ञान विशेष उपयोगी ज्ञान है, अत: यह धारणाज्ञान अवग्रह, ईहाज्ञानों से अत्यधिक दृढ़ है। इस विषय को हम स्मरण आदि ज्ञानों के प्रमाणपन का प्रकृष्ट कथन करने के अवसर में विस्तार से निश्चित करा चुके हैं अत:यहाँ अधिक विस्तार नहीं किया गया है।

मतिज्ञान के विशेष प्रभेदों का निरूपण करने के लिए श्री उमास्वामी आचार्य कहते हैं-

बहुबहुविधक्षिप्रानिसृतानुक्तध्रुवाणां सेतराणाम्॥ १६ ॥

किमर्थमिदं सूत्रं ब्रवीति। यद्यवग्रहादिविषयविशेषनिर्ज्ञानार्थं तदा न वक्तव्यमुत्तरत्र सर्वज्ञानानां विषयप्ररूपणात् प्रयोजनांतराभावादिति मन्यमानं प्रत्याह;—

केषां पुनरिमेवग्रहादयः कर्मणामिति। प्राह संप्रतिपत्त्यर्थं बह्वित्यादिप्रभेदतः॥१॥

नावग्रहादीनां विषयविशेषनिर्ज्ञानार्थमिदमुच्यते प्राधान्येन। किं तर्हि। बह्वादिकर्मद्वारेण तेषां प्रभेदनिश्चयार्थं कर्मणि षष्ठीविधानात्। कथं तर्हि बह्वादीनां कर्मणामवग्रहादीनां च क्रियाविशेषाणां परस्परमभिसंबंध इत्याह;—

बहुत अधिक वस्तु या बहुत संख्यावाली वस्तु और बहुत प्रकार की वस्तुएँ तथा शीघ्र अथवा सम्पूर्ण नहीं निकले हुए, नहीं कहे गये और निश्चल तथा इनसे इतर अर्थात् थोड़े या एक एवं एक प्रकार या अल्प प्रकार तथा चिरकाल, पूरा निकला हुआ, वचन से कहा गया, अस्थिर इन पदार्थों के अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा, स्मृति आदि ज्ञान होते हैं। पूर्व सूत्र में कहे गये ज्ञानों के ये बहु आदि बारह पदार्थ विषय हैं॥१६॥

कोई कहता है कि इस बहु आदि सूत्र को उमास्वामी महाराज किस लिए कह रहे हैं? यदि अवग्रह आदि ज्ञानों के विशेष विषयों का निर्णयज्ञान कराने के लिए यह सूत्र कहा जाता है, तब तो यह सूत्र नहीं कहना चाहिए, क्योंकि कुछ आगे चलकर उत्तरवर्त्ती प्रकरण में सम्पूर्ण ज्ञानों के विषय का सूत्रकार द्वारा स्पष्ट कथन किया ही जाएगा।

'मतिश्रुतयोर्निबन्धो' - यहाँ से लेकर चार सूत्रों में ज्ञान के विषयों का निरूपण है। इस विषयनिरूपण के अतिरिक्त अन्य कोई प्रयोजन दीखता नहीं है। इस प्रकार मानने वाले विद्वान् के प्रति **श्री विद्यानन्द आचाय** कहते हैं-

ये अवग्रह आदि क्रियाविशेष फिर किन कार्यों के होते हैं ? इसको भेद-प्रभेद से समझाने के लिए ग्रन्थकार उमास्वामी महाराज ने बहु, बहुविध इत्यादि सूत्र कहा है॥१॥

अवग्रह आदि ज्ञानों के विशेष विषयों का निर्णय कराने के लिए यह सूत्र प्रधानता से नहीं कहा गया है, तो किस लिए कहा गया है? ऐसी जिज्ञासा का उत्तर है कि बहु, बहुविध आदिक ज्ञेय कर्मों के द्वारा उन अवग्रह आदि के प्रभेदों का निश्चय कराने के लिये यह सूत्र कहा गया है। 'कर्तृकर्मणोः कृति षष्ठी'- इस सूत्र द्वारा यहाँ कर्म में षष्ठी विभक्ति का विधान किया है। अर्थात् अवग्रह्णाति, ईहते, अवैति, धारयति- इस प्रकार गण के रूपों का प्रयोग होने पर तो कर्म में द्वितीया हो जाती है। किन्तु, कृदन्त प्रत्ययान्त अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा इस प्रकार क्रियाओं का प्रयोग होने पर तो कर्म में षष्ठी विभक्ति हो जाती है। अतः अवग्रह आदि ज्ञानों के व्याप्य भेदों को समझाने के लिए यह सूत्र कहा गया है।

तो फिर बहु, बहुविध आदि विषयभूत कर्मों का और अवग्रह आदि विषयी क्रियाविशेषों का परस्पर में सब ओर से कौन सा सम्बन्ध है? इस प्रकार की जिज्ञासा होने पर आचार्य कहते हैं-

बहु आदि कर्मों का और अवग्रह आदि क्रियाओं का परस्पर में प्रत्येक के साथ संशयरहित होकर

बह्वाद्यवग्रहादीनां परस्परमसंशयम्। प्रत्येकमभिसंबंधः कार्यो न समुदायतः ॥२॥

बहोः संख्याविशेषस्यावग्रहो विपुलस्य वा। क्षयोपशमतो नुः स्यादीहावायोथ धारणा ॥३॥

इतरस्याबहोरेकद्वित्वाख्यस्याल्पकस्य वा। सेतरग्रहणादेवं प्रत्येतव्यमशेषतः ॥४॥

बहुविधस्य त्र्यादिप्रकारस्य विपुलप्रकारस्य वा तदितरस्यैकद्विप्रकारस्याल्पप्रकारस्य वा, क्षिप्रस्याचिरकालप्रवृत्तेरितरस्य चिरकालप्रवृत्तेः, अनिःसृतस्यासकलपुद्गलोद्गतिमत इतरस्य सकलपुद्गलोद्गतिमतः, अनुक्तस्याभिप्रायेण विज्ञेयस्येतरस्य सर्वात्मना प्रकाशितस्य, ध्रुवस्याविचलितस्येतरस्य विचलितस्यावग्रह इत्यशेषतोवग्रहः संबंधनीयः, तथेहा तथावायस्तथा धारणेति समुदायतोभिसंबंधोनिष्टप्रतिपत्तिहेतुः प्रतिक्षिप्तो भवति। कथं बहुबहुविधयोस्तदितरयोश्च भेद इत्याह;—

पर्याप्त रूप से सम्बन्ध कर देना चाहिए। समुदायरूप से सम्बन्ध नहीं करना चाहिए। आत्मा के क्षयोपशम होने से संख्याविशेषं बहुत का अथवा अधिक परिमाण वाले विपुल पदार्थादि के अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ज्ञान होते हैं। इसी प्रकार इतर सहित के ग्रहण से इतर अर्थात् अबहु यानी एक, दो नामक संख्या विशेष अथवा अल्पपदार्थ के अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा हो जाते हैं। इस प्रकार बहुविध आदि और अबहुविध आदि विषयों के अवग्रह, ईहा आदि पूर्णरूप से समझ लेने चाहिए॥२-३-४॥

बहु और अबहु के अवग्रह आदि जैसे कह दिये हैं, उसी प्रकार बहुविध यानी तीन, चार आदि बहुत प्रकारों के अथवा विस्तीर्ण प्रकारों के तथा उस बहुविध से इतर यानी एक दो प्रकार के अथवा अन्य प्रकार के विषयों का अवग्रह होता है।

क्षिप्र यानी शीघ्र काल में होने वाली प्रवृत्ति का अथवा उससे इतर यानी अधिक काल की प्रवृत्ति का, अनिसृत यानी जिसके सम्पूर्ण पुद्गल ऊपर को नहीं निकल रहे हैं, उसका और तदितर यानी जिसके सम्पूर्ण पुद्गल ऊपर प्रकट हो रहे हैं, उस पदार्थ का जो बिना कहे ही अभिप्राय करके ठीक जान लिया गया है उसका और उससे इतर जो सम्पूर्णरूप से शब्दों द्वारा प्रकाशित कर दिया गया है उस पदार्थ का तथा ध्रुव यानी चलित नहीं हो उसका और इतर यानी विचलित हो रहे उनका अवग्रह होता है। इस प्रकार पूर्ण रूप से बहु आदिक बारह के साथ अवग्रह ज्ञान का सम्बन्ध कर लेना चाहिए, उसी प्रकार ईहा तथा अवाय और धारणा का भी सम्बन्ध कर लेना चाहिए। समुदाय से अभिसम्बन्ध करना अभीष्ट नहीं है, क्योंकि अनिष्ट की प्रतिपत्ति का कारण है। अतः वह खण्डित कर दिया गया है। अर्थात् बहुत प्रकार के, बहुत नहीं कहे गये, निकले हुए पदार्थों का स्थिरता से शीघ्र अवग्रह ज्ञान हो जाता है। इस प्रकार का समुदित अर्थ अनिष्टबोध का कारण होने से निराकृत कर दिया गया है। इस प्रकार के प्रत्येक पदार्थ को भिन्न-भिन्न अवग्रह, ईहा आदि होते हैं।

बहु और बहुविध तथा उनसे इतर एक और एकविध इनमें क्या भेद है? ऐसी आकांक्षा होने पर **श्री विद्यानन्द आचार्य** कहते हैं-

बहु धर्म तो व्यक्तिविशेषों के आश्रित है तथा बहुविध जाति के आश्रित विषय है। अतः बहु का

व्यक्तिजात्याश्रितत्वेन बहोर्बहुविधस्य च। भेदः परस्परं तद्वद्बोध्यस्तदितरस्य च ॥५॥

व्यक्तिविशेषौ बहुत्वतदितरत्वधर्मौ जातिविषयौ तु बहुविधत्वतदितरत्वधर्माविति बहुबहुविधयोस्तदितरयोश्च भेदः सिद्धः। एवं बह्वेकविधयोरभेद इत्यपास्तं बहूनामप्यनेकानामेकप्रकारत्वं ह्येकविधं न पुनर्बहुत्वमेवेत्युदाहृतं द्रष्टव्यम् ॥

क्षिप्रस्याचिरकालस्याध्रुवस्य चलितात्मनः। स्वभावैक्यं न मंतव्यं तथा तदितरस्य च ॥६॥

अचिरकालत्वं ह्याशुप्रतिपत्तिविषयत्वं चलितत्वं पुनरनियतप्रतिपत्तिगोचरत्वमिति स्वभावभेदात् क्षिप्राध्रुवयोर्नैक्यमवसेयं। तथा तदितरयोरक्षिप्रध्रुवयोस्तत एव ॥

व्यक्ति के आश्रितपना होने से तथा बहुविध को जाति के आश्रित होने से उनमें परस्पर भेद है। उसी के समान यानी एक और एकविध का व्यक्ति और जाति के आश्रित होने से परस्पर में भेद समझना चाहिए॥५॥

बहुत्व और उससे भिन्न अल्पत्व धर्म तो पृथक्-पृथक् विशेष व्यक्तिरूप है तथा बहुविध और उससे भिन्न अल्पविध धर्म अनेक में प्रवर्तने वाले होने से जाति विशेष हैं। इस प्रकार बहु और बहुविध तथा उनसे इतर अल्प और अल्पविध में परस्पर भेद सिद्ध है।

भावार्थ : भेद, प्रभेद सहित अनेक प्रकार के कई जाति के जीवों का जो ग्रहण है, वह बहुविध का ग्रहण है। एक प्रकार के अनेक जीवों का ग्रहण एकविध का अवग्रह है। एक दो जीवों का ज्ञान अबहु का अवग्रह है। कई घोड़े, अनेक बैल, कतिपयमहिष आदि का समूहालम्बनज्ञान भी बहुविध का अवग्रह समझना चाहिए।

इस कथन से बहुत और एकविध का अभेद है। यह शंका भी दूर कर दी गयी है, क्योंकि भिन्न-भिन्न जाति के एक-एक पदार्थ को एकत्रित कर बहुतपना हो सकता है, किन्तु एकविधपना तो एक जाति के अनेक पदार्थों का ही होगा। अत: बहुत भी एक जाति के अनेक का एकप्रकारपना एकविध कहा जाता है। किन्तु वहाँ फिर बहुतपने का व्यवहार नहीं करना चाहिए। इस प्रकार उदाहरण दिया जा चुका है।

शीघ्र काल के क्षिप्र और चलितस्वरूप अध्रुव के स्वभाव में भी एकपना नहीं मानना चाहिए तथा उनसे इतर अक्षिप्र और ध्रुव का भी स्वभाव एक नहीं है॥६॥

क्षिप्र (अचिर कालपना) तो शीघ्र ही प्रतिपत्ति का विषय है और अध्रुव (चलितपना) फिर अस्थिर पदार्थ की प्रतिपत्ति का विषय है। इस प्रकार स्वभाव के भेद होने से क्षिप्र और अध्रुव में एकपना नहीं समझना चाहिए। अर्थात् क्षिप्र ही अध्रुव नहीं है तथा उनसे विपरीत अक्षिप्र और ध्रुव का भी देर से प्रतीति कराना और स्थिर प्रतिपत्ति कराना, इन स्वभाव भेदों के होने से उनमें भी एकपना नहीं है।

सम्पूर्ण पुद्गलों का प्रकटरूप बाहर निकल जाना नि:सृत है, और थोड़े से कतिपय पुद्गलोंके निकलने से हुआ ज्ञान अनिसृत है। अभिप्रायों से जान लिया गया ज्ञान अनुक्त है। जबकि पूर्णरूप से निकाला गया पदार्थ निसृत है और पूर्णरूप से कह दिया गया पदार्थ उक्त माना गया है। इस प्रकार उनके भेद का निर्णय हो जाने से उनमें एकपने का कुचोद्य उठाना युक्त नहीं है।

भावार्थ : अन्य के उपदेशपूर्वक जो शब्दजन्य वाच्य का ग्रहण है, वह उक्त है और स्वत: जो ग्रहण

निःशेषपुद्गलोद्गत्यभावाद्भवति निःसृतः। स्तोकपुद्गलनिष्क्रांतेरनुक्तस्त्वाभिसंहितः ॥७॥
निष्क्रांतो निःसृतः कात्स्न्र्यादुक्तः संदर्शितो मतः। इति तद्भेदनिर्णीतेरयुक्तैकत्वचोदना ॥८॥

अनिःसृतानुक्तयोर्निःसृतोक्तयोश्च नैकत्वचोदना युक्ता लक्षणभेदात्। कुतो बह्वादीनां प्राधान्येन तदितरेषां गुणभावेन प्रतिपादनं न पुनर्विपर्ययेणेत्यत्रोच्यते;—

तत्र प्रधानभावेन बह्वादीनां निवेदनं। प्रकृष्टावृत्तिविश्लेषविशेषात् नुः समुद्भवात् ॥९॥
तद्विशेषणभावेन कथं चात्राल्पयोग्यतां। समासृत्य समुद्भूतेरितरेषां विधीयते ॥१०॥

अथ बह्वादीनां क्रमनिर्देशकारणमाह;—

बहुज्ञानसमभ्यर्च्यं विशेषविषयत्वतः। स्फुटं बहुविधज्ञानाज्जातिभेदावभासिनः ॥११॥
तत्क्षिप्रज्ञानसामान्यात्तच्चानिःसृतवेदनात्। तदनुक्तगमात्सोपि ध्रुवज्ञानात्कुतश्चन ॥१२॥

हो गया है, वह निःसृत है। जलनिमग्न हाथी की ऊपर निकली हुई सूंड को देखकर हाथी का ज्ञान अनिःसृत मतिज्ञान है और बाहर खड़े हुए हाथी का ज्ञान निःसृत है यह इनमें भेद है ॥७-८॥

अनिःसृत और अनुक्त तथा निःसृत और उक्त में एकपन का कुतर्क उठाना युक्त नहीं है, क्योंकि इनके लक्षण भिन्न-भिन्न हैं।

बहु, बहुविध आदि का प्रधानता से क्यों प्रतिपादन किया गया है? और अल्प, अल्पविध आदि इतरों का प्रतिपादन गौणरूप से क्यों किया गया है? फिर विपरीत ही प्रतिपादन क्यों नहीं किया गया? इस प्रकार जिज्ञासा होने पर **श्री विद्यानन्द आचार्य** कहते हैं-

इस सूत्र में जीव के प्रकृष्ट ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होने के कारण बहु आदि का प्रधानरूप से निवेदन किया है और उन बहु आदि के विशेषण होकर के तथा अल्पयोग्यता का आश्रय लेकर इतर अल्प, अल्पविध आदि के ज्ञान आत्मा में उत्पन्न हो जाते हैं, यह समाधान किया गया है।

भावार्थ : बहु, बहुविध, शीघ्र, अनिसृत नहीं कहा गया (अनुक्त) अविचलित (ध्रुव) इन पदार्थों की ज्ञप्ति करने के लिए उत्कृष्ट क्षयोपशम से ही निर्वाह हो सकता है। विशेष बुद्धिमान पुरुष बहु आदि को समझकर उस बुद्धि से अल्प आदि पदार्थों को भी समझ लेता है। किन्तु अल्प आदि को जानने वाली बुद्धि द्वारा शेष बचे हुए बहुतों का ज्ञान नहीं हो सकता है। इसलिए बहु आदि को मुख्यता से ग्रहण किया गया है ॥९-१०॥

अब बहु, बहुविध आदि के यथाक्रम से निर्देश करने के कारण को आचार्य कहते हैं-

जाति का आश्रय कर भेदों का कथन करने वाले बहुविध पदार्थों के ज्ञान की अपेक्षा विशेष रूप से अधिक पदार्थों को विषय करने वाला बहु का ज्ञान पूजनीय है। यह स्पष्ट प्रतीत हो रहा है। अर्थात् जाति का अवलम्बन कर पदार्थों का जानना उतना स्पष्ट नहीं है, जितना कि व्यक्तियों का आश्रय कर पदार्थों का जानना स्पष्ट है अतः व्यक्तियों का आश्रय कर पदार्थों का जानना विशद या आदरणीय है अतः बहुविध से पहले बहु का कहना योग्य है तथा सामान्य रूप से शीघ्र पदार्थ को जानने की अपेक्षा उस बहुविध का

तत्तद्विषयबह्वादेः समभ्यर्हितता तथा। बोध्यं तद्वाचकानां च क्रमनिर्देशकारणं ।।१३।।

बह्वादीनां हि शब्दानामितरेतरयोगे द्वंद्वे बहुशब्दो बहुविधशब्दात्प्राक् प्रयुक्तोभ्यर्हितत्वात् सोपि क्षिप्रशब्दात् सोप्यनिःसृतशब्दात्सोप्यनुक्तशब्दात् सोपि ध्रुवशब्दात्। एवं कथं शब्दानामभ्यर्हितत्वं? तद्वाच्यानामर्थानामभ्यर्हितत्वात्। तदपि कथं ? तद्ग्राहिणां ज्ञानानामभ्यर्हितत्वोपपत्तेः। सोपि ज्ञानावरणवीर्यांतरायक्षयोपशमविशेषप्रकर्षादुक्तविशुद्धिप्रकर्षस्य परमार्थतोभ्यर्हितस्य भावादिति। तदेव यथोक्तक्रमनिर्देशकस्य कारणमवसीयते कारणांतरस्याप्रतीतेः।।

ज्ञान करना आदरणीय है अतः क्षिप्र के पूर्व में बहुविध कहा है। उसी प्रकार क्षिप्र का ज्ञान भी अनिःसृत ज्ञान से श्लाघ्य है। अनिःसृत पदार्थ को बताने की अपेक्षा शीघ्र बताने पर अधिक लब्धांक प्राप्त हो जाते हैं। उस अनुक्तज्ञान से अनिःसृत का ज्ञान पूजनीय है, क्योंकि छल कपटपूर्ण जगत् में अनुक्त पदार्थ को समझना जितना सरल है, उतना इन्द्रियों द्वारा अनिःसृत पदार्थ का समझना सुकर नहीं है। वह अनुक्त ज्ञान भी किसी कारणवश ध्रुवज्ञान से अधिक अर्चनीय है। अचलित को जानने की, मायावियों के अनुक्त अभिप्रेतों का या विद्वानों की गूढ़ चर्चा का पता पा लेना कठिन है, अतः अल्प स्वरपना, सुसंज्ञापन आदि का लक्ष्य न रखकर पूज्यता का विचार करते हुए आचार्य ने बहु, बहुविध आदि सूत्र में पदों का क्रम कहा है।।११-१२।।

उन बहु, बहुविध आदि को विषय करने की अपेक्षा से बहु आदि के ज्ञानों को अधिक पूजनीय समझ लेना चाहिए। तथा उन बहु आदिक के वाचक शब्दों के भी क्रम से निर्देश करने का कारण समभ्यर्हितपना जानना चाहिए।।१३।। अर्थात् समास में जो अल्प स्वर वाला होता है उसका न्यास प्रथम होता है, अधिक स्वर वालों का बाद में, उस अपेक्षा बहु आदि का क्रम नहीं समझना अपितु पूज्यता की अपेक्षा ऐसा जानना।

बहु, बहुविध आदि शब्दों का इतरइतरयोग नाम का द्वन्द्व समास होने पर बहुविध शब्द से पहले बहुशब्द प्रयोग किया गया है, क्योंकि विशेष-विशेष अनेक व्यक्तियों को कहने वाला वह बहु शब्द अनेक जातियों को कहने वाले बहुविध शब्द से अधिक पूज्य है और वह बहुविध भी क्षिप्रशब्द से अधिक अर्चनीय है तथा वह क्षिप्र शब्द भी अनिःसृत से और वह अनिःसृत भी अनुक्त शब्द से तथा वह अनुक्त भी ध्रुवशब्द से अधिक अर्चनीय है।

प्रश्न : मुख, तालु आदि अथवा चेतनप्रयत्न द्वारा उत्पन्न हुए शब्दों में पूज्यपना कैसे है? **उत्तर:** उन शब्दों के वाच्य अर्थों की परिपूज्यता होने से वाचक शब्द भी पूज्य हो जाते हैं। **शंका :** उन वाच्य अर्थों को पूज्यपना क्यों है? **समाधान :** उन महान् अर्थों के ग्रहण करने वाले होने से शब्दों में अतिपूज्यपना है। अर्थात् आत्मा का गुण ज्ञान परमपूज्य है। उसमें जो प्रकृष्ट पदार्थ आदरणीय होकर विषय हो रहे हैं, वे भी पूज्य हो जाते हैं। विषयी धर्म को विषय में आरोपित कर लिया जाता है, जैसे कि जड़ घट को प्रत्यक्षज्ञान का विषय होने से प्रत्यक्ष कह देते हैं।

शंका : वह ज्ञान भी पूज्य क्यों है?

विजानाति न विज्ञानं बहून् बहुविधानपि। पदार्थानिति केषांचिन्मतं प्रत्यक्षबाधितम् ॥१४॥

प्रत्यक्षाणि बहून्येव तेष्वज्ञातानि चेत्कथम्। तद्बद्बोधैकनिर्भासैः शतैश्चेन्नाप्रबाधनात् ॥१५॥

तद्बोधबहुतावित्तिर्बाधिकान्नेतिचेन्मतं। सा यद्येकेन बोधेन तदर्थेष्वनुमन्यताम् ॥१६॥

बहुभिर्वेदनैरन्यज्ञानवेद्यैस्तु सा यदि। तदवस्था तदा प्रश्नोनवस्था च महीयसी ॥१७॥

समाधान : ज्ञानावरण और वीर्यांतराय कर्मों के विशेष क्षयोपशम के प्रकर्ष होने से उत्पन्न हुई, उक्त पूज्यज्ञानों की विशुद्धि का प्रकर्ष वास्तविकरूप से पूजनीय है। अर्थात्-विशुद्धि ही परमपूज्य है। उसकी आत्मीय विशुद्धि उसके कारण विशिष्ट क्षयोपशम है। यहाँ कार्य के स्वकीय धर्म का कारण में आरोप है और क्षयोपशम की प्रकर्षता से ज्ञान में पूज्यता का संकल्प है। यहाँ कारण का धर्म कार्य में आरोपित किया है तथा ज्ञान में पूज्यता आ जाने से उसके द्वारा जानने योग्य ज्ञेय पदार्थों में भी पूज्यपने का अध्यारोप है। प्रतिपादक के ज्ञान का कार्य होने से और प्रतिपाद्य श्रोता के ज्ञान का कारण होने से शब्द भी अपने कारण और कार्यों से पूज्यत्व को प्राप्त होता है अतः सूत्र में कहे गये पदों के क्रम से निर्देश करने का कारण वही निश्चित किया जाता है। अन्य कोई कारण प्रतीत नहीं हो रहा है।

एक ही ज्ञान बहुत से और बहुत प्रकार के पदार्थों को कैसे भी नहीं जान सकता है-''प्रत्यर्थं ज्ञानाभिनिवेशः''। प्रत्येक अर्थ को जानने के लिए एक-एक ज्ञान नियत है। इस प्रकार किन्हीं विद्वानों का मत है, वह प्रत्यक्ष से ही बाधित है। अर्थात्-एक चाक्षुष प्रत्यक्ष ही सामने आये हुए अनेक वृक्षों, मनुष्यों, धान्यों, पशुओं आदि को जान लेता है। जातिरूप से प्रमेयों को जानने वाले ज्ञान अनेक प्रकार के अर्थों को जान रहे हैं, अतः प्रत्येक ज्ञान का विषय एक नियत पदार्थ मानना या प्रत्येक विषय का एक नियत ज्ञान मानना प्रत्यक्ष विरुद्ध है ॥१४॥

यदि बौद्ध कहें कि अतिशीघ्रता से झट पीछे-पीछे प्रवृत्ति होने के कारण अथवा युगपत् अनेक प्रत्यक्ष उत्पन्न हो जाने के कारण अथवा युगपत् प्रत्यक्ष उत्पन्न हो जाने के कारण वे अनेक प्रत्यक्ष ज्ञात नहीं हो सकते हैं। उनके प्रत्युत्तर में जैनाचार्य कहते हैं कि उन अज्ञात अनेक प्रत्यक्षों की सत्ता कैसे जानी जायेगी? उन अनेक ज्ञानों को जानने के लिए यदि एक-एक को प्रकाशने वाले अनेक ज्ञान माने जायेंगे, तब तो सैकड़ों प्रकाशक ज्ञानों के द्वारा उनका प्रतिभास होना मानना पड़ेगा। यह कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि उन ज्ञानों का भी निर्बाध से निर्णय नहीं होता है ॥१५॥ अर्थात्-अनेक पदार्थों को जानने वाला एक ज्ञान निर्बाध सिद्ध है।

उन अनेक ज्ञानों के बहुतपने का ज्ञान बाधक है। इस प्रकार बौद्ध का मन्तव्य होने पर जैनाचार्य कहते हैं कि अनेक ज्ञानों के बहुतपने का वह ज्ञान यदि एक ही ज्ञान के द्वारा होता है तो उसी अनेक ज्ञानों को जानने वाले एक ज्ञान समान अनेक अर्थों में भी एक ज्ञान द्वारा ज्ञप्ति होना मान लेनी चाहिए। यदि अन्य तीसरे प्रकार के अनेक ज्ञानों से जानने योग्य दूसरे प्रकार के बहुत ज्ञानोंके द्वारा बहुतों को जानने वाले पहले अनेक ज्ञानों का वह प्रतिभास माना जायेगा, तब तो तीसरे प्रकार के ज्ञानों को जानने के लिए चौथे प्रकार के ज्ञान के लिए अन्य ज्ञान की आवश्यकता होगी। तथा उसका पाँचवाँ ज्ञान, इस प्रकार प्रश्न वैसा का वैसा

स्वतो बह्वर्थनिर्भासिज्ञानानां बहुता गतिः। नान्योन्यमनुसंधानाभावात्प्रत्यात्मवर्तिनाम् ॥१८॥

तत्पृष्ठजो विकल्पश्चेदनुसंधानकृन्मतः। सोपि नानेकविज्ञानविषयस्तावके मते ॥१९।

बह्वर्थविषयो न स्याद्विकल्पः कथमन्यथा। स्पष्टः परम्परायासपरिहारस्तथा सति ॥२०॥

यथैव बह्वर्थज्ञानानि बहून्येवानुसंधानविकल्पस्तत्पृष्ठजः स्पष्टो व्यवस्यति तथा स्पष्टो व्यवसायः सकृद्बहून् बहुविधान् वा पदार्थानालंबतां विरोधाभावात्। परंपरया शश्वदेवं परिहतं स्यात्ततो झटिति बह्वाद्यर्थस्यैव प्रतिपत्तेः ॥

एवं बहुत्वसंख्यायामेकस्यावेदनं न तु। संख्येयेषु बहुष्वित्ययुक्तं केचित्प्रपेदिरे ॥२१॥

बना रहेगा। तथा इससे महती अनवस्था हो जायेगी ॥१६-१७॥

बहुत अर्थों को प्रकाशित करने वाले अनेक ज्ञानों का बहुतपना स्वतः ही जान लिया जाता है। ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि ऐसा मानने पर प्रत्येक अपने-अपने स्वरूप में रहने वाले उन ज्ञानों का परस्पर में प्रत्यभिज्ञानरूप अनुसंधान नहीं हो सकेगा। किन्तु, एक जीव के अनेक ज्ञानों का अनुसंधान हो रहा है, जैसे कि स्पर्श इन्द्रिय से जाने गये पदार्थ को मैं देख रहा हूँ, देखे हुए पदार्थ का ही स्वाद ले रहा हूँ, इत्यादि ज्ञानों के परस्पर में अनुसंधान होते हैं ॥१८॥

उन बहुत से ज्ञानों के पीछे होने वाला विकल्पज्ञान यदि उन ज्ञानों के अनुसंधान को करने वाला माना जायेगा तो वह भी तुम्हारे मत में अनेक विज्ञानों को विषय करने वाला नहीं माना गया है। एक विकल्पज्ञान भी एक ही ज्ञान को जान सकेगा। अन्यथा यदि प्रत्येक विषय के लिए प्रत्येक ज्ञान के सिद्धान्त को छोड़कर एक विकल्पज्ञान द्वारा बहुत ज्ञानों का विषय कर लेना मान लेंगे, तब तो विकल्पज्ञान बहुत अर्थों को विषय करने वाला कैसे नहीं होगा? अपितु अनेक पदार्थों को जानने वाला विकल्प स्पष्ट दिख रहा है। ऐसा मानने पर परम्परा से अत्यन्त कठिन परिश्रम का परिहार भी हो जाता है। अर्थात् एक ज्ञान स्व को स्पष्टरूप से जानता हुआ अनेक अर्थों को साक्षात्जान रहा है, इसमें कोई बाधक प्रमाण नहीं है ॥१९-२०॥

उन ज्ञानों के पीछे अनुसंधान करने वाला विकल्प जैसे ही बहुत अर्थों को जानने वाले बहुत ज्ञानों को स्पष्ट होता हुआ निर्णय कर लेता है, उसी प्रकार स्पष्ट अवग्रह आदिरूप व्यवसाय भी एक ही बार में बहुत से अथवा बहुत प्रकार के पदार्थों को विषय कर लेता है, इसमें विरोध का अभाव है, और इस प्रकार ज्ञानों को जानने के लिए ज्ञान और उनको भी मानने के लिए पुनः ज्ञान, इस परम्परा के कठिन श्रम का निराकरण हो जाता है, तथा शीघ्र ही बहु आदि अर्थों की प्रतिपत्ति हो जाती है अतः एक ज्ञान भी अनेक और अनेक प्रकार के अर्थों को जान सकता है इसमें कोई बाधा नहीं आती है।

कोई कहता है कि एक ज्ञान के द्वारा बहुत्व नाम की एक संख्या में आवेदन करा दिया जाता है। किन्तु गिनने योग्य संख्या वाले बहुत अर्थों में ज्ञप्ति नहीं कराई जाती है। जैनाचार्य कहते हैं कि उनका यह कहना युक्तिरहित है क्योंकि बहुत्व नाम की संख्या से विशिष्ट अनेक संख्या करने योग्य अर्थों में एक बहुज्ञान की प्रवृत्ति देखी जाती है अतः एक ज्ञान द्वारा बहुत्व संख्या को जानने वाले वादी को बहुत्व संख्या से

बहुत्वेन विशिष्टेषु संख्येयेषु प्रवर्तितः। बहुज्ञानस्य तद्भेदैकांताभावाच्च युक्तितः ॥२२॥

न हि बहुत्वमिदमिति ज्ञानं बहुष्वर्थेषु कस्यचिच्चकास्ति बहवोमी भावा इत्येकस्य वेदनस्यानुभवात्। संख्येयेभ्यो भिन्नामेव बहुत्वसंख्यां संचिन्वन् बहवोर्था इति चेत् तेषां सत्समवायित्वादित्ययुक्ता प्रतिपत्तिः। कुटाद्यवयविप्रतिपत्तौ साक्षात्तदारंभकपरमाणुप्रतिपत्तिप्रसंगात्। अन्यत्र प्रतिपत्तौ नान्यत्र प्रतिपत्तिरिति चेत्, तर्हि बहुत्वसंवित्तौ बह्वर्थसंवित्तिरपि माभूत्। येषां तु बहुत्वसंख्याविशिष्टेष्वर्थेषु ज्ञानं प्रवर्तमानं बहवोर्था इति प्रतीतिः तेषां न दोषोस्ति, बहुत्वसंख्यायाः संख्येयेभ्यः सर्वथा भेदानभ्युपगमात्। गुणगुणिनोः कथंचिदभेदस्य युक्त्या व्यवस्थापनात्। ततो न प्रत्यर्थवशवर्ति विज्ञानं बहुबहुविधे संवेदनव्यवहाराभावप्रसंगात्॥

कथंचित् अभिन्न अनेक बहुत पदार्थों का ज्ञान हो जाना युक्तिसंगत है॥२१-२२॥

बहुत अर्थों को नहीं जानकर उन बहुत से अर्थों में यह एक बहुत संख्या है-इस प्रकार का ज्ञान किसी को भी प्रतिभासित नहीं होता है, किन्तु बहुत पदार्थों को युगपत् जानने वाले अनेक अर्थों का एक ज्ञान होता हुआ अनुभव में आता है। "संख्या करने योग्य अर्थों से सर्वथा भिन्न बहुत्वनामक संख्या गुण को इकट्ठा जानने वाला" बहुत अर्थ है- ऐसा अनुभव कर लेता है, क्योंकि वे बहुत से अर्थ उस संख्या के समवायसम्बन्ध वाले हैं। वस्तुतः एक ज्ञान से बहुत संख्या का ज्ञान होता है। इस प्रकार प्रतिपत्ति करना अयुक्त है, क्योंकि समवेत पदार्थ के जानने से यदि समवायी पदार्थों की प्रतिपत्ति होने लगे तब तो घट, पट आदि अवयवियों की ज्ञप्ति हो जाने पर उन घट आदि के अव्यवहितरूप से समवायी आश्रय रहने वाले परमाणुओं की ज्ञप्ति हो जाने का प्रसंग आयेगा। अर्थात् जैसे बहुत संख्या का समवाय सम्बन्ध बहुत से अर्थों में है, उसी प्रकार अवयवी घट आदि का समवाय सम्बन्ध उसको प्रारम्भ करने वाले अनेक परमाणुओं में है। अन्य पदार्थ में प्रतिपत्ति हो जाने से उससे पृथक् दूसरे पदार्थों में तो उसी ज्ञान से प्रतिपत्ति नहीं हो सकती है। घट को जानने वाला ज्ञान घट से सर्वथा भिन्न कारण परमाणुओं को नहीं जान सकता है। ऐसा कहने पर जैनाचार्य कहते हैं कि प्रकृत में बहुत संख्या की ज्ञप्ति हो जाने पर भी उस बहुत्व संख्या से भिन्न बहुत अर्थों की संवित्ति भी नहीं होगी।

जिन स्याद्वादियों के यहाँ बहुत संख्याओं से विशिष्ट अनेक अर्थों में प्रवृत्तमान एक ज्ञान ही "ये बहुत अर्थ हैं"- इस प्रकार प्रतीतिरूप हो जाता है, उन जैनों के यहाँ तो कोई दोष नहीं आता है, क्योंकि संख्या करने योग्य अनेक पदार्थों से बहुत्व संख्या का सर्वथा भेद नहीं माना गया है। गुण और गुणी के कथंचित् अभेद को हम युक्तियों से व्यवस्थापित कर चुके हैं अतः प्रत्येक अर्थ के अधीन होकर रहने वाला विज्ञान नहीं है। अन्यथा (एक ज्ञान की एक ही अर्थ को विषय करने की अधीनता से वृत्ति मानी जाएगी तो) बहुत और बहुत प्रकार के अर्थों में एक सम्वेदन होने के व्यवहार के अभाव का प्रसंग आयेगा। परन्तु एकज्ञान से अनेक अर्थों को युगपत् जान रहे प्रतीत होते हैं।

ज्ञानों को प्रत्येक अर्थ के अधीन होकर वर्तने वाला मानने पर तो मेचकज्ञान कैसे हो सकेगा?

कथं च मेचकज्ञानं प्रत्यर्थवशवर्तिनि। ज्ञाने सर्वत्र युज्येत परेषज्ञां नगरादिषु॥२३॥

न हि नगरं नाम किंचिदेकमस्ति ग्रामादि वा यतस्तद्वेदनं प्रत्यर्थवशवर्ति स्यात्। प्रासादादीनामल्पसंयुक्तसंयोगलक्षणात् प्रत्यासत्तिर्नगरादीति चेत् न, प्रासादादीनां स्वयं संयोगत्वेन संयोगांतरानाश्रयत्वात्। काष्ठेष्टकादीनां तल्लक्षणा प्रत्यासत्तिर्नगरादि भवत्विति चेन्न, तस्याप्यनेकगत्वात्। न हि यथैकस्य काष्ठादेरेकेन केनचिदिष्टकादिना संयोग: स एवान्येनापि सर्वत्र संयोगस्यैकत्वव्यापित्वादिप्रसंगात् समवायवत्। चित्रैकरूपवच्चित्रैकसंयोगो नगराद्येकमिति चेन्न, साध्यसमत्वादुदाहरणस्य। न ह्येकं चित्रं रूपं प्रसिद्धमुभयोरस्ति॥

अर्थात्-अनेक नील, पीत आदि आकारों को जानने वाला चित्रज्ञान तो एक होकर अनेकों का प्रतिभास कर रहा है। तथा वैशेषिकों के मतानुसार नगर, ग्राम आदि में एक ज्ञान नहीं हो सकेगा, क्योंकि अनेक घरों पशुओं आदि का सामुदायिक एक ज्ञान होने पर ही एक नगर का ज्ञान हो सकता है॥२३॥

नगर अथवा ग्राम आदिक कोई एक वस्तु नहीं है जिससे कि उनमें, नगर सेना आदि का एक ज्ञान होता हुआ प्रत्येक अर्थ के वशवर्ती हो सके। अत: अनेक को भी जानने वाला एक ज्ञान मानना पड़ेगा। इस पर यदि वैशेषिक इस प्रकार कहें कि नगर तो एक ही पदार्थ है। अनेक प्रासादों आदि का अति अल्प संयुक्त संयोगस्वरूप लक्षण प्रत्यासत्ति संबंध हो जाना ही एक नगर है। अर्थात् एक घर का दूसरे घर से अति निकट संयोग और उस संयुक्त घर का तीसरे से संयोग होना है। इसी प्रकार बाजार, मोहल्ले आदि अनेक का अति निकट एक संयोग हो जाना ही एक नगर पदार्थ है। जैनाचार्य कहते हैं कि ऐसा कहना उचित नहीं है। क्योंकि उन प्रासादों आदि को भी संयोगपने से वैशेषिकों ने स्वीकार किया है। अर्थात्-ईंट चूना, लकड़ी आदि के संयोग को ही प्रासाद या घर माना है। घट-पट के समान एक द्रव्य घर नहीं है अत: संयोगस्वरूप प्रासादों का पुन: संयोगस्वरूप नगर नहीं बन सकता है, क्योंकि संयोगगुण में पुन: दूसरा संयोगगुण नहीं रहता।

काठ, ईंट आदि की तत्स्वरूप प्रत्यासत्ति ही नगर आदि हैं ऐसा नहीं कहना क्योंकि अनेक काठ, ईंटों का वह संयोग भी तो अनेक में स्थित है। अत: वे संयोग अनेक हैं, एक नहीं।

जिस प्रकार एक काठ, ईंट आदि का किसी दूसरे एक ईंट, चूना, आदि के साथ संयोग है, वही संयोग पृथक् तीसरे ईंट आदि के साथ नहीं है। इस प्रकार सब संयोग के मानने पर तो संयोग गुण को समवाय के समान एकपन, व्यापीपन, नित्यपन आदि का प्रसंग आयेगा। नील अवयव, पीत अवयव आदि से बनाये गए अवयवी में रहने वाला कर्बुर या चित्र-विचित्र एकरूप नामक गुण के समान एक चित्र संयोग ही नगर, ग्राम आदि एक पदार्थ है। ऐसा नहीं कहना, क्योंकि चित्रवर्ण नामका उदाहरण ही साध्य के समान असिद्ध है, असिद्ध उदाहरण से साध्य नहीं सधता है। लौकिक और परीक्षकों के यहाँ या हमारे-तुम्हारे यहाँ या दोनों के यहाँ एक चित्र रूप कोई पदार्थ प्रसिद्ध नहीं है अर्थात् पाँच वर्णों से अतिरिक्त कोई छठा चित्रवर्ण नहीं है।

यथा नीलं तथा चित्रं रूपमेकं पटादिषु। चित्रज्ञानं प्रवर्तेत तत्रेत्यपि विरुध्यते ॥२४॥

चित्रसंव्यवहारस्याभावादेकत्र जातुचित्। नानार्थेष्विंद्रनीलादिरूपेषु व्यवहारिणाम् ॥२५॥

एकस्यानेकरूपस्य चित्रत्वेन व्यवस्थितेः। मण्यादेरिव नान्यस्य सर्वथातिप्रसंगतः ॥२६॥

यथानेकवर्णमणेर्मयूरादेर्वानेकवर्णात्मकस्यैकस्य चित्रव्यपदेशस्तथा सर्वत्र रूपादावपि स व्यवतिष्ठते नान्यथा। न ह्येकत्र चित्रव्यवहारो युक्तः संतानांतरार्थनीलादिवत् नाप्यनेकत्रैव तद्वदेवेति निरूपितप्रायम्॥ नन्वेवं द्रव्यमेवैकमनेकस्वभावं चित्रं स्यान्न पुनरेकं रूपं। तथा च तत्र चित्रव्यवहारो न स्यात्। अत्रोच्यते—

जिस प्रकार नीला एक रूप है, उसी प्रकार कपड़ा आदि में एक चित्ररूप भी देखा जाता है। उनमें चित्ररूप को ग्रहण करने वाले ज्ञान की प्रवृत्ति होती है। ग्रन्थकार कहते हैं कि इस प्रकार भी वैशेषिकों का कहना विरुद्ध है क्योंकि चित्र व्यवहार का अभाव होने से नील, पीत आदि रूपों को मिलाकर एक वस्तु में रंग कभी भी नहीं बन सकता है।

अर्थात् - सर्वथा एक स्वभाव वाले पदार्थ में चित्रपने का व्यवहार कभी भी नहीं होता है। व्यवहार करने वाले लौकिक पुरुषों का नानारूप वाले इन्द्रनीलमणि, माणिक्य आदि अनेक पदार्थों में या इन मणियों की बनी हुई माला में एक के भी अनेक का चित्रपन का व्यवहार होता है। एक रंग-बिरंगे चित्रपत्र में कढ़े हुए या छपे हुए भूषण, वस्त्र आदि के अनेक रंग दिखलाये जाने पर चित्रपना व्यवहृत हो जाता है। जैन सिद्धांतानुसार अनेक रूप स्वभाव वाले एक पदार्थ की चित्रपना से व्यवस्था होती है; जैसे कि चित्रमणि आदि में चित्रता है। चित्रमणि की अनेक वर्ण रेखायें दीखती रहती हैं। अन्य पदार्थों को चित्रपना नहीं माना गया है। चित्रवर्ण को यदि सर्वथा स्वतंत्र रंग माना जाएगा तो अनेक प्रकार के रंगों के मिश्रण से नाना चित्र मानने पड़ेंगे। तब अतिव्याप्ति या अतिप्रसंग दोष आएगा॥२४,२५,२६॥

जिस प्रकार अनेक वर्णवाले मणि या मयूर, नीलकण्ठ आदि के अथवा अनेक वर्णात्मक कपड़े आदि एक पदार्थ के चित्रपन का व्यवहार लोकप्रसिद्ध है, उसी प्रकार सभी रूप, स्पर्श, रस आदि में भी वह उसी प्रकार से व्यवस्थित है, दूसरे प्रकारों से नहीं, क्योंकि सर्वथा एक स्वभाव पदार्थ में चित्र व्यवहार नहीं है, जैसे कि अन्य नाना सन्तानों के विषयभूत अर्थों के नील, पीत आदि को मिलाकर चित्रपना नहीं बन सकता है। तथा सर्वथा अनेक पदार्थों में भी वह चित्रपना नहीं बन सकता है। जैसे कि अनेक सन्तानों के ज्ञान द्वारा जान लिये गये पृथक्-पृथक् अर्थों के उन भिन्न-भिन्न नील, पीत आदि का मिलकर चित्र नहीं बन सकता है। इस बात को हम प्राय: करके पहिले प्रकरणों में कह चुके हैं।

शंका : इस प्रकार अनेक स्वभाव वाला एक द्रव्य ही तो चित्र हो सकेगा, कोई एक रूपगुण तो चित्र नहीं हो सकेगा, और वैसा होने पर उस चित्रवर्ण में चित्रपने का व्यवहार नहीं हो सकता।

चित्रं रूपमिति ज्ञानमेव न प्रतिहन्यते। रूपेप्यनेकरूपत्वप्रतीतेस्तद्विशेषत:॥२७॥

ननु रूपं गुणस्तस्य कथमनेकस्वभावत्वं विरोधात्। नैतत्साधु यत:—

गुणोनेकस्वभाव: स्याद्द्रव्यवन्न गुणाश्रय:। इति रूपगुणेनेकस्वभावे चित्रशेमुषी॥२८॥

न हि गुणस्य निर्गुणत्ववन्निर्विशेषत्वं रूपे नीलनीलतरत्वादिविशेषप्रतीते:। प्रतियोग्यपेक्षस्तत्र विशेषो न तात्त्विक इति चेन्न, पृथक्त्वादेरतात्त्विकप्रसंगात्। पृथक्त्वादेरनेकद्रव्याश्रयस्यैवोत्पत्तेर्न प्रतियोग्यपेक्षत्वमिति चेन्न, तथापि तस्यैकपृथक्त्वादिप्रतियोग्यपेक्षया व्यवस्थानात्। सूक्ष्मत्वाद्यपेक्षैकद्रव्याश्रयमहत्त्वादिवत्

समाधान : इस प्रकार शंका होने पर आचार्य कहते हैं- ''यह चित्ररूप है'' इस प्रकार के ज्ञान का प्रतिघात नहीं किया जाता है। द्रव्य के समान रूपगुण में भी अनेक स्वभावपना प्रतीत हो रहा है। अर्थात्- स्याद्वादसिद्धान्तानुसार द्रव्य, गुण, पर्यायों में भी अनेक स्वभाव माने गये हैं। अपने-अपने उन विशेषों की अपेक्षा से रूप, रस आदि गुण या पर्यायें भी अनेक स्वभाव वाली होकर चित्र कही जा सकती हैं॥२७॥

शंका : रूप तो गुण है। उस गुण का अनेक स्वभावसहितपना कैसे माना जा सकता है? क्योंकि रूप गुणों में अनेक स्वभाव मानने में विरोध उत्पन्न होता है। अर्थात्-अनेक गुण और पर्यायों का धारक द्रव्य तो अनेक स्वभाववाला हो सकता है, किन्तु एक गुण में या एक-एक पर्याय में पुन: अनेक स्वभाव नहीं रह सकते हैं।

समाधान : यह कहना श्रेष्ठ नहीं है क्योंकि सिद्धांत इस प्रकार व्यवस्थित है। अनंतगुणों का समुदाय ही द्रव्य है अत: अभिन्न होने के कारण द्रव्य के समान गुण भी अनेक स्वभाव से सहित होते हैं किन्तु ''द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणा:'' इस सूत्रानुसार वह गुण अन्य गुणों का आश्रय नहीं है। इस प्रकार अनेक स्वभाव वाले रूप गुण में चित्रविचित्र ऐसी प्रमाबुद्धि हो जाना समुचित ही है॥२८॥

गुण का अन्य गुणों से रहितपना जैसे अभीष्ट है, वैसा विशेष स्वभावों से रहितपना इष्ट नहीं है, क्योंकि रूपगुण में यह नीला है, उससे भी अधिक नीला वस्त्र है। यह नील रंग उस वस्त्र से भी अत्यधिक नीला है, इत्यादि प्रकार के विशेषों की प्रतीति होती है। **शंका :** उस रूप गुण में प्रतियोगियों की अपेक्षा से अनेक विशेष दीख रहे हैं वे अनेक विशेष वास्तविक नहीं हैं।

समाधान : ऐसा नहीं है। क्योंकि इस प्रकार कहने पर तो पृथक्त्व, विभाग, द्वित्व, त्रित्व, संख्या आदि को भी अवस्तुभूत होने का प्रसंग आएगा। अर्थात्-दूसरे पदार्थ की अपेक्षा से ही किसी वस्तु में पृथक्पना नियत किया जाता है क्योंकि दोपना, तीनपना आदि संख्यायें अन्य पदार्थों की अपेक्षा से गिनी जाती हैं। अत: अन्य पदार्थों के निमित्त से उत्पन्न हुए नैमित्तिक धर्म को वस्तु स्वभाव स्वीकार नहीं करने पर पुद्गल के निमित्त से होने वाले जीवके, राग, द्वेष, मिथ्यात्व आदि परिणाम भी वास्तविक नहीं हो सकते। पृथक्त्व, विभाग, संयोग आदि तो अनेक द्रव्यों के आश्रय से उत्पन्न होते हैं अत: वे प्रतियोगियों की अपेक्षा नहीं रखते हैं। इस प्रकार वैशेषिक का कहना ठीक नहीं है क्योंकि पृथक्त्व आदि की व्यवस्था एक दूसरे द्रव्य के पृथक्पन आदि प्रतियोगियों की अपेक्षा से ही व्यवस्थित रहती है। जैसे सूक्ष्मत्व, ह्रस्वत्व

तस्यास्खलंत्प्रत्ययविषयत्वेन पारमार्थिकत्वेन नीलतरत्वादेरपि रूपविशेषस्य पारमार्थिकत्वं युक्तमन्यथा नैरात्म्यप्रसंगात्। नीलतरत्वादिवत्सर्वविशेषाणां प्रतिक्षेपे द्रव्यस्यासंभवात्। ततो द्रव्यवद्गुणादेरनेकस्वभावत्वं प्रत्ययाविरुद्धमवबोद्धव्यम्॥

नन्वनेकस्वभावत्वात्सर्वस्यार्थस्य तत्त्वतः। न चित्रव्यवहारः स्याज्जैनानां क्वचिदित्यसत्॥२९॥

सिद्धे जात्यंतरे चित्रे ततोपोद्धृत्य भाषते। जनो ह्येकमिदं नाना वेत्यर्थित्वविशेषतः॥३०॥

सिद्धेप्येकानेकस्वभावे जात्यंतरे सर्ववस्तुनि स्याद्वादिनां चित्रव्यवहारार्हे ततो योद्धारकल्पनया क्वचिदेकत्रार्थित्वादेकमिदमिति क्वचिदनेकार्थित्वादनेकमिदमिति व्यवहारो जनैः प्रतन्यत इति सर्वत्र सर्वदा

आदि की अपेक्षा रखने वाले एक द्रव्य के आश्रित महत्त्व आदिक धर्म माने जाते हैं। अर्थात्-आम की अपेक्षा आमला छोटा है और आँवले से इलाइची छोटी होती है। इस प्रकार अन्य पदार्थों की अपेक्षा से अणुत्व, महत्त्व, दीर्घत्व, ह्रस्वत्व, परिमाण वैशेषिकों ने स्वयं स्वीकार किये हैं।

जैसे उस पृथक्त्व, महत्त्व आदि की बाधा रहित ज्ञान के विषय ध्रुव रूप से प्रतीति होने से पारमार्थिक हैं, उसी प्रकार रूप के नील, नीलतर, नीलतम आदि विशेष स्वभावों को भी वस्तुभूतपना युक्त मान लेना चाहिए। अन्यथा (नैमित्तिक भावों को यदि स्व का भाव नहीं माना जायेगा तो) नील, नीलतरत्व के समान वस्तुओं के स्वभाव रहितपने का प्रसंग आयेगा। नील, नीलतर आदि के समान सम्पूर्ण विशेषों का यदि निराकरण करेंगे तो द्रव्य की भी सिद्धि असम्भव हो जाएगी। अर्थात्-स्वभावों के बिना द्रव्य का आत्मलाभ असम्भव है अतः सिद्ध हुआ कि द्रव्य के समान गुण, पर्याय कर्म के भी अनेक स्वभावों से सहितपना किसी भी प्रातीतिक ज्ञान से विरुद्ध नहीं है, ऐसा समझना चाहिए।

शंका : सम्पूर्ण अर्थों को यथार्थरूप से जब अनेक स्वभाव सहितपना सिद्ध हो जाता है तब तो जैनों के किसी भी विशेष पदार्थ में चित्रविचित्रपने का व्यवहार नहीं हो सकता।

समाधान : इस प्रकार कहना प्रशंसनीय नहीं है, क्योंकि विभिन्न दूसरी जाति वाले चित्र पदार्थ के सिद्ध हो जाने पर विशेष चित्रित पदार्थ की पृथक्भाव कल्पना कर व्यवहारी मनुष्य विशेष-विशेष प्रयोजनों का साधक होने से उन अर्थों में से किसी को यह एक है और किन्हीं को ये अनेक हैं, इस प्रकार कह देता है।

भावार्थ : प्रत्येक पदार्थ से अनेक प्रयोजन सध सकते हैं। किन्तु अर्थक्रिया के अभिलाषी जीव को उस वस्तु से जो विशेष प्रयोजन प्राप्त करना है तदनुसार एकपना, अनेकपना, चित्रपना, विचित्रपना व्यवहृत कर लिया जाता है॥२९, ३०॥ अर्थात् वस्तु अनेक धर्मात्मक है; उनमें जिसधर्म की विवक्षा होती है, वक्ता उसी का कथन करता है। एक स्वभाव और अनेक स्वभावों के धारक सम्पूर्ण वस्तुओं के जात्यन्तर अनेकांतात्मकपने की सिद्धि हो जाने पर यद्यपि सम्पूर्ण ही वस्तुएँ स्याद्वादियों के यहाँ चित्रपने के व्यवहार करने योग्य है; फिर भी एक स्वभाव वाले और अनेक स्वभाव वाले इन दो जातियों से भिन्न जात्यन्तर वस्तुओं से किसी विशिष्ट वस्तु की पृथक् भाव-कल्पना करके किसी ही विशेष एक वस्तु में इच्छावश यह

चित्रव्यवहारप्रसंगत: क्वचित्पुनरेकानेकस्वभावभावार्थित्वाच्चित्रव्यवहारोपीति नैकमेव किंचिच्चित्रं नाम यत्र नियतं वेदनं स्यात्प्रत्यर्थवशवर्तीति ॥

योगिज्ञानवदिष्टं तद्बह्वाद्यर्थावभासनम्। ज्ञानमेकं सहस्रांशुप्रकाशज्ञानमेव चेत् ॥३१॥

तदेवावग्रहाद्याख्यं प्राप्नुवत् किमु वार्यते। न च स्मृतिसहायेन कारणेनोपजन्यते ॥३२॥

बह्वाद्यवग्रहादीदं वेदनं शाब्दबोधवत्। येनावभासनाद्भिन्नं ग्रहणं तत्र नेष्यते ॥३३॥

यो ह्यनेकत्रार्थेक्षावभासनमीश्वरज्ञानवदादित्यप्रकाशनवद्व्याचक्षीत न तु तद्ग्रहणं स्मृतिसहायेनेंद्रियेण जनितं तस्य प्रत्यर्थिवशवर्तित्वात्। स इदं प्रष्टव्य: किमिदं बह्वाद्यर्थे अवग्रहादिवेदनं स्मृतिनिरपेक्षिणाक्षेण जन्यते स्मृतिसहायेन वा? प्रथमपक्षे सिद्धं स्याद्वादिमतं बह्वाद्यर्थावभासनस्यैवावग्रहादिज्ञानत्वेन व्यवस्थापनात्।

एक है, इस प्रकार एकपने का व्यवहार और अनेकपन की अभिलाषा होने के कारण किन्हीं वस्तुओं में अनेकत्व व्यवहार मनुष्यों के द्वारा विस्तृत किया जाता है। इसलिए सर्वत्र और सर्वदा सर्व वस्तुओं में चित्र व्यवहार का प्रसंग होने के कारण पुन: कहीं अनेक आकारवाली वस्तु में युगपत् एक स्वभाव और अनेक स्वभावों के सद्भाव की अभिलाषुकता हो जाने से चित्रपने का व्यवहार भी प्रसिद्ध है। अर्थात् विवक्षावश चित्रपने की प्रचुरता से किसी ही विशेष वस्तु में चित्रपने का व्यवहार होता है। इसलिए सिद्ध हुआ कि एक ही कोई पदार्थ चित्र ही नहीं है जिसमें कि नियतरूप से एक ज्ञान प्रत्येक अर्थ के अधीन होकर वर्तने वाला हो सके अर्थात् चित्र पदार्थ किसी अपेक्षा से अनेक हैं उनमें एक ज्ञान हो रहा है।

सर्वज्ञ योगी के ज्ञान समान वह ज्ञान बहु, बहुविध आदि अर्थों का प्रकाशनें वाला इष्ट है। सहस्रकिरण वाले सूर्य के प्रकाश समान एक ज्ञान ही अनेक का प्रतिभास कर देता है। इस प्रकार वैशेषिकों के कहने पर जैनाचार्य कहते हैं कि तब तो अवग्रह नाम को प्राप्त वही अनेकग्राही एक ज्ञान क्यों निषेध किया जा रहा है? शब्दजन्य ज्ञान शाब्दबोध करने पर पूर्व-पूर्व समयों के उच्चारित होकर नष्ट होते जा रहे और पहले-पहले के वर्णों की स्मृति को सहाय पाकर अन्तिम वर्ण का हुआ श्रवण ही शाब्दज्ञान करा देता है, उसी प्रकार एक-एक ज्ञान द्वारा पहले देखे गये एक-एक अनेक अर्थों की स्मृतियाँ आत्मा में उत्पन्न हो जाती हैं, उन स्मृतियों की सहायता पाकर इन्द्रियजन्य अन्तिमज्ञान बहु आदि अनेकको जान लेता है। यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि यह बहु आदिक अर्थों का अवग्रह आदिक ज्ञान शाब्दबोध के समान स्मृतिसहकृत कारण से उत्पन्न नहीं होता है, जिससे कि वहाँ अवभास से भिन्न ग्रहण इष्ट नहीं किया जाए। स्मृति की अपेक्षा से रहित होकर एक ज्ञान बहु आदिक अर्थों को जान लेता है ॥३१,३२,३३॥

वैशेषिक - युगपत् अनेक पदार्थों को जानने वाले ईश्वरज्ञान के समान या सूर्यप्रकाश के समान इन्द्रियजन्य एक ज्ञान भी अनेक अर्थों में रहता है किन्तु उन अनेक पदार्थों का ग्रहण युगपत् नहीं होता है, क्योंकि स्मृति की सहायता को प्राप्त कर इन्द्रियों से वह ज्ञान उत्पन्न हुआ है। प्रत्येक अर्थ के आधीन होकर जानने वाला होने से वह ज्ञान एक ही समय में अनेक को नहीं जान सकता है। जैन - इस प्रकार कहने वाला नैयायिक पूछने योग्य है कि बहु, बहुविध आदिक अर्थों में रहने वाला अवग्रह, ईहा आदि स्वरूप

द्वितीयकल्पनायां तु प्रतीतिविरोधत: स्वयमननुभूतपूर्वेपि बह्वाद्यर्थेवग्रहादिप्रतीते: स्मृतिसहायेंद्रियजन्यत्वासंभवात् तत्र स्मृतेरनुदयात् तस्या: स्वयमनुभूतार्थ एव प्रवर्तनादन्यथातिप्रसंगात्। ततो नेदं बह्वाद्यवग्रहादिज्ञानमवभासनाद्भिन्नं शब्दज्ञानवत्स्मृतिसापेक्षं ग्रहणमिति मंतव्यं। यतो युगपदनेकांतार्थे न स्यात्। भवतु नामधारणापर्यंतमवभासनं तत्र न पुन: स्मरणादिकं विरोधादिति मन्यमानं प्रत्याह—

बहौ बहुविधे चार्थे सेतरेऽवग्रहादिकम्। स्मरणं प्रत्यभिज्ञानं चिंता वाभिनिबोधनम्॥३४॥

धारणाविषये तत्र न विरुद्धं प्रतीतित:। प्रवृत्तेरन्यथा जातु तन्मूलाया विरोधत:॥३५॥

यह ज्ञान क्या स्मृति की अपेक्षा नहीं रखने वाली इन्द्रिय के द्वारा जाना गया है? अथवा स्मृति की सहायता को धारने वाली इन्द्रियों से उत्पन्न हुआ है। प्रथम पक्ष लेने पर तो स्याद्वादियों का मत सिद्ध होता है क्योंकि स्याद्वाद सिद्धान्त में बहु आदिक अर्थों के ज्ञान को ही अवग्रह, ईहा आदिक ज्ञान स्वरूप से व्यवस्थित (निश्चित) किया है **अर्थात्** स्मृति की अपेक्षा नहीं कर इन्द्रियों से बहुत, अल्पविध आदि अनेक अर्थों का एक ज्ञान हो जाता है।

दूसरे पक्ष की कल्पना करने पर तो प्रतीतियों से विरोध आता है क्योंकि पहले कभी स्वयं अनुभव में नहीं आये हुए बहु आदि अर्थों में अवग्रह आदिज्ञानों की प्रतीति होती है। अपूर्व अर्थों में स्मृति की सहायता प्राप्त इन्द्रियों से उत्पन्न होना तो असम्भव है। उस अदृष्टपूर्व अर्थ में स्मृतिज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती है, क्योंकि स्वयं (पहिले प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम आदि ज्ञानों से) अनुभूत अर्थों में ही ''तत् इत्याकारा'' ''वह था'' इस विकल्पवाली स्मृति की प्रवृत्ति होती है, अन्यथा (नहीं अनुभूत किये अर्थ में भी यदि स्मृति की प्रवृत्ति मानी जायेगी तो) अतिप्रसंग दोष आयेगा।

अर्थात् – अनन्त अज्ञात पदार्थों की धारणाज्ञान नामक संस्कार के बिना भी स्मृति हो जायेगी। परन्तु ऐसा होता नहीं है अत: सिद्ध हुआ कि यह बहु आदिक अनेक अर्थों के अवग्रह आदिक ज्ञान प्रत्येक अर्थ में ज्ञान रूप से भिन्न नहीं है, तथा शब्दजन्य श्रुतज्ञान जैसे संकेत स्मरण की अपेक्षा सहित अर्थों का ग्राहक है। इसके समान अवग्रह आदि ज्ञान नहीं हैं। अवग्रह आदि तो स्मरणकी अपेक्षा बिना ही हो जाते हैं, यह मान लेना चाहिए अत: अनेक धर्मात्मक अर्थ में या अनेक अर्थों में युगपत् अवग्रह आदिक प्रत्येक ज्ञान की प्रवृत्ति हो जाती है। प्रवृत्ति नहीं होती है, ऐसा नहीं है। उन बहु, बहुविध आदि अर्थों में धारणापर्यन्त, (अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा तक) ज्ञान हो सकते हैं किन्तु, फिर स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, आदि ज्ञान तो उन बहु आदि विषयों में नहीं हो सकते क्योंकि इसमें विरोध दोष आता है।

इस प्रकार मानने वालों के प्रति आचार्य कहते हैं -

बहुत और बहुत प्रकार के तथा उनसे इतर अल्प, अल्पविध आदि अर्थों में अवग्रह आदि धारणा तक ज्ञान होते हैं। उसी प्रकार बहु आदि १२ प्रकार के अर्थों में स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, व्याप्तिज्ञान, अनुमान ज्ञान भी होते हैं। धारणाज्ञान द्वारा विषय किये गए उन बहु आदि अर्थों में स्मरण आदि ज्ञानों की प्रतीति का विरोध नहीं है। अन्यथा (धारणा किये गये बहु आदिक अर्थों में यदि स्मृति आदि की प्रवृत्ति नहीं मानी

न हि धारणाविषये बह्वाद्यर्थे स्मृतिर्विरुध्यते तन्मूलायास्तत्र प्रवृत्तेर्जातुचिदभावप्रसंगात्। नापि तत्रं स्मृतिविषये प्रत्यभिज्ञायास्तत एव। नापि प्रत्यभिज्ञाविषये चिंतायाश्चिंताविषये वाभिनिबोधस्य तत एव प्रतीयते च तत्र तन्मूला प्रवृत्तिरभ्रांता च प्रतीतिरिति निश्चितं प्राक्॥

क्षणस्थायितयार्थस्य निःशेषस्य प्रसिद्धितः। क्षिप्रावग्रह एवेति केचित्तदपरीक्षितम्॥३६॥

स्थास्नूत्पित्सुविनाशित्वसमाक्रांतस्य वस्तुनः। समर्थयिष्यमाणस्य बहुतोबहुतोग्रतः॥३७॥

कौटस्थ्यात्सर्वभावानां परस्याभ्युपगच्छतः। अक्षिप्रावग्रहैकांतोप्येतेनैव निराकृतः॥३८॥

जाएगी तो) उन धारणादि को मूलकारण मानकर उत्पन्न हुई लोकप्रवृत्ति का विरोध हो जाएगा। अर्थात् - धारणा आदि के अनुसार बहु आदिक अर्थों में कभी भी प्रवृत्ति नहीं हो सकेगी ॥३४-३५॥

संस्काररूप धारणाज्ञान का विषयभूत बहु, बहुविध आदि अर्थों में स्मरण हो जाना विरुद्ध नहीं है। यदि धारणा द्वारा ज्ञात विषय में स्मृति होना विरुद्ध माना जायेगा तो उन विषयों में धारणा को मूल कारण मानकर उत्पन्न हुई प्रवृत्ति को कभी भी नहीं होने का प्रसंग आएगा। अर्थात् - धारणामूलक स्मृति के द्वारा ऋण लेना-देना, स्थानान्तर में जाकर अपने घर लौटना आदि अनेक प्रवृत्तियाँ देखी जाती हैं उनके अभाव का प्रसंग आयेगा। उस स्मरण ज्ञान द्वारा ज्ञात विषयों में प्रत्यभिज्ञान की प्रवृत्ति होना भी विरुद्ध नहीं है। तथा स्मृति के कारण प्रत्यभिज्ञान द्वारा जान लिये गये विषय में चिन्ताज्ञान की, और चिन्ताद्वारा विषय किये गए अर्थ में अनुमानज्ञान की प्रवृत्ति भी विरुद्ध नहीं है क्योंकि उन ज्ञेय विषयों में व्याप्तिज्ञान रूप चिन्ता की प्रतीति होती है। अर्थात्-जहाँ धुआँ होता है, वहाँ अग्नि होती है-जो कृतक है, वह अनित्य है इत्यादि व्याप्तिज्ञान प्रत्यभिज्ञेय विषय में प्रतीत होता है और व्याप्ति ज्ञान से जाने जा चुके विषय में यह पर्वत अग्निमान है, यह घट अनित्य है, इत्यादिक अनुमान ज्ञान भी देखे जाते हैं। इन पूर्व के ज्ञानों को मूल कारण मानकर उत्पन्न हुई प्रवृत्तियाँ अभ्रान्त निर्णीत होती हैं। इसका पूर्व में कथन कर दिया गया है। **बौद्ध** - सम्पूर्ण घट, पट, आकाश, आत्मा आदि अर्थों की एकक्षण तक ही स्थायीपने की प्रसिद्धि है अतः शीघ्र अवग्रह होना तो ठीक है, किन्तु अक्षिप्र अवग्रह किसी का नहीं हो सकता है क्योंकि एकक्षण से अधिक कालतक कोई भी पदार्थ स्थिर नहीं रहता है। इसके प्रत्युत्तर में ग्रन्थकार कहते हैं कि ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि ध्रौव्य, उत्पाद और व्यय से युक्त वस्तु का बहुत-बहुत युक्तियों से आगे ग्रन्थ में समर्थन करने वाले हैं। अर्थात् - वस्तु कालान्तर में रहने वाली होने से ध्रुवरूप है। यद्यपि सूक्ष्म ऋजुसूत्रनय की दृष्टि से एक पर्याय क्षणतक ठहरती है, तथापि व्यवहार नय या सकलादेशी प्रमाण द्वारा वस्तु अधिक काल तक ठहरती हुई जानी जाती है अतः ध्रुवरूप से वस्तु के अवग्रह, ईहा आदि ज्ञान हो सकते हैं॥३६-३७॥

सम्पूर्ण पदार्थ उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य इन तीन स्वभावों से युगपत् समालीढ़ हैं। अतः सम्पूर्ण पदार्थों को कूटस्थ नित्य होने के कारण अक्षिप्र अवग्रह को ही स्वीकार करने वाले कापिल के अक्षिप्र अवग्रह एकान्त का भी इस कथन के द्वारा खण्डन कर दिया गया है॥३८॥

क्षिप्रावग्रहादिवदक्षिप्रावग्रहादयः संति त्रयात्मनो वस्तुनः सिद्धेः ॥

प्राप्यकारींद्रियैर्युक्तोऽनिसृतानुक्तवस्तुनः। नावग्रहादिरित्येकेऽप्राप्यकारीणि तानि वा ॥३९॥

प्राप्यकारिभिरिंद्रियैः स्पर्शनरसनघ्राणश्रोत्रैरनिसृतस्यानुक्तस्य चार्थस्यावग्रहादिरनुपपन्न एव विरोधात्। तदुपपन्नत्वे वा न तानि प्राप्यकारीणि चक्षुर्वत्। चक्षुषोपि ह्यप्राप्तार्थपरिच्छेदहेतुत्वमप्राप्यकारित्वं तच्चानिसृतानुक्तार्थावग्रहादिहेतोः स्पर्शनादेरस्तीति केचित् ॥

तन्नानिसृतभावस्यानुक्तस्यापि च कैश्चन। सूक्ष्मैरंशैः परिप्राप्तस्याक्षैस्तैरवबोधनात् ॥४०॥

शीघ्र अवग्रह हो जाना, शीघ्र ही ईहाज्ञान हो जाना आदि के समान अक्षिप्र के अवग्रह, ईहा आदि ज्ञान भी हो जाते हैं, क्योंकि उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य, इन तीन अवयवात्मक वस्तु की प्रमाणों से सिद्धि है।

"ज्ञेय पदार्थों के साथ सम्बन्ध कर प्रत्यक्षज्ञान कराने वाली स्पर्शन इन्द्रिय, रसना इन्द्रिय, घ्राण इन्द्रिय और कर्ण इन्द्रियों के द्वारा अनिसृत वस्तु के और अनुक्त पदार्थ के साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता है अतः प्राप्यकारी इन चार इन्द्रियों द्वारा अनिसृत, अनुक्त अर्थ के अवग्रह आदि नहीं हो सकता। यदि स्पर्शन, रसना, घ्राण, श्रोत्र इन्द्रियों के द्वारा अनिसृत, अनुक्त के अवग्रह आदि ज्ञान मान लिये जायेंगे तो वे चारों इन्द्रियाँ चक्षु के समान अप्राप्यकारी हो जाएंगी। इस प्रकार कोई एक वैशेषिक कह रहा है ॥३९॥

वैशेषिक कहते हैं कि विषयों से सम्बन्ध कर ज्ञान कराने वाली प्राप्यकारी स्पर्शन, जीभ, नाक, इन चार इन्द्रियों के द्वारा अनिसृत, अनुक्त अर्थ के अवग्रह आदिक ज्ञान होना असिद्ध ही है क्योंकि इनसे अवग्रह आदि होने में विरोध है। जो प्राप्यकारी हैं वे अनिसृत, अनुक्त को नहीं जान सकते हैं और जो अनिसृत, अनुक्त अर्थों को जान रही हैं, वे सम्बन्धित विषयों को प्राप्त कर प्राप्यकारी नहीं बन सकती हैं।

उन अनिसृत अनुक्त अर्थों के अवग्रह आदि ज्ञान उपपत्ति की कारणभूत चार इन्द्रियाँ चक्षु के समान प्राप्यकारी नहीं हो सकतीं। अर्थात्-चक्षु के समान चार इन्द्रियाँ भी अप्राप्यकारी रहेंगी। चक्षु को दूरवर्ती अप्राप्त अर्थ के परिच्छेद करने का हेतुपना ही चक्षु को अप्राप्यकारित्व है और वह अप्राप्यकारीपना अनिसृत अनुक्त अर्थों के अवग्रह आदि ज्ञानों की कारणभूत स्पर्शन आदि इन्द्रियों के भी स्थित है। ऐसी दशा में चार इन्द्रियों को भी अप्राप्यकारीपना प्राप्त होता है इस प्रकार कोई कहते हैं।" अब आचार्य उत्तर देते हैं कि -

यह कहना उचित नहीं है क्योंकि अनिसृत पदार्थ और अनुक्त पदार्थों की भी उनके सूक्ष्म अंशों के द्वारा प्राप्तिरूप सम्बन्ध हो जाता है। तभी तो प्राप्त विषय का उन स्पर्शन, रसन, घ्राण, श्रोत्र इन्द्रियों के द्वारा अवग्रह आदि रूप ज्ञान होता है।

भावार्थ - बहुत दूर रखी हुई अग्नि को हम स्पर्शन इन्द्रिय से छूकर जान लेते हैं। यहाँ अग्नि के चारों ओर फैले हुए स्कन्ध पुद्गल उस अग्नि के निमित्त से उष्ण हो गये हैं। अग्नि से जली हुई लकड़ी जैसे अग्नि कही जाती है, वैसे ही अभेद दृष्टि से वे उष्णस्कन्ध अग्निस्वरूप माने जाते हैं अतः सूक्ष्म अंशों के द्वारा दूर की अग्नि को ही छूकर हमने यहाँ से स्पर्शन किया है। इसी प्रकार दूर कूटी जा रही खटाई या कुटकी का सूक्ष्म अंशों से रसना द्वारा संसर्ग होकर ही रासन प्रत्यक्ष होता है। कपूर आदि दूर रहते हुए भी कपूर के पारिणामिक छोटे-छोटे अंशों को नासिका द्वारा प्राप्त कर ही अनिसृत पदार्थ की गन्ध को सूंघा जाता है।

निसृतोक्तमथैवं स्यात्तस्येत्यपि न शंक्यते। सर्वाप्राप्तिमवेक्ष्यैवानिसृतानुक्ततास्थितेः ॥४१॥

न हि वयं कात्स्न्येंनाप्राप्तिमर्थस्यानिसृतत्वमनुक्तत्वं वा ब्रूमहे यतस्तदवग्रहादिहेतोरिंद्रियस्याप्राप्यकारित्वमायुज्यते। किं तर्हि। सूक्ष्मैरवयवैस्तद्विषयज्ञानावरणक्षयोपशमरहितजनावेद्यैः कैश्चित् प्राप्तानवभासस्य चानिसृतस्यानुक्तस्य च परिच्छेदे प्रवर्तमानमिंद्रियं नाप्राप्यकारि स्याच्चक्षुष्वेवमप्राप्यकारित्वस्याप्रतीतेः। कथं तर्हि चक्षुरनिंद्रियाभ्यामनिसृतानुक्तावग्रहादिस्तयोरपि प्राप्यकारित्वप्रसंगादिति चेन्न, योग्यदेशावस्थितेरेव

दूरवर्ती पौद्गलिक शब्द की परिणति द्वारा फैलकर छोटे-छोटे अवयवों करके कान तक आ जाने पर ही श्रावण प्रत्यक्ष होता है अतः चार इन्द्रियों के प्राप्यकारीपना होते हुए भी अनिसृत और अनुक्त अर्थों के अवग्रह आदिक ज्ञान सिद्ध हो जाते हैं॥४०॥

इस प्रकार कहने पर तो वस्तु का ज्ञान निसृत और उक्त ही है अर्थात् इन्द्रियों द्वारा जब सूक्ष्म अंश सम्बन्धित कर लिये गये हैं, तब तो वह ज्ञान निसृत और उक्त अर्थ का ही कहा जाता है। ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए क्योंकि सम्पूर्ण अंशों की अप्राप्ति का विचार करके ही अनिसृत और अनुक्त की व्यवस्था की गयी है॥४१॥

हम स्याद्वादी सम्पूर्णरूप से प्राप्ति नहीं होने को अर्थ का अनिसृतपना अथवा अनुक्तपना नहीं कहते हैं, जिससे कि सूक्ष्म अंशों से सम्बन्धित किन्तु पूर्ण अवयवों से नहीं प्राप्त उन अर्थों के अवग्रह आदि ज्ञानों की कारण स्पर्शन आदि इन्द्रियों को अप्राप्यकारीपन का आयोजन किया जाए। **शंका :** तो क्या कहते हैं? **समाधान :** सूक्ष्म अवयवों को विषय करने वाले ज्ञानावरण क्षयोपशम से रहित जीवों के द्वारा नहीं जानने योग्य ऐसे कितने ही छोटे-छोटे अवयवों द्वारा प्राप्त और अब तक नहीं प्रतिभास किये गए अनिसृत अनुक्त अर्थ के परिच्छेद करने में प्रवर्त इन्द्रियाँ अप्राप्यकारी नहीं हैं, क्योंकि चक्षु में इस प्रकार का अप्राप्यकारी प्रतीत नहीं होता है।

भावार्थ : सूक्ष्म और स्थूल अंश या मूलपदार्थ के साथ सभी प्रकार सम्बन्ध न करके चक्षु असम्बद्ध अर्थ को जानती है अतः चक्षु में अप्राप्यकारीपन है। सूक्ष्म अंशों से प्राप्ति होकर पदार्थ ज्ञान कराने वाला कल्पित अप्राप्यकारीपना चक्षु में नहीं है। प्रकरण में सूक्ष्म अवयवों से प्राप्ति होकर स्पर्शन आदि इन्द्रियों से अनिसृत अर्थ का अवग्रह किया गया है अतः चार इन्द्रियाँ अप्राप्यकारी नहीं हैं। वे सूक्ष्म अवयव सभी सामान्य जीवों द्वारा नहीं जाने जाते हैं अतः अनिसृत या अनुक्त अर्थ का वह अवग्रह किसी विशिष्ट ज्ञानी के माना गया है। **वैशेषिक** कहता है - चक्षु और मन के द्वारा अनिसृत और अनुक्त अर्थ के अवग्रह आदि ज्ञान कैसे हो सकते हैं? क्योंकि ऐसा मानने पर उन चक्षु और मन को भी प्राप्यकारीपन का प्रसंग आएगा। **अर्थात् :** सूक्ष्म अवयवों के साथ प्राप्ति की विवक्षा करने पर चक्षु और मन द्वारा अवग्रहीत अर्थ के भी प्राप्यकारीपन हो जायेगा। **जैनाचार्य** कहते हैं - ऐसा कहना उचित नहीं है क्योंकि योग्य देश में अवस्थित हो जाने को यहाँ प्राप्तिपद से कहा गया है। अर्थात् इन्द्रिय और अर्थों का योग्यदेश में स्थित रहना प्राप्ति माना गया है। पदार्थ के दूर रहते हुए भी चक्षु और मन का योग्यदेशपना बन जाता है किन्तु शेष चार

प्राप्तेरभिधानात्। तथा च रसगंधस्पर्शानां स्वग्राहिभिरिंद्रियैः स्पृष्टिबंधस्वयोग्यदेशावस्थितिः शब्दस्य श्रोत्रेण स्पृष्टिमात्रं रूपस्य चक्षुषाभिमुखतयानतिदूरास्पृष्टतयावस्थितिः। सा च यथा सकलस्य वस्त्रादेस्तथा तदवयवानां च केषांचिदिति तत्परिच्छेदिना चक्षुषा ऽ प्राप्यकारित्वमुपढौकते। स्वस्मिन्नस्पृष्टानामबद्धानां च तदवयवानां कियतां चित्तेन परिच्छेदनात् तावता चानिसृतानुक्तावग्रहादिसिद्धेः किमधिकेनाभिहितेन॥

ध्रुवस्य सेतरस्यात्रावग्रहादेर्न बाध्यते। नित्यानित्यात्मके भावे सिद्धिः स्याद्वादिनोंजसा॥४२॥

इन्द्रियों का अर्थ से सम्बन्ध हो जाने पर ही योग्य देश अवस्थान बन सकता है। वैसा होने पर रस, गंध और स्पर्शों की अपने को ग्रहण करने वाली इन्द्रियों के द्वारा स्पर्श कर और बन्ध होकर सम्बन्ध हो जाने पर अपने योग्य देश अवस्थिति है। शब्द की योग्यदेश अवस्थिति तो श्रोत्र इन्द्रिय के साथ केवल स्पर्श हो जाने पर ही मिल जाती है। तथा चक्षु के साथ रूप की योग्यदेश अवस्थिति तो अभिमुख से और अधिक दूर या अतिनिकट नहीं होकर स्पर्श नहीं करती हुई अवस्थिति होना है। अर्थात् - रस, गन्ध और स्पर्श को तो सम्बन्ध करके स्पर्शन, रसना, नासिका इन्द्रियाँ जानती हैं। किन्तु, शब्द का केवल कान से छू जाने पर ही अवग्रह कर लिया जाता है। तथा चक्षु के साथ विषय के छू जाने और बँध जाने की आवश्यकता सर्वथा नहीं है फिर भी इतनी सामग्री अवश्य चाहिए कि दृष्टव्य पदार्थ चक्षु के सन्मुख हो सके। विमुख पदार्थ तत्त्व अधिक दूर के वृक्ष, सुमेरु या अतिनिकटवर्ती अंजन, पलक, तिल को भी चक्षु नहीं देख सकती है अत: योग्य देश में अवस्थित पदार्थ को देखने वाली आँख अप्राप्यकारी मानी जाती है स्पर्शन आदि चार इन्द्रियाँ प्राप्यकारी हैं।

योग्य देश की अवस्थिति जैसे सम्पूर्ण निकले हुए वस्त्र आदि अर्थों के निसृत ज्ञान में सम्भव है, उसी प्रकार उन वस्त्र आदि के टुकड़े सूत आदि कितने ही अवयवों के निकलने पर अनि:सृत ज्ञान में भी पाये जाते हैं। इस प्रकार कुछ अवयवों को देखकर उन अवयवियों का परिच्छेद करने वाली चक्षु के अप्राप्यकारीपना प्रसिद्ध हो जाता है। **अर्थात्** - पदार्थों का कथन करने के अवसर पर कुछ अर्थों का कथन नहीं होने पर भी अभिप्राय द्वारा चक्षु से अनुक्त का अवग्रह हो जाता है। प्रतिभाशाली विद्वान् अनि:सृत और अनुक्त सुख, दु:ख इच्छाओं का मन इन्द्रिय से अवग्रह कर लेते हैं।

स्व का स्पर्श नहीं करके और बन्ध को प्राप्त नहीं हुए उस विषयी अवयवी तथा उसके कितने ही अवयवों का मन के द्वारा परिच्छेद हो जाता है। बस, उतने से ही अनिसृत, अनुक्त अर्थों के चक्षु और मन के द्वारा अवग्रह आदि प्रसिद्ध हो जाते हैं। अधिक कहने से क्या लाभ? **अर्थात्** - इस विषय में अधिक कहना व्यर्थ है। यहाँ तक अनि:सृत और अनुक्त का वर्णन किया गया है।

अब ध्रुव और अध्रुव का वर्णन करते हैं -

इस प्रकरण में ध्रुव पदार्थ के और इतर (अध्रुव) पदार्थ के अवग्रह आदि ज्ञान बाधित नहीं हैं, क्योंकि स्याद्वादियों के यहाँ निर्दोषरूप से नित्यानित्यात्मक पदार्थों में ज्ञप्ति हो रही है।

यदि कश्चिद्ध्रुव एवार्थः कश्चिदध्रुवः स्यात्तदा स्याद्वादिनस्तत्रावग्रहावबोधमाचक्षाणस्य स्वसिद्धांतबाधः स्यान्न पुनरेकमर्थं कथंचिद्ध्रुवमध्रुवं चावधारयतस्तस्य सिद्धांते सुप्रसिद्धत्वात्स तथा विरोधी बाधक इति चेत् न, तस्यापि सुप्रतीते विषयेऽनवकाशात्। प्रतीतं च सर्वस्य वस्तुनो नित्यानित्यात्मकत्वात्। प्रत्यक्षतोनुमानाच्च तस्यावबोधादन्यथा जातुचिदप्रतीतेः परमार्थतो नोभयरूपतार्थस्य तत्रान्यतरस्वभावस्य कल्पनारोपितत्वादित्यपि न कल्पनीयं नित्यानित्यस्वभावयोरन्यतरकल्पितत्वे तदविनाभाविनोपरस्यापि कल्पितत्वप्रसंगात्। न चोभयोस्तयोः कल्पितत्वे किंचिदकल्पितं वस्तुनो रूपमुपपत्तिमनुसरति यतस्तत्र व्यवतिष्ठते वायमिति तदुभयमंजसाभ्युपगंतव्यम्॥

अर्थात् : कथंचित् नित्य की अपेक्षा होने से अर्थ को ध्रुव रूप से जानता है (ध्रुव रूप से यथावस्थित अर्थ को जान लेता है।) तथा संक्लेश और विशुद्धि परिणामों से सहकृत जीव कथंचित् अनित्यपन की विवक्षा करने पर पुनः-पुनः न्यून, अधिक, अध्रुव वस्तु का परिज्ञान करता है॥४२॥

यदि कोई पदार्थ ध्रुव ही होता और कोई पदार्थ अध्रुव ही होता तब तो उस ध्रुव एकान्त या अध्रुवएकान्त पदार्थ में अवग्रह ज्ञान को कहने वाले स्याद्वादी के यहाँ स्व सिद्धांत से बाधा उपस्थित होती किन्तु एक ही पदार्थ को किसी अपेक्षा से ध्रुवस्वरूप और अन्य अपेक्षा से अध्रुवस्वरूप अवधारणा करने वाले अनेकान्तवादी के सिद्धांत में नित्य, अनित्यस्वरूप अर्थ की प्रमाणों से सिद्धि होती है, अतः ध्रुव अध्रुव की अवग्रह में कोई आपत्ति (बाधा) उपस्थित नहीं हो सकती। वस्तुओं को ध्रुव, अध्रुव स्वरूप मानने पर तो सहानवस्था दोष वा प्रसिद्ध विरोध दोष बाधक हैं, ऐसा कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि प्रमाणों से प्रतीत विषय में विरोध दोष का अवकाश नहीं है क्योंकि सम्पूर्ण वस्तुओं के नित्य, अनित्य आत्मकपना प्रतीत हो रहा है अतः विरोध दोष की सम्भावना नहीं है तथा प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण के द्वारा उन ध्रुव अध्रुव स्वरूप वस्तुओं का अबाधित ज्ञान हो रहा है। अन्यथा (एकान्त रूप से ध्रुव या केवल अध्रुव रूप से) वस्तु की कभी भी प्रतीति नहीं होती है। इस कारण ध्रुव अध्रुव पदार्थ के अवग्रह आदि ज्ञान हो जाने में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती है।

''परमार्थ से पदार्थ के ध्रुव और अध्रुव दोनों स्वरूपपना ठीक नहीं है। उन दोनों में से एक ध्रुव ही या अध्रुव ही स्वरूप से वस्तु का तदात्मकपना समुचित है। दोनों में से शेष बचा हुआ धर्म कल्पना से आरोपित है; वस्तुभूत नहीं है।'' इस प्रकार भी कल्पना नहीं करना चाहिए क्योंकि नित्य अनित्यपनारूप दो स्वभावों में से किसी एक को भी यदि कल्पित माना जाता है तो उसके साथ अविनाभाव रखने वाले दूसरे नित्यपन या अनित्यपन स्वभाव को भी कल्पितपने का प्रसंग आता है। उन दोनों स्वभावों को कल्पित मान लेने पर वस्तु का कोई भी रूप अकल्पित होता हुआ सिद्धि का अनुसरण नहीं कर सकता जिससे कि किसी भी उस वस्तु में यह निःस्वभाववादी बौद्ध अपनी व्यवस्था कर सके।

अर्थात् : किसी भी पदार्थ को यदि मुख्य, अकल्पित या अपने स्वभावों में व्यवस्थित नहीं माना जाएगा तो सम्पूर्ण भी जगत् कल्पित हो जाएगा। ऐसी दशा में बौद्ध अपनी स्वयं की सिद्धि भी नहीं कर

अर्थस्य ॥ १७ ॥

किमर्थमिदं सूत्र्यते सामर्थ्यसिद्धत्वादिति चेदत्रोच्यते;—

ननु बह्वादयो धर्माः सेतराः कस्य धर्मिणः। तेऽवग्रहादयो येषामित्यर्थस्येति सूत्रितम् ॥१॥

न कश्चिद्धर्मो विद्यते बह्वादिभ्योन्योऽनन्यो वानेकदोषानुषंगात्तदभावे न तेपि धर्माणां धर्मपरतंत्रलक्षणत्वात्स्वतंत्राणामसंभवात्। ततः केषामवग्रहादयः क्रियाविशेषा इत्याक्षिपंतं प्रतीदमुच्यते।

सकेंगे। अतः उन दोनों ध्रुव, अध्रुव स्वरूपों को सुलभता से प्रत्येक वस्तु में निर्दोष स्वीकार कर लेना चाहिए। इस प्रकार बहु आदिक बारह भेदों के अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणाज्ञान हो जाते हैं।

बहु, बहुविध आदि धर्मों के आधारभूत धर्मों को समझाने के लिए श्री उमास्वामी आचार्य अग्रिमसूत्र का प्रतिपादन करते हैं-**चक्षु आदि इन्द्रियों के विषयभूत पदार्थ को अर्थ कहते हैं। उस बहु आदि विशेषणों से विशिष्ट अर्थ के अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणाज्ञान होते हैं; स्मरण, प्रत्यभिज्ञान आदि ज्ञान भी अर्थ के ही होते हैं॥१७॥**

यह सूत्र किस प्रयोजन के लिए बनाया गया है? क्योंकि बहु आदिक धर्मों के कथन कर देने की सामर्थ्य से ही धर्म वाला अर्थ तो स्वतः प्रतीत सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार **शंका** के **उत्तर** में श्री विद्यानन्द आचार्य कहते हैं -

अल्प, अल्पविध आदि इतरों से सहित बहु, बहुविध आदि धर्म किस धर्मी के हैं? जिन बहु आदिकों के वे अवग्रह आदि चार ज्ञान हो सकें। इस प्रकार जिज्ञासा होने पर "**अर्थस्य**" ऐसा सूत्र आचार्यप्रवर श्री उमास्वामी महाराज द्वारा कहा गया है॥१॥

भावार्थ : जो कोई धर्मी को न मान कर अकेले धर्मों को ही ज्ञान विषय का स्वीकार करते हैं, जैसे कि रूप, रस तो हैं किन्तु पुद्गलद्रव्य कोई धर्मी नहीं है, ज्ञान सुख तो है, आत्मा नहीं है। उन वादियों के निराकरणार्थ '**अर्थस्य**' यह सूत्र कहा गया है।

बहु, बहुविध आदि धर्मों से सर्वथा भिन्न अथवा अभिन्न कोई धर्मी पदार्थ विद्यमान नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर अनेक दोषों के आने का प्रसंग आता है।

अर्थात् धर्मी से धर्म का सर्वथा भेद मानने पर "इस धर्मी के ये धर्म हैं।" ऐसा नियत व्यपदेश नहीं हो सकेगा। जल का उष्णता और अग्नि का धर्म शीतपना बन जायेगा। तथा धर्मी का धर्मों से अभेद मानने पर धर्मों के समान धर्मी भी अनेक हो जायेंगे। तथा उस धर्मी का अभाव हो जाने पर उसके आश्रित रहने वाले वे धर्म भी सिद्ध नहीं होते हैं। क्योंकि धर्मी के पराधीन होकर रहना धर्मों का लक्षण है। सभी धर्म धर्मी के आधीन रहते हैं। स्वतंत्र रहने वाले धर्मों की असम्भवता है। अतः अवग्रह, ईहा, आदि ज्ञप्तिकिया के विशेष किन विषयों के होते हैं? इस प्रकार आक्षेप करने वाले बौद्धों के प्रति यह सूत्र कहा गया है। बाधारहित प्रतीतियों से सिद्ध धर्मी स्वरूप अर्थ के और धर्मी के आधीनता से प्रतीति में आने वाले अन्य आदि इतरों से सहित वे बहु आदिक धर्मों की अवग्रह आदि विशेषों से परिच्छित्तियाँ ज्ञान हो जाता

अर्थस्याबाधितप्रतीतिसिद्धस्य धर्मिणो बह्वादीनां सेतराणां तत्परतंत्रतया प्रतीयमानानां धर्माणामवग्रहादय: परिच्छित्तिविशेषास्तदेकं मतिज्ञानमिति सूत्रत्रयेणैकं वाक्यं चतुर्थसूत्रापेक्षेण वा प्रतिपत्तव्यं॥

क: पुनरर्थो नामेत्याह;—

यो व्यक्तो द्रव्यपर्यायात्मार्थ: सोत्राभिसंहित:। अव्यक्तस्योत्तरे सूत्रे व्यंजनस्योपवर्णनात्॥२॥

केवलो नार्थपर्याय: सूरेरिष्टो विरोधत:। तस्य बह्वादिपर्यायविशिष्टत्वेन संविद:॥३॥

तत एव न नि:शेषपर्यायेभ्य: पराङ्मुखम्। द्रव्यमर्थो न चान्योन्यानपेक्ष्य तद्द्वयं भवेत्॥४॥

एवमर्थस्य धर्माणां बह्वादीतरभेदिनाम्। अवग्रहादय: सिद्धं तन्मतिज्ञानमीरितम्॥५॥

है। अत: वह सब एक मतिज्ञान है। इस प्रकार तीन सूत्रों के एकावयवीरूप से एक वाक्य बनाकर एक मतिज्ञान का विधान किया गया समझना चाहिए। अर्थात् अवग्रहेहावायधारणा:१ बहुबहुविधक्षिप्रानिसृतानुक्तध्रुवाणां सेतराणां २ अर्थस्य ३ इन तीनों सूत्रों का एकीभाव कर धर्मी पदार्थ के बहु आदि धर्मों का अवग्रहज्ञान होता है। ईहा आदिकज्ञान भी होते हैं। अथवा चौथा सूत्र ''तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तं'' मिलाकर इस प्रकार शब्दबोध करना कि अर्थ के बहु आदिक धर्मों का इन्द्रिय अनिन्द्रियों करके अवग्रहज्ञान होता है। ईहा आदिज्ञान भी होते हैं। अथवा चौथे सूत्र ''मति:स्मृति: संज्ञाचिन्ताभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम्'' की अपेक्षा रखते हुए उक्त तीन सूत्रों द्वारा एक वाक्य बनाकर यह अर्थ कर लेना चाहिए कि अर्थ के धर्म बहु आदि के अवग्रह आदि ज्ञान होते हुए स्मृति, प्रत्यभिज्ञान आदि ज्ञान भी हो जाते हैं। तथा तीन सूत्रों के साथ भविष्य के ''व्यंजनस्यावग्रह:'' इस चौथे सूत्र का योग कर देने पर यह अर्थ समझ लेना चाहिए कि धर्मी व्यक्त अर्थ और अव्यक्त अर्थ के बहु आदि धर्मों का अवग्रह हो जाता है। व्यक्त अर्थ के धर्मों के ईहा आदि या स्मरण आदि मतिज्ञान भी हो जाते हैं।

यह सूत्र में कहा गया अर्थ क्या पदार्थ है? इस प्रकार शिष्य की जिज्ञासा होने पर आचार्य कहते हैं-द्रव्य और पर्यायों से तदात्मक धर्मी वस्तुभूत व्यक्त पदार्थ है, वही इस प्रकरण में अर्थ शब्द से अभिप्रेत है क्योंकि अग्रिम भविष्य सूत्र में अव्यक्त व्यंजन का वर्णन किया जाएगा॥२॥

विरोध होने से धर्मी अर्थ से रहित केवल अर्थ की पर्यायें स्वरूप ही अर्थ श्री उमास्वामी आचार्य को इष्ट नहीं है।

अर्थात् : धर्मी के बिना केवल पर्यायस्वरूप धर्मों का रहना विरुद्ध है। क्योंकि बहु, बहुविध आदि पर्यायों से विशिष्ट रूप से उस अर्थ का सम्वेदन प्रसिद्ध है अत: सम्पूर्ण पर्यायों से पराङ्मुख द्रव्य भी अर्थ नहीं मानना चाहिए। तथा परस्पर एक दूसरे की अपेक्षा नहीं रखते हुए केवल द्रव्य या अकेले पर्याय ये दोनों भी स्वतंत्ररूप से अर्थ नहीं हैं अर्थात् - परमार्थ रूप से स्वकीय द्रव्य और पर्यायों के साथ तदात्मक वस्तु ही अर्थ है॥३-४॥

इस प्रकार व्यवस्थित अर्थ के बहु, अल्प आदिक बारह भेद वाले धर्मों के अवग्रह आदि ज्ञान होते

न हि धर्मी धर्मेभ्योऽन्य एव यत: संबंधासिद्धिरनुपकारात् तदुपकारे वा कार्यकारणभावापत्तेस्तयोर्धर्मधर्मिभावाभावोग्निधूमवत्। धर्मिणि धर्माणां वृत्तौ च सर्वात्मना प्रत्येकं धर्मिबहुत्वापत्ति: एकदेशेन सावयवत्वं पुनस्तेभ्योवयवेभ्यो भेदे स एव पर्यनुयोगोनवस्था च, प्रकारांतरेण वृत्तावदृष्टपरिकल्पनमित्यादिदोषोपनिपात: स्यात्। नाप्यनन्य एव यतो धर्म्येव वा धर्म एव तदन्येंतराया:। ये चोभयासत्त्वं ततोपि सर्वो व्यवहार इत्युपालंभ: संभवेत्। नापि तेनैव रूपेणान्यत्वमनन्यत्वं च धर्मधर्मिणोर्यतो

हैं। अत: इनको युक्तियों से सिद्ध मतिज्ञान कहा गया है॥५॥

स्याद्वादियों के यहाँ अपने निजधर्मां से सर्वथा भिन्न ही धर्मी नहीं माना गया है, जिससे कि अनुपकारी होने से स्वस्वामि व्यवहार के कारण षष्ठी संबंध की असिद्धि हो सकती हो। अर्थात्-भेदवादी नैयायिकों के यहाँ धर्म और धर्मी का परस्पर में उपकार नहीं होने से उन धर्मधर्मियों के सम्बन्ध की सिद्धि नहीं हो पाती है। परन्तु स्याद्वादमत में कोई विरोध नहीं है। यदि नैयायिक उन धर्मधर्मियों का परस्पर उपकार मानेंगे, तब तो उन धर्मधर्मियों के कार्यकारणभाव हो जाने का प्रसंग आयेगा, जैसे कि अग्नि और धूम का कार्यकारणभाव सम्बन्ध है। परन्तु उनमें धर्मधर्मीभाव सम्बन्ध नहीं बन सकेगा। क्योंकि समानकालीन पदार्थों में होने वाला धर्मधर्मीभाव सम्बन्ध है। और क्रम से होने वाले पदार्थों में होने वाला कार्यकारण-भाव सम्बन्ध है। धर्मी में धर्मों की वृत्ति मानने पर यदि सम्पूर्णरूप से वृत्ति मानी जायेगी तब तो धर्मी के शरीर में पूरे अंश से एक-एक धर्म के रहने पर धर्मियों के बहुतपने का प्रसंग आयेगा।

अर्थात् प्रत्येक धर्म पूरे धर्मी में समा जायेंगे तो प्रत्येक धर्म के ठहरने के लिए अनेक धर्मी चाहिए। यदि धर्मी के एक-एक देश करके उन धर्मों की वृत्ति मानी जाए तो धर्मी को सावयवत्व का प्रसंग आएगा। फ़िर उन एक-एकदेशरूप अवयवों से धर्मी का भेद ही माना जाएगा। ऐसी दशा होने पर पुन: उन अपने नियत अवयवों में भी एकदेश से ही अवयवी रहेगा और फिर वही अवयवों में पूर्णरूप से या एकदेश से रहने का प्रश्न उठाया जायेगा। इस प्रकार भेदवादी के यहाँ धर्मी में धर्मों या अवयवों की वृत्ति मानते-मानते अनवस्था दोष आयेगा। पूर्णरूप से या एकदेश से वृत्ति होना नहीं मानकर अन्य प्रकारों से वृत्ति मानने पर तो अदृष्ट की कल्पना करनी पड़ेगी। इस प्रकार अनेक दोष भेदवादियों के ऊपर आते हैं। इसलिए धर्म और धर्मी का सर्वथा भेद नहीं मानकर कंथचित् भेद मानना चाहिए।

तथा धर्मों से धर्मी सर्वथा अभिन्न भी हो, यह भी हम जैनों के यहाँ नहीं है। जिससे कि अकेला धर्मी ही रहे अथवा अकेले धर्म ही व्यवस्थित रहें। उन दोनों धर्म या धर्मियों में से एक के भी विश्लेष हो जाने पर दोनों का ही अभाव हो जाता है। अर्थात् - जो अविनाभूत तदात्मक अर्थ है, उनमें से एक का अपाय करने पर शेष बचे हुए का भी अपाय अवश्यंभावी है। तथा सर्वथा अभेद हो जाने से सभी में धर्मपने या धर्मीपने का व्यवहार हो जायेगा, यह उलाहना देना भी सम्भव नहीं हो सकता है क्योंकि स्याद्वादियों

विरोधोभयदोषसंकरव्यतिकराः प्रतिपत्तव्याः स्युः। किं तर्हि। कथंचिदन्यत्वमनन्यत्वं च यथाप्रतीति-जात्यंतरमविरुद्धं चित्रविज्ञानवत्सामान्यविशेषवद्वा सत्त्वाद्यात्मकैकप्रधानवद्वा चित्रपटवद्वेत्युक्तप्रायं। तत एव न सिद्धानामसिद्धानां वा बद्धादीनां धर्मिणि न पारतंत्र्यानुपपत्तिः कथंचित्तादात्म्यस्य ततः पारतंत्र्यस्य व्यवस्थितेः।

ने धर्म-धर्मी का सर्वथा अभेद नहीं मानकर कथंचित् अभेद माना है।

स्याद्वाद सिद्धान्त में धर्म और धर्मी में जिस रूप से भेद माना है उसी रूप से अभेद नहीं माना गया है जिससे कि विरोध दोष, उभयदोष, संकर, व्यतिकरदोष, अप्रतिपत्तिदोष आते हैं। अर्थात् - जिस स्वरूप से भेद माना जाता है उसी स्वरूप से अभेद मानने पर विरोध आता है।

भावार्थ : जब एक ही वस्तु में कथंचित् भेद और कथंचित् अभेद मानते हैं तो उन दोनों के अपेक्षणीय धर्मों का संमिश्रण हो जाने से उभयदोष, भेद-अभेद के भिन्न-भिन्न अवच्छेदकों की युगपत् प्राप्ति हो जाने से संकर दोष, परस्पर विषयों में गमन हो जाना रूप व्यतिकर दोष, भेद-अभेद अंशों में पुनः एक-एक में भेद-अभेद की कल्पना करते रहना अनवस्था दोष, वस्तु में भेद-अभेद के नियामक दोनों धर्म रहते हैं तो किस धर्म से भेद माना जाए। और किससे अभेद? इस प्रकार संशय दोष, ऐसी अव्यवस्थित दशा में वस्तु की निर्णीत प्रतिपत्ति नहीं हो सकेगी। यह अप्रतिपत्तिदोष, अनिर्णीत वस्तु का या दो विरुद्ध धर्मों के कारण वस्तु का अभाव ही कहना पड़ता है अतः अभाव दोष इन आठ दोषों की भेदाभेद उभय आत्मक रूप से प्रतीत वस्तु में संभावना नहीं है, क्योंकि प्रमाण से जान लिए गए पदार्थ में कोई दोष नहीं आते हैं।

यदि जैन विद्वान धर्म और धर्मी का भेद भी नहीं मानते हैं, अभेद भी नहीं मानते हैं तथा उस एक ही रूप से भेद-अभेद दोनों को नहीं मानते हैं, तो धर्म धर्मी को कैसे क्या मानते हैं? इस प्रकार तीव्र जिज्ञासा होने पर आचार्य कहते हैं कि-प्रतीति का अतिक्रमण नहीं कर धर्म और धर्मी का कथंचित् भेद और कथंचित् अभेद माना गया है। भेद और अभेद की जातियों से यह कथंचित् भेद-अभेद तीसरी जाति का होकर अविरुद्ध है, जैसे बौद्धों के अनेक आकारों से मिला हुआ एक चित्र विज्ञान है अर्थात् जैसे चित्रज्ञान एक आकार तथा नील, पीत आदि अनेक आकार से रहित पृथक् जाति का है, अथवा वैशेषिकों के द्वारा स्वीकृत सामान्यस्वरूप व्यापक जातियों की विशेषरूप व्याप्य जाति के समान है।

पुद्गल में पटत्व की अपेक्षा विशेषपना भी है और सत्ता, द्रव्यत्व की अपेक्षा सामान्यपना भी है। तथा कापिलों ने सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुण इन तीन की तदात्मक अवस्था रूप एक प्रकृति को माना है। त्रिगुण आत्मक वह प्रधान उन पृथक्-पृथक् तीन के त्रित्व या आकाश के एकत्व से भिन्न जाति को लिये हुए है अथवा नैयायिकों के यहाँ माना गया चित्रपट तत्त्व तो अनेक भिन्न-भिन्न रूपों से या शुद्ध एक रूप से युक्त पदार्थों की अपेक्षा पृथक् तीसरी जातिवाला पदार्थ है। इस प्रकार कितने ही एकान्तवादियों के द्वारा माने गये दृष्टान्तों से वस्तु का भेद अभेद आत्मक जात्यन्तरपना साध लेना चाहिए। इस बात को हम पहिले कितने ही स्थलों पर प्रायः कह चुके हैं।

न च तद्द्रव्यार्थतः सतां पर्यायार्थतोऽसतां धर्माणां धर्मी विरुद्ध्यतेऽन्यथैव विरोधात्। ततो द्रव्यपर्यायात्मार्थो धर्मी व्यक्तः प्रतीयतामव्यक्तस्य व्यंजनपर्यायस्योत्तरसूत्रे विधानात्। द्रव्यनिरपेक्षस्त्वर्थपर्यायः केवलो नार्थोत्र तस्याप्रमाणकत्वात्। नापि द्रव्यमात्रं परस्परं निरपेक्षं तदुभयं वा तत एव। न चैवंभूतस्यार्थस्य विवर्तानां बह्वादीतरभेदभृतामवग्रहादयो विरुध्यंते येन एवैकं मतिज्ञानं यथोक्तं न सिदध्येत्॥

अतएव कथचित् भेद-अभेद-आत्मक वस्तु के निर्णीत हो जाने से निष्पन्न अथवा नहीं निष्पन्न बहु, बहुविध आदि धर्मों की एक धर्मी में उसके परतंत्र रहने की असिद्धि नहीं है अर्थात् - धर्म धर्मियों में परस्पर पराधीनता है तथा उनके साथ कथंचित् तादात्म्य रूप से परतंत्रता की व्यवस्था है।

उस वस्तु में द्रव्यार्थिकनय से विद्यमान और पर्यायार्थिक नय से अविद्यमान धर्मों का आधारभूत धर्मी विरुद्ध नहीं है। अन्यथा (जिस अपेक्षा से विद्यमान और उसी अपेक्षा से अविद्यमान अथवा जिस अपेक्षा से अविद्यमान और उसी अपेक्षा से विद्यमान माना जाता है तो) विरोध आता है परन्तु भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से मानने पर अनेकान्तों में यथार्थ रूप से वस्तु संस्कृत हो जाती है। अतः द्रव्य और पर्यायों के साथ तदात्मक अर्थ ही यहाँ व्यक्त अधिक प्रकटधर्मी समझ लेना चाहिए। व्यंजन पर्याय स्वरूप अव्यक्त धर्मी का उत्तरवर्ती "व्यंजनस्यावग्रहः" इस सूत्र में विधान किया जाएगा। सर्वथा द्रव्य निरपेक्ष केवल अर्थ पर्याय ही यहाँ अर्थ विवक्षित नहीं है, क्योंकि उस अकेली अर्थ- पर्याय को ही वस्तुपने की ज्ञप्ति करना अप्रामाणिक है तथा पर्यायों से रहित केवल द्रव्य को ही यहाँ अर्थ नहीं लिया गया है, क्योंकि केवल द्रव्य को - पर्यायों से रहित जानना अप्रामाणिक है। अथवा परस्पर की अपेक्षा नहीं रखने वाले केवल द्रव्य या पर्याय ये दोनों भी यहाँ अर्थ नहीं हैं क्योंकि यह प्रमाण सिद्ध नहीं है। **अर्थात् :** आत्मा की अपेक्षा नहीं रखने वाला ज्ञान और ज्ञान की अपेक्षा नहीं रखने वाला आत्मा जैसे प्रमाण का विषय नहीं हैं, उसी प्रकार द्रव्य की अपेक्षा नहीं रखने वाला निराधार पर्याय और पर्यायों की अपेक्षा नहीं रखने वाला आधेय रहित द्रव्य, ये दोनों भी कोई पदार्थ नहीं हैं अतः परस्परापेक्षा द्रव्य और पर्यायों के साथ तदात्मक वस्तु ही अर्थ है। इस प्रकार वस्तुभूत अर्थ के बहु, बहुविध और उनसे इतर अल्प, अल्पविध आदि भेदों को धारने वाले पर्यायों को विषय करने वाले अवग्रह आदिक ज्ञान विरुद्ध नहीं हैं जिससे यथार्थ कहा गया एक मतिज्ञान सिद्ध नहीं हो सके।

अर्थात् : द्रव्य, पर्याय, आत्मक अर्थ के बहु आदिक बारह भेद वाले पर्यायों को विषय करने वाले अवग्रह आदि और स्मृति आदिक मतिज्ञान ही हैं। वे सब मतिज्ञान की अपेक्षा एक हैं।

प्रसंग प्राप्तों में विशेष नियम करने के लिए तथा शिष्यों की व्युत्पत्ति के लिए सूत्रकार अग्रिम सूत्र कहते हैं -

व्यंजनस्यावग्रहः ॥ १८ ॥

नारब्धव्यमिदं पूर्वसूत्रेणैव सिद्धत्वात् इत्यारेकायामाह;—

नियमार्थमिदं सूत्रं व्यंजनेत्यादि दर्शितम्। सिद्धे हि विधिरारभ्यो नियमाय मनीषिभिः ॥१॥

किं पुनर्व्यंजनमित्याह;—

अव्यक्तमत्र शब्दादिजातं व्यंजनमिष्यते। तस्यावग्रह एवेति नियमोऽब्भक्षवद्गतः ॥२॥

ईहादयः पुनस्तस्य न स्युः स्पष्टार्थगोचराः। नियमेनेति सामर्थ्यादुक्तमत्र प्रतीयते ॥३॥

अव्यक्त पदार्थ का अवग्रह ही होता है। ईहा, अवाय, धारणा, स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान नाम के मतिज्ञान ये अव्यक्त अर्थ में प्रवृत्ति नहीं करते हैं ॥१८॥

पहले के "अर्थस्य" सूत्र करके ही इस "व्यंजनस्यावग्रहः" सूत्र का प्रमेय सिद्ध हो जाने से इस सूत्र का आरब्ध नहीं करना चाहिए। इस प्रकार की शिष्य की शंका का समाधान श्री विद्यानन्द आचार्य वार्त्तिक द्वारा करते हैं -

यह "व्यंजनस्यावग्रहः" सूत्र नियम करने के लिए दिखलाया गया है क्योंकि कार्य सिद्ध हो जाने पर पुनः आरम्भ की गई विधि विचारशाली विद्वानों ने नियम करने के लिए मानी है। अर्थात् - व्यंजन अर्थ का अवग्रह हो जाना यद्यपि पूर्वसूत्र से ही सिद्ध था, किन्तु यहाँ यह दिखलाना है कि अव्यक्त वस्तु का अवग्रह ही होता है, ईहा, आदि नहीं ॥१॥

व्यंजन का क्या अर्थ है? इस प्रकार की जिज्ञासा का उत्तर है -

यहाँ अव्यक्त शब्द, स्पर्श, रस, गंध का अथवा स्पर्शवान पुद्गल, रसवान पुद्गल आदि का समुदाय ही व्यंजन इष्ट किया गया है। उस व्यंजन का अवग्रह ही होता है। इस प्रकार का नियम जलभक्षण के समान जान लेना चाहिए। अर्थात् - जैसे कोई अनुपवास करने वाला जल पीता है। इसका अभिप्राय यह है कि वह अन्न, दूध, मिष्टान्न नहीं खाकर उस दिन केवल जल ही पीता है। इस प्रकार अवधारणात्मक ज्ञान हो जाता है ॥२॥

उस अव्यक्त पदार्थ के फिर ईहा आदि मतिज्ञान नहीं होते हैं- क्योंकि वे ईहा आदि ज्ञान व्यक्तरूप से स्पष्ट अर्थ को विषय करने वाले हैं। इस प्रकार नियम करके सूत्र की सामर्थ्य से कह दिया गया अर्थ यहाँ प्रतीत हो जाता है। अर्थात्-अव्यक्त के ईहा आदि ज्ञान नहीं होते हैं। यह सूत्र में कण्ठोक्त नहीं कहा गया है। फिर भी नियम करने की सामर्थ्य से अर्थापत्ति से लब्ध हो जाता है ॥३॥

शंका : जिस प्रकार इन्द्रियों से स्पष्ट अर्थ को विषय करने वाला अर्थावग्रह होता है, उसके समान वह व्यंजनावग्रह भी स्पष्ट विषय करने वाला क्यों नहीं माना जाता है? इन्द्रियजन्य तो यह भी है।

नन्वर्थावग्रहो यद्वदक्षतः स्पष्टगोचरः। तद्वत् किं नाभिमन्येत व्यंजनावग्रहोप्यसौ ॥४॥

क्षयोपशमभेदस्य तादृशोऽसंभवादिह। अस्पष्टात्मकसामान्यविषयत्वव्यवस्थितम् ॥५॥

अध्यक्षत्वं न हि व्याप्तं स्पष्टत्वेन विशेषतः। दविष्ठपादपाध्यक्षज्ञानस्यास्पष्टतेक्षणात् ॥६॥

विशेषविषयत्वं च दिवा तामसपक्षिणां। तिग्मरोचिर्मयूखेषु भृंगपादावभासनात् ॥७॥

ननु च दूरतमदेशवर्तिनि पादपादौ ज्ञानमस्पष्टमस्मदादेरस्ति विशेषाविषयं चादित्यकिरणेषु ध्यामलाकारमधुकरचरणवदवभासनमुलूकादीनां प्रसिद्धं। न तु तदक्षजं श्रुतमस्पष्टत्वाच्छ्रुतमस्पष्टतर्कणमिति वचनात्। ततो न तेन व्यभिचारोक्षजत्वस्य हेतोः स्पष्टत्वे साध्ये व्यंजनावग्रहे धर्मिणीति कश्चित्। तन्न युक्त्यागमाविरुद्धं दविष्ठपादपादिज्ञानमक्षजमक्षान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वात् सन्निकृष्टपादपादिविज्ञानवत्।

समाधान : यहाँ अव्यक्त अर्थ का व्यंजनावग्रह करते समय उस प्रकार के स्पष्ट जानने वाले विशेष क्षयोपशम की असम्भवता है अतः व्यंजनावग्रह का अस्पष्ट स्वरूप सामान्य पदार्थ को ही विषय करना व्यवस्थित किया गया है। अर्थात् अर्थावग्रह या व्यंजनावग्रह करते समय सामान्यविशेषात्मक अर्थ एकसा है, फिर भी क्षयोपशम के अधीन ज्ञानों की प्रवृत्ति होने के कारण व्यंजनावग्रह द्वारा अव्यक्त शब्दादि के समुदाय का ही ज्ञान होता है, ईहा आदि का नहीं॥४-५॥

प्रत्यक्ष की स्पष्टता के साथ विशेषरूप से व्याप्ति नहीं है क्योंकि अधिक दूरवर्ती वृक्ष के प्रत्यक्ष ज्ञान का अस्पष्टपना देखा जाता है तथा विशेषों का विषय करना भी प्रत्यक्ष के साथ व्याप्त नहीं है। अंधकार में देखने वाले उल्लू, चिमगादड़ आदि पक्षियों को दिन में सूर्य की किरणों में भ्रमर के पैरों का प्रतिभास होता है। अर्थात् - प्रत्यक्षज्ञान होकर भी कोई-कोई ज्ञान अस्पष्टरूप से सामान्य का विषय करते हैं। स्पष्ट रूप से सभी विशेष अंशों को जान लेना प्रत्यक्षज्ञान के लिए आवश्यक नहीं है ॥६-७॥

शंका : बहुत अधिक दूर देश में स्थित वृक्ष आदि पदार्थों में हमारे जैसे अल्पज्ञानियों को अस्पष्टज्ञान होता है तथा अंधेरे में देखने वाले उल्लू आदि तामस पक्षियों को दिन के समय सूर्य की किरणों में उत्पन्न हुआ थोड़ा, काला-काला, भ्रमर के चरण समान दीख जाना विशेष अंश को विषय नहीं करने वाला प्रसिद्ध है। परन्तु विशेष का विषय नहीं करने वाला वह ज्ञान इन्द्रियों से जन्य नहीं है, प्रत्युत् अविशद होने के कारण श्रुतज्ञान है। अविशद विकल्प रूप तर्कणाएँ करने वाला ज्ञान श्रुतज्ञान होता है। इस प्रकार आर्ष ग्रन्थों में कहा गया है। अतः व्यंजनावग्रह पक्ष में स्पष्टत्व को साध्य करने पर इन्द्रियजन्यत्वपन हेतु का उस दूरवर्ती वृक्ष के ज्ञान या दिन में उल्लूक आदि का ज्ञान करके व्यभिचार दोष युक्त नहीं होता है। इसलिए अर्थावग्रह के समान व्यंजनावग्रह को भी स्पष्ट ज्ञान मानना चाहिए। ऐसा कहने वाले के प्रति आचार्य कहते हैं - उपर्युक्त किसी का कहना युक्ति और आगम से अविरुद्ध नहीं है अर्थात्-यह कथन आगम और युक्ति के विरुद्ध है।

दूरवर्ती वृक्ष के देखने को और दिन में उल्लू आदि के देखने को प्रत्यक्ष नहीं मानना, यह मत अनुमान और आगम से विरुद्ध है, क्योंकि अधिक दूरवर्ती वृक्ष आदि का ज्ञान इन्द्रियजन्य है, इन्द्रियों के

श्रुतज्ञानं वा न भवति साक्षात्परंपरया वा मतिपूर्वकत्वाभावात् तद्वदेवेति युक्तिविरुद्धमागमविरुद्धं च तस्य श्रुतज्ञानत्वं यतो धीमद्भिरनुभूयते। न चास्पष्टतर्कणं श्रुतस्य लक्षणं स्मृत्यादेरपि श्रुतत्वप्रसंगात्। मतिगृहीतेर्थेनिंद्रियबलादस्पष्टं स्वसंवेदनप्रत्यक्षादन्यत्वात्तर्कणं नानास्वरूपप्ररूपणं श्रुतमिति तस्य व्याख्याने 'श्रुतं मतिपूर्वं' इत्येतदेव लक्षणं तथोक्तं स्यात् तच्च न प्रकृतज्ञानेस्ति। न हि साक्षाच्चक्षुर्मतिपूर्वकं

साथ अन्वय, व्यतिरेक का अनुविधान करनेवाला होने से। अर्थात्-इन्द्रियों के होने पर वह ज्ञान होता है, इन्द्रियों के नहीं होने पर दूर से वृक्ष का ज्ञान या दिन में उल्लू को ज्ञान नहीं होता है। जैसे कि निकट देश के वृक्ष आदि का विशेष ज्ञान इन्द्रियों के साथ अन्वय, व्यतिरेक को अनुविधान करने वाला होने से इन्द्रियजन्य है। वस्तुत: उक्त ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं है, क्योंकि "आद्ये परोक्षम्" इस सूत्र द्वारा इन्द्रिय, अनिन्द्रियजन्य मतिज्ञान को परोक्ष माना है। किन्तु वैशेषिकों के यहाँ इन्द्रियजन्यज्ञान प्रत्यक्ष माना गया है। ये उक्त ज्ञान श्रुतज्ञान तो कैसे भी नहीं हो सकते क्योंकि इन ज्ञानों में अव्यवहित साक्षात् अथवा व्यवहित परम्परा रूप से मतिपूर्वकत्व का अभाव नहीं है। (अतिनिकटवर्ती वृक्ष के ज्ञान समान) अर्थात्-कोई आदि के श्रुतज्ञान तो साक्षात् मतिज्ञान को पूर्व मानकर उत्पन्न होते हैं और कोई श्रुतज्ञानजन्य दूसरे श्रुतज्ञान परम्परा द्वारा मतिपूर्वक होते हैं किन्तु इन दूरवर्ती वृक्ष आदि के ज्ञानों के पूर्व में मतिज्ञान का अभाव कथमपि नहीं है अत: उक्त ज्ञान श्रुतज्ञान नहीं हो सकते हैं। व्यंजन अवग्रह आदि ज्ञानों को श्रुतज्ञान कहना युक्तियों से तथा आगमप्रमाण से विरुद्ध है, क्योंकि प्रतिभाशाली विद्वानों के द्वारा आगम प्रमाण उक्त ज्ञानों में श्रुतज्ञान से भिन्नता का अनुभव किया जा रहा है।

तथा अविशदरूप से विकल्पनाएँ करना श्रुतज्ञान का लक्षण नहीं है क्योंकि ऐसा मानने पर स्मृति, तर्कज्ञान आदि को भी श्रुतज्ञानपने का प्रसंग आता है। ये ज्ञान भी अपने विषयों की अविशद विकल्पनाएँ करते हैं। यदि "अस्पष्टतर्कणं श्रुतं" इस लक्षण वाक्य का मतिज्ञान द्वारा गृहीत अर्थ में मन इन्द्रिय की सामर्थ्य से जो अविशदप्रकाशी (स्वसम्वेदनप्रत्यक्ष) से भिन्नपना होने के कारण तर्कण, नाना स्वरूपों का निरूपक श्रुतज्ञान है। ऐसा परिभाषण करने पर तो "श्रुतं मतिपूर्वं" यह लक्षण ही व्याख्यान करने के समय कह दिया गया है किन्तु वह श्रुतज्ञानपना तो प्रकरण प्राप्त दूरवर्ती ज्ञान या उल्लूक ज्ञानों में नहीं है क्योंकि वह दूर वृक्ष आदि का ज्ञान साक्षात् रूप से चक्षु इन्द्रियजन्य मतिज्ञान को कारण मानकर उत्पन्न नहीं होता है। यदि ऐसा होता तो उस स्पष्ट प्रतिभास के अव्यवहित काल पीछे उस दूरवर्ती वृक्ष आदि का अविशद प्रतिभास होने का प्रसंग आता। यह ज्ञान परम्परा से भी मतिज्ञानपूर्वक नहीं है, जैसे कि परार्थानुमान में कर्ण इन्द्रिय द्वारा आप्त के शब्द को सुनकर हेतु का ज्ञान स्वरूप पहिला श्रुतज्ञान कहा जाता है। पीछे उस श्रुतज्ञान से साध्यज्ञानरूप दूसरा श्रुतज्ञान हो जाता है। इस दूसरे श्रुतज्ञान में परम्परा से मतिज्ञान पूर्ववर्त्ती रहता है। किन्तु यहाँ दूर वृक्ष आदि के ज्ञान में परम्परा से मतिज्ञान कारण नहीं है। अत: लिङ्ग, वाच्य आदि के श्रुतज्ञान के पूर्वक से उस दूरवृक्ष आदि ज्ञान का अनुभव नहीं होता है।

तत्स्पष्टप्रतिभासानंतरं तदस्पष्टावभासनप्रसंगात्। नापि परंपरया लिंगादिश्रुतज्ञानपूर्वकत्वेन तस्याननुभवात्। न चात्र यादृशमक्षानपेक्षं पादपादि साक्षात्करणपूर्वकं प्ररूपणमस्पष्टं तादृशमनुभूयते येन श्रुतज्ञानं तदनुमन्येमहि। श्रुतस्य स्मृत्याद्यपेक्षया स्पष्टत्वात्। संस्थानादिसामान्यस्य प्रतिभासनात्। सन्निकृष्टपादपादिप्रतिभासनापेक्षया तु दविष्ठपादपादिप्रतिभासनमस्पष्टमक्षजमपीति युक्तोऽनेन व्यभिचारः प्रकृतहेतोः। अपरः प्राह। स्पष्टमेव सर्वविज्ञानं स्वविषयेन्यस्य तद्व्यवस्थापकत्वायोगादक्षप्रतिभासनवत्। ततो नास्पष्टो व्यंजनावग्रह इति नैव मन्येत स्पष्टास्पष्टावभासयोरबाधितवपुषोः स्वयं सर्वस्यानुभवात्। ननु चास्पष्टत्वं यदि ज्ञानधर्मस्तदा कथमर्थस्यास्पष्टत्वमन्यस्यास्पष्टत्वादक्षन्यस्यास्पष्टत्वेतिप्रसंगादितिचेत् तर्हि स्पष्टत्वमपि यदि ज्ञानस्य धर्मस्तदा कथमर्थस्य स्पष्टतातिप्रसंगस्य समानत्वात्। विषये विषयिधर्मस्योपचाराददोष इति चेत् तत एवान्यत्रापि न

तथा इसमें जैसे साक्षात् इन्द्रिय व्यापारपूर्वक स्पष्ट प्ररूपण है वैसा वृक्षादि इन्द्रिय अनपेक्ष अनुभव में नहीं आ रहे हैं। अर्थात् जैसे वृक्ष को साक्षात् जानकर पीछे यह आम्र वृक्ष है, इस पर रात्रि में पक्षी रहते हैं इत्यादि प्रकार के अविशद विचार जैसे इन्द्रियों की अपेक्षा से नहीं होते हैं, उसी प्रकार का विचार एकदम दूर से वृक्ष को देखने पर अनुभव में नहीं आ रहा है जिससे कि हम उसको श्रुतज्ञान मान लें। श्रुतज्ञान या स्मरणज्ञान आदि परोक्ष ज्ञानों की अपेक्षा से तो वह दूरवर्ती वृक्ष का ज्ञान स्पष्ट है क्योंकि, सामान्यरूप से सन्निवेश, ऊँचाई आदि का तो विशद प्रतिभास हो रहा है, परन्तु श्रुतज्ञान में संकेतस्मरण आदि मध्यवर्ती अपेक्षणीय प्रतीतियों का व्यवधान पड़ जाने से विशद प्रतिभास नहीं हो पाता है। अधिक निकटवर्ती वृक्ष आदि के प्रतिभास की अपेक्षा से तो अतिशय दूरवर्त्ती वृक्ष आदि के प्रतिभास को अस्पष्टपना है। वह ज्ञान इन्द्रियों से जन्य भी है। इस कारण प्रकरण प्राप्त इन्द्रियजन्य हेतु का इस दूरवर्ती वृक्ष के अस्पष्ट ज्ञान से व्यभिचार दोष उठाना युक्त ही है।

कोई दूसरा प्रतिवादी कहता है कि सम्पूर्ण विज्ञान स्पष्ट ही होते हैं क्योंकि अपने-अपने विषय को जानने में अन्य किसी को भी उन ज्ञानों की व्यवस्था करा देने का योग नहीं है। जैसे कि इन्द्रियजन्य ज्ञानों को स्वयं अपने विषय का व्यवस्थापकपना होने से स्पष्टपना नियत है अतः व्यंजनावग्रह मतिज्ञान भी अविशद नहीं है, स्पष्ट ही है। जैनाचार्य कहते हैं कि ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि बाधा को प्राप्त नहीं है शरीर (स्वरूप) जिसका, ऐसे स्पष्ट और अस्पष्ट प्रतिभासों का सम्पूर्ण प्राणियों को स्वयं अनुभव हो रहा है। अर्थात् ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम के अनुसार व्यंजनावग्रह, स्मरण, अनुमान, आगम आदि ज्ञानों को अन्य प्रतीतियों का व्यवधान पड़ जाने के कारण अविशदपना और ज्ञानावरण कर्म के विशिष्ट क्षयोपशम और क्षय के कारण स्वसम्वेदन प्रत्यक्ष, इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष, सर्वज्ञप्रत्यक्ष, इन ज्ञानों का स्पष्टपना स्वयं अनुभूत हो रहा है।

प्रश्न : व्यंजनावग्रह, स्मरण आदि ज्ञानों के अवसर पर मांना गया अस्पष्टपना यदि ज्ञान का धर्म माना जाएगा, तब तो अर्थ का अस्पष्टपना कैसे कहा जा सकता है? (अर्थात्-चेतनज्ञान का अस्पष्टपना जड़ अर्थ में तो नहीं रखा जा सकता है) यदि अन्य वस्तु के अस्पष्टत्व से दूसरे पदार्थ का अस्पष्टपना माना जाएगा तो अतिप्रसंग दोष आयेगा।

दोष:। यथैव हि दूरादस्पष्टस्वभावत्वमर्थस्य सन्निकृष्टस्पष्टताप्रतिभासेन बाध्यते तथा सन्निहितार्थस्य स्पष्टत्वमपि दूरादस्पष्टता प्रतिभासेन निराक्रियत इति नार्थ: स्वयं कस्यचित्स्पष्टोऽस्पष्टो वा स्वविषयज्ञानस्पष्टत्वास्पष्टत्वाभ्यामेव तस्य तथा व्यवस्थापनात्। नन्वेवं ज्ञानस्य कुत: स्पष्टता? स्वज्ञानत्वादिति चेन्न, अनवस्थानुषंगात्। स्वत एवेति चेत् सर्वज्ञानानां स्पष्टत्वापत्तिरित्यत्र कश्चिदाचष्टे। अक्षात्स्पष्टता ज्ञानस्येति तदयुक्तं, दविष्ठपादपादिज्ञानस्य दिवा तामसखगकुलविज्ञानस्य च स्पष्टत्वप्रसंगात्। तदुत्पादकमक्षमेव न भवति दूरतमदिवसकरप्रतापाभ्यामुपहतत्वात् मरीचिकासु तोयाकारज्ञानोत्पादकाक्षवदिति चेत् तर्हि ताभ्यामक्षस्य

उत्तर : इसके प्रत्युत्तर में जैनाचार्य कहते हैं कि स्पष्टपना यदि ज्ञान का धर्म है, तब अर्थ का स्पष्टपना कैसे कहा जा सकेगा? तुम्हारे ऊपर भी अतिप्रसंग दोष की समानता है। अर्थात्-ज्ञान के स्पष्टपने से यदि अर्थ का स्पष्टपना होने लगे तो नीम के कटुपने से देशान्तरवर्ती खांड में भी कटुता आ जाएगी।

प्रश्न : ज्ञान और ज्ञेय का घनिष्टरूप से विषयविषयी भाव सम्बन्ध हो जाने के कारण विषय-ज्ञेय में विषयी-ज्ञान के स्पष्टपने का उपचार कर लिया जाता है। अत: कोई दोष नहीं है।

उत्तर : इस प्रकार कहने पर तो हम स्याद्वादवादी भी कह सकते हैं कि अस्पष्टपने के दूसरे स्थल पर भी विषयी के धर्म का विषय में आरोप कर देने से कोई दोष नहीं आता है। अर्थात् पदार्थ के स्पष्ट न होने पर ज्ञान को अस्पष्ट कह दिया जाता है। जिस प्रकार दूर से जाने गये अर्थ का अस्पष्ट स्वभावपना वहाँ जाते-जाते ज्ञाता को अर्थ के अतिनिकटवर्ती हो जाने पर स्पष्ट प्रतिभास के द्वारा बाधित हो जाता है? उसी प्रकार सन्निकटवर्ती अर्थ का ज्ञान द्वारा आया हुआ स्पष्टपना भी हटकर दूर से देखने पर अर्थ के अस्पष्टपना प्रतिभास द्वारा निराकृत हो जाता है अत: सिद्ध हो जाता है कि किसी भी जीव के द्वारा जाना गया अर्थ स्वयं स्पष्ट अथवा अस्पष्ट नहीं है किन्तु अपने को विषय करने वाले ज्ञान के स्पष्टपन और अस्पष्टपन के द्वारा ही उस अर्थ की स्पष्टता और अस्पष्टता व्यवस्थित है। अर्थात् स्पष्ट, अस्पष्टपना तो स्वकीय ज्ञानावरण के क्षयोपशम के कारण से वस्तुत: विद्यमान है। अर्थात् ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम के अनुसार स्पष्टता और अस्पष्टता ज्ञान में ही रहती है, पदार्थ में नहीं।

शंका : इस प्रकार ज्ञान के भी स्पष्टता कैसे प्राप्त होती है? उस ज्ञान के स्वस्वरूप को जानने वाले अन्य ज्ञान से प्रकृत ज्ञान में स्पष्टता कहना तो उचित नहीं है क्योंकि ऐसा मानने पर अनवस्था दोष का प्रसंग आता है अर्थात् दूसरे ज्ञान का स्पष्टपना उसको जानने वाले तीसरे ज्ञान से और तीसरे ज्ञान का स्पष्टपना उसको जानने वाले चौथे ज्ञान से मानना पड़ेगा। यदि ज्ञान को स्पष्टपना स्वत: ही प्राप्त हो जाता है, तब तो सभी व्यंजनावग्रह, स्मरण, अनध्यवसाय आदि ज्ञानों को स्पष्टता को प्राप्त हो जायेगा। इस प्रकार किसी के कहने पर उसका **उत्तर** देने के लिए बीच में ही अनधिकारी कहता है कि ज्ञान की स्पष्टता तो इन्द्रियों से आ जाती है अर्थात् जो ज्ञान इन्द्रियों से जन्य है, वे स्पष्ट हैं। **ग्रन्थकार कहते हैं** कि यह उन नैयायिकों का कहना युक्ति रहित है, क्योंकि यदि इन्द्रियों से ही ज्ञान में स्पष्टपना आने लगे तो अधिक दूरवर्ती वृक्ष आदि के ज्ञान को तथा दिन में उल्लूक आदि पक्षियों के समुदाय को होने वाले ज्ञान को भी स्पष्टपने का प्रसंग आएगा।

स्वरूपमुपहन्यते शक्तिर्वा। न तावदाद्यः पक्षः तत्स्वरूपस्याविकलस्यानुभवात्। द्वितीयपक्षे तु योग्यतासिद्धिस्तद्व्यतिरेकेणाक्षशक्तेरव्यवस्थितेः। क्षयोपशमविशेषलक्षणायाः योग्यताया एव भावेंद्रियाख्यायाः स्वीकरणार्हत्वात्॥

ज्ञानस्य स्पष्टता ऽऽ लोकनिमित्तेत्यपि दूषितम्। एतेन स्थापितात्वीहा क्षायिकं च वशंकरी॥८॥

सैवास्पष्टत्वहेतुः स्याद्व्यंजनावग्रहस्य नः। गंधादिद्रव्यपर्यायग्राहिणोप्यक्षजन्मनः॥९॥

यथा स्पष्टज्ञानावरणवीर्यांतरायक्षयोपशमविशेषादस्पष्टता व्यवतिष्ठत इति नान्यो हेतुरव्यभिचारी तत्र संभाव्यते ततोर्थस्यावग्रहादिः स्पष्टो व्यंजनस्यास्पष्टोऽवग्रह एवेति सूक्तम्॥

उन दूरवर्ती वृक्ष के ज्ञान या दिन में तामस पक्षियों के ज्ञानों को उत्पन्न कराने वाली इन्द्रियाँ ही नहीं होती हैं क्योंकि, अधिक दूर देश से और सूर्य के प्रताप से वे इंद्रियाँ नष्ट हो चुकी हैं, जैसे कि चमकते हुए बालू रेत या फूले हुए कांस आदि मृगतृष्णाओं में जल का विकल्प करने वाले ज्ञान की उत्पादक इन्द्रियाँ नष्ट हो जाती हैं। इस पर आचार्य नैयायिकों से पूछते हैं कि - उन अतिशय दूर देश अथवा सूर्य प्रताप के द्वारा क्या इन्द्रियों का स्वरूप ही पूरा नष्ट कर दिया जाता है? अथवा इन्द्रियों की अभ्यन्तर शक्ति नष्ट कर दी जाती है? उनमें प्रहिला पक्ष तो ग्रहण करना उचित नहीं है, क्योंकि उन इन्द्रियों के अविकल स्वरूप का अनुभव हो रहा है। अर्थात् इन्द्रियों का आकार वैसा का वैसा ही बना हुआ है। दूसरा पक्ष लेने पर तो (प्रकृष्ट दूर देश या सूर्य किरण-प्रताप से चक्षु की शक्ति नष्ट हो जाती है) योग्यता की सिद्धि हो जाती है। योग्यता से अतिरिक्त इन्द्रियों के शक्ति की व्यवस्था नहीं हो सकती है क्योंकि भावेन्द्रिय नाम से प्रसिद्ध ज्ञानावरण कर्म के विशेष क्षयोपशमस्वरूप योग्यता ही को इन्द्रियशक्तिपना स्वीकार करना योग्य है।

ज्ञान का स्पष्टपना आलोक के निमित्त से होता है, इस प्रकार वैशेषिकों का कहना भी इस उक्त कथन से दूषित कर दिया गया है। जैसे अर्थ के स्पष्ट अवग्रह को स्थापन किया है, उसी प्रकार ईहा ज्ञान, अवाय, धारणा भी प्रतिष्ठित हो जाते हैं। मतिज्ञान और अवधि, मनःपर्ययज्ञानों में अपने क्षयोपशम के अनुसार जैसे स्पष्टपना नियमित है, वैसे ही क्षायिक केवलज्ञान में कर्मों के क्षयरूप योग्यता के कारण स्पष्टपना व्यवस्थित है। स्पष्टज्ञान को कराने वाली योग्यता ही ज्ञान के स्पष्टत्व को वश कर रही है, प्रकट कर रही है॥८॥ अस्पष्ट ज्ञान को वश करने वाली वह योग्यता ही ज्ञान के अस्पष्टपन का कारण है। गंध, रस, स्पर्श इनसे युक्त पुद्गल द्रव्य अथवा इन गुण या द्रव्यों की सुगन्ध, उष्णता आदि पर्यायों अथवा शब्दस्वरूप पर्यायों को ग्रहण करने वाले तथा चार इन्द्रियों से उत्पन्न व्यंजनावग्रह को हम स्याद्वादियों के यहाँ अस्पष्ट माना गया है॥९॥

जिस प्रकार ज्ञानावरण के स्पष्ट क्षयोपशम से कतिपय ज्ञानों का स्पष्टपना व्यवस्थित है, उसी प्रकार ज्ञानावरण और वीर्यान्तराय के अस्पष्टक्षयोपशमविशेष से किन्हीं ज्ञानों का अस्पष्टपना व्यवस्थित है। इस प्रकार ज्ञान के स्पष्टपन और अस्पष्टपन की व्यवस्था है। इसके अतिरिक्त अन्य कोई हेतु उनकी व्यवस्था करने में व्यभिचारदोष रहित संभव नहीं है अतः अर्थ (वस्तु) के बहु आदि धर्मों के अवग्रह ईहा आदि कतिपय मतिज्ञान स्पष्ट हैं और अव्यक्त अर्थ का केवल एक अवग्रह ही अस्पष्ट होता है। ऐसा कहना भी युक्त है।

न चक्षुरनिन्द्रियाभ्याम्॥ १९ ॥

किमवग्रहेहादीनां सर्वेषां प्रतिषेधार्थमिदमाहोस्विद्व्यंजनावग्रहस्यैवेति शंकायामिदमाचष्टे;—

नेत्याद्याह निषेधार्थमनिष्टस्य प्रसंगिनः। चक्षुर्मनोनिमित्तस्य व्यंजनावग्रहस्य तत्॥१॥

व्यंजनावग्रहो नैव चक्षुषानिंद्रियेण च। अप्राप्यकारिणा तेन स्पष्टावग्रहहेतुना॥२॥

प्राप्यकारींद्रियैश्चार्थे प्राप्तिभेदाद्धि कुत्रचित्। तद्योग्यतां विशेषां वाऽस्पष्टावग्रहकारणम्॥३॥

यथा नवशरावादौ द्वित्र्याद्यास्तोयबिंदवः। अव्यक्तामार्द्रतां क्षिप्ताः कुर्वंति प्राप्यकारिणः॥४॥

उक्त सूत्रानुसार सम्पूर्ण इन्द्रियों के द्वारा सामान्यरूप करके व्यंजनावग्रह हो जाने का प्रसंग प्राप्त होने पर जिन इन्द्रियों से व्यंजनावग्रह होने की सर्वथा असम्भवता है, उन दो इन्द्रियों द्वारा व्यंजनावग्रह का निषेध करने के लिए आचार्य सूत्र कहते हैं- **चक्षु इन्द्रिय और अनिन्द्रिय के द्वारा व्यंजनावग्रह नहीं होता है, शेष चार इन्द्रियों से ही होता है, चक्षु और मन के द्वारा व्यक्त अर्थ का ही ज्ञान होता है, अव्यक्त का नहीं॥१९॥**

अव्यक्त अर्थ के अवग्रह, ईहा आदिक सभी ज्ञानों का निषेध करने के लिए यह सूत्र कहा है? अथवा अव्यक्त अर्थ के व्यंजनावग्रह के ही निषेधार्थ यह सूत्र कहा है-ऐसी शंका होने पर आचार्य कहते हैं कि -

पूर्व में कहे गये "व्यंजनस्यावग्रहः" इस सूत्रानुसार चक्षु और मन के निमित्त से भी व्यंजनावग्रह हो जाने का प्रसंग आता है, जो कि इष्ट नहीं है अतः प्रसंग प्राप्त उस अनिष्ट चक्षु और मन के निमित्त से होने वाले व्यंजनावग्रह का निषेध करने के लिए "न चक्षुरनिन्द्रियाभ्यां" यह सूत्र कहा गया है। अतः स्पष्ट अवग्रह का हेतु ज्ञेयविषयों को प्राप्त नहीं कर ज्ञान कराने वाले चक्षु और मन के द्वारा व्यंजनावग्रह नहीं होता है। अर्थात् स्पष्ट अवग्रह के कारण उन चक्षु और मन के द्वारा अव्यक्त अर्थ का अवग्रह नहीं होता है। अतः अव्यक्त अर्थ के ईहा आदि ज्ञान चक्षु और मन तथा अन्य स्पर्शन आदि इन्द्रियों से नहीं होते हैं। पूर्व सूत्र में अव्यक्त अर्थ का व्यंजन अवग्रह होना ही बताया गया है अतः अव्यक्त विषय में छहों इन्द्रियों करके ईहा, अवाय आदि मतिज्ञानों का निषेध हो जाता है। तथा व्यक्त अर्थ में ही स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, अनुमान आदि ज्ञान उत्पन्न होते हैं॥१-२॥

विषय को प्राप्त होकर ज्ञान कराने वाली इन्द्रियों के द्वारा अर्थ में प्राप्ति हो जाने के भेद से कहीं-कहीं अस्पष्ट अवग्रह के कारण उस योग्यता विशेष को प्राप्त कर व्यंजनावग्रह होता है। अर्थात् स्पष्ट अर्थ का स्पर्शना या स्पर्श करके ही श्रोत्र, त्वक्, रसना, घ्राण इन्द्रियों के द्वारा अस्पष्ट अवग्रह की योग्यता प्राप्त होने पर व्यंजनावग्रह मतिज्ञान होता है॥३॥

जिस प्रकार मिट्टी के नये सिकोरा आदि बर्तनों में पानी की दो, तीन, चार आदि बूंदें प्राप्यकारी होकर अव्यक्त गीलेपन को करती हैं, परन्तु लगातार जलबिन्दुओं के डालते रहने पर वे ही जलबिन्दुएँ उस

पौन:पुन्येन विक्षिप्ता व्यक्तां तामेव कुर्वते। तत्प्राप्तिभेदतस्तद्वदिंद्रियाण्यप्यवग्रहम् ।।५।।
अप्राप्तिकारिणी चक्षुर्मनसी कुरुतः पुनः। व्यक्तामर्थपरिच्छित्तिमप्राप्तेरविशेषतः ।।६।।
यथायस्कांतपाषाणः शल्याकृष्टिं स्वशक्तितः। करोत्यप्राप्तिकारीति व्यक्तिमेव शरीरतः ।।७।।

न हि यथा स्वार्थयोः स्पृष्टिलक्षणाप्राप्तिरन्योपचयस्पृष्टितारतम्याद्भिद्यते तथा तयोरप्राप्तिर्देशव्यवधानलक्षणापि कार्त्स्न्येनास्पृष्टेरविशेषात्। तद्व्यवधायकदेशास्पदादप्राप्तिरपि भिद्यत एवेति चेत् किमयं पर्युदासप्रतिषेधः प्रसज्यप्रतिषेधो वा ? प्रथमपक्षेऽक्षार्थाप्राप्तिरन्या न वार्थः पुनरेवं "नञिव युक्तमन्यसदृशाधिकरणे तथा ह्यर्थगतिः" इति वचनात् सा च नावग्रहादेः कारणमिति तद्भेदेपि कुतस्तद्भेदः।

व्यक्त आर्द्रता को कर देती हैं। क्योंकि व्यक्त, अव्यक्त गीला करने में उन जलबिन्दुओं की पात्र के साथ प्राप्ति विशिष्ट प्रकार की है, उसी प्रकार प्रथम इन्द्रियों के द्वारा अव्यक्त अवग्रह होता है पुनः तदनन्तर व्यक्त अवग्रह होता है ।।४-५।।

किन्तु फिर अप्राप्यकारी चक्षु और मन ये दो इन्द्रियाँ व्यक्त अर्थज्ञप्ति को करती हैं। अर्थात् अप्राप्यकारी होने से चक्षु और मन से व्यंजनावग्रह नहीं होता है क्योंकि दोनों इन्द्रियों में अप्राप्ति होने का कोई अन्तर नहीं है। जैसे दूर से लोहे को खींचने वाला चुम्बक पत्थर अपनी शक्ति से ही सुई, बाण आदि का आकर्षण कर लेता है। इस कारण वह चुम्बक पाषाण आकर्ष्य विषय के साथ प्राप्ति नहीं करता हुआ अपनी शक्ति से ही खेंचना रूप कार्य को व्यक्त ही कर देता है।।६-७।।

भावार्थ - जैसे चुम्बक अप्राप्य लोहे को खींचता है। परन्तु अति दूरवर्ती, अतीत, अनागत और व्यवहित को नहीं खींचता है, उसी प्रकार अप्राप्यकारी चक्षु भी अप्राप्य को ग्रहण करके भी अतिदूरवर्ती, अतीत, अनागत और व्यवहित को ग्रहण नहीं करती है। तथा एक चुम्बक दूर से लोहे को खींचता है और दूसरा दूर से तो खींच नहीं सकता है, किन्तु लोहे का स्पर्श हो जाने पर उसको खींचे रहता है। ऐसी ही दशा अप्राप्यकारी और प्राप्यकारी इन्द्रियों की समझ लेना।

जैसे स्व यानी इन्द्रियाँ और अर्थ का स्पर्श हो जाना स्वरूप प्राप्ति दूसरे के साथ न्यून अधिक, एकदेश सर्वदेश आदि छूने के तारतम्य से भेद रूप होती हैं, उस प्रकार उन इन्द्रिय और विषयों की दैशिक व्यवधान लक्षण स्वरूप अप्राप्ति भिन्न-भिन्न नहीं होती है क्योंकि अपने पूर्ण स्वरूप से दूरदेशवर्ती विषय के साथ अस्पर्श होने का कोई अन्तर नहीं है अर्थात्-प्राप्यकारी चार इन्द्रियों की विषय के साथ भावरूप प्राप्ति का तो भेद हो सकता है, किन्तु अप्राप्यकारी दो इन्द्रियों की विषयों के साथ अभावस्वरूप अप्राप्ति पृथक्-पृथक् नहीं है।

उन दोनों के मध्य में अन्तराल कराने वाले देशों का आधान हो जाने से अप्राप्ति भी तो भिन्न-भिन्न हो जाती है। इस प्रकार किसी के कहने पर जैनाचार्य कहते हैं कि वह अप्राप्ति शब्द में पड़ा हुआ यह "नञ्" क्या उत्तरपद के पूर्व में मिलरहा और तद्भिन्न तत्सदृश को ग्रहण करने वाला पर्युदास निषेध है? अथवा क्रिया के साथ अन्वित होकर सर्वथा निषेध करने वाला प्रसज्य अभाव है? प्रथम पक्ष ग्रहण करने पर तो इन्द्रिय

द्वितीयपक्षे तु प्राप्तेरभावोऽप्राप्तिः सा च न भिद्यतेऽ भावस्य स्वयं सर्वत्राभेदात्। कथमवग्रहाद्युत्पत्तौ सा कारणमिति चेत् तस्यां तत्प्रादुर्भावानुभवात् निमित्तमात्रत्वोपपत्तेः प्राप्तिवत् प्रधानं तु कारणं स्वावरणक्षयोपशम एवेति न किंचन विरुद्धमुत्पश्यामः। अत्र परस्य चक्षुषि प्राप्यकारित्वसाधनमनूद्य दूषयन्नाह;—

चक्षुः प्राप्तपरिच्छेदकारणं बहिरिन्द्रियात्। स्पर्शनादिवदित्येके तन्न पक्षस्य बाधनात्॥८॥

और अर्थ की अप्राप्ति तो पृथक् हो जाएगी परन्तु फिर अर्थ तो इस प्रकार अलग-अलग नहीं हो सकेगा क्योंकि परिभाषा का ऐसा वचन प्रसिद्ध है कि ''पर्युदासपक्ष में नञ् का अर्थ इवकार युक्त है। इस प्रकार नियम से अन्य सदृश अधिकरण में अर्थ की ज्ञप्ति हो जाती है। ''भूतले घटाभावः'' यहाँ घटाभाव का अर्थ घट से रहित है किन्तु वह अप्राप्ति तो चक्षु, मन द्वारा हुए अवग्रह, ईहा आदि ज्ञानों का कारण नहीं है अतः देश भेद से अप्राप्ति का भेद होने पर भी उन अवग्रह आदि ज्ञानों में भेद कैसे हो सकता है? अर्थात् नहीं।

भावार्थ : इससे यह सिद्ध होता है कि प्राप्ति का भेद हो जाने से स्पर्शन या श्रोत्रजन्य व्यंजनावग्रहों में तो कुछ अन्तर है किन्तु चक्षु, मन से उत्पन्न अर्थावग्रहों में एकसी अप्राप्ति होने के कारण अन्तर नहीं है। द्वितीय ''प्रसज्यपक्ष'' का आश्रय लेने पर तो प्राप्ति का अभाव अप्राप्ति है, किन्तु वह अप्राप्ति तो स्वयं भिन्न नहीं है। अभाव पदार्थ तो स्वयं सर्वत्र भेद नहीं रखता हुआ एकसा रहता है अतः अप्राप्यकारी इन्द्रियों के द्वारा अवग्रह एकसा होता है।

शंका : प्रसज्यरूप अप्राप्ति को अवग्रह आदि ज्ञानों की उत्पत्ति में कारण कैसे कह देते हो?

समाधान : उन चक्षु और मन के अप्राप्ति होने पर उन अवग्रह आदिकों की उत्पत्ति होने का अनुभव होता है अतः सामान्य रूप से केवल अप्राप्ति को निमित्तपना बन जाता है जैसे कि प्राप्यकारी चार इन्द्रियों द्वारा अवग्रह आदि उत्पन्न होने में प्राप्ति को सामान्य निमित्तपना बन जाता है, क्योंकि अवग्रह आदि ज्ञानों की उत्पत्ति में प्रधानकारण तो अपने-अपने आवरण कर्मों का क्षयोपशम ही है। इस प्रकार के सिद्धान्त में कोई विरुद्ध दोष नहीं दीखता है अर्थात् पुण्य और पाप या चुम्बक जैसे पदार्थ को नहीं प्राप्त कर ही खींच लेते हैं, उसी प्रकार चक्षु और मन इन्द्रियाँ अप्राप्त अर्थ को विषय कर लेती हैं, इसमें कोई दोष नहीं है।

इस प्रकरण में दूसरे विद्वानों के चक्षु में प्राप्यकारीपन के साधन को अनुवाद कर दूषित करते हुए आचार्य स्पष्ट विवेचन करते हैं -

वैशेषिक : चक्षु अपने साथ सम्बन्ध को प्राप्त अर्थ की परिच्छित्ति का कारण है, बाह्य इन्द्रिय होने से स्पर्शन, रसना आदि इन्द्रियों के समान। **जैनाचार्य -** परन्तु आपका यह मन्तव्य ठीक नहीं है, पक्ष का बाधक होने से। **भावार्थ :** बहिरिन्द्रियत्व हेतु कालात्ययापदिष्ट है। अर्थात् - सभी आँखों वाले जीव दूरवर्ती पदार्थ को ही देखते हैं। प्रत्युत् आँख के साथ सम्बन्ध को प्राप्त हुआ पदार्थ तो दीखता भी नहीं है॥८॥ पदार्थों की अप्राप्ति कर जानने वाले देखने वाले कृष्ण तारामण्डल गोलक आदि स्वरूप बाह्य का प्राप्त होना प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधित है। अर्थात् बहिरंग चक्षु जब चक्षुपद से लिए जायेंगे तब तो अर्थ की अप्राप्ति कर जानने

बाह्यं चक्षुर्यदा तावत् कृष्णतारादि दृश्यताम्। प्राप्तं प्रत्यक्षतो बाधात् तस्यार्थाप्राप्तिवेदिनः ।।९।।

शक्तिरूपमदृश्यं चेदनुमानेन बाधनम्। आगमेन सुनिर्णीतासंभवद्बाधकेन च ।।१०।।

व्यक्तिरूपस्य चक्षुषः प्राप्यकारित्वे साध्ये प्रत्यक्षेण बाध्यते पक्षोनुष्णोग्निरित्यादिवत्। प्रत्यक्षतः साध्यविपर्ययसिद्धेः। शक्तिरूपस्य तस्य तथात्वसाधनेनुमानेन बाध्यते तत एव सुनिर्णीतासंभवद्बाधकेनागमेन च। किं तदनुमानं पक्षस्य बाधकमित्याह;—

तत्राप्राप्तिपरिच्छेदि चक्षुः स्पृष्टानवग्रहात्। अन्यथा तदसंभूतेर्घ्राणादेरिव सर्वथा ।।११।।

वाली उस चक्षु की प्रत्यक्ष से ही बाधा उपस्थित होती है क्योंकि बाह्य दीखने वाली चक्षु दूर से ही जानती है, पदार्थ का स्पर्श करके नहीं; स्पर्श करके जानना-यह प्रत्यक्ष बाधित है तथा, दीखने में नहीं आने वाली कोई शक्तिरूप चक्षु तो अनुमान प्रमाण से बाधित है। बाधक प्रमाणों का असंभव होनापन जिसका निर्णीत है, ऐसे आगम प्रमाण द्वारा भी प्राप्यकारी साधने वाला अनुमान बाधित है।।९-१०।।

लौकिक जनों में प्रसिद्ध गोलकस्वरूप व्यक्तिरूप चक्षु का प्राप्यकारीपना साध्य करने पर तो प्रतिज्ञास्वरूप पक्ष प्रत्यक्षप्रमाण करके ही बाधित हो जाता है, जैसे कि अग्नि ठण्डी है, यह पक्ष स्पर्शन-प्रत्यक्ष करके बाधित है क्योंकि, शीत साध्य से विपरीत उष्णपना अग्नि में प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा सिद्ध है, उसी प्रकार प्रसिद्ध दृश्यमान गोलकरूप चक्षु का प्राप्यकारीपन साध्य से विपरीत अप्राप्यकारीपना चाक्षुषप्रत्यक्ष या स्पार्शन प्रत्यक्ष से सिद्ध है। यदि नैयायिक उस शक्तिरूप चक्षु का उस प्रकार प्राप्यकारीपना सिद्ध करेंगे, अर्थात् गोलकचक्षु के कृष्ण तारा के अग्रभाग में स्थित चक्षु की शक्ति विषय को प्राप्त कर ज्ञान कराती है - ऐसा मानेंगे तब उनका पक्ष अनुमान प्रमाण से बाधित होता है। (इसी से ही, साध्य से विपरीत अप्राप्यकारीपन की सिद्धि हो जाने से) वैशेषिकों का अनुमान सदोष होता है तथा जिसके बाधक प्रमाणों का असम्भव होना निर्णीत है, उस आगम से भी नैयायिकों का पक्ष बाधित है ''अपुट्ठं पुण पस्सदे रूवं'' छुए बिना ही चक्षु द्वारा रूप या रूपवान् पदार्थ देख लिया जाता है, इत्यादि आगम प्रसिद्ध है।

पक्ष का बाधक वह अनुमान कौनसा है? इस प्रकार वैशेषिकों की जिज्ञासा पर आचार्य कहते हैं-

चक्षु, जिस पदार्थ के साथ चक्षु की प्राप्ति नहीं है, उस अप्राप्त अर्थ की ज्ञप्ति कराने वाली है।

सर्वथा स्पर्श किये गये अंजन, पलक आदि का अवग्रहज्ञान कराने वाली नहीं होने से। अन्यथा (अप्राप्य अर्थ के परिच्छेदी को माने बिना) चक्षु को वह स्पृष्ट पदार्थ का अवग्रह नहीं होना सर्वथा असम्भव है। अर्थात्-चक्षु इन्द्रिय स्पर्श करके अवग्रह नहीं कर सकती। यदि स्पर्श करके अवग्रह नहीं है अर्थात् जो इन्द्रियाँ प्राप्त अर्थ की ज्ञप्ति कराती हैं, वे छुये हुए अर्थ का अवग्रह अवश्य कराती हैं।।११।। परन्तु चक्षु छूए पदार्थ का अवग्रह नहीं कराती है।

साध्य के अभाव में नहीं होना व्यतिरेक व्याप्ति है। उस केवल व्यतिरेक व्याप्ति वाले हेतु से उत्पन्न वैशेषिकों का अनुमान तथा स्याद्वादी सिद्धान्त में अन्यथानुपपत्ति नामक एक लक्षण वाले हेतु के योग से

केवलव्यतिरेकानुमानमन्यथानुपपत्त्येकलक्षणयोगादुपपन्नं पक्षस्य बाधकमिति भाव:। अत्र हेतोरसिद्धतामाशंक्य परिहरन्नाह;—

चक्षुषा शक्तिरूपेण तारकागतमंजनं। न स्पृष्टमिति तद्धेतोरसिद्धत्वमिहोच्यते ॥१२॥

शक्ति: शक्तिमतोन्यत्र तिष्ठतार्थेन युज्यते। तत्रस्थेन तु नैवेति कोन्यो ब्रूयाज्जडात्मन: ॥१३॥

व्यक्तिरूपाच्चक्षुष: शक्तिमतोन्यत्र दूरादिदेशे तिष्ठतार्थेन घटादिना शक्तींद्रियं युज्यते न पुनर्व्यक्तिनयनस्थेनांजनादिनेति कोन्यो जडात्मवादिनो ब्रूयात्। दूरादिदेशस्थेनार्थेन व्यक्तिचक्षुष: संबंधपूर्वकं चक्षु: संबध्यते तद्वेदनस्यान्यथानुपपत्तेरितिचेत् स्यादेतदेवं यद्यसंबंधेन तत्र वेदनमुपजनयितुं नेत्रेण न शक्येत

सिद्ध अनुमान के द्वारा उस चक्षु के प्राप्यकारीपन को साधने वाले पक्ष का बाधक हो जाता है, अर्थात् चक्षु का प्राप्यकारीपना अनुमान बाधित है यह तात्पर्य है।

इस केवल व्यतिरेकी अनुमान में दिये गए हेतु के असिद्धपन की आशंका कर पुन: उसका परिहार करते हुए आचार्य कहते हैं -

यदि वैशेषिक कहे कि शक्तिस्वरूप चक्षु के द्वारा आँख के ताराओं में लगा हुआ अंजन छुआ नहीं गया है अत: उस स्पृष्ट अनवग्रह हेतु का असिद्धपना यहाँ कहा जाता है। तो इसके उत्तर में जैनाचार्य कहते हैं कि शक्तिमान की शक्ति अन्य देश में स्थित अर्थ के साथ तो संयुक्तहो जाए परन्तु उसी शक्तिमान के देश में स्थित पदार्थ के साथ संयुक्त नहीं होवे, इस बात को जड़ आत्मा को मानने वाले नैयायिक या वैशेषिक के अतिरिक्त दूसरा कौन विद्वान् कह सकता है? अर्थात् कोई नहीं। शक्तिमान् चक्षु तो उत्तमांग में है और उसकी शक्तियाँ दूरवर्त्ती पर्वत आदि पदार्थों केसाथ जुड़ जाती हैं, क्या वे शक्तियाँ भी कहीं अपने शक्तिमान अर्थ को छोड़कर दूरदेश में ठहर सकती हैं? शक्तियाँ सशक्त में ही रहती हैं।

वे अपने शक्तिमान् आश्रय को छोड़कर अन्यत्र नहीं जा सकती हैं। अत: दूर देश में पड़े हुए पदार्थ के साथ तो चक्षु की शक्ति चिपट जाय, किन्तु चक्षु के अतिनिकट स्पृष्ट अंजन से न चिपटे, ऐसी बातों को ज्ञानी तो नहीं कह सकते हैं॥१२-१३॥

शक्ति को धारने वाले व्यक्तिरूप चक्षु से अन्य स्थल पर दूर, अतिदूर आदि देशों में स्थित घट, आदि पदार्थों के साथ तो शक्तिरूप चक्षु इन्द्रिय संयुक्त हो जाती है, किंतु फिर चक्षु में स्थित अंजन, आदि के साथ संयुक्त नहीं होती है, इस सिद्धान्त को जड़आत्मवादी के सिवाय और कौन दूसरा विज्ञ कह सकेगा? अर्थात् चैतन्यस्वरूप आत्मा को कहने वाला विद्वान् ऐसी बातों को नहीं कह सकता है अत: हमारा स्पृष्ट अर्थ का अप्रकाशकपन हेतु असिद्ध हेत्वाभास नहीं है।

अतिदूर, व्यवहित आदि देशों में स्थित अर्थ के साथ व्यक्तिरूप तैजस चक्षु का पहले सम्बन्ध होकर शक्तिरूप चक्षु उन दूरदेशी पदार्थों के साथ सम्बन्ध कर लेती है क्योंकि उन दूरदेशी पदार्थों का ज्ञान अन्यथा (चक्षु का सम्बन्ध हुए बिना) सिद्ध नहीं हो सकता है, इस प्रकार वैशेषिकों के कहने पर जैनाचार्य कहते हैं कि इस प्रकार का कहना तो तब हो सकता था कि यदि सम्बन्ध नहीं करके उन दूरदेशवर्त्ती पदार्थों

मनोवत्। न हि प्राप्तिरेव तस्य विषयज्ञानजननिमित्तमंजनादेः प्राप्तस्याप्रवेदनात्। योग्यतायास्तत्राभावात्तदप्रवेदनमिति चेत् सैवास्तु किं प्राप्तिनिर्बंधेन। योग्यतायां हि सत्यां किंचिदक्षं प्राप्तमर्थं परिच्छिनत्ति किंचिदप्राप्तमिति यथाप्रतीतमभ्युपगंतव्यं। न हि प्राप्त्यभावेऽर्थपरिच्छेदनयोग्यताक्षस्य न संभवति मनोवद्विरोधाभावात्। येन प्रतीत्यतिक्रमः क्रियते ततो न स्वरूपासिद्धो हेतुः।

पक्षाव्यापकोपि न भवतीत्याह;—

पक्षाव्यापकता हेतोर्मनस्यप्राप्यकारिणि। विरहादिति मंतव्यं नास्यापक्षत्वयोग्यतः ॥१४॥

में ज्ञान को उत्पन्न कराने के लिए मन के समान चक्षु द्वारा सामर्थ्य नहीं होता किन्तु विषय के साथ सम्बन्ध नहीं करके भी चक्षुइन्द्रिय मन के समान ज्ञान उत्पन्न करने में निमित्त हो सकती है।

उस चक्षु की विषय के साथ प्राप्ति हो जाना ही कोई विषयज्ञान को उत्पन्न करने का निमित्त नहीं है, क्योंकि आँख के साथ सर्वथा संयुक्त अंजन, आदि का वेदन नहीं होता है। यदि वैशेषिक कहें कि उस अंजन आदि में चाक्षुष प्रत्यक्ष हो जाने की योग्यता नहीं है, अतः उनका वेदन नहीं हो पाता है तो उस पर जैनाचार्य कहते हैं कि वह योग्यता ही चाक्षुषप्रत्यक्ष का निमित्त हो जायेगी। व्यर्थ ही चक्षु के साथ विषय की प्राप्ति का आग्रह करने से क्या लाभ है? स्वकीय स्वावरण क्षयोपशमरूप योग्यता के होने पर ही कोई स्पर्शन, रसना, घ्राण, श्रोत्र-इन्द्रियाँ तो प्राप्त अर्थ की परिच्छित्ति करती हैं और योग्यता होने पर कोई मन और चक्षु इन्द्रियाँ अप्राप्त अर्थ को जान लेती हैं। इस प्रकार प्रमाणसिद्ध प्रतीत पदार्थ का अतिक्रमण नहीं करके स्वीकार कर लेना चाहिए।

चक्षु, स्पर्शन आदि इन्द्रियों की विषय के साथ प्राप्ति नहीं मानने पर अर्थज्ञप्ति कराने की योग्यता ही इन्द्रियों के संभव नहीं है - यह नहीं समझना चाहिए क्योंकि मन इन्द्रिय के समान चक्षु इन्द्रिय की भी विषय के साथ प्राप्ति नहीं होने पर अर्थग्रहण योग्यता हो जाने का कोई विरोध नहीं है, जिससे कि प्रतीतियो का अतिक्रमण किया जाए। प्रत्युत प्राप्ति के बिना भी मन और चक्षुयें अर्थ को व्यक्त जानते हैं। अर्थात् बालक, वृद्ध, पशु, पक्षियों तक को चक्षु के अप्राप्यकारीपन की प्रतीति होती है अतः चक्षु में अप्राप्यकारीपन सिद्ध करने के लिए दिया गया स्पृष्ट-अनवग्रह हेतु स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास नहीं है।

यह स्पृष्टानवग्रह हेतु अपने पक्ष में अव्यापक भी नहीं है (अर्थात् पक्ष के पूरे भागों में व्याप जाता है। जो हेतु पूरे पक्ष में नहीं व्यापता है, उसको भागासिद्ध हेत्वाभास कहते हैं।) यह भागासिद्ध हेत्वाभास नहीं है, उसी को कहते हैं।

अप्राप्यकारी मन में स्पष्ट अर्थ का प्रकाशन नहीं करना रूप हेतु की पक्ष में अव्यापकता है। अर्थात् चक्षु के समान मन इन्द्रिय भी तो अप्राप्यकारी है अतः अतिनिकट पदार्थ का अवग्रह नहीं करना यह हेतु *मन में नहीं रहता है अतः मन इन्द्रिय में हेतु का विरह होने से स्पृष्ट अर्थ अप्रकाशकपना* हेतु *भागासिद्ध* है, पूरे पक्ष में व्यापक नहीं है, ऐसा नहीं मानना चाहिए क्योंकि इस मन को यहाँ अनुमान में पक्षपने की योग्यता नहीं मानी गई है। अर्थात् अकेला चक्षु ही पक्ष है इसमें स्पृष्टानवग्रह हेतु व्यापक है। अर्थात् मन

चक्षुरेव ह्यत्रपक्षीकृतं न पुनर्मनस्तस्याप्राप्यकारित्वेन प्रसिद्धत्वात् स्वयमप्रसिद्धस्य साध्यत्वेन व्यवस्थापनात्। न चेदमप्रसिद्धमित्याह;—

मनसोऽप्राप्यकारित्वं नाप्रसिद्धं प्रवादिनाम्। क्वान्यथातीतदूरादिपदार्थग्रहणं ततः ॥१५॥

न ह्यतीतादयो दूरस्थार्था मनसा प्राप्यकारिणा विषयीकर्तुं शक्या इति सर्वैः प्रवादिभिरप्राप्यकारि तदंगीकर्तव्यमन्यथातीतदूरादिवस्तुपरिच्छित्तेरनुपपत्तेः। ततो न पक्षाव्यापको हेतुः स्पृष्टानवग्रहादिति पक्षीकृते चक्षुषि भावात्। नाप्यनैकांतिको विरुद्धो वा प्राप्यकारिणि विपक्षे स्पर्शनादावसंभवादित्यतो हेतोर्भवत्येव साध्यसिद्धिः॥ इतश्च भवतीत्याह;—

का अप्राप्यकारीपना अन्य हेतु से सिद्ध किया गया है जैसे शरीर के सम्पूर्ण प्रदेशों में सुख, दुःख आदि का अवग्रह कराने वाला होने से अथवा भूत, भविष्य या दूरवर्त्ती पदार्थों का विचार करने वाला होने से मंन अप्राप्यकारी है॥१४॥

इस प्रकरणगत अनुमान में अकेला चक्षु ही पक्ष है, किन्तु मन को पक्ष नहीं किया गया है, क्योंकि मन की सभी के यहाँ अप्राप्यकारीपन से प्रसिद्धि है। अर्थात् नैयायिक, वैशेषिकों ने भी मन को प्रथम से ही अप्राप्यकारी स्वीकृत किया है। स्वयं अप्रसिद्ध को ही साध्यरूप से व्यवस्थापित किया गया है।

मन का अप्राप्यकारित्व अप्रसिद्ध नहीं है अर्थात् प्रसिद्ध ही है। इस बात को आचार्य कहते हैं-

नैयायिक, मीमांसक आदि प्रवादियों के यहाँ मन, इन्द्रिय का अप्राप्यकारीपना अप्रसिद्ध नहीं है। अन्यथा (मन को अप्राप्यकारीपन माने बिना) उस मन से अतीत काल के या दूर देशवर्त्ती पदार्थों का ग्रहण कैसे हो सकेगा? अर्थात्-मन को अप्राप्यकारी मानने पर ही भूत, भविष्य, दूर, अतिदूरवर्त्ती पदार्थों का ज्ञान हो सकेगा, अतः मन अप्राप्यकारी सिद्ध है॥१५॥

अतीत आदि कालों में रहने वाले अथवा दूर देश में स्थित अर्थ मन को प्राप्यकारी मानने पर उस प्राप्यकारी मन के द्वारा विषय नहीं किये जा सकते हैं। अर्थात्-जब वे पदार्थ वर्तमान काल, देश में विद्यमान ही नहीं हैं, तो उनके साथ मन का सम्बन्ध कथमपि नहीं हो सकता है अतः सभी प्रवादियों के द्वारा वह मन इन्द्रिय अप्राप्यकारी है ऐसा अंगीकार करना चाहिए। अन्यथा (मन को अप्राप्यकारी माने बिना) मन के द्वारा अतीत-कालीन तथा दूरदेश आदि में रहने वाले पदार्थों की परिच्छित्ति होना नहीं बन सकती। अतः "स्पृष्टानवग्रहात्" यह हेतु पक्षाव्यापक नहीं है क्योंकि यह हेतु पक्षीकृत चक्षु में पूर्णरूप से विद्यमान है।

यह स्पृष्टानवग्रह हेतु अनैकान्तिक अथवा विरुद्धहेत्वाभास भी नहीं है क्योंकि, यह हेतु स्पर्शन, रसना इन्द्रिय आदि विपक्ष में संभव नहीं है। इसलिए इस स्पृष्टानवग्रह निर्दोष हेतु से अप्राप्त अर्थ के परिच्छेदित्व साध्य की सिद्धि हो ही जाती है। दूसरे, इस हेतु से भी अप्राप्यकारीपन साध्य की चक्षु में सिद्धि होजाती है। इस बात को आचार्य कहते हैं -

काचाद्यंतरितार्थानां ग्रहाच्चाप्राप्तकारिता। चक्षुषः प्राप्यकारित्वे मनसः स्पर्शनादिवत् ॥१६॥

ननु च यद्यंतरितार्थग्रहणं स्वभावकालांतरितार्थग्रहणमिष्यते तदा न सिद्धं साधनं चक्षुषि तदभावात्। देशांतरितार्थग्रहणं चेत्तदेव साध्यं साधनं चेत्यायातं। देशांतरितार्थग्राहित्वमेव ह्यप्राप्यकारित्वमिति कश्चित् , तदसत्। चक्षुषोप्राप्तमर्थं परिच्छेत्तुं शक्तेः साध्यत्वात्तत्राप्रसिद्धत्वादप्राप्तकारणशक्तित्वस्याप्राप्यकारित्वस्येष्टत्वात्। साधनस्य पुनरंतरितार्थग्रहणस्य स्वसंवेदनप्रत्यक्षसिद्धस्याभिधानात्। ननु च काचाद्यंतरितार्थस्य प्राप्तस्यैव चक्षुषा परिच्छेदादसिद्धो हेतुरित्याशंकां परिहरन्नाह;—

विभज्य स्फटिकादींश्चेत्कथंचिच्चक्षुरंशवः। प्राप्नुवंस्तूलराश्यादीन्नश्वरान्नेति चाद्भुतम् ॥१७॥

काच, अभ्रक आदि से व्यवहित हो रहे पदार्थों का ग्रहण करने वाली होने से चक्षु के अप्राप्यकारीपना है, जैसे कि स्पर्शन, रसना आदि इन्द्रियों के समान चक्षु को भी प्राप्यकारी मानने पर चक्षु के द्वारा काच आदि से व्यवहित पदार्थ का ग्रहण नहीं हो सकेगा। अर्थात्-स्पर्शन, रसना इन्द्रियों के द्वारा काच आदि से व्यवहित पदार्थों का ज्ञान नहीं होता है, परन्तु चक्षु के द्वारा तो होता है, अतः चक्षु अप्राप्यकारी है ॥१६॥

शंका : यदि अन्तरित अर्थ का ग्रहण करना है तो स्वभावव्यवहित कालव्यवहित पदार्थों का ग्रहण करना जैनों द्वारा इष्ट किया गया है, तब तो हेतु सिद्ध नहीं है अर्थात्-असिद्ध हेत्वाभास है क्योंकि, चक्षु रूप पक्ष में वह स्वभावव्यवहित, कालव्यवहित अर्थ का ग्रहण करना हेतु नहीं है। यदि अन्तरितार्थ ग्रहण का अर्थ देशव्यवहित अर्थ का ग्रहण करना माना जायेगा तब तो वही साध्य और वही साधन हो जाता है क्योंकि देशांतरित अर्थ का ग्राहकपना (हेतु) ही तो नियम से अप्राप्यकारीपना है। दूरवर्त्ती पदार्थों को नहीं संबद्ध कर जान लेना साध्य ही तो देशान्तरित अर्थ का ग्राहकपना है। ऐसा कोई कहता है।

समाधान : उपर्युक्त कहना सत्यार्थ नहीं है, क्योंकि असंबद्ध अर्थ को जानने के लिए चक्षु की शक्ति है। अर्थात् चक्षु अप्राप्त अर्थ को जानने में समर्थ है, प्राप्य को नहीं अतः साध्य का अर्थ यही है।

अप्राप्त अर्थ का ज्ञान करा देने की कारणशक्ति से सहितपने को ही अप्राप्यकारीपना इष्ट किया है अतः शक्य, अप्रसिद्ध और इष्ट ऐसा साध्य अप्राप्यकारीपन है। तथा फिर स्वसम्वेदन प्रत्यक्ष द्वारा प्रसिद्ध हो रहे अन्तरितार्थ ग्रहण को हेतु स्वरूप का कथन किया है। देशान्तरवर्त्ती पदार्थ का चक्षु द्वारा ग्रहण सबको स्वसंवेदन से सिद्ध है अतः यह दोनों प्रतिवादियों के यहाँ प्रसिद्ध हेतु है।

शंका : काच, अभ्रक आदि से देशव्यवहित पदार्थों के साथ चक्षु का सम्बन्ध हो जाने पर ही उनका चक्षु द्वारा परिच्छेद होता है अतः चक्षु को अप्राप्यकारित्व सिद्ध करने में दिया गया काचाद्यंतरित अर्थग्रहण हेतु पक्ष में नहीं रहने के कारण असिद्ध हेत्वाभास है। इस आशंका का परिहार करते हुए श्री विद्यानन्द आचार्य कहते हैं -

यदि स्फटिक आदि कठोर पदार्थों को कथंचित् तोड़-फोड़ कर चक्षु की किरणें भीतर अर्थ के साथ प्राप्त हो जाती हैं, और नाशशील अति कोमल रुई की राशि, आदि को भेदकर भीतर घुस कर उनसे व्यवहित मनुष्य आदि का चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं कराती है, यह बड़े आश्चर्य की बात है ॥१७॥

निष्ठुरस्थिरस्वभावान् स्फटिकादीन् विभज्य नयनरश्मयः प्रकाशयंति न पुनर्मृदुनाशिस्वभावांस्तूलराश्यादीनिति किमत्यद्भुतमाश्रित्य हेतोरसिद्धतामुद्भावयंतः कथं स्वस्थाः? ॥

सामर्थ्यं पारदीयस्य यथाऽऽयस्यानुभेदने। नालांबूभाजनोद्भेदे मनागपि समीक्ष्यते ॥१८॥

काचादिभेदने शक्तिस्तथा नयनरोचिषां। संभाव्या तूलराश्यादिभिदायां नेति केचन ॥१९॥

तदप्रातीतिकं सोयं काचादिरिति निश्चयात्। विनाशव्यवहारस्य तत्राभावाच्च कस्यचित् ॥२०॥

भावार्थ : जो स्फटिक लोहे की छैनी से भी नहीं कटता है, उसको यदि चक्षु की तैजस किरणें तोड़-फोड़ कर भीतर घुस जाती हैं, तो कोमल रुई आदि में तो सुलभता से घुसकर उनके नीचे रखे हुए पदार्थ का प्रत्यक्ष कर लेना चाहिए इसमें कौनसी बाधा है?

अतीव कठिन तथा स्थिर स्वभाव वाले स्फटिक आदि पदार्थों को चीरकर उनसे व्यवहित पदार्थों के साथ भीतर संयुक्त होकर चक्षु की किरणें उन्हें प्रकाशित कर देती हैं। किन्तु फिर अधिक मृदु और अल्पकाल में नाश स्वभाव वाले रुई पिण्ड आदि पदार्थों को भेदकर इनसे व्यवहित पदार्थों को अथवा रुई आदि के मोटे मध्य भाग या तलभाग को प्रकाशित नहीं करती हैं यह सिद्धान्त तो आश्चर्यकारी है। इस प्रकार हमारे काचाद्यंतरित अर्थग्रहण हेतु की असिद्धता का उद्भावन करने वाले विद्वान् आत्मस्वभाव में स्थित कैसे कहे जा सकते हैं?

जिस प्रकार लोहे के बने हुए पदार्थों को भेदने में पारे से बने हुए पदार्थ का सामर्थ्य देखा जाता है, किन्तु तूम्बीपात्र को भेदने में पारे की बनी हुई रसायन का सामर्थ्य किंचित् भी नहीं देखा जाता है। उसी प्रकार नयनकिरणों की शक्ति काच, अभ्रक आदि का भेद करने में पर्याप्त है, किन्तु कपासपिण्ड आदि को भेदने में चक्षुकिरणों का सामर्थ्य संभव नहीं है। इस प्रकार किसी के कहने पर आचार्य कहते हैं कि उनका यह कहना प्रतीतियों द्वारा सिद्ध नहीं है क्योंकि ये वे ही काच, स्फटिक आदि हैं - इस प्रकार प्रत्यभिज्ञान द्वारा निश्चय हो रहा है। उनमें किसी भी जीव को विनष्टपने का व्यवहार नहीं होता है।

चक्षु की रश्मियाँ यदि काच आदि को भेद देतीं तो वे अवश्य टूट-फूट कर नष्ट हो जाते। किन्तु काच आदि को देखने वाले जीव ''यह वही काच है, जिसको मैं एक घड़ी पहिले से बराबर देख रहा हूँ'' ऐसा एकत्व प्रत्यभिज्ञान जगत् प्रसिद्ध है अतः चक्षु किरणों का काच आदि में प्रवेश कैसे भी संभव नहीं है ॥१८-१९-२०॥

उस काच, स्फटिक आदि का नाश होकर समान रचना वाले उनकी पुनः शीघ्र उत्पत्ति हो जाती है। इसलिए स्थूल दृष्टि वाला मनुष्य उसके नाश को नहीं जानकर वैसा ही मान लेता है, जैसे कि काट दिये गये और फिर नये उत्पन्न हुए केश, नख आदि का ये वे ही हैं, ऐसा प्रत्यभिज्ञान कर लेता है। अर्थात्- स्फटिक, काच, बार-बार टूट-फूट कर शीघ्र नवीन बन जाता है, परन्तु मन्द बुद्धि उसको नहीं जान सकता। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार मानने पर तो कहीं भी पदार्थ में ''यह नहीं है,'' ऐसा प्रत्यभिज्ञान उसके एकत्व का साधक सिद्ध नहीं हो सकेगा और ऐसी दशा में सम्पूर्ण जगत् क्षणध्वंसी है, ऐसा बौद्ध सिद्धान्त

समानसन्निवेशस्य तस्योत्पत्तेरनाशिता। जनो मन्येत निर्लूनकेशादेर्वेति चेन्मतम् ॥२१॥

न क्वचित्प्रत्यभिज्ञानमेकत्वस्य प्रसाधकं। सिद्ध्येदिति क्षणध्वंसि जगदापातमंजसा ॥२२॥

आत्माद्येकत्वसिद्धिश्चेत्प्रत्यभिज्ञानतो दृढात्। दार्ढ्यात्तत्र कुतो बाधाभावाच्चेत्प्रकृते समं ॥२३॥

न हि स्फटिकादौ प्रत्यभिज्ञानस्यैकत्वपरामर्शिनः किंचिद्बाधकमस्ति पुरुषादिवत्।

तद्भेदनाभ्युपगमे तु बाधकमस्तीत्याह;—

काचाद्यंतरितानर्थान् पश्यतश्च निरंतरं। तत्र भेदस्य निष्ठानान्नाभिन्नस्य करग्रहः ॥२४॥

सततं पश्यतो हि काचशिलादीन्नयनरश्मयो निरंतरं भिदंतीति प्रतिष्ठायां कथमभिन्नस्वभावानां तथा तस्य हस्तेन ग्रहणं तच्चेदस्ति तद्भेदाभ्युपगमं बाधिष्यत इति किं नश्चिंतया॥

सिद्ध हो जाएगा। तथा आत्मा आदि भी क्षणिक हो जाएंगे। ''यह वही आत्मा है''-इस एकत्व प्रत्यभिज्ञान को आभास मानकर स्फटिक के समान सदृश सन्निवेश वाले दूसरे आत्मा की शीघ्र उत्पत्ति मानकर आत्मा में क्षणिकत्व मान लिया जाएगा। यदि वैशेषिक कहें कि एकत्व को साधने वाले दृढ़ प्रत्यभिज्ञान से आत्मा, आकाश आदि के एकत्व की सिद्धि कर लेंगे, तब तो उस एकत्व साधक प्रत्यभिज्ञान में दृढ़ता किससे आएगी? यदि बाधा रहित होने से प्रत्यभिज्ञान की दृढ़ता मानी जाएगी, तब तो आत्मा के एकपन को साधने वाले प्रत्यभिज्ञान के समान प्रकरण प्राप्त स्फटिक के एकपन को साधने वाले प्रत्यभिज्ञान में भी वैसी ही दृढ़ता विद्यमान है अर्थात् स्फटिक टूटा-फूटा नहीं है वह का वही है, यह निर्बाध प्रतीति है। अतः इसको भी स्वीकार करना चाहिए॥२१-२२-२३॥

स्फटिक, काच आदि विषयों में एकत्व को सिद्ध करने वाले प्रत्यभिज्ञान प्रमाण का बाधक कोई प्रमाण नहीं है, जैसे कि आत्मा, आकाश आदि के एकत्व प्रत्यभिज्ञान का कोई बाधक नहीं है।

प्रत्युत वैशेषिकों के अनुसार उन स्फटिक, अभ्रक आदि का छेदन, भेदन स्वीकार करने में बाधक प्रमाण मिल जाता है। इसी बात को आचार्य कहते हैं -

तथा ऐसा मानने पर काच, स्फटिक आदि से व्यवहित अर्थों को निरंतर देखने वाले पुरुष को उसी अभिन्न काच आदि का हाथ से ग्रहण नहीं हो सकेगा क्योंकि वैशेषिक मतानुसार नयनरश्मियों के द्वारा उन काच आदि का फूट जाना सिद्ध हो चुका है। जो पदार्थ टूट-फूट चुका है, उसी पदार्थ का फिर हाथ द्वारा पकड़ना नहीं हो सकता है॥२४॥

सतत काच, शिला, स्फटिक, माला आदि को देखने वाले पुरुष की चक्षुरश्मियाँ निरन्तर उनको तोड़ती-फोड़ती रहती हैं। इस प्रकार वैशेषिक मन्तव्यानुसार सिद्ध हो जाने पर यह बताओ कि उन्हीं अभिन्न स्वभाव वाले काचशिला आदि पदार्थों का उसी प्रकार उस देखने वाले के हाथ से ग्रहण कैसे हो जाता है? अर्थात् जैसे मुद्गर, मोंगरा से घड़े के चकनाचूर हो जाने पर उसी परिपूर्ण घड़े का फिर हाथ से पकड़ना नहीं होता है,इसी प्रकार चक्षु किरणों द्वारा स्फटिक का छेदन भेदन हो जाने पर पुनः उन्हीं स्फटिक, काच आदि का ग्रहण नहीं हो सकेगा, किन्तु उन्हीं स्फटिक आदि का वह ग्रहण होता हुआ देखा जाता है। वह

विनाशानंतरोत्पत्तौ पुनर्नाशे पुनर्भवेत्। कुतो निरंतरं तेन छादितार्थस्य दर्शनम्॥२५॥

स्पर्शनेन च निर्भेदशरीरस्य महोंगिनाम्। सांतरेणानुभूयेते तस्य स्पर्शनदर्शने॥२६॥

स्फटिकादेराशूत्पादविनाशाभ्यामभेदग्रहणं निरंतरं पश्यतः संततं न तद्भेदाभ्युपगमस्य बाधकमित्ययुक्तमाश्वेव दर्शनादर्शनयोस्तत्र प्रसंगात्। स्पर्शनास्पर्शनयोश्च। न च तत्र तदा कस्यचिदुपयुक्तस्यासदर्शनास्पर्शनाभ्यां व्यवहिते दर्शनस्पर्शने समनुभूयेते। तद्विनाशस्य पूर्वोत्तरोत्पादाभ्यामाशु-

---

ग्रहण ही उन स्फटिक आदि के छेदन, भेदन के स्वीकार करने में बाधा डालेगा। उस दशा में हमको चिन्ता करने से क्या लाभ है?

विनाश के अनन्तर ही शीघ्र पुनः नवीन स्फटिक उत्पन्न हो जाता है और फिर शीघ्र चक्षुकिरणों से नष्ट कर दिया जाता है तथा फिर उत्पन्न हो जाता है। इस प्रकार वैशेषिकों के कहने पर जैनाचार्य कहते हैं कि ऐसी अवस्था में उस स्फटिक से आच्छादित अर्थ का निरन्तर दर्शन कैसे हो सकेगा?

अर्थात् चक्षुरश्मियाँ जब स्फटिक को तोड़ती-फोड़ती रहेंगी और वह क्षण-क्षण में नया उत्पन्न होता रहेगा, ऐसी दशा में चक्षुरश्मियाँ भीतर जाकर अर्थ के साथ सम्बन्ध कैसे कर सकेंगी। अर्थात् स्फटिक से ढके हुए अर्थ का दर्शन नहीं होना चाहिए, किन्तु होता है॥२५॥

संसारी प्राणियों के शरीर का तेज स्पर्शन इन्द्रिय के द्वारा (दूसरे शरीर की उष्णता का) निर्भेद रूप से अनुभव होता है। किन्तु नष्ट हो रहे उस शरीर के दर्शन और स्पर्शन तो अन्तरसहित ही अनुभूत किये जाते हैं।

जहाँ सतत उत्पाद या विनाश होता रहता है, उस पदार्थ का दर्शन और स्पर्शन तो मध्य में अभाव का अन्तराल डालकर होता है जैसे कि बादलों में बिजली दिखना अथवा चलते हुए पहिये के अरों का छूना अन्तराल सहित है। किन्तु यहाँ प्रकृत में स्फटिक का दर्शन और स्पर्शन दोनों अन्तराल रहित होते हैं ऐसी दशा में स्फटिक आदि का शीघ्रता से नाश या उत्पाद मानना उचित नहीं है॥२६॥

''स्फटिक, काच आदि का अतिशीघ्र उत्पाद और विनाश हो जाने से सादृश्य भ्रान्ति के वश निरन्तर एकपने रूप अभेद को ग्रहण करना तो सदा देखने वाले पुरुष के उन स्फटिक आदि के छेदन, भेदन स्वीकार करने का बाधक नहीं है अर्थात् घण्टों निरन्तर देखने वाले पुरुष के स्फटिक आदि का शीघ्र उत्पाद और विनाश हो जाने के कारण ''यह वही स्फटिक है'' ऐसा सादृश्य के वश अभेद ज्ञान होता है। वस्तुतः देखा जाए तो वह स्फटिक सदा चक्षु की किरणों से छिद-भिद रहा है अतः उस सादृश्यमूलक एकत्व ग्रहण से वैशेषिकों द्वारा स्फटिक का भिद जाना स्वीकार करना बाधित नहीं होता है। वैशेषिक का यह कहना अयुक्त है क्योंकि ऐसा मानने पर वहाँ शीघ्र ही दर्शन और अदर्शन हो जाने का प्रसंग आयेगा। तथा स्पर्शन और अस्पर्शन हो जाने का भी प्रसंग होगा।

भावार्थ : आँखों से एक हाथ दूर पर रखे हुए स्फटिक को हम आँखों से देख रहे हैं, हाथ से छू रहे हैं। यदि स्फटिक का उस समय वहाँ शीघ्र उत्पाद एवं विनाश माना जायेगा तो स्फटिक के नष्ट होने

भाविभ्यां तिरोहितत्वान्न तत्रादर्शनमस्पर्शनं वा स्यादिति चेत्। नन्वेवं तदुत्पादस्य पूर्वोत्तरविनाशाभ्यामाशु भाविभ्यामेव विरोधान्नदर्शनस्पर्शने माभूतां तदुत्पादयो: स्वमध्यगतविनाशतिरोधाने सामर्थ्यं भावस्वभावत्वेन बलीयस्त्वात् तद्विनाशयो: स्वमध्यगतोत्पादतिरोधानेऽभावस्वभावत्वेन दुर्बलत्वादिति चेन्न, भावाभावस्वभावयो: समानबलत्वात्। तयोरन्यतरबलीयस्त्वे युगपद्भावाभावात्मकवस्तुप्रतीतिविरोधात्। न हि वस्तुनो भाव एव कदाचित्प्रतीयते स्वरूपादिचतुष्टयेनेव पररूपादिचतुष्टयेनापि भावप्रतीतिप्रसक्ते:। न

पर उसका अदर्शन और अस्पर्शन होना चाहिए। देखना, छूना बीच-बीच में रुक जाना चाहिए। वहाँ स्फटिक का चाक्षुष प्रत्यक्ष और स्पार्शन प्रत्यक्ष करने में उपयोग लगा रहे किसी भी जीव के हो रहे दर्शन और स्पर्शन तो अदर्शन और अस्पर्शन से व्यवहित अनुभूत नहीं किये जा रहे हैं अर्थात् स्फटिक को देखने छूने वाला मनुष्य बड़ी देर तक उसी स्फटिक को देखता, छूता रहता है। अत: स्फटिक का शीघ्र उत्पाद, विनाश मानना अनुचित है।

अतिशीघ्र होने वाले पूर्व समय के उत्पाद और उत्तरवर्त्ती समय के उत्पाद के द्वारा, आगे पीछे के उत्पाद के द्वारा उस स्फटिक के मध्यवर्त्ती विनाश का तिरोभाव हो जाता है अत: उपयुक्त जीव को अदर्शन अथवा अस्पर्शन नहीं होते हैं। आगे पीछे होने वाले उत्पाद मध्य के विनाश को छिपा देते हैं। इस प्रकार वैशेषिकों के कहने पर जैनाचार्य कहते हैं कि इस प्रकार तो द्वितीय समय का पहला विनाश और चतुर्थ समय का विनाश - इन शीघ्र होने वाले दो विनाशों के द्वारा ही उस स्फटिक के तृतीय समयवर्त्ती मध्य के उत्पाद का विरोध हो जाने के कारण उस स्फटिक के दर्शन और स्पर्शन नहीं होने चाहिए।

स्फटिक के इधर-उधर के दो उत्पादों की अपने मध्य में पड़े हुए विनाश को तिरोभाव करने का सामर्थ्य है। उत्पत्ति भाव स्वरूप पदार्थ है और विनाश अभाव स्वरूप पदार्थ है। अभाव की अपेक्षा भावपक्ष विशेष बलवान होता है अत: उस स्फटिक के पर्यायों में पहले पीछे पड़े हुए दो विनाशों को अपने मध्य में प्राप्त उत्पाद के तिरोधान करने में अभावस्वभावपना हो जाने के कारण दुर्बलपना है अर्थात् अभाव को छिपा नहीं सकता परन्तु भाव अभाव को छिपा देता है।

इस प्रकार नहीं कहना चाहिए क्योंकि वस्तु के अनुजीवी, प्रतिजीवी गुणस्वरूप भाव, अभाव दोनों को समान बलसहितपना है। दोनों का सामर्थ्य बराबर एक सा है। उन भाव-अभाव दोनों में से किसी एक को यदि अधिक बलवान माना जाएगा तो युगपत् भाव अभावस्वरूप वस्तु की प्रतीति का विरोध आएगा। अर्थात् एक बलवान से दूसरे निर्बल भाव या अभाव की हत्या कर देने पर वस्तु में एक ही समय में भाव और अभाव दोनों नहीं पाये जा सकेंगे। किन्तु वस्तु सदा ही भाव, अभाव दोनों के साथ तदात्मक रूप से प्रतीत हो रही है। इसमें विरोध का अभाव है अत: भाव और अभाव दोनों समान बल वाले होते हुए वस्तु में अपना ज्ञान और अर्थक्रियाओं को कराते हैं।

वस्तु का भाव स्वभाव ही दीखे ऐसा कभी प्रतीत नहीं होता है अन्यथा स्वरूप आदि द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावों के चतुष्टय करके जैसे वस्तु का अस्तित्व माना जाता है, वैसे ही पररूप आदि द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के चतुष्टय करके भी वस्तु के सद्भाव की प्रतीति होने का प्रसंग आएगा।

चानाद्यनंतसर्वात्मकं च वस्तु प्रतिभाति यतस्तथाभ्युपगमः श्रेयान्। नाप्यभाव एव वस्तुनोनुभूयते पररूपादिचतुष्टयेनेव स्वरूपादिचतुष्टयेनाप्यभावप्रतिपत्तिप्रसंगात्। न च सर्वथाप्यसत्प्रतिभाति यतस्तदभ्युपगमोपि कस्यचित्प्रतितिष्ठेत्। प्ररूपितप्रायं च भावाभावस्वभाववस्तुप्रतिभासनमिति कृतं प्रपंचेन। सर्वथोत्पादे विनाशे च पुनः पुनः स्फटिकादौ दर्शनस्पर्शनयोः सांतरयोः प्रसंजनस्य दुर्निवारत्वात्। तदर्थोनुमीयेतेतिचेन्न, तेषां काचादेर्न भ्रांतत्वमर्थोपरक्तस्य विज्ञानस्यानुद्रतिर्नः (?)॥

भावार्थ : "सदेव सर्वं को नेच्छेत् स्वरूपादि चतुष्टयात्" वस्तु अपने स्वरूप नित्य गुण, पर्याय, अविभाग प्रतिच्छेद, नैमित्तिकस्वभाव, पर्याय शक्तियाँ, अशुद्ध द्रव्य के कालान्तर स्थायी गुण आदि स्वकीय शरीर के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से सत्स्वरूप है।

वस्तु यदि सर्वथा भावरूप ही होती तो उसमें प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, इतरेतराभाव, अत्यन्ताभाव नहीं पाये जाते और ऐसा होने पर वस्तु अनादि, अनन्त, सर्वात्मक हो जाती। अर्थात् प्रागभाव को माने बिना सम्पूर्ण घट, पट आदि पदार्थ अनादि से चले आरहे हो जाते क्योंकि प्रागभाव ही तो कार्य उत्पत्ति के प्रथम समय तक उन घटआदि के सद्भाव को रोके हुए था। जब प्रागभाव ही नहीं माना जा रहा है तो द्रव्यों की सम्पूर्ण कार्य पर्यायें अनादिकालीन हो जायेंगी और ध्वंस के नहीं मानने पर सम्पूर्ण पर्यायें अनंतकाल तक ठहरने वाली हो जाएंगी तथा एक द्रव्य की विवक्षित पर्यायों का अन्य पर्यायों में यदि अन्योन्याभाव नहीं माना जायेगा तो जो पर्याय चाहे जिस पर्यायस्वरूप हो जायेगी। जब परस्पर परिहार को करने वाला अन्योन्याभाव नहीं माना जाता है तो अन्योन्य में भेद, परस्पर में वस्तु में भेद नहीं होगा। इसी प्रकार एक द्रव्य या उसकी पर्यायों का दूसरे द्रव्य अथवा उसकी पर्यायों में त्रिकाल रहने वाला अत्यन्ताभाव नहीं माना जाएगा तो सर्व पदार्थ एक हो जायेंगे। अत्यन्ताभाव के बिना उक्त प्रकार के सांकर्य को कौन रोक सकता है?

अतः जैन सिद्धान्तानुसार द्रव्य, गुण पर्यायें, स्वरूप वस्तुएँ अपने-अपने स्वरूप में स्थित हैं और वे पदार्थ अनादि अनन्त सर्व आत्मक प्रतिभासित नहीं होते हैं जिससे कि इस प्रकार वस्तु का सद्भाव ही स्वीकार करना श्रेष्ठ समझा जाए। वस्तुतः भाव अभाव दोनों स्वभावों के तादात्म्य से पदार्थ गुंथे हुए हैं। ऐसा **देवागम स्तोत्र** में लिखा है।

अभाव एकान्त का निराकरण :

वस्तु का सर्वथा अभाव ही अनुभव में नहीं आ रहा है। क्योंकि पररूप आदि के चतुष्टय से जैसे अभाव माना जा रहा है, उसी के समान स्वरूप आदि के चतुष्टय से भी वस्तु के अभाव का ज्ञान होने का प्रसंग आयेगा। सर्वथा असत् वस्तु तो प्रतिभासित नहीं होती है जिससे कि उस अभाव एकांत का स्वीकार करना किसी शून्यवादी या तत्त्वोपप्लववादी का प्रतिष्ठित हो सके। सभी प्रामाणिक विद्वानों को भाव और अभावस्वरूप वस्तु का प्रतिभास हो रहा है। इसका पूर्व में वर्णन किया गया है अतः यहाँ अधिक विस्तार रूप कथन करने से क्या लाभ?

प्राप्तस्यांतरितार्थेन विभिन्नस्य परीक्षणात्। नार्थस्य दर्शनं सिद्ध्येदनुमा च तथैव वा॥२७॥

नन्वत्यंतपरोक्षत्वे सत्यार्थस्यानुमागतेः। विज्ञानस्योपरक्तत्वे तेन विज्ञायते कथम्॥२८॥

तथा शश्वददृश्येन वेधसा निर्मितं जगत्। कथं निश्चीयते कार्यविशेषाच्चेत्परैरपि॥२९॥

यथैवात्रास्मदादिविनिर्मितेतरच्छरीरादिविशिष्टं कार्यमुपलभ्य तस्येश्वरेणात्यंतपरोक्षेण निर्मितत्वमनुमीयते भवता तथा परैरपि विज्ञानं नीलाद्यर्थाकारविशिष्टं कार्यमभिसंवेद्य नीलाद्यर्थोनुमीयत इति समं पश्यामः। यथा च काचाद्यंतरितार्थे प्रत्यक्षता व्यवहारो विभ्रमवशादेवं बहिरर्थेपीति कुतो मतांतरं निराक्रियते?॥

वैशेषिक-मतानसार यदि स्फटिक, काच आदि का पुनः-पुनः सर्वथा उत्पाद और त्वरित-त्वरित विनाश माना जायेगा तो स्फटिक आदि में चाक्षुषप्रत्यक्ष और स्पार्शन प्रत्यक्षों को अन्तराल सहित हो जाने का प्रसंग आ जाना दुर्निवार होगा। अर्थात् स्फटिक के उत्पाद होने पर उसका दर्शन और स्पर्शन तथा स्फटिक के शीघ्र नाश होने पर उसका अदर्शन और अस्पर्शन होता रहेगा।

उसी स्फटिक की उत्तर-उत्तर सदृश पर्यायों में "यह वही स्फटिक है," ऐसा वह स्फटिक अर्थ अनुमान से ज्ञात हो जाता है। ऐसा कहना उचित नहीं है क्योंकि उन द्रष्टा, स्पृष्टा जीवों के काच आदिक के ज्ञान को भ्रान्तपना नहीं है। ज्ञेय अर्थ का ज्ञान में आकार पड़कर उपराग युक्त हो रहे विज्ञान का उद्भव हम स्याद्वादियों के यहाँ नहीं माना गया है।

स्फटिक, काच आदि से व्यवहित हो रहे अर्थ के साथ चारों ओर से प्राप्त चक्षु के द्वारा टूटे-फूटे स्फटिक का दीखना नहीं होता है। अतः चक्षु द्वारा प्राप्त अर्थ का देखना प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा सिद्ध नहीं हो सकेगा और उसी प्रकार के पूर्वोक्त अनुमान द्वारा चक्षु का अप्राप्यकारित्व सिद्ध हो चुका है॥२७॥

वैशेषिक कहता है कि स्वलक्षणस्वरूप पदार्थों के अत्यन्त परोक्ष मानने पर बौद्धों के यहाँ अर्थ की अनुमान द्वारा भी ज्ञप्ति कैसे होगी? विज्ञान को अर्थ आकार से प्रतिबिम्बित मानने पर उस ज्ञान के द्वारा अत्यन्त परोक्ष या भूत, भविष्यत् अर्थ कैसे जाना जा सकता है?॥२८॥

वैशेषिकों के यहाँ भी सर्वदा अदृश्य ईश्वर के द्वारा निर्माण किया गया यह जगत् है, यह कैसे निर्णीत किया जाता है? यदि विशेष कार्यों से सर्वज्ञ, सर्व शक्तिमान्, ईश्वर, स्रष्टा का अनुमान करोगे तो बौद्धों के द्वारा भी उसी प्रकार अत्यन्त परोक्ष अर्थ का अनुमान किया जा सकता है॥२९॥

जिस प्रकार ईश्वरसिद्धि के अवसर पर हम आदि साधारण जीवों द्वारा बनाए गए घट आदि से विभिन्न जाति के शरीर आदि विलक्षण कार्यों को देखकर उनका अत्यन्त परोक्ष ईश्वर से निर्मितपना अनुमान द्वारा जान लिया जाता है, ऐसा आपने (वैशेषिकों ने) माना है, उसी प्रकार अन्य बौद्धों के द्वारा भी नील, पीत आदि अर्थों के आकार से विशिष्ट विज्ञानस्वरूप कार्य को देखकर नील आदि अर्थों का अनुमान कर लिया जाता है। इस प्रकार हम जैन तुम बौद्ध और वैशेषिकों के यहाँ समानरूप से होना देख रहे हैं। जिस प्रकार काच आदि से व्यवहित अर्थ के प्रत्यक्ष हो जानेपन का व्यवहार वैशेषिकों के यहाँ भ्रान्तिवश होता है, उसी प्रकार विज्ञानाद्वैतवादी बौद्धों के यहाँ बहिरंग अर्थ में भी भ्रमवश ज्ञान होता है - ऐसा मान लिया जाता है। इस प्रकार तुम वैशेषिक उन बौद्धों के दूसरे मत का निराकरण कैसे कर सकोगे? अर्थात् नहीं कर सकते।

प्रत्यक्षेणाप्रबाधेन बहिरर्थस्य दर्शनम्। ज्ञानस्यांतः प्रसिद्धं चेन्नान्यथा परिकल्प्यते।।३०।।
काचाद्यंतरितार्थेपि समानमिदमुत्तरं। काचादेर्भिन्नदेशस्य तस्याबाधं विनिश्चयात्।।३१।।
यथा मुखं निरीक्षंते दर्पणे प्रतिबिंबितम्। स्वदेहे संस्पृशंतीति बाधा सिद्धात्र धीमताम्।।३२।।
तथा न स्फटिकांभोभ्रपटलावृतवस्तुनि। स्वदेशादितया तस्य तदा पश्चाच्च दर्शनात्।।३३।।

न च नयनरश्मयः प्रसिद्धाः प्रमाणसामर्थ्यादिः स्फटिकादीन् विभज्य घटादीन् प्रकाशयंतीत्याह;—

न चेक्षंतेऽस्मदादीनां स्फुरंतश्चक्षुरंशवः। सांधकारनिशीथिन्यामन्यानभिभवादपि।।३४।।
यद्यनुद्भूतरूपास्ते शक्यंते नेक्षितुं जनैः। तदा प्रमांतरं वाच्यं तत्सद्भावावबोधकम्।।३५।।

निर्बाध प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा बहिरंग घट आदि वस्तुभूत अर्थों का दर्शन तो ज्ञान के भीतर प्रसिद्ध है। अन्यथा (विज्ञानाद्वैत रूप से) कल्पित नहीं किया जा सकता है। इस प्रकार कहने पर तो हमारा भी यह उत्तर समानरूप से है कि काच, स्फटिक आदि से आच्छादित अर्थ में भी उसी का निर्बाध प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा देर तक देखना, छूना होता रहता है। काच आदि से ढके हुए भिन्न देश वाले उस अर्थ का बाधारहित विशेषरूप से निश्चत होता है अतः पदार्थ को प्राप्त नहीं करके भी चक्षु पदार्थों को जान लेती है।।३०-३१।।

जिस प्रकार मानव प्रतिबिम्बित मुख को तो दर्पण में देखते हैं और अपने शरीर में उस मुख को छूते हैं, इस प्रकार की बाधा यहाँ बुद्धिमानों के मतानुसार सिद्ध मानी गई है। अर्थात् अर्थ का ज्ञान अन्यत्र होता है और अर्थ की प्राप्ति दूसरे स्थल पर होती है। प्रतिबिम्ब प्राप्त मुख के ज्ञान में जैसी बाधा उपस्थित है, उसी प्रकार की बाधा तो स्फटिक, स्वच्छजल, अभ्रक या शुक्ल बादलों के पटल आदि से आच्छादित वस्तु के जानने में नहीं होती है क्योंकि काच आदि से ढके हुए उन पदार्थों का उस समय और पीछे कालों में भी उसी अपने देश, काल, अवस्था आदि सहित दर्शन होता रहता है। अर्थात् दो अंगुल मोटी स्फटिकशिला के ऊपर से दो अंगुल नीचे रखा हुआ पदार्थ वहाँ का वहीं और जैसे का तैसा आगे-पीछे दीखता रहता है और स्फटिक शिला भी वही दीखती, छूती रहती है, टूट-फूट नहीं गयी है। अतः चक्षु का अप्राप्यकारीपना युक्तियों से सिद्ध है।।३२-३३।।

नेत्रों की वे रश्मियाँ प्रमाणों की सामर्थ्य, युक्ति, दृष्टांत आदि से प्रसिद्ध नहीं हैं, जो स्फटिक, काच आदि को तोड़-फोड़कर भीतर के घट, चित्र, औषधि आदि पदार्थों का प्रकाश करा सकती हों। इस कथन का आचार्य स्पष्ट निरूपण करते हैं- हमारे सरीखे जीवों के चमकती हुई नेत्रकिरणें तो नहीं दिखती हैं। अन्धकार सहित काली रात में अन्य प्रकाशकों द्वारा भी अभिभव तिरस्कृत नहीं करने योग्य हम लोगों की स्फुरायमान नेत्रों की किरणें दृष्टिगोचर नहीं होती हैं।।३४।।

अस्मदादिक जीवों की वे नेत्रकिरणें अनुद्भूतरूप वाली हैं अतः अप्रकटरूप विशिष्ट होने के कारण मनुष्यों के द्वारा वे देखी नहीं जा सकती हैं। इस प्रकार वैशेषिकों के कहने पर जैनाचार्य कहते हैं कि तब तो वैशेषिकों को उन नेत्र किरणों के सद्भाव को समझाने वाला प्रमाणान्तर कहना चाहिए क्योंकि हम लोगों के नेत्र तो अब चक्षुकिरणों को देखने के लिए समर्थ नहीं हैं।।३५।।

रश्मिवल्लोचनं सर्वं तैजसत्वात् प्रदीपवत्। इति सिद्धं न नेत्रस्य ज्योतिष्कत्वं प्रसाधयेत् ।।३६।।

तैजसं नयनं सत्सु सन्निकृष्टरसादिषु। रूपस्य व्यंजकत्वाच्चेत्प्रदीपादिवदीर्यते ।।३७।।

हेतोर्दिने निशानाथमयूखैर्व्यभिचारिता। तैजसं निहितं चंद्रकांतरत्नक्षितौ भवाः ।।३८।।

तेजोनुसूत्रिता ज्ञेया गा मूलोष्णवती प्रभा। नान्या मरकतादीनां पार्थिवत्वप्रसिद्धितः ।।३९।।

चक्षुषस्तैजसत्वे साध्ये रूपस्यैव व्यंजकत्वादित्यस्य हेतोश्चंद्राद्युद्योतेन मूलोष्णत्वरहितेन पार्थिवत्वेन व्यभिचारादगमकत्वात्तैजसत्वस्यासिद्धेर्न ततो रश्मिवच्चक्षुषः सिद्ध्येत्।।

वैशेषिक अनुमान प्रमाण द्वारा नेत्रों की किरणों को सिद्ध करते हैं कि सम्पूर्ण चक्षुएँ किरणों से सहित हैं, प्रदीप कलिका के समान तेजोद्रव्य द्वारा निर्मित होने से। तैजसत्व हेतु नेत्रों के दीप्त किरणसहितत्व को सिद्ध करता है।

इस अनुमान में दिया गया तैजसत्व हेतु नेत्र के भास्वरस्वरूपवाले तेजोद्रव्य से निर्मित तैजस को सिद्ध नहीं करता है, *यदि अन्य पदार्थों के रूप, रस, गंध आदि के सन्निकृष्ट होने पर भी वह रूप का ही* व्यंजक हो जाने से, प्रदीप, सूर्य आदि के समान नयन तैजस है, तो इस प्रकार वैशेषिक के निरूपण करने पर जैनाचार्य कहते हैं ।।३६-३७।।

चक्षु में तैजसत्व को साधने के लिए दिये गए रूप का ही प्रकाशकपना हेतु का दिन में निशानाथ (चन्द्रमा) की किरणों के द्वारा व्यभिचारी होता है अर्थात् प्रभा को दृष्टान्त मान लेने पर हेतु में परकीय विशेषण नहीं है। चन्द्रकान्तमणि, पन्नारत्न आदि से भी व्यभिचार होता है। यदि चन्द्रकान्त रत्न की भूमि आदि में तैजसद्रव्य को मानकर उनमें पायी जाने वाली किरणों में तेजोद्रव्य का अन्वित सूत्र बँधा हुआ मान लेना भी उपयुक्त नहीं है, क्योंकि तेजोद्रव्य पदार्थों की प्रभा तो मूल में उष्णता से सहित होती है। मूल में उष्ण और प्रभा में भी उष्ण जो पदार्थ है, वह अग्निस्वरूप तैजस पदार्थ है, किन्तु मूल में अनुष्ण और प्रभा में उष्ण पदार्थ सूर्य तो आतपयुक्त कहा जाता है। मूल और प्रभा दोनों में उष्णतारहित पदार्थ चन्द्रमा, पन्ना, खद्योत, उद्योतवान् कहे जाते हैं, जैनसिद्धान्तानुसार सूर्य विमान का शरीर सर्वथा उष्ण नहीं है, किन्तु उसकी प्रभा अति उष्ण है अतः सूर्यकिरणों से भी व्यभिचार हो सकता है। अतः मूल कारण में उष्णतावाली प्रभा से सहित किरणें ही तैजस कही जा सकती हैं अन्य पन्ना, मणि, वैडूर्यरत्न, नीलमणि आदिकों को तो पृथ्वी का विकारपना प्रसिद्ध है। यानी जो मूल में अनुष्ण है और जिसकी प्रभा भी अनुष्ण है, वह तैजस नहीं है।।३८-३९।।

चक्षु का तैजसपना साध्य करने पर रूप आदि के सन्निहित होने से, रूप का ही व्यंजकपना होने से, यों इस हेतु का चन्द्रमा, मरकत मणि आदि के उद्योत करके व्यभिचार आता है, जो कि मूल में और प्रभा में उष्णता से रहित होता हुआ पृथ्वी का विकार माना गया है। चक्षुस्सन्निकर्ष में व्यभिचार वारण करने के लिए द्रव्यत्व और ज्ञान के कारण को ही ज्ञान का विषय मानने वाले वादी के यहाँ चाक्षुषप्रत्यक्ष के विषय हो रहे रूप, रूपवान अर्थ, रूपत्व, रूपाभाव इन करके हुए व्यभिचार के निवारणार्थ करणत्व विशेषण

रूपाभिव्यंजने चाक्ष्णां नालोकापेक्षणं भवेत्। तैजसत्वात्प्रदीपादेरिव सर्वस्य देहिनः ॥४०॥

यथैकस्य प्रदीपस्य सुस्पष्टार्थप्रकाशने। मंदत्वादसमर्थस्य द्वितीयादेरपेक्षणम् ॥४१॥

तथाक्ष्णोर्न विरुद्ध्येत सूर्यालोकाद्यपेक्षणं। स्वकार्ये हि स्वजातीयं सहकारि प्रतीक्ष्यते ॥४२॥

तदसल्लोचनस्यार्थप्रकाशित्वाविनिश्चयात्। कथंचिदपि दीपादिनिरपेक्षस्य प्रदीपवत् ॥४३॥

अंधकारावभासोस्ति विनालोकेन चेन्न वै। प्रसिद्धस्तेंधकारोस्ति ज्ञानाभावात्परोर्थकृत् ॥४४॥

परेष्ट्यास्तीति चेत्तस्याः सिद्धं चक्षुरतैजसं। प्रमाणत्वेन्यथा नांधकारः सिद्ध्येत्ततस्तव ॥४५॥

लगाने पर भी चन्द्र उद्योत आदि करके व्यभिचार दोष लगा रहना तदवस्थ रहता है अतः हेतु का गमकपना नहीं होने के कारण चक्षु में तैजसपने की सिद्धि नहीं हो सकी। इस कारण उस तैजसत्व हेतु से चक्षु की किरणवत्ता सिद्ध नहीं हो पाएगी।

अथवा यदि सम्पूर्ण शरीरी आत्माओं की चक्षुओं को किरण सहित तैजस माना जाएगा तब तो तेज का विवर्त होने के कारण चक्षुओं को रूप की अभिव्यक्ति कराने में अन्य सूर्य, प्रदीप आदि के आलोक या प्रकाश की अपेक्षा नहीं होना चाहिए। जैसे कि प्रदीप, सूर्य आदि को रूप के प्रकाशने में अन्य सूर्य, दीप आदि के आलोकांतर की अपेक्षा नहीं होती है किन्तु मनुष्य आदि को अंधेरे में चाक्षुष प्रत्यक्ष करने के लिए आलोक प्रकाश की अपेक्षा होती देखी जाती है अतः चक्षु का तैजसपना असिद्ध है ॥४०॥

वैशेषिक कहता है कि अर्थ के स्पष्ट प्रकाश करने में मन्द होने के कारण असमर्थ हो रहे एक दीपक को जैसे दूसरे, तीसरे आदि दीपकों की अपेक्षा हो जाती है, उसी प्रकार मन्द प्रकाशी होने से मनुष्यों के नेत्रों को भी सूर्य, चन्द्र, प्रदीप आदि के आलोक, उद्योत आदि की अपेक्षा करना विरुद्ध नहीं पड़ता है, क्योंकि अपने द्वारा करने योग्य कार्य में अपनी समान जाति वाले सहकारी कारण की प्रतीक्षा हो ही जाती है अतः तैजस नेत्रों को तैजस सूर्य, दीप आदि की आकांक्षा होना स्वाभाविक है ॥४१-४२॥

जैनाचार्य कहते हैं कि यह वैशेषिकों का कहना प्रशंसनीय नहीं है क्योंकि प्रदीप के समान अन्य दीपक, सूर्य आदि की अपेक्षा नहीं रखने वाले मनुष्यों के नेत्रों को किसी भी प्रकार से अर्थप्रकाशकपने का विशेष निश्चय नहीं है। अर्थात्-मनुष्यों को चाक्षुषप्रत्यक्ष करने में अन्य आलोक की अपेक्षा आवश्यक है। मन्द से भी अतिमन्द प्रदीप को स्वप्रकाशन में अन्य दीपों की आवश्यकता नहीं है ॥४३॥

''रात्रि में आलोक के बिना भी अन्धकार का प्रतिभास हो जाता है अतः चाक्षुष प्रत्यक्ष करने में आलोक की आवश्यकता नहीं है।'' ऐसा कहते हो तो (आपके) वैशेषिकों के यहाँ ज्ञानाभाव से अतिरिक्त कोई भिन्न अर्थक्रिया को कहने वाला अन्धकार नामक पदार्थ निश्चय से प्रसिद्ध ही नहीं माना गया है। फिर आलोक अन्धकार के बिना ही दीख जाने का हम पर व्यर्थ आपादन क्यों किया जाता है? ॥४४॥

जैनों के ऊपर अन्धकार के आलोक बिना ही प्रत्यक्ष हो जाने का कटाक्ष किया जा सकता है। यदि दूसरे (जैनों की) दृष्टि से ही अन्धकार नामक पदार्थ सिद्ध किया जाता है, तो स्याद्वादियों की उस दृष्टि को प्रमाणपना मानने पर चक्षु अतैजस भी सिद्ध हो जाती है। अन्यथा (जैन आचार्यों के इष्ट सिद्धान्त को

अतैजसांजनापेक्षि चक्षू रूपं व्यनक्ति यं। नातः समानजातीयसहकारि नियम्यते ॥४६॥

तैजसमेवांजनादि रूपप्रकाशने नेत्रस्य सहकारि न पुनः पार्थिवमेव तत्रानुद्भूतस्य तेजोद्रव्यभावादित्ययुक्तं प्रमाणाभावात्। तैजसमंजनादि रूपावभासने नयनसहकारित्वाद्दीपादिवत्यप्यसम्यक्, चंद्रोद्योतादिनानैकांतात्। तस्यापि पक्षीकरणान्न व्यभिचार इति चेन्न, हेतोः कालात्ययापदिष्टत्वप्रसंगात्। पक्षस्य प्रत्यक्षानुमानागमबाधितत्वात् तस्य प्रत्यक्षेणातैजसत्वेनानुभवात्। न तैजसश्चंद्रोद्योतो

प्रमाणपना नहीं मानने पर तो) तुम्हारे यहाँ अन्धकार पदार्थ सिद्ध नहीं हो सकता। अर्थात् जैनों के अभीष्ट सिद्धान्तानुसार यदि अन्धकार को पौद्गलिक तत्त्व माना जायेगा तो उन्हीं के अभीष्ट अनुसार चक्षु का अतैजसपना भी सिद्ध हो जाएगा॥४५॥

अर्थात् तैजस अपनी समान जाति वाले अन्य तैजस पदार्थ को सहकारी चाहता है। सो उनका यह कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि अतैजस अंजन या काजल की अपेक्षा रखने वाली चक्षु जिस रूप को व्यक्त करती है, उसमें चक्षु का सहकारी कारण कोई समान जाति का तैजस पदार्थ अपेक्षणीय नहीं है।

भावार्थ : समानजातीय तैजस पदार्थ ही नेत्रों का सहकारी है, यह नियम नहीं किया जा सकता है, क्योंकि चश्मा आदि अन्य पदार्थ भी सहकारी होते हैं॥४६॥

(वैशेषिक) तेजोद्रव्य से बने हुए अंजन आदि पदार्थ स्वरूप को प्रकाशने में नेत्र के सहकारी कारण हैं किन्तु वे अंजन आदि विवर्त्त केवल पार्थिव ही नहीं हैं, क्योंकि उन अंजन आदि में अप्रकट तेजोद्रव्य का सद्भाव है अतः तैजस नेत्र के तैजस पदार्थ ही सहायक हुए।

वैशेषिकों का यह कथन युक्तिरहित है, क्योंकि अंजन आदि में छिपे हुए तेजोद्रव्य के सद्भाव का साधक कोई प्रमाण नहीं है। यदि वैशेषिक यह अनुमान प्रमाण देवें कि अंजन, चश्मा आदि तैजस पदार्थ हैं - रूप को प्रकाशने में नेत्रों के सहकारी कारण होने से, जैसे दीपक, बिजली आदि पदार्थ के प्रकाशन में सहकारी कारण हैं। वैशेषिकों का यह अनुमान समीचीन नहीं है, क्योंकि चन्द्र उद्योत, माणिक्य प्रकाश आदि के द्वारा इनमें व्यभिचार दोष आता है। वे तैजस नहीं होते हुए भी नेत्रों के सहकारी हैं। यदि वैशेषिक उनको पक्ष नहीं होते हुए भी अंजन आदि के साथ पक्ष कोटि में कर लेंगे और मान लेंगे कि इससे व्यभिचार नहीं होगा, तो ऐसा नहीं समझना चाहिए, क्योंकि ऐसी दशा में नयन सहकारित्व हेतु को बाधित हेत्वाभास होजाने का प्रसंग आएगा। अंजन, चन्द्रोद्योत आदि में तैजसपना साधने पर प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम प्रमाणों से पक्ष बाधित हो जाता है, क्योंकि उन अंजन, उद्योत आदि का प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा अतैजसस्वरूप अनुभव में आ रहा है अतः काले अंजन, पीले उद्योत, अभासुर चश्मा आदि का तैजसपना प्रत्यक्षबाधित है। वैशेषिकों ने भी इनको पार्थिव माना है।

तुम्हारे अनुमान में इस अनुमान प्रमाण से ही बाधा यों आती है कि चन्द्रोद्योत तैजस नहीं है, नेत्रों को आनन्द का कारण होने से जल, कर्पूर, ममीरा आदि के समान। इस प्रकार अनुमान से बाधा होने के कारण तुम्हारा नयनसहकारित्व हेतु सत्प्रतिपक्ष हेत्वाभास भी है। प्रायः अतैजस, शीतल पदार्थ ही नयनों

नयानानंदहेतुत्वात्सलिलादिवदित्यनुमानात्। मूलोष्णवती प्रभा तेज इत्यागमाच्चाब्धिजलकल्लोलैश्चंद्रकांतप्रतिहताः सूर्यांशवः प्रद्योतंते शिशिराश्च भवंति। तत एव नयनानंदहेतव इत्यागमस्तु न प्रमाणं, युक्त्यननुगृहीतत्वात् तथाविधागमांतरवत्। तदननुगृहीतस्यापि प्रमाणत्वेतिप्रसंगात्। पुरुषाद्वैतप्रतिपादकागमस्य प्रमाणत्वप्रसंगात् सकलयौगमतविरोधात्। किंच—

किमुष्णस्पर्शविज्ञानं तैजसेक्षिणि न जायते। तस्यानुद्भूततायां तु रूपानुद्भूतता कुतः ॥४७॥

के आनन्ददाता हैं। तथा आगम प्रमाण से भी तुम्हारा हेतु बाधित है। मूल में जो उष्ण है और जिसकी प्रभा भी उष्ण है, वह तैजस पदार्थ है। जैन सिद्धान्त में सूर्य की प्रभा को उष्ण होने पर भी मूल में सूर्य को उष्ण नहीं होने के कारण तैजस नहीं माना गया है। यदि वैशेषिक यह आगम दिखलावें कि समुद्र के जल की लहरों के द्वारा चन्द्रकान्त मणि के साथ प्रतिघात को प्राप्त सूर्य किरणें ही चन्द्रविमान द्वारा प्रकृष्ट उद्योत कर रही हैं। अथवा सूर्यकिरणें ही समुद्र जल से टकरा कर ऊपर चन्द्रमा के भीतर से प्रकाशती हैं, या चन्द्रमा की कान्ति से टकराकर उछलती हुई सूर्य किरणें चमकती हैं और समुद्र जल का स्पर्श हो जाने से वे शीतल भी हो गयी हैं अत: नेत्रों को आनन्द देने का हेतु हो गई हैं।

आचार्य कहते हैं कि यह आगम तो प्रमाण नहीं है, क्योंकि युक्तियों केअनुग्रह से रहित है, जैसे कि उस प्रकार के अन्य आगम प्रमाण नहीं माने गए हैं अर्थात्-वर्तमान के कतिपय वैज्ञानिकों ने कुछ तारे ऐसे माने हैं, फैलते-फैलते भी जिनका प्रकाश असंख्य वर्षों से यहाँ पृथ्वी पर अब तक नहीं आ पाया है। ऐसा उनकी पुस्तकों में लिखा है। पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु-इन तत्त्वों को मिलाकर ही जीवात्मा बन जाती है, इत्यादि आगम या पुस्तकें अयुक्त होने के कारण जैसे प्रमाण नहीं हैं, उसी प्रकार चंद्र के निजी उद्योत को सूर्य किरणों का उद्योत कहना और समुद्र जल के स्पर्श से उन्हें शीतल कहना अयुक्त है। चन्द्रमा में खण्डित नीलमणि का टुकड़ा सरीखा काला पदार्थ जो अतिशय युक्त दीख रहा है, उस चिह्न को कोई तो कलंक ही आँका करते हैं, अन्य विद्वान समुद्र में से चली आई कीचड़ मान रहे हैं, कोई उसको हरिण कह रहे हैं, अन्य विद्वान उसको पृथ्वी की छाया कहते हैं, किन्तु कवि कहते हैं कि रात में पान कर लिया गया गाढ़ अन्धकार है परन्तु जो युक्तियों से अनुगृहीत नहीं है ऐसे चाहे जिस किसी आगम को भी यदि प्रमाण मान लिया जाएगा तो अतिप्रसंग दोष आएगा।

हिंसा, झूठ आदि के प्रतिपादक भी शास्त्र कषायवान जीवों के द्वारा रचित हैं तथा भेदवादी, नैयायिक, वैशेषिक, मीमांसक आदि विद्वानों के यहाँ भी ब्रह्माद्वैत के प्रतिपादक आगम को प्रमाणपने का प्रसंग आयेगा, और ऐसा होने पर उसके साथ सम्पूर्ण नैयायिक, वैशेषिक और योग्य विद्वानों के मत का विरोध हो जाएगा, किन्तु द्वैतवादी नैयायिकों ने अद्वैत प्रतिपादक आगम को अयुक्त होने के कारण प्रमाण नहीं माना है।

चक्षु को तेजोद्रव्य से निर्मित हुआ मानने पर आँख में उष्ण स्पर्श का विज्ञान उत्पन्न क्यों नहीं होता है? यदि उस तैजस नेत्र के उष्ण स्पर्श का अनुद्भूतपना स्वीकार करेंगे तब तो तेज के भास्वररूप का

तेजोद्रव्यं ह्यनुद्भूतस्पर्शमुद्भूतरूपभृत्। दृष्टं यथा प्रदीपस्य प्रभाभारः समंततः ।।४८।।

तथानुद्भूतरूपं तदुद्भूतस्पर्शमीक्षितम्। यथोष्णोदकसंयुक्तं परमुद्भूततद्द्वयम् ।।४९।।

नानुद्भूतद्वयं तेजो दृष्टं चक्षुर्यतस्तथा। अदृष्टवशतस्तच्चेत्सर्वमक्षं तथा न किम् ।।५०।।

सुवर्णघटवत्तस्यादित्यसिद्धं निदर्शनं। प्रमाणबलतस्तस्य तैजसत्वाप्रसिद्धितः ।।५१।।

अनुद्भूतपना कैसे हो सकता ह? अर्थात् - जिस तैजस पदार्थ का उष्ण स्पर्श है, उसका रूप अवश्य उद्भूत है और जिसका रूप अनुद्भूत है, उसका स्पर्श अवश्य उद्भूत है। फिर नेत्र में कम-से-कम उष्ण स्पर्श या भास्वर शुक्ल दोनों में से एक तो अभिव्यक्त होना ही चाहिए। नेत्र में तेजोद्रव्य के उपजीवक भास्वररूप और उष्ण स्पर्श दोनों नहीं प्रतीत होते हैं अत: चक्षु तैजस नहीं है, पौद्गलिक है ।।४७।।

जो तेजोद्रव्य अनुद्भूत स्पर्शवाला है, वह नियम से उद्भूतरूप को धारण किए हुए देखा गया है, जैसे कि प्रदीप का चारों ओर से फैल रहा दीप्तियों का समुदाय व्यक्त उष्ण स्पर्श वाला नहीं है। परन्तु तेजोद्रव्य के उपजीवी चमकीले उद्भूतरूप को अवश्य धारण किए हुए है। तथा जिस तेजोद्रव्य में भास्वररूप उद्भूत नहीं भी है, उसमें तेजोद्रव्य के उपयोगी उद्भूत उष्णस्पर्श अवश्य प्रतीत हो रहा है; जैसे कि उष्णजल में संयुक्त हो रहा तेजोद्रव्य उद्भूत रूपवान यद्यपि नहीं है, किन्तु उष्णस्पर्शवान् अवश्य है। इस प्रकरण में यह कहना है कि उष्ण जल का उष्ण स्पर्श वस्तुत: जल का ही तदात्मक परिणाम है। जल में सूची अग्रभागों के समान घुसे हुए माने गये तेजोद्रव्य का वह औपाधिक परिणाम नहीं है। उष्ण स्पर्श यदि जल का, निज स्वभाव नहीं है, तो उष्णजल का न्यारा स्वाद भी तेजोद्रव्य का ही माना जाएगा। उष्णजल में तेजोद्रव्य उद्भूत स्पर्शवाला है। उद्भूतरूप और अनुद्भूतस्पर्श वाले आलोक, प्रभा, दीप्ति आदि हैं, तथा उद्भूत स्पर्श और अनुद्भूतरूप वाले उष्णजल संयुक्त तैजस, अग्नि आदि हैं। उक्त (इन) दोनों जाति के तैजस द्रव्यों से भिन्न जितने भी अग्नि, ज्वाला, तप्तलोह गोला आदि पदार्थ हैं, वे सब तैजस पदार्थ (उन) उद्भूत भास्वररूप और उद्भूत उष्ण स्पर्श दोनों से सहित है। उद्भूतरूप और उद्भूतस्पर्श दोनों जिसमें अप्रकट हों, ऐसा तेजोद्रव्य दृष्टिगोचर नहीं हो रहा है जिससे कि चक्षु अनुद्भूतरूपवान् और अनुद्भूत स्पर्शवान् मान लिया जाए। आप यदि चक्षु को तैजसद्रव्य मानते हैं तो उद्भूतरूप और उद्भूत उष्णस्पर्श दोनों में से एक को तो अवश्य नेत्र में प्रकट मानना चाहिए।

दोनों को अप्रकट मानने से तो वह नेत्र का तैजस किसी प्रकार संभव नहीं है। यदि पुण्य या पाप के वश से उस नेत्र में दोनों के उद्भूत नहीं होने पर भी तैजसपना मान लिया जाएगा अथवा तैजसनेत्र के भी किन्हीं जीवों के पुण्य, पाप अनुसार दोनों रूप-स्पर्शों का उद्भूतपना दृष्टिगत नहीं हो रहा, ऐसा स्वीकार किया जाएगा तब तो सम्पूर्ण इन्द्रियों को उस प्रकार का अनुद्भूतरूप स्पर्शवाला क्यों नहीं मान लेना चाहिए? जैसे कि नैयायिकों ने स्वर्ण के बने हुए घट में उष्णस्पर्श और भास्वररूप दोनों का अप्रकटपना माना है। इसी के समान स्पर्शन, रसना आदि इन्द्रियाँ भी तैजस हो जायेंगी अत: प्रमाणों की सामर्थ्य से उस सुवर्ण घट को तैजसपना प्रसिद्ध नहीं है अत: सिद्ध नहीं हुए दृष्टांत सुवर्णघट के बल से चक्षु में तैजसरूप और उष्णस्पर्श दोनों का अनुद्भूत होकर रह जाना सिद्ध नहीं हो सकता है अत: वैशेषिकों के पूर्वोक्त अनुमान से चक्षु का तैजसपना सिद्ध नहीं हो सका, उक्त दृष्टान्त स्वयं ही सिद्ध नहीं है ।।४८-४९-५०-५१ ।।

नोष्णवीर्यत्वतस्तस्य तैजसत्वं प्रसिद्ध्यति। व्यभिचारान्मरीचादिद्रव्येण तैजसेन वः ॥५२॥
ततो नासिद्धता हेतोः सिद्धसाध्यस्य बुध्यते। चाक्षुषत्वादितो ध्वानेऽनित्यत्वस्य यथैव हि॥५३॥

तदेवं तैजसत्वादित्यस्य हेतोरसिद्धत्वान्न चक्षुषि रश्मिवत्त्वसिद्धिनिबंधनत्वं यतस्तस्य रश्मयोर्थप्रकाशनशक्तयः स्युः सतामपि तेषां बृहत्तरगिरिपरिच्छेदनमयुक्तं मनसोधिष्ठाने सर्वथेत्याह;—

संतोपि रश्मयो नेत्रे मनसाधिष्ठिता यदि। विज्ञानहेतवोर्थेषु प्राप्तेष्वेवेति मन्यते॥५४॥
मनसोणुत्वतश्चक्षुर्मयूखेष्वनधिष्ठितेः। भिन्नदेशेषु भूयस्त्वपरमाणुवदेकशः ॥५५॥
महीयसो महीध्रस्य परिच्छित्तिर्न युज्यते। क्रमेणाधिष्ठितौ तस्य तदंशेष्वेव संविदः ॥५६॥

वैशेषिक कहते हैं कि चक्षु तैजस है - उष्णवीर्य सहित होने से, जैसे कि ज्वाला। अर्थात् नेत्र में अति उष्ण शक्ति है अत: नेत्र से आँसू उष्ण निकलते हैं।

नेत्र की तैजस शक्ति से दृष्टिपात होकर बालक, सुन्दर अवयव, भक्ष्य, पेय पदार्थ दृष्टिदोष से ग्रसित हो जाते हैं। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार उष्णवीर्य युक्तपने से चक्षु का तैजसपना भी प्रसिद्ध नहीं है क्योंकि मिरच, पीपल आदि से व्यभिचार हो जायेगा, जो कि तुम वैशेषिकों के यहाँ मिरच आदि को तैजस पदार्थ नहीं माना है। अर्थात् मिरच, संखिया आदि भी बड़ी-बड़ी उष्णशक्तियों के कार्य करते हैं। पाला गिरने से वृक्ष दग्ध हो जाते हैं, किन्तु वे तैजस नहीं हैं॥५२॥

अत: स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास से साध्य की सिद्धि नहीं जानी जाती है। जिस प्रकार शब्द में चाक्षुषत्व, रासनत्व आदि असिद्ध हेतुओं से अनित्यपने की सिद्धि नहीं होती है॥५३॥

इस प्रकार "तैजसत्वात्" इस हेतु की असिद्धता हो जाने से चक्षु में तैजसत्व को ज्ञापक कारण मानकर किरणसहितपने की सिद्धि नहीं कर सकते। अथवा इस तैजसत्व हेतु को चक्षु में किरणसहितपने की सिद्धि का कारणपना नहीं है जिससे कि उस चक्षु की रश्मियाँ अर्थ को प्रकाशने की शक्तिवाली हो सकें।

यदि चक्षु में किरणों का सद्भाव भी मान लिया जाए तो भी उन रश्मियों के द्वारा चक्षु से अधिक बड़े पर्वत की ज्ञप्ति करना अयुक्त होगा। अर्थात् छोटी सी चक्षुओं की किरणें कोसों दूरवर्ती पर्वत बराबर फैलकर कैसे प्रकाश करा सकती हैं? तथा वैशेषिकों द्वारा माने गये अधिष्ठाता अणु मन के द्वारा चक्षुओं का अधिष्ठान (अधिकृतपना) मानने पर तो सभी प्रकारों से महान् पर्वत की परिच्छित्ति सर्वथा नहीं हो सकती है। इसी बात को विशद रूप से आगे कहते हैं - चक्षु में मन से अधिष्ठित विद्यमान किरणें भी सम्बन्ध को प्राप्त अर्थों में विज्ञान की उत्पादक कारण हैं, ऐसा माना जाता है तब तो मन का अणुपना होने के कारण चक्षु की अनेक और लम्बी-चौड़ी भिन्न-भिन्न देशों में फैली हुई किरणों में अधिष्ठान नहीं हो सकेगा। जैसे कि एक-एक परमाणु होकर बहुत से देशों में फैल रहे परमाणुओं में एक परमाणु का युगपत् अधिष्ठातापन नहीं बन पाता है। अर्थात् एक छोटा सा परमाणु एक समय में एक ही परमाणु पर अधिकार जमा सकता है। एक परमाणु बराबर हो रहा मन असंख्य किरणों पर अपना अधिकार कैसे भी आरोपित नहीं कर सकता है। ऐसी दशा में विशाल पर्वत की चक्षुद्वारा ज्ञप्ति होना युक्त नहीं पड़ेगा।

उन मन की क्रम, क्रम से अनेक किरणों में अधिष्ठिति मानी जाएगी, तब तो उस पर्वत के छोटे-छोटे अंशों में ही अनेक ज्ञान हो सकेंगे। एक विशाल पर्वत का एक ज्ञान नहीं हो सकेगा॥५४-५५-५६॥

निरंशोवयवी शैलो महीयानपि रोचिषा। नयनेन परिच्छेद्यो मनसाधिष्ठितेन चेत् ॥५७॥

न स्यान्मेचकविज्ञानं नानावयवगोचरम्। तद्देशिविषयं चास्य मनोहीनैर्दृगंशुभिः ॥५८॥

शैलचंद्रमसोश्चापि प्रत्यासन्नदविष्ठयोः। सहज्ञानं न युज्येत प्रसिद्धमपि सद्धियाम् ॥५९॥

कालेन यावता शैलं प्रयांति नयनांशवः। केचिच्चंद्रमसं नान्ये तावतैवेति युज्यते ॥६०॥

तयोश्च क्रमतो ज्ञानं यदि स्यात्ते मनोद्वयं। नान्यथैकस्य मनसस्तदधिष्ठित्यसंभवात् ॥६१॥

विकीर्णानेकनेत्रांशुराशेरप्राप्यकारिणः। मनसोधिष्ठितौ कायस्यैकदेशेपि तिष्ठतः ॥६२॥

निरंश तथा अखण्ड एक अवयवी विशाल पर्वत मन के द्वारा अधिष्ठित चक्षु के द्वारा जाना जा सकता है। इस प्रकार वैशेषिकों के कहने पर जैनाचार्य कहते हैं कि रंग बिरंगे चित्र में अनेक अवयवों को विषय करने वाला और उस देश में स्थित अवयवों को विषय कर जानने वाला चित्रज्ञान तो मन के अधिष्ठातृत्व से रहित चक्षु किरणों के द्वारा नहीं हो सकेगा। अर्थात् - भिन्न-भिन्न देशों में पड़े हुए चित्र विचित्र रंग के अवयवों का एक ही समय चित्रज्ञान तो तब हो सकता है, जबकि अनेक अवयवों पर उसी समय नेत्र किरणें पड़ें और उन अवयवों में संयुक्त हो रही संपूर्ण किरणों के साथ मन की भी युगपत् अधिष्ठिति हो, किन्तु छोटा सा परमाणु बराबर मन अनेकदेशीय किरणों में युगपत् कैसे अधिष्ठान कर सकता है? ॥५७-५८॥

चक्षु किरणों द्वारा विषय की प्राप्ति मानने पर अतिनिकट पर्वत का और अधिक दूरवर्ती चन्द्रमा का एक साथ ज्ञान नहीं हो सकेगा, जो कि समीचीन ज्ञान करने वाले प्रामाणिक पुरुषों के यहाँ भी प्रसिद्ध है।

नयन की कितनी ही किरणें जितने काल में पर्वत को प्राप्त होती हैं, उतने ही समय में अन्य कोई किरणें चन्द्रमा को प्राप्त हो जाती हैं, ऐसा करना भी युक्त नहीं है, क्योंकि निकटवर्ती पर्वत तो झट आँखों से प्राप्त किया जा सकता है। किन्तु अधिक दूर हजारों कोस तक चन्द्रमा के पास चक्षु किरणें झट नहीं पहुँच सकती हैं। परन्तु बुद्धिमान पुरुषों को चन्द्रमा और पर्वत का या शाखा और चन्द्रमा का युगपत् चाक्षुषज्ञान होता है ॥५९-६०॥

यदि (वैशेषिक) कहे कि उन पर्वत और चन्द्रमा का ज्ञान क्रम से होता है, तब तो दो मन अवश्य हो जाएंगे अन्यथा (दो मन को माने बिना) दोनों का ज्ञान नहीं हो सकेगा। क्योंकि अणु प्रमाण एक मन की उन दोनों के ऊपर अधिष्ठिति होना असम्भव है ॥६१॥

वैशेषिक कहते हैं कि मन इन्द्रिय तो अप्राप्यकारी है, अतः शरीर के एक देश में स्थित अप्राप्यकारी मन का फैली हुई, अनेक नेत्र किरणों की राशि के ऊपर अधिष्ठातृत्व होना सम्भव है। इस पर जैनाचार्य कहते हैं कि ऐसा मानने पर तो एक साथ उपयुक्त हो रही पाँच इन्द्रियों का अधिष्ठापक यह मन क्यों नहीं मान लिया जाता है? ॥६२॥

सहाक्षपंचकस्यैतत्किं नाधिष्ठायकं मतं। यतो न क्रमतोभीष्टं रूपादिज्ञानपंचकम्॥६३॥

तथा च युगपज्ज्ञानानुत्पत्तेरप्रसिद्धितः। साध्ये मनसि लिंगत्वं न स्यादिति मनः कुतः॥६४॥

मनोऽनधिष्ठिताश्चक्षूरश्मयो यदि कुर्वते। स्वार्थज्ञानं तदप्येतद्दूषणं दुरतिक्रमम्॥६५॥

ततोक्षिरश्मयो भित्त्वा काचादीन्नार्थभासिनः। तेषामभावतो भावेप्युक्तदोषानुषंगतः॥६६॥

काचाद्यंतरितार्थानां ग्रहणं चक्षुषः स्थितम्। अप्राप्यकारितालिंगं परपक्षस्य बाधकम्॥६७॥

एवं पक्षास्याध्यक्षबाधामनुमानबाधां च प्ररूप्यागमबाधां च दर्शयन्नाह;—

स्पृष्टं शब्दं शृणोत्यक्षमस्पृष्टं रूपमीक्ष्यते। स्पृष्टं बद्धं च जानाति स्पर्शं गंधं रसं तथा॥६८॥

इत्यागमश्च तस्यास्ति बाधको बाधवर्जितः। चक्षुषोप्राप्यकारित्वसाधनः शुद्धधीमतः॥६९॥

जिससे कि क्रम से अभीष्ट किये गए रूप, रस, गंध, स्पर्श शब्द इनके पाँच ज्ञान एक साथ नहीं हो सके अर्थात् अप्राप्यकारी मन की एक समय में अनेक पदार्थों के ऊपर अधिष्ठिति मानने पर एक साथ पाँचों ज्ञान हो जाने चाहिए और वैसा होने पर युगपत् ज्ञान के उत्पत्ति की प्रसिद्धि हो जाने से मन को साध्य करने में ''युगपत् ज्ञानानुत्पत्ति'', यह ज्ञापक हेतु नहीं हो सकेगा ऐसी दशा में अतीन्द्रिय अनिन्द्रिय मन की सिद्धि कैसे होगी॥६२-६३-६४॥

मन इन्द्रिय से अनधिष्ठित चक्षु किरणें यदि अपने और पदार्थों के ज्ञान को उत्पन्न कर देती हैं तो भी इस दूषण का अतिक्रमण करना दु:साध्य है अर्थात् मन का अधिष्ठान नहीं मानने पर तो अधिक सुलभता से युगपत् पाँचों ज्ञान हो जाने चाहिए परन्तु पाँचों इन्द्रियों के द्वारा एक साथ ज्ञान नहीं होता है॥६५॥

अत: चक्षु की रश्मियाँ काच आदि को तोड़-फोड़ कर भीतर घुस जाती हैं और प्राप्त हुए अर्थ का चाक्षुषप्रतिभास करा देती हैं। ऐसा कहना युक्त नहीं है, क्योंकि उन नेत्रों के रश्मियों का अभाव है। यदि उनका सद्भाव भी मान लिया जायेगा तो पूर्व में कहे गये दोषों का प्रसंग आता है। काच, स्फटिक आदि से आच्छादित अर्थों का चक्षु के द्वारा ग्रहण करना प्रमाण प्रतिष्ठित हो चुका है। वही चक्षु के अप्राप्यकारीपन का ज्ञापक हेतु होता हुआ वैशेषिक, नैयायिक आदि दूसरे विद्वानों के द्वारा स्वीकृत प्राप्यकारीपन के पक्ष का बाधक है॥६६-६७॥

इस प्रकार वैशेषिकों के द्वारा माने गये चक्षु के प्राप्यकारीपन पक्ष की प्रत्यक्षप्रमाण से और अनुमान प्रमाणों से आगत बाधा का निरूपण कर अब आगमप्रमाण से आगत बाधा को दिखलाते हुए ग्रन्थकार कहते हैं -

संसारी आत्मा शब्द को स्पर्श करके सुनती है, रूप को बिना स्पर्श किए देखती है, उसी प्रकार स्पर्श, रस और गन्ध को बद्ध और स्पर्श करके जानती है। इस प्रकार बाधाओं से रहित प्रामाणिक आगम उस चक्षु के प्राप्यकारीपन का बाधक है, और विशुद्ध बुद्धि वाले पुरुषों के सन्मुख वह आगम चक्षु के अप्राप्यकारीपन का साधन करा देता है अत: प्रत्यक्ष, अनुमान और निर्बाध आगम, इन प्रमाणों से चक्षु के अप्राप्यकारीपना सिद्ध कर दिया गया है॥६८-६९॥

ननु नयनाप्राप्यकारित्वसाधनस्यागमस्य बाधारहितत्वमसिद्धमिति पराकूतमुपदर्श्य दूषयन्नाह;—

मनोवद्विप्रकृष्टार्थग्राहकत्वानुषंजनं। नेत्रस्याप्राप्यकारित्वे बाधकं येन गीयते ।।७०।।

तस्य प्राप्ताणुगंधादिग्रहणस्य प्रसंजनम्। घ्राणादेः प्राप्यकारित्वे बाधकं केन बाध्यते ।।७१।।

सूक्ष्मे महति च प्राप्तेरविशेषेपि योग्यता। गृहीतुं चेन्महद्द्रव्यं दृश्यं तस्य न चापरम् ।।७२।।

तर्ह्यप्राप्तेरभेदेपि चक्षुषः शक्तिरीदृशी। यथा किंचिद्धि दूरार्थमविदिक्कं प्रपश्यति ।।७३।।

ननु च घ्राणादींद्रियं प्राप्यकारि प्राप्तमपि तत्राणुगंधादियोगिनः परिच्छिनत्ति नास्मदादेस्तादृशादृष्टविशेषस्याभावात् महत्त्वाद्युपेतद्रव्यं गंधादि तु परिच्छिनत्ति तादृगदृष्टविशेषस्य

नेत्रों के अप्राप्यकारीपन को साधने वाले आगम का बाधारहितपना असिद्ध है। ऐसी दूसरों की सशंक चेष्टा को दिखलाकर ग्रन्थकार उसे दूषित करते हुए अग्रिम वार्त्तिक कहते हैं -

नेत्र को यदि अप्राप्यकारी माना जाएगा तो दूरदेशवर्त्ती या भूत, भविष्यत् कालवर्त्ती विप्रकृष्ट अर्थों का नेत्र द्वारा ग्रहण करने का प्रसंग आएगा, जैसे कि अप्राप्यकारी मन इन्द्रिय से दूर देश के और कालांतरित पदार्थों का ग्रहण हो जाता है। अर्थात् - नेत्रों को विषय के साथ सम्बन्ध हो जाने की जब आवश्यकता ही नहीं है तो सुमेरुपर्वत, स्वयंप्रभदीप या राम, रावण आदि का चाक्षुष प्रत्यक्ष हो जाना चाहिए। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार नेत्र के अप्राप्यकारीपन में जिस विद्वान् द्वारा उक्त प्रसंग प्राप्त होना बाधक कहा जाता है, उसके यहाँ घ्राण, स्पर्शन आदि इन्द्रियों के प्राप्यकारीपन अनुसार प्राप्त परमाणु के गंध, रस, स्पर्श के भी ग्रहण हो जाने का प्रसंग क्यों नहीं बाधक होगा? नासिका आदि के प्राप्यकारीपन में इस बाधक की भला किसके द्वारा बाधा उठायी जा सकती है? ।।७०-७१ ।। अर्थात् घ्राण आदि इन्द्रियाँ प्राप्यकारी हैं उनसे परमाणु में स्थित गंध आदि का ग्रहण होना चाहिए। इसमें बाधक कौन है?

यदि वैशेषिक कहें कि सूक्ष्म और स्थूल पदार्थों में स्पर्शन, रसना, घ्राण इन्द्रियों की प्राप्ति होना यद्यपि विशेषताओं से रहित है, एकसा है, फिर भी महत्त्व परिणामयुक्त द्रव्य ही उन इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष करने योग्य है। अन्य सूक्ष्मपदार्थों की इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष हो जाने की योग्यता नहीं है, तब तो हम जैन भी कह सकते हैं कि चक्षु अप्राप्ति यद्यपि समवहित और विपृकृष्ट पदार्थों के साथ एकसी है, कोई भेद नहीं है, तो भी चक्षु की शक्ति इस प्रकार की है कि जिससे वह एक दूर अर्थ को जो कि विदिशाओं में प्रतिमुख पड़ा नहीं होकर सन्मुख स्थित है उसको देखती है, अन्य अयोग्य अतिदूर के विप्रकृष्ट पदार्थों को नहीं देख सकती है। शक्तिरूप योग्यता की सार्वत्रिकता तो माननी पड़ेगी अतः अप्राप्ति होने पर भी चक्षु इन्द्रिय योग्य पदार्थ का ही प्रत्यक्ष कराती है, अयोग्य अर्थों का नहीं।।७२-७३ ।।

शंका : अज्ञ जीवों की घ्राण आदि इन्द्रियाँ तो प्राप्त परमाणु के गन्ध, रस, स्पर्शों को नहीं जानती हैं, किन्तु योगियों की प्राप्यकारी घ्राणादि इन्द्रियाँ अणु में प्राप्त अणुओं की गन्ध आदि को भी चारों ओर से जान लेती हैं। इस प्रकार के पुण्यविशेष का हम लोगों के पास अभाव है अतः अस्मद् आदि की बहिःइन्द्रियाँ परमाणु, द्व्यणुक के गन्ध आदि को नहीं जान सकती हैं। हाँ, महत्त्व, उद्भूत, रूप, अनभिभव

सद्भावादित्यदृष्टवैचित्र्यात्तद्विज्ञानभावाभाववैचित्र्यं मन्यमानान् प्रत्याह;—

समं चादृष्टवैचित्र्यं ज्ञानवैचित्र्यकारणं। स्याद्वादिनां परेषां चेत्यलं वादेन तत्र नः ।।७४।।

स्याद्वादिनामपि हि चक्षुरप्राप्यकारि केषांचिदतिशयज्ञानभृतामृद्धिमतामस्मदाद्यगोचरं विप्रकृष्टस्वविषयपरिच्छेदकं तादृशं तदावरणक्षयोपशमविशेषसद्भावात्। अस्मदादीनां तु यथाप्रतीति स्वार्थप्रकाशकं स्वानुरूपतदावरणक्षयोपशमादिति सममदृष्टवैचित्र्यं ज्ञानवैचित्र्यनिबंधनमुभयेषां। ततो न नयनाप्राप्यकारित्वं बाध्यते केनचित् घ्राणादिप्राप्यकारित्ववदिति न तदागमस्य बाधोस्ति येन बाधको न स्यात् पक्षस्य। तदेवं—

आदि से सहित हो रहे द्रव्य या उसके गंध आदि गुणों को जान लेती हैं, क्योंकि उस प्रकार के महत्त्व अनेक द्रव्यवत्त्व आदि से सहित पदार्थों को जानने का पुण्यविशेष हम स्थूलदृष्टियों के पास विद्यमान है। इस प्रकार अदृष्ट की विचित्रता से उन विज्ञानों के होने, नहीं होने की विचित्रता बन जाती है। इस प्रकार कहने वाले वैशेषिकों के प्रति आचार्य महाराज **समाधान** कहते हैं –

पुण्य पाप (प्रकरण अनुसार ज्ञानावरण का क्षयोपशम, क्षय) रूप अदृष्ट की विचित्रता ही तदुत्पन्न ज्ञान की विचित्रता का कारण है। यह बात हम स्याद्वादियों के और नैयायिक, वैशेषिकों के यहाँ समानरूप से मान ली गई है। इस कारण उस प्रकरण में हमारे विवाद करने से क्या लाभ? अर्थात् विवाद नहीं करना चाहिए।।७४।।

स्याद्वादियों के सिद्धान्त में भी नियम से अप्राप्यकारी चक्षु किन्हीं किन्हीं अतिशययुक्त ज्ञान को धारने वाले और कोष्ठ, दूरात् विलोकन आदि ऋद्धि वाले जीवों के ज्ञानों को रोकने वाले चाक्षुष प्रत्यक्षावरण के विशिष्ट क्षयोपशम का सद्भाव होने से उन विप्रकृष्ट स्वभाव वाले स्वकीय विषयों की परिच्छेदक हो जाती हैं, जिन विषयों को अस्मद् आदि जीवों की सामान्य चक्षुएँ नहीं जान सकती हैं अर्थात् विशिष्ट क्षयोपशम होने से वैशेषिकों के यहाँ योगियों की और हमारे यहाँ ऋद्धिमान अतिशय ज्ञानी जीवों की चक्षुएँ विप्रकृष्ट पदार्थों को भी जान लेती हैं। हम तुम आदि सामान्य जीवों की चक्षुएँ अल्प, दूर, अव्यवहित पदार्थ को देखती हैं, वैसा प्रतीति के अनुसार अपने विषय की प्रकाशक अपने-अपने अनुरूप उस चाक्षुषप्रत्यक्षावरण के क्षयोपशम से अप्राप्त अर्थ का प्रत्यक्ष कर लेती हैं। वह चाक्षुषप्रत्यक्ष अपने को और स्वविषय को जान जाता है अत: ज्ञान की विचित्रता का कारण अदृष्टवैचित्र्य दोनों वादी-प्रतिवादियों के यहाँ समान है। नेत्रों का अप्राप्यकारीपना किसी भी प्रमाण से बाधित नहीं हो पाता है अर्थात्-किसी भी वादी के द्वारा बाधित नहीं किया जा सकता है, जैसे कि नासिका, रसना आदि इन्द्रियों का प्राप्यकारीपना अबाधित है। तथा चक्षु को अप्राप्यकारी कहने वाले उस आगम की बाधा नहीं आती है, जिससे कि हमारा आगम प्रमाण तुम्हारे चक्षु के प्राप्यकारित्व को सिद्ध करने वाले अनुमान का बाधक नहीं हो। सोही कहा है -

चक्षु इन्द्रिय प्राप्ति होकर अर्थ का परिच्छेद कराने वाली है, इस प्रकार यह प्रतिज्ञावाक्य तो प्रत्यक्ष

प्रत्यक्षेणानुमानेन स्वागमेन च बाधितः। पक्षः प्राप्तिपरिच्छेदकारि चक्षुरिति स्थितः ॥७५॥

कालात्ययापदिष्टश्च हेतुर्बाह्येंद्रियत्वतः। इत्यप्राप्तार्थकारित्वे घ्राणादेरिव वांछिते ॥७६॥

न हि पक्षस्यैवं प्रमाणबाधायां हेतुः प्रवर्तमानः साध्यसाधनायालमतीतकालत्वादन्यथातिप्रसंगात् ॥

एतेन भौतिकत्वादिसाधनं तत्र वारितं। प्रत्येतव्यं प्रमाणेन पक्षबाधस्य निर्णयात् ॥७७॥

प्राप्यकारि चक्षुर्भौतिकत्वात्करणत्वात् घ्राणादिवदित्यत्र न केवलं पक्षः प्रत्यक्षादिबाधितः। कालात्ययापदिष्टश्चेद्धेतुः पूर्ववदुक्तः। किं तर्ह्यनैकांतिकश्चेति कथयन्नाह;—

प्रमाण और अनुमान प्रमाण तथा श्रेष्ठ युक्तिपूर्ण समीचीन आगमप्रमाण के द्वारा बाधित है। ऐसी दशा में वैशेषिकों के द्वारा प्रयुक्त किया गया "बाह्य इन्द्रियपना होने से" यह हेतु बाधित हेत्वाभास है। अर्थात् प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों के द्वारा चक्षु का अप्राप्यकारीपना सिद्ध हो जाने पर पीछे काल में वह हेतु प्रयुक्त किया गया है। इस प्रकार घ्राण आदि के समान इस दृष्टान्त से प्राप्यकारिता को वाञ्छायुक्त इष्टसाध्य करने पर कहा गया बाह्य इन्द्रियत्व हेतु बाधित है क्योंकि प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम इन तीन प्रमाणों से चक्षु में अप्राप्यकारीपना सिद्ध हो चुका है ॥७५-७६ ॥

इस प्रकार वैशेषिकों का पक्ष (इन्द्रिय प्राप्यकारी है) प्रमाणों के द्वारा बाधित हो जाने के कारण प्रवर्त्तमान साध्य को साधने के लिए समर्थ नहीं है, क्योंकि हेतु अतीत काल है; साधनकाल के बीत जाने पर बोला गया है। अन्यथा (प्रमाणों से अप्राप्यकारित्व के सिद्ध हो जाने पर पीछे बोला गया हेतु भी यदि अपने साध्य प्राप्यकारीपन को सिद्ध करेगा तो नियत व्यवस्थाओं का उल्लंघन करना रूप) अतिप्रसंग दोष आयेगा। अर्थात् - अग्नि शीतल है, सूर्य स्थिर है, नरक-स्वर्ग नहीं है, धर्म-सेवन करना परलोक में दुःख का कारण है, इत्यादि प्रतिज्ञायें भी सिद्ध हो जाएंगी।

इस उक्त कथन से भौतिकपना, करणपना आदि हेतु भी उस चक्षु को प्राप्यकारित्व साधने में निवारण कर दिये गये समझ लेने चाहिए, क्योंकि प्रमाणों के द्वारा पक्ष की बाधा हो जाने का निर्णय हो रहा है ॥७७॥

वैशेषिक : चक्षु प्राप्यकारी है - भौतिकपना, करणपना आदि हेतु भी उस चक्षु को प्राप्यकारित्व है-ज्ञप्ति का साधकतम होने से, घ्राण आदि (नासिका, रसना, त्वचा, श्रोत्र) के समान। वैशेषिकों के इन अनुमानों में पक्ष (प्रतिज्ञा) प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से बाधित है। इतना ही नहीं अपितु पूर्व के बाह्य इन्द्रियत्व हेतु के समान भौतिकत्व और करणत्व हेतु कालात्ययापदिष्ट है। केवल बाधित हेतु ही नहीं समझना। तब और क्या समझा जाए? इसका उत्तर - अपितु उक्त हेतु व्यभिचारी भी हैं।

भावार्थ : वैशेषिकों के यहाँ पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, ये पाँच द्रव्य भूत पदार्थ माने गये हैं। बहिरंग इन्द्रियों से ग्रहण करने योग्य विशेष गुणों के धारक द्रव्य भूत कहे जाते हैं। इनमें पृथ्वी से घ्राण इन्द्रिय बनती है। जल से रसना इन्द्रिय उपजती है। चक्षु इन्द्रिय तेजोद्रव्य का विकार है। त्वचा इन्द्रिय वायु का विवर्त है। श्रोत्र आकाशस्वरूप है, जबकि भौतिक चार इन्द्रियाँ प्राप्यकारी हैं, तो चक्षु भी प्राप्यकारी

अयस्कांतादिना लोहमप्राप्याकर्षता स्वयं। अनैकांतिकता हेतोर्भौतिकार्थस्य बाध्यते ॥७८॥
कायांतर्गतलोहस्य बहिर्देशस्य वक्ष्यते। नायस्कांतादिना प्राप्तिस्तत्करैर्वोक्तकर्मणि ॥७९॥
यथा कस्तूरिकाद्रव्ये वियुक्तेपि पटादित:। तत्र सौगंध्यत: प्राप्तिस्तद्गंधाणुभिरिष्यते ॥८०॥
अयस्कांताणुभि: कैश्चित्तथा लोहेपि सेष्यतां। विभक्तेपि ततस्तत्राकृष्ट्यादेर्दृष्टितस्तदा ॥ ८१ ॥
इत्ययुक्तमयस्कांतमप्राप्तं प्रति दर्शनात्। लोहाकृष्टे: परिप्राप्तास्तदंशास्तु न जातुचित् ॥८२॥
यथा कस्तूरिकाद्यर्थं गंधादिपरमाणव:। स्वाधिष्ठानाभिमुख्येन तान् नयंति पटादिगा: ॥८३॥
तथायस्कांतपाषाणं सूक्ष्मभागाश्च लोहगा:। इत्यायातमितोप्राप्तायस्कांतो लोहकर्मकृत् ॥८४॥

होनी चाहिए। घ्राण आदि के समान चक्षु भी ज्ञान का कारण है। इस प्रकार वैशेषिक का कथन व अनुमान पक्ष प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से बाधित है तथा अनैकान्तिक भी है। इसी का समर्थन करते हुए जैनाचार्य कहते हैं-

लोहे को स्वयं प्राप्त न होकर दूर से आकर्षण करने वाले अयस्कांत या चुम्बक आदि के द्वारा हेतु का व्यभिचारीपना है अत: भौतिक अर्थ का प्राप्यकारीपना बाधित हो जाता है ॥७८॥

शरीर के अन्तर्गत व बाहर देश में रखे हुए लोहे का अयस्कांत, चुम्बक पाषाण आदि के साथ सम्बन्ध नहीं है, तथापि उक्त आकर्षण क्रिया करने वाले उन अयस्कांत आदि की किरणों के द्वारा प्राप्त लोहे के साथ सम्बन्ध प्राप्त होता है, इसका वर्णन आगे करेंगे। अत: भौतिकत्व हेतु व्यभिचारी है ॥७९॥

पट, पत्र आदि से कस्तूरी, इत्र आदि द्रव्य के वियुक्त होने पर भी उन पट आदि में सुगन्धपना हो जाने के कारण, जैसे उन कस्तूरी आदि की फैली हुई गन्धादि के द्वारा परमाणुओं के साथ प्राप्ति इष्ट है, उसी प्रकार लोहे में भी अयस्कांत चुम्बक की किन्हीं-किन्हीं अणुयें या छोटे-छोटे स्कन्धों के साथ प्राप्ति मान लेनी चाहिए। तभी तो उस चुम्बक से विभक्त होते हुए भी लोहे में उस समय आकर्षण आदि कर्म देखे जाते हैं।

भावार्थ : कस्तूरी आदि की गन्ध कुछ दूर पड़े हुए वस्त्र आदि में भी इस सुगन्धित पदार्थों के सूक्ष्म स्कन्धों का सम्बन्ध होने से सुवासना उत्पन्न हो जाती है। उसी के समान चुम्बक पाषाण के फैलने वाले छोटे-छोटे स्कन्धों द्वारा लोह की प्राप्ति हो जाने पर ही लोहे का आकर्षण हो सकता है, अन्यथा नहीं। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार किसी प्रतिवादी का कहना युक्त नहीं है, क्योंकि दूर से खेंचने वाले, असम्बन्धित, अयस्कांत चुम्बक के प्रति लोह का आकर्षण देखा जाता है। चारों ओर में किसी भी ओर से प्राप्त उस अयस्कांत के अंश तो कभी भी नहीं देखे जाते हैं ॥८०-८१-८२॥

जिस प्रकार गन्धद्रव्य आदि के परमाणु में वा छोटे स्कन्ध अपने आधारभूत गन्धवान् पदार्थ की ही अभिमुखता से पट आदिक में प्राप्त कस्तूरी आदि अर्थ को उन पट आदि में ले जाते हैं अर्थात् सुगन्ध आदि के सूक्ष्म अवयव दूर पड़े हुए भी सुगन्धितद्रव्य को पट आदि के साथ जोड़ देते हैं, उसी प्रकार लोह में प्राप्त छोटे-छोटे भाग अयस्कांत पाषाण में प्रसिद्ध नहीं है।

अत: सिद्ध होता है कि लोह के साथ असम्बन्धित अयस्कांत पाषाण लोह के आकर्षण कर्म को कर रहा है ॥८३-८४॥

भावार्थ : कस्तूरी के परमाणुओं की अपने अधिष्ठान के अनुसार वस्त्र में प्राप्ति होती देखी जाती

ननु यथा हरीतकी प्राप्य मलमंगाद्विरेचयति तथायस्कांतपरमाणवः शरीरांतर्गतं शल्यं प्राप्याकर्षंति शरीरादिति मन्यमानं प्रत्याह;—

प्राप्ता हरीतकी शक्ता कर्तुं मलविरेचनं। मलं न पुनरानेतुं हरीतक्यंतरं प्रति ॥८५॥

तर्हि यथाननान्निर्गतो वायुः पद्मनालादिगः प्राप्य पानीयमाननं प्रत्याकर्षति तथायस्कांतांतरगाः परमाणवो बहिरवस्थितायस्कांतावयविनो निर्गताः प्राप्य लोहं तं प्रत्येवाकर्षंतीति शंकमानं प्रत्याह;—

आकर्षणप्रयत्नेन विनाननकृतानिलः। पद्मनालादिगोंभांसि नाकर्षति मुखं प्रति ॥८६॥

तर्हि पुरुषप्रयत्ननिरपेक्षा यथादित्यरश्मयः प्राप्य भूगतं तोयं तमेव प्रति नयंति तथायस्कांतपरमाणवोपीत्यभिमन्यमानं प्रत्याह;—

सूर्यांशवो नयंत्यंभः प्राप्य तत्सूर्यमंडलं। चित्रभानुत्विषो नास्तमिति स्वेच्छोपकल्पितम् ॥८७॥

है। किन्तु चुम्बक के सूक्ष्म भागों का अपने अधिष्ठान के आश्रित होकर निकट जाना प्रतीत नहीं होता है। **अतः अप्राप्यकारी मन के समान चक्षु इन्द्रिय अप्राप्यकारी है।**

जिस प्रकार बड़ी हरड़ पेट में जाकर शरीर के सभी अंग-उपांगों से मल का विशेषरूप से रेचन करा देती है, उसी प्रकार चुम्बक पाषाण के परमाणु भी सम्बन्ध को प्राप्त होकर शरीर के भीतर प्रविष्ट हुई सुई, कील को शरीर के बाहर खींच लेते हैं, स्पर्श किये बिना नहीं खींचते हैं। इस प्रकार कहने वाले प्रतिवादी के प्रति आचार्य कहते हैं -

तब तो मुख से निकल चुकी वायु जैसे कमलनाल आदि में प्राप्त जल को मुखद्वार के प्रति आकर्षण करती है, उसी प्रकार अयस्कांत के अन्तरंग परमाणु या चुम्बक और लोहे के अन्तराल में पड़े हुए चुम्बक परमाणु ही बाहर स्थिर हो रहे अयस्कांत अवयवी से निकलते ही शरीर के भीतर लोहे को प्राप्त होकर उस लोहे को चुम्बक अवयवी के प्रति खींच लेते हैं। इस प्रकार शंका करने वाले के प्रति आचार्य कहते हैं -

मुख से की गयी वायु कमलनली आदि में प्राप्त वायु आकर्षण प्रयत्न के बिना जल को मुख के प्रति नहीं खींच सकती है। अर्थात् चक्षु के अप्राप्यकारित्व को सिद्ध करने में स्याद्वादियों की ओर से दिये गए अयस्कांत दृष्टान्त को पद्मनाल की वायु का दृष्टान्त देकर बिगाड़ना ठीक नहीं है। अथवा भौतिकत्व हेतु का अयस्कांत करके हुए व्यभिचार दोष का निवारण यवनाल की वायु से नहीं हो सकता है ॥८६॥

सूर्य की किरणें पुरुष के प्रयत्न की अपेक्षा के बिना पृथ्वी में प्राप्त जल को सूर्य के प्रति ही ले जाती हैं, उसी प्रकार अयस्कांत के परमाणु भी प्राप्त होकर लोह को अपने निकट खींच लेते हैं। इस प्रकार मानने वाले प्रतिवादी के प्रति आचार्य उत्तर कहते हैं -

सूर्य की किरणें पृथ्वी पर नीचे उतरकर, जल को प्राप्त होकर, फिर उस सम्बन्धित जल को सूर्य मंडल के प्रति प्राप्त कराती हैं, किन्तु वे सूर्य किरणें अस्ताचल को प्राप्त सूर्यमंडल के प्रति जल को नहीं प्राप्त कराती हैं। यह तो अपनी इच्छा से उपकल्पित किया गया विज्ञान है। सूर्य किरणें अप्राप्त होकर भी जल

नि:प्रमाणकमुदाहरणमाश्रित्यायस्कांतस्य प्राप्यकारित्वं व्यवस्थापयन्कथं न स्वेच्छाकारी? तदागमात्सिद्धमिति चेन्न, तस्य प्रत्यागमेन सर्वत्र दृष्टेष्टाविरुद्धेन प्रमाणतामात्मसात्कुर्वता प्रतिहतत्वात् स्वयं युक्त्यननुगृहीतस्य प्रमाणत्वानभ्युपगमाच्च न ततस्तत्सिद्धि: यतोयस्कांतस्य प्राप्यकारित्वसिद्धौ तेनानैकांतिकत्वं भौतिकत्वस्य न स्यात्॥

तथैव करणत्वस्य मनसा व्यभिचारिता। मंत्रेण च भुजंगाद्युच्चाटनादिकरेण वा॥८८॥

शब्दात्मनो हि मंत्रस्य प्राप्तिर्न भुजगादिना। मनागावर्तमानस्य दूरस्थेन प्रतीयते॥८९॥

को सूर्यमंडल की ओर गुरुत्वीय शक्ति के अनुसार खींच लेती हैं अत: उक्त प्रतिवादियों की ओर से दिये गए दृष्टान्त हमारे अप्राप्यकारीपन के अनुकूल ही पड़ते हैं, क्योंकि दूरवर्त्ती अप्राप्त पदार्थ का प्रतिबिम्ब दर्पण ले लेता है तथैव चक्षु भी अयस्कांत पाषाण के समान अप्राप्यकारी है॥८७॥

अप्रामाणिक उदाहरणों का आश्रय लेकर अयस्कांत चुम्बक के प्राप्यकारीपन की व्यवस्था करने वाला वृद्ध वैशेषिक इच्छापूर्वक कार्य को करने वाला क्यों नहीं है? आगम से चुम्बक पाषाण का प्राप्यकारीपना सिद्ध है, ऐसा भी कहना उचित नहीं है क्योंकि, तुम्हारे अयुक्त के प्रतिकूल और प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणों से सर्वत्र अविरुद्ध होने के कारण प्रमाणपने को अपने अधीन करने वाले श्रेष्ठ आगम के द्वारा उस वैशेषिकों के आगम का पूर्व प्रकरण में प्रतिघात कर दिया गया है क्योंकि जो आगम स्वयं युक्तियों से अनुगृहीत नहीं है उसको प्रमाण स्वीकार नहीं किया है।

अत: उन हर्ड, मुखवायु, सूर्यकिरण आदि दृष्टान्तों से उस चक्षु के प्राप्यकारीपन की सिद्धि नहीं हो पाती है, जिससे कि अयस्कांत का प्राप्यकारीपना सिद्ध हो जाने पर उस अयस्कांत के द्वारा भौतिकत्वहेतु का अनैकान्तिक हेत्वाभासपना नहीं हो सकता है। अर्थात् भौतिकत्व हेतु अयस्कांत करके व्यभिचारी है। सभी पौद्गलिक पदार्थ प्राप्त होकर ही आकर्षण आदि क्रियाओं को करते हैं, यह आग्रह प्रशस्त नहीं है। तीर्थंकर के जन्म कल्याणक के समय दूरवर्त्ती अनेक स्थानों पर घंटनाद, सिंहनाद, आसनकम्प आदि होने लग जाते हैं।

इसी प्रकार करणत्व हेतु का भी मन के द्वारा और सर्प आदि के उच्चाटन, निर्विषीकरण, वशीकरण आदि को करने वाले मंत्री के द्वारा व्यभिचारीपना आता है। अर्थात्-भौतिकत्व हेतु के समान करणत्व हेतु भी मन और मंत्र करके व्यभिचारी है॥८८।

थोड़ा सा भी परिवर्तन नहीं करने वाले शब्दस्वरूप मंत्र की दूरदेश में स्थित सर्प आदि के साथ प्राप्ति मानना भी प्रतीत नहीं हो रहा है॥८९॥ अर्थात् शब्द रूप मंत्र भुजंगादि को प्राप्त हुए बिना भी विष को दूर करने में समर्थ हैं।

चक्षु दृश्यविषय के साथ सम्बन्ध कर उसका चाक्षुष प्रत्यक्ष कराने वाली है, छुरिका आदि के समान

प्राप्यकारि चक्षुः करणत्वाद्घ्रात्रादिवदित्यत्राप्यंशतः सर्वान् प्रत्युद्योतकरेणोक्तो हेतुरनैकांतिको मनसा मंत्रेण च सर्पाद्याकृष्टिकारिणा प्रत्येयः पक्षश्च प्रमाणबाधितः पूर्ववत्॥

तदेवं चक्षुषः प्राप्यकारित्वे नास्ति साधनं। मनसश्च ततस्ताभ्यां व्यंजनावग्रहः कुतः ॥९०॥

यत्र करणत्वमपि चक्षुषि प्राप्यकारित्वसाधनाय नालं च तत्रान्यत्साधनं दूरोत्सारितमेवेति मनोवदप्राप्यकारि चक्षुः सिद्धं। ततश्च न चक्षुर्मनोभ्यां व्यंजनस्यावग्रह इति व्यवतिष्ठते॥

दूरे शब्दं शृणोमीति व्यवहारस्य दर्शनात्। श्रोत्रमप्राप्यकारीति केचिदाहुस्तदप्यसत्॥९१॥

दूरे जिघ्राम्यहं गंधमिति व्यवहृतीक्षणात्। घ्राणस्याप्राप्यकारित्वप्रसक्तिरिष्टहानितः॥९२॥

करणपना होने से।

इस प्रकार के यहाँ अनुमान में एक-एक अंश से सभी इन्द्रियों के प्रति या सम्पूर्ण वादियों के प्रति वैशेषिकों के उद्योतकर विद्वान के द्वारा कथित करणत्व हेतु मन और सर्प आदि का आकर्षण करने वाले मंत्र से व्यभिचारी है, ऐसा विश्वासपूर्वक निर्णय कर लेना चाहिए। **मन और मंत्र दोनों प्राप्त नहीं होकर दूर से ही कार्य करते रहते हैं।** उद्योतकर पंडित के इस अनुमान का पक्ष प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम प्रमाणों से बाधित भी है। जैसे कि पहले बाह्य इन्द्रियत्व हेतु द्वारा उठाया गया अनुमान बाधाग्रस्त कर दिया गया है।

इस प्रकार चक्षु और मन का प्राप्यकारीपना सिद्ध करने में नैयायिक या वैशेषिकों के यहाँ कोई समीचीन ज्ञापक हेतु नहीं है। मन के प्राप्यकारीपन को तो वे प्रथम से ही इष्ट नहीं करते हैं अतः उन चक्षु और मन से व्यंजनावग्रह कैसे हो सकता है? अर्थात् - कथमपि नहीं। अतः "न चक्षुरनिन्द्रियाभ्याम्" - यह सूत्र युक्त है॥९०॥

जहाँ चक्षु के प्राप्यकारित्व को साधने में वैशेषिकों द्वारा दिया गया करणत्व हेतु भी चक्षु में प्राप्यकारित्व को साधने के लिए समर्थ नहीं है, तो फिर वहाँ कोई अन्य दूसरे भौतिकत्व, बाह्य इन्द्रियत्व विप्रकृष्टार्थग्राहकत्व हेतु तो दूर से ही निकाल दिये गए हैं अतःमन के समान चक्षु इन्द्रिय भी अप्राप्यकारी सिद्ध है। अतः चक्षु और मन के द्वारा अस्पष्ट व्यंजनावग्रह नहीं हो पाता है। इस प्रकार सूत्र निर्दोष व्यवस्थित हो जाता है।

दूर क्षेत्र में स्थित शब्द को 'मैं सुन रहा हूँ'- इस प्रकार व्यवहार के देखने से श्रोत्र इन्द्रिय अप्राप्यकारी है। इस प्रकार किसी मीमांसक का कहना भी सत्य नहीं है, क्योंकि दूर देश में स्थित गन्ध को 'मैं सूंघ रहा हूँ।' इस प्रकार का व्यवहार भी देखा जाता है अतःमन नासिका को अप्राप्यकारीपना सिद्ध हो जाने का प्रसंग आवेगा तो इष्ट सिद्धान्त की हानि हो जाएगी क्योंकि, नासिका का अप्राप्यकारीपना तो वादी प्रतिवादी दोनों को ही अभीष्ट नहीं है॥९१-९२॥

प्रकृष्ट गन्ध के अधिष्ठानभूत किसी दूरवर्त्ती प्राप्त द्रव्य का सम्बन्ध हो जाने पर दूरपने से उस प्रकार

गंधाधिष्ठानभूतस्य द्रव्यप्राप्तस्य कस्यचित्। दूरत्वेन तथा वृत्तौ व्यवहारोत्र चेन्नृणाम् ॥९३॥

समं शब्दे समाधानमिति यत्किंचनेदृशं। चोद्यं मीमांसकादीनामप्रातीतिकवादिनाम् ॥९४॥

कुट्यादिव्यवधानेपि शब्दस्य श्रवणाद्यदि। श्रोत्रमप्राप्यकारीष्टं तथा घ्राणं तथेष्यतां ॥९५॥

द्रव्यांतरितगंधस्य घ्रातसूक्ष्मस्य तस्य चेत्। घ्राणप्राप्तस्य संवित्तिः श्रोत्रप्राप्तस्य नो ध्वनेः ॥९६॥

यथा गंधाणवः केचिच्छक्ताः कुट्यादिभेदने। सूक्ष्मास्तथैव नः सिद्धाः प्रमाणध्वनिपुद्गलाः ॥९७॥

पुद्गलपरिणामः शब्दो बाह्येंद्रियविषयत्वात् गंधादिवदित्यादि प्रमाणसिद्धाः शब्दपरिणतपुद्गलाः इत्यग्रे समर्थयिष्यामहे। ते च गंधपरिणतपुद्गलवत् कुट्यादिकं भित्वा स्वेंद्रियं प्राप्नुवंतः परिच्छेद्या इति न

के ज्ञान की प्रवृत्ति हो जाती है, और वैसा होने पर मनुष्यों के इस गन्ध में दूरवर्त्ती गन्ध को जान लेने का व्यवहार हो जाता है। अर्थात् मूल प्रकृष्ट गन्धयुक्त द्रव्य की गन्ध से सुवासित पौद्गलिक पदार्थ का सम्बन्ध होने पर ही घ्राण इन्द्रिय सूंघती है।

इस प्रकार कहने पर शब्द में भी वही समाधान सदृश है, क्योंकि प्रतीति के अनुसार नहीं कहने वाले मीमांसक, वैशेषिक आदि के द्वारा जो कोई भी प्रश्न उठाये जाएंगे, उनका समाधान गन्धद्रव्य के दृष्टान्त से कर दिया जाएगा अथवा श्रोत्र पर दिये गए शंका समाधान उसी के समान घ्राण इन्द्रिय पर भी लागू हो जाते हैं ॥९३-९४॥

भींति आदि के व्यवधान होने पर भी शब्द का श्रवण होता है अतः श्रोत्र को यदि अप्राप्यकारी इष्ट किया जाता है, तब तो उसी प्रकार नासिका इन्द्रिय को भी अप्राप्यकारी इष्ट कर लेना चाहिए अर्थात् भींति और प्रासाद पंक्तियों का व्यवधान होते हुए भी गंध सूंघ ली जाती है। भींति आदि से व्यवहित गन्धयुक्त सूक्ष्म द्रव्य का घ्राण के साथ सम्बन्ध होने से सम्वित्ति होती है अर्थात् जो सूंघे जा चुके हैं, वे गन्धद्रव्य के चारों ओर फैले हुए सूक्ष्म अंश ही हैं। कुछ भींति, छप्पर उनका व्यवधान नहीं कर सकते हैं। इस प्रकार तो हम स्याद्वादियों के यहाँ भी कर्णइन्द्रिय के साथ सम्बन्धित शब्द का ही श्रावणप्रत्यक्ष कहा जाता है। प्रथम ही दूर प्रदेश में उत्पन्न हुए शब्द की पौद्गलिक लहरें फैलती-फैलती कान के निकट आ जाती हैं अतः गन्ध अणुओं के समान सूक्ष्म शब्दपुद्गल भी प्रमाणों से सिद्ध हैं। गन्ध और शब्द पर शंका-समाधान एक सा है। जिस प्रकार कितनी ही गंध परमाणु भींत आदि को छेदने-भेदने में समर्थ है, उसी प्रकार हम स्याद्वादियों के यहाँ शब्दस्वरूप सूक्ष्म पुद्गल भी प्रमाणों से सिद्ध है ॥९५-९६-९७॥

शब्द पुद्गल का परिणाम है, गन्ध, रस आदि के समान बाह्य इन्द्रिय का विषय होने से; इत्यादि प्रमाणों से यह बात सिद्ध हो जाती है कि पुद्गल द्रव्य ही शब्द स्वरूप परिणत हुए हैं। इस सिद्धान्त को अग्रिम पाँचवें अध्याय में और भी विस्तार के साथ समर्थन करेंगे तथा वे सूक्ष्म शब्द पुद्गल पदार्थ तो गन्धस्वरूप परिणत पुद्गल द्रव्य के समान भींति आदि को भेदकर अपने को प्रत्यक्ष करने वाली कर्ण इन्द्रिय को प्राप्त होने पर ही जानने योग्य हैं। अतः अप्राप्त पुद्गलों का श्रोत्र इन्द्रिय से ग्रहण नहीं होता है।

तेषामप्राप्तानामिंद्रियेण ग्रहणं। कथं मूर्ता: स्कंधा: श्रावणस्वभावा: कुट्यादिना मूर्तिमता न प्रतिहन्यंते इति चेत्, तवापि वायवीया ध्वनय: शब्दाभिव्यंजका: कथं ते न प्रतिहन्यंते इति समानं चोद्यं। तत्प्रतिघाते तत्र शब्दस्याभिव्यक्तेरयोगादनभिव्यक्तस्य च श्रवणासंभवादप्रतिघात: तस्य कुट्यादिना सिद्धस्तदंतरितस्य श्रवणान्यथानुपपत्तेरिति चेत् , तत एव शब्दात्मनां पुद्गलानामप्रतिघातोस्तु दृढपरिहारात्। दृष्टो हि गंधात्मपुद्गलानामप्रतिघातस्तद्वच्छब्दानां न विरुध्यते। यदि पुनरमूर्तस्य सर्वगतस्य च शब्दस्य परिकल्पनात्तव्यंजकानामेवाप्रतिघातात् श्रवणमित्यभिनिवेश: तथा गन्धस्यामूर्तस्य कस्तूरिकादिद्रव्यविशेषसंयोगजनितावयवा व्यंजकामूर्तद्रव्यांतरेणाप्रतिहतास्तथा घ्राणहेतव: इति

''रस आदि युक्त मूर्त्त पौद्‌गलिक शब्द ही कर्ण इन्द्रिय से सुनने योग्य स्वभाव के धारक मूर्तिमान् भींति आदि के द्वारा प्रतिघात को प्राप्त क्यों नहीं होते हैं? इस प्रकार मीमांसकों की ओर से प्रश्न होने पर जैनाचार्य कहते हैं कि तुम्हारे यहाँ भी शब्द को अभिव्यक्त करने वाली और वायु की बनी हुई वे मूर्त्तध्वनियाँ भींति आदि के द्वारा प्रतिघात को क्यों नहीं प्राप्त हो जाती हैं? हमारे समान तुम्हारे ऊपर भी प्रश्न वैसा ही खड़ा रहता है।

वायु निर्मित उन ध्वनियों का भींति आदि से यदि प्रतिघात होना माना जाता है तो उस भित्ति के द्वारा व्यवहित प्रदेश में प्रथम से विद्यमान नित्य, व्यापक शब्द की अभिव्यक्ति हो जाने का योग नहीं बन सकेगा और ऐसा होने से अप्रकट शब्द का कर्ण इन्द्रिय द्वारा सुनना असम्भव हो जाएगा, अत: उस वायु रचित ध्वनि का भित्ति आदि के द्वारा प्रतिघात नहीं होना अर्थापत्ति से सिद्ध है, क्योंकि उन भींति आदि से व्यवहित शब्द का सुना जाना अन्यथा (व्यंजक वायुओं का अप्रतिघात हुए बिना) नहीं बन सकेगा। इस प्रकार मीमांसक के कहने पर जैनाचार्य कहते हैं कि उसी प्रकार भींति के भीतर शब्द का सुना जाना अन्यथा (शब्द का अप्रतिघात हुये बिना) असम्भव है। अत: शब्दस्वरूप पुद्गलों का भींति आदि के साथ अप्रतिघात है, ऐसा मानने पर ही उस शंका का दृढ़ रूप से परिहार हो सकता है। गन्ध स्वरूप पुद्गलों का भी भींति आदि के द्वारा प्रतिघात नहीं होता हुआ देखा गया है अत: गन्धपुद्गलों के समान उन शब्द पुद्‌गलों का भी भींति आदि के द्वारा प्रतिघात नहीं होना विरुद्ध नहीं पड़ता है अर्थात् युक्त ही है।

यदि फिर मीमांसक कहे कि हमारे यहाँ शब्द सर्व व्यापक और अमूर्त्त है अत: शब्द के व्यंजक वायुओं ही के अप्रतिघात (अरोक) हो जाने से शब्दों का श्रवण हो जाता है तो जैनाचार्य कहते हैं कि इस प्रकार मीमांसक के द्वारा सिद्धान्त कल्पित करने पर तो अमूर्त्त गन्ध के भी कस्तूरी आदि द्रव्य विशेषों के संयोग से उत्पन्न हुए अवयव ही व्यंजक हैं और उस प्रकार अन्य मूर्त्त द्रव्यों से अप्रतिघात को प्राप्त गन्ध के सूंघे जाने में नासिका के सहकारी कारण हैं। अर्थात् इस प्रकार शब्द के समान गन्ध को भी अमूर्त्त, व्यापक मान लिया जाएगा। ध्वनि के समान गन्ध व्यंजक पदार्थों का ही जाना-आना कल्पित किया जा सकता है। कोई रोकने वाला नहीं है। उसका निराकरण कैसे हो सकता है?

कल्पनानुषज्यमाना कथं निवारणीया ? गंधस्यैवं पृथिवीगुणत्वविरोध इति चेत् शब्दस्यापि पुद्गलत्वविरोधस्तथा परैः शब्दस्य द्रव्यांतरत्वेनाभ्युपगमाददोष इति चेत्तथा गंधोपि द्रव्यांतरमभ्युपगम्यतां प्रमाणबलायातस्य परिहर्तुमशक्तेः। स्पर्शादीनामप्येवं द्रव्यांतरत्वप्रसंग इति चेत् , तान्यपि द्रव्यांतराणि संतु। निर्गुणत्वात्तेषामद्रव्यत्वमिति चेत् , तत एव शब्दस्य द्रव्यत्वं माभूत् महत्त्वादिगुणाश्रयत्वात् शब्दे द्रव्यत्वमिति चेत्तत् एव गंधस्पर्शादीनां द्रव्यत्वमस्तु। तेषूपचरितमहत्त्वादय इति चेत् शब्देप्युपचरिताः संतु। कुतः शब्देन

गन्ध को अमूर्त, व्यापक मानने पर तो गन्ध को पृथ्वी का गुणपना कहने का विरोध होगा। अर्थात् नैयायिकों ने गन्ध को पृथ्वी का गुण माना है अतः वे गन्ध को अमूर्त या व्यापक नहीं कह सकते हैं। मीमांसक के ऐसा कहने पर तो हम जैन कहेंगे कि इस प्रकार शब्द को भी अमूर्त व्यापक मानने पर पुद्गलपने का विरोध होगा। अर्थात् शब्द को पौद्गलिकपना जब हम जैनों के यहाँ सिद्ध हो चुका है, तो मीमांसक शब्द को अमूर्त और व्यापक कैसे मान सकेंगे? इस पर मीमांसक कहें कि इस प्रकार दूसरे विद्वानों ने यानी हम मीमांसकों ने शब्द को भिन्न द्रव्यपने से स्वीकार कर लिया है अतः वैशेषिकों के द्वारा पृथक् सिद्धान्त मान लेने पर हम पर दोष नहीं आता है। गन्ध को पृथ्वी का गुण या शब्द को आकाश का गुण मानने वाले वैशेषिकों के यहाँ भले ही कोई दोष आता हो, हमें क्या? इस प्रकार मीमांसक के कहने पर स्याद्वादी कह देते हैं कि इस प्रकार गन्ध भी एक भिन्न द्रव्य स्वीकार कर लिया जाए; उसमें कोई दोष नहीं आता है? प्रमाण की सामर्थ्य से आगत पदार्थ का परिहार केवल स्वेच्छापूर्वक निषेध कर देने से ही नहीं किया जा सकता है। इस पर मीमांसक यदि कहें कि ऐसा मानने पर स्पर्श, रस आदि को भी न्यारा-न्यारा द्रव्यपना हो जाने का प्रसंग आएगा। हम स्याद्वादी कहते हैं कि वे स्पर्श आदि भी न्यारे-न्यारे द्रव्य हो जाएँ; कोई क्षति नहीं है। अर्थात् गुण और द्रव्य का कथंचित् तादात्म्य है अतः द्रव्य के स्वरूप तो गुणों में भी लागू हो सकते हैं। पुद्गल के गुण भी मूर्त कहे जाते हैं।

गुणों में पुनः दूसरे गुण नहीं रहते हैं अतः गुण रहित होने के कारण उन स्पर्श, रस आदि गुणों में द्रव्यपना घटित नहीं होता है, इस प्रकार मीमांसक के कहने पर जैनाचार्य कहते हैं कि उसी प्रकार शब्द को भी द्रव्यपना घटित नहीं हो सकता है। शब्द को भी तो वैशेषिकों ने रूप, रस आदि के समान आकाश का गुण माना है। अन्य गुणों का आधार नहीं होने से वह भी द्रव्य नहीं हो सकता है। यदि महत्त्व, स्थूलत्व आदि गुणों का आश्रयपना हो जाने से शब्दों में द्रव्यपना मानोगे तब तो उसी प्रकार गन्ध, स्पर्श आदि को भी द्रव्यपना होना चाहिए। मीमांसक कहते हैं कि उन गन्ध, उष्ण स्पर्श आदि में तो उपचार से प्राप्त महत्त्व, स्थूलत्व आदि गुण कल्पित कर लिये गये हैं। अर्थात् - वस्तुतः उष्णद्रव्य या गन्धद्रव्य ही महान् या स्थूल हैं, उनकी स्थूलता, महत्ता ही समवेतत्व या एकार्थसमवाय सम्बन्ध से गुण में आरोपित कर ली जाती है। तब तो जैनाचार्य कहते हैं कि शब्द में भी महत्त्व आदि गुण वस्तुतः नहीं मानने चाहिए, उपचार से आरोपित करना चाहिए।

तदुपचार इतिचेत् गंधादिषु कुत: ? स्वाश्रयमहत्त्वादिति चेत् तत एव शब्दस्य द्रव्यंत्व माभूत् महत्त्वादिगुणाश्रयत्वात् शब्दे द्रव्यमिति चेत्तत् एव शब्देपि मुख्यमहत्त्वादेरसंभव: । शब्दे किमवगत: ? त्वयापि गंधादौ स किमु निश्चित: । गंधादयो न मुख्यमहत्त्वाद्युपेता: शश्वदस्वतंत्रत्वादभाववदित्यतोनुमानात्तदसंभवो निश्चित इति चेत् , तत एव शब्देपि स निश्चीयतां। शब्दे तदसिद्धेर्न तन्निश्चेय: सर्वदा तस्य स्वतंत्रस्योपलब्धेरिति चेत् गंधादावपि तत एव तदसिद्धे: । कुतस्तु तन्निश्चय: तस्य क्षित्यादिद्रव्यतंत्रत्वेन प्रतीतेरस्वतंत्रत्वसिद्धिरिति

प्रश्न : शब्द में किस हेतु से उन महत्त्व आदि का उपचार किया जाता है?

उत्तर : जैनाचार्य भी मीमांसकों से पूछते हैं कि गन्ध, स्पर्श आदि में महत्त्व आदि गुणों के रहने के उपचार का निमित्त क्या है? यदि कहो कि अपने आधारभूत द्रव्यों के महत्त्व से आधेय गन्ध आदि में भी महत्त्व उपचरित हो जाता है, तब तो शब्द में भी अपने आधार पुद्गल के महत्त्व से महत्त्व उपचरित कर लिया जाता है आधार के धर्म आधेय में आ जाते हैं।

शब्द में मुख्य महत्त्व, स्थूलत्व आदि का असंभवपना कैसे जान लिया है, जिससे कि जैन शब्द में महत्त्व आदि को मुख्य रूप से नहीं मानकर उपचार से मान रहे हैं? मीमांसकों के इस प्रश्न के प्रत्युत्तर में जैन पूछते हैं कि क्या मीमांसकों ने भी गंध आदि में वह मुख्य महत्त्व आदि का अभाव निश्चित कर लिया है? जिससे कि गन्ध, स्पर्श आदि में उपचरित महत्त्व आदि गुणों को मानते हैं। इस पर मीमांसक अनुमान बनाकर कहते हैं कि गन्ध आदि गुण मुख्यरूप से महत्त्व, ह्रस्वत्व आदि गुणों से युक्त नहीं हैं, सर्वदा स्वतंत्र नहीं होने से, जैसे कि अभाव पदार्थ। इस अनुमान से पराधीन गन्ध आदि में उन मुख्य महत्त्व आदि का असंभव निश्चित कर लिया गया है। इसके प्रत्युत्तर में जैनाचार्य कहते हैं कि इस प्रकार शब्द में भी मुख्यरूप से महत्त्व आदि का असम्भव निर्णीत कर लिया गया है। शब्द भी सर्वदा परतंत्र होने के कारण अभाव के समान होता हुआ मुख्य महत्त्व आदि को धारण नहीं कर सकता।

सदा परतंत्रपना हेतु शब्द में नहीं रहता है, अत: पक्ष में नहीं रहने वाले उस स्वरूपासिद्ध हेतु से महत्त्व आदि गुणों का मुख्यरूप से नहीं रहना शब्द में निश्चय करने योग्य नहीं है, क्योंकि सदा ही स्वतंत्र होकर रहने वाले उस शब्द की उपलब्धि हो रही है। इस प्रकार मीमांसकों के कहने पर जैनाचार्य कहते हैं कि गन्ध, स्पर्श आदि में भी हेतु की असिद्धि हो जाने से उस मुख्य महत्त्व के असम्भव की सिद्धि नहीं हो सकेगी। अर्थात् गन्ध आदि गुण भी तो स्वंतत्र दीख रहे हैं। पुन: मीमांसक कहते हैं कि उन गन्ध आदि की स्वतंत्र उपलब्धि होने का निश्चय कैसे हो सकता है? क्योंकि गन्ध आदि तो सदा पृथ्वी आदि द्रव्यों के अधीन प्रतीत होते हैं अत: अस्वतंत्रपना हेतु गन्ध, स्पर्श आदि में तो सिद्ध होता है। इसके प्रत्युत्तर में जैनाचार्य कहते हैं कि शब्द की उपलब्धि भी वक्ता, भेरी आदि द्रव्यों की अधीनता से होती है अत: अस्वतंत्रपन हेतु की शब्द में सिद्धि हो जाने पर शब्द में मुख्य रूप से महत्त्वगुण नहीं ठहर सकता है। गन्ध आदि के समान उपचार से ही महत्त्व आदि रह सकते हैं।

चेत् शब्दस्यापि वक्तृभेर्यादिद्रव्यतंत्रस्योपलब्धेरस्वतंत्रत्वसिद्धेरस्तु। तस्य तदभिव्यंजकध्वनिनिबंधनत्वात्तंत्रत्वोपलब्धेरिति चेत् तर्हि क्षित्यादिद्रव्यस्यापि गंधादिव्यंजकवायुविशेषनिबंधनत्वात्तु गंधादेस्तंत्रत्वोपपत्तिः। शब्दस्य वक्तुरन्यत्रोपलब्धेर्न तंत्रत्वं सर्वदेति चेत् गंधादेरपि कस्तूरिकादिद्रव्यादन्यत्रोपलंभात्तत्परतंत्रत्वं सर्वदा माभूत्। ततोन्यत्रापि सूक्ष्मद्रव्याश्रिता गंधादयः प्रतीयंते इति चेत् शब्दोपि ताल्वादिभ्योऽन्यत्र सूक्ष्मपुद्गलाश्रित एव श्रूयत इति कथमिव स्वतंत्रः। तदाश्रयद्रव्यस्य चक्षुषोपलब्धिः स्यादिति चेत् गंधाद्याश्रयस्य किं न स्यात्? सूक्ष्मत्वादिति चेत् तत एव शब्दाश्रय द्रव्यस्यापि

उस शब्द की अभिव्यक्ति करने में ध्वनिरूप वायु को कारणपना होने से उस शब्द को वायु की पराधीनता की उपलब्धि है अतः वस्तुतः शब्द स्वतंत्र है।

इस प्रकार मीमांसक के कहने पर जैनाचार्य कहते हैं कि पृथ्वी, जल, अग्नि आदि द्रव्यों को भी गन्ध, स्पर्श आदि के व्यंजक वायु विशेषों का कारणपना होने से गन्ध आदि को उन पृथ्वी आदि की. पराधीनता है। वास्तव में गन्ध, स्पर्श आदि सदा स्वतंत्र हैं। वक्ता के देश से अन्य देशों में भी वक्ता के शब्दों की उपलब्धि होने से शब्द परतंत्र नहीं है। इस प्रकार मीमांसकों के कहने पर तो गन्ध, स्पर्श आदि की भी कस्तूरी, अग्नि, इत्र आदि द्रव्यों के देश से अन्य देशों में उपलब्धि होती है अतः गन्ध आदि भी उन कस्तूरी आदि के सदा पराधीन नहीं है। ऐसी दशा होने पर गन्ध आदि में मुख्य महत्त्व आदि गुणों का अभाव साधने के लिए दिया गया अस्वतंत्रपना हेतु असिद्ध हो जाता है।

उस गंधवाले या स्पर्शवान द्रव्य के क्षेत्र से अन्य स्थानों में भी फैले हुए सूक्ष्म द्रव्य के आश्रित गंध, स्पर्श आदि प्रतीत होते हैं। इस प्रकार मीमांसक के कहने पर स्याद्वादी कहते हैं कि ऐसे तो शब्द भी तालु, कण्ठ, मुख आदि से अन्य प्रदेशों में फैले हुए सूक्ष्म पुद्गलों के आश्रित सुने जाते हैं अतः शब्द स्वतंत्र कैसे कहे जा सकते हैं? अर्थात् - गन्ध के समान शब्द भी छोटे-छोटे पुद्गल स्कन्धों के आश्रित होकर दूर तक सुनाई पड़ते हैं, अन्यथा नहीं। उस शब्द के आश्रित पौद्गलिक द्रव्य की चक्षुइन्द्रिय के द्वारा उपलब्धि हो जानी चाहिए॥

अर्थात् जैसे पुद्गलनिर्मित घट आदि पदार्थ चक्षु से दीखते हैं, उसी प्रकार शब्दाश्रितपुद्गल भी आँखों से दीखना चाहिए। इस प्रकार मीमांसकों की शंका पर जैनाचार्य कहते हैं कि तब तो गंध आदि के आश्रित पृथ्वी आदि पदार्थों की भी चक्षु द्वारा उपलब्धि क्यों नहीं हो जाती है? अर्थात् - गन्ध वाले या रस वाले पदार्थ में रूप तो अवश्य है ही, फिर खुली इत्र की शीशी की दूर तक फैली हुई सुगन्ध का आश्रय पृथ्वी द्रव्य चक्षु से क्यों नहीं दीख जाता है? यदि मीमांसक कहे कि गन्ध के आश्रय द्रव्य सूक्ष्म है अतः स्थूलदर्शी जीव की चक्षु से उनकी ज्ञप्ति नहीं हो पाती है। तो जैनाचार्य भी कह सकते हैं कि शब्द के आश्रय पुद्गलद्रव्य भी सूक्ष्म होने के कारण चक्षु के द्वारा उपलब्ध नहीं होते हैं। इस प्रकार शब्द और गन्ध आदि में किए गए सभी आक्षेप और समाधान हमारे तुम्हारे यहाँ समान है, ऐसा हम देख रहे हैं। अतः यदि गन्ध आदिक के "सदा अस्वतंत्रपना" - इस ज्ञापक हेतु के द्वारा महत्त्व, ह्रस्वत्व आदि से सहितपने का अभाव सिद्ध किया जाता है तो गुण रहित हो जाने से उन गन्ध आदि को द्रव्यपना नहीं बन सकेगा।

न चक्षुषोपलब्धिरिति सर्वं समं पश्यामः। ततो यदि गंधादीनां शश्वदस्वतंत्रत्वान्महत्त्वाद्युपेतत्वाभावादाख्यातो न द्रव्यत्वं तदा शब्दस्यापि न तत्। ननु शब्दस्याद्रव्यत्वेप्यसर्वगतद्रव्याश्रयत्वे कथं सकृत्सर्वत्रोपलंभः यथा गंधादेः समानपरिणामभृतां पुद्गलानां स्वकारणवशात् समंततो विसर्पणात्। वृक्षाद्व्यवहितानां विसर्पणं कथं न तेषामितिचेत् , यथा गंधद्रव्यस्कंधानां तथा परिणामात् तदेव गंधादिकृतप्रतिविधानतया दूरादेकोत्करः शब्दे समस्तो नावतरतीति तद्वत्प्राप्तस्येंद्रियेण ग्रहणं निरारेकमवतिष्ठते तथा प्रतीतेरित्याह;—

तब शब्द को भी सदा स्वतंत्र नहीं होने के कारण मुख्य महत्त्व आदि से सहितपना नहीं बन सकेगा। अतएव वह शब्द भी द्रव्य नहीं हो सकेगा। अर्थात् - दोनों में कोई अन्तर नहीं दीखता है।

शंका : शब्द को अद्रव्य होने पर असर्वगत द्रव्य के आश्रय रहने वाला मानोगे तो एक ही समय में सर्वत्र कोसों तक चारों ओर शब्द का उपलम्भ कैसे होगा?

समाधान : जैसे गन्ध, स्पर्श आदि अद्रव्य होते हुए और असर्वगत द्रव्य के आश्रित होते हुए भी कुछ दूर तक सब ओर उपलम्भ हो जाते हैं। एक सा सुगन्धित या उष्णनाम के समान परिणाम के धारक पंक्तिबद्ध पुद्गलों का अपने-अपने कारणों के वश से दशों दिशाओं में सब ओर से फैलना हो जाता है।

भावार्थ : तीव्र सुगन्ध, दुर्गन्ध वाले पदार्थों के निकटवर्ती पुद्गलों की वैसी ही सुगन्ध, दुर्गन्धरूप परिणति दूर तक होती जाती है। कुछ परिणतियाँ तो इतनी सूक्ष्म हैं कि इन्द्रियाँ उनको नहीं जान पाती हैं। यही व्यवस्था शब्द में भी लगा लेना चाहिए। वक्ता के मुख से शब्द के निकलते ही शब्द परिणतियोग्य पुद्गल स्कन्धों का सब ओर लहरों के सदृश शब्दनामक परिणाम हो जाता है। जिस जीव को जितने दूर के शब्द को सुनने की योग्यता प्राप्त है, वह अपने क्षयोपशम अनुसार उन शब्दों को सुन लेता है।

वृक्ष, पर्वत आदि से व्यवधान को प्राप्त उन शब्दों का फैलना क्यों नहीं होता है? अथवा वृक्ष, भींति आदि से टकराकर शब्द को भी वहीं गिर जाना चाहिए, फैलना नहीं चाहिए। इस प्रकार मीमांसक के कहने पर जैनाचार्य कहते हैं कि गन्धद्रव्य के स्कन्धों का जैसे टकराकर वहीं गिरना या वहीं फैलना अथवा फैल जाना नहीं होता है, उसी प्रकार पौद्गलिक शब्द स्कन्धों का भी उस प्रकार परिणाम हो जाने से वृक्षादि के द्वारा टकराकर गिरना आदि नहीं होता है, अपितु विसर्जन हो जाता है। अर्थात् कोई-कोई मन्द शब्द मन्द गन्ध के समान नहीं भी फैल पाते हैं। निमित्तों के अनुसार नैमित्तिक भाव बनते हैं अतः इस प्रकार पौद्गलिक शब्द पर की गई शंका गन्ध आदि के लिए किए गए मीमांसकों के प्रतिविधानरूप से उत्तर हो जाता है। इस प्रकार समस्त शंकाओं का पुंज शब्द में दूर ही से अवतीर्ण नहीं हो पाता है। अर्थात् गन्ध के उत्तर से सम्पूर्ण शंकाएँ दूर फेंक दी जाती है अतः उस गन्ध के समान सम्बन्ध को प्राप्त हुए ही शब्द का कर्ण इन्द्रिय के द्वारा ग्रहण होना निसंशय प्रतिष्ठित होता है, क्योंकि इस प्रकार प्रतीति हो रही है। इसी बात को ग्रन्थकार श्री विद्यानन्द आचार्य अग्रिम वार्त्तिक द्वारा स्पष्ट करते हैं।

तत्रारेकोत्कर: सर्वो गंधद्रव्ये समस्थित:। समाधिश्चेति न व्यासेनास्माभिरभिधीयते॥९८॥

प्रपंचतो विचारितमेतदन्यत्रास्माभिरिति नेहोच्यते॥

श्रुतं मतिपूर्वं द्व्यनेकद्वादशभेदम्॥ २० ॥

किमर्थमिदमुपदिष्टं मतिज्ञानप्ररूपणानंतरमित्याह;—

किं निमित्तं श्रुतज्ञानं किं भेदं किं प्रभेदकम्। परोक्षमिति निर्णेतुं श्रुतमित्यादि सूत्रितम्॥१॥

उस शब्द में उठाई गयी सम्पूर्ण शंकाओं का समूह गन्धद्रव्य में आकर समानरूप से उपस्थित हो जाता है और जो उस गन्ध द्रव्य का समाधान किया जाता है, वही समाधान पौद्गलिक शब्द द्रव्य में लागू हो जाता है। इस प्रकार हमने विस्तार के साथ इसका कथन नहीं किया है। यहाँ संक्षेप में ही किया है क्योंकि इनका विस्तारपूर्वक कथन हमने अन्यत्र किया है; यहाँ नहीं किया है। अत: पुद्गलद्रव्य की पर्याय शब्द है; यह जगत् प्रसिद्ध सिद्धान्त है॥९८॥

यहाँ तक दो परोक्ष ज्ञानों में से मतिज्ञान का वर्णन कर दूसरे क्रम प्राप्त श्रुतज्ञान का निरूपण करने के लिए श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्र कहते हैं -

श्रुतज्ञान मतिज्ञान पूर्वक होता है, उसके दो, अनेक और बारह भेद हैं॥२०॥

भावार्थ : श्रुतज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न अर्थ, अर्थान्तर ज्ञान होना श्रुतज्ञान है। वह मतिपूर्वक होता है। उसके अंगबाह्य और अंगप्रविष्ट - ये दो भेद हैं। भगवान सर्वज्ञ देव रूपी हिमाचल से निकली हुई वचन रूपी गंगा के अर्थरूपी निर्मल जल से प्रक्षालित अन्त:करण वाले ऋद्धिधारी गणधरों द्वारा ग्रन्थरूप से रचित आचार आदि १२ अंग-अंग प्रविष्ट कहलाते हैं। आरातीय आचार्य कृत, अंग अर्थ के आधार से रचित ग्रन्थ अंगबाह्य है।

[१]कालिक [२]उत्कालिक आदि भेदों से अंगबाह्य अनेक प्रकार का है। अंग प्रविष्ट, आचार, सूत्रकृत, स्थान, समवाय, व्याख्याप्रज्ञप्ति, ज्ञातृधर्मकथा, उपासकाध्ययन, अन्तकृद्दश, अनुत्तरोपपादिकदश, प्रश्नव्याकरण, विपाकसूत्र, दृष्टिवाद-इन भेदों से बारह प्रकार का है। अथवा सोलह सौ चौतीस करोड़, तिरासी लाख, सात हजार, आठ सौ अठासी (१६३४८३०७८८८) अपुनरुक्त अक्षरों का सम्पूर्ण श्रुत के एक कम एकट्ठि प्रमाण अक्षरों में भाग देने से एक सौ बारह करोड़ तिरासी लाख अठावन हजार पाँच (११२८३५८०००५) पद तो अंगप्रविष्ट के हैं और शेष आठ करोड़ एक लाख आठ हजार एक सौ पिचत्तर अक्षरों का अंग बाह्य है॥

मतिज्ञान का निरूपण करने के अव्यवहित उत्तर ही, इस सूत्र का श्री उमास्वामी महाराज ने किस प्रयोजन के लिए उपदेश किया है? इस प्रकार की जिज्ञासा का श्री विद्यानन्द आचार्य उत्तर देते हैं -

उस परोक्ष श्रुतज्ञान का निमित्त कारण क्या है? और श्रुतज्ञान के भेद कौन और कितने हैं? तथा परोक्ष श्रुतज्ञान के भेदों के भी उत्तर भेद कितने और कौन-कौन हैं?

इस प्रकार की जिज्ञासाओं का निर्णय ''श्रुतं मतिपूर्वं द्व्यनेकद्वादशभेदम्'' सूत्र द्वारा श्री उमास्वामी महाराज ने निरूपित किया है॥१॥

किं निमित्तं श्रुतज्ञानं नित्यशब्दनिमित्तमन्यनिमित्तं चेति शंकामपनुदति मतिपूर्वकमिति वचनात्। किं भेदं तत्? षड्भेदं द्विभेदमित्यभेदं वेति संशयं सहस्रप्रभेदं द्वादशप्रभेदमनेकभेदं वेति चारेकामपाकरोति द्व्यनेकद्वादशभेदमिति वचनात्। तत्र किमिदं श्रुतमित्याह;—

श्रुतेऽनेकार्थतासिद्धे ज्ञानमित्यनुवर्तनात्। श्रवणं हि श्रुतज्ञानं न पुनः शब्दमात्रकम्॥२॥

किस पदार्थ को निमित्तकारण मानकर श्रुतज्ञान उत्पन्न होता है? नित्य अपौरुषेय शब्द के निमित्त से या किसी अन्य निमित्त से या किसी पुण्य विशेष या भावना ज्ञान से श्रुतज्ञान होता है? इस प्रकार की शंका का ''मतिपूर्व'' - इस वचन से निराकरण हो जाता है। अर्थात् मतिज्ञानस्वरूप निमित्त से श्रुतज्ञान उत्पन्न होता है। नित्य शब्द आदि से नैमित्तिक श्रुतज्ञान नहीं होता है। सूत्र के उत्तरार्द्ध का फल यह है कि उस श्रुतज्ञान के कितने भेद हैं? इस प्रश्न के उत्तर में कतिपय विद्वान् कहते हैं कि श्रुतज्ञान के छह भेद हैं। ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद, धनुर्वेद, आयुर्वेद हैं। या शिक्षा, व्याकरण, कल्प, निरुक्त, छन्द ज्योतिष ये वेद के छह अंग हैं। तीन वेद और तीन उपवेद होकर भी छह भेद हो जाते हैं। तथा श्रुतज्ञान के ब्राह्मण भाग और मंत्र भाग ये दो भेद हैं। अथवा अद्वैतवादियों के अनुसार वेद का कोई भेद नहीं है। एक ही प्रकार का ब्रह्मप्रतिपादक वेद है। औपाधिक भेद मूलपदार्थ को भिन्न प्रकार का नहीं कर सकते हैं। इस प्रकार के संशय का ''द्व्यनेकद्वादशभेदम्'' के द्वि इस वचन से निवारण हो जाता है।

अर्थात् वह श्रुतज्ञान मूल में दो भेद वाला है। उसके छह आदि भेद नहीं हैं। कोई-कोई मीमांसक वेदों की सहस्र शाखायें मानकर वेद के उत्तर प्रभेद हजार मानते हैं। ''सहस्रशाखो वेदः''। अन्य कोई व्याकरण, न्याय, साहित्य, सिद्धान्त, इतिहास, ज्योतिष, मंत्र आदि प्रभेदों से आगम के बारह उत्तर भेद मानते हैं। किन्हीं विद्वानों ने अन्य भी अनेक उत्तर भेद स्वीकार किए हैं। कोई ऐसे भी हैं, जो उत्तर भेदों को मानते ही नहीं हैं। इस प्रकार की शंका का निरास तो ''द्व्यनेकद्वादशभेदम्'' - इस सूत्रार्द्ध के ''अनेकद्वादशभेदम्'' वचन से हो जाता है। अर्थात् - श्रुतज्ञान के दो भेदों के उत्तरभेद अनेक और बारह हैं, न्यून अधिक नहीं हैं।

इस सूत्र में स्थित यह श्रुत क्या पदार्थ है? इस प्रकार की जिज्ञासा पर श्री विद्यानन्द आचार्य कहते हैं -

श्रुत शब्द के अनेक अर्थ हैं। शास्त्र, निर्णीत अर्थ शब्द आदि कतिपय अर्थ सहित सिद्ध होते हुए भी ''मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम्'' - इस सूत्र से ज्ञानम् शब्द की अनुवृत्ति चले आने के कारण भावरूप श्रवण द्वारा निर्वचन किया गया श्रुत का अर्थ श्रुतज्ञान है। किन्तु फिर कानों से सुना गया केवल शब्द ही श्रुत नहीं है।

अर्थात् - ''श्रवणं श्रुतं''- इस प्रकार भाव में क्त प्रत्यय कर व्युत्पन्न श्रुतपद ज्ञान की अनुवृत्ति होने से रूढ़ि के अधीन होता हुआ किसी विशेषज्ञान को कहने वाला है॥२॥

कथमेवं शब्दात्मकं श्रुतमिह प्रसिद्धं सिद्धांतविदामित्याह;—

तच्चोपचारतो ग्राह्यं श्रुतशब्दप्रयोगत:। शब्दभेदप्रभेदोक्त: स्वयं तत्कारणत्वत: ।।३।।

तच्च शब्दमात्रं श्रुतमिह ज्ञेयमुपचारात् द्व्यनेकद्वादशभेदमित्यनेन शब्दसंदर्भस्य भेदप्रभेदयोर्वचनात् स्वयं सूत्रकारेण श्रुतशब्दप्रयोगाच्च। स हि श्रूयतेस्मेति श्रुतं प्रवचनमित्यस्येष्टार्थस्य संग्रहार्थ: श्रेयो। नान्यथा स्पष्टज्ञानाभिधायिन: शब्दस्य प्रयोगार्हत्वात्। कुत: पुनरुपचार: तत्कारणत्वात्। श्रुतज्ञानकारणं हि प्रवचनं

विशेष ज्ञान को यदि श्रुत कहा जाता है तो यहाँ इस प्रकरण में सिद्धान्तवेदियों के शब्दात्मक श्रुत कैसे प्रसिद्ध हो सकता है? इस प्रकार प्रश्न होने पर आचार्य कहते हैं कि -

मुख्यरूप से श्रुत का अर्थ श्रुतज्ञान है और उपचार से वह शब्दात्मक श्रुत भी श्रुतशब्द करके ग्रहण करने योग्य है। तभी तो शब्दों के होने वाले दो भेद और अनेक या बारह प्रभेद भगवान सूत्रकार ने स्वयं कह दिये हैं। अर्थात् - यदि ज्ञान का ही ग्रहण इष्ट होता तो शब्द के होने वाले भेद-प्रभेदों का वचन नहीं कहते, अत: उपचार से शब्दात्मक श्रुत भी अवश्य ग्राह्य है ।।३।।

भावार्थ : वक्ता के श्रुतज्ञान का कार्य और श्रोता के श्रुतज्ञान का कारण होने से शब्द भी श्रुत कहे जा सकते हैं। तत् श्रुतज्ञानं कारणं यस्य'' अथवा ''तस्य श्रुतज्ञानस्य कारणं''- इस प्रकार बहुब्रीहि या तत्पुरूष समाज द्वारा ''तत्कारणं'' की व्युत्पत्ति कर देने से उक्त अभिप्राय ध्वनित हो जाते हैं।।३।।

यहाँ वह श्रुत तो शब्दमात्र है, वह उपचार से समझना चाहिए, क्योंकि उस श्रुत के दो भेद हैं तथा अनेक और बारह भेद हैं। इस कथन से सूत्रकार ने शब्द सम्बन्धी रचना विशेष के यहाँ संभव भेद-प्रभेदों का कथन किया है। तथा सूत्रग्रन्थ बनाने वाले श्री उमास्वामी महाराज ने स्वयं श्रुतशब्द का प्रयोग किया है। अर्थात् अंगबाह्य, अंगप्रविष्ट या अनेक, बारह ये भेद-प्रभेद तो शब्द के ही हो सकते हैं। श्रुतज्ञान में तो शब्द द्वारा ये भेद प्रभेद उपचार से माने गए हैं, मौलिक नहीं। स्वयं सूत्रकार ने श्रुत शब्द का प्रयोग किया है, जोकि ''श्रु श्रवणे'' धातु से कर्म में क्तप्रत्यय करने पर सुलभता से शब्द श्रुत को कहने के लिए अभिमुख हुआ है। जो कर्ण इन्द्रिय द्वारा सुना जा चुका है, वह श्रुत है। इस प्रकार निर्वचन किया गया शब्दमय श्रुतप्रवचन है। इस प्रकार के इस इष्ट अर्थ का संग्रह करने के लिए श्रुत शब्द का प्रयोग करना श्रेष्ठ है। ज्ञान और शब्द दोनों में रहने से श्रुतपद का प्रयोग करना अन्य प्रकारों से समुचित नहीं हो सकता है। यदि ज्ञान ही अर्थ, सूत्रकार को अभीष्ट होता तो स्पष्ट रूप से ज्ञान को कहने वाले ज्ञान, प्रमाण, वेदन, श्रुतज्ञान आदि पदों का ही प्रयोग करना योग्य था। भाव और कर्म में निष्ठा प्रत्यय कर ज्ञान और शब्द दोनों को कहने वाले श्रुत का प्रयोग करना उचित नहीं था, किन्तु प्रयोग किया है अत: अर्थापत्ति से सिद्ध हो जाता है कि मुख्य रूप से श्रुतज्ञान और गौणरूप से शब्दात्मक श्रुत इष्ट है।

शंका : शब्द में श्रुतपने का उपचार कैसे किया गया?

समाधान : श्रुतज्ञान का कारण होने से प्रवचन को उपचार से श्रुत कहते हैं क्योंकि श्रोताओं के श्रुतज्ञान का कारण नियम से प्रवचन है अत: वह शब्द उपचार से श्रुतप्रमाण कह दिया जाता है।

श्रुतमित्युपचर्यते। मुख्यस्य श्रुतज्ञानस्य भेदप्रतिपादनं कथमुपपन्नं तज्ज्ञानस्य भेदप्रभेदरूपत्वोपपत्तेः द्विभेदप्रवचनजनितं हि ज्ञानं द्विभेदं अंगबाह्यप्रवचनजनितस्य ज्ञानस्यांगबाह्यत्वात् अंगप्रविष्टवचनजनितस्य चांगप्रविष्टत्वात्। तथानेकद्वादशप्रभेदवचनजनितं ज्ञानमनेकद्वादशप्रभेदकं कालिकोत्कालिकादिवचनजनितस्यानेकप्रभेदरूपत्वात्, आचारादिवचनजनितस्य च द्वादशप्रभेदत्वादिदमुपचरितं च श्रुतं द्व्यनेकद्वादशभेदमिहैव वक्ष्यते। द्विभेदमनेकद्वादशभेदमिति प्रत्येकं भेदशब्दस्याभिसंबंधात् तथा चतुर्भेदो

शंका : श्रुतज्ञान के मुख्य भेद-प्रभेदों का उक्त रीत्या प्रतिपादन करना कैसे युक्तियुक्त हो सकता है?

समाधान : भेद-प्रभेद वाले उन शब्दों से उत्पन्न हुए श्रुतज्ञान के भी उन दो आदि को भेद प्रभेद-स्वरूपपना बन जाता है अत: दो भेद वाले शब्दमय प्रवचन से उत्पन्न हुआ श्रुतज्ञान इन अंगबाह्य और अंगप्रविष्ट भेदों से दो भेद वाला है। मध्यमपद के अक्षरों का श्रुतज्ञान के अक्षरों में भाग देने पर शेष बचे आठ करोड़ एक लाख आठ हजार एक सौ पचहत्तर अक्षरों का स्वरूप शब्दमय श्रुतप्रवचन से उत्पन्न हुआ ज्ञान अंगबाह्य है और बारह अंगों में प्रविष्ट कुछ न्यून १८४४६७४४०७३७०९५५१६१५ इतने अपुनरुक्त अक्षर अथवा इनसे कितने ही गुने पुनरुक्तअक्षरों या एक सौ बारह करोड़ तिरासी लाख अट्ठावन हजार पाँच मध्यम पदों स्वरूप शब्दश्रुत प्रवचन से उत्पन्न हुआ ज्ञान तो अंगप्रविष्ट है। इस प्रकार दो प्रकार के प्रवचन से दो भेद वाला श्रुतज्ञान कहा जाता है।

तथा, अंगबाह्य भेद के अनेक प्रभेद और अंगप्रविष्ट भेद के बारह प्रभेदस्वरूप वचन से उत्पन्न हुआ ज्ञान अनेक प्रभेद और बारह प्रभेद वाला व्यवहृत होता है। स्वाध्यायकाल में पढ़ने योग्य नियतकाल वाले वचन कालिक हैं और स्वाध्याय काल के लिए अनियत कालरूप वचन उत्कालिक हैं। इनके भेद सामायिक, उत्तराध्ययन आदि हैं। ऐसे कालिक आदि वचनों से उत्पन्न हुआ अंग बाह्य ज्ञान अनेक प्रभेदरूप है और अट्ठारह हजार, छत्तीस हजार आदि मध्यम पदोंस्वरूप आचारांग, सूत्रकृतांग आदि वचनों से उत्पन्न हुआ अंगप्रविष्ट ज्ञान के बारह प्रभेद हैं, अत: यह शब्दस्वरूप श्रुत उपचरित प्रमाण है। इस शब्द श्रुत के द्रव्य रूप से दो भेद अथवा अनेक और बारह प्रभेद यहाँ ही ग्रन्थ में स्पष्ट किये जाएंगे। ये सब भेद शब्दस्वरूप द्वादशांग वाणी और अंगबाह्य वाणी के हैं।

द्वन्द्व समास के आदि या अन्त में पड़े हुए पद का प्रत्येक पद में सम्बन्ध हो जाता है।

अत: यहाँ भी ''द्व्यनेकद्वादशभेदम्'' इस समासित पद के अन्त में पड़े हुए भेद शब्द का तीनों में समन्तात् सम्बन्ध हो जाने से दो भेद, अनेक भेद और बारह भेद ऐसा अर्थ हो जाता है और ऐसा होने पर अतिप्रसङ्गों की व्यावृत्ति कर दी जाती है। अन्यमती विद्वान् वेदरूप श्रुत के ऋग्, यजुर्, साम, अथर्व ये चार भेद मानते हैं, अथवा चार वेदों के शिक्षा, व्याकरण, कल्प, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष ये छह अंग स्वरूप प्रभेद मानते हैं, या वेदों की हजार शाखायें स्वीकार करते हैं। इतर पण्डित आत्मतत्त्व प्रतिपादक ईश, केन, तित्तिरि आदि दश उपनिषदों या अन्य उपनिषदों को भी स्वीकार करते हैं। इत्यादि भेद प्रभेद वाले श्रुताभास

वेद: षडंग: सहस्रशाख: इत्यादि श्रुताभासनिवृत्तिरप्रमाणत्वप्रत्यक्षत्वादिनि वृत्तिश्च कृता भवति। कथमित्याह;—

सम्यगित्यधिकारात्तु श्रुताभासनिवर्तनम्। तस्याप्रामाण्यविच्छेद: प्रमाणपदवृत्तित: ॥४॥

परोक्षाविष्कृतेस्तस्य प्रत्यक्षत्वनिराक्रिया। नावध्यादिनिमित्तत्वं मतिपूर्वमिति श्रुते: ॥५॥

न नित्यत्वं द्रव्यश्रुतस्य भावश्रुतस्य वा न नित्यनिमित्तत्वमिति सामर्थ्यादवसीयते मतिपूर्वत्ववचनादवध्याद्यनिमित्तत्ववत्। श्रुतनिमित्तत्वं श्रुतस्यैवं बाध्येतेति न शंकनीयं। कुत: ?

की निवृत्ति उक्त भेद प्ररूपण से हो जाती है। "**तत्प्रमाणे**" सूत्र से प्रमाण पद की अनुवृत्ति चले आने से दो, अनेक, बारह भेद वाले श्रुत के अप्रमाणपने की निवृत्ति हो जाती है और "**आद्ये परोक्षम्**" कह देने से श्रुत को प्रत्यक्षप्रमाणपने की निवृत्ति हो जाती है। श्रुतज्ञान में अवग्रह, ईहा आदिपना भी निषिद्ध होजाता है। "मतिपूर्वं" ऐसा कह देने से अवधि आदि प्रत्यक्षप्रमाणरूप निमित्तों से श्रुत की उत्पत्ति होना प्रतिषिद्ध कर दिया गया है। तथा, श्रुतज्ञान किसी भी ज्ञान को पूर्ववर्ती नहीं मानकर स्वतंत्र तथा मति या केवलज्ञान के समान हो जाता है, इस अनिष्ट प्रसंग की भी "मतिपूर्वं" कह देने से निराकृति कर दी गई है। **कैसे या किस प्रकार कर दी गई है? इसकी उपपत्ति को स्वयं ग्रन्थकार स्पष्ट करते हैं -**

"तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्" - इस सूत्र से सम्यक् इस पद का अधिकार चला आ रहा है अत: वेद व्यासोक्त पुराण आदि शास्त्रसदृश दीखने वाले श्रुताभासों की निवृत्ति हो जाती है और "तत्प्रमाणे" सूत्र से प्रमाण पद की अनुवृत्ति होने के कारण उस श्रुतज्ञान के अप्रमाणपने का विच्छेद हो जाता है। आदि के दो ज्ञान परोक्ष हैं। इस प्रकार पूर्व में ही श्रुतज्ञान को परोक्षपना प्रकट कर देने से उस श्रुत के प्रत्यक्षपन का निराकरण हो जाता है। इसी प्रकार "मतिपूर्वं" - इस सूत्र का श्रवण होने से श्रुत में अवधि, मन:पर्यय आदि निमित्तों से उत्पन्न होने का भी निषेध किया गया है अत: मतिपूर्वं, सम्यक्, परोक्षं, प्रमाणं, श्रुतं इस वाक्यार्थ द्वारा अनिष्ट निवृत्ति होकर श्रुत का स्वरूप निरूपण हो जाता है॥४-५॥

शब्दस्वरूप द्रव्यश्रुत के अथवा लब्धि उपयोगस्वरूप भावश्रुत के नित्यपना नहीं है तथा व्यापक, कूटस्थ नित्य, शब्दोंस्वरूप निमित्त से उत्पन्न होना भी नहीं है। यह सूत्र के सामर्थ्य से ही अर्थापत्ति द्वारा निश्चित कर लिया जाता है क्योंकि सूत्रकार का श्रुतज्ञान को मतिपूर्वक वचन है। जैसे कि अवधि आदि निमित्तों का नैमित्तिकपना श्रुत में नहीं है। अर्थात् - प्रवाहरूप से द्रव्यश्रुत या भावश्रुत नित्य हो सकते हैं किन्तु व्यक्तिरूप से श्रुत अनित्य है और अनित्य मतिज्ञान से उत्पन्न होता है। अनित्य शब्दों से भावश्रुत होता है। अवधि आदि ज्ञान श्रुत के निमित्त नहीं हैं।

इस प्रकार मतिज्ञान को ही श्रुत का निमित्त मान लेने पर तो फिर श्रुतज्ञान के पीछे उस श्रुतज्ञान को निमित्त मानकर उत्पन्न होने वाले द्रव्यश्रुत या भावश्रुत की उत्पत्ति में बाधा आती है, ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि-

पूर्वशब्दप्रयोगस्य व्यवधानेपि दर्शनात्। न साक्षान्मतिपूर्वस्य श्रुतस्येष्टस्य बाधनम्॥६॥

लिंगादिवचनश्रोत्रमतिपूर्वात्तदर्थगात्। श्रुताच्छ्रुतमिति सिद्धं लिंगादिविषयं विदाम्॥७॥

नन्वेवं केवलज्ञानपूर्वकं भगवदर्हत्प्रभाषितं द्रव्यश्रुतं विरुद्ध्यत इति मन्यमानं प्रत्याह;—

न च केवलपूर्वत्वात्सर्वज्ञवचनात्मनः। श्रुतस्य मतिपूर्वत्वनियमोत्र विरुध्यते॥८॥

ज्ञानात्मनस्तथाभावप्रोक्ते गणभृतामपि। मतिप्रकर्षपूर्वत्वादर्हत्प्रोक्तार्थसंविदः॥९॥

श्रुतज्ञानं हि मतिपूर्वं साक्षात्पारंपर्येण वेति नियम्यते न पुनः शब्दमात्रं यतस्तस्य केवलपूर्वत्वेन विरोधः स्यात्। न च गणधरदेवादीनां श्रुतज्ञानं केवलपूर्वकं तन्निमित्तशब्दविषयमतिज्ञानातिशयपूर्वकत्वात्तस्येति निरवद्यं॥

व्यवधान हो जाने पर भी पूर्वशब्द का प्रयोग होना देखा जाता है अतः जिस श्रुत में साक्षात्रूप से अथवा श्रुतजन्य श्रुतज्ञान में परम्परा से मतिज्ञान निमित्त हो रहा है, उस इष्ट श्रुत के उत्पत्ति की कोई बाधा प्राप्त नहीं है। अर्थात् - ''मतिपूर्वं'' कहने से साक्षात् मतिपूर्वक और परम्परामतिपूर्वक दोनों का ग्रहण हो जाता है। लिंग आदि के वचन को पूर्व में श्रोत्र मतिज्ञान से जानकर उसके वाच्य अर्थ का विषय करने वाले पहले श्रुतज्ञान से साध्य आदि को विषय करने वाला दूसरा श्रुतज्ञान विद्वानों के यहाँ इस प्रकार से प्रसिद्ध है। अर्थात् उस दूसरे श्रुतज्ञान से अनुमेयपन धर्म को जानने वाला तीसरा श्रुतज्ञान भी उत्पन्न हो सकता है। जिस हेतु से जहाँ मूल साध्य को साधा जाता है, वहाँ दस, पन्द्रह भी श्रुतज्ञान उत्तरोत्तर हो सकते हैं। उन सबके पहिले होने वाला मतिज्ञान उनका परम्परया निमित्तकारण है॥६-७॥

शंका : इस प्रकार कहने पर अर्हन्तदेव द्वारा कथित शब्दात्मक द्रव्यश्रुत को केवलज्ञानपूर्वकपना विरुद्ध होगा, क्योंकि जैनाचार्य श्रुत के पूर्व में मतिज्ञान या श्रुतज्ञान ही स्वीकार करते हैं। अर्थात् देवाधिदेव भगवान के शब्दमय द्रव्यश्रुत के पूर्व में केवलज्ञान है। व्यवहित या अव्यवहितरूप से मतिज्ञान वहाँ पूर्ववर्त्ती नहीं है अतः मतिपूर्वक श्रुतज्ञान घटित नहीं है। इस प्रकार कहने वाले के प्रति आचार्य **समाधान** कहते हैं-

सर्वज्ञ प्रतिपादित वचनस्वरूप श्रुत केवलज्ञानपूर्वक हो जाने से इस प्रकरण में श्रुत के मतिपूर्वक होने के नियम का कोई विरोध नहीं आता है। क्योंकि ज्ञानात्मक श्रुत को मतिज्ञानपूर्वक कहा है। ऐसा होने पर सभी श्रुतज्ञानों को साक्षात् या परम्परा से मतिपूर्वकपना सिद्ध होता है। चार ज्ञान को धारने वाले गणधर देव के भी अर्हंतभाषित अर्थ की श्रुतज्ञानरूप सम्वित्ति को प्रकर्षमतिज्ञानपूर्वकपना है। अभिप्राय यह है कि भगवान के शब्दों को कर्ण इन्द्रिय से सुनकर श्रावणमतिज्ञानपूर्वक श्रुतज्ञान गणधरों के भी होता है, गणधरों के लिए कोई पृथक् मार्ग नहीं है॥८-९॥

ज्ञानस्वरूप श्रुत साक्षात् अथवा परम्परा से पूर्ववर्त्ती मतिज्ञान से ही उत्पन्न होता है, ऐसा नियम किया गया है किन्तु फिर भी सम्पूर्ण शब्दात्मक श्रुत मतिपूर्वक है, यह नियम नहीं किया गया है, जिससे कि उन सर्वज्ञ वचनों को केवलज्ञानपूर्वकपना होने के कारण विरोध दोष हो सकता है। अर्थात् - द्रव्यश्रुत के पूर्व में केवलज्ञान के हो जाने से श्रुतज्ञान के मतिपूर्वकपन का पूर्वापर में कोई विरोध नहीं आता है।

मतिसामान्यनिर्देशान्न श्रोत्रमतिपूर्वकं। श्रुतं नियम्यतेऽशेषमतिपूर्वस्य वीक्षणात् ॥१०॥

श्रुत्वा शब्दं यथा तस्मात्तदर्थं लक्षयेदयं। तथोपलभ्य रूपादीनर्थं तन्नांतरीयकम् ॥११॥

यथा हि शब्दः स्ववाच्यमविनाभाविनं प्रत्यापयति तथा रूपादयोपि स्वाविनाभाविनमर्थं प्रत्यापयंतीति श्रोत्रमतिपूर्वकमिव श्रुतज्ञानमीक्ष्यते। ततो न श्रोत्रमतिपूर्वकमेव तदिति नियमः श्रेयान् , मतिसामान्यवचनात्॥

गणधर देव आदिकों को उत्पन्न हुआ श्रुतज्ञान भी केवलज्ञानपूर्वक नहीं है, क्योंकि उस श्रुतज्ञान के निमित्तकारण सर्वज्ञ कथित शब्दों को विषय करने वाले कर्ण इन्द्रियजन्य विशिष्ट अतिशय वाले मतिज्ञान को अव्यवहित पूर्ववर्त्ती मानकर उन गणधर आदि के वह द्रव्य एवं भाव श्रुतज्ञान उत्पन्न होता है अतः "मतिपूर्वं" यह श्रुतज्ञान का लक्षण सूत्र निर्दोष है।

"मतिपूर्वं" ऐसा निर्देश करके सामान्यरूप से सम्पूर्ण मतिज्ञानों का संग्रह होने से केवल श्रोत्रइन्द्रियजन्य मतिज्ञान को ही पूर्ववर्त्ती मानकर श्रुतज्ञान उत्पन्न होता है, ऐसा नियम नहीं किया जा सकता है, क्योंकि रूप का चाक्षुषज्ञान, रस या रसवान का रासन ज्ञान अथवा स्मृति, प्रत्यभिज्ञान आदि सभी प्रकार के मतिज्ञानों-स्वरूप पूर्ववर्ती निमित्तों से श्रुतज्ञानों की उत्पत्ति होती हुई देखी जाती है। यह श्रुतज्ञानी जीव या श्रुतशब्दप्रयोक्ता वक्ता जिस प्रकार शब्द को सुनकर उससे उसके वाच्य अर्थ को लक्षित कर देता है, उसी प्रकार चक्षु आदि इन्द्रियों द्वारा रूप, स्पर्श आदि अर्थों को मतिज्ञान से जानकर उन अर्थों के अविनाभावी अर्थान्तरों को भी श्रुतज्ञान द्वारा ग्रहण कर लेता है। उसमें कोई विशेषता नहीं है।

कर्ण इन्द्रिय के समान अन्य पाँचों इन्द्रियों से भी मतिज्ञान होकर उसको पूर्ववर्त्ती निमित्त कारण हो जाने पर द्रव्यश्रुत या भावश्रुत उत्पन्न होते हैं अतः श्रुत की बहुभाग प्रवृत्ति श्रोत्र इन्द्रियजन्य मतिज्ञानपूर्वक श्रुतज्ञान में होती है। एतावता अन्य इन्द्रियजन्य मतिज्ञानपूर्वक होने वाले श्रुतों का निराकरण नहीं किया जा सकता है ॥१०-११॥

जिस प्रकार शब्द अपने अविनाभावीवाच्य अर्थ का नियम से निश्चय करा देता है, उसी प्रकार रूप, रस आदि भी अपने साथ अविनाभाव रखने वाले दूसरे अर्थों की प्रतीति करा देते हैं अतः श्रोत्रमतिपूर्वक श्रुतज्ञान के समान चाक्षुष आदि मतिपूर्वक भी श्रुतज्ञान होते देखे जाते हैं। श्रुतज्ञान केवल श्रोत्रमतिपूर्वक ही है, यह नियम करना श्रेष्ठ नहीं है। अन्यथा अन्धे, बहरे जीवों के श्रुतज्ञानों में या अन्य भी जीवों के श्रुतज्ञानों में लक्षण नहीं घटने से अव्याप्ति दोष आएगा अतः सूत्रकार ने सामान्य मतिज्ञानों के संग्रहार्थ "मतिपूर्वं" ऐसा सामान्य करके मति यह वचन कहा है, जो कि सभी मतिज्ञानों को श्रुत का निमित्त होना संभव है।

इस प्रकार स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, धारणा आदिक मतिज्ञान ही श्रुतज्ञान हो जाएंगे, यह प्रसंग भी प्राप्त नहीं होता है, क्योंकि, सूत्रकार ने उस श्रुतज्ञान के मतिपूर्वकपने का नियम किया है, किन्तु ये स्मृति आदिक तो स्वयं मतिज्ञानरूप ही हैं।

यदि इन स्मरण आदि के पूर्व में साक्षात् या परम्परा से मतिज्ञान होता, तब तो ये श्रुत कहे जा सकते थे। किन्तु, ये स्मरण आदिक तो मूल में ही स्वयं मतिज्ञानस्वरूप हैं। श्रुतज्ञानावरण कर्म के विशेष क्षयोपशम

न स्मृत्यादि मतिज्ञानं श्रुतमेवं प्रसज्यते। मतिपूर्वत्वनियमात्तस्यास्य तु मतित्वत: ।।१२।।

श्रुतज्ञानावृतिच्छेदविशेषापेक्षणस्य च। स्मृत्यादिष्वंतरंगस्याभावान्न श्रुततास्थिति: ।।१३।।

मतिर्हि बहिरंगं श्रुतस्य कारणं अंतरंगं तु श्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमविशेष:। स च स्मृत्यादेर्मतिविशेषस्य नास्तीति न श्रुतत्वम्।।

मतिपूर्वं ततो ज्ञेयं श्रुतमस्पष्टतर्कणम्। न तु सर्वमतिव्याप्तिप्रसंगादिष्टबाधनात्।।१४।।

श्रुतमस्पष्टतर्कणमित्यपि मतिपूर्वं नानार्थप्ररूपणं श्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमापेक्षमित्यवगंतव्यमन्यथा स्मृत्यादीनामस्पष्टाक्षज्ञानानां च श्रुतत्वप्रसंगात्। सिद्धांतविरोधापत्तिरिति सूक्तं मतिपूर्वं श्रुतं। तच्च—

की अपेक्षा श्रुतज्ञान को होती है। श्रुतज्ञान का वह अन्तरंग कारण है। स्मृति आदि अन्तरंग कारण मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशमविशेष से उत्पन्न होते हैं, अत: स्मृति आदि में श्रुतज्ञानावरणकर्म के क्षयोपशमस्वरूप अन्तरंग कारण के नहीं होने से श्रुतपना व्यवस्थित नहीं हो पाता।।१२-१३।।

मतिज्ञान द्रव्यश्रुत या भावश्रुत का बहिरंग कारण है। श्रुत का अन्तरंग कारण तो श्रुतज्ञानावरण कर्म का विशेष क्षयोपशम है। वह श्रुतज्ञानावरण कर्म का विशेष क्षयोपशम स्मृति आदि के नहीं है। अत: स्मृति आदि को श्रुतपना नहीं है।

जो कोई प्रतिवादी अविशदरूप तर्कणा करने को श्रुतज्ञान कहते हैं, उनको भी उस अस्पष्ट तर्कण लक्षण से वह मतिपूर्वक होता हुआ ही अस्पष्ट सम्वेदन श्रुत समझना चाहिए। किन्तु सभी अविशद सम्वेदनों को श्रुत नहीं समझ लेना चाहिए।

अन्यथा (मतिपूर्वक होने वाले या इन्द्रियपूर्वक होने वाले अथवा व्याप्तिज्ञानपूर्वक होने वाले एवं अवग्रहपूर्वक हुए आदि) सभी अविशद ज्ञानों को यदि श्रुत माना जायेगा तब तो रासन, स्पार्शन मतिज्ञान, अनुमान, ईहा आदि अस्पष्ट ज्ञानों में अतिव्याप्ति दोष हो जाने का प्रसंग होगा। और ऐसा होने से इष्टसिद्धान्त में बाधा उपस्थित हो जाएगी।।१४।।

पदार्थों का अविशद वेदन करना श्रुतज्ञान है और वह श्रुतज्ञान मतिपूर्वक होता है। तथा श्रुतज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम विशेष की अपेक्षा से उत्पन्न हुआ और अविनाभावी अनेक अर्थान्तरों का प्ररूपण करने वाला ज्ञान श्रुतज्ञान है ऐसा समझ लेना चाहिए। अन्यथा (ऐसा नहीं मानने पर) स्मृति, प्रत्यभिज्ञान आदि तथा अन्य इन्द्रियों से जन्य अस्पष्ट मतिज्ञानों को भी अस्पष्ट सम्वेदन होने के कारण श्रुतपने का प्रसंग आएगा और ऐसा होने पर जैन सिद्धान्त के साथ विरोध हो जाने की आपत्ति हो जाती है अत: मतिज्ञानपूर्वक श्रुतज्ञान होता है यह मतिज्ञान का लक्षण समीचीन है। बहिरंग कारण मतिज्ञान से और अन्तरंग कारण श्रुतज्ञानावरण क्षयोपशम से उत्पन्न हुआ अविशदज्ञान श्रुतज्ञान है। तथा श्रुतज्ञान तो -

''श्रुतं मतिपूर्वं'' - इतने सूत्रार्द्ध का व्याख्यान कर अब ''द्व्यनेकद्वादशभेदम्'' इस उत्तरार्द्ध का भाष्य करते हैं - कि वह श्रुतज्ञान अंगबाह्य और अंगप्रविष्ट के भेद से दो प्रकार का है। इसमें प्रथम (अंगबाह्य) तो कालिक, उत्कालिक, आदि के भेद से अनेक प्रकार का है। तथा अंग स्वरूप वह श्रुतज्ञान

द्विभेदमंगबाह्यत्वादंगरूपत्वत: श्रुतम्। अनेकभेदमत्रैकं कालिकोत्कालिकादिकम्॥१५॥
द्वादशावस्थमंगात्मतदाचारादिभेदत:। प्रत्येकं भेदशब्दस्य संबंधादिति वाक्यभित्॥१६॥
मुख्या ज्ञानात्मका भेदप्रभेदास्तस्य सूत्रिता:। शब्दात्मका: पुनर्गौणा: श्रुतस्येति विभिद्यते॥१७॥

तत्र श्रुतज्ञानस्य मतिपूर्वकत्वेपि सर्वेषां विप्रतिपत्तिमुपदर्शयति;—

शब्दज्ञानस्य सर्वेपि मतिपूर्वत्वमादृता:। वादिन: श्रोत्रविज्ञानाभावे तस्यासमुद्भवात्॥१८॥

भवतु नाम श्रुतज्ञानं मतिपूर्वकं याज्ञिकानामपि तत्राविप्रतिपत्ते: "शब्दादुदेति यज् विज्ञानमप्रत्यक्षेऽपि वस्तुनि। शाब्दं तदिति मन्यंते प्रमाणांतरवादिन:" इति वचनात्। शब्दात्मकं तु श्रुतं वेदवाक्यं न मतिपूर्वकं तस्य नित्यत्वादिति मन्यमानं प्रत्याह—

आचार, सूत्रकृत, स्थान आदि भेदों से बारह अवस्था को (बारह भेद को) प्राप्त है (या बारह भेदों में अवस्थित है।) द्वन्द्व समास अन्तर्गत भेद शब्द का प्रत्येक में सम्बन्ध हो जाने से दो भेद, अनेक भेद और बारह भेद, इस प्रकार भिन्न-भिन्न तीन वाक्य हो जाते हैं॥१५-१६॥

इस सूत्र में कथित श्रुतज्ञान के भेद-प्रभेद मुख्य रूप से तो ज्ञानस्वरूप सूचित किये गए हैं। तथा श्रुत के शब्दात्मक भेद गौणरूप से कहे गए हैं। इस प्रकार श्रुत के मुख्यरूप से ज्ञानस्वरूप और गौणरूप से शब्दस्वरूप विशेष भेद कर लेना चाहिए।

भावार्थ : वस्तुत: जैन सिद्धान्त में ज्ञान को ही प्रमाण इष्ट किया है किन्तु ज्ञान के कारणों में प्रधान कारण शब्द है। मोक्ष या तत्त्वज्ञान के उपयोगी अथवा विशिष्ट विद्वत्ता सम्पादनार्थ शब्द ही कारण पड़ते हैं। अत: शिष्य के ज्ञान का कारण और वक्ता के ज्ञान का कार्य होने से उस ज्ञान के प्रतिपादक वचन को भी उपचार से प्रमाण कह दिया जाता है॥१७॥

इस प्रकरण में श्रुतज्ञान का मतिपूर्वकपना सम्पूर्ण वादियों के यहाँ सिद्ध हो जाने पर भी किसी-किसी के यहाँ इस विषय को ग्रन्थकार विवादग्रस्त दिखलाते हैं -

सम्पूर्ण वादी विद्वानों ने भी शब्दजन्य वाच्य अर्थज्ञानरूप श्रुतज्ञान का मतिपूर्वकपना स्वीकार किया है, क्योंकि कर्ण इन्द्रियजन्य मतिज्ञान के नहीं होने पर उस शाब्दबोध की उत्पत्ति नहीं होती है।

भावार्थ : शब्द श्रवण, संकेतस्मरण ये सभी वाच्यार्थ ज्ञानों में कारण पड़ जाते हैं। इस प्रकार व्यतिरेकेबल से मतिज्ञान और श्रुतज्ञान का कार्यकारण भाव सबको अभीष्ट है॥१८॥

मीमांसक कहते हैं कि वह श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक है तो होओ, इसमें कोई क्षति नहीं है क्योंकि ज्योतिष्टोम आदि यज्ञों की उपासना करने वाले मीमांसकों के भी उसमें कोई विप्रतिपत्ति (विवाद) नहीं है। हमारे ग्रन्थों में इस प्रकार कथन किया है कि "अप्रत्यक्ष पदार्थों में भी शब्द से संकेतस्मरण द्वारा ज्ञान उत्पन्न हो जाता है। आगमज्ञान को पृथक् प्रमाण मानने वाले विद्वान् उस ज्ञान को शाब्दबोध इस नाम से स्वीकार करते हैं, किन्तु वह शब्दात्मक श्रुत वेदों के वाक्य हैं। वे मतिज्ञानपूर्वक उत्पन्न नहीं होते हैं क्योंकि वे वेद के वाक्य नित्य हैं। इस प्रकार अपने मनोनुकूल मानने वाले मीमांसकों के प्रति आचार्य परमार्थ तत्त्व को कहते हैं -

शब्दात्मकं पुनर्येषां श्रुतमज्ञानपूर्वकं। नित्यं तेषां प्रमाणेन विरोधो बहुचोदितः ॥१९॥

प्रत्यक्षबाधनं तावदग्निमीळे पुरोहितं। इत्येवमादिशब्दस्य ज्ञानपूर्वत्ववेदनात् ॥२०॥

तद्व्यक्तेः ज्ञानपूर्वत्वं स्वयं संवेद्यते न तु। शब्दस्येति न साधीयो व्यक्तेः शब्दात्मकत्वतः ॥२१॥

शब्दादर्थांतरं व्यक्तिः शब्दस्य कथमुच्यते। संबंधाच्चेति संबंधः स्वभाव इति सैकता ॥२२॥

शब्दव्यक्तेरभिन्नैकसंबंधात्मत्वतो न किम्। संबंधस्यापि तद्भेदेऽनवस्था केन वार्यते? ॥२३॥

जिन मीमांसकों के यहाँ शब्दात्मक श्रुत अज्ञानपूर्वक और नित्य माना गया है, उनके यहाँ प्रमाणों के द्वारा विरोध आता है। इसको हम बहुत प्रकार से पूर्व प्रकरणों में कह चुके हैं॥१९॥

उन प्रमाणों में से पहले प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा तो बाधा इस प्रकार है कि "अग्निमीडे पुरोहितं" - इस प्रकार के अन्य भी वैदिक शब्दों का ज्ञानपूर्वक वेदन हो रहा है। "अग्नि की या पुरोहित की मैं स्तुति कर रहा हूँ" इत्यादि शब्दजन्यज्ञान शब्द का श्रावण प्रत्यक्ष से और उस अर्थ के साथ शब्द का संकेत स्मरण कर पीछे ही आगमज्ञान होता हुआ जाना जा रहा है। अथवा "अग्निमीडे" आदि शब्दों की भी उत्पत्ति ज्ञानपूर्वक ही होती है॥२०॥

शब्द की अभिव्यक्ति ही ज्ञानपूर्वक होती हुई स्वयं जानी जा रही है परन्तु शब्द को ज्ञानपूर्वकपना नहीं है, शब्द तो नित्य है। इस प्रकार मीमांसकों का कहना प्रशंसनीय नहीं है, क्योंकि शब्दों की अभिव्यक्ति तो शब्द-आत्मक निश्चित है। घट की अभिव्यक्ति घटस्वरूप ही होती है, अतः श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है-यह कहना समीचीन है॥२१॥

यदि शब्द की अभिव्यक्ति को शब्द से पृथक् पदार्थ स्वीकार करते हैं, तब तो शब्द का प्रकट होना शब्द का है, यह कैसे कहा जा सकता है? शब्द और अभिव्यक्ति का सम्बन्ध हो जाने से वह अभिव्यक्ति शब्द की कह दी जाती है। इस प्रकार मीमांसकों के कहने पर तो शब्द और अभिव्यक्ति का वह सम्बंध स्व का भावस्वरूप स्वभाव ही माना जाएगा और इस प्रकार मानने पर तो फिर वही शब्द और अभिव्यक्ति का एकपना प्राप्त हो जाता है अतः अभिव्यक्ति के समान वैदिक शब्द भी ज्ञान से उत्पन्न हुए कहे जाएंगे॥२२॥

शब्द के उसकी प्रकटता के साथ होने वाले सम्बन्ध को यदि प्रतियोगी, अनुयोगी दोनों पदार्थों से अभिन्न माना जाएगा, तब तो अभिन्न एक सम्बन्धात्मकपना हो जाने से शब्द और अभिव्यक्ति दोनों एक क्यों नहीं हो जायेंगे? यदि शब्द और व्यक्ति के बीच में पड़े हुए सम्बन्ध का भी उन प्रतियोगी, अनुयोगी दोनों से भेद माना जाएगा तो अनवस्था दोष किसके द्वारा निवारा जा सकता है?

अर्थात् भिन्न सम्बन्ध को जोड़ने के लिए अन्य सम्बन्ध की आवश्यकता होगी, और सम्बन्धियों से भिन्न पड़े हुए अन्य सम्बन्ध को भी "उनका यह है" - इस प्रकार व्यवहार कराने के लिए चौथे, पाँचवें आदि सम्बन्धों की आकांक्षा बढ़ती ही जाएगी अतः अनवस्था दोष आएगा। इसका निवारण मीमांसकों के द्वारा नहीं हो सकता है॥२३॥

भिन्नाभिन्नात्मकत्वे तु संबंधस्य ततस्तव। शब्दस्य बुद्धिपूर्वत्वं व्यक्तेरिव कथंचन॥२४॥

व्यक्तिर्वर्णस्य संस्कारः श्रोत्रस्याथोभयस्य वा। तद्बुद्धितावृतिच्छेदः साप्येतेनैव दूषिता॥२५॥

विशेषाधानमप्यस्य नाभिव्यक्तिर्विभाव्यते। नित्यस्यातिशयोत्पत्तिविरोधात्स्वात्मनाशवत्॥२६॥

कलशादेरभिव्यक्तिर्दीपादेः परिणामिनः। प्रसिद्धेति न सर्वत्र दोषोयमनुषज्यते॥२७॥

नित्यस्य व्यापिनो व्यक्तिः साकल्येन यदीष्यते। किं न सर्वत्र सर्वस्य सर्वदा तद्विनिश्चयः॥२८॥

यदि कहो कि शब्द और उसकी अभिव्यक्ति के मध्य में पड़ा हुआ सम्बन्ध तो प्रतियोगी अभिव्यक्ति और अनुयोगी शब्द से कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न स्वरूप है, तब तो तुम्हारे यहाँ अभिव्यक्ति के समान शब्द को भी किसी अपेक्षा से बुद्धिपूर्वकपना सिद्ध होता है। अतः शब्द चाहे वैदिक हो अथवा लौकिक, मंत्र अथवा कोई भी हो, वे अनित्य हैं। शब्द वस्तुतः पुद्गल की पर्याय हैं॥२४॥

मीमांसक यदि अकार, गकार आदि वर्णों के संस्कार हो जाने को शब्द की अभिव्यक्ति कहते हैं, या श्रोत्र इन्द्रिय के अतिशयाधानरूप संस्कार को शब्द की अभिव्यक्ति मानते हैं, अथवा वर्ण और श्रोत्र दोनों के संस्कारयुक्त हो जाने को शब्द की अभिव्यक्ति स्वीकार करते हैं - जो संस्कार उस शब्द के ज्ञान हो जाने का आवरण करने वाले कर्म आदि का विच्छेदस्वरूप माना जाता है, तो आचार्य कहते हैं कि वह संस्कार और अभिव्यक्ति भी इस युक्त कथन से दूषित कर दी गई है। अर्थात् शब्द को कूटस्थ नित्य मानने पर और श्रोत्र को नित्य आकाशस्वरूप स्वीकार करने पर उनका आवरण करने वाला कोई संभव नहीं है॥२५॥

मीमांसक के मतानुसार इस शब्द के विशेष अतिशयों का आधान कर देना रूप अभिव्यक्ति भी विचार करने पर निर्णीत नहीं हो सकती है, क्योंकि सर्वथा कूटस्थ नित्य शब्द के अतिशयों की उत्पत्ति होने का विरोध है - जैसे कि कूटस्थ नित्य पदार्थ की स्वात्मा का नाश हो जाना विरुद्ध है अर्थात् अपने पूर्व स्वभावों का त्याग, उत्तरस्वभावों का ग्रहण और स्थूल द्रव्यरूप से स्थिरता रूप से परिणमन करने वाले पदार्थ में ही उत्पाद या विनाश बन सकते हैं। सर्वथा नित्य शब्द में नवीन अतिशयों या विशेषताओं का आधान नहीं हो सकता है॥२६॥

जैसे अंधेरे में रखे हुए कलश आदि परिणामी पदार्थों की दीपक आदि से अभिव्यक्ति होना प्रसिद्ध है। अतः परिणामी पदार्थों की अभिव्यक्ति हो जाना रूप इस दोष का प्रसंग सर्वत्र नहीं लगता है। अर्थात् परिणामी पदार्थ की परिणामी पदार्थ से अभिव्यक्ति संभव है। शब्द अपने प्राचीन स्वभाव का त्याग करे और नवीन श्रावण स्वभाव को ग्रहण करे, तब परिणामी शब्द की व्यंजकों से अभिव्यक्ति हो सकती है। अतः उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य लक्षण वाले परिणामी पदार्थ में अभिव्यंज्य-अभिव्यंजक भाव बनता है, कूटस्थ में नहीं॥२७॥

अथवा, नित्य और सर्वत्र व्यापी शब्द की अभिव्यक्ति सम्पूर्ण रूप से मानते हो तो सर्वत्र सर्व जीवों के उस शब्द का निश्चय क्यों नहीं होता है? अर्थात् जब एक स्थान पर अभिव्यंजक द्वारा शब्द प्रकट हो चुका है तो सर्वत्र, सर्वदा सबको उस अखण्ड, निरंश शब्द के श्रवण करने में विलम्ब नहीं होना चाहिए।

स्वादृष्टवशतः पुंसां शाब्दज्ञानविचित्रता। व्यक्तेपि कात्स्न्र्यतः शब्दे भावे सर्वात्मके न किम् ॥२९॥

देशतस्तदभिव्यक्तौ सांशता न विरुध्यते। व्यंजके यत्तु शब्दानामभिन्ने सकलश्रुतिः ॥३०॥

तस्य क्वचिदभिव्यक्तौ व्यापारे देशभाक् स्वतः। नानारूपे तु नानात्वं कुतस्तस्यावगम्यताम् ॥३१॥

स्वाभिप्रेताभिलापस्य श्रुतेरन्योन्यसंश्रयः। सिद्धे व्यंजकनानात्वे विशिष्टवचसः श्रुतिः ॥३२॥

प्रसिद्धायां पुनस्तस्यां तत्प्रसिद्धिर्हि ते मते। यदि प्रत्यक्षसिद्धेयं विशिष्टवचसः श्रुतिः ॥३३॥

यदि कहो कि कृत्स्न रूप से शब्द के अभिव्यक्त हो जाने पर भी जीवों के अपने-अपने पुण्य, पाप के वश से शब्द सम्बन्धी ज्ञान होने की विचित्रता होती है तो जैसे शब्द को व्यापक और नित्य माना जाता है, वैसे ही सर्व पदार्थात्मक भी मान लेना चाहिए अतः अभाव पदार्थ को नहीं मानकर सम्पूर्ण भावों को सर्वात्मक क्यों नहीं मानना चाहिए? ॥२८-२९॥

यदि शब्द की साकल्येन अभिव्यक्ति नहीं मानकर एकदेश से अभिव्यक्ति होना मानेंगे तब तो व्यंग्य शब्द और व्यंजक वायु आदि में अंशसहितपना में विरोध नहीं आएगा। अर्थात् शब्द को प्रकट और अप्रकट दो रूप मानने पर शब्द के अनेक अंश मानने पड़ेंगे, जो कि मीमांसकों ने नहीं माने हैं। स्याद्वादियों के यहाँ शब्द को सांश मानने में कोई विरोध नहीं आता है। व्यंजक वायुओं के अधीन होकर शब्दों को अभिन्न मानने पर सम्पूर्ण वर्णों की युगपत् श्रुति हो जाएगी ॥३०॥

यदि मीमांसक उस व्यंजक का शब्द के किसी ही अंश में अभिव्यक्ति करने के निमित्त व्यापार मानेंगे, तब तो वह शब्द स्वतः ही छोटे-छोटे देशों को धारने वाला सिद्ध होगा, निरंश नहीं रहेगा। अथवा मीमांसक अखण्ड एक वर्ण के अभिव्यंजक कण्ठ तालुओं से अकार, इकार भाग की अभिव्यक्ति होना स्वीकार करेंगे तो भी शब्द में स्वतः देश अंशों का धारण करना प्राप्त होगा।

एक ही वर्ण के इकार, अकार, उकार आदि नानास्वरूप स्वीकार करेंगे तो उस शब्द का या उसके व्यंजकों का अनेक स्वरूपपना कैसे जाना जा सकेगा? यदि मीमांसक कहें कि श्रोताओं को अपने-अपने अभीष्ट शब्दों का श्रवण होने से वर्ण और उनके व्यंजक कारण अनेकरूप सिद्ध हो जाते हैं तो जैनाचार्य कहते हैं कि ऐसा मानने पर उसमें अन्योन्याश्रय दोष आता है क्योंकि व्यंजकों का अनेकपना सिद्ध हो जाने पर तो विशिष्ट अनेक वचनों का श्रवण होना सिद्ध होता है और फिर विशेष विशिष्ट वचनों का श्रवण प्रसिद्ध होने पर उन व्यंजकों का नानापन सिद्ध होता है। यदि मीमांसक कहें कि यह विशिष्ट वचनों का श्रवण तो सभी जीवों को प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध है अतः अन्योन्याश्रय दोष नहीं होता है। इस पर तो जैन कहेंगे कि प्रत्यक्ष प्रसिद्ध होने के कारण ही वचनों का मतिपूर्वकपना सिद्ध है, यह क्यों नहीं सरलता से मान लिया जाता है?

शंका : हमारे यहाँ वचनों का उच्चारण करना दूसरों के ज्ञानों का निमित्त कारण माना गया है।

शेमुषीपूर्वतासिद्धिर्वाचां किं नानुमन्यते। ननु ज्ञाननिमित्तत्वं वाचामुच्चारणस्य नः ॥३४॥
सिद्धं नापूर्णरूपेण प्रादुर्भावः कदाचन। कर्तुरस्मरणं तासां तादृशीनां विशेषतः ॥३५॥
पुरुषार्थोपयोगित्वभाजामपि महात्मनां। नैवं सर्वनृणां कर्तुः स्मृतेरप्रतिषिद्धितः ॥३६॥
तत्कारणं हि काणादाः स्मरंति चतुराननं। जैनाः कालासुरं बौद्धाः स्वाष्टकात्सकलाः सदा ॥३७॥
सर्वे स्वसंप्रदायस्याविच्छेदेनाविगानतः। नानाकर्तृस्मृतेर्नास्ति तासां कर्तेत्यसंगतं ॥३८॥

अपूर्व (नवीन) स्वरूप से बुद्धि द्वारा शब्दों का कभी भी उत्पाद होना सिद्ध नहीं है, क्योंकि उस प्रकार के उन अपौरुषेय वचनों के बनाने वाले कर्त्ता का विशेषरूप से स्मरण नहीं होता है। आत्मा के पुरुषार्थ करने में उपयोग सहितपने के धारक महात्माओं को भी वेद के कर्त्ता का स्मरण नहीं होता है।

समाधान : आचार्य कहते हैं कि मीमांसकों को इस प्रकार नहीं कहना चाहिए, क्योंकि सभी मनुष्यों को वेद के कर्त्ता की स्मृति हो जाने का प्रतिषेध नहीं है। अर्थात् बहुत से विचारशील मनुष्य वेद के कर्त्ता का स्मरण करते हैं। कणाद मत के अनुयायी वैशेषिक, वेद के कर्ता ब्रह्मा का स्मरण कर आराधना करते हैं और जैन जन वेद के कर्ता कालासुर[१] को कहते हैं। सम्पूर्ण बौद्धों के यहाँ अपने-अपने अंशों को बनाने वाले आठ विद्वानों को वेद का कर्त्ता माना गया है। यह सब अपने-अपने ऋषियों की आम्नाय से चले आये शास्त्र प्रवाह अनुसार वेदकर्त्ताओं का कुछ को छोड़कर सभी जीवों को सदा स्मरण होरहा है अतः कर्त्ता का अस्मरण होना वेद या अन्य शब्दों को नित्यपना सिद्ध करने के लिए उपयोगी नहीं है॥३१-३२-३३-३४-३५-३६-३७॥

मीमांसक कहते हैं कि वैशेषिक, जैन, बौद्ध आदि वेदकर्त्ता वादी सभी विद्वान् अपनी-अपनी सर्वज्ञमूलक ऋषि-सम्प्रदाय का मध्य में विच्छेद नहीं होने के कारण अनिन्दित रूप से चतुर्मुख, कालासुर, अष्टक आदि अनेक कर्त्ताओं का स्मरण करते हैं अतः प्रतीत होता है कि वेद का कर्त्ता कोई नहीं है, तभी तो निर्णीतरूप से एक कर्त्ता का ज्ञान नहीं हो पाता है।

भावार्थ : यदि वेद का ही कोई कर्त्ता होता तो एक ही विद्वान् होकर स्मृत किया जाता। किन्तु यहाँ कोई किसी को और कोई अन्य को कर्त्ता स्मरण कर रहा है अतः वेद का कोई कर्त्ता नहीं है।

आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार मीमांसकों का कहना तो असंगत है, क्योंकि भिन्न-भिन्न शाखाओं के खण्डरूप से अनेक कर्त्ताओं की स्मृति हो जाने से वेद का बहुत कर्त्ताओं के द्वारा बनाया गयापन सिद्ध हो जाता है। जैसे कि उस प्रकार के अन्य शास्त्र कोई-कोई अनेक विद्वानों के बनाये हुए हैं॥

यदि मीमांसकजनों के यहाँ वेद को नित्य, अपौरुषेय सिद्ध करने के लिए कर्त्ता का स्मरण नहीं होना हेतु इष्ट किया जायेगा तो वेद का अपौरुषेयपना अपने घर की मान्यता ही समझना चाहिए। जबकि वेद के कर्त्ता का स्मरण हो रहा है। यों तो कोई पुराने खण्डहर, कुआ आदि को भी अपौरुषेय कहना चाहिए, क्योंकि उसको भी अपने घर में खडैरा के कर्त्ता का स्मरण नहीं हो रहा है।

१. मधुपिंगल का जीव जिसने असुर पर्याय में पर्वत का सहायक बन यज्ञ धर्म की स्थापना की।

बहुकर्तृकतासिद्धेः खंडशस्तादृगन्यवत्। कर्तुरस्मरणं हेतुर्याज्ञिकानां यदीष्यते ॥३९॥
तदा स्वगृहमान्या स्याद्वेदस्यापौरुषेयता। जगतोऽकर्तृताप्येवं परेषामिति चेन्न वै ॥४०॥
कर्तुः स्मरणहेतुस्तत्सिद्धौ तैश्च प्रयुज्यते। महत्त्वं तु न वेदस्य प्रतिवाद्यागमात् स्थितम् ॥४१॥
येनाशक्यक्रियत्वस्य साधनं तत्तव स्मृतिः। पुरुषार्थोपयोगित्वं विवादाध्यासितं कथं ॥४२॥
विशेषणतया हेतोः प्रयोक्तुं युज्यते सतां। वेदाध्ययनवाच्यत्वं वेदाध्ययनपूर्वताम् ॥४३॥
न वेदाध्ययने शक्तं प्रज्ञापयितुमन्यवत्। यथा हिरण्यगर्भः सोऽध्येता वेदस्य साध्यते ॥४४॥
युगादौ प्रथमस्तद्वद्बुद्धादिः स्वागमस्य च। साक्षात्कृत्यागमस्यार्थवक्ता कर्तागमस्य चेत् ॥४५॥

इस प्रकार दूसरे वैशेषिक, नैयायिक, यौगों के यहाँ जगत् का अकर्तृकपना भी बन जाएगा, जो कि उनको निश्चय से इष्ट नहीं हो सकता है। कारण कि उस जगत्-कर्त्ता, ईश्वर की सिद्धि करने में उन वैशेषिक आदि के द्वारा कर्त्ता का स्मरण होना ज्ञापक हेतु प्रयुक्त किया जाता है। मीमांसक वैशेषिकों के जगत्कर्त्ता के स्मरण को मानते ही नहीं हैं ॥३८-३९-४० ॥

मीमांसक कहते हैं कि वेद बहुत बड़ा ग्रन्थ है। कोई भी विद्वान् इतने महान् ग्रन्थ को बना नहीं सकता है। इसके प्रत्युत्तर में जैन कहते हैं कि वेदों का बड़प्पन तो जैन, बौद्ध आदि प्रतिवादियों के आगम से प्रतिष्ठित नहीं हो रहा है, जिससे कि नहीं किया जा सकनापन उस हेतु की तुम्हारे यहाँ स्मृति ठीक मानी जा सके।

वेद के नित्यत्व को सिद्ध करने के लिए दिये गये हेतु का अपौरुषेय विशेषण सम्पूर्ण पुरुषों के प्रयोजन साधने में उपयोगी है। आचार्य कहते हैं कि वह विशेषण तो विवादग्रस्त है अतः हेतु का विशेषणस्वरूप हो करके प्रयुक्त करने के लिए सज्जन पुरुषों के सम्मुख किस प्रकार युक्त हो सकता है? ॥४२॥

मीमांसक अनुमान के द्वारा इस बात को सिद्ध करते हैं कि सर्व वेदों का पढ़ना सदा से हो गुरुओं के अध्ययनपूर्वक ही चला आ रहा है क्योंकि उदात्त, अनुदात्त, स्वरित आदि से सहित होकर वैदिक मन्त्रों का उच्चारणपूर्वक अध्ययन गुरुवर्य के शब्दों से ही कहा जा सकता है - जैसे कि वर्तमान काल में परम्परा से चले आये गुरुओं से ही वेद का अध्ययन हो रहा है अतः वैदिक शब्द अनादि अनिधन है। इस प्रकार मीमांसकों के कहने पर हम जैन कहते हैं कि वेदाध्ययन वाच्यपना हेतु वेदाध्ययन पक्ष में वेदाध्ययन पूर्वकपने को समझाने के लिए समर्थ नहीं है, जैसे कि अन्य हेतु वेदाध्ययनपूर्वकपना साधने के लिए समर्थ नहीं है ॥४३॥

जिस प्रकार मीमांसकों के द्वारा युग की आदि में वेद का सबसे प्रथम अध्ययन करने वाला ब्रह्मा सिद्ध किया है, उसी प्रकार बुद्ध, कपिल आदि भी युग की आदि में अपने-अपने आगम के अध्ययन करने वाले माने जा रहे हैं। यदि मीमांसक कहें कि बुद्ध आदि तो आगम के अर्थ का विशद प्रत्यक्ष कर उस अर्थ के वक्ता हैं अतः वे तो आगम के बनाने वाले कर्त्ता (उपचार से) कहे जाते हैं, किन्तु वेद के हमारे माने हुए वक्ताओं द्वारा अतीन्द्रिय अर्थों का प्रत्यक्ष नहीं हो पाता है अतः वेद के अध्येता या अध्यापक केवल

अग्निरित्यग्निरित्यादेर्वक्ता कर्ता तु तादृशः। पराभ्युपगमात्कर्ता स चेद्वेदे पितामहः ॥४६॥

तत एव न धातास्तु न वा कश्चित्समत्वतः। नानधीतस्य वेदस्याध्येतास्त्यध्यापकाद्विना ॥४७॥

न सोस्ति ब्राह्मणोत्रादाविति नाध्येतृतागतिः। स्वर्गेधीतान् स्वयं वेदाननुस्मृत्येह संभवी ॥४८॥

ब्रह्माध्येता परेषां वाध्यापकश्चेद्यथायथं। सर्वेपि कवयः संतु तथाध्येतार एव च ॥४९॥

इत्यकृत्रिमता सर्वशास्त्राणां समुपागता। स्वयं जन्मांतराधीतमधीयामहि संप्रति ॥५०॥

अनुवादक ही समझे जाते हैं कर्त्ता नहीं। इसके प्रत्युत्तर में जैनाचार्य कहते हैं कि वैदिक अग्नि शब्द और लौकिक अग्नि इत्यादिक शब्दों का जो कोई वक्ता है, वही वक्ता अग्नि इस शब्द का कर्त्ता है और वैसा ही अग्नि शब्द वेद में सुना जा रहा है अतः वहाँ भी तो वक्ता ही कर्त्ता समझा जाएगा।

सहस्र शाखा वाला वेद स्वर्ग में पहिले ब्रह्मा के द्वारा बहुत दिन तक पढ़ा जाता है। फिर वहाँ से उतर कर मनुष्यलोक में मनु आदि ऋषियों के लिए प्रकाश दिया जाता है। और फिर स्वर्ग में जाकर चिरकाल पढ़ा जाता है। यह ब्रह्मा, मनु आदि की संतान अनादि से चली आ रही है, ऐसा मानना व्यर्थ है ॥४५-४६॥

यदि मीमांसक कहें कि बुद्ध, नैयायिक आदि दूसरे विद्वानों ने तो अपने-अपने आगम के कर्त्ता स्वयं बुद्ध आदि स्वीकार किए हैं अतः दूसरों के कहने से ही उन आगमों का वह कर्त्ता माना जा चुका है तो वेद में भी वैशेषिक विद्वान् ब्रह्मा को कर्त्ता मानते हैं इस अंश में उनका स्वीकार करना क्यों नहीं मान लिया जाता है?

यदि मीमांसक कहें कि इसलिए विधाता भी कर्ता नहीं है। तथा, और भी कोई वेद का कर्ता नहीं है, क्योंकि सभी अतीन्द्रिय ज्ञान रहित होने से समान ही हैं। तथा पूर्व में वेद का अध्ययन नहीं करने वाला कोई भी छात्र पढ़ाने वाले अध्यापक के बिना वेद का अध्ययन नहीं कर सकता है। इस प्रकार कहना भी उपयुक्त नहीं है, क्योंकि इस युग की आदि में कोई ऐसा ब्राह्मण, या ब्रह्मा सिद्ध नहीं है जिसका कि पढ़ने वालापन जान लिया जाय अतः वेद के अध्येतापन का ज्ञान नहीं हो सकता है ॥४६-४७॥

मीमांसक कहते हैं कि स्वर्ग में जाकर स्वयं अध्ययन किये हुए वेदों को पीछे-पीछे स्मरण कर यहाँ मर्त्यलोक में ब्रह्मा वेदों का अध्ययन करने वाला है और दूसरे मनु, याज्ञवल्क्य आदि ऋषियों का यथायोग्य अध्यापन कराने वाला संभव है। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार कहने पर तो सम्पूर्ण कविजन भी स्वकृत काव्यों के पढ़ने वाले ही हो जायेंगे। अर्थात् छोटे-छोटे पुस्तक या श्लोकों अथवा पद्यों को बनाने वाले कवि लोगों का भी ब्रह्मा द्वारा अदृश्यरूप से अध्यापन करना सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार सम्पूर्ण छोटे बड़े शास्त्रों को अकृत्रिमपना प्राप्त हो जाता है ॥४८-४९॥

वेद को बनाने वाले विद्वानों को तो इस प्रकार सम्वेदन नहीं होता है कि स्वयं अन्य पूर्व जन्म में पढ़े जा चुके गीत आदि को हम इस वर्तमान जन्म में पढ़ रहे हैं अतः उन कवियों या शास्त्ररचयिताओं को अध्येतापन नहीं है। इस प्रकार मीमांसकों के कहने पर तो संवेदन के बिना उसी दिन के उत्पन्न हुए बच्चे

इति संवेदनांभावात्तेषामध्येतृता न चेत्। पूर्वानुभूतपानादेस्तदहर्जाततदारका: ॥५१॥
स्मर्तार: कथमेवं स्युस्तथा संवेदनाद्विना । स्मृतिलिंगविशेषाच्चेत्तेषां तत्र प्रसाध्यते ॥५२॥
कवीनां किं न काव्येषु पूर्वाधीतेषु सान्वया। यदि ह्युत्पत्तिर्वर्णेषु पदेष्वर्थेष्वनेकधा ॥५३॥
वाक्येषु चेह कुर्वंत: कवय: काव्यमीक्षिता:। किं न प्रजापतिर्वेदान् कुर्वन्नेवं सतीक्षित: ॥५४॥
कश्चित्परीक्षकैर्लोकै: सद्भिस्तद्देशकालगै:। तथा च श्रूयते सामगिरा सामानि रुग्निराट् ॥५५॥
ऋच: कृता इति क्वेयं वेदस्यापौरुषेयता। प्रत्यभिज्ञायमानत्वं नित्यैकांतं न साधयेत् ॥५६॥
पौर्वापर्यविहीनेर्थे तदयोगाद्विरोधत:। पूर्वदृष्टस्य पश्चाद्या दृश्यमानस्य चैकताम् ॥५७॥

फिर पहिले जन्मों में इष्ट साधकपने से अनुभूत किए गए स्तन्यपान, अपने मुखद्वार की ओर दूध को ले जाना, हाथों से पकड़ने का अनुसंधान रखना आदि क्रियाओं के स्मरण करने वाले कैसे हो सकेंगे? अर्थात् पूर्व जन्म में किये जा चुके कृत्यों का अब सम्वेदन होगा तभी उसके अनुसार इस जन्म में क्रियाएँ की जा सकती हैं अन्यथा नहीं ॥५०-५१॥

वैदिक शब्दों और अर्थों की तो उन ब्रह्मा, मनु आदि को विशेष रूप से स्मृति होती है।

अत: उत्तरजन्म में विशेष सम्वेदन होने के कारण उन मनु आदि के उन वेदों में विशेष स्मृतिस्वरूप ज्ञापकलिंग से पूर्वजन्म का अध्ययन प्रकृष्ट रूप से अनुमान द्वारा सिद्ध किया जाता है किन्तु कवियों को विशेष स्मृति नहीं होने के कारण अपने बनाये गए गीत, कविता आदि का पूर्वजन्मों में अध्ययन करना नहीं सिद्ध किया जा सकता है। इस प्रकार मीमांसक के कहने पर तो कवियों की भी पूर्वजन्मों में पढ़े हुए ही वर्तमानकालीन काव्यों में अन्वय रूप से आगत वह विशेष स्मृति क्यों नहीं मान ली जाती है ? ॥५२॥

यदि अकार, ककार आदि वर्णों में या सुबन्त, तिङन्त पदों में अथवा परस्पर में एक दूसरे की अपेक्षा रखने वाले पदों के निरपेक्ष समुदायरूप वाक्यों में इनके अर्थों से अनेक प्रकार से उत्पत्ति होना देखा जाता है, और उन वर्ण, पद, वाक्यों की जोड़ मिलाकर नवीन काव्यों को करते हुए कविजन देखे गए हैं (अथवा इसी जन्म में विशेष व्युत्पत्ति को प्राप्त कर कवि लोग नये-नये काव्यों को बना देते हैं।) इस प्रकार मीमांसकों के कहने पर ब्रह्मा भी वेदों को करने वाला क्यों नहीं देखा गया कहा जाता है?

वेदों के बनते समय उस देश, उस काल में प्राप्त हुए रागद्वेषविहीन सज्जन लौकिक परीक्षकों के द्वारा वेद का कर्त्ता भी कोई पुरुष देखा गया है। वेद, वेदांग, श्रुति, स्मृति, पुराण आदि कोई भी अकृत्रिम नहीं हैं, और उस प्रकार सुना भी जाता है कि सामवेद की वाणी के द्वारा साममंत्रों को पढ़ा जाता है। उससे अनेक रोगों का निवारण हो जाता है। ऋग्वेद की ऋचायें अमुक ऋषियों के द्वारा बनायी गयी हैं। इस प्रकार श्रुतियाँ जब उत्पन्न हुई सुनी जा रही हैं, तो भला वेद का अपौरुषेयपना कैसे रह सकता है? ॥५३-५४-५५॥

यदि कहो कि वेद नित्य है, क्योंकि यह वही है, इस प्रकार एकत्व प्रत्यभिज्ञान सदा से वेद का होता आया है। परन्तु यह प्रत्यभिज्ञान का विषयपना हेतु भी वेद के एकान्तरूप से नित्यपने को सिद्ध नहीं कर सकता है क्योंकि, पूर्व, अपर अवस्थाओं से रहित कूटस्थ पदार्थ में उस एकत्व प्रत्यभिज्ञान के होने

वेत्ति सा प्रत्यभिज्ञेति प्रायशो विनिवेदितम्। दृष्टत्वदृश्यमानत्वे रूपे पूर्वापरे न चेत्॥५८॥

भावस्य प्रत्यभिज्ञानं न स्यात्तत्राश्वशृंगवत्। तदा नित्यात्मकः शब्दः प्रत्यभिज्ञानतो यथा॥५९॥

देवदत्तादिरित्यस्तु विरुद्धो हेतुरीरितः। दर्शनस्य परार्थत्वादित्यपि परदर्शितः॥६०॥

विरुद्धो हेतुरित्येवं शब्दैकत्वप्रसाधने। ततोऽकृतकता सिद्धेरभावान्नयशक्तितः॥६१॥

वेदस्य प्रथमोध्येता कर्तेति मतिपूर्वतः। पदवाक्यात्मकत्वाच्च भारतादिवदन्यथा॥६२॥

का अयोग है क्योंकि उसमें विरोध दोष आता है। अर्थात् कूटस्थ तो जैसा का तैसा ही रहेगा, रोमाग्रमात्र भी पलट नहीं सकता है। पूर्व में यदि प्रत्यभिज्ञान का विषय नहीं था, तो प्रत्यभिज्ञान होने पर भी प्रत्यभिज्ञान द्वारा ज्ञेय नहीं हो सकता है। पहिले देखा जा चुकापन और अब देखा जा रहापन, ये परिवर्तित धर्म कूटस्थ में नहीं टिक सकते हैं।

वह दृष्ट होगा तो दृष्ट ही रहेगा और यदि दृश्यमान हो गया तो सदा दृश्यमान ही बना रहेगा। पूर्व काल में देखे हुए पदार्थ की पीछे वर्तमान में देखे जा रहे पदार्थ के साथ एकता को जो ज्ञान जानता है, वह प्रत्यभिज्ञान है। इस प्रकार प्रायः कई बार हम पूर्व में विशेषरूप से निवेदन कर चुके हैं अतः कथंचित् पूर्व, उत्तर अवस्थाओं को थोड़ा पलटते हुए कालांतरस्थायी पदार्थ में प्रत्यभिज्ञान होना संभव है॥५६-५७॥

वैदिक शब्दों की पूर्व काल में दृष्टता और वर्तमान में दृश्यमानपना ये दो स्वरूप कोई पहिले पीछे के नहीं हैं। अर्थात् ये तो केवल औपाधिक भाव हैं अतः शब्द की कूटस्थनित्यता का बालाग्र भी टूट नहीं सकता। इस प्रकार मीमांसकों के कहने पर तो घोड़े के सींग समान किसी भी पदार्थ का वहाँ प्रत्यभिज्ञान नहीं हो सकेगा। जिस प्रकार शब्द प्रत्यभिज्ञान होने से अनित्यात्मक सिद्ध हो जाता है, उसी प्रकार देवदत्त, जिनदत्त, आकाश आदि भी प्रत्यभिज्ञायमान हेतु से नित्य, अनित्य आत्मक सिद्ध हो सकेंगे। इस प्रकार मीमांसकों का प्रत्यभिज्ञायमानत्व हेतु विरुद्ध हेत्वाभास कहा गया है। ऐसा समझना चाहिए॥५८-५९॥

वाच्य अर्थ का बोध कराने के लिए बोले गये शब्द तो दूसरों के हितार्थ ही होते हैं। इस प्रकार शब्द स्वरूप दर्शन का परार्थपना हो जाने से शब्द का एकपना साधने में दिया गया ''दर्शनस्य परार्थत्व'' यह दूसरों का दिखलाया गया हेतु भी विरुद्ध हेत्वाभास है। अर्थात् शब्द के सादृश्य को लेकर वाक्य का अर्थबोध किया जा सकता है। अतः सर्वथा नित्यपन इस अभीष्ट साध्य से विरुद्ध कथंचित् नित्य, अनित्यपन के साथ व्याप्ति रखने वाला होने से उक्त हेतु विरुद्ध हेत्वाभास है॥६०॥

अतः नय या युक्तियों की शक्ति से वेद के अकृत्रिमपने की सिद्धि का अभाव हो जाने से वेद पौरुषेय सिद्ध हो जाता है। मानस मतिज्ञान या उसके भी पूर्ववर्त्ती विद्वानों के शास्त्र श्रवण रूप मतिज्ञान को पूर्ववर्ती कारण मानकर उत्पन्न होने से, भारत, भागवतपुराण आदि ग्रन्थों के समान सर्वप्रथम वेद को पढ़ने वाला विद्वान् ही वेद का कर्त्ता है। प्रथम अध्येता ही वेद का कर्त्ता है - पद, वाक्य, आत्मकपना होने से, जैसे कि महाभारत, मनुस्मृति आदि ग्रन्थ सकर्तृक हैं, उसी प्रकार वेद का प्रथम अध्येता ही वेद का कर्त्ता है।

तदयोगाद्विरुध्येत संगिरौ च महानसः। सर्वेषां हि विशेषाणां क्रिया शक्या वचोत्तरे।।६३।।

वेदवाक्येषु दृश्यानामन्येषां चेति हेतुता। युक्तान्यथा न धूमादेरग्न्यादिषु भवेदसौ।।६४।।

ततः सर्वानुमानानामुच्छेदस्ते दुरुत्तरः। प्रमाणं न पुनर्वेदवचसोकृत्रिमत्वतः।।६५।।

साध्यते चेद्भवेदर्थवादस्यापि प्रमाणता। अदुष्टहेतुजन्यत्वं तद्वत्प्रामाण्यसाधने।।६६।।

हेत्वाभासनमित्युक्तमपूर्वार्थत्वमप्यदः। बाधवर्जितता हेतुस्तत्र चेल्लैंगिकादिवत्।।६७।।

किमकृत्रिमता तस्य पोष्यते कारणं विना। पुंसो दोषाश्रयत्वेन पौरुषेयस्य दुष्टता।।६८।।

अर्थात् मतिपूर्वक होने और वर्ण, पद, वाक्यस्वरूप होने से वेद पौरुषेय हैं। पुरुष के कण्ठ, तालु आदि स्थान या प्रयत्नों से शब्द नवीन बनाया गया है अन्यथा (वेद को सकर्तृक माने बिना) उस मतिपूर्वकपने का और पद, वाक्य, आत्मकपने का अयोग होने से विरोध होता है। जैसे पर्वत में महानस (रसोईघर) का विरोध है। अतः सम्पूर्ण विषयों की क्रिया अन्य वचनों में की जा सकती है।

भावार्थ : एक भ्रमण या गमन क्रिया को देखकर वैसी दूसरी क्रियाओं में भी सादृश्यमूलक ज्ञान कर लिया जाता है। वेदवाक्यों में भी देखे गये अथवा अन्य सदृश शब्दों को भी शाब्दबोध ज्ञापक हेतुपना युक्त है। अन्यथा (सादृश्य अनुसार दूसरे हेतुओं को ज्ञापक हेतु नहीं माना जायेगा, तब तो) अग्नि आदि साध्यों को साधने में दिये गए धूम आदि को वह ज्ञापकहेतुपना नहीं बन सकेगा, अतः तुम्हारे यहाँ सम्पूर्ण अनुमानों का मूलोच्छेद हो जाएगा। इसका उत्तर तुम अति कठिनता से भी नहीं दे सकते हो, अतः श्रुत शब्दों के सदृश शब्दों को सुनकर भी शाब्दबोध हो जाता है अतः वेद को अनित्य मानना ही श्रेष्ठ है।।६१-६२-६३-६४।।

शंका : वेदोक्त वचन अकृत्रिम होने से प्रमाण नहीं - ऐसा कहने पर तो कर्मकाण्ड प्रतिपादक मंत्रों की स्तुति करने वाले अर्थवाद कृत्रिम वाक्यों को भी प्रमाणपना प्राप्त हो जाएगा। अर्थात् उनका ही श्रवण, मनन, ध्यान करना चाहिए, यह सिद्ध होगा।।६५।।

समाधान : मीमांसकों द्वारा वेदवचन को प्रमाणपना साधने में दिया गया अदुष्ट हेतुओं से जन्यपना हेतु भी उसी अकृत्रिमपन हेतु के समान व्यभिचारी हेत्वाभास है। यह भी उक्त कथन के द्वारा कह दिया गया है। अर्थात् यहाँ इष्ट प्रमाणों में प्रमाणता को साधने के लिए प्रयुक्त किये गए तीन ज्ञापक हेतु तो वेदवचनों को प्रमाणपना साधने में दूषित कर दिये गए हैं।।६६।।

उन वेद वचनों में प्रमाणपना सिद्ध करने के लिए दिया गया बाधवर्जितपना हेतु भी लिंगजन्य अनुमान या प्रत्यक्षप्रमाण आदि के समान वेद वचनों को अनित्य सिद्ध करने वाला होने से फिर बिना कारण *ही उस वेद का अकृत्रिमपना क्यों पुष्ट कर रहा है?।।६७।।*

जैसे अनुमान आदि प्रमाण बाधक कारणों से रहित हैं अर्थात् अनुमान प्रमाण के मानने में कोई बाधा नहीं है उसी प्रकार वेद को कृत्रिम मानने में कोई बाधा नही है तो फिर व्यर्थ में वेद को अकृत्रिम सिद्ध करने का प्रयत्न क्यों किया जा रहा है। अनुमान प्रमाण और प्रत्यक्ष प्रमाण से वेद का कृत्रिमपना सिद्ध ही है।

शक्यते तज्जसंवित्तेरतो बाधनशंकनं। निःसंशयं पुनर्बाधवर्जितत्वं प्रसिद्ध्यति ।।६९।।

कर्तृहीनवचो वित्तेरित्यकृत्रिमतार्थकृत्। परेषामागमस्येष्टं गुणवद्वक्तृकत्वतः ।।७०।।

साधीयसीति यो वक्ति सोपि मीमांसकः कथं। समत्वादक्षलिंगादेः कस्यचिद्दुष्टता दृशः ।।७१।।

शब्दज्ञानवदाशंकापत्तेस्तज्जन्मसंविदः। मिथ्याज्ञाननिमित्तस्य यद्यक्षादेस्तदा न ताः ।।७२।।

तादृशः किं न वाक्यस्य श्रुत्याभासत्वमिष्यते। गुणवद्वक्तृकत्वं तु परैरिष्टं यदागमे ।।७३।।

तत्साधनांतरं तस्य प्रामाण्ये कांश्चन प्रति। सुनिर्बाधत्वहेतोर्वा समर्थनपरं भवेत् ।।७४।।

मीमांसक कहते हैं कि जगत् के पुरुष राग, द्वेष, अज्ञान, स्वार्थ, पक्षपात, ईर्ष्या आदि अनेक दोषों के आश्रय से युक्त हैं अतः उनके द्वारा निर्मित पौरुषेय वचनों में दुष्टता है। क्योंकि शब्दों को बनाने वाले हेतु पुरुष दुष्ट हैं अतः ऐसे उन दोषयुक्त हेतुओं से उत्पन्न हुए शाब्दबोध के बाधकों की शंका की जा सकती है। संशयरहित होकर बाधवर्जितपना कर्त्ताहीन अपौरुषेय वचनों से उत्पन्न सम्वित्ति के ही प्रसिद्धि है इसलिए वेद का अकृत्रिमपना ही अर्थकृत है। (वेद का अकृत्रिमपना व्यर्थ नहीं है।) दूसरे वादी जैनों के यहाँ आगम का गुणवान वक्ता द्वारा उच्चारित शब्दों से जन्यपना होने के कारण प्रमाणपना इष्ट किया गया है। उसकी अपेक्षा वेद का अकृत्रिमपना ही श्रेष्ठ है। जैनाचार्य कहते हैं कि ऐसा कहने वाला मीमांसक भी समीचीन विचार करने वाला कैसे समझा जा सकता है? क्योंकि ऐसा मानने पर प्रत्यक्ष के कारण इन्द्रियाँ और अनुमान के कारण ज्ञापक हेतु तथा उपमान के कारण सादृश्य आदि को भी समानपने से नित्यता मानने का प्रसंग आयेगा।

किसी दोषी पुरुष द्वारा बोले गए शब्द से उत्पन्न हुए ज्ञान समान किसी-किसी पुरुष के नेत्रों के भी दोषों से सहितपना देखा जाता है अतः उन चक्षु, लिंग, सादृश्य आदि से उत्पन्न हुए सभी ज्ञानों को अप्रमाणपन की आशंका का प्रसंग प्राप्त हो जायेगा। यदि मीमांसक कहें कि मिथ्याज्ञान के निमित्त अक्ष, लिंग आदि से समीचीन ज्ञान के कारण अक्ष आदि भिन्न हैं अतः समीचीन अनित्य चक्षु आदि से उत्पन्न हुई वे सम्वित्तियाँ दुष्ट कारणजन्य नहीं हैं, दुष्ट, इन्द्रिय आदि से उत्पन्न हुए प्रत्यक्ष आदि तो प्रत्यक्षाभास, अनुमानाभास, उपमानाभास कहे जाते हैं। तब तो हम जैन कह देंगे कि जिस प्रकार के दोषयुक्त पुरुषों के वाक्यों को भी श्रुति आभासपना क्यों नहीं इष्ट कर लिया जाए? दोषयुक्त पुरुषों के वाक्यों से उत्पन्न हुआ ज्ञान श्रुताभास है अथवा वेद की श्रुतियाँ भी जो बाधा सहित अर्थों को कर रही हैं, वे श्रुति-आभास हैं ।।६८-६९-७०-७१-७२।

अदुष्टकारणजन्यत्व में नञ् का अर्थ पर्युदास संग्रहण करने पर गुणवान है वक्ता जिसका, ऐसा गुणवत् वक्तृकपना तो दूसरों (स्याद्वादी विद्वानों) के द्वारा आगम में इष्ट किया गया है अथवा कृत्रिम, स्मृति, जैमिनि सूत्र आदि आगमों में दूसरे मीमांसकों ने गुणवान वक्ता के द्वारा प्रतिपादितपना जो अभीष्ट किया है, वह तो वेद का किन्हीं-किन्हीं विद्वानों के प्रति प्रमाणपना साधने में एक दूसरा साधन उपस्थित हो जाता है। अथवा बाधारहितपन हेतु से भी उस प्रमाणपन को साधने वाले ज्ञापकों का उत्कृष्ट समर्थन हो जाता

तन्नो न पौरुषेयत्वं भवतस्तत्र तादृशं। मंत्रार्थवादनिष्ठस्यापौरुषेयस्य बाधनात् ॥७५॥

वेदस्यापि पयोदादिध्वनेर्नैष्फल्यदर्शनात्। सत्यं श्रुतं सुनिर्णीतासंभवद्बाधकत्वतः ॥७६॥

प्रत्यक्षादिवदित्येतत्सम्यक् प्रामाण्यसाधनं। कदाचित्स्यादप्रमाणं शुक्तौ रजतबोधवत् ॥७७॥

नापेक्षं संभवद्बाधं देशकालनरांतरं। स्वेष्टज्ञानवदित्यस्य नानैकांतिकता स्थितिः ॥७८॥

है अत: हमारे और आपके यहाँ एक समान दूषितकारणजन्य या बाधा सहित पौरुषेयपना समीचीन श्रुत में नहीं माना जाता है परन्तु जिसका वक्ता निर्दोष है उसके अदुष्ट कारणजन्यत्व, अपूर्वार्थत्व, बाधावर्जितत्व उस सदागम में घटित हो जाते हैं॥७३-७४॥

कर्म प्रतिपादक मंत्र और अर्थवाद में निष्ठा रखने वाले अपौरुषेय के प्रमाण से बाधा आती है। अर्थात् वे अपौरुषेय होते हुए भी बाधा रहित नहीं होने के कारण तुम्हारे यहाँ प्रमाण तथा अपौरुषेयपना किसी भी प्रमाण का साधक नहीं है। चोरी, व्यभिचार आदि कुकर्मों के उपदेश या गाली, कुवचन आदि भी दुष्टसम्प्रदाय अनुसार काल से चले आ रहे हैं। एतावता ही उनमें प्रामाण्य नहीं आ जाता है। जैसे कि बादलों का गर्जना, बिजली का कड़कना, समुद्र का पुत्कार करना इत्यादि ध्वनियों का निष्फलपना देखा जाता है, उसी प्रकार अपौरुषेय वेद को भी निष्फलपना प्राप्त है। तथा अकृत्रिमपना, प्राचीनता अथवा अर्वाचीनता कोई समीचीनता के प्रयोजक नहीं हैं॥७५॥

अत: यहाँ तक यह सिद्धान्त सिद्ध हुआ कि शब्दात्मक या ज्ञानात्मक श्रुत सत्य है-बाधकों के असम्भव होने का निर्णय होने से प्रत्यक्ष, अनुमान आदि के समान। इस प्रकार यह प्रमाणपने का साधन समीचीन है। अर्थात् शास्त्रों की समीचीनता को साधने के लिए बाधकों के असम्भव का निर्णय होना रूप हेतु निर्दोष है। कभी-कभी झूठे शास्त्र अप्रमाण भी हो जाते हैं। जैसे कि सीप में चाँदी का ज्ञान अप्रमाण है। जो श्रुत प्रमाण नहीं है, उसमें बाधकों का उत्थान हो जाता है। जैसे कि सीप में हुए चाँदी के ज्ञान में "यह चाँदी नहीं है" - इस प्रकार का बाधक प्रमाण स्थित है॥७६-७७॥

मीमांसकों के अपने अभीष्ट प्रत्यक्ष आदि ज्ञानों में जैसे बाधकों की सम्भावना नहीं है, उसी प्रकार समीचीन श्रुत में, देशान्तर में या दूसरे कालों में, अथवा अन्य पुरुषों द्वारा बाधायें होने की अपेक्षा नहीं है। अर्थात् आधुनिक ऐहिक पुरुषों के समान देशान्तर, कालान्तर के मनुष्य भी एकसी प्रमाणपन, अप्रमाणपन की व्यवस्था करते हैं। अत: समीचीन श्रुत तो सभी देश, सम्पूर्ण काल और अखिल व्यक्तियों की अपेक्षा से बाधारहित है अत: सुनिश्चितासम्भवद्बाधकपन इस हेतु के व्यभिचारीपन (अनैकान्तिक हेत्वाभास) की व्यवस्थिति नहीं हो सकती है॥७८॥

अव्यक्त (अविशद) रूप से अर्थ को कहने वाले वचनों से उत्पन्न हुए श्रुतज्ञान की प्रत्यक्ष प्रमाणों द्वारा बाधा का अभाव होने से समीचीन शास्त्र द्वारा कहे गये अनेकान्त में किसी काल में भी प्रत्यक्ष प्रमाणों से बाधा उपस्थिति का अभाव होने से यह असम्भव बाधक हेतु असिद्ध हेत्वाभास भी नहीं है। अनुमान

न च हेतुरसिद्धोयमव्यक्तार्थवचोविदः। प्रत्यक्षबाधनाभावादनेकांते कदाचन ॥७९॥

अनुमेयेऽनुमानेन बाधवैधुर्यनिर्णयात्। तृतीयस्थानसंक्रांते त्वागमावयवेन च ॥८०॥

परागमे प्रमाणत्वं नैवं संभाव्यते सदा। दृष्टेष्टबाधनात्सर्वशून्यत्वागमबोधवत् ॥८१॥

भावाद्येकांतवाचानां स्थितं दृष्टेष्टबाधनं। सामंतभद्रतो न्यायादिति नात्र प्रपंचितम् ॥८२॥

करिष्यते च तद्वत्स यथावसरमग्रतः। युक्त्या सर्वत्र तत्त्वार्थे परमागमगोचरम् ॥८३॥

प्रमाण से जानने योग्य अनेकान्त में अनुमान के द्वारा बाधा नहीं आने का निर्णय हो जाने से और प्रत्यक्ष, अनुमान इन दो प्रमाणों से पृथक् तीसरे आगमगम्य स्थान में संक्रान्त प्रमेय में आगम प्रमाणों के अवयवों के द्वारा बाधा रहितपने का निर्णय हो रहा है।

प्रत्यक्ष योग्य, अनुमान गोचर और आगम विषय पदार्थों में प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, प्रमाण तो प्रत्युत श्रुत के साधक हो रहे हैं। वे समीचीन श्रुत के कभी बाधक नहीं हैं। स्याद्वादियों के श्रुत या श्रुतज्ञान का कोई भी बाधक नहीं है, अत: बाधा रहितपना ही श्रुत की सत्यता का ज्ञापक हेतु है॥७९-८०॥

दूसरे नैयायिक, मीमांसक आदि के द्वारा स्वीकृत आगम में प्रमाणपना सर्वदा संभव नहीं है, क्योंकि उन दूसरों के आगमोक्त तत्त्वों में प्रत्यक्ष अनुमान आदि प्रमाणों के द्वारा बाधा आती है, जैसे कि सभी पदार्थों के शून्यपने या उपप्लुतपने को पुष्ट करने वाले आगम ज्ञानों की प्रमाणता इन प्रत्यक्ष और अनुमानों से बाधित है।

युक्ति, शास्त्र, अनुभवों से विरोध रहित वचनों को कहने वाले अर्हंत देव ही निर्दोष सर्वज्ञ हैं। अर्हंत देव का प्रतिपादित किया गया आगम ही प्रमाण है। श्री जिनेन्द्रदेव के मतरूपी अमृत से जो प्राणी बाह्य है, या अपने आप्त के अभिमान में दग्ध है, उनका अभीष्ट प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधित है॥८१॥

कपिल, शून्यवादी, नैयायिक, अद्वैतवादी, बौद्ध, मीमांसक, वैशेषिक आदि एकान्तवादियों द्वारा माने गये भाव एकान्त, अभावएकान्त, भेदएकान्त, अभेदएकान्त, क्षणिकएकान्त, नित्यएकान्त आदि एकान्त वचनों के प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणों से बाधा आती है। सम्पूर्ण जीवों के चारों ओर से कल्याण करने वाले श्री समन्तभद्राचार्य के देवागम स्तोत्र में कही गयी नीति से एकान्त वचनों का प्रमाणों से बाधित हो जाना प्रसिद्ध है अत: इस प्रकरण में हमने अधिक विस्तारपूर्वक विचार नहीं किया है।

भगवान समन्तभद्राचार्य ने "भावैकान्ते पदार्थानां" - यहाँ से प्रारम्भ कर **"इति स्याद्वादसंस्थितिः"** पर्यन्त **आप्तमीमांसा** में सदेकान्त, एकत्वैकान्त, पृथक्त्वैकान्त, अवाच्यैकान्त, नित्यैकान्त, हेतुवाद, आगमवाद, पुरुषार्थवाद, ज्ञानस्तोकवाद आदि एकान्त वचनों में अनेक बाधायें सिद्ध कर दी हैं। (जिन्हें) वहाँ देखना चाहिए।

तथा उसी के समान और भी यथायोग्य अवसर पर आगे इस ग्रन्थ में भी श्री गुरुवर्य समन्तभद्रस्वामी की शिक्षा के अनुसार इस तत्त्वार्थ-मोक्षशास्त्र में परमागम के विषयभूत सूक्ष्मतत्त्वों को सब स्थलों पर युक्ति के द्वारा सिद्ध कर दिया जाएगा॥८३॥

प्रोक्तभेदप्रभेदं तच्छ्रुतमेव हि तद्दृढं। प्रामाण्यमात्मसात्कुर्यादिति नश्चिंतयात्र किम्।।८४।।

तदेवं श्रुतस्यापौरुषेयतैकांतमपाकृत्य कथंचिदपौरुषेयत्वेपि चोदनायाः प्रामाण्यसाधनासंभवं विभाव्य स्याद्वादस्य च सुनिश्चितासंभवद्बाधकत्वं प्रामाण्यसाधनं व्यवस्थाप्य सर्वथैकांतानां तदसंभवं भगवत्समंतभद्राचार्यन्यायाद्भावाद्येकांतनिराकरणप्रवणादावेद्य वक्ष्यमाणाच्च न्यायात्संक्षेपतः प्रवचनप्रामाण्यदाढर्यमवधार्य तत्र निश्चितं नामात्मसात्कृत्य संप्रति श्रुतस्वरूपप्रतिपादकमकलंकग्रंथमनुवादपुरस्सरं विचारयति;—

इस सूत्र में दो, अनेक, बारह भेद-प्रभेदों से युक्त श्रुत ही कहा गया है और वह श्रुत ही दृढ़प्रमाणपने को अपने अधीन कर सकेगा। इस प्रकार अब यहाँ हमको अधिक चिन्ता करने से क्या प्रयोजन है? ।।८४।।

इस प्रकार श्रुत की मीमांसकों द्वारा रचित अपौरुषेयता के एकान्त का खण्डन कर और कथंचित् विधि लिङन्त वेदवाक्यों के अपौरुषेयपना होते हुए भी उनमें प्रामाण्य की सिद्धि के असम्भव का विचार कर तथा स्याद्वादसिद्धान्त के ही प्रमाणपने की वस्तुभूत साधन से निश्चित की गयी बाधकों की असम्भवता को व्यवस्थापित कर एवं च सर्वथा एकान्तवादों को उस प्रामाण्य के असम्भव का भाव, अभाव, नित्यपन, अनित्यपन आदि एकान्तों के निराकरण करने में प्रवीण भगवान श्री समन्तभद्राचार्य के न्याय से निवेदन कर और भविष्य में समन्तभद्र की शिक्षानुसार कहे जाने वाले न्याय से संक्षेप में यथार्थ प्रवचन के प्रमाणपन की दृढ़ता का निर्णय कराकर उसमें निश्चितपने को अपने अधीन कर, अब इस समय श्रुत के स्वरूप को प्रतिपादन करने वाले श्री अकलंकाचार्य के ग्रन्थ का अनुवादपूर्वक विचार करते हैं।

भावार्थ : यहाँ तक श्रुत की अपौरुषेयता का खण्डन किया गया है। वेद को अपौरुषेय मानने पर भी मेघध्वनि आदि के समान प्रमाणपने की सिद्धि होना असम्भव है।

यहाँ कोई कहते हैं कि शब्द की योजना लग जाने से वह ज्ञान श्रुत हो जाता है।

इस पर दो विकल्प उठते हैं कि शब्द की योजना कर देने से श्रुत ही होता है? अथवा श्रुत शब्द की अनुयोजना से श्रुत होता है? श्रुत ही शब्द की योजना से होता है, इस प्रकार पहला नियम करने से तो श्री अकलंकदेव का कहना युक्तिपूर्ण है। कोई विरोध नहीं है, क्योंकि शब्द की योजना करने के पीछे जो कोई वाच्य अर्थ होता है, वह सब श्रुतज्ञान है। यदि अन्यथा (शब्द की अनुयोजना से ही श्रुत होता है ऐसी) अवधारणा की जाएगी, तब तो इष्टसिद्धान्त से विरोध आएगा, क्योंकि श्रुतज्ञान के यदि शब्द की अनुयोजना को श्रुतपना कहा जाएगा, तब तो श्रोत्र इन्द्रियजन्य ज्ञान मतिज्ञान नहीं हो सकेगा परन्तु शब्द के श्रावणप्रत्यक्ष को श्रोत्र मतिज्ञान कहते हैं। उसमें शब्द की योजना लग जाने से वह श्रुतज्ञान हो जाएगा। अथवा ज्ञान में काला है, नीला है - आदि शब्दों की योजना से यदि श्रुतपना व्यवस्थित किया जाएगा तो श्रोत्र से अन्य चक्षु, रसना, घ्राण आदि इन्द्रियजन्य मतिज्ञानों को निमित्त पाकर उत्पन्न हुआ श्रुतज्ञान नहीं हो सकता।

अत्र प्रचक्षते केचिच्छ्रुतं शब्दानुयोजनात्। तत्पूर्वनियमाद्युक्तं नान्यथेष्टविरोधतः ॥८५॥

शब्दानुयोजनादेव श्रुतं हि यदि कथ्यते। तदा श्रोत्रमतिज्ञानं न स्यान्नान्यमतौ भवम् ॥८६॥

यद्यपेक्षवचस्तेषां श्रुतं सांव्यवहारिकं। स्वेष्टस्य बाधनं न स्यादिति संप्रतिपद्यते ॥८७॥

न सोस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते। इत्येकांतं निराकर्तुं तथोक्तं तैरिहेति वा ॥८८॥

ज्ञानमाद्यं स्मृतिः संज्ञा चिंता चाभिनिबोधिकं। प्राङ्नामसंसृतं शेषं श्रुतं शब्दानुयोजनात् ॥८९॥

अत्राकलंकदेवाः प्राहुः "ज्ञानमाद्यं स्मृतिः संज्ञा चिंता चाभिनिबोधिकं। प्राङ्नामयोजनाच्छेषं श्रुतं शब्दानुयोजनात्।" इति तत्रेदं विचार्यते मतिज्ञानादाद्यादाभिनिबोधिकपर्यंताच्छेषं श्रुतं शब्दानुयोजनादेवेत्यवधारणं श्रुतमेव शब्दानुयोजनादिति वा ? यदि श्रुतमेव शब्दानुयोजनादिति पूर्वनियमस्तदा न कश्चिद्विरोधः

भावार्थ : शब्द की योजना से ही यदि श्रुत समझा जाएगा, तब तो श्रोत्र मतिपूर्वक ही श्रुत होगा। चक्षु आदि मतिपूर्वक श्रुत नहीं हो सकेगा किन्तु यह बात जैन सिद्धान्त के विरुद्ध पड़ती है। शब्द की योजना से ही श्रुत होता है। इस प्रकार उन अकलंकदेव के वचन यदि समीचीन व्यावहारिक अपेक्षा करके कहे गए हैं, तब तो अपने इष्ट सिद्धान्त में बाधा नहीं आ सकती, क्योंकि अन्य इन्द्रियजन्य मतिज्ञानों को निमित्त कारण मानकर उत्पन्न हुआ श्रुतज्ञान जाना जा रहा है अतः श्रुत में शब्द योजना का नियम करना आवश्यक नहीं है। अवाच्य पदार्थों के अनेक श्रुतज्ञान होते हैं। स्पर्शन आदि इन्द्रियों से अर्थों का मतिज्ञान कर अनन्त अर्थान्तरों का ज्ञान होता है वह सब श्रुत ही है ॥८५-५६-८७॥

लोक में ऐसा कोई भी ज्ञान नहीं है जो कि शब्द के अनुगमन के बिना ही हो जाता हो। (सभी ज्ञान और ज्ञेय शब्द में अनुविद्ध होते हैं)। इस प्रकार के शब्दैकान्त का निराकरण करने के लिए अकलंकदेव ने इस प्रकार शब्द की योजना के पूर्व मतिज्ञान होता है और पीछे शब्द की योजना लगा देने से श्रुतज्ञान हो जाता है - ऐसा कहा है, सो ठीक ही है। अर्थात् इन्द्रियों द्वारा स्पर्श, रस, रूप, गन्ध, शब्द, सुख आदि के ज्ञान तो मतिज्ञान हैं और 'यह उससे कोमल है,' 'यह उससे अधिक मीठा है'- इत्यादि शब्द योजना कर देने पर होने वाला ज्ञान श्रुतज्ञान है। श्री अकलंकदेव का यही अभिप्राय है कि शब्द की योजना से पूर्व अवग्रह आदि तथा स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोध- ये सब ज्ञान मतिज्ञान स्वरूप हैं किन्तु शब्द की अनुयोजना कर देने से नाम करके आश्रित हो जाने पर वे अवग्रहादिज्ञान श्रुतज्ञानरूप हो जाते हैं ॥८८-८९॥

इस प्रकरण में श्री अकलंकदेव ने कहा है कि नाम योजना से पूर्व स्मृति, संज्ञा, चिंता और अनुमान ज्ञान परोक्ष मतिज्ञानरूप है और शब्दों की योजना कर देने से तो वे ज्ञान परोक्ष श्रुतस्वरूप हो जाते हैं। इस प्रकार अकलंकदेव के उस व्याख्यान में यह विचार किया गया है कि मतिशब्द को आदि लेकर अभिनिबोधपर्यन्त व्यवस्थितज्ञान पूर्व में मतिज्ञान है। शेष पीछे शब्द की योजना कर देने से ही श्रुतज्ञान हो जाता है। इस प्रकार एव लगाकर अवधारण किया जाता है? अथवा श्रुत ही शब्दों की अनुयोजना से होता है, इस प्रकार एव लगाकर अवधारण किया जाता है?

शब्दसंसृष्टज्ञानस्याश्रुतज्ञानत्वव्यवच्छेदात्। अथ शब्दानुयोजनादेव श्रुतमिति नियमस्तदा श्रोत्रमतिपूर्वकमेव श्रुतं न चक्षुरादिमतिपूर्वकमिति सिद्धांतविरोध: स्यात्। सांव्यवहारिकं शाब्दं ज्ञानं श्रुतमित्यपेक्षया तथा नियमे तु नेष्टबाधास्ति चक्षुरादिमतिपूर्वकस्यापि श्रुतस्य परमार्थतोभ्युपगमात् स्वसमयसंप्रतिपत्ते:। अथवा ''न सोस्ति प्रत्ययो लोके य: शब्दानुगमादृते। अनुविद्धमिवाभाति सर्वं शब्दे प्रतिष्ठितं॥'' इत्येकांतं निराकर्तुं प्राग्नामयोजनादाद्यमिष्टं न तु तन्नामसंसृष्टमिति व्याख्यानमाकलंकमनुसर्तव्यं। तथा सति यदाह पर: ''वाग्रूपता

यदि ''श्रुतम् शब्दानुयोजनात्'' यहाँ श्रुत ही शब्द की अनुयोजना से होता है। इस प्रकार प्रथम विधेयदल में एवकार द्वारा नियम किया जाएगा, तब तो श्री अकलंकदेव के व्याख्यान से कोई विरोध नहीं है क्योंकि शब्द के साथ संसर्ग को प्राप्त ज्ञान के श्रुत से भिन्न अश्रुतज्ञान का उसी प्रकार अवधारण करने से व्यवच्छेद होना सम्भव है।

भावार्थ : शब्द की योजना से जो ज्ञान होगा वह श्रुत ही होगा। श्रुतभिन्न किसी मतिज्ञान, अवधि, मन:पर्यय या केवलज्ञान स्वरूप नहीं हो सकता है।

यदि शब्द की अनुयोजना से ही श्रुत होता है, इस प्रकार नियम किया जायेगा तब तो श्रोत्र इन्द्रियजन्य मतिज्ञानस्वरूप निमित्त से ही श्रुतज्ञान हो सकेगा। चक्षु, रसना आदि इन्द्रियों से जन्य मतिज्ञानों को निमित्त कारण मानकर श्रुतज्ञान नहीं हो सकेगा, किन्तु रसना आदि इन्द्रियों से परम्परया तथा अन्य प्रकारों से भी अनेक अवाच्य अर्थों के श्रुतज्ञान जगत् में प्रसिद्ध हैं अत: उक्त प्रकार नियम करने पर सिद्धान्त से विरोध आता है।

उपदेश देना, सुनना या शास्त्र को पढ़ना, बाँचना, आगमगम्य प्रमेयों को युक्तियों से समझाना आदि समीचीन व्यवहार में शब्दजन्यज्ञान सभी श्रुत हैं। इस अपेक्षा करके यदि शब्दयोजना से ही श्रुत है, इस प्रकार नियम किया जायेगा, तब तो इष्ट सिद्धान्त में कोई बाधा नहीं आती है, क्योंकि चक्षु आदि से उत्पन्न हुए मतिज्ञान को पूर्ववर्ती कारण मानकर उत्पन्न श्रुतों को परमार्थरूप से श्री अकलंकदेव ने स्वीकार कर लिया है। इस प्रकार अपने सिद्धान्त की समीचीन प्रतिपत्ति हो जाती है।

अथवा, ''जगत् में ऐसा कोई भी ज्ञान नहीं है, जो शब्द के अनुगमन बिना ही हो जाता हो। सम्पूर्ण पदार्थ शब्द में अनुविद्ध हुए के समान प्रतिष्ठित हो रहे हैं।'' इस प्रकार शब्द के एकान्त का निराकरण करने के लिए नामयोजना के पहले तो आदिम मतिज्ञान इष्ट किया गया है किन्तु नाम के संसर्ग से युक्त वह ज्ञान मतिज्ञान नहीं है, किन्तु श्रुत है, इस प्रकार श्री अकलंकदेव द्वारा कहे गए व्याख्यान का श्रद्धापूर्वक अनुकरण करना चाहिए और उस प्रकार होने पर यानी शब्दों के संसर्ग से रहित मतिज्ञान की सिद्धि हो जाने पर यह मन्तव्य भी उस शब्दैकान्तवादी का निराकृत कर दिया जाता है।

जो अन्य मतावलम्बी शब्दाद्वैतवादी कहता है -

कि ''सर्वदा नित्य रहने वाला शब्दस्वरूपपना यदि ज्ञानों में से उछालकर दूर कर दिया जाएगा, तब तो ज्ञान का प्रकाश ही प्रकाशित नहीं हो सकेगा, क्योंकि वह शब्द स्वरूपपना ही तो ज्ञान में अनेक

चेदुत्क्रामेदवबोधस्य शाश्वती। न प्रकाश: प्रकाशेत सा हि प्रत्यवमर्शिनी'' इति तदपास्तं भवति तया विनैवाभिनिबोधिकस्य प्रकाशनादित्यावेदयति—

वाग्रूपता ततो न स्याद्योक्ता प्रत्यवमर्शिनी। मतिज्ञानं प्रकाशेत सदा तद्धि तया विना ॥९०॥

न हींद्रियज्ञानं वाचा संसृष्टमन्योन्याश्रयप्रसंगात्। तथाहि। न तावदज्ञात्वा वाचा संसृजेदतिप्रसंगात्। ज्ञात्वा संसृजतीति चेत् तेनैव संवेदनेनान्येन वा ? तेनैव चेदन्योन्याश्रयणमन्येन चेदनवस्थानं। अत्र शब्दाद्वैतवादिनामज्ञत्वमुपदर्श्य दूषयन्नाह;—

प्रकार के विचारों को करने वाला है।'' इस कथन का भी आचार्यों ने निराकरण किया है क्योंकि शब्द योजना के बिना भी अवग्रह आदि और स्मृति आदि मतिज्ञान जगत् में प्रकाशित हैं। अर्थ और शब्द का कोई अजहत् सम्बन्ध भी नहीं है। शब्द योजना से रिक्त मतिज्ञान को ग्रन्थकार स्वयं निवेदन करते हैं।

इसलिए शब्दाद्वैतवादियों ने जो ज्ञान में वाग्रूपता को ही विचार करने वाला कहा था, वह युक्त नहीं है क्योंकि उस शब्दस्वरूपपने के बिना भी वह मतिज्ञान नियम से सदा प्रकाशित रहता है। **भावार्थ :** इन्द्रिय और मन से जो ज्ञान होते हैं, वे अर्थविकल्पस्वरूप आकार से सहित अवश्य हैं, किन्तु शब्दानुविद्ध नहीं हैं। वस्तु को निरूपण करने पर वह मतिज्ञान श्रुतज्ञान हो जाता है। मतिज्ञान के साथ अविनाभाव रखने वाले श्रुतज्ञान में ही शब्द योजना लगती है। सविकल्पक मति, अवधि, मन:पर्यय और केवलज्ञान ये सब स्वकीय स्वरूप में अवक्तव्य हैं। श्रुतज्ञान का अल्पभाग ही शब्द योजना के योग्य है ॥९०॥

इन्द्रियों से उत्पन्न मतिज्ञान तो शब्दों के साथ संसर्गयुक्त होता नहीं है। अन्यथा अन्योन्याश्रय दोष हो जाने का प्रसंग आता है। इसी को स्पष्ट कर आचार्य कहते हैं कि पूर्व में अज्ञात वचनों के साथ ज्ञान का संसर्ग नहीं हो सकेगा, क्योंकि ऐसा मानने पर अतिप्रसंग दोष आता है। अर्थात् - बिना जाने ही शब्दों का संसर्ग लग जाने से तो चाहे जिस अज्ञात पदार्थ को वचनों द्वारा बोलना शक्य हो जायेगा। कीट, पतंग, पशु, पक्षी भी अज्ञात अनन्त पदार्थ के शब्दयोजक बन जायेंगे। यदि इस अतिप्रसंग के निवारणार्थ पदार्थ को जान करके शब्द का संसर्ग हो जाता है - इस प्रकार मानोगे, तब तो हम कहेंगे कि उसी शब्दसंसृष्ट होने वाले सम्वेदन के द्वारा ज्ञान होना मानोगे? अथवा क्या अन्य किसी ज्ञान के द्वारा इन्द्रियज्ञान को जानकर उसके साथ वचनों का संसर्ग होना इष्ट करोगे ?

यदि प्रथम पक्षानुसार उसी ज्ञान के द्वारा जान लेना माना जाएगा तो अन्योन्याश्रय दोष आता है, क्योंकि उसी ज्ञान से इन्द्रियज्ञान का जानना सिद्ध होता है और इन्द्रिय ज्ञान के जान लिये जाने पर उसका जानना सिद्ध होता है। अर्थात् - शब्द का संसर्ग हो जाने पर ज्ञान होना सिद्ध होता है और ज्ञान हो जाने पर शब्द का संसर्ग होना सिद्ध होता है। यदि द्वितीय पक्षानुसार अन्य सम्वेदन करके इन्द्रिय ज्ञान को जाना जाएगा, तब तो अनवस्था होगी क्योंकि अन्यज्ञान को भी जानकर वचनों का संसर्ग तब लगाया जाएगा जबकि तृतीय ज्ञान से उस अन्य ज्ञान को जान लिया जाएगा। इस प्रकार ज्ञानों के ज्ञापक चतुर्थ, पंचम आदि ज्ञानों की बढ़ती-बढ़ती दूर जाकर भी अवस्थिति नहीं होगी, अत: कथमपि इन्द्रियजन्य ज्ञानों के साथ वचनों

वैखरीं मध्यमां वाचं विनाक्षज्ञानमात्मनः। स्वसंवेदनमिष्टं नोन्योन्याश्रयणमन्यथा ॥९१॥

पश्यंत्या तु विना नैतद्व्यवसायात्मवेदनम्। युक्तं न चात्र संभाव्यः प्रोक्तोन्योन्यसमाश्रयः ॥९२॥

व्यापिन्या सूक्ष्मया वाचा व्याप्तं सर्वं च वेदनं। तया विना हि पश्यंती विकल्पात्मा कुतः पुनः ॥९३॥

मध्यमा तदभावे क्व निर्बीजा वैखरी रवात्। ततः सा शाश्वती सर्ववेदनेषु प्रकाशते ॥९४॥

इति येपि समादध्युस्तेप्यनालोचितोक्तयः। शब्दब्रह्मणि निर्भागे तथा वक्तुमशक्तितः ॥९५॥

न ह्यवस्थाश्चतस्रोस्य सत्याद्वैतप्रसंगतः। न च तासामविद्यात्वं तत्त्वासिद्धौ प्रसिद्ध्यति ॥९६॥

का संसर्ग नहीं होता है वे अपने स्वरूप से अवाच्य होकर प्रतिष्ठित हैं। अर्थात् मतिज्ञान, अवधिज्ञान, मन:पर्यय ज्ञान और केवल ज्ञान स्वार्थ हैं अपने स्वरूप का अनुभव करते हैं, दूसरों को समझाने की उनमें सामर्थ्य नहीं है, परन्तु श्रुतज्ञान परार्थ और स्वार्थ दोनों प्रकार का है, वचनात्मक परार्थ है अत: मतिज्ञान शब्दात्मक नहीं, वचनात्मक श्रुत ज्ञान ही है।

इस अवसर पर शब्दाद्वैतवादी विद्वानों का अज्ञपना दिखलाकर उनको दोषयुक्त करते हुए आचार्य कहते हैं -

शब्दाद्वैतवादी का कथन: वैखरी और मध्यमा नामक दो वाणियों के बिना इन्द्रियजन्य ज्ञान हमको इष्ट है और आत्मा का स्वसंवेदन प्रत्यक्ष भी वैखरी और मध्यमावाणी की शब्दयोजना के बिना ही हमने स्वीकार किया है अत: पूर्व में दिया गया अन्योन्याश्रय दोष हमारे ऊपर लागू नहीं हो सकता। अन्यथा पश्यन्ती नामक वाणी के बिना इन्द्रियजन्य मतिज्ञान और आत्मा का स्वसंवेदन प्रत्यक्ष यह निश्चयात्मक ज्ञान होना युक्त नहीं है। इस पश्यन्ती वाणी से इन्द्रियजन्य ज्ञान और आत्मज्ञान को अनुविद्ध मानने पर ही अन्योन्याश्रय दोष संभव नहीं है॥९१-९२॥

ज्योतिस्वरूप होकर सबके अन्तरंग में प्रकाशित नित्य, व्यापक, सूक्ष्मा नामकी वाणी के द्वारा सम्पूर्ण ज्ञान ही व्याप्त हो रहे हैं क्योंकि, उस सूक्ष्मा के बिना विकल्पस्वरूप पश्यन्ती वाणी भी कैसे हो सकती है? और उस पश्यन्ती वाणी के अभाव में पुन: वह बीज रहित मध्यमावाणी भी कैसे हो सकती है? और मध्यमा शब्द के बिना वैखरी कहाँ टिक सकती है? निमित्त बिना नैमित्तिक कार्य नहीं हो सकते अत: वह सर्व वाणियों की आद्यजननी सनातन, नित्य, सूक्ष्मा वाणी सम्पूर्ण ज्ञानों में प्रकाशित रहती है अत: इन्द्रिय अनिन्द्रिय ज्ञानों में जो भी कुछ प्रकाश दिख रहा है, वह सब सूक्ष्मावाणीरूप है॥९३-९४॥

जैनाचार्य इसका प्रत्युत्तर देते हैं कि उक्त प्रकार से जो भी कोई शब्दाद्वैतवादी समाधान करते हैं, वह भी सब अविचारित (कथन) है, क्योंकि भागरहित, निरंश, अखण्ड शब्द ब्रह्म में चार भेद कर कथन करना शक्य नहीं है। अर्थात् निरंश शब्द ब्रह्म की भिन्न-भिन्न चार अवस्थायें सत्य नहीं हैं क्योंकि चार अवस्थाओं को सत्य मानने पर तो द्वैत का प्रसंग आता है तथा उन चार अवस्थाओं का अविद्यापना भी शब्दब्रह्म के परमार्थरूप से अस्तित्व की सिद्धि नहीं होने से प्रसिद्ध नहीं हो सकता है॥९५-९६॥

चतुर्विधा हि वाग्वैखरी मध्यमा पश्यंती सूक्ष्मा चेति। तत्राक्षज्ञानं विनैव वैखर्या मध्यमया चात्मन: प्रभवति स्वसंवेदनं च अन्यथान्योन्याश्रयणस्य दुर्निवारत्वात्। तत एवानवस्थापरिहारोपि। न चैवं वाग्रूपता सर्ववेदनेषु प्रत्यवमर्शिनीति विरुध्यते पश्यंत्या वाचा विनाक्षज्ञानादेरप्यसंभवात्। तद्धि यदि व्यवसायात्मकं तदा व्यवसायरूपां पश्यंतीवाचं कस्तत्र निराकुर्यादव्यवसायात्मकत्वप्रसंगात्। न चैव मन्योन्याश्रयोनवस्था वा युगपत्स्वकारणवशाद्वाक्संवेदनयोस्तादात्म्यमापन्नयोर्भावात्। यत्पुनरव्यवसायात्मकं दर्शनं तत्पश्यंत्यापि विनोपजायमानं न वाचाननुगतं सूक्ष्मया वाचा सहोत्पद्यमानत्वात् तस्या: सकलसंवेदनानुयायिस्वभावत्वात्। तया विना पुन: पश्यंत्या मध्यमाया वैखर्याश्चोत्पत्तिविरोधादन्यथा निर्बीजत्वप्रसंगात्। ततस्तद्बीजमिच्छता

वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती और सूक्ष्मा इन भेदों से शब्दवाणी चार प्रकार की है।

भावार्थ : मनुष्य, पशु, पक्षी आदि के बोलने, सुनने में आने वाली स्थूलवाणी **वैखरी** है। जाप देते समय या चुपके पाठ करते समय अन्तरंग में जल्प की गई श्वास उच्छ्‌वास की अपेक्षा नहीं रखने वाली वाणी **मध्यमा** है तथा वर्ण, पद, मात्रा, उदात्त आदि विभागों से रहित वाणी पश्यन्ती है जो कि पदार्थों के जानने स्वरूप है एवं अंतरंग ज्योतिस्वरूप **सूक्ष्मावाणी** जगत् में सर्वदा सर्वत्र व्याप्त हो रही है।

उन वाणियों में से वैखरी और मध्यमा के बिना भी इन्द्रियजन्यज्ञान और आत्मा का स्वसम्वेदन प्रत्यक्ष उत्पन्न हो जाता है। अन्यथा इन्द्रिय और आत्म संवेदन में मध्यमा और वैखरी का संसर्ग मानने पर अन्योन्याश्रयदोष का निवारण कठिनता से भी नहीं हो सकेगा। अनवस्था तथा परिहार भी नहीं हो सकेगा। तथा इस प्रकार मानने पर सम्पूर्ण ज्ञानों में विचार करने वाली मानी गयी वाग्रूपता विरुद्ध नहीं पड़ती है। क्योंकि, पश्यन्ती वाणी के बिना इन्द्रियज्ञान आदि का दोष भी असम्भव है। अर्थात् - इन्द्रियज्ञान आदि में पश्यंती वाणी के साथ तादात्म्य हो जाने से वाक्स्वरूपपना अभीष्ट किया है क्योंकि निश्चयात्मक, व्यवसायस्वरूप पश्यंती वाणी का उनमें से कौन निराकरण कर सकेगा? अन्यथा इन्द्रियज्ञान आदि को अनिश्चयात्मकत्व का प्रसंग आयेगा। वह निश्चयस्वरूप को प्राप्त पश्यन्ती वाणी का ही माहात्म्य है। इस प्रकार हम अद्वैतवादियों के यहाँ अन्योन्याश्रय अथवा अनवस्था दोष नहीं आता है क्योंकि अपने कारणों के वश से तदात्मकपने को प्राप्त ही वचन और ज्ञानों की युगपत् उत्पत्ति होना माना गया है।

जो पुन: अनिश्चयात्मक दर्शन पश्यन्ती वाणी के बिना भी उत्पन्न होता है परन्तु सभी वाणियों के साथ वह अननुगत नहीं है अर्थात् अनुगत है क्योंकि चैतन्य स्वरूप निर्विकल्पदर्शन सूक्ष्म वाणी के साथ ही उत्पन्न होता है तथा उस सूक्ष्म वाणी का सकल संवेदन के साथ अनुगत होकर रहना स्वभाव है। उस सूक्ष्म वाणी के बिना पश्यन्ती, वैखरी और मध्यमा की उत्पत्ति का विरोध है। अन्यथा (यदि सूक्ष्मा वाणी के बिना ही पश्यन्ती आदि वाणी की उत्पत्ति मान लेने पर) मध्यमा आदि वाणी के निर्बीजता का प्रसंग आयेगा अर्थात् सूक्ष्मा वाणी रूप कारण के बिना भी मध्यमा आदि की उत्पत्ति रूप कार्य की उत्पत्ति हो जाएगी। इसलिए तीनों वचनों को बीजभूत स्वीकार करने वाले विद्वान पुरुषों को पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी को उत्पन्न करने की शक्तिरूप, सर्वदा सर्वव्यापिनी और सतत प्रकाशमान सूक्ष्मा वाणी को अवश्यं स्वीकार करना चाहिए।

तदुत्पादनशक्तिरूपा सूक्ष्मा वाक् व्यापिनी सततं प्रकाशमानाभ्युपगंतव्या। सैवानुपरिहरत्यभिधानाद्यपेक्षायां भवेदन्योन्यसंश्रय इति दूषणं "अभिलापतदंशानामभिलापविवेकत:। अप्रमाणप्रमेयत्वमवश्यमनुषज्यते" इत्यनवस्थानं च अभिलापस्य तद्भागानां वा पराभिलापेन वैखरीरूपेण मध्यमारूपेण च विनिर्बाधसंवेदनोत्पत्तेरप्रमाणप्रमेयत्वानुषंगाभावादिति ये समादधते तेप्यनालोचितोक्तय एव, निरंशशब्दब्रह्मणि तथा वक्तुमशक्ते:। तस्यावस्थानां चतसृणां सत्यत्वेऽद्वैतविरोधात्। तासामविद्यात्वाददोष इति चेन्न, शब्दब्रह्मणोनंशस्य विद्यात्वसिद्धौ तदवस्थानामविद्यात्वाप्रसिद्धे:। तद्धि शब्दब्रह्म निरंशमिंद्रियप्रत्यक्षादनुमानात्स्वसंवेदनप्रत्यक्षादागमाद्वा न प्रसिद्ध्यतीत्याह—

यदि वह सूक्ष्मा वाणी भी वाचक शब्द संकेत आदि की अपेक्षा करती है तो अन्योन्याश्रय दोष आता है अत: सूक्ष्मा वाणी में शब्द योजना संकेत आदि की अपेक्षा नहीं है। तथा वाचक देवदत्त शब्द और उसके दकार, एकार, वकार आदि अंशों के वाचक पुन: अन्य शब्दों का विचार करने से अवश्य ही अप्रमाणत्व और अप्रमेयत्व का प्रसंग आएगा।

भावार्थ : यदि सभी वाचक शब्द और ज्ञायक ज्ञानों में शब्द का अनुविद्धपना माना जाएगा तो विशिष्ट मनुष्य का वाचक देवदत्त शब्द में स्थित दे, व, आदि के वाचक शब्द भी शब्दान्तर की अपेक्षा करेंगे अतिप्रसंग और अनवस्था दोष आएगा अत: प्रमेय के ज्ञापक ज्ञान और उससे अनुविद्ध शब्द तथा शब्दों के वाचक भी अन्य शब्द एवं अन्य शब्दों के भी वाचक और अन्य शब्दों के भी अंशों को कहने वाले शब्दान्तरों का विचार करने पर जगत् में न कोई प्रमाण व्यवस्थित हो सकता है और न किसी प्रमेय की सिद्धि हो सकती है, परन्तु, शब्दाद्वैतवादियों के अनवस्था दोष नहीं आ सकता क्योंकि वाचक शब्द और उसके वर्ण, मात्र स्वरूप अंशों का कथन करने वाले शब्दान्तरों तथा वैखरी, मध्यमास्वरूप वाचक शब्दों के द्वारा सर्वथा बाधा रहित संवेदन उत्पन्न होता है अत: अप्रमाणत्व और अप्रमेयत्व का प्रसंग नहीं आता है। वैखरी, मध्यमा आदि स्थूल वाणियों के लिए ही वाचकों की आवश्यकता है परन्तु सूक्ष्मा वाणी के लिए पद, मात्रा आदि वाचक शब्दों की आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार शब्दाद्वैतवादी समाधान करते हैं। जैनाचार्य कहते हैं कि उनका यह समाधान भी बिना विचार का कथन है। अर्थात् उनके इन कथनों में कोई तथ्य नहीं है क्योंकि निरंश अखण्ड शब्द ब्रह्म में वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती और सूक्ष्मा रूप चार भेद करना शक्य नहीं है।

शब्दाद्वैतवादियों के शब्दब्रह्म में यदि मध्यमा, वैखरी आदि चार अवस्थायें सत्य हैं, तब तो शब्दाद्वैत का विरोध होता है - अर्थात् शब्द अद्वैत न रहकर द्वैत हो जाता है।

"शब्द ब्रह्म तो निरंश अखण्ड रूप ही है, अविद्या के कारण चार अवस्था रूप प्रतीत होता है, वास्तविक नहीं है। अत: हमारा कथन निर्दोष है।" ऐसा कहना भी उचित नहीं है, क्योंकि निरंश शब्द ब्रह्म के समीचीन विद्या के सिद्ध हो जाने पर उस अवस्था में शब्द ब्रह्म के अविद्यापन की अप्रसिद्धि ही है अर्थात् विद्यावान ब्रह्म की पर्याय विद्या रूप ही होती है, अविद्या रूप नहीं।

शब्दाद्वैतवादियों के द्वारा स्वीकृत निरंश शब्द ब्रह्म इन्द्रिय प्रत्यक्ष, अनुमान, स्वसंवेदन प्रत्यक्ष और आगम प्रमाण से प्रसिद्ध नहीं है। इसी बात को आचार्य कहते हैं -

ब्रह्मणो न व्यवस्थानमक्षज्ञानात् कुतश्चन। स्वप्नादाविव मिथ्यात्वात्तस्य साकल्यतः स्वयम्॥९७॥

नानुमानात्ततोर्थानां प्रतीतेर्दुर्लभत्वतः। परप्रसिद्धिरप्यस्य प्रसिद्धा नाप्रमाणिका॥९८॥

स्वतः संवेदनात्सिद्धिः क्षणिकानंशवित्तिवत्। न परब्रह्मणो नापि सा युक्ता साधनाद्विना॥९९॥

आगमादेव तत्सिद्धौ भेदसिद्धिस्तथा न किम्। निर्बाधादेव चेत्तत्त्वं न प्रमाणांतरादृते॥१००॥

तदागमस्य निश्चेतुं शक्यं जातु परीक्षकैः। न चागमस्ततो भिन्नः समस्ति परमार्थतः॥१०१॥

तद्विवर्तस्त्वविद्यात्मा तस्य प्रज्ञापकः कथं। न चाविनिश्चिते तत्त्वे फेनबुद्बुदवद्विदा॥१०२॥

स्पार्शन प्रत्यक्ष, चाक्षुष प्रत्यक्ष आदि किसी भी इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष के द्वारा निरंश शब्द ब्रह्म की सिद्धि नहीं होती है क्योंकि स्वप्न ज्ञान के समान इन्द्रियजन्य ज्ञान को स्वयं शब्दाद्वैतवादियों ने पूर्ण रूप से मिथ्या स्वीकार किया है॥९७॥

अनुमान ज्ञान (प्रमाण) से भी शब्द ब्रह्म की सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि प्रतिवादियों ने कहा है कि ''अनुमान से अर्थों की प्रतीति होना दुर्लभ है। तथा शब्दाद्वैतवादियों के यहाँ अनुमान प्रमाण की प्रसिद्धि नहीं है और उसको अप्रमाण भी माना है अतः उस अप्रामाणिक ज्ञान से परम ब्रह्म की सिद्धि नहीं हो सकती है॥९८॥

बौद्धों के द्वारा स्वीकृत क्षणिक, निरंश ज्ञान की, जैसे स्वसम्वेदन प्रत्यक्ष से सिद्धि शब्दाद्वैतवादियों ने नहीं मानी है, उसी के समान नित्य, व्यापक, शब्द परमब्रह्म की भी स्वतः सम्वेदन प्रत्यक्ष से सिद्धि नहीं होती है, क्योंकि साधन के बिना ब्रह्म की सिद्धि युक्तियुक्त नहीं है॥९९॥

यदि आगम प्रमाण से शब्दब्रह्म की सिद्धि मानते हैं तब तो उस शब्दब्रह्म के समान आगम से शब्दब्रह्म के भेद की भी सिद्धि क्यों नहीं होगी? अपितु, अवश्य होगी। अर्थात् आगम में शब्द के भेद माने हैं-वह भी स्वीकार करना पड़ेगा तथा आगम प्रमाण से यदि शब्दब्रह्म की सिद्धि करते हो तो वह आगम भी अनुमान आदि प्रमाणों के बिना निर्बाध सिद्ध नहीं हो सकता। तथा शब्दब्रह्म को निरंश सिद्ध करने वाले उस आगम का निर्बाधपना परीक्षकों के द्वारा तर्क अनुमान आदि प्रमाणों के बिना कभी भी निश्चय नहीं किया जा सकता है तथा शब्दाद्वैतवादियों के यहाँ परम ब्रह्म से भिन्न दूसरा कोई परमार्थभूत आगम स्वीकार नहीं किया है अतः आगम से भी शब्दब्रह्म की सिद्धि नहीं होती है ॥१००-१०१॥ अर्थात् ब्रह्म और आगम में कथंचित् भेद मानने पर ही गम्य और गमकपना सिद्ध हो सकता है - अन्यथा नहीं।

तथा अविद्यात्मक उस परम ब्रह्म की पर्याय भी शब्दब्रह्म की ज्ञापक कैसे हो सकती है? अर्थात् अवस्तुभूत अविद्या से वस्तुभूत तत्त्व की सिद्धि नहीं हो सकती, जैसे कल्पित मोदक से जठराग्नि शांत नहीं हो सकती और काष्ठ निर्मित बादाम के खाने से मस्तक में तरी नहीं आ सकती। जब तक भेदयुक्त अनुमान प्रमाण से निर्बाध आगम विशेष रूप से निश्चित नहीं होता है, तब तक अद्वैत शब्दब्रह्म की सिद्धि नहीं हो सकती। अर्थात् - अनुमान प्रमाण के बिना तत्त्व का निश्चय नहीं हो सकता।

मायेयं बत दु:पारा विपश्चिदिति पश्यति। येनाविद्या विनिर्णीता विद्यां गमयति ध्रुवम् ॥१०३॥

भ्रांतेर्बीजाविनाभावादनुमात्रैवमागता। ततो नैव परं ब्रह्मास्त्यनादिनिधनात्मकम् ॥१०४॥

विवर्तेतार्थभावेन प्रक्रिया जगतो यत:। भ्रान्तिबीजमनुस्मृत्य विद्यां जनयति स्वयं ॥१०५॥

न हि भ्रांतिरियमखिलभेदप्रतीतिरित्यनिश्चये तदन्यथानुपपत्त्या तद्बीजभूतं शब्दतत्त्वमनादिनिधनं ब्रह्म सिद्ध्यति। नापि तदसिद्धौ भेदप्रतीतिर्भ्रांतिरिति परस्पराश्रयणात्कथमिदमवतिष्ठते ''अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं

शब्द अद्वैतवादी कहते हैं कि वस्तुत: जल के समान शब्दब्रह्म एक है। उसके अनेक बबूलों के समान भेद के द्वारा जीवों को असत्य प्रतिभास हो रहा है। बड़ा खेद है जिसका जानना बहुत कठिन है ऐसी यह माया का प्रभाव है। विद्वान जन वास्तविक तत्त्व को देख लेते हैं जिससे कि विशेष रूप से निर्णीत अविद्या उस विद्या का दृढ़ रूप से ज्ञापन करा देती है, क्योंकि बिना भित्ति के भ्रान्तज्ञान उत्पन्न नहीं होता है अत: सब मिथ्याज्ञान, सम्यग्ज्ञानों का बीजभूत शब्दब्रह्म है। जैनाचार्य प्रत्युत्तर देते हैं कि भ्रान्तियों का बीज के साथ अविनाभाव मानने से तो (इस प्रकार यहाँ) अनुमान प्रमाण ही आ गया और ऐसा होने पर हेतु, पक्ष दृष्टान्त आदि को मान लेने से द्वैत हो जाता है। बीजभूत ब्रह्म और नैमित्तिक अविद्यायें मानी गई है। इससे भी द्वैत सिद्ध होता है, अद्वैत नहीं अत: अनादि, अनन्तस्वरूप शब्द परब्रह्म कैसे भी सिद्ध नहीं हो पाता है, जिससे कि तुम्हारा यह कहना शोभनीय हो कि वह शब्दब्रह्म ही घट, पट आदि अर्थ परिणामों करके पर्यायों को धारण करता है। इस प्रकार जगत् की प्रक्रिया चलती है। वह शब्दब्रह्म ही भ्रान्ति के निमित्त कारणों का अनुसरण कर स्मरण किया जाकर पश्चात् स्वयं विद्या को उत्पन्न कर देता है। यह अद्वैतवादियों का कथन द्वैत के सिद्ध होने पर ही युक्त होता है, अन्यथा नहीं ॥१०२-१०३-१०४-१०५॥

घट, पट आदि सम्पूर्ण भेदों को प्रकाशित करने वाली यह प्रतीति भ्रान्तिस्वरूप है। इस प्रकार जब तक निश्चय नहीं होगा, तब तक उस भ्रान्ति की अन्यथा अनुपपत्ति के द्वारा उसका बीजभूत अनादि, अनन्त, व्यापक, शब्दब्रह्म तत्त्व सिद्ध नहीं हो सकता है। तथा जब तक अद्वैत शब्दब्रह्म की सिद्धि नहीं होगी, तब तक घट आदि की भेद प्रतीति भी भ्रान्तिरूप सिद्ध नहीं हो सकती।

इस प्रकार परस्पराश्रय दोष हो जाने से यह वक्ष्यमाण अद्वैतवादियों का ग्रन्थ कैसे व्यवस्थित हो सकता है कि शब्दतत्त्वस्वरूप परमब्रह्म अनादिकाल से चला आया हुआ अनन्तकाल तक अक्षीण होता हुआ प्रवर्तता रहेगा। घट, पट आदि अर्थ स्वरूप से वह शब्दब्रह्म ही परिणमता है। जिन परिणामों से गृह, कलश, पुस्तक, बाल, वृद्ध, स्वर्ग, नरक आदि भेदरूप जगत् की प्रक्रिया बनती है।

भावार्थ : भेदप्रतीतियों के भ्रमरूप सिद्ध हो जाने पर शब्दाद्वैत सिद्ध हो और अद्वैत के सिद्ध हो जाने पर भेदप्रतीति भ्रमस्वरूप सिद्ध हो। इस प्रकार इतरेतराश्रय दोष हो जाने से अद्वैतवादियों के मन्तव्यानुसार शब्दब्रह्म का नित्यपना और दृश्य जगत् स्वरूप से उसका परिणाम होना सिद्ध नहीं हो पाता है; जिससे कि उस शब्दब्रह्म की वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती, सूक्ष्मा ये चार सदूरूप अथवा असदूरूप अवस्थाएँ सम्भव हो सके। यानी शब्दब्रह्म के सिद्ध नहीं होने पर उसकी अवस्थाएँ आकाश पुष्प की सुगन्धियों समान सिद्ध नहीं

यदक्षरं। विवर्तेतार्थभावेन प्रक्रिया जगतो यत:॥'' इति यतस्तस्य चतस्रोवस्था वैखर्यादय: संभाव्यंते सत्योऽसत्यो वा। न च तदसंभवेनायं सर्वत्र प्रत्यये शब्दानुगम: सिद्ध्येत् सूक्ष्माया: सर्वत्र भावात्। यतोभिधानापेक्षायामक्षादिज्ञानेन्योन्याश्रयोऽनवस्था न च स्यात्सर्वथैकांताभ्युपगमात्॥

स्याद्वादिनां पुनर्वाचो द्रव्यभावविकल्पत:। द्वैविध्यं द्रव्यवाग्द्वेधा द्रव्यपर्यायभेदत:॥१०६॥

श्रोत्रग्राह्यात्र पर्यायरूपा सा वैखरी मता। मध्यमा च परैस्तस्या: कृतं नामांतरं तथा॥१०७॥

द्रव्यरूपा पुनर्भाषावर्गणा: पुद्गला: स्थिता:। प्रत्ययान्मनसा नापि सर्वप्रत्ययगामिनी॥१०८॥

भाववाग्व्यक्तिरूपात्र विकल्पात्मनिबंधनं। द्रव्यवाचोभिधा तस्या: पश्यंतीत्यनिराकृता॥१०९॥

होती हैं, और उन चार अवस्थाओं के असम्भव हो जाने से सम्पूर्ण ज्ञानों में यह शब्दों का अनुगम करना तो सिद्ध नहीं हो सकता कि सूक्ष्मा वाणी सभी ज्ञानों में विद्यमान है। ज्ञानों में शब्द के द्वारा अनुविद्धपना नहीं है, जिससे कि अन्य वाचक शब्दों की अपेक्षा करते-करते इन्द्रियजन्य, लिंगजन्य आदि ज्ञानों में अन्योन्याश्रय और अनवस्था दोष नहीं हो सके।

अर्थात् ज्ञान को चारों ओर से शब्द से गुंथा हुआ मानने पर अन्योन्याश्रय और अनवस्था दोष आते हैं, क्योंकि शब्दाद्वैतवादियों ने सभी प्रकारों से शब्दानुविद्धपने का एकान्त चारों ओर स्वीकार कर लिया है अत: शब्द का संसर्ग करने पर उसी सम्वेदन और अन्य संवेदनों द्वारा जानने में उक्त दोष उपस्थित हो जाते हैं।

पुन:, स्याद्वादियों के यहाँ द्रव्यवचन और भाववचन के विकल्प से वचनों को दो प्रकार का माना है। उनमें द्रव्यवचन, द्रव्य और पर्याय के भेद से दो प्रकार का है। श्रोत्र इन्द्रिय से ग्रहण करने योग्य वचन पर्यायरूप वाक् है। दूसरों ने (मीमांसक) आदि ने उस पर्यायरूप वचन को ही वैखरी और मध्यमा ये दूसरे नाम दिये हैं। अत: शब्द मात्र भेद है। तात्पर्य अर्थ एक ही है। पुद्गल की कर्ण इन्द्रिय से ग्रहण करने योग्य पर्याय को शब्द माना गया है॥१०६-१०७॥

द्रव्यस्वरूप भाषावर्गणा स्थित पुद्गल कण्ठ, तालु आदि का निमित्त पाकर अकार, ककार, अक्षरात्मक या अनक्षरात्मक शब्द रूप परिणत होते हैं। वे द्रव्यवाक् ज्ञान और मन के द्वारा भी सम्पूर्ण ज्ञानों में अनुगम करने वाले नहीं हैं क्योंकि व्यक्तिरूप भाववाक् ही पौद्‌लिक विकल्पज्ञान और द्रव्यवाक् के आत्मलाभ का कारण है। भाववाक् भी व्यक्तिस्वरूप और शक्तिस्वरूप दो प्रकार का है। उस भाववाणी की संज्ञा यदि अद्वैत वादियों ने पश्यन्ती रख दी है तो उसका निराकरण नहीं किया जाता है।

शब्दाद्वैतवादियों ने विकल्पस्वरूप निश्चयात्मक पश्यन्ती वाणी मानी है। जैन ग्रन्थों में भी वीर्यान्तराय और मतिश्रुत ज्ञानावरण कर्मों का क्षयोपशम होने पर तथा अंगोपांग नामकर्म के उदय का पूर्णलाभ होने पर होने वाले विकल्पों का यथायोग्य अन्तर्जल्प कहा है। यह पश्यन्ती या भाववाक् द्रव्यवाणी की उत्पत्ति का कारण है। यह भाववाक् का पहिला व्यक्तिरूप भेद है॥१०८-१०९॥

वाग्विज्ञानांवृतिच्छेदविशेषोपहितात्मनः। वक्तुः शक्तिः पुनः सूक्ष्मा भाववागभिधीयताम् ॥११०॥
तया विना प्रवर्तंते न वाचः कस्यचित्क्वचित्। सर्वज्ञस्याप्यनंताया ज्ञानशक्तेस्तदुद्भवः ॥१११॥
इति चिद्रूपसामान्यात्सर्वात्मव्यापिनी न तु। विशेषात्मतयेत्युक्ता मतिः प्राङ्नामयोजनात् ॥११२॥
शब्दानुयोजनादेव श्रुतमेवं न बाध्यते। ज्ञानशब्दाद्विना तस्य शक्तिरूपादसंभवात् ॥११३॥
लब्ध्यक्षरस्य विज्ञानं नित्योद्घाटनविग्रहं। श्रुताज्ञानेपि हि प्रोक्तं तत्र सर्वजघन्यके ॥११४॥
स्पर्शनेंद्रियमात्रोत्थे मत्यज्ञाननिमित्तकं। ततोक्षरादिविज्ञानं श्रुते सर्वत्र संमतम् ॥११५॥
नाकलंकवचोबाधा संभवत्यत्र जातुचित्। तादृशः संप्रदायस्याविच्छेदाद्युक्त्यनुग्रहात् ॥११६॥

भाववाक् का दूसरा भेद शक्ति भाववाक् है। वचनों से जन्य शाब्दबोध ज्ञान को आवरण करने वाले कर्मों के विशेष क्षयोपशम से उपहत (युक्त) वक्ता आत्मा की जो शक्ति है, वह शक्तिस्वरूप भाववाक् शब्दाद्वैतवादियों के द्वारा सूक्ष्मावाणी कही जाती है। क्योंकि, उस शक्तिरूप सूक्ष्मावाणी के बिना किसी भी जीव के कहीं भी वचन की प्रवृत्ति नहीं होती है। सर्वज्ञ भगवान के भी अनन्तज्ञान, शक्ति या वीर्य शक्ति के होने से ही उस द्वादशांग वाणी की उत्पत्ति मानी गयी है।

अर्थात् : प्रतिपक्षी कर्मों के क्षयोपशम या क्षय के हो जाने पर प्रमेयों का वाचन कराने के लिए या शब्दों को यथायोग्य बनाने के लिए उत्पन्न हुई पुरुषार्थ शक्ति ही शब्दों की जननी है। उसको सूक्ष्मा कहने में कोई क्षति नहीं है। इस प्रकार सामान्य चैतन्यस्वरूप की अपेक्षा से उस शक्तिरूप सूक्ष्मावाणी को सम्पूर्णभाषाभाषी आत्माओं में व्यापक मान सकते हैं। किन्तु विशेष विशेषस्वरूप से सर्वव्यापक नहीं है। इस प्रकार नाम योजना से पहिले स्मृति आदि ज्ञान मतिज्ञानस्वरूप कहे गये हैं। सभी ज्ञानों में नाम का संसर्ग अनिवार्य नहीं है। अतः शब्द की पीछे योजना कर देने से ही श्रुत होता है, इस प्रकार का नियम भी उक्त अपेक्षा लगाने पर बाधित नहीं होता है। कारण कि शक्तिस्वरूप ज्ञान वाणी के बिना उस परार्थश्रुत की उत्पत्ति असम्भव है ॥११०-१११-११२-११३॥

यह जघन्य श्रुतज्ञान नित्य उद्घाटित शरीर वाला है। यानी इसके ऊपर कोई आवरण करने वाला कर्म नहीं है। जघन्य ज्ञान आवरण रहित है। इसके ऊपर के श्रुतभेदों को पर्यायावरण, पर्यायसमासावरण आदि कर्म ढकते हैं। अतः लब्ध्यक्षर ज्ञानजीव के नित्य प्रकाशमान जघन्य विज्ञान है। सर्वज्ञानों में जघन्य कुश्रुतज्ञान में भी पूर्व में कहा गया शक्तिरूप श्रुत अवश्य विद्यमान है। सूक्ष्मनिगोदिया जीव के केवल स्पर्शन इन्द्रिय से उत्पन्न हुए मत्यज्ञान को निमित्तकारण मानकर जघन्यज्ञान होता है।

इससे सिद्ध होता है कि अक्षर, अक्षरसमास, पद, पदसमास आदि विज्ञान भी सामान्य चिद्रूप करके व्याप्त हैं। सम्पूर्ण श्रुतों में ज्ञानस्वरूप शब्द की अनुयोजना करना हमको सम्मत है।

भावार्थ : सर्व ज्ञानों में उत्कृष्ट केवलज्ञान है और सम्पूर्ण ज्ञानों में छोटा ज्ञान सूक्ष्म निगोदिया का जघन्य ज्ञान है। सूक्ष्मनिगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीव अपने सम्भवनीय छह हजार बारह जन्मों में भ्रमण करता हुआ, अन्त के जन्म में यदि तीन मोड़ावाली गोमूत्रिका गति से मरे तब प्रथम मोड़ा के समय में सर्व

ननु च श्रोत्रग्राह्या पर्यायरूपा वैखरी मध्यमा च वागुक्ता शब्दाद्वैतवादिभिर्यतो नामांतरमात्रं तस्याः स्यान्न पुनरर्थभेद इति। नापि पश्यंती वाग्वाचकविकल्पलक्षणा सूक्ष्मा वा वाक् शब्दज्ञानशक्तिरूपा। किं तर्हि। स्थानेषूरःप्रभृतिषु विभज्ययमाने विवृते वायौ वर्णत्वमापद्यमाना वक्तृप्राणवृत्तिहेतुका वैखरी। "स्थानेषू विवृते वायौ कृतवर्णत्वपरिग्रहः। वैखरी वाक् प्रयोक्तृणां प्राणवृत्तिनिबन्धना" इति वचनात्। तथा मध्यमा केवलमेव बुद्ध्युपादाना क्रमरूपानुपातिनी वक्तृप्राणवृत्तिमतिक्रम्य प्रवर्तमाना निश्चिता "केवलं बुद्ध्युपादाना

जघन्यज्ञान उत्पन्न होता है। इस ज्ञान में भी अनन्त अविभाग प्रतिच्छेद होते हैं, क्योंकि शक्ति के अंशों की जघन्य वृद्धि को अविभाग प्रतिच्छेद कहते हैं। यह सबसे छोटा ज्ञान भी जघन्य अन्तरों से अनन्तगुणा है। अतः इस ज्ञान में अनन्तानन्त अविभाग प्रतिच्छेद माने गये हैं। स्पर्शन इन्द्रियजन्य मतिअज्ञानपूर्वक यह लब्ध्यक्षर श्रुताज्ञान है। ये कारण कार्यस्वरूप दोनों ज्ञान कुज्ञान हैं। किसी भी जीव को कदापि इससे न्यूनज्ञान प्राप्त होने का अवसर प्राप्त नहीं हुआ और न ही होगा। इतना श्रुतज्ञानावरण का क्षयोपशम सदा ही बना रहता है अतः लब्धि (सबसे छोटे क्षयोपशमजन्य ज्ञान) अक्षर (यानी अविनश्वर) है। इतना ज्ञान भी यदि नष्ट हो जाय तो आत्मद्रव्य का ही नाश हो जाएगा॥११४-११५॥

अतः इस प्रकरण में श्री अकलंकदेव के वचन की बाधा कभी-भी संभव नहीं है, क्योंकि उस प्रकार के सर्वज्ञोक्त सम्प्रदाय का विच्छेद नहीं हुआ है। तथा शब्द की योजना से ही श्रुत होता है, इस सिद्धान्त में भी पूर्वोक्तानुसार युक्तियों का अनुग्रह हो रहा है, अर्थात् यह कथन युक्तिसिद्ध भी है॥११६॥

शंका : श्रोत्र से ग्रहण करने योग्य वैखरी और मध्यमा वाणी जो शब्दाद्वैतवादियों के द्वारा कही गयी है, वह जैनों द्वारा मानी गयी पर्यायरूप वाणी नहीं है, जिससे कि उसके केवल नाम का अन्तर समझकर उस पर्याय वाणी का दूसरा नाम ही मध्यमा या वैखरी हो जाये और अर्थभेद नहीं हो सके। तथा वाचकों के विकल्पस्वरूप लक्षणवाली पश्यन्ती वाणी भी नहीं मानी गई है। शब्दाद्वैतवादियों के यहाँ शब्दशक्तिस्वरूप या व्यक्तिस्वरूप सूक्ष्मावाणी नहीं मानी गई है। शब्दाद्वैतवादियों के यहाँ वैखरी आदि वाणी कैसी मानी गयी है?

समाधान : इसका उत्तर यह है कि "छाती, कंठ, तालु इत्यादि स्थानों में विभाग को प्राप्त वायु के रुककर फट जाने पर वह जो वायु हकार, ककार, इकार आदि वर्णपने को प्राप्त और शब्दप्रयोक्ताओं की प्राणवृत्ति की कारणभूत वैखरी वाणी है ऐसा ग्रन्थ का वचन है। अर्थात् जैसे तुम्बी, बांसुरी आदि के छेदों में से मुखवायु विभक्त होती हुई मिष्ट स्वरों में परिणत हो जाती है, तथैव कानों से सुनने योग्य मोटी वैखरी वाणी शब्दब्रह्म का विवर्त है। (पर्याय है)

तथा शब्दाद्वैतवादियों के द्वारा स्वीकृत मध्यमा वाणी केवल बुद्धि को ही उपादान कारण मानकर क्रम से होने वाले अपने स्वरूप के अनुसार चली आ रही है और वक्ता की प्राणवृत्ति का अतिक्रमण कर प्रवृत्त होती है। हमारे दर्शन में इस प्रकार लिखा है कि केवल बुद्धि को उपादान कारण मानकर उत्पन्न और क्रमरूप से अनुपात करने वाली तथा श्वासोच्छ्वास की प्रवृत्ति का अतिक्रमण कर मध्यमा वाणी प्रवृत्त होती

क्रमरूपानुपातिनी। प्राणवृत्तिमतिक्रम्य मध्यमा वाक् प्रवर्त्तते'' इति वचनात्। पश्यन्ती पुनरविभागा सर्वतः संहृतक्रमा प्रत्येया। सूक्ष्मात्र स्वरूपज्योतिरेवान्तरवभासिनी नित्यावगन्तव्या। ''अविभागानुपश्यन्ती सर्वतः संहृतक्रमा। स्वरूपज्योतिरेवान्तः सूक्ष्मा वागवभासिनी। १।'' इति वचनात्। ततो न स्याद्वादिनां कल्पयितुं युक्ताश्चतस्रोऽवस्थाः श्रुतस्य वैखर्यादयस्तदनिष्टलक्षणत्वादिति केचित्। तेऽपि न प्रातीतिकोक्तयः। वैखर्या मध्यमायाश्च श्रोत्रग्राह्यत्वलक्षणानतिक्रमात्। स्थानेषु विवृतो हि वायुर्वक्तृणां प्राणवृत्तिश्च वर्णत्वं परिगृह्णत्या

है। फिर तीसरी पश्यन्ती वाणी तो विभाग रहित होती हुई सब ओर से वर्ण, पद आदि के क्रम का संकोच करती हुई समझनी चाहिए, और यहाँ चौथा सूक्ष्मवाक् तो शब्द ब्रह्मस्वरूप की ज्योति ही है। वह सूक्ष्मा अन्तरंग में सदा प्रकाशित नित्य समझनी चाहिए। इन दोनों वाणियों के लिए हमारे ग्रन्थों में इस प्रकार कथन है कि जिसमें सब ओर से क्रम का उपसंहार किया जा चुका है, और विभाग भी जिसमें नहीं है, वह तो पश्यन्ती है। अर्थात् अकार, ककार आदि वर्ण के विभाग रहित और वर्णपदों के बोलने के क्रम से रहित पश्यन्ती है, और शब्द ज्योतिस्वरूप ही सूक्ष्मावाणी है, जो अन्तरङ्ग में प्रकाश कर रही है। परन्तु स्याद्वादियों ने ऐसी द्रव्यवाक् भाववाक् नहीं मानी है अतः स्याद्वादियों के यहाँ श्रुत की वैखरी, मध्यमा आदिक चार अवस्थायें कल्पना करने के लिए किया गया परिश्रम समुचित नहीं है, क्योंकि जैनों के माने हुए वचनों के वे लक्षण हम शब्दाद्वैतवादियों को इष्ट नहीं हैं। इस प्रकार कोई (शब्दानुविद्धवादी) कह रहे हैं।

अब आचार्य उनकी शंका का उत्तर देते हैं कि वे विद्वान् भी प्रतीतियों से युक्त कथन करने वाले नहीं हैं, क्योंकि वैखरी और मध्यमा श्रोत्र से ग्रहण करने की योग्यता का उल्लंघन नहीं कर रही हैं। अर्थात् शब्दाद्वैतवादी ने भी इन वाणियों की श्रोत्रग्राह्यता स्वीकार की है और स्याद्वादियों के यहाँ पर्यायरूप द्रव्यवाक् भी कर्ण इन्द्रिय से ग्राह्य मानी गई है अतः कर्ण इन्द्रिय से ग्रहण करने योग्यपना, इस लक्षण का उल्लंघन नहीं हुआ है। तथा तालु आदि स्थानों में फैल रही वायु और वक्ताओं की श्वासोच्छ्वास प्रवृत्ति ही वर्णपने को परिग्रहण करने वाली वैखरी वाणी के कारण माने हैं।

वैखरी का लक्षण वर्णपने का परिग्रह कर लेना है और वह तो कान इन्द्रिय द्वारा ग्राह्य हो जानापनस्वरूप परिणति ही है। जगत् में फैली हुई भाषावर्गणायें या शब्दयोग्यवर्गणायें पहिले कानों से सुनने योग्य नहीं थीं, अक्षरपद या ध्वनिरूप पर्याय रूप होने पर भी वे कानों से सुनने योग्य हो जाती हैं। ऐसा मानना किसी को भी अनिष्ट नहीं है। अर्थात् हमारी श्रोत्र से ग्राह्य हो रही पर्यायवाणी और तुम्हारी वैखरीवाणी समान ही है। तथा केवल बुद्धि को ही मध्यमा की उपादान कारण तुमने मानी है और वक्ता की प्राणवृत्तियों का अतिक्रमण करना तो मध्यमा का निमित्त कारण माना गया है तथा वर्ण, पद आदि के क्रम से अपने स्वरूप का अनुगम करना ही यह मध्यमा का लक्षण भी श्रोत्र द्वारा ग्रहण करने योग्यपन से विरुद्ध नहीं पड़ता है अतः मध्यमा का निराकरण नहीं किया जाता है। स्याद्वादियों के यहाँ पर्यायरूप अन्तर्जल्पस्वरूप शब्द कानों से सुनने योग्य माने गये हैं।

वैखर्याःकारणं। वर्णत्वपरिग्रहस्तु लक्षणं। स च श्रोत्रग्राह्यत्वपरिणाम एव। इति न किञ्चिदनिष्टं। तथा केवला बुद्धिर्वक्तृप्राणवृत्त्यतिक्रमश्च मध्यमायाः कारणं तु लक्षणं क्रमरूपानुपातित्वमेव च तत्र श्रोत्रग्रहणयोग्यत्वाविरुद्धमिति न निराक्रियते। पश्यन्त्याः सर्वतः संहृतक्रमत्वमविभागत्वं च लक्षणं। तच्च यदि सर्वथा तदा प्रमाणविरोधो, वाच्यवाचकविकल्पक्रमविभागयोस्तत्र प्रतिभासनात्। कथंचित्तु संहृतक्रमत्व-मविभागत्वं च तत्रेष्टमेव, युगपदुपयुक्तश्रुतविकल्पानामसम्भवाद्वर्णादिविभागाभावाच्चानुपयुक्तश्रुतविकल्पस्येति। तस्य विकल्पात्मकत्वलक्षणानतिक्रम एव। सूक्ष्मायाः पुनरन्तःप्रकाशमानस्वरूपज्योतिर्लक्षणत्वं कथंचिन्नित्यत्वं च नित्योद्घाटितान्निरावरणलब्ध्यक्षरज्ञानाच्छक्तिरूपाच्च चित्सामान्यान्न विशिष्यते। सर्वथा नित्याद्वयरूपत्वं तु प्रमाणविरुद्धस्य वेदितप्रायम्। इत्यलं प्रपंचेन "श्रुतं शब्दानुयोजनादेव" इत्यवधारणस्याकलंकाभिप्रेतस्य कदाचिद्विरोधाभावात् ; तथा संप्रदायस्याविच्छेदाद्युक्त्यनुग्रहाच्च सर्वमतिपूर्वकस्यापि श्रुतस्याक्षरज्ञानत्वव्यवस्थितेः। अत्रोपमानस्यान्तर्भावं विभावयन्नाहः—

शब्दाद्वैतवादियों ने पश्यन्ती का लक्षण क्रमों का संहार किया जाना और विभाग रहितपना किया है। परन्तु वाणियों में वह क्रम का संहार और अविभागत्व यदि सर्वथा रूप से माना जाता है, तब तो प्रमाणों से विरुद्ध है, क्योंकि उन शब्दों में विकल्पज्ञान के अनुसार वाच्य और वाचकों का क्रम तथा वर्ण, पद आदि के विभागों का प्रतिभास हो रहा है। संहृत, क्रमपना और विभागरहितपना यदि कथंचिद् माना जाता तब तो हमें भी वहाँ शब्द में इष्ट ही है। उपयोग को प्राप्त श्रुत के अनेक विकल्पों का एक ही समय में होना असम्भव है तथा वाच्य वाचक के क्रम के विभाग की भी असम्भवता है किन्तु श्रुत के विकल्पों का उपयोगरूप परिणाम आत्मा में नहीं है। उस अनुपयुक्त हो रहे श्रुत के विकल्प के वर्ण, पद; पंक्ति आदि का विभाग उस समय नहीं है। अतः उस पश्यन्ती वाणी के विकल्पस्वरूपपने लक्षण का जैनाचार्य द्वारा स्वीकृत भाववाणी से अतिक्रमण कैसे भी नहीं हो पाता है। कथंचित् लक्षण ऐक्य ही है और कथञ्चित् भिन्न है।

सूक्ष्मा का अन्तःप्रकाशमान ज्योतिःस्वरूप लक्षण भी कथंचित् नित्य उद्घाटित केवलज्ञान के समान निरावरण तथा क्षयोपशमलब्धि से अविनाशी, ऐसे सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीव के शक्तिरूप चैतन्य सामान्य से अथवा अन्य क्षयोपशमिक शक्तिरूप लब्धियों की अपेक्षा सूक्ष्मा में कोई विशेषता नहीं है परन्तु सर्वथा उस सूक्ष्मावाणी को नित्य और अद्वैतस्वरूप मानना प्रमाणविरुद्ध है। इस बात को हम बहुत बार निवेदित कर चुके हैं अतः यहाँ अधिक विस्तार करने से कोई विशेष प्रयोजन सिद्ध नहीं होता है।

"शब्द की अनुयोजना से ही श्रुत होता है।" इस प्रकार श्री अकलंकदेव को अभिप्रेत अवधारणा का कभी भी विरोध नहीं होता है अर्थात् विरोध का अभाव है। आम्नायों की विच्छित्ति नहीं होने से और युक्तियों का अनुग्रह हो जाने से भी सम्पूर्ण मतिज्ञानों को पूर्ववर्ती कारण मानकर उत्पन्न हुए श्रुत को अक्षरज्ञानपना व्यवस्थित है। यानी भाव शब्दों की योजना कर देने से ही वे श्रुत हो सकते हैं। श्रोत्र से अतिरिक्त अन्य इन्द्रियों से जन्य मतिज्ञान द्वारा हुए अर्थान्तर के ज्ञान में या अवाच्य श्रुतज्ञान में अथवा अन्य श्रुतों में भी भाववाक्रूप चैतन्य शब्दों की योजना कर देने से ही श्रुतपना व्यवस्थित हो सकता है, अन्यथा नहीं।

कृताभिदेशवाच्याभिः संस्कारस्य क्वचित्पुनः। संवित्प्रसिद्धसाधर्म्यात्तथा वाचकयोजिता ॥११७॥
प्रकाशितोपमा कैश्चित्सा श्रुतान्न विभिद्यते। शब्दानुयोजनात्तस्याः प्रसिद्धागमवित्तिवत् ॥११८॥
प्रमाणान्तरतायान्तु प्रमाणनियमः कुतः। संख्या संवेदनादीनां प्रमाणांतरता स्थितौ ॥११९॥
प्रत्यक्षं द्व्यादिविज्ञानमुत्तराधर्यवेदिनं। स्थविष्ठोरुदविष्ठाल्पलघ्वासन्नादिविच्च चेत् ॥१२०॥
नोपदेशमपेक्षेत जातु रूपादिवित्तिवत्। परोपदेशनिर्मुक्तं प्रत्यक्षं हि सतां मतं ॥१२१॥
तत्संज्ञासंज्ञिसम्बन्धप्रतिपत्तिरपेक्षते। परोपदेशमध्यक्षं संख्यादिविषयं यदि ॥१२२॥

शब्द की अनुयोजना से ही श्रुत होता है, अथवा श्रुत ही शब्द की अनुयोजना से होता है। इसका विचार कर अब नैयायिकों द्वारा पृथक् प्रमाण माने गए उपमान के अन्तर्भाव का आचार्य स्पष्ट व्याख्यान करते हुए कहते हैं -

गौ के सदृश गवय होता है। इस अतिदेश वाक्य के द्वारा भावना नामक संस्कार वाले पुरुष को फिर कहीं रोझ व्यक्ति में प्रसिद्ध गौ के समान धर्मपने से तिस प्रकार "यह गवय है।" इस प्रकार गवय वाचक शब्द की योजनापूर्वक जो ज्ञान होता है, वह किन्हीं नैयायिकों के द्वारा उपमान प्रमाण माना गया है। किन्तु "यह गवयषद से वाच्य है" इस प्रकार की वह उपमा तो श्रुत से विभिन्न नहीं है क्योंकि उस उपमिति के शब्द की अनुयोजना है।

जैसे कि अन्य प्रसिद्ध शब्दानुयोगी आगमज्ञान इस श्रुत से भिन्न नहीं है।

भावार्थ : श्रुत में ही उपमानप्रमाण गर्भित हो जाता है॥ "श्रुतं शब्दानुयोजनात्" यह लक्षण यहाँ घटित हो जाता है॥११७-११८॥

यदि उपमान प्रमाण को नियत प्रमाणों से पृथक् प्रमाणपना माना जायेगा तब तो प्रमाणों का नियम कैसे हो सकेगा? संख्या के ज्ञान आदि को भी अलग प्रमाण मानने की व्यवस्था करने का प्रसंग आएगा।

भावार्थ : एक रुपये के २५ आम आनेपर चार रुपये के सौ आम आते हैं। इस प्रकार अतिदेश वाक्य स्मरण करके मानव परिमित पदार्थों का गणित लगा लेता है। रेखागणित के नियमानुसार विष्कम्भ के वर्ग को दश गुना करके उसका वर्गमूल निकालने पर परिधि निकल आती हैं, ऐसा स्मरण होता है। इस ज्ञान को भी प्रमाणान्तर मानना पड़ेगा। परन्तु यह पृथक् ज्ञान नहीं है॥११९॥

यदि नैयायिक दो, दश आदि संख्याओं के अथवा ऊपर नीचेपन के तथा अतिस्थूलपन मोटापन, अधिकदूरपन, अल्पपन, लघुपन, निकटवर्त्तीपन आदि के ज्ञानों को प्रत्यक्ष प्रमाणरूप मानेंगे, तब तो उक्त कहे हुए ज्ञान कभी भी उपदेश की अपेक्षा नहीं करेंगे, जैसे कि रूप, रस आदि के प्रत्यक्ष ज्ञानों को अन्य के उपदेश की अपेक्षा नहीं है। सर्व विद्वान् इस प्रत्यक्षज्ञान को परोपदेशरहित मानते हैं॥१२०-१२१॥

गाय के समान ही गवय होता है, इस अर्थ की वाचक गवय संज्ञा है और यह रोझ व्यक्ति गवय संज्ञावान है। इस प्रकार संज्ञा और संज्ञी के सम्बन्ध की प्रतिपत्ति ही परोपदेश की अपेक्षा करती है। संख्या

तदोपमानतः सैतत् प्रमाणान्तरमस्तु वः। नोपमानार्थता तस्यास्तद्वाक्येन विनोद्भवात्॥१२३॥

आगमत्वं पुनः सिद्धमुपमानं श्रुतं यथा। सिंहासने स्थितो राजेत्यादिशब्दोत्थवेदनं॥१२४॥

प्रसिद्धसाधर्म्यात् साध्यसाधनमुपमानं, गौरिव गवय इति ज्ञानं। तथा वैधर्म्याद् योऽगवयो महिषादिः स न गौरिवेति ज्ञानं। साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां संज्ञासंज्ञिसम्बन्धप्रतिपत्तिरुपमानार्थः। अयं स गवयशब्दवाच्यः पिंड, इति सोऽयं महिषादिरगवयशब्दवाच्य इति वा। साधर्म्यवैधर्म्योपमानवाक्यादिसंस्कारस्य प्रतिपाद्यस्योपजायते। इति द्वेधोपमानं शब्दात्प्रमाणान्तरं ये समाचक्षते तेषां द्व्यादिसंख्याज्ञानं प्रमाणान्तरं, गणितज्ञसंख्यावाक्याहितसंस्कारस्य प्रतिपाद्यस्य पुनर्द्व्यादिषु संख्याविशिष्टद्रव्यदर्शनादेतानि द्रव्यादीनि तानीति संज्ञासंज्ञिसम्बन्धप्रतिपत्तिद्व्यादिसंख्याज्ञानप्रमाणफलमिति प्रतिपत्तव्यं। तथोत्तराधर्यज्ञानं सोपानादिषु

आदि का ज्ञान तो परोपदेश की अपेक्षा नहीं करता है अतः संख्या आदि का विषय करने वाला वह ज्ञान प्रत्यक्ष ही है। इस प्रकार नैयायिक के कहने पर तो उपमान प्रमाण से अतिरिक्त वह सम्बन्ध की प्रतिपत्ति ही तुम नैयायिकों के प्रमाणान्तर हो जाती है। क्योंकि उस उपमान वाक्य के बिना ही उस सम्बन्ध प्रतिपत्ति की उत्पत्ति हो जाती है। अतः उपमान प्रमाण में उसका अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता है॥१२२-१२३॥

स्थूलत्व आदि के ज्ञानों को जिस प्रकार आगमपना सिद्ध हो जाता है, उसी प्रकार उपमान प्रमाण को भी श्रुतज्ञान जानना चाहिए। सिंहासन पर स्थित को राजा और बाँये ओर छोटे आसन पर बैठे हुए को मंत्री समझना, इत्यादिक आप्त शब्दों को सुनकर पुनः राजसभा में जाकर उन शब्दों के संस्कार से उत्पन्न हुए उन-उन व्यक्तियों में राजा, मंत्री आदि के ज्ञान को जिस प्रकार श्रुतपना है, उसी प्रकार उपमान को भी श्रुतपना सिद्ध है अतः अर्थान्तर की प्रतिपत्ति करने वाले उपमान या प्रत्यभिज्ञान सभी श्रुतज्ञान ही हैं॥१२४॥

प्रसिद्ध पदार्थ के साधर्म्य से अप्रसिद्ध साध्य को साधना उपमान प्रमाण है, जैसे कि गौ के सदृश गवय होता है, तथा प्रसिद्ध पदार्थ के विलक्षण धर्मसहित से अप्रसिद्ध साध्य का साधना उपमान है। जैसे कि गौ या गोसदृश गवय से भिन्न भैंसा आदि पशु हैं। वे गौ के सदृश नहीं हैं, यह ज्ञान भी उपमान है। साधर्म्य और वैधर्म्य के द्वारा संज्ञा और संज्ञी के सम्बन्ध की प्रतिपत्ति हो जाना उपमान प्रमाण के लिए है। जैसे यह वह पशुपिंड ही गवयपद का वाच्य है। अथवा ये अंगुलीनिर्दिष्ट भैंसा आदि पशु उस गवय शब्द के वाच्य नहीं हैं। प्रसिद्ध पदार्थ के समान धर्म अथवा विलक्षण धर्म सहितपने की उपमा को कहने वाले वाक्य, संकेत, चित्रदर्शन आदि का अनुभव कर पुनः भावना संस्कार रखने वाले प्रतिपाद्य के उपमान ज्ञान उत्पन्न होता है।

इस प्रकार जो दो प्रकार के उपमान को शब्द प्रमाण से पृथक् प्रमाण कहते हैं, उनके यहाँ दो आदि संख्याओं का ज्ञान भी अलग प्रमाण हो जाएगा। गणित विद्या को जानने वाले विद्वान् के द्वारा कहे गये संख्याओं के वाक्यों के संस्कार धारक प्रतिपाद्य को पुनः दो आदि संख्या वाले नवीन स्थलों पर वैसी संख्याओं से विशिष्ट द्रव्यों को देखने से ये पन्द्रह छक्का नब्बे रुपये हैं, इत्यादि उसी प्रकार पहिले देखे हुए उन दो आदि संख्याओं के समान हैं। इस प्रकार संज्ञा संज्ञियों के सम्बन्ध की प्रतिपत्ति हो जाती है। वह दो आदि संख्याओं का ज्ञानस्वरूप प्रमाण का फल है, ऐसा समझना चाहिए।

स्थविष्ठज्ञानं पर्वादिषु महत्त्वज्ञानं स्ववंशादिषु दविष्ठज्ञानं चन्द्रार्कादिष्वल्पत्वज्ञानं सर्षपादिषु, लघुत्वज्ञानं तूलादिषु, प्रत्यासन्नज्ञानं स्वगृहादिषु, संस्थानज्ञानं त्र्यस्त्यादिषु, वक्रर्ज्वादिज्ञानं च क्वचित्प्रमाणांतरमायातं। परोपदिष्टोत्तराधर्यादिवाक्याहितसंस्कारस्य विनेयजनस्य पुनरौत्तराधर्यदर्शनादिदं तदौत्तराधर्यादीति संज्ञासंज्ञिसम्बन्धप्रतिपत्तेस्तत्फलस्य भावान्न हि संख्याज्ञानादि प्रत्यक्षमिति युक्तं वाक्, परोपदेशापेक्षाविरहप्रसंगात् रूपादिज्ञानवत्, परोपदेशविनिर्मुक्तं प्रत्यक्षमित्यत्र सतां संप्रतिपत्तेः। यदि पुनः संख्यादिविषयज्ञानं प्रत्यक्षमपरोपदेशमेव तत्संज्ञासंज्ञिसम्बन्धप्रतिपत्तेरेव परोपदेशापेक्षानुभवादिति मतं तदा सैव संज्ञासंज्ञिसम्बन्धप्रतिपत्तिः प्रमाणान्तरमस्तु, विनोपमानवाक्येन भावादुपमानेऽन्तर्भावितुमशक्यत्वात्। ननु

तथा सोपान, नसैनी आदि में ऊपर नीचेपन का ज्ञान, पंवोली आदि में अधिक स्थूलपन का ज्ञान, स्वकीय घर के बाँस आदि में महान्पन का ज्ञान तथा चन्द्रमा, सूर्य आदि में बहुत दूरपने का ज्ञान एवं सरसों तिल आदि में अल्पपने का ज्ञान और रुई आदि में हल्केपन का ज्ञान, अपने गृह आदि में निकटवर्तीपने का ज्ञान और तिकोने, चौकोने आदि आकार वाले पदार्थों में टेढ़ेपन, सूधेपन आदि संस्थान ज्ञान पृथक्-पृथक् प्रमाण हो जायेंगे।

अज्ञात पुरुष को किसी हितैषी ने उपदेश के द्वारा सोपान का ज्ञान कराया कि अमुक सीढ़ी ऊँची है, अमुक सीढ़ी नीची है, इत्यादि वाक्यों के आधान रख कर विनीत पुरुष को फिर ऊपर और अधर धर्मवाले पदार्थ का दर्शन हो जाने से, यह वही उत्तरपना और अधरपना आदि है। इस प्रकार उस उपमान के संज्ञासंज्ञिसम्बन्ध प्रतिपत्तिरूप फल का सद्भाव है। अतः इनका कौनसे प्रमाण में अन्तर्भाव करोगे? संख्याज्ञान, स्थूलधन का ज्ञान, आदिक ज्ञान प्रत्यक्षप्रमाण है, ऐसा कहना युक्त नहीं है, क्योंकि इनको प्रत्यक्ष ज्ञान में गर्भित करने पर उक्त ज्ञानों में परोपदेश की अपेक्षा रखने के अभाव का प्रसंग आएगा। जैसे कि रूप, रस आदि के प्रत्यक्षज्ञान अन्य के उपदेशों की अपेक्षा की अपेक्षा नहीं रखते हैं। सम्पूर्ण प्रत्यक्ष प्रमाण परोपदेशों की अपेक्षा से सर्वथा रहित है। इस प्रसिद्ध सिद्धान्त में सम्पूर्ण सज्जन विद्वानों को प्रतिपत्ति है। किन्तु संख्या के ज्ञान करने में गणितशास्त्रों के करणसूत्र की आकांक्षा हो रही है। यह बाँस की पंवोली स्थूल है, यह बाँस लंबा है, सरसों छोटी है, इत्यादि ज्ञानों में परोपदेशों की अपेक्षा है।

अतः ये उक्तज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं हो सकते हैं।

यदि फिर संख्या, स्थूलता आदि को विषय करने वाले ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण ही हैं, इनमें परोपदेश की कोई अपेक्षा नहीं है, उनके संज्ञा संज्ञी सम्बन्ध की प्रतिपत्ति को ही परोपदेश की अपेक्षा रखने का अनुभव हो रहा है। ऐसा मानते हो तो उस संज्ञा और संज्ञा वाले अर्थों के सम्बन्ध की ज्ञप्ति होना ही पृथक् प्रमाण जानना चाहिए। उपमान वाक्य के बिना ही उत्पन्न होते हैं। इसलिए उपमान प्रमाण में अन्तर्भाव करना शक्य नहीं है।

चाप्तोपदेशात्प्रतिपाद्यस्य तत्संज्ञासंज्ञिसम्बन्धप्रतिपत्तिरागमफलमेव ततोऽप्रमाणांतरमिति चेत्तर्ह्याप्तोपदिष्टोपमानवाक्यादपि तत्प्रतिपत्तिरागमज्ञानमेवेति नोपमानं श्रुतात्प्रमाणान्तरं, सिंहासनस्थो राजा मंचके महादेवी सुवर्णपीठे सचिवः एतस्मात्पूर्वत एतस्मादुत्तरत एतस्माद्दक्षिणत एतन्नामेत्यादिवाक्याहितसंस्कारस्य पुनस्तथैव दर्शनात्सोऽयं राजेत्यादिसंज्ञासंज्ञिसंबन्धप्रतिपत्तिः। षडाननो गुहश्चतुर्मुखो ब्रह्मा तुंगनासो भागवतः क्षीराम्भोविवेचनतुण्डो हंसः सप्तच्छद इत्यादिवाक्याहितसंस्कारस्य तथा प्रतिपत्तिर्वा यद्यागमज्ञानं तदा तद्वदेवोपमानमवसेयं विशेषाभावात्। यदि पुनरुपमानोपमेयभावप्रतिपादनपरत्वेन विशिष्टादुपमानवाक्यादुत्पद्यमानं श्रुतात्प्रमाणान्तरमित्यभिनिवेशस्तदा रूप्यरूपकभावादिप्रतिपादनपरत्वेन ततोऽपि विशिष्टाद्रूपकादिवाक्यादुपजायमानं विज्ञानं प्रमाणान्तरमनुमन्यतां, तस्यापि स्वविषयप्रमितौ

शंका : यथार्थ वक्ता के उपदेश से शिष्य को वह संज्ञा-संज्ञियों के सम्बन्ध की प्रतिपत्ति होना आगमज्ञान का फल है अतः वह पृथक् प्रमाण नहीं है।

समाधान : ऐसा कहने पर तो आप्तपुरुष द्वारा उपदिष्ट उपमान वाक्य से उस सादृश्य विशिष्ट गौ या गोविशिष्ट सादृश्य की प्रतिपत्ति भी आगमप्रमाण है। श्रुत से निराला उपमान प्रमाण नहीं हो सकता अतः उपमान वाक्य से उत्पन्न वह सम्बन्ध प्रतिपत्ति भी आगम प्रमाण है।

प्रथम राजसभा में जाने वाले किसी नवपुरुष को दरबार में आने जाने-वाले किसी मित्र ने समझा दिया कि मध्य में सिंहासनस्थ राजा, बायें और सुवर्ण के उच्चासन पर बैठी हुई स्त्री पटरानी और सुवर्ण के पीठ पर बैठा हुआ मंत्री है। इससे पूर्व देश में और इससे उत्तर की ओर तथा इससे दक्षिण की ओर अमुक अमुक नाम वाले पदवीधर पुरुष हैं जो अमुक-अमुक ग्राम के हैं, इत्यादि वाक्य के संस्कारों को धारण करने वाले पुरुष को पुनः अन्यदा राजसभा में जाकर उसी प्रकार देखने से और यह वही राजा है, यह स्त्री महादेवी है, यह सुवर्ण पीठ पर बैठा हुआ मंत्री है, इत्यादि पहले गृहीत की गयी संज्ञायें और सम्मुख स्थित संज्ञा वाले जनों के सम्बन्ध की प्रतिपत्ति हो जाती है। छह मुखों से युक्त कार्त्तिकेय को गुह, चार मुख वाला ब्रह्मा, उन्नत नासिका वाला पक्षी विष्णु भगवान का वाहन, गरुड़ भागवत है। मिले हुए क्षीर और जल के पृथग्भाव करने में दक्ष, चोंच को धारने वाला पक्षी हंस होता है।

सात-सात पत्तों के गुच्छों को धारने वाला जो वृक्ष है, वह सप्तच्छद है इत्यादि वाक्यों के संस्कार के धारक पुरुष को इस प्रकार राजा, कार्तिकेय, आदि की प्रतिपत्ति होना यदि आगमज्ञान माना गया है, तो उन्हीं के समान उपमान को भी आगम ज्ञान निर्णय कर लेना चाहिए। क्योंकि हंस, सप्तच्छद आदि के आगमज्ञानों से गौ के सदृशज्ञानरूप उपमान में कोई विशेषता नहीं पाई जाती है।

यदि तुम्हारा, उपमान उपमेय भाव को प्रतिपादन करने में तत्पर होने के कारण विशेषताओं के धारक उपमान वाक्य से उत्पन्न उपमान प्रमाण श्रुत से पृथक् प्रमाण है, ऐसा अभिप्राय है तब तो रूपक अलंकार, उत्प्रेक्षा अलंकारयुक्त आप्तवाक्यों द्वारा कहे गये रूप्यरूपकभाव, उपमित उपमेयभाव आदि को प्रतिपादन करने में तत्पर होने के कारण उस उपमान वाक्य से भी विशिष्ट रूपक, उत्प्रेक्षा, अनन्वय आदि

साधकतमत्वाद्विसंवादकत्वाभावादप्रमाणत्वायोगात्। अथ रूपकाद्यलंकारभाजोऽपि वाक्यविशेषादुपजातमर्थज्ञानं श्रुतमेव प्रवचनमूलत्वाविशेषादिति मतिस्तदोपमानवाक्योपजनितमपि वेदनं श्रुतज्ञानमभ्युपगन्तव्यं तत एवेत्यलं प्रपंचेन। प्रतिभा किं प्रमाणमित्याह;—

उत्तरप्रतिपत्त्याख्या प्रतिभा च श्रुतं मता। नाभ्यासजा सुसंवित्तिः कूटद्रुमादिगोचरा ॥१२५॥

उत्तरप्रतिपत्तिः प्रतिभा कैश्चिदुक्ता सा श्रुतमेव, न प्रमाणान्तरं, शब्दयोजनासद्भावात्।

के वाक्यों से उत्पन्न हुए विज्ञान को भी पृथक् प्रमाण मानना पड़ेगा। क्योंकि उन रूपक, समासोक्ति आदि वाक्यों द्वारा उत्पन्न हुए विज्ञानों को भी अपने विषय की प्रमिति में साधकतमपना होने से विसंवादकपने का अभाव है अतः अप्रमाण का अयोग है अर्थात् उपमान प्रमाण के समान अलंकार वाक्यों को भी पृथक् प्रमाण मानना पड़ेगा।

अथवा रूपक, प्रतिवस्तु, उपमा आदि अलंकारों को धारने वाले वाक्य विशेषों से उत्पन्न हुआ अर्थज्ञान श्रुत ही है, क्योंकि प्रवचन को मूल कारण मानकर उत्पन्न हुआ ज्ञानपना उक्त ज्ञानों में विशेषताओं से रहित है। अर्थात् जिनके प्रकृष्टवचन हैं, उन आप्त पुरुषों के द्वारा उच्चारित किए गए वचनों के निमित्त से रूपक आदि उपाधियों से युक्त ज्ञान हो जाते हैं "प्रकृष्टं वचनं यस्य" ऐसा विग्रह करने से रूपक आदि सहित अर्थों का ज्ञान हो जाता है। पृथक्-पृथक् कहे हुए दो वाक्यों का जहाँ वस्तुस्वभाव करके सामान्य का कथन किया जाता है, वह प्रतिवस्तु उपमा है, जैसे कि स्वर्ग लोक का पालन करने में एक इन्द्र ही समर्थ है, छह खण्डों को पालने में एक चक्रवर्ती ही समर्थ है। इसी प्रकार गगन, गगन के ही आकार वाला है। समुद्र समुद्रसरीखा ही गंभीर है, इत्यादि अनन्वय अलंकार के उदाहरण हैं। इन अलंकारों से युक्त कविवाक्यों को सुनकर जो ज्ञान होता है, वह शाब्दबोध में अन्तर्भूत हो जाता है-ऐसा मानना चाहिए अतः प्रवचन रूप निमित्त से उत्पन्न होने के कारण श्रुतज्ञानपना इष्ट कर लेना चाहिए। अधिक विस्तार करने से क्या प्रयोजन है? किसी का प्रश्न है कि प्रतिभा कौनसा प्रमाण है? इस प्रश्न का आचार्य महाराज स्पष्ट उत्तर देते हैं-

देश, काल, प्रकरण अनुसार उत्तर की शीघ्र प्रतिपत्ति हो जाना प्रतिभा नाम का ज्ञान है। और वह प्रतिभा श्रुत ही मानी गई है, क्योंकि अभ्यन्तर या बहिरंग में शब्दयोजना करने से वह प्रतिभा उत्पन्न होती है अतः श्रुतज्ञान में ही उसका अन्तर्भाव है। शब्दों के बिना ही अत्यन्त अभ्यास से जो शीघ्र ही उत्तर प्रतिपत्तिस्वरूप सम्वेदन हो जाता है, वह प्रतिभा श्रुत नहीं है, किन्तु मतिज्ञान है। जैसे कि शिखर, धान्य राशि या वृक्ष आदि को विषय करने वाली प्रतिभा मतिज्ञान है अर्थात् प्रज्ञा, मेधा, मनीषा, प्रेक्षा, प्रतिपत्ति, प्रतिभा, स्फूर्तिआदिक ज्ञान सब मतिज्ञान के विशेष हैं। स्मृति, प्रत्यभिज्ञान आदि भी शब्द योजना हो जाने पर श्रुतज्ञान कहे जाते हैं। शब्द योजना के पूर्व वे मतिज्ञान हैं ॥१२५॥

विशिष्ट क्षयोपशम अनुसार प्रथम से ही उत्तर की समीचीन प्रतिपत्ति हो जाना प्रतिभा है। किन्हीं लोगों ने उसे पृथक् प्रमाण कहा है। किन्तु जैन सिद्धान्तानुसार वह प्रतिभा श्रुतज्ञान का भेद है। श्रुत से पृथक् प्रमाणस्वरूप नहीं है, क्योंकि इसमें वाचक शब्दों की योजना का सद्भाव है।

अत्यन्ताभ्यासादाशु प्रतिपत्तिरशब्दजा कूटद्रुमादावकृताभ्यासस्याशुप्रवृत्तिः प्रतिभा परैः प्रोक्ता। सा न श्रुतं, सादृश्यप्रत्यभिज्ञानरूपत्वात्तस्यास्तयोः पूर्वोत्तरयोर्हि दृष्टदृश्यमानयोः कूटद्रुमयोः सादृश्यप्रत्यभिज्ञा झटित्येकतां परामृषन्ती तदेवेत्युपजायते। सा च मतिरेव निश्चितेत्याह;—

''सोऽयं कूट इति प्राच्यौदीच्यदृष्टेक्षमाणयोः। सादृश्ये प्रत्यभिज्ञेयं मतिरेव हि निश्चिता ॥१२६॥
शब्दानुयोजनात्त्वेषां श्रुतमस्त्वक्षवित्तिवत्। संभवाभावसंवित्तिरर्थापत्तिस्तथानुमा ॥१२७॥

किन्हीं ने कहा कि अत्यन्त अभ्यास हो जाने से कृषकजनों को पलालकूट, वृक्ष आदि में शब्द बोले बिना ही जो उनकी शीघ्र प्रतिपत्ति हो जाती है, तथा प्रवृत्ति का अभ्यास नहीं होने पर भी पुरुष को झटिति, कूट वृक्ष, जल आदि में उस प्रतिभा के अनुसार प्रवृत्ति होती है, वह प्रतिभा है। जैनाचार्य कहते हैं कि जो यह अनभ्यासी पुरुष की प्रतिभा है, वह श्रुत नहीं है। क्योंकि, वह प्रतिपत्ति तो सादृश्य प्रत्यभिज्ञानरूप होने के कारण मतिज्ञानस्वरूप है। पहिले कहीं देखे हुए और बीच में अभ्यास छूट जाने पर भी नवीन देखे जा रहे कूट, द्रुम आदि में सादृश्यप्रत्यभिज्ञानस्वरूप प्रतिभा द्वारा प्रवृत्ति हो जाती है। पहिले कहीं देख लिए गए और अब उत्तरकाल में देखे जा रहे कूट, वृक्ष आदि के एकपन का परामर्श कराती हुई ''यह वही है'' इस प्रकार सादृश्य प्रत्यभिज्ञा उत्पन्न होती है। वह मतिज्ञान ही निश्चित है। कोई-कोई प्रतिभा अनुमान-मतिज्ञान स्वरूप भी हो जाती है अत: प्रतिभा का मति के भेदों में या श्रुत में अन्तर्भाव हो जाता है। उसी को आचार्य कहते हैं -

''यह वही कूट है'' इस प्रकार पूर्वकालवर्त्ती देखे गए और उत्तरकालवर्त्ती देखे जा रहे एक पदार्थ में होने वाली मति प्रतिभा एकत्व प्रत्यभिज्ञानस्वरूप है। तथा, पूर्वकाल में देखे गए कूट के सदृश दूसरे कूट के वर्तमान काल में देखने पर सादृश्य विषय में होने वाली यह प्रतिभा सादृश्य प्रत्यभिज्ञानस्वरूप मतिज्ञान है। किन्तु, शब्द की अनुयोजना से उत्पन्न हुई यह प्रतिभा श्रुतज्ञान है। ऐसा समझना चाहिए। जैसे इन्द्रियों से उत्पन्न हुए मतिज्ञान भी यदि शब्द की योजना से प्ररूपित किए जाते हैं तो वे श्रुतज्ञान हो जाते हैं, उसी प्रकार सम्भवप्रमाण, अभाव सम्वेदन, अर्थापत्ति प्रमाण तथा अनुमान प्रमाण भी समझ लेना चाहिए।

भावार्थ : आज अष्टमी है तो कल नवमी अवश्य होगी, इत्यादि ज्ञान सम्भव प्रमाण है। तथा प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शाब्द, अर्थापत्ति इन पाँच प्रमाणों के द्वारा वस्तु का सद्भाव नहीं गृहीत होने पर पुन: जिस प्रमाण से उस प्रतियोगी वस्तु का अभाव साध दिया जाता है, वह अभाव प्रमाण है। अभाव के आधारभूत वस्तु का ग्रहण कर और प्रतियोगी का स्मरण कर इन्द्रियों की अपेक्षा बिना ही मन से नास्तित्व का ज्ञान हो जाता है। छह प्रमाणों से जान लिया गया अर्थ जिस पदार्थ के बिना नहीं हो सके, उस अदृष्ट अर्थ की कल्पना कराने वाले ज्ञान को अर्थापत्ति कहते हैं। अग्नि के कार्य दाह को प्रत्यक्ष जानकर अग्नि में दहनशक्ति का प्रत्यक्षपूर्वक अर्थापत्ति से ज्ञान कर लिया जाता है तथा अविनाभावी हेतु से साध्य का ज्ञान होना अनुमान प्रमाण माना गया है।

सम्भव, अभाव, अर्थापत्ति, अनुमान, इतिहास, उपमान आदि को विद्वानों ने पृथक्-पृथक् स्वतंत्र प्रमाण माना है। किन्तु ये सब शब्दयोजना से रहित होते हुए मतिज्ञान माने गए हैं॥१२६-१२७॥

नामासंसृष्टरूपा हि मतिरेषा प्रकीर्तिता। नातः कश्चिद्विरोधोऽस्ति स्याद्वादामृतभोगिनां ॥१२८॥

नामासंसृष्टरूपा प्रतिभा संभववित्तिरभाववित्तिरर्थापत्तिः स्वार्थानुमा च पूर्वं मतिरित्युक्ता। नामसंसृष्टा तु सम्प्रति श्रुतमित्युच्यमाने पूर्वापरविरोधो न स्याद्वादामृतभाजां सम्भाव्यते, तथैव युक्त्यागमानुरोधात्। तदेवं पूर्वोक्तया मत्या सह श्रुतं परोक्षं प्रमाणं सकलमुनीश्वरविश्रुतमुन्मूलितनिःशेषदुर्मतनिकरमिह तत्त्वार्थशास्त्रे समुदीरितमिति परीक्षकाश्चेतसि धारयन्तु स्वप्रज्ञातिशयवशादित्युपसंहरन्नाह।

इति श्रुतं सर्वमुनीशविश्रुतं। सहोक्तमत्यात्र परोक्षमीरितं।
प्रमाणमुन्मूलितदुर्मतोत्करं। परीक्षकाश्चेतसि धारयन्तु तम् ॥१२९॥

इति तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकारे प्रथमस्याध्यायस्य तृतीयमाह्निकम् ॥

नाम के संसर्ग से युक्त होते हुए ये सम्पूर्ण सम्यग्ज्ञान श्रुतज्ञान कह दिए जाते हैं। इस कारण अनेकान्त नीति अनुसार स्याद्वादरूप अमृत का भोग करने वाले जैनों के यहाँ कोई भी विरोध नहीं आता है॥१२८॥ अतः जितने भी नैयायिक आदि के द्वारा स्वीकृत एक दो तीन, चार, पाँच, छह संख्या वाले प्रमाण हैं वे सर्व मति श्रुत इन दो ज्ञानों में ही गर्भित हो जाते हैं।

नाम योजना के संसर्ग से रहित-स्वरूप हो रही प्रतिभा बुद्धि, सम्भववित्ति, अभाववित्ति, अर्थापत्ति, स्वार्थानुमिति, प्रत्यभिज्ञानस्वरूप उपमिति, तर्कमति आदि बुद्धियों को पहिले ''मतिस्मृति'' आदि सूत्र में मतिज्ञानस्वरूप ऐसा कहा था। और अब वाचक शब्द नामों के संसर्ग से युक्त प्रतिभा आदि बुद्धियों को श्रुतज्ञान कहने पर स्याद्वाद रूपी अमृत का सेवन करने वाले अनेकान्तवादी जैनों के यहाँ इस प्रकार पूर्ववर्ती और पश्चिमवर्ती ग्रन्थ में कोई विरोध दोष सम्भव नहीं है। क्योंकि, उस प्रकार ही युक्ति और आगम के अनुरोध से निर्णीत है। अर्थात् प्रतिभा, सम्भव आदिक ज्ञान शब्दयोजना नहीं कर देने पर मतिज्ञान हैं, और शब्दयोजना के साथ प्रतिभा आदि ज्ञान श्रुत हैं। अतः इस प्रकार पूर्व में कही गई मति के साथ यह इस सूत्र में कहा गया श्रुतज्ञान-ये दोनों अविशद प्रकाशी होने से परोक्ष प्रमाण हैं। यह सिद्धान्त सम्पूर्ण मुनिवरों के सिद्धान्त में प्रसिद्ध है। मतिज्ञान और श्रुतज्ञान के भेद-प्रभेदों की सिद्धि हो जाने से सम्पूर्ण प्रतिवादियों के दूषित मतों का समुदाय निराकृत कर दिया है। ऐसे परोक्ष प्रमाण का ''आद्ये परोक्षम्'' और ''मतिः स्मृतिः संज्ञा चिंता'' - यहाँ से लेकर ''श्रुतं मतिपूर्वं द्व्यनेकद्वादशभेदम्'' यहाँ तक ''तत्त्वार्थ सूत्र'' में श्री उमास्वामी ने निरूपण किया है। परीक्षक जन इस बात को अपनी दूरगामिनी प्रज्ञा बुद्धि के चमत्कार की अधीनता से चित्त में धारण करें। तीसरे आह्निक के अन्त में इसी बात का उपसंहार, संकोच करते हुए श्री विद्यानंद आचार्य आशीर्वादात्मक वचन कहते हैं -

प्रामाणिक सम्पूर्ण ऋषीश्वरों में प्रख्यात श्रुतज्ञान को यहाँ तत्त्वार्थ सूत्र में मतिज्ञान के साथ रखते हुए दोनों ज्ञान परोक्ष प्रमाण हैं; इस प्रकार युक्ति और आगम के अनुसार श्री उमास्वामी ने कथन किया है। तथा मति और श्रुत इन दो परोक्ष प्रमाणों से शब्दाद्वैतवादी आदि विद्वानों के दूषित मतों के समुदाय को लीला मंत्र से उखाड़कर फेंक दिया है अतः हम परीक्षकों को साग्रह सूचना देते हैं कि वे ऐसे प्रमाण प्रसिद्ध उस परोक्ष प्रमाण को चित्त में निर्धारण करें जिससे कि अज्ञान अंधकार का विनाश होकर ज्ञान सूर्य का उदय हो॥१२९॥

इस प्रकार श्लोकवार्तिकालङ्कार ग्रन्थ में प्रथम अध्याय का तीसरे प्रकरणों का समुदाय स्वरूप आह्निक पूर्ण हुआ॥

परिशिष्ट :

श्रुतज्ञान के भेद

श्रुतज्ञान दो भेद, अनेक भेद और बारह भेद वाला है। अङ्ग बाह्य और अङ्ग प्रविष्ट के भेद से श्रुतज्ञान दो प्रकार का है। अंगबाह्य श्रुत के दशवैकालिक, उत्तराध्ययन आदि अनेक भेद हैं। मुख्यता से चौदह प्रकीर्णक के भेद से अंगबाह्य के चौदह भेद हैं। अंगप्रविष्ट के बारह भेद हैं।

अंगबाह्य के मुख्य चौदह भेद निम्नलिखित प्रकार हैं -

१.	**सामायिक**	-	इसमें विस्तार से सामायिक का वर्णन किया गया है।
२.	**स्तव**	-	इसमें चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति का वर्णन है।
३.	**वन्दना**	-	इसमें एक तीर्थंकर की स्तुति का कथन है।
४.	**प्रतिक्रमण**	-	इसमें किए हुए दोषों का निराकरण बतलाया है।
५.	**वैनयिक**	-	इसमें चार प्रकार की विनय का वर्णन है।
६.	**कृतिकर्म**	-	इसमें दीक्षा, शिक्षा आदि सत्कर्मों का वर्णन है।
७.	**दशवैकालिक**	-	इसमें यतियों के आचार का वर्णन है। इसके वृक्ष, कुसुम आदि दश अध्ययन हैं।
८.	**उत्तराध्ययन**	-	इसमें भिक्षुओं के उपसर्ग-सहन के फल का वर्णन किया गया है।
९.	**कल्पव्यवहार**	-	इसमें यतियों के सेवन करने योग्य विधि का वर्णन और अयोग्य सेवन करने पर प्रायश्चित्त का वर्णन है।
१०.	**कल्पाकल्प**	-	इसमें यतियों और श्रावकों को किस समय क्या करना चाहिए, क्या नहीं, इत्यादि का निरूपण है।
११.	**महाकल्प**	-	इसमें यतियों की दीक्षा, शिक्षा, भावनात्मक संस्कार, उत्तमार्थ गणपोषण आदि का वर्णन है।
१२.	**पुण्डरीक**	-	इसमें देवपद की प्राप्ति कराने वाले पुण्य का वर्णन है।
१३.	**महापुण्डरीक**	-	इसमें देवाङ्गनापद के हेतुभूत पुण्य का वर्णन है।
१४.	**अशीतिका**	-	इसमें प्रायश्चित्त का वर्णन है।

इन चौदह भेदों को प्रकीर्णक कहते हैं। आचार्यों ने अल्प आयु, अल्पबुद्धि और हीनबलवाले शिष्यों के उपकार के लिए प्रकीर्णकों की रचना की है। वास्तव में, तीर्थंकर परमदेव और सामान्य केवलियों ने जो उपदेश दिया, उसकी गणधर तथा अन्य आचार्यों ने शास्त्र रूप में रचना की और वर्तमान कालवर्ती आचार्य जो रचना करते हैं, वह भी आगम के अनुसार होने से प्रकीर्णकरूप से प्रमाण है; बर्तन या कूप में ग्रहण किए गए क्षीरसमुद्र के नीर के समान। अर्थात् जिस प्रकार घट आदि में भरा हुआ क्षीरसमुद्र का जल क्षीरसमुद्र का ही जल कहलाता है, उसी प्रकार केवलिप्रणीत वचनों का विस्तार करने वाले आचार्यों के वचन केवली के ही वचन कहलाते हैं।

अङ्गप्रविष्ट के बारह भेद हैं -

१. आचाराङ्ग	-	इसमें यतियों के आचार का वर्णन है। इसके पदों की संख्या अठारह हजार है।
२ सूत्रकृताङ्ग	-	इसमें ज्ञान, विनय, छेदोपस्थापना आदि क्रियाओं का वर्णन है। इसके पदों की संख्या छत्तीस हजार है।
३. स्थानाङ्ग	-	एक, दो, तीन आदि एकाधिक स्थानों में षड्द्रव्य आदि का निरूपण है। इसके पदों की संख्या बयालीस हजार है।
४. समवायाङ्ग	-	इसमें धर्म, अधर्म, लोकाकाश, एक जीव असंख्यात प्रदेशी है, सातवें नरक का मध्यबिल, जम्बूद्वीप, सर्वार्थसिद्धि का विमान और नन्दीश्वर द्वीप की वापी इन सबका एक लाख योजन प्रमाण है, इत्यादि वर्णन है। इसके पदों की संख्या चौसठ हजार है।
५. व्याख्याप्रज्ञप्ति	-	इसमें जीव हैं या नहीं इत्यादि प्रकार के गणधर के द्वारा किये गये साठ हजार प्रश्नों का वर्णन है। इसके पदों की संख्या दो लाख अट्ठाईस हजार है।
६. ज्ञातृकथा	-	इसमें तीर्थंकरों और गणधरों की कथाओं का वर्णन है। इसके पदों की संख्या पाँच लाख पचास हजार है।
७ उपासकाध्ययन	-	इसमें श्रावकों के आचार का वर्णन है। इसके पदों की संख्या ग्यारह लाख सत्तर हजार है।
८ अन्तः कृतदश	-	प्रत्येक तीर्थंकर के समय में दस-दस मुनि होते हैं जो उपसर्गों को सहकर मोक्ष पाते हैं। उन मुनियों की कथाओं का इसमें वर्णन है। इसके पदों की संख्या तेईस लाख अट्ठाईस हजार है।
९. अनुत्तरौपपादिकदश	-	प्रत्येक तीर्थंकर के समय दस-दस मुनि होते हैं जो उपसर्गों को सहकर पाँच अनुत्तर विमानों में उत्पन्न होते हैं। उन मुनियों की कथाओं का इसमें वर्णन है। इसके पदों की संख्या बानवे लाख चवालीस हजार है।
१०. प्रश्नव्याकरण	-	इसमें प्रश्न के अनुसार नष्ट, मुष्टिगत आदि का उत्तर है। इसके पदों की संख्या तेरानवे लाख सोलह हजार है।
११. विपाकसूत्र	-	इसमें कर्मों के उदय, उदीरणा और सत्ता का वर्णन है। इसके पदों की संख्या एक करोड़ चौरासी लाख है।
१२. दृष्टिवाद	-	नामक बारहवें अङ्ग के पाँच भेद हैं - १. परिकर्म, २. सूत्र, ३. प्रथमानुयोग, ४. पूर्वगत और ५. चूलिका। इनमें **(१) परिकर्म के पाँच भेद हैं -**
१. चन्द्र प्रज्ञप्ति	-	इसमें चन्द्रमा की आयु, गति, वैभव आदि का वर्णन है। इसके पदों की संख्या छत्तीस लाख पाँच हजार है।
२. सूर्यप्रज्ञप्ति	-	इसमें सूर्य की आयु, गति, वैभव आदि का वर्णन है। इसके पदों की संख्या पाँच लाख तीन हजार है।

३. **जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति**	-	इसमें जम्बूद्वीप का वर्णन है। इसके पदों की संख्या तीन लाख पच्चीस हजार है।
४. **द्वीपसागर प्रज्ञप्ति**	-	इसमें सभी द्वीपों और सागरों का वर्णन है। इसके पदों की संख्या बावन लाख छत्तीस हजार है।
५. **व्याख्याप्रज्ञप्ति**	-	इसमें रूपी, अरूपी आदि छह द्रव्यों का वर्णन है। इसके पदों की संख्या चौरासी लाख छत्तीस हजार है।
(२) **सूत्र**	-	इसमें जीव के कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि की सिद्धि तथा भूतचैतन्यवाद का खण्डन है। इसके पदों की संख्या अठासी लाख है।
(३) **प्रथमानुयोग**	-	इसमें त्रेशठ शलाका महापुरुषों का वर्णन है। इसके पदों की संख्या पाँच हजार है।
(४) **पूर्वगत**	-	इसके उत्पादपूर्व आदि चौदह भेद हैं -
१. **उत्पादपूर्व**	-	इसमें वस्तु के उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य का वर्णन है। इसके पदों की संख्या एक करोड़ है।
२. **अग्रायणीपूर्व**	-	इसमें अंगों के प्रधानभूत अर्थों का वर्णन है। इसके पदों की संख्या छ्यानवे लाख है।
३. **वीर्यानुप्रवाद पूर्व**	-	इसमें बलदेव, वासुदेव, चक्रवर्ती, इन्द्र, तीर्थंकर आदि के बल का वर्णन है। इसके पदों की संख्या सत्तर लाख है।
४. **अस्तिनास्तिप्रवाद पूर्व**	-	इसमें जीव आदि वस्तुओं के अस्तित्व और नास्तित्व का वर्णन है। इसके पदों की संख्या साठ लाख है।
५. **ज्ञानप्रवाद पूर्व**	-	इसमें आठ ज्ञान, उनकी उत्पत्ति के कारण और ज्ञानों के स्वामी का वर्णन है। इसके पदों की संख्या एक कम एक करोड़ है।
६. **सत्यप्रवादपूर्व**	-	इसमें वर्ण, स्थान, दो इन्द्रिय आदि प्राणी और वचनगुप्ति के संस्कार का वर्णन है। इसके पदों की संख्या एक करोड़ और छह है।
७. **आत्मप्रवादपूर्व**	-	इसमें ज्ञानादि, आत्मकर्तृत्वादि स्वरूप का वर्णन है। इसके पदों की संख्या छब्बीस करोड़ है।
८. **कर्मप्रवादपूर्व**	-	इसमें कर्मों के बन्ध, उदय, उपशम, उदीरणा और निर्जरा का वर्णन है। इसके पदों की संख्या एक करोड़ अस्सी लाख है।
९. **प्रत्याख्यानपूर्व**	-	इसमें द्रव्य और पर्यायरूप प्रत्याख्यान का वर्णन है। इसके पदों की संख्या चौरासी लाख है।
१०. **विद्यानुप्रवाद**	-	इसमें पाँच सौ महाविद्याओं, सात सौ क्षुद्रविद्याओं और अष्टांगमहानिमित्तों का वर्णन है। इसके पदों की संख्या एक करोड़ दस लाख है।
११. **कल्याणपूर्व**	-	इसमें तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलभद्र, वासुदेव, इन्द्र आदि के पुण्य का वर्णन है। इसके पदों की संख्या छब्बीस करोड़ है।

१२. **प्राणावायपूर्व** - इसमें अष्टांग वैद्यविद्या, गारुड़विद्या और मन्त्र-तन्त्र आदि का वर्णन है। इसके पदों की संख्या तेरह करोड़ है।

१३. **क्रियाविशालपूर्व** - इसमें छन्द, अलंकार और व्याकरण की कला का वर्णन है। इसके पदों की संख्या नौ करोड़ है।

१४. **लोकबिन्दुसार** - इसमें निर्वाण के सुख का वर्णन है। इसके पदों की संख्या साढ़े बारह करोड़ है। इस प्रकार चौदह पूर्व का वर्णन किया गया है।

प्रथम पूर्व में दस, द्वितीय में चौदह, तृतीय में आठ, चौथे में अठारह, पाँचवें में बारह, छठे में बारह, सातवें में सोलह, आठवें में बीस, नौवें में तीस, दसवें में पन्द्रह, ग्यारहवें में दस, बारहवें में दस, तेरहवें में दस और चौदहवें पूर्व में दस वस्तुएँ हैं। सब वस्तुओं की संख्या एक सौ पञ्चानवे है। एक-एक वस्तु में बीस-बीस प्राभृत होते हैं। सब प्राभृतों की संख्या तीन हजार नौ सौ है।

दूसरे पूर्व में जो चौदह वस्तुएँ हैं, उनके नाम इस प्रकार हैं - पूर्वान्त, परान्त, ध्रुव, अध्रुव, च्यवनलब्धि, अध्रुवसंप्रणिधि, अर्थ, भौमावयाद्य (?), सर्वार्थ, कल्पनीय ज्ञान, अतीतकाल, अनागत काल, सिद्धि और उपाध्य (?)। **च्यवनलब्धि** नामक वस्तु में २० प्राभृतक हैं। उन प्राभृतों में जो चौथा प्राभृत है उसके २४ अनुयोगद्वार हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं। कृति, वेदना, स्पर्शन, कर्म, प्रकृति, बंधन, निबंधन, प्रक्रम, अनुपक्रम, अभ्युदय, मोक्ष, संक्रम, लेश्या, लेश्याकर्म, लेश्यापरिणाम, साता-असाता, दीर्घ-ह्रस्व, भवधारणीय, पुद्गलत्व, निधत्त-अनिधत्त, सनिकाचित, अनिकाचित, कर्म-स्थिति और पश्चिमस्कन्ध। यहाँ अल्पबहुत्व पच्चीसवाँ अधिकार होता है, किन्तु चौबीस ही अनुयोगों में अल्पबहुत्व साधारण अर्थात् समान रूप से है, इसलिए वह भी चौबीसवाँ अधिकार ही कहा जाता है (अल्पबहुत्व नाम का पृथक् अधिकार नहीं है)।

(५) **चूलिका** - चूलिका के पाँच भेद हैं - **१. जलगता चूलिका** - इसमें जल को रोकने, जल को बरसाने आदि के मन्त्र-तन्त्रों का वर्णन है। इसके पदों की संख्या दो करोड़ नौ लाख नवासी हजार दो सौ है। **२. स्थलगता चूलिका** - इसमें थोड़े ही समय में अनेक योजन गमन करने के मन्त्र-तन्त्रों का वर्णन है। इसके पद जलगता के समान है। **३. मायागता चूलिका** - इसमें इन्द्रजाल आदि माया के उत्पादक मन्त्र-तन्त्रों का वर्णन है। इसके पद दो करोड़ नौ लाख नवासी हजार दो सौ हैं। **४. आकाशगता चूलिका** - इसमें आकाश में गमन के कारणभूत मन्त्र-तन्त्रों का वर्णन है। इसके पद दो करोड़ नौ लाख नवासी हजार दो सौ हैं। **५. रूपगता चूलिका** - सिंह, व्याघ्र, गज, उरग, नर, सुर आदि के रूपों (वेष) को धारण कराने वाले मन्त्र-तन्त्रों का वर्णन है। इन सबके पदों की संख्या जलगता चूलिका के पदों की संख्या के बराबर ही है। इस प्रकार बारहवें दृष्टिवाद अंग के परिकर्म आदि पाँच भेदों का वर्णन हुआ।

यहाँ जो पदों के द्वारा संख्या कही गई है, उसे ग्रन्थ की पद-संख्या कहते हैं; अर्थात् ग्रन्थों की पदसंख्या का कथन करते हैं। इक्यावन करोड़ आठ लाख चौरासी हजार छः सौ साढ़े इक्कीस अनुष्टुप, एक पद में होते हैं। इस प्रकार एक पद में ग्रन्थों की संख्या ५१०८८४६२१ $\frac{१}{२}$ है। इस प्रकार पदग्रन्थ हैं तथा उनके अक्षर १६ हैं। अंगपूर्व श्रुत के एक सौ बारह करोड़ तेरासी लाख अट्ठावन हजार पाँच पद होते हैं।

♦♦♦

तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकारांतर्गत श्लोकसूची

- तृतीय खंड -

श्लोक	पृष्ठ सं.
(अ)	
अग्निरित्यग्निरित्यादे-	३८०
अज्ञानत्वादतिव्याप्तेः	२२९
अतैजसांजनापेक्षि	३४७
अत्र प्रचक्षते केचित्	३८८
अथस्वभेदनिष्ठस्य	११
अज्ञातार्थ प्रकाशश्चे-	६२
अज्ञानात्मकतायां तु	२८५
अत्यंताभ्यासतो ह्याशु	२८८
अथोपलभ्यते येन	२२०
अर्थज्ञानस्य विज्ञानं	३३
अर्थग्रहणयोग्यत्वं	३७
अंत्यशब्देषु शब्दत्वे	४१
अर्थक्रियास्थितिः प्रोक्ता	५८
अर्थसंशयतो वृत्तिः	७६
अत्यक्षस्य स्वसंवित्तिः	१०३
अर्थस्यासंभवेऽभावात्	१११
अर्थाकारत्वतोध्यक्षं	१३६
अर्थक्रियाक्षतिस्तत्र	१४६
अथ निःशेषशून्यत्व-	२५७
अदुष्टकारणारब्ध-	६८
अदृश्यानुपलब्धिश्च	१४५
अदृष्टिमात्रसाध्यश्च	३०१
अंधकारावभासोस्ति	३४६
अध्यक्षत्वं न हि व्याप्तं	३२५
अनुपप्लुतदृष्टीनां	४९
अनालंबनताव्याप्तिः	१०८
अनुमानमवस्त्वेव	१११
अनुग्राहकता व्याप्ता	१७०
अन्यथानुपपत्येक-	२४९
अनेकांतात्मकं सर्वं	१९४
अन्यथानुपपन्नत्वं	१९६
अन्वयो लोहलेख्यत्वे	२०१
अन्वयव्यतिरेकी च	२०८
अन्यथानुपपत्येक-	१७२
अनेकांतात्मके भावे	२८३
अन्यथा तैमिरस्याक्ष	२९१
अन्यथा न मनोध्यक्षं	२९४
अनुमेयेनुमानेन	३८६
अप्रमाणादपि ज्ञानात्	६७
अप्रसिद्धं तथा साध्यं	२५३
अप्रमाणत्वपक्षेपि	११०
अप्राप्तिकारिणी चक्षुः	३३१
अबाधितार्थतात्र स्यात्	२०२
अयस्कांतादिना लोह -	३५६
अयस्कांताणुभिः कैश्चित्	३५६
अवध्यावृतिविध्वंस-	११
अवग्रहगृहीतस्य	२५

श्लोक	पृष्ठ सं.
अविज्ञातप्रमाणत्वात्	७५
अवग्रहादि विज्ञानं	१०७
अर्वाग्भागोविनाभावी	१७९
अभिधानविशेषश्चेत्	१२४
अवक्तव्योत्तराशेषा-	१८३
अव्युत्पन्नविपर्यस्तौ-	२५३
अव्युत्पन्नविपर्यस्त	२५४
अविनेयेषु माध्यस्थं	२५४
अव्युत्पन्नविपर्यस्ता-	२५४
अवग्रहगृहीतार्थ-	२९८
अवायस्य प्रमाणत्वं	२९९
अव्यक्तमत्र शद्वादि-	३२४
अस्पष्टं वेदनं केचित्	१०७
अस्पष्टप्रतिभासाया:	११८
अस्पष्टत्वेन चेन्नानु-	१३६
अस्वसंवेद्यविज्ञान-	२७७
अक्षेभ्यो हि परावृत्तं	१०७
अक्षज्ञानैरनुस्मृत्य	१३१
अक्षज्ञानैर्विनिश्चित्य	१३२
अक्षार्थयोगजाद्वस्तु	२७९
अक्षज्ञानं हि पूर्वस्मात्	२९४
अक्षसंवेदनाभावे	२९५
अक्षज्ञानतयात्वैक्य-	२९८
अहेतुफलरूपस्य	२४३
(आ)	
आकर्षणप्रयत्नेन	३५७
आगमादेव तत्सिद्धौ	३९४
आगमत्वं पुनः सिद्धं	४०२
आत्मा प्रयत्नवांस्तस्य	३६
आत्माभावो हि भस्मादौ	१९१
आत्माद्येकत्व सिद्धिश्चेत्	३३९
आद्यप्रमाणतः स्याच्चेत्	८३
आद्ये परोक्षमित्याह	१०५
आद्या यथा न मे दुःखं	२४३
आलोकेनापि जन्यत्वे	२७१
(इ)	
इति ब्रुवन् महायात्रा	७६
इत्येवं स्वयमिष्टत्वात्	१२५
इति शद्वात्प्रकारार्थात्	१२९
इत्याचक्षणिको-	१३३
इतीयं व्यापका दृष्टिः	१४६
इत्यन्योन्याश्रितं नास्ति	१५०
इत्यन्योन्याश्रितिर्न स्यात्	१५१
इत्ययुक्तं तथाभूत-	२२८
इत्येवं तद्विरुद्धोप-	२३५
इत्ययुक्तमवक्तव्यं	२५२
इत्यप्यशेषविद्बोधैः	२७०
इत्ययुक्तं सदाशेष-	२८२
इति केचित्प्रभाषंते	२८५
इत्यागमश्च तस्यास्ति	३५२
इतरस्याबहोरेक-	३०१
इत्ययुक्तमयस्कांतं	३५६

श्लोक	पृष्ठ सं.
इत्यकृत्रिमता सर्व-	३८०
इति संवेदनाभावात्	३८१
इति येपि समादध्युः	३९१
इति चिद्रूपसामान्य-	३९७
इंद्रियानिंद्रियायत्त-	२५
इंद्रियाणींद्रियार्थाभि-	२६१
इंद्रियानिंद्रियाभ्यां हि	२८४
इष्टः साधयितुं साध्यः	२५३
ईहादयः पुनस्तस्य	३२४
(उ)	
उत्पादादित्रयाक्रांतं	२२६
उत्पादव्ययनिर्मुक्तं	२२७
उत्तरप्रतिपत्याख्या	४०५
उदेष्यति मुहूर्तांते	१७६
उदेष्यच्छकटं व्योम-	१७६
उपलब्ध्यनुपलब्धिभ्यां	२४७
(ऊ)	
ऊहापोहात्मिका प्रज्ञा	१३०
(ऋ)	
ऋचः कृता इति क्वेयं	३८१
(ए)	
एकस्यानेकरूपत्वे	३९
एक एवेश्वरज्ञान-	५६
एकत्वगोचरं च स्यात्	१३८
एकसामग्र्यधीनत्वात्	२३७
एकस्यानेकरूपस्य	३०९
एतेनैवोत्तरः पक्षः	३६
एतेनैव सजातीय-	७५
एतेनैव हतादेश-	९२
एतेनैव चतुःपंच-	१००
एतच्चास्ति सुनिर्णीता-	११५
एतेन पंचरूपत्वं	२००
एतेन भौतिकत्वादि-	३५५
एवं समत्वसंसिद्धौ	७९
एवं विचारतो मान-	८७
एवं हेतुरयं शक्तः	२२७
एवं प्रयोगतः सिद्धिः	२५८
एवं बहुत्वसंख्यायां	३०६
एवमर्थस्य धर्माणां	३२०
(क)	
कथंचिद्व्यपदेशादि-	१२९
कथंचित्साध्यतादात्म्य-	२२६
कथं च मेचकज्ञानं	३०८
कलशादेरभिव्यक्तिः	३७६
केवलज्ञानवत्सर्व-	२४
कर्मत्वेनापरिच्छित्तिः	३१
कर्मत्वेन परिच्छित्तेः	३२
कर्तुः स्मरणहेतुस्तत्	३७९
कर्तृहीनवचोवित्तेः	३८४
करिष्यते च तद्वत्स	३८६
कवीनां किं न काव्येषु	३८१
कश्चित्परीक्षकैर्लोकैः	३८१

श्लोक	पृष्ठ सं.
कार्यकारणभावात्स्यात्	२३
कारणेन बिना स्वेन	१८०
कार्यादित्रयवत्तस्मात्	२०८
कारणानुपलंभाच्चेत्	९१
कारणात्कार्यविज्ञानं	२१४
कारणस्योपलब्धि: स्यात्	२२४
कारणानुपलंभेपि	२२४
कार्योत्पादनयोग्यत्वे .	२२५
कार्यकारणनिर्मुक्त-	२२६
कारणार्थविरुद्धा तु	२३१
कारणद्विष्टकार्योप-	२३२
कारणव्यापकद्विष्टो-	२३३
कारणव्यापकद्विष्ट	२३३
कारणं भरणिस्तत्र	२३६
कार्ये हेतुरयं नेष्ट:	२३७
कार्येण कारणस्यानु-	२३८
कार्यकारणभावास्ते	२३८
कारणानुपलब्धिस्तु	२४२
कार्यकारणभिन्नस्य	२४३
कारणव्यापकादृष्टि-	२४३
कारणव्यापकादृष्टि:	२४५
कारणव्यापकव्यापि-	२४५
कार्यकारणनिर्मुक्तात्	२४८
काचाद्यंतरितार्थानां	३३७
काचादिभेदने शक्ति:	३३८
काचाद्यंतरितानर्थान्	३३९
काचाद्यंतरितार्थेपि	३४४
काचाद्यंतरितार्थानां	३५२
कालात्ययापदिष्टस्य	३५५
कायांतर्गतलोहस्य	३५६
किं न तादात्म्यतज्जन्य	१७६
कालेन यावता शैलं	३५१
किंचिदित्यवभास्यत्र	२८३
किमुष्णस्पर्शविज्ञानं	३४८
किं निमित्तं श्रुतज्ञानं	३६६
किमकृत्रिमता तस्य	३८३
कुट्यादिव्यवधानेपि	३६०
कृतो भेदो नयात्सत्ता	२८४
कृतातिदेशवाक्यार्थ-	४०१
केवलान्वयि संयोगी-	२४९
केषां पुनरिमेऽवग्र-	३००
केवलो नार्थपर्याय-	३२०
केचिदाहुर्न तद्युक्तं	१७४
केवलव्यतिरेकीष्ट-	२०८
कौटस्थ्यात्सर्वभावानां	३१४
क्रमादवग्रहेहात्म-	२९७
क्वावस्थानमनेनैव	२९
क्वचिदात्मनि संसार-	२४४
(ग)	
गत्वा सुदूरमेकस्य	६८
गत्वा सुदूरमप्येवं	१२४
गुणोनेकस्वभाव: स्यात्	३१०

श्लोक	पृष्ठ सं.
गंधाधिष्ठानभूतस्य	३६०
गृहीतग्रहणाभेदात्	६२
गृहीतमगृहीतं वा	६६
गृहीतग्रहणात्तत्र	१३२
गृहीतप्राप्तयोरेका-	१४३
गृहीतग्रहणात्तर्को	१६२
ग्राह्यग्राहकभावो वा	१६६
गोचराभेदतश्चेन्न	२४
गौणश्चेद्व्यपदेशोयं	२२९
(च)	
चंद्रे चंद्रत्वविज्ञान-	५६
चंद्रोदयोऽविनाभावी	१७९
चंद्रादौ जलचंद्रादि	१८७
चक्षुः प्राप्तपरिच्छेद-	३३२
चक्षुषा शक्तिरूपेण	३३४
चित्रसंव्यवहारस्य	३०९
चित्रं रूपमिति ज्ञानं	३१०
चेतनात्मतया वित्ते-	३३
चेतनं चैतदेवास्तु	३६
चेतनाचेतनार्थानां	१९१
(ज)	
जात्याद्यात्मकभावस्य	१२१
जात्यादिकल्पनोन्मुक्तं	२८३
जिघ्रत्यतीन्द्रियज्ञानं	२२
जिज्ञासितविशेषस्तु	२५६
ज्ञानं संलक्षितं ताव-	१२
ज्ञानशब्दस्य संबंधः	१५
ज्ञाताहं बहिरर्थस्य	३०
ज्ञानं ज्ञानांतराद्वेद्यं	३३
ज्ञानांतरं यदा ज्ञानात्	३३
ज्ञानात्मकप्रमाणेन	३८
ज्ञातप्रामाण्यतो मानात्	७५
ज्ञानानुवर्तनातत्र	१०७
ज्ञानग्रहणसंबंधात्	११३
ज्ञानस्य स्पष्टतालोक	३२१
ज्ञानात्मनस्तथाभाव	३७१
ज्ञानमाद्यं स्मृतिः संज्ञा	३८८
(त)	
तच्चेतनेतराकार-	५६
तच्चानुमानमिष्टं चेत्	१०९
तच्च स्याद्वादिनामेव	७८
तच्चोपचारतो ग्राह्यं	३६८
तत्कर्मत्वपरिच्छित्तौ	३२
तत्स्वार्थव्यवसायात्म-	३३
तत्साधकतमत्वस्य	३५
तत्रेदं चिंत्यते तावत्	३५
ततो नात्यंतिको भेदः	३८
तत्रापूर्वार्थविज्ञानं	६२
तत्स्वार्थव्यवसायात्म-	६६
तत्र देशांतरादीनि	६८
ततश्च चोदनाबुद्धिः	७१
तत्र प्रवृत्तिसामर्थ्यात्	७४

श्लोक	पृष्ठ सं.
तत्र यत्परतोज्ञानं	८२
तत्प्रमाणप्रमेयादि-	८४
तत्प्रसिद्धेन मानेन	८६
ततः सालंबनं सिद्धं	११०
तत्राद्यकल्पनापोढे	११८
ततोन्यथा स्मृतिर्न स्यात्	१२०
ततः प्रत्यक्षमास्थेयं	१२४
तत्स्वार्थव्यवसायात्म	१२८
ततः प्रमाणशून्यत्वात्	१३१
तत्सिद्धसाधनं ज्ञान-	१३९
तत्र यो नाम संवादः	१४२
तत्राध्यक्षांतरस्यापि	१४३
तत्र लिंगे तदेवेदं	१४४
तत्तर्कस्याविसंवादो	१६१
ततस्तर्कः प्रमाणं नः	१७१
तत्साध्याभिमुखो बोधो	१७२
ततो यथाविनाभूते	१८०
ततो वैधर्म्यदृष्टांते	२०७
तत्तत्रैवोपलंभः स्यात्	२२४
तत्परीक्षकलोकानां	२२६
तत एव न पक्षस्य	२२७
तत्र पूर्वचरस्योप-	२३६
ततोऽतीतैककालानां	२३९
तत्र कार्याप्रसिद्धिः स्यात्	२४१
तत्राभिन्नात्मनोः सिद्धिः	२४३
तत्कार्यव्यापकासिद्धिः	२४४
तत्कार्यव्यापकस्यापि	२४४
तच्छद्वेन परामर्शो	२६६
ततो नाकारणं वित्तेः	२७७
तत्र यद्वस्तुमात्रस्य	२८०
ततो दृढतरावाय-	२८५
तत एव प्रधानस्य	२८६
तत्समक्षेतरव्यक्ति	२९७
तत्र प्रधानभावेन	३०३
तत्क्षिप्रज्ञानसामान्य-	३०३
तत्तद्विषय बह्वादेः	३०४
तत्पृष्ठजो विकल्पश्चेत्	३०६
तत एव न निःशेष-	३२०
तत्राप्राप्तिपरिच्छेदि	३३३
ततो नासिद्धता हेतो-	३५०
ततोऽक्षिरश्मयो भित्वा	३५२
तत्रारेकोत्करः सर्वो	३६६
तद्व्यक्तेः ज्ञानपूर्वत्वं	३७५
तत्कारणं हि काणादाः	३७८
तत एव न धातास्तु	३८०
ततः सर्वानुमानानां	३८३
तत्साधनांतरं तस्य	३८४
तत्संज्ञासंज्ञिसंबंध-	४०१
ततः परं च विज्ञानं	२९
तथास्त्विति मतं ध्वस्त-	३१
तथा च न परोक्षत्व-	३२
तथा परिणतो ह्यात्मा	३७

श्लोक	पृष्ठ सं.	श्लोक	पृष्ठ सं.
तथा च युक्तिमत्प्रोक्तं	३८	तदपाये च बुद्धस्य	१२५
तथाऽभावश्च संयुक्त-	४१	तदप्रतिष्ठितौ क्वानु-	१३१
तथा ग्रहोपरागादि-	४९	तदा संस्कार एव स्यात्	१३६
तथा सति प्रमाणस्य	६१	तदप्यसंगतं लिंगि-	१३७
तथा मिथ्यावभासित्वात्	६९	तद्द्विधैकत्वसादृश्य-	१३८
तथैवास्त्वर्थयाथात्म्य-	७०	तदित्यतीतविज्ञानं	१३९
तथैवानुपलंभेन	२२८	तदेकत्वस्य संसिद्धौ	१५०
तथा सहचरद्विष्ट-	२३४	तदविद्याबलादिष्टा	१५७
तथोत्तरचरस्योप-	२३९	तदेकलक्षणं हेतोः	१७५
तथा साध्यमभिप्रेतं	२५१	तदिष्टौ तु त्रयेणापि	१७५
तथार्थजन्यतापीष्टा	२७१	तदा धूमोग्निमानेष	१७६
तथैवालोचनादीनां	२८८	तद्विशेषविवक्षायां	१८२
तथाशश्वददृश्येन	३४३	तद्वासनाप्रबोधाच्चेत्	१८५
तथा न स्फटिकांभोभ्र-	३४४	तद्बाधाभावनिर्णीतिः	२०५
तथाक्ष्णोर्न विरुध्येत	३४६	तद्धेतोस्त्रिषु रूपेषु	१९७
तथानुद्भूतरूपं तत्	३४९	तद्विरुद्धे विपक्षे च	१९६
तथा च युगपज्ज्ञाना-	३५२	तद्विरुद्धे विपक्षस्या	२०८
तथायस्कांतपाषाणं	३५६	तद्विलोपेखिलख्यात	२२५
तदेव ज्ञानमास्थेयं	३४	तदसद्वस्तुनोनेक-	२२६
तथैव करणत्वस्य	३५८	तदयुक्तं मनीषायाः	२३०
तदा स्वप्नादिविज्ञानं	५७	तद्धि मिथ्याचरित्रस्य	२३१
तद्विज्ञानस्य चान्यस्मात्	७४	तदभावे च मत्याद्य-	२३४
तद्व्याप्तिसिद्धिरप्यन्य-	९१	तदेतत्सहचरव्यापि	२३४
तदा मतेः प्रमाणत्वं	९३	तद्धेतुहेत्वदृष्टिः स्यात्	२४४
तद्वक्ष्माणकात्सूत्र	१०२	तदसद्वादिनेष्टस्य	२५२
तदकल्पकमर्थस्य	१२१	तदप्रमाणकं तावत्	२५८

श्लोक	पृष्ठ सं.
तदिष्टसाधनं तावत्	२५८
तदसंगतमिष्टस्य	२५८
तद्यत्र साधनाद्बोधो	२६०
तद्गृहीतार्थसामान्ये	२७९
तदसत्स्वार्थसंवित्तेः	२९०
तदाक्षवेदनं च स्यात्	२९४
तदाक्षानिंद्रियोत्पाद्यं	२९५
तदानुमा प्रमाणत्वं	२९९
तद्विशेषेण भावेन	३०३
तद्बोधबहुतावित्तिः	३०५
तदेवावग्रहाद्याख्यं	३१२
तदप्रातीतिकं सोयं	३३८
तदसल्लोचनस्यार्थ-	३४६
तदेवं चक्षुषः प्राप्य-	३५९
तदा स्वगृह्यमान्या स्यात्	३७९
तदयोगाद्विरुध्येत	३८३
तदागमस्य निश्चेतुं	३९४
तद्विवर्तस्त्वविद्यात्मा	३९४
तदोपमानतः सैतत्	४०२
तन्नानभ्यासकालेपि	७२
तन्नाभ्यासात्प्रमाणत्वं	७८
तन्न प्रत्यक्षवत्तस्य	१६६
तन्नैकांतात्मना जीव-	१९३
तन्न साध्वक्षजस्यार्थ	२८०
तन्निर्णयात्मकः सिद्धो	२९२
तन्नानिसृतभावस्य	३१५
तन्नो न पौरुषेयत्वं	३८५
तया यथा परोक्षत्वं	५२
तया यावत्स्वतीतेषु	१४०
तयालंबितमन्यच्चेत्	१४३
तयोश्च क्रमतो ज्ञानं	३५१
तया विना प्रवर्तंते	३९७
तर्कश्चैवं प्रमाणं स्यात्	९३
तर्कादिर्मानसेऽध्यक्षे	९३
तर्कसंवादसंदेहे	१६१
तर्ह्यप्राप्तेरभेदेपि	३५३
तस्य निर्वृत्यवस्थायां	१४
तस्मान्मतिः श्रुताद्भिन्ना	२७
तस्यैवादिमशब्देषु	४०
तस्यादेकमनेकात्म-	५६
तस्यापि च प्रमाणत्वं	६७
तस्मात्प्रेक्षावतां युक्ता	७६
तस्याविशदरूपत्वे	९२
तस्यानर्थाश्रयत्वेर्थे	१०८
तस्माद्वस्त्वेव सामान्य-	१११
तस्मात्प्रवर्तकत्वेन	१३१
तस्मात्प्रमाणमिच्छद्भिः	१६१
तस्योहांतरतः सिद्धौ	१६५
तस्मात्प्रमाणकर्तव्य-	१७०
तस्मात्प्रतीतिमाश्रित्य	१८७
तस्मिन्सहचरव्यापि	२३४
तस्य तद्व्यवच्छेदत्वात्	२५३

श्लोक	पृष्ठ सं.
तस्य बाह्यनिमित्तोप-	२६५
तस्यैव निर्णयोवाय:	२८०
तस्य प्रत्यक्षरूपस्य	२९३
तस्य प्राप्ताणुगंधादि-	३५३
तस्य क्वचिदभिव्यक्तौ	३७७
तादृक्षयोग्यताहाने:	१४०
तादृशी त्रितयेनापि	२१४
तादृशी वासना काचित्	२९२
तादृश: किं न वाक्यस्य	३८४
तेषां स्वतोप्रमाणत्वं	६९
तेषां संवित्तिमात्रं स्यात्	८४
तेषां तत्किं स्वत: सिद्धं	८७
तेषां तन्मानसं ज्ञानं	९२
तेन तु न पुनर्जात-	१३८
तेन कृतं न निर्णीतं	१९७
तेनानुष्णोग्निरित्येष	२५०
तेषां सर्वमनेकांतं	२५१
तेनार्थमात्रनिर्भासात्	२८३
तेजोनुसूत्रिता ज्ञेया	३४५
तेजोद्रव्यं ह्यनुद्भूत-	३४९
तैजसं नयनं सत्सु	३४५
त्रिधा प्रत्यक्षमित्येतत्	१०३
त्रिषु रूपेषु चेद्रूपं	१९९
त्रिरूपहेतुनिष्ठान-	२०६
त्रिधैव वाविनाभाव-	२४१
(द)	
दुष्टकारणजन्यस्य	६८
दुष्टे वक्तरि शद्वस्य	७१
दूरे शब्दं शृणोमीति	३५१
दूरे जिघ्राम्यहं गंधं	३५१
दृष्टादृष्टनिमित्तानां	८६
दृष्टं यदेव तत्प्राप्तं	११०
दृष्टासहचरद्विष्टो-	२३३
दृष्टाद्धेतोर्विना येर्था	२३१
दृष्टांतनिरपेक्षत्वं	२६४
दृष्टेरभेदभेदात्म-	२८२
द्रव्येण तद्बलोद्भूत-	१३१
देशकालाद्यपेक्षश्चेत्	१८०
देशतस्तदभिव्यक्तौ	३७७
देवदत्तादिरित्यस्तु	३८२
द्रव्यतोऽनादिरूपाणां	२३९
द्रव्यपर्यायसामान्य-	२८८
द्रव्यांतरितगंधस्य	३६०
द्रव्यरूपा पुनर्भाषा-	३९६
द्वयं परत एवेति	७४
द्वयोरेकेन नायुक्ता	१०६
द्वाशावस्थमंगात्म	३७४
द्विभेदमंगबाह्यत्वात्	३७४
(ध)	
धर्मिण्यसिद्धरूपेपि	२५६
धर्मिसंतान साध्याश्चेत्	२५६

श्लोक	पृष्ठ सं.
धर्मिधर्मसमूहोत्र	२५९
धर्मिणोप्यप्रसिद्धस्य	२६०
धारणाविषये तत्र	३१३
धूमादयो यथाग्न्यादि	७०
ध्रुवस्य सेतरस्यात्र	३१७
ध्वस्तं तत्रार्थजन्यत्वं	२६९
(न)	
न मतिश्रुतयोरैक्यं	२३
ननु प्रमीयते येन	३५
न तावद्भौतिकं तस्या-	३५
ननूपप्लुतविज्ञानं	४९
न चैकत्र प्रमाणत्व-	५२
न च सामर्थ्यविज्ञाने	७५
नन्वसिद्धं प्रमाणं किं	८३
ननु प्रमाणसंसिद्धि-	८३
न चाप्रमाणतो ज्ञानात्	९२
न च जात्यादिरूपत्वं	१२२
नन्वस्त्वेकत्वसादृश्य-	१४२
न वैसादृश्यासादृश्य-	१५३
ननूहस्यापि संबंधे	१६५
न चादर्शनमात्रेण	१९०
न वेद्यवेदकाकार	१९१
ननूपलभ्यमानत्व-	२२०
न चानुकूलतामात्रं	२२४
ननु प्रदेशवृत्तीनां	२३०
न रोहिण्युदयस्तु स्यात्	२३६

श्लोक	पृष्ठ सं.
न च तस्यानुमा स्वोद्य-	२३८
नन्वर्थांतरभूतानां	२३८
ननु नेच्छति वादीह	२५२
नन्विष्टसाधनात् संति	२५८
नन्विष्टसाधनं धर्मि-	२५८
ननु सन्मात्रकं वस्तु	२८२
नन्ववग्रहविज्ञानं	२८४
ननु दूरे यथैतेषां	२८७
नन्वनेकस्वभावत्वात्	३११
ननु बह्वादयो धर्माः	३१९
नन्वर्थावग्रहो यद्वत्	३२५
न क्वचित्प्रत्यभिज्ञानं	३३९
नन्वत्यंतपरोक्षत्वे	३४३
न चेक्षंतेस्मदादीनां	३४४
न स्यान्मेचकविज्ञानं	३५१
न च केवलपूर्वत्वात्	३७१
न स्मृत्यादि मतिज्ञानं	३७३
न वेदाध्ययने शक्तं	३७९
न सोस्ति ब्राह्मणोत्रादौ	३८०
न च हेतुरसिद्धोयं	३८६
न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके	३८८
न ह्यवस्था चतस्रोस्य	३९१
नानिंद्रियनिमित्तत्वा-	२५
नानाज्ञानानि नेशस्य	५६
नाक्षलिंगविभिन्नायाः	९४
नाप्रमाणात्मनो स्मृत्वा	१३५

श्लोक	पृष्ठ सं.
नार्थाज्जन्मोपपद्येत-	१३६
नानुमानेन तस्यापि	१६७
नान्यथानुपपन्नत्वं	१७८
नानादिवासनोद्भूत	१८४
नान्यथानुपपन्नत्व-	२१९
नाक्रमेणक्रमेणापि	२२७
नास्तिक्यपरिणामो हि	२४५
नापि पूर्वदादीनां	२४७
नावश्यं निर्णयाकांक्षा	२५३
नापीयं मानसं ज्ञानं	२९३
नानुद्भूतद्रव्यं तेजो-	३४९
नापेक्षं संभवाद्बाधं	३८५
नानुमानात्ततोर्थानां	३९४
नाकलंकवचो बाधा	३९७
नामासंसृष्टरूपा हि	४०७
नित्यानित्यात्मकः शब्दः	१९४
नित्यानां विप्रकृष्टानां	१४७
निहंति सर्वथैकांतं	१४८
नित्यैकांते न सा तावत्	१४९
नित्यानित्यात्मकेत्वर्थे	१४९
निश्चितं पक्षधर्मत्वं	१७४
निराकृतनिषेधो हि	१८४
निषेधहेतुरेवैक-	२२१
निश्चितानिश्चितात्मत्व-	२२७
निर्वृतेः कारणं व्याप्तं	२३३
निषेधेऽनुपलब्धिःस्यात्	२४१
निमित्तं कारकं यस्य	२६७
निःशेषं सात्मकंजीव	१९०
निःशेषवर्तमानार्थो	२७०
निःशेषपुद्गलौद्गत्य	३०३
निर्विकल्पकया दृष्ट्या	२९०
निष्क्रांतो निःसृतः कात्स्न्यात्	३०३
निसृतोक्तमथैवं स्यात्	३१६
नियमार्थमिदं सूत्रं	३२४
निरंशोवयवी शैलो	३५१
नित्यस्य व्यापिनो व्यक्तिः	३७६
नीलसंवेदनस्यार्थे	१५०
नीलदर्शनतः पीत-	१८५
नेश्वरस्याक्षजं ज्ञानं	१२६
नेदं नैरात्मकं जीव-	१४७
नेहानिंद्रियजैवाक्ष-	२९३
नेत्याद्याह निषेधार्थ-	३३०
नैतत्साधु प्रमाणस्य	८२
नैक द्रव्यात्मतत्त्वेन	२३७
नोष्णवीर्यत्वतस्तस्य	३५०
नोपदेशमपेक्षेत-	४०१
(प)	
परचित्तागतेष्वर्थे-	२४
परानुरोधमात्रेण	८४
परलोक प्रसिद्ध्यर्थं	७६
पराभ्युपगमः केन	८४
परतोपि प्रमाणत्वे	८४

श्लोक	पृष्ठ सं.	श्लोक	पृष्ठ सं.
परार्थानुमितौ तस्य	१५८	पुरुषार्थोपयोगित्व-	३७८
परासहतयाख्यातं	१०३	पूर्वोत्तर विवर्ताक्ष-	६५
परोक्षमिति निर्देशो	१०६	पूर्वनिर्णीत दार्ढ्यस्य	१७१
परापरानुमानानां	१३५	पूर्वं प्रसज्यमानत्वात्	२०७
पल्वलोदकनैर्मल्यं	१८७	पूर्ववच्छेषवत्प्रोक्तं	२०७
पर्णकोयं स्वसद्धेतु-	१८८	पूर्वचारि न निःशेषं	२३६
परिणामिनमात्मानं	१९३	पूर्वपूर्वचरादीनां	२३७
पक्षधर्मत्वरूपं स्यात्	१९९	पूर्वोत्तरचराणि स्यु-	२४०
परस्पराविनाभावात्	२२६	पूर्ववत्कारणात्कार्ये-	२४७
पक्षधर्मस्तदंशेन	२४०	पूर्वशद्वप्रयोगस्य	३७१
पक्षधर्मात्यये युक्ताः	२४१	पौनःपुन्येन विक्षिप्ता	३३१
परिणामनिवृत्तौ हि	२४५	पौर्वापर्यविहीनेर्थे	३८१
पक्षाभासः स्ववाग्बाधः	२५०	प्रत्यक्षमात्मनि ज्ञानं	२८
परार्थेष्वनुमानेषु	२५२	प्रत्यक्षं स्वफलज्ञानं	३१
परप्रसिद्धितस्तेषां	२५७	प्रधानपरिणामत्वात्	३३
पक्षाव्यापकताहेतोः	३३५	प्रमात्राधिष्ठितं तच्चेत्	३६
परेष्ट्यास्तीति चेत्तस्याः	३४६	प्रमेये प्रमितावाभि	३६
परोक्षाविष्कृतेस्तस्य	३७०	प्रमाताभिन्न एवात्म	३७
परागमे प्रमाणत्वं	३८६	प्रमाणं यत्र संबद्धं	३८
पश्यंत्या तु विना नैतत्	३९१	प्रमाणफलसंबंधी	३८
पारंपर्येण हानादि-	१३८	प्रमाणं येन सारूप्यं	४४
पारंपर्येण तज्जत्वात्	२८४	प्रमाणव्यवहारस्तु	४९
पित्रोर्ब्राह्मणता पुत्र –	१८८	प्रमाणमविसंवादि	५७
पितामहः पिता किं न	२३७	प्रामाण्यं व्यवहारेण	५९
पुनर्विकल्पयन् किंचित्	१२०	प्रत्यक्षेण गृहीतेपि	६२
पुंसः सत्संप्रयोगे य	१२७	प्रत्यक्षं प्रत्यभिज्ञा चेत्	६४

श्लोक	पृष्ठ सं.
प्रत्यक्षेणाग्रहीतेर्थे	६४
प्रमाणेन प्रतीतेर्थे	७४
प्रसूतिर्वा सजातीय-	७४
प्रेक्षावता पुनर्ज्ञेया	७७
प्रसिद्धेनाप्रसिद्धस्य	८४
प्रमाणमेकमेवेति	८७
प्रत्यक्षांतरतो वास्य	८८
प्रमाणांतरतो ज्ञाने	८८
प्रत्यक्षमनुमानं च	८९
प्रत्यक्षानुपलंभाभ्यां	९१
प्रत्यक्षं मानसं येषां	९२
प्रत्यक्षनिश्चितव्याप्ति	९२
प्रत्यक्षादनुमानस्य	९५
प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानं	९९
प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानं	१०३
प्रत्यक्षमेकमेवोक्तं	१०३
प्रमाणे इति वा द्वित्वे	१०६
प्राप्यार्थापेक्षयेष्टं चेत्	१११
प्रत्यक्षमन्यदित्याह	११२
प्रत्यक्षलक्षणं प्राहुः	११३
प्रत्यक्षं कल्पनापोढं	११७
प्रवर्तमाना केषांचित्	१३०
प्रत्येकमिति शब्दस्य	१३०
प्रत्यक्षमर्थवन्न स्यात्	१३६
प्रत्यक्षं मानसं ज्ञानं	१३७
प्रमाणत्वाद्यथालिंगि-	१३७
प्रत्यक्षवत्स्मृतेः साक्षात्	१३८
प्रत्यभिज्ञाय च स्वार्थं	१३८
प्रत्यक्षविषये तावत्	१४३
प्राप्य स्वलक्षणे वृत्तिः	१४३
प्रत्यभिज्ञानुमानत्वे	१४४
प्रत्यक्षं बाधकं तावत्	१४५
प्रत्यभिज्ञांतरादाद्य-	१५०
प्रत्यक्षांतरतः सिद्धा	१५०
प्रत्यक्षानुपलंभाभ्यां	१६२
प्रमांतरागृहीतार्थ-	१६२
प्रत्यक्षानुपलंभादेः	१६३
प्रमाणविषयस्यायं	१६९
प्रमाणविषये शुद्धिः	१६९
प्रतिषेधे विरुद्धोप-	२२८
प्रत्यासत्तेरभावाच्चेत्	२३८
प्राणादयो न संत्येव	२४४
प्रेत्यासुखप्रदो धर्मः	२५०
प्रमाणबाधितत्वेन	२५१
प्रतिवाद्यपि तस्यैतत्	२५२
प्रतिपाद्यस्ततस्त्रेधा	२५५
प्रत्यक्षेणाप्रसिद्धत्वात्	२५७
प्रसंगसाधनं वेच्छेत्	२५७
प्रत्यासत्तिविशेषस्य	२९२
प्रत्यक्षत्वेन वैशद्य-	२९४
प्रत्यक्षं मानसं स्वार्थ-	२९५
प्रत्यक्षाणि बहून्येव	३०५

श्लोक	पृष्ठ सं.
प्राप्यकारीन्द्रियैर्युक्तो	३१५
प्राप्यकारीन्द्रियैश्चार्थे	३३०
प्राप्तस्यांतरितार्थेन	३४३
प्रत्यक्षेणाप्रबाधेन	३४४
प्रत्यक्षेणानुमानेन	३५५
प्राप्ता हरीतकी शक्ता	३५७
प्रत्यक्षबाधनं तावत्	३७५
प्रत्यक्षांतरतश्चेन्ना	१६७
प्रसिद्धायां पुनस्तस्यां	३७७
प्रत्यक्षादिवदित्येतत्	३८५
प्रकाशितोपमा कैश्चित्	४०१
प्रमाणांतरतायां तु	४०१
प्रत्यक्षं द्व्यादिविज्ञानं	४०१
प्रवृत्तश्च समारोप:	१६४
प्रोक्तभेदप्रभेदं तत्	३८७
फलत्वेन फलज्ञाने	३२
(ब)	
बह्वाद्यवग्रहादीनां	३०१
बहो: संख्याविशेषस्य	३०१
बहुज्ञानसमभ्यर्च्यं	३०३
बहुभिर्वेदनैरन्य-	३०५
बह्वर्थविषयो न स्यात्	३०६
बहुत्वेन विशिष्टेषु	३०७
बह्वाद्यवग्रहादीदं	३१२
बहौ बहुविधे चार्थे	३१३
बहुकर्तृकता सिद्धे:	३७९

श्लोक	पृष्ठ सं.
बाधवर्जिततात्प्येषा	६६
बाधकोदयत: पूर्वं	६७
बाधकाभावविज्ञानात्	६७
बाधकाभावबोधस्य	६७
बालकोहं य एवासं	१४०
बाह्यं चक्षुर्यदा तावत्	३३३
ब्रह्माध्येता परेषां वा	३८०
ब्रह्मणो न व्यवस्थान	३९४
बुद्धौ तिर्यगवस्थानात्	१०६
बुद्धिर्मते: प्रकार: स्यात्	१३०
(भ)	
भावाभावात्मको नार्थ:	१८५
भावाभावेक्षणं सिद्धं	१८५
भावस्य प्रत्यभिज्ञानं	३८२
भावाद्येकांतवाचानां	३८६
भाववाग्व्यक्तिरूपात्र	३९६
भ्रांतेर्बीजाविनाभावात्	३९५
भिन्नावेतौ न तु स्वार्थ-	२२३
भिन्नाभिन्नात्मकत्वे तु	३७६
भेदाभेदविकल्पाभ्यां	१५३
(म)	
मत्यावरणविच्छेद	१२
मत्यादीनां निरुक्त्यैव	१३
मतिसंपूर्वत: साह-	१४
मत्यादीन्येव संज्ञानं	१९
मतिमात्रग्रहादत्र	२०

श्लोक	पृष्ठ सं.
मणिप्रभा मणिज्ञाने	१०८
मणिप्रदीपप्रभयोः	११०
मत्यादिष्ववबोधेषु	१२८
मतिरेव स्मृतिः संज्ञा-	१२८
मनसा जन्यमानत्वात्	१३६
मलावृतमणेर्व्यक्ति	१४२
मयि नास्ति मतिज्ञानं	२४३
मतिज्ञानविशेषाणां	२६५
मतिज्ञानस्य सामर्थ्यात्	२६६
मतिज्ञानस्य निर्णीत-	२७९
मनसोर्युगपद्वृत्तिः	२९१
मनसोऽप्राप्यकारित्वं	३३६
मनसोणुत्वतश्चक्षु-	३५०
महीयसो महीध्रस्य	३५०
मनोऽनधिष्ठिताश्चक्षू-	३५२
मनोवद्विप्रकृष्टार्थ-	३५३
मतिसामान्यनिर्देशात्	३७२
मतिपूर्वं ततो ज्ञेयम्	३७३
मध्यमा तदभावे क्व	३९१
मानसस्मरणस्याक्ष	२९३
मायेयं बत दुःपारा	३९५
मिथ्याज्ञानं प्रमाणं न	४८
मुख्यं प्रामाण्यमध्यक्षे	६२
मुख्या ज्ञानात्मकाभेद-	३७४
(य)	
यन्मनःपर्ययावार-	६

श्लोक	पृष्ठ सं.
यथादिसूत्रे ज्ञानस्य	१३
यद्येकस्य विरुध्येत-	५६
यच्चार्थवेदने बाधा-	६७
यदि कारणदोषस्य	६८
यथार्थबोधकत्वेन	६९
यद्यथार्थान्यथाभावा-	६९
यथा च जातमात्रस्य	७०
यथा शब्दाः स्वतस्तत्त्व	७१
यथा वक्तृगुणैर्दोषः	७१
यथा च वक्त्रभावेन	७१
यथा स्वातंत्र्यमभ्यस्त-	८४
यत्राक्षाणि प्रवर्तंते	९२
यथैवास्तित्वनास्तित्वे	१८३
यत्प्रत्यक्षपरामर्शि-	९४
यत्रेन्द्रियमनोध्यक्षं	९५
यथा तथा यथार्थत्वे	११०
यथावभासतो कल्पात्	१२२
यत्र प्रवर्तते ज्ञानं	१४५
यत्सत्तत्सर्वं क्षणिकं	१४६
यथा संशयितार्थेषु	१७०
यस्मिन्नर्थे प्रवृत्तं हि	१७१
यदि लोकानुरोधेन	१७६
यत्रैव जनयेदेनां	१८५
यस्य वैधर्म्यदृष्टांता-	२०७
यच्चाभूतमभूतस्य	२०७
यथा चानुपलंभेन	२२१

श्लोक	पृष्ठ सं.
यस्मादनुपलंभोत्र	२२३
यत्स्वकार्याविनाभावि	२२५
यस्यार्थस्य स्वभावोप-	२२६
यावन् कश्चिन्निषेधोत्र	२२८
यथानात्मा विभुः काये	२३०
यतो निश्शेषमूर्तार्थ-	२३०
यथैव हि पयोरूपं	२३८
यथा ह्युक्तो भवेत्पक्षः	२५१
यथाऽप्रवर्तमानस्य	२५४
यतोभयं तदेवेषां	२५९
यथा नीलं तथा चित्रं	३०९
यथा नवशरावादौ	३३०
यथायस्कांतपाषाणः	३३१
यथासुखं निरीक्षंते	३४४
यद्यनुद्भूतरूपास्ते	३४४
यथैकस्य प्रदीपस्व	३४६
यथा कस्तूरिकाद्रव्ये	३५६
यथा कस्तूरिकाद्यर्थे	३५६
यथा गंधाणवः केचित्	३६०
यद्यपेक्ष्य वचस्तेषां	३८८
यावच्च साधनादर्थः	२०४
युक्त्या यन्न घटामेति	६१
युगादौ प्रथमस्तद्वत्	३७९
ये चार्वाक् परभागाद्या-	२३९
ये नाशक्यक्रियत्वस्य	३७९
येषामेकांततो ज्ञानं	५०

श्लोक	पृष्ठ सं.
येपि चात्ममनोक्षार्थ-	१२६
येयं संबंधितार्थानां	१५८
यैव बुद्धेः स्वयं वित्तिः	५३
योग्यतां कांचिदासाद्य	४१
योगिप्रत्यक्षतो व्याप्ति-	९१
योगिनोपि प्रति व्यर्थः	९१
योगिप्रत्यक्षमप्यक्ष-	९६
योगजाज्ज्ञायते यत्तु	१२६
योग्यताख्यश्च सम्बन्धः	१८२
यो विरुद्धोत्र साध्येन	२०८
योगिज्ञानवदिष्टं तत्	३१२
यो व्यक्तो द्रव्यपर्याय	३२०
(र)	
रश्मिवल्लोचनं सर्वं	३४५
राज्यादिदायकादृष्ट-	२२६
रूपत्रयस्य सद्भावात्	१९९
रूपाभिव्यंजने चाक्ष्णा	३४६
(ल)	
लक्षणं समये तावान्	११४
लब्ध्यक्षरस्य विज्ञानं	३९७
लिंगशब्दानपेक्षत्वात्	९९
लिंगलिंगिधियोरेवं	१०८
लिंगप्रत्यवमर्शेण	१४४
लिंगज्ञानाद्विना नास्ति	१६३
लिंगे प्रत्यक्षतः सिद्धे	२२९
लिंगादिवचनश्रोत्र-	३७१

श्लोक	पृष्ठ सं.
लैंगिकादि-विकल्पस्य	२९१
लौकिकी कल्पनापोढा-	१२५
लौकिकस्याप्रबोध्यत्वे	२५५
(व)	
वक्तृत्वादावसार्वज्ञ-	१७४
वक्ष्यमाणं च विज्ञेयं	२६६
वर्णसंस्थादिसामान्यं	२८५
वाक्यभेदाश्रये युक्तं	२६८
वाक्क्रियाकारभेदादे-	१९१
वाक्येषु चेह कुर्वंतः	३८१
वाग्रूपता ततो न स्यात्	३९०
वाग्विज्ञानावृतिच्छेद-	३९७
विशुद्धतरतायोगा-	१४
विज्ञानस्य परोक्षत्वे	२८
विज्ञानादित्यनध्यक्षात्	२९
विवर्ताभ्याममभेदश्चेत्	६५
विज्ञानकारणे दोष-	७०
विधूतकल्पनाजालं	१२५
विशिष्टस्योपयोगस्य	१३२
विशिष्टार्थान्परित्यज्य	१५९
विशेषतोपि संबंध-	१८२
विरोधान्नोभयात्मादि	१८४
विरुद्धकार्यसंसिद्धिः	२३१
विशिष्टकालमासाद्य	२३६
व्यवधानादहेतुत्वे	२३६
व्यंजनावग्रहो नैव	३३०
व्यक्तिर्वर्णस्य संस्कारः	३७६
विधौ तदुपलंभः स्युः	२४८
विशेषनिश्चयो वा य	२८५
विशेषणविशेष्यादि	२८७
विपरीतस्वभावत्वात्	२९८
विच्छेदाभावतः स्पष्ट-	२९८
विजानाति न विज्ञानं	३०५
विशेषविषयत्वं च	३२५
विभज्य स्फटिकादींश्चेत्	३३७
विनाशानंतरोत्पत्तौ	३४०
विकीर्णनिकनेत्रांशु	३५१
विशेषाधानमप्यस्य	३७६
विशेषणतया हेतोः	३७९
विरुद्धो हेतुरित्येवं	३८२
विवर्तेनार्थभावेन	३९५
वेत्ति सा प्रत्यभिज्ञेति	३८२
वेदस्य प्रथमोध्येता	३८२
वेदवाक्येषु दृश्यानां	३८३
वेदस्यापि पयोदादि	३८५
वैकल्यप्रतिबंधाभ्यां	२२५
वैखरीं मध्यमां वाचं	३९१
व्यापकार्थविरुद्धोप-	२२९
व्यापकद्विष्टकार्योप-	२३०
व्याप्तं तेनं विरोधीदं	२३०
व्याप्तिकाले मतः साध्य-	२५९
व्याप्तिः साध्येन निर्णीता	२६०

श्लोक	पृष्ठ सं.
व्यक्तिजात्याश्रितत्वेन	३०२
व्यापिन्या सूक्ष्मया वाचा	३९१
व्याप्यव्यापकभावे हि	२५७
(श)	
शब्दं श्रुत्वा तदार्थानां	२७
शक्तिरिंद्रिय मित्येतत्	४१
शब्दलिंगाक्षसामग्री	९६
शक्यं साधयितुं साध्यं	२५०
शब्दक्षणक्षयैकांत:	२५०
शक्तिरूपमदृश्यं चेत्	३३३
शक्ति: शक्तिमतोन्यत्र	३३४
शब्दात्मनो हि मंत्रस्य	३५८
शब्दज्ञानस्य सर्वेपि	३७४
शब्दात्मकं पुनर्येषां	३७५
शब्दादर्थांतर व्यक्ति:	३७५
शब्दव्यक्तेरभिन्नैक-	३७५
शक्यते तज्जसंवित्ते:	३८४
शब्दज्ञानवदाशंका-	३८४
शब्दानुयोजनादेव	३८८
शब्दानुयोजनादेव	३९७
शब्दानुयोजनात्वेषा	४०६
शास्त्रेण क्रियतां तेषां	५९
शाब्दस्य निश्चयोऽर्थस्य	१२४
शेमुषीपूर्वतासिद्धि	३७८
शैलचंद्रमसोश्चापि	३५१
श्रुतावरणविश्लेष	१२
श्रुतस्याज्ञानतामिच्छं-	२१
श्रुतेऽनेकार्थतासिद्धे-	३६७
श्रुत्वा शब्दं यथा तस्मात्	३७२
श्रुतज्ञानावृतिच्छेद-	३७३
श्रोत्रस्याद्येन शब्देन	४०
श्रोत्रादिवृत्तिरध्यक्षं	१२६
श्रोत्रग्राह्यात्र पर्याय-	३९६
(स)	
स मन:पर्ययो ज्ञेयो	१३
स्वाभिधानविशेषस्य	१२४
सर्वस्तोकविशुद्धित्वा-	१४
संज्ञानमेव तानीति	१९
सर्वज्ञानमनध्यक्षं	२८
संयोगादि पुनर्येन	४०
सतीन्द्रियार्थयोस्तावत्	४०
संयुक्तसमवायश्च	४०
संयुक्तसमवेतार्थ	४०
सन्निकर्षे यथा सत्य-	४५
सर्वेषामपि विज्ञानं	५५
संप्रत्ययो यथा यत्र	६७
सर्वस्यापि स्वतोध्यक्ष-	८८
संबंधोतीन्द्रियार्थेषु	९२
सम्यगित्यधिकाराच्च	११३
संहृत्य सर्वतश्चित्तं	१२०
संकेतस्मरणोपाया-	१२३
सर्वथा निर्विकल्पत्वे	१२४

श्लोक	पृष्ठ सं.
सवितर्कविचारा हि	१२५
समारोपव्यवच्छेद:	२२६
संवादो बाधवैधुर्या-	१४५
संबंधं व्याप्तितोर्थानां	१५८
संबंधो वस्तु सन्नर्थ-	१५८
समारोपव्यवच्छेदात्	१६४
संवादको प्रसिद्धार्थ-	१६४
संशय: साधक: प्राप्त:	१७०
स चेत्संशयजातीय:	१७०
सम्यक्तर्क: प्रमाणं स्यात्	१७०
सर्वज्ञत्वेन वक्तृत्वं	१७५
संयोगिना विना वह्नि:	१८०
संयोगादिविशिष्ट: स्यात्	१८०
सपक्षसत्त्वशून्यस्य	१९०
सर्वकार्यासमर्थस्य	१९१
सर्वहेतुविशेषाणां	२१९
संक्षेपादुपलंभश्च	२१९
समर्थं कारणं तेन	२२४
समग्रकारणं कार्य-	२२५
समारोपव्यवच्छेद:	१३४
सहभावि-गुणात्मत्व-	२२७
सहचारिनिषेधेन	२३४
सहचारिनिमित्तेन	२३४
सहचार्युपलब्धि: स्यात्	२३७
समानकारणत्वं तु	२३८
सर्वमुत्तरचारीह	२४०
सहचारिफलादृष्टि:	२४५
सहचारिनिमित्तस्य	२४५
सहभूव्यापकादृष्टि:	२४६
सहभूव्यापिहेत्वाद्य-	२४६
संशयो ह्यनुमानेन	२५३
समारोपे तु पक्षत्वं	२५६
सत्तायां हि प्रसिद्धायां	२५९
सत्यं स्वार्थानुमानं तु	२६१
समानाधिकरण्यं तु	२८०
सर्वेषां जीवभावानां	२८६
संवादकत्वतो मानं	२८८
सहभावी विकल्पोपि	२९०
सहभावोपि गोदृष्टि	२९२
संतानैक्ये तयोरक्ष-	२९४
सह स्मृत्यक्षविज्ञाने	२९५
संशयो वा विपर्यास:	२९८
समानसन्निवेशस्य	३३९
संतोपि रश्मयो नेत्रे	३५०
सहाक्षपंचकस्यैतत्	३५२
समं चाऽदृष्टवैचित्र्यं	३५४
समं शब्दे समाधानं	३६०
सम्यगित्यधिकारात्तु	३७०
सर्वे स्वसंप्रदायस्य-	३७८
साध्यार्थेनाविरुद्धस्य	२३५
साध्यसाधनता च स्यात्	२४०
साभीष्टा योग्यतास्माकं	२९२

श्लोक	पृष्ठ सं.
सामर्थ्यं पारदीयस्य	३३८
साध्यते चेद्भवेदर्थ-	३८३
साधीयसीति यो वक्ति	३८४
सादृश्यप्रत्यभिज्ञानं	१५१
समानाकारता स्पष्टा	१५४
सधनात्साध्यविज्ञान-	१७२
सास्नादिमानयं गोत्वात्	१७९
साध्य: पक्षस्तु न: सिद्ध:	१८९
साध्ये सत्येव सद्भाव:	१९५
साध्याभावे विपक्षे तु	१९६
साध्याभावे त्वभावस्य	२०२
साध्यादन्योपलब्धिस्तु	२२८
स्वंतत्त्वाल्पाक्षरत्वाभ्यां	१४
सानुमानोपमाना च	२०
साहचर्यमसिद्धं च	२३
सारूप्यकल्पने तत्र	४६
सिद्धे हि केवलज्ञाने	२२
सिद्ध: साध्याविनाभावो	२६४
सिद्धे जात्यंतरे चित्रे	३११
स्थास्नूत्पित्सुविनाशित्व	३१४
स्पष्टस्याप्यवबोधस्य	१०७
स्पर्शनेन च निर्भेद	३४०
स्पृष्टं शब्दं शृणोत्यक्ष-	३५२
स्पर्शनेंद्रियमात्रोत्थं	३९७
स्मृत्यादि वेदनस्यात:	६२
सिद्धं नापूर्णरूपेण	३७८
स्मृत्यादि श्रुतपर्यंत-	१११
सुप्रसिद्धश्च विक्षिप्त:	२५६
सुखादिना न चात्रास्ति	२८६
सूत्रकारा इति ज्ञेयं	११३
स्मृते: प्रमाणतापाये	१३१
सुवर्णघटवत्तत्स्यात्	३४९
स्मृत्या स्वार्थं परिच्छिद्य	१३२
सूक्ष्मे महति च प्राप्ते:	३५३
सूर्यांशवो नयंत्यंभ:	३५७
स्मृतिमूलाभिलाषादे:	१३२
स्मृतिर्न लैंगिकं लिंग-	१३४
स्मृतिस्तदिति विज्ञान	१३५
स्मृति: किन्नानुभूतेषु	१४०
स्मरणं संविदात्मत्व-	२९४
स्मरणाक्षविदोर्भिन्नौ	२९४
स्मर्तार: कथमेवं स्यु:	३८१
स्याद्वादो न विरुद्धोऽत:	८२
स्यात्साधकतमत्वेन	२२९
स्याद्वादिनां पुनर्ज्ञाना	२९५
स्याद्वादिनां पुनर्वाचो	३९६
स्यात्प्रमाता प्रमाणं स्यात्	३९
स्वल्पज्ञानं समारभ्य	२२
स्वसंवेद्यांतरादन्य-	३०
स्वसंवित्तिक्रिया न स्यात्	३०
स्वरूपसंख्ययो केचित्	३४
स्वरूपे सर्वविज्ञान-	५०
स्वसंविन्मात्रतोध्यक्षा-	५२
स्वव्यापारसमासक्तो	५५

श्लोक	पृष्ठ सं.
स्वत: सर्वप्रमाणानां	६९
स्वतस्तद्बलतो ज्ञानं	७४
स्वत: प्रमाणता यस्य	८२
स्वेष्टानिष्टार्थयोर्ज्ञातु:	८३
स्वकारणवशादेषा	१५९
स्वस्यैव चेत्स्वत: सिद्धं	८८
स्वतो हि व्यवसायात्म-	१२३
स्वतश्चेत्तादृशाकारा	१६७
स्वसंवेदनत: सिद्धे:	१६७
स्वकार्ये भिन्नरूपैक-	२२५
स्वरूपलाभहेतोश्चेत्	२३७
स्वकारणात्तथाग्निश्चेत्	२३९
स्वयं माध्यस्थ्यमालंब्य	२५४
स्वसंवेदनमध्यक्षं	२५८
स्वार्थवित्तौ तदेवास्तु	३०
स्वजन्यज्ञानसंवेद्यो	२६९
स्वात्मास्वावृतिविच्छेद-	४१
स्वसंविद: प्रमाणत्वं	४६
स्वार्थे मतिश्रुतज्ञानं	४८
स्वतो बह्वर्थनिर्भासि	३०६
स्वार्थनिश्चायकत्वेन	६८
स्वत: संवेदनात्सिद्धि:	३९४
स्वार्थयोरपि यस्य स्यात्	८२
स्वार्थव्यवसितिर्नान्या	११७
स्वार्थव्यवसितिस्तु स्यात्	११८
स्वार्थप्रकाशकत्वेन	१३३
स्वागमोक्तोपि किं न स्यात्	२५१
स्वार्थजन्यमिदं ज्ञानं	२७०
स्वादृष्टवशत: पुंसां	३७७
स्वाभिप्रेताभिलापस्य	३७७
सोऽयं कूट इति प्राच्यौ-	४०६
सैवास्पष्टत्वहेतु:स्यात्	३२९
(ह)	
हतं मेचकविज्ञानं	५६
हंतासाधारणं सिद्धं	१९९
हेतुदोषविहीनत्व-	६८
हेतोरन्वयवैधुर्ये	१९४
हेत्वाभासन	३८३
हेत्वाभासेपि तद्भावात्	१९९
हेतुना य: समग्रेण	२२५
हेतोरनन्वयस्यापि	२५९
हेतोर्दिने निशानाथ	३४५
(क्ष)	
क्षणक्षयादिबोधेऽपि	६१
क्षणिकेषु विभिन्नेषु	६१
क्षयोपशमतस्तच्च	१४०
क्षणप्रध्वंसिन: संत:	१४७
क्षणिकेपि विरुद्ध्येते	१४८
क्षयोपशमसंज्ञेयं	१६८
क्षणिकत्वेन न व्याप्तं	१९१
क्षणस्थायितयार्थस्य	३१४
क्षयोपशमभेदस्य	३२५
क्षायोपशमिकज्ञाना-	१३
क्षितिद्रव्येण संयोगो	४०
क्षिप्रस्याचिरकालस्य	३०२

♦♦♦